ॐ

गांधी—हरीभाई देवकरण जैनग्रंथमाला ।

८

श्रीमदाचार्य भट्टाकलंकदेवविरचित

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार ।

(प्रथमखंड)

जिसको

भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था कलकत्ताने

पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ द्वारा अनुवादित

और पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार वादीभकेशरी द्वारा

संशोधित और परिवर्धित कराकर

शोलापुरवासी गांधी—हरीभाई देवकरण एण्ड सन्सकी प्रदत्त द्रव्यसे

अपने पवित्र प्रेसमें छपाकर प्रकाशित किया ।

प्रकाशक—

पन्नालाल बाकलीवाल

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था

९ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता।

मुद्रक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,

जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र प्रेस

९ विश्वकोष लेन, बाघबाजार कलकत्ता।

शास्त्रजी बांचनसे पहिले बोलनेका मंगलाचरण।

ओं नमः सिद्धेभ्यः ३।

ओंकारं विंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायंति योगिनः । कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥ १ ॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका । मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितं ॥ २ ॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

परमगुरवे नमः, परंपराचार्यगुरवे नमः । सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसः परिवर्द्धकं धर्मसंबंधकं भव्यजीवप्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारनामधेयं ।

अस्य मूलग्रंथकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य श्रीमदाचार्य भट्टाकलंकदेवेन विरचितं । श्रोतारः सावधानतया शृण्वंतु ।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी । मंगलं कुंदकुंदाद्या जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

प्रस्तावना।

श्रीमदाचार्य श्री १०८ उमास्वामी विरचित श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र वा मोक्षशास्त्रका परिचय देना सूर्जको दीपक दिखाना है। इस ग्रन्थ की महत्ता व दुरवगमता और पूजनीयता जैसी समस्त जैनसमाजमें है वह किसीसे छिपी नहीं है इसमें दश अध्याय और ३५७ सूत्र हैं परन्तु इसके टीका ग्रन्थोंकी विशालता ८४ चौरासी हजार श्लोक संख्या तकमें है। तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार श्रीमदाचार्य भट्टाकलंकदेवविरचित भाष्य है जिसमें बहुत ही सरल सस्कृत भाषाके द्वारा तत्त्वार्थका निरूपण किया गया है अन्यमतोंका खंडन जैनसिद्धान्तोंका स्थापन युक्तिपूर्वक किया गया है, सस्कृत भाषामें रचेगये इस ग्रन्थका प्रमाण सोलह हजार श्लोक प्रमाण है और इसका अध्ययन मनन करनेवाले जैन तत्त्वोंके भलीभांति ज्ञाता होजाते है। इस ग्रन्थका विद्वानोंमें अच्छी तरह प्रचार है इसीलिये भारतीय-जैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्थाने अपने उद्देश्यानुसार इसका हिंदी भाषांतर प्रकट किया है। इसके प्रकाशित करनेमें अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ा है और समय भी लगभग आठ साल लगा है। प्रथम अध्यायसे लेकर पांचवे अध्यायके ३४ सूत्र तकका अनुवाद जटौआ (आगरा) ग्रामनिवासी पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ पद्मावतीपुरवालने किया है और शेष भाग–दश अध्याय तकका अनुवाद चावली (आगरा) ग्रामनिवासी पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार पद्मावतीपुरवालने किया है। मूलग्रन्थसे अनुवादका मिलान और प्रतिलिपि (प्रूफ) का संशोधन पं० श्रीलालजी काव्यतीर्थ टेहू (आगरा) ग्रामवासीने किया है। अनुवादोंमें कहांतक सफलता विद्वान् टीकाकारोंको मिली है इसका विचार स्वाध्याय करनेवाले ही कर सकेंगे।

आजकलकी पद्धतिके अनुसार ग्रन्थकर्ताका परिचय देना आवश्यक समझा जाता है परंतु शिलालेख व प्रशस्तिके अभावमें अनुमान लगाकर कुछका कुछ लिखना हम विल्कुल अनुचित समझते हैं इसलिये नवीन रीतिसे परिचय न लिखकर जो इसी श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार ग्रन्थमें लिखा है उसीका उल्लेख कर देते हैं। देखिये प्रथमाध्यायका अन्तिम भाग–

जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः॥

इससे पता चलता है कि श्री अकलंकदेव लघुहव्व राजाके पुत्र थे, आपकी विद्याके सामने उस समयके समस्त विद्वान् शिर झुकाते थे,

और सज्जनजनोंके हृदयप्रिय थे, इनके बनाये हुये ग्रन्थ तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार, अष्टशती, न्यायविनश्चयालंकार लघीयस्त्रयी और बृहदूत्रयी न्यायचूलिका प्रसिद्ध है जिसमें तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार मूल आजसे १४ साल पहले वीर निर्वाण संवत् २४४१ ईस्वी सन् १९१५ में इसी संस्था द्वारा बनारससे प्रकाशित हुआ था और उसीका हिन्दी अनुवाद आज प्रकाशित हो रहा है जिससे ग्रन्थकर्ताकी ज्ञानगरिमाका भलीभांति परिचय मिलता है।

श्रीअकलंक स्तोत्र ग्रन्थ और अनेक पुरातन ग्रन्थोंसे जाना जाता है कि इन आचार्यने अपने जीवनकालमें जैनधर्मका डंका बजाया था और उसीके प्रभावसे बोद्धमतानुयायी हिन्दुस्तानमें नहीके बराबर हो गये थे। यदि इन अचार्यमहाराजका प्रादुर्भाव उस समय न होता तो यह संभव ही नही, निश्चय था कि जैनधर्मानुयायियोंकी संख्या आजकल जितनी देखनेमें आती है, वह न रहती। अन्य विद्वानोंके दांत खट्टे करनेवाले सद्युक्तियोंसे ग्रथित ग्रन्थोंका निर्माण यदि उस समय न होता तो निःकलंक जैनवाणीको भी लोग सकलंक समझनेमें आगा पीछा न करते यही कारण है कि जैनसमाजमें आजतक इनका नाम बड़ी भक्ति और गौरवके साथ लिया जाता है। इन श्रीआचार्यने मनुष्योंकी बात तो जाने दीजिये, बौद्धोंकी आराध्य देवी तारा तकको वादमें परास्त किया था जिसके कारण जैनधर्म की असाधारण प्रभावना हुई।

यह ग्रन्थ अति विशाल और बहुव्यय साध्य होनेसे छह खंडोंमें प्रकाशित किया गया है जिसमें कुल मिलाकर पृष्ठ करीब २५०० है। प्रति अध्यायके अंतमें रचयिताओंके नामोंका उल्लेख किया है। संशोधनमें यथाशक्ति परिश्रम किया गया है तथापि बुद्धिमांद्य चक्षुदोष प्रमाद आदि कारणोंसे अशुद्धि रह जाना निश्चित है। स्वाध्याय करनेवाले महाशयोंसे प्रार्थना है कि अनुवाद या संशोधनकी भूलको देखते ही संस्थाके कार्यालयमें सूचना कर दें जिससे उसको सुधारणा की जासके।

निवेदक—

पन्नालाल वाकलीवाल, महामंत्री,

शास्त्रजी बांचनसे पहिले बोलनेका मंगलाचरण।

ओं नमः सिद्धेभ्यः ३।

ओंकारं विंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायंति योगिनः। कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः॥ १॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका। मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितं॥ २॥
अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ ३॥

परमगुरवे नमः, परंपराचार्यगुरवे नमः। सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसः परिवर्द्धकं धर्मसंबंधकं भव्यजीवप्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारनामधेयं।

अस्य मूलग्रंथकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तत्प्रयुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य श्रीमदाचार्य भट्टाकलंकदेवेन विरचितं। श्रोतारः सावधानतया शृण्वंतु।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी। मंगलं कुंदकुंदाद्या जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः ।

हरीभाईदेवकरण जैनग्रंथमाला ।

८

श्रीमदाचार्यभट्टाकलंकदेवविरचित

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार ।

(भाषाटीका सहित)

प्रणम्य सर्वविज्ञानमहास्पदमुरुश्रियं ।
निर्धौतकल्मषं वीरं वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकं ॥ १ ॥

अर्थ—समस्त विज्ञान—केवल ज्ञान वा भेद विज्ञानके स्वामी, समवसरण आदि वाह्य और अंनत ज्ञान

आदि अंतरंग विभूतिके धारक पाप और कर्मोंके नष्ट करनेवाले अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीर भगवानको नमस्कार कर मैं ग्रंथकार 'श्री अकलंक देव' तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रंथकी रचना करता हूं।

श्रेयोमार्गप्रतिपित्सात्मद्रव्यप्रासिद्धेः ॥ १ ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन स्वभाव आत्मा कल्याण (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है यह बात प्रसिद्ध है इसीलिये उस कल्याण (मोक्ष) के उपायके जाननेकी इच्छा होती है। अर्थात् मोक्ष प्राप्तिकी योग्यता रखनेवाला आत्मद्रव्य प्रसिद्ध है इसीलिये मोक्षके मार्गके जाननेकी अभिलाषा होती है। वह किसप्रकार ?

चिकित्साविशेषप्रतिपत्तिवत् ॥ २ ॥

अर्थ—जिसप्रकार रोग दूर होनेका सुख जिसे मिल सकता है ऐसे रोगीके रहते हुए ही रोग, निदान एवं उसे दूर करनेका उपाय बतलाया जाता है उसी प्रकार आत्माके रहते हुए ही मोक्ष मार्गका निरूपण किया जासकता है। ज्ञानदर्शन स्वभाववाला—मोक्षपात्र—आत्मा प्रसिद्ध है इसीलिये मोक्षके मार्गकी व्याख्या करना स्वभावसिद्ध एवं न्यायोपात्त है।

सर्वार्थप्रधानत्वात् ॥ ३ ॥

संसारमें घूमनेवाले प्राणियोंको चारों पुरुषार्थोंमें मोक्ष पुरुषार्थ ही परम हितकारी और मुख्य है, प्रधान पुरुषार्थके लिये जो प्रयत्न किया जाता है वही सार्थक है। इसलिए जिस उपायसे मोक्ष मिल सके वह उपाय अवश्य बतलाना चाहिये इसलिये मोक्षका निरूपण युक्त है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

मोक्षोपदेशः पुरुषार्थप्रधानत्वादिति चेन्न जिज्ञासमानार्थप्रश्नापोक्षप्रतिवचनसद्भावाद् ॥ ४ ॥

अर्थ—धर्म अर्थ काम और मोक्षके भेदसे पुरुषार्थ चार हैं। चारो पुरुषार्थोंमें मोक्ष पुरुषार्थ ही प्रधान है एवं जीवोंको अनुपम और अत्यन्त कल्याणकारी है इसलिये मोक्षका उपाय न वतलाकर पहले उसका स्वरूप ही वतलाना चाहिये ? सो नहीं ! पूछनेवाला जैसा पूछेगा वैसा ही उत्तर दिया जायगा। यहांपर पूछनेवालेने 'मोक्षका उपाय क्या है ?' यही पूछा है उसका स्वरूप नहीं पूछा है इसलिये मोक्षका उपाय वतलाना ही ठीक है। फिर भी यदि यह शंका हो कि—

मोक्षमेव कस्मन्नाप्राक्षीदिति चेन्न कार्यविशेषसंप्रतिपत्त्ेः ॥ ५ ॥

अर्थ—जब समस्त पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही मुख्य पुरुषार्थ है तब पूछनेवालेने मोक्षका स्वरूप ही क्यों नहीं पूछा, मार्ग ही उसने क्यों पूछा ? सो भी ठीक नहीं ! क्योंकि यह नियम है कि जब किसीसे कोई कुछ पूछना चाहता है तब खास मतलवसे पूछता है। सांख्य मीमांसक वेदांती आदि सव ही वादी प्रायः मोक्षपदार्थ स्वीकार करते हैं परन्तु उसके उपायके वतलानेमें सवका मत जुदा जुदा है। कोई मोक्षका कोई उपाय मानता है और किसीको कोई उपाय इष्ट है इसलिये पूछनेवालेको मोक्षपदार्थमें किसी प्रकारका संदेह न हो सकनेके कारण उसके उपायमें ही यह संदेह हुआ कि मोक्षका वास्तविक उपाय क्या है इसीलिये उसने मोक्षका वास्तविक उपाय ही पूछना प्रयोजनीय समझा उसका स्वरूप नहीं। और भी यह वात है कि—

कारणं तु प्रति विप्रतिपत्तिः पाटलिपुत्रमार्गविप्रतिपत्तिवत् ॥ ६ ॥

जो मनुष्य पटना शहरको जानेवाले हैं उन्हें उसके होनेमें कोई विवाद नहीं, सभी लोग पटना

एक शहर है, यह बात स्वीकार करते हैं किन्तु अनेक मार्गोंको देखकर पटना शहरको जानेवाले मार्गमें उनका झगडा है। कोई किसी मार्गको बतलाता है, किसीको कोई मार्ग ठीक जान पडता है उसी प्रकार सांख्य वेदांती आदि जितने भी वादी हैं, सभी मोक्ष पदार्थको मानते हैं। मोक्ष पदार्थके माननेमें किसी का भी झगडा नहीं किन्तु मोक्षका जो उपाय है उसमें उनका विवाद है। कोई[1] कोई वादी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन और चारित्रकी कोई अपेक्षा न रखकर अकेले ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त हो जाती है इनके मतमें सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र निरर्थक हैं। बहुतसे[2] वादियोंका सिद्धान्त है कि ज्ञान और वैराग्य ही मोक्षमें कारण हैं इन्हीं दो कारणोंसे मोक्ष प्राप्त हो जाती है उसकी प्राप्तिमें अन्य किसी भी कारणकी आवश्यकता नहीं। यहांपर ज्ञानका अर्थ—पदार्थोंका जानना है, और विषयजन्य सुखोंकी लालसा छूट जाना वैराग्य माना है। तथा अन्य[3] वादी यह मानते हैं कि क्रिया—यज्ञ आदि क्रियासे ही मोक्ष मिल जाती है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं। उनके आगममें यह लिखा भी हुआ है कि "नित्यकर्महेतुकं निर्वाणमिति" नित्य कर्मके करनेसे मोक्ष प्राप्त हो जाती है। विशेष[4]——

मीमांसक सिद्धांतमें कर्मके दो भेद माने हैं एक गुणकर्म दूसरा अर्थ कर्म। उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति ये चार भेद गुणकर्मके हैं। नित्यकर्म १ नैमित्तिककर्म २ और काम्यकर्म ३ ये तीन भेद अर्थ कर्मके हैं। यावज्जीव अग्निहोत्र नामका यज्ञ करना वा सायंकालको करना अथवा प्रातःकाल करना इसप्रकार नित्य यज्ञ करना नित्यकर्म है। दर्शपूर्णमासादि नैमित्तिक—(किसी निमित्तसे होनेवाले) यज्ञोंका करना नैमित्तिक कर्म है। इसलोक परलोकके किसी खास फलकी इच्छासे दर्शपूर्णमासादिक यज्ञ करना

१ विज्ञानाद्वैतवादी वेदांती। २ बौद्धभेद। ३ मीमांसक। ४। मीमांसापरिभाषा पृष्ठ १६।

कुछ मंदता रहती है इसलिये थोडा कष्ट होता है किंतु जैसा जैसा ज्ञान अधिक होता चला जाता है वैसे वैसे कष्ट भी वढता चला जाता है। मूर्खकी अपेक्षा विद्वानको अधिक कष्ट जान पडता है यदि समस्त ज्ञान प्राप्त हो जायगा तो कष्ट भी अत्यंत भोगना पडेगा जहां कष्ट है वह मोक्ष अवस्था नहीं मानी जा सकती इसलिये ज्ञानादि समस्त विशेष गुणोंके अभावसे ही उन्होंने आत्माकी मोक्ष अवस्था मानी है सांख्य सिद्धांत और इस सिद्धांतमें इतना भेद है कि सांख्य सिद्धांतके अनुसार तो मुक्तात्माकी अवस्था सोते हुए मनुष्य की दशा है अर्थात् चैतन्य तो विद्यमान है परंतु जानना देखना नही तथा नैयायिक वैशेषिक मतके अनुसार मुक्तात्मा की अवस्था चैतन्यशून्य आकाशके समान जड है। यदि कहा जाय कि—

कार्यविशेषोपलंभात्कारणान्वेषणप्रवृत्तिरिति चेन्न अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयंत्रभ्रांतिनिवृत्तिवत् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार ज्वर आदि रोगोंके साक्षात् दीखनेपर वैद्य लोग किस कारण से ज्वर हुआ ? इत्यादि तर्क वितर्ककर उसके कारणों की खोज करते हैं और इलाज करनेके लिये प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार मोक्षके साक्षात् दीखने पर ही उसके उपायकी खोज की जा सक्ती है और उस उपाय पर चलनेका प्रयत्न किया जा सक्ता है परतु मोक्ष पदार्थ तो दिखता नहीं इसलिये उसका उपाय पूछना व्यर्थ है यह शंका ठीक नहीं। इंद्रिय प्रत्यक्षसे मोक्ष पदार्थ नहीं भी दीखे तथापि अनुमानसे उसकी सत्ता सिद्ध ही है ॥ जिस तरह किसी कूए पर घटी यंत्र (जिस यंत्र से घडोंके द्वारा कूए से जल निकाला जाता है (अरहट) चल रहा है परंतु दूरमें रहने वाले मनुष्यको दिखता नही तथापि वह "वैलके विना चल अरगर्त—चका (पहिया) नही चल सक्ता। बिना चका चले घटी यंत्र नही चल सकता। वैल

घर तथा पुत्र है, इसप्रकारके भेद विज्ञानके दूर होजाने पर केवल चैतन्य स्वरूप अवस्थाका जो प्रगट हो जाना है उसीका नाम मोक्ष है तथा नैयायिक और वैशेषिकोंका कहना है कि बुद्धि १ सुख २ दुःखं ३ इच्छा ४ द्वेष ५ प्रयत्न ६ धर्म ७ अधर्म ८ और संस्कार ९ इन विशेष गुणोंकी जिस अवस्थामें आत्मा से सर्वथा जुदाई हो जाती है उसीका नाम मोक्ष है । इसप्रकार मोक्षके स्वरूपमें भी लोगों की भिन्न भिन्न कल्पना पाई जाती है । सो ठीक नहीं । अपने अपने मतके अनुसार वे मोक्ष के माननेमें चाहे विशेषता सिद्ध करें परन्तु सामान्य रूपसे (कर्मविप्रमोक्ष) समस्त कर्मोंका सर्वथा नाशरूप मोक्ष सभीको स्वीकार है। मोक्ष कोई भी पदार्थ नहीं यह कोई भी भाववादी नहीं कह सकता जब यह बात है तब हमारे सिद्धांतमें कोई विरोध नहीं आता और मोक्ष सामान्यमें किसीका झगडा भी नहीं । वह प्रसिद्ध ही है । इसलिये पूछनेवालेने प्रसिद्ध मोक्षका स्वरूप न पूछ सभी वादियोंके विवादका स्थान जो उसका उपाय उसे पूछा है वह उचित ही है । विशेष—

जिसप्रकार जैन सिद्धान्तमें यह बात बतलाई है कि जबतक आत्माके साथ कर्मोंका सबंध रहता है तब तक उसे संसारमें ही घूमना पडता है किन्तु जिस समय कर्मोंका संबंध छूट जाता है उस समय वह आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है उसीप्रकार बौद्ध सिद्धान्तमें भी यह बात है कि जब तक आत्माके साथ रूप वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कंधोंका संबंध रहता है तबतक आत्माको संसार में ही रुलना पडता है और जिस समय इन पांचों स्कंधोंकी आत्मासे जुदाई हो जाती है उस समय यह आत्मा मुक्तात्मा बन जाता है ।

सांख्य सिद्धान्तमें वैसे तो २६ पदार्थ माने हैं परंतु मुख्य पदार्थ प्रकृति (गुण) और पुरुष दोही

माने हैं जिस तरह जैन सिद्धांतमें कर्म पदार्थ माना है और उसके संबंधसे आत्माको संसारमें रुलना बताया है उसी प्रकार सांख्य सिद्धांतमें सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुणरूप प्रकृति पदार्थ माना है और उसके संबंधसे पुरुष संसारमें रुलता रहता है यह बतलाया है । प्रकृति पदार्थको ही उन्होंने जगतका कर्ता माना है। बुद्धि सुख दुख अभिमान आदि गुणोंको धारण करनेवाली प्रकृति ही है पुरुष तो चैतन्यमात्र है और जिस प्रकार कमलका पत्र पानी पर रहते भी निर्लेप रहता है। पानीका उस पर कोई भी असर नहीं रहता। उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि सुख दुःख आदिसे निर्लेप रहता है। प्रकृतिके संबंधसे मैं ज्ञाता सुखी दुःखी आदि भावनायें पुरुषकी आत्मामें उत्पन्न होती रहती हैं और जबतक ये भावनायें उदित होती रहती हैं तभी तक पुरुष संसारमें फंसा रहता है किंतु जिस समय स्वप्न अवस्थाके समान यह घर है किंवा कपडा और घर है इस प्रकार विवेक ज्ञान नष्ट हो जाता है केवल चैतन्य मात्र अवस्था रहती है उसीका नाम मोक्ष है। मोक्ष अवस्थामें सांख्य मतके अनुसार आत्मा किसी भी पदार्थको जान देख नहीं सकता किंतु सोनेवाला पुरुष जिस प्रकार विवेक ज्ञान शून्य चैतन्यमात्र शक्तिका धारक रहता है वैसी ही दशा मोक्षमें रहने वाली आत्माकी होती है।

नैयायिक और वैशेषिक सिद्धान्तमें बुद्धि १ सुख २ दुःख ३ इच्छा ४ द्वेष ५ प्रयत्न ६ अदृष्ट—धर्म ७ अधर्म ८ और भावना संस्कार ९ ये नौ विशेष गुण माने हैं। उनका मत है कि जबतक ये गुण आत्मामें रहते हैं तब तक उसे संसारमें घूमना पडता है किंतु जिस समय इन समस्त धर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है उस समय आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है । शेष विशेष गुणोंके साथ जो ज्ञान गुणका अभाव माना है उसका आशय वे यह बतलाते हैं कि ज्ञान दुःखका कारण है। बालकपनमें ज्ञानकी

कुछ मंदता रहती है इसलिये थोडा कष्ट होता है किंतु जैसा जैसा ज्ञान अधिक होता चला जाता है वैसे वैसे कष्ट भी वढता चला जाता है। मूर्खकी अपेक्षा विद्वानको अधिक कष्ट जान पडता है यदि समस्त ज्ञान प्राप्त हो जायगा तो कष्ट भी अत्यंत भोगना पडेगा जहां कष्ट है वह मोक्ष अवस्था नहीं मानी जा सकती इसलिये ज्ञानादि समस्त विशेष गुणोंके अभावसे ही उन्होंने आत्माकी मोक्ष अवस्था मानी है सांख्य सिद्धांत और इस सिद्धांतमें इतना भेद है कि सांख्य सिद्धांतके अनुसार तो मुक्तात्माकी अवस्था सोते हुए मनुष्य की दशा है अर्थात् चैतन्य तो विद्यमान है परंतु जानना देखना नही तथा नैयायिक वैशेषिक मतके अनुसार मुक्तात्मा की अवस्था चैतन्यशून्य आकाशके समान जड है। यदि कहा जाय कि—

कार्यविशेषोपलंभात्कारणान्वेषणप्रवृत्तिरिति चेन्न अनुमानतस्तत्सिद्धेर्घटीयंत्रभ्रांतिनिवृत्तिवत् ॥ ९ ॥

जिस प्रकार ज्वर आदि रोगोंके साक्षात् दीखनेपर वैद्य लोग किस कारण से ज्वर हुआ ? इत्यादि तर्क वितर्ककर उसके कारणों की खोज करते हैं और इलाज करनेके लिये प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार मोक्षके साक्षात् दीखने पर ही उसके उपायकी खोज की जा सक्ती है और उस उपाय पर चलनेका प्रयत्न किया जा सक्ता है परतु मोक्ष पदार्थ तो दिखता नहीं इसलिये उसका उपाय पूछना व्यर्थ है यह शंका ठीक नहीं। इंद्रिय प्रत्यक्षसे मोक्ष पदार्थ नहीं भी दीखे तथापि अनुमानसे उसकी सत्ता सिद्ध ही है ॥ जिस तरह किसी कूए पर घटी यंत्र (जिस यंत्र से घडोंके द्वारा कूए से जल निकाला जाता है (अरहट) चल रहा है परंतु दूरमें रहने वाले मनुष्यको दिखता नही तथापि वह "वैलके विना चल अरगर्त—चक्का (पहिया) नही चल सक्ता। बिना चक्का चले घटी यंत्र नही चल सकता। वैल

बराबर घूम रहा है इसलिये चक्का भी चल रहा है और चक्काके चलनेसे घटी यंत्र भी चल रहा होगा" इस प्रकारके अनुमानसे घटी यंत्रके चलनेका वह निश्चय कर लेता है उसी प्रकार "वैलके समान कर्मोंके बलसे चारो गतियोंमें घूमना पडता है। चक्काके समान गतियोंमें घूमनेसे घटी यंत्र की तरह शारीरिक मानासिक अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पडते है किंतु जब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्तिसे समस्त कर्म सर्वथा नष्ट हो जाते हैं समस्त कर्मोंके सर्वथा नाश हो जाने पर चारो गतियों में घूमना छूट जाता है। एवं गतियोंमें घूमना बंद हो जाने पर दुःखस्वरूप संसारकी निवृत्ति हो जाती है। जो संसारकी निवृत्ति है उसीका नाम मोक्ष है इस अनुमानसे मोक्ष पदार्थकी भी सिद्धि हो जाती है प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों द्वारा सिद्ध बात प्रमाणीक मानी जाती है इसलिये जब अनु मानसे मोक्ष पदार्थ सिद्ध है तब उसका उपाय क्या है ? यह जो पूछनेवालेने पूछा है, निरर्थक नहीं हो सकता किंतु यथार्थ ही है। और भी कहा है—

सर्वेशिष्टसंप्रतिपत्तेः ॥ १० ॥

यद्यपि मोक्ष पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणसे दीख नहीं पडता तथापि सभी शिष्ट—उत्तम पुरुष अनुमान प्रमाणसे उसकी मोजूदगीका निश्चय कर उसकी प्राप्तिके जो भी कारण हैं उनके लिये प्रयत्न करते हैं। उत्तम पुरुष जिस कार्यको करते हैं वह कार्य प्रायः उत्तम माना जाता है जब मोक्ष पदार्थको उत्तम पुरुष मानते और उसके मार्गपर चलते हैं तब मोक्षका मार्ग—उपाय पूछना ठीक ही है। और भी कहा है—

आगमात्तत्प्रतिपत्तेः ॥ ११ ॥ सूर्याचंद्रमसोर्ग्रहणवत् ॥ १२ ॥

सूर्य और चंद्रमाका ग्रहण किस समयपर, किस रंगका, किस दिशामें पडेगा ? तथा सर्वग्रासी

पडेगा वा अर्धग्रासी ? यह वात ज्योतिषी लोगोंके प्रत्यक्ष नहीं है तौ भी वे आगम प्रमाणसे उसका निश्चयकर ठीक वतला देते हैं उसीप्रकार यद्यपि मोक्ष पदार्थ प्रत्यक्षसे नहीं दीखता तथापि आगमसे उसकी सत्ताका निश्चय है ही। आगम भगवान सर्वज्ञका वचनजन्य ज्ञान है इसलिये मोक्ष पदार्थ सिद्ध ही है असिद्ध नहीं। और भी मोक्षके अस्तित्वमें पुष्ट प्रमाण यह है—

स्वसमयविरोधः ॥ १३ ॥

यद्यपि मोक्ष पदार्थ प्रत्यक्षगोचर नहीं, तो भी जितने भी आगमप्रमाणवादी हैं सभी उसका अस्तित्व मानते हैं। इसलिये जो यह कहते हैं कि मोक्ष पदार्थ दीखता नहीं इसलिये उसका अभाव है यह वात उनके आगमके विरुद्ध है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

बंधकारणानिर्देशादयुक्तमिति चेन्न, मिथ्यादर्शनादिवचनात् ॥ १४ ॥

जहांपर मोक्षके कारण वतलाये गये हैं वहां पर "मोक्षके कारणोंसे जो विपरीत कारण हैं उनसे बंध होता है" इस रूपसे बंधके कारण भी साथ साथ वतलाये गये हैं परन्तु यहां पर वह वात नहीं ? यहां तो केवल मोक्षके ही कारणोंका उल्लेख है ? सो ठीक नहीं। आगे 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः।' इस सूत्रसे मिथ्यादर्शन अविरति आदि बंधके कारणोंका भी कथन किया गया है। यदि यह कहा जाय कि—

बंधपूर्वकत्वान्मोक्षस्य प्राक् तत्कारणानिर्देश इति चेन्न आश्वसनार्थत्वात् ॥ १५ ॥ बंधनबद्धवत् ॥ १६ ॥

मोक्षका विधान बंधपूर्वक है—पहले कर्मोंका बंध होता है पीछे मोक्ष होती है इसलिये पहले बंधके कारण कहकर मोक्षके कारण कहने चाहिये ? सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यह एक साधारण वात है

कि—कैदखानेमें रहनेवाले मनुष्यसे पहले यदि बंधनके कारण सुझाये वा सुनाये जाते हैं तो वह भयभीत हो निकलता है यदि उसीको पहले छूटनेके कारण सुनाये जाते हैं तो उसे संतोष होता है उसीप्रकार संसारी जीव अनादि कालमे संसाररूपी कैदखानेमें पडे दुःख पा रहे हैं यदि इनको पहले कर्मबंधके कारण सुनाये जांयगे तो ये बंधसे होनेवाले कष्टोंसे भयभीत हो छटपटा निकलेंगे। यदि पहले मोक्षका कारण वतलाया जायगा तो उन्हें संतोष होगा इसलिये जीवोंको आश्वासन देनेके लिये पहले बंधके कारण न कहकर मोक्षके कारणोंका कथन किया है। और भी यह वात है कि—

मिथ्यावादिप्रणीतमोक्षकारणनिराकरणार्थं वा ॥ १७ ॥

बहुतसे मिथ्यावादी पुरुष सम्यग्दर्शन आदि तीनों मोक्षके कारणोंमें किसी एक को ही वा दोको ही मोक्षका कारण मानते हैं उनके मतके खंडनके लिये एवं 'तीनों मिलकर ही मोक्षका मार्ग है' यह वतलानेके लिये पहले मोक्षके कारणोंका कथन किया है।

मोक्षसे विपरीत संसारकी कल्पना कर बहुतसे मिथ्यावादियोंका कहना है कि संसारका नाश एक मात्र ज्ञानविशेषसे ही होजाता है। अन्य किसीकी जरूरत नहीं। बहुतसे कहते हैं—ज्ञाननिरपेक्ष चारित्रसे ही संसारकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। ऐसे अनेक मिथ्यावादियोंके मतोंके निराकरण करनेके लिये और सम्यग्दर्शन आदि तीनो मिलकर ही मोक्षका मार्ग है यह प्रगट करनेके लिये सूत्रकारने सम्यग्दर्शनज्ञान इत्यादि पहला सूत्र कहा है। दूसरे किन्हीं टीकाकारोंका मत है कि—आगे होनेवाले पुरुषोंकी सामर्थ्यके अनुसार सिद्धान्त शास्त्रोंके ज्ञान करानेके लिये आचार्य महाराजने पहले मोक्षके कारणोंको कहकर आगे शास्त्र रचनेकी इच्छासे उस सूत्रका उल्लेख किया है। क्योंकि इस

तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी रचना किसी खास शिष्यके संबंधसे नहीं हुई है किन्तु आचार्य महाराजका यह उद्देश्य जान पडता है कि इस संसाररूपी विशाल समुद्रमें अनंत प्राणिगण डूबे हुए हैं उन सबके लिये हितकारी उपदेश सिवाय मोक्ष मार्गके उपदेशके दूसरा हो नहीं सकता इसीलिये उन्होंने मोक्षमार्गके व्याख्यानकी इच्छा प्रथम सूत्रसे प्रगट की है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र-इन तीनोंकी एकता ही मोक्षका मार्ग है।

प्रणिधानविशेषाहितद्वैविध्यजनितव्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ॥ १ ॥

उपयोगकी विशेषतासे निसर्ग और अधिगम इन दो कारणोंके द्वारा जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित हैं उनका उसीरूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

प्रणिधान उपयोग और परिणाम इन तीनों शब्दोंका एक ही अर्थ है इसलिये प्रणिधान शब्दका उपयोग और परिणाम दोनों ही अर्थ होते हैं। विशेषका अर्थ भेद करनेवाला है। जो एक पदार्थको दूसरे समस्त पदार्थोंसे जुदा करनेवाला हो या दूसरे पदार्थोंमें रहनेवाले गुणोंसे जो असाधारण हो उसका नाम विशेष है किं वा जो मोक्षस्वरूप ही हो अर्थात् जो अन्य पदार्थोंसे एक पदार्थको जुदा करानेवाला वा अपने ही को दूसरे गुणोंसे जुदा करानेवाला हो उसका नाम विशेष है। आहित, आत्मसात्कृत और परिगृहीत ये तीनों शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं इसलिये 'ग्रहण किया हुआ' यह अर्थ आहितका है। विध, युक्त, गत, प्रकार इन चारों शब्दोंका अर्थ एक है। जिसमें दो प्रकार हों उसका

नाम द्विविध और द्विविधपनाका नाम द्वैविध्य है। वे दो प्रकार निसर्ग और अधिगम हैं। 'उत्पन्न हुआ' यह अर्थ जनितका है। तथा जिसके द्वारा कार्य किया जाय उसका नाम व्यापार है। अर्थात् जो उद्दिष्ट वस्तुके प्राप्त करानेमें समर्थ हो ऐसा जो क्रियाप्रयोग है उसे ही व्यापार कहते हैं। यहांपर आत्माके बाह्य परिणामरूप कारणोंसे होनेवाले जो दर्शन मोहनीयके उपशम क्षय और क्षयोपशममें अंतरंग परिणाम रूप कारण उनके द्वारा जीव आदि पदार्थोंके विचारको विषय करनेवाला अधिगम और निसर्ग व्यापार माना है। इस प्रकार परिणाम ही विशेष वा परिणामका विशेष उससे उत्पन्न हुआ जो अधिगम और निसर्गरूपी द्विविधपना वही उत्पन्न हुआ है व्यापार जिसमें ऐसा यथावस्थित पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। "यह समस्त वाक्यके आधार पर पद पदका अर्थ है"। विस्तारके साथ सम्यग्दर्शन का अर्थ आगे किया जायगा।

नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थयाथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानं ॥ २ ॥

नय प्रमाण और उत्तरोत्तर भेदरूप कारणोंके द्वारा जीव आदि पदार्थ जिस रूपसे स्थित हैं उनको उसी रूपसे जानना सम्यग्ज्ञान है। जो पदार्थके एकदेश वा खास धर्मका बोधक हो वह नय है और जो वस्तुके एक धर्मके ज्ञानसे उस वस्तुमें रहनेवाले समस्त धर्मोंका वा उन समस्त धर्म स्वरूप वस्तुका जाननेवाला हो वह प्रमाण है। नयके मूल भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक हैं और प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके नैगम संग्रह आदि भेद हैं तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणके भेद मतिज्ञान

१ निसर्गका अर्थ स्वभाव और अधिगमका अर्थ गुरुका उपदेश आदि है। जो सम्यग्दर्शन स्वभावसे ही हो वह निसर्गज और जो गुरुका उपदेश आदि कारणोंसे हो वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान आदि हैं। इनका आगे वर्णन किया जायगा। वार्तिकमें जो पूर्व शब्द दिया गया है उसका अर्थ कारण है। अर्थात् जीव आदि पदार्थोंके जाननेमें नय प्रमाण और उनके भेद प्रभेद कारण हैं। ज्ञान मात्र कहनेसे संशय ज्ञान विपर्ययज्ञान और अनध्यवसाय ज्ञानोंका भी ग्रहण हो सकता है और वे भी मोक्षके कारण पड सकते हैं इसालिये उनके निराकरणके लिये ज्ञानके साथ सम्यक् विशेषण दिया है। संशय विपर्यय और अनध्यवसाय मिथ्याज्ञान हैं इस लिये सम्यग्ज्ञानके कहनेसे मोक्षके कारणोंमें उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता। विशेष—

जो ज्ञान विरुद्ध अनेक कोटियोंका अवलंबन करनेवाला है वह संशयज्ञान है जिस प्रकार दूरमें पडी हुई सीपमें चांदी सरीखी आभा देख यह चांदी है या सीप है? इस प्रकार दो कोटिका अवलंबन करनेवाला ज्ञान। जिस ज्ञानमें विपरीत एक कोटीका ही निश्चय है वह ज्ञान विपर्यय ज्ञान है। जिस प्रकार सीपमें यह चांदी ही है इसप्रकारका ज्ञान। तथा—मार्गमें चलते हुये पैरमें कंकडी आदिके लग जाने पर यह क्या है? इस प्रकार जो ज्ञान है वह अनध्यवसाय है। ये तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं सम्यग्ज्ञान नहीं, इसलिये सम्यक् पदसे इनका निराकरण हो गया॥

संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो वाह्याभ्यंतरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रं॥ ३॥

संसारके कारणोंके सर्वथा नाशकी इच्छा रखनेवाले ज्ञानवान आत्माकी शारीरिक और वाचानिक वाह्य क्रिया तथा मानासिक अंतरंग क्रियाओंका विशेष रूपसे जो रुक जाना है वही सम्यक्चारित्र है।

द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावके भेदसे संसार पांच प्रकारका है। ज्ञानावरणादि आठ कर्म उसके कारण वतलाये हैं। निवृत्तिका अर्थ सर्वथा नाश है। ज्ञानवान्, यहां पर 'मतु' प्रत्यय प्रशंसा अर्थमें है

जिसप्रकार रूपवान कहनेसे जो सुन्दर है उसीका ग्रहण किया जाता है किंतु वहांपर यह अर्थ नहीं लिया जाता कि जिसमें रूप है वही रूपवान है अन्य सब रूपरहित हैं क्योंकि रूपमात्रकी नास्ति नहीं कही जा सकती । मनोहर रूप सबका नहीं होता इसलिये उसकी नास्ति हो सकती है उसी प्रकार 'ज्ञानवान्' कहनेसे जिसका ज्ञान विशुद्ध है उसीका ग्रहण है किंतु यह बात नहीं जिसमें ज्ञान है वही ज्ञानवान् है अन्य सब ज्ञानरहित हैं क्योंकि ज्ञान मात्रकी कभी नास्ति नहीं कही जा सकती नहीं तो आत्मा पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। हां ! यह बात अवश्य है कि विशुद्ध ज्ञान सभीका नहीं होता अतः उसका अभाव कहा जा सकता है इस लिये यहांपर यह समझना चाहिये कि सभी आत्मा चैतन्यस्वरूप हैं इसलिये वे ज्ञानवान हैं। जिस समय आत्मामें मिथ्यादर्शनका उदय हो जाता है उस समय पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान हो जानेके कारण आत्मा मिथ्यादृष्टि और मिथ्याज्ञानी कहा जाता है किंतु जिस समय मिथ्याज्ञानके उदयका अभाव हो जाता है और जो पदार्थ जिसस्वरूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे श्रद्धान और ज्ञान होने लगता है तब वह आत्मा सम्यग्दृष्टि और प्रशस्त ज्ञानी कहा जाता है इसलिये ज्ञानवान, शब्दका अर्थ यहां प्रशस्त ज्ञानवान है। विशेषका अर्थ जुदा करनेवाला है यहां पर एक क्रियाको दूसरी क्रियाओंसे जुदा करे उसका नाम विशेष है अथवा जो अपने हीको दूसरे विशेषोंसे जुदा करनेवाला हो वह विशेष है। वह विशेष दो प्रकारका है एक बाह्य विशेष दूसरा अभ्यंतर विशेष । बाह्य विशेषके भी दो भेद हैं वाचिक और कायिक । वचन का विशेष वाचिक विशेष कहा जाता है और शरीरका विशेष कायिक विशेष कहा जाता है। ये दोनों ही विशेष चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंके गोचर हैं इस लिये बाह्य है तथा अभ्यंतर विशेषका भेद मानसिक—

मनका विशेष है यह विशेष अल्पज्ञानियोंके प्रत्यक्ष नहीं इसलिये अभ्यंतर है उसका त्याग सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार जिसके कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं ऐसे द्रव्य क्षेत्र आदि पांच प्रकारके संसारकी सर्वथा निवृत्ति करनेकेलिये जो उद्यमी है और प्रशस्त ज्ञानी है ऐसी आत्माका जो वचन और शरीर संबंधी (बाह्य) क्रिया विशेषोंका तथा मन संबंधी (अंतरंग) क्रियाविशेषोंका त्याग करना है वह सम्यक् चारित्र है, यह पदोंके अनुसार अर्थ है। यह सम्यक् चारित्र वीतरागियोंके अर्थात् ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्तियोंके यथाख्यात नामका उत्कृष्ट है और पांचवें गुणस्थानसे दशवें गुणस्थान वालोंके न्यूनाधिक भावसे है अर्थात् नीचे न्यून और आगे कुछ अधिक रूपसे विशुद्ध होता चला गया है :

ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं, कर्मसाधनश्चारित्रशब्दः ॥ ४ ॥

जो कार्य किया जा रहा है उसके करनेमें जो अत्यन्त साधक हो—उसके विना कार्य हो ही न सके वह करण[1] है जिसप्रकार देवदत्त कुल्हाडीसे लकडी काटता है। यहांपर लकडीका काटना कुल्हाडीके विना हो नहीं सकता इसलिये कुल्हाडी करण है। जो कार्य कर्त्ताको अत्यन्त इष्ट हो वह कर्म[2] कहलाता है जिस प्रकार देवदत्त भात खाता है वहांपर भात देवदत्तको अत्यन्त इष्ट है। इसलिये भात कर्म है 'करणाधिकरणयोः' अर्थात् करण और अधिकरणमें युट् होता है इस सूत्रसे जाननार्थक 'ज्ञा' धातुसे करणमें युट् करनेसे ज्ञान और दर्शनार्थक 'दृश' धातुसे करणमें युट् करने पर दर्शन शब्दकी सिद्धि होती है और उसका यह अर्थ है—जानना और देखना रूप शक्तिकी विशेषता रूप शुद्धिसे आत्मा जिसके द्वारा

१ साधकतमं करणः ॥ १३८ ॥ जैनेन्द्रव्याकरण अध्याय १ पाद २ सूत्र। २ कर्त्राप्यं ॥ १४५ ॥ जैनेन्द्रव्याकरण अध्याय १ पाद २। ३ ज्ञान, दर्शन और चारित्र शब्दकी सिद्धिका प्रकार व्याकरणमें देखो।

जीव अजीव आदि पदार्थोंको जाने और देखे वह ज्ञान और दर्शन है। आत्मा जीव अजीव आदि पदार्थोंको ज्ञान और दर्शनके ही द्वारा जान देख सकता है विना उनके नहीं इसलिये जानने और देखनेमें अत्यन्त साधक होनेसे ज्ञान और दर्शन करण है और करणमें युट् प्रत्यय करनेसे उनकी सिद्धि हुई है। तथा 'भूवदिग्रहङ्म्यो णित्रश्चरेर्वृत्ते' अर्थात् आचरणार्थ चरधातुसे कमम णित्र प्रत्यय होता है इस सूत्रसे चर धातुसे णित्र प्रत्यय करनेपर चारित्र शब्दकी सिद्धि होती है और उसका यह अर्थ होता है—चारित्र मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशम होने पर जो आचरण किया जाय उसका नाम चारित्र है यहां पर आत्माको चारित्रका आचरण करना ही सबसे अधिक इष्ट है इसलिये चारित्र कर्म है और कर्ममें णित्र प्रत्ययका विधान करनेसे चारित्र शब्द सिद्ध हुआ है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवदिति चेन्न तत्परिणामादग्निवत् ॥ ५ ॥

जिसप्रकार देवदत्त फरसासे लकडी काटता है यहां पर फरसा रूप करण और देवदत्त रूप कर्ता दोनों ही पदार्थ जुदे जुदे हैं उसीप्रकार आत्मा ज्ञानके द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानता है यहांपर आत्मा और ज्ञान भी जुदे जुदे पदार्थ स्वीकार करने पडेंगे क्योंकि आत्माको कर्ता और ज्ञानको करण माना गया है सो ठीक नहीं जिसतरह द्रव्य क्षेत्र आदि वाह्य कारण और अंतरंग करणोंके द्वारा अग्निकायिक नामकर्मके उदयसे जिस आत्माके उष्णपना प्रगट हो गया है उस उष्णता परिणामसे वह अग्नि कहा जाता है तथा एवंभूत नयकी अपेक्षा उष्णपर्याय और अग्निका अभेद है उसी तरह ज्ञान दर्शन आत्माके स्वभाव हैं इसलिये एवंभूत नयकी अपेक्षा जिससमय आत्मा ज्ञानस्वरूप परिणत होता है

उस समय वह ज्ञानस्वरूप और जिस समय दर्शन स्वरूप परिणत होता है उस समय दर्शन स्वरूप कहा जाता है अर्थात् ज्ञान दर्शन और आत्मा एकही है इसलिये आत्मा और ज्ञान दर्शनमें कर्ता करणका विभाग रहने पर भी वे भिन्न नहीं हो सकते जो पदार्थ जिस समय जिस क्रियासे परिणत हो उस समय उसे उसी रूपसे कहना एवंभूत नयका विषय है जिसप्रकार गमन करनेवालीको ही गाय कहना बैठी आदिको नही कहना। और भी ज्ञान दर्शन और आत्माकी अभिन्नतामें यह हेतु है कि—

अतत्स्वाभाव्येऽनवधारणप्रसंगोऽग्निवत् ॥ ६ ॥

जिसप्रकार उष्णपना सिवाय अग्निके अन्य किसीमें नहीं दीख पडता। अग्निमें ही रहता है इसलिये यह अग्निका असाधारण धर्म है। उष्णता मालूम पडते ही यह अग्नि है ऐसा सर्वथा निश्चय हो जाता है। यदि उष्णता अग्निका धर्म न हो तो अन्य किसी भी असाधारण धर्मके न रहने से उसका निश्चय ही नहीं हो सकता उसीप्रकार ज्ञान दर्शन पर्याय भी सिवाय आत्माके किसी पदार्थमें नहीं दीख पडती आत्मामें ही दीख पडती है इसलिये वह आत्माका स्वभाव होनेसे असाधारण पर्याय है यदि ज्ञान पर्याय आत्मासे जुदी ही हो जायगी तो ज्ञान आत्माका स्वभाव न हो सकेगा। ज्ञानको आत्माका स्वभाव न माननेपर वह ज्ञानरहित होगा तथा असाधारण पर्याय ज्ञानके अभावमें उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकेगी इसलिये ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है ज्ञान और आत्मामें भेद नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

अर्थांतरात्संप्रत्यय इति चेन्नोभयासत्त्वात् ॥ ७ ॥ नीलीद्रव्यसंबंधाच्छाटीपटकंबलादिषु, नीलसंप्रत्ययवत् ॥ ८ ॥ दंडदंडिवत् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार धोती कपडा कंबल सफेद हैं किन्तु जिस समय उन्हें नील रंगमें रंग दिया जाता है उससमय नील द्रव्यके संबधसे वे नीले कहे जाते हैं उसी प्रकार उष्ण गुण भी अग्निसे जुदा है किन्तु समवाय संबंधसे अग्निमें वह रहता है इसलिये उसीसे 'अग्नि उष्ण है' यह व्यवहार होता है। उसही प्रकार ज्ञान गुण भी आत्मासे जुदा है किन्तु समवाय संबंधसे वह आत्मामें रहता है इसलिये ज्ञान गुणसे आत्मा ज्ञानी है यह व्यवहार होता है ? ऐसी आशंका भी ठीक नहीं। संबंधसे पहिले जो पदार्थ सिद्ध हों उनका तो संबंध हो सकता है किन्तु जो पदार्थ असिद्ध है। जुदे २ कभी रह ही नही सकते, उनका संबंध नही हो सकता जिस तरह दंड और पुरुषके संबंधसे दंडी व्यवहार होता है यहांपर जब तक पुरुषके साथ दंडका संबंध नही हुआ है उसके पहले ही पुरुष अपने जाति गुण आदि लक्षणोंसे प्रसिद्ध है दंड भी संबंधके पहिले गोल लंबाई आदि लक्षणोंसे प्रसिद्ध है इसलिये दोनों पदार्थोंकी जुदी जुदी सत्ता सिद्ध रहनेसे दंड और पुरुषका संयोग संबंध इष्ट है और वह पुरुष, दंड संयोगके रहनेसे दंडी है यह व्यवहार ठीक है। उसी प्रकार धोती कपडा कंबल आदि पदार्थोंके साथ जब तक नीलका संबंध नही हुआ है उसके पहिले नील पदार्थकी सत्ता सिद्ध है और संबंधसे पहिले धोती कपडा आदि पदार्थों की भी सत्ता मौजूद है इसलिये धोती आदि नीले हैं यह व्यवहार भी ठीक है परन्तु अग्निके साथ उष्ण गुणके संबंधके पहले न तो कोई अग्निका ऐसा विशेष गुण अग्निसे भिन्न सिद्ध है जो उसकी सत्ता सिद्ध कर सके और न कोई उष्ण गुणका ही आधार प्रसिद्ध है जिससे उष्ण गुणकी सत्ता सिद्ध हो सके क्योंकि गुण किसी न किसीके आधार रहते हैं बिना आधारके उनकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, उष्ण भी गुण है इसलिये बिना किसी आधारसे उसकी भी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती तथा जो पदार्थ जुदे जुदे सिद्ध

नहीं हैं उनका संबंध नही बन सकता इसलिये अग्नि और उष्णका समवाय संबंध नहीं हो सकता। उसही प्रकार आत्माके साथ ज्ञान गुणके संबंधके पहले आत्माका कोई ऐसा विशेष गुण नहीं जो उसकी सत्ता सिद्ध कर सके और न कोई ज्ञान गुणका आधार आत्माके सिवा प्रसिद्ध है जिससे ज्ञान गुणकी सत्ता सिद्ध हो सके क्योंकि ज्ञान गुण है। गुण विना आधारके ठहर नहीं सकता। तथा संबंधके पहले जो पदार्थ असत् हैं मोजूद नहीं हैं उनका संबंध नहीं बन सकता इसलिये आत्मा और ज्ञानका समवाय संबंध कभी सिद्ध नहीं हो सकता। विशेष—

जिसप्रकार जैन सिद्धांतमें द्रव्य और गुणका तादात्म्य संबंध माना है उसीप्रकार नैयायिक और वैशेषिक संप्रदायवालोंने समवाय संबंध माना है समवायका लक्षण उन्होंने यह माना है गुण गुणी आदि में जो दोनोंको भिन्न न होने देनेवाला नित्य संबंध है उसे ही समवाय संबंध कहते हैं अर्थात् जो पदार्थ आपसमें कार्य और कारणरूप हैं अथवा अकार्य और अकारण रूप हैं। परस्परमें जुदे जुदे नहीं हैं और एक आधार तो दूसरा आधेय इस रूपसे स्थित हैं ऐसे पदार्थोंका जो 'यह यहां है' ऐसी प्रतीति करानेवाला तथा देश कालकी अवधिसे नियत और अपने अपने स्वरूपसे सर्वथा भिन्न पदार्थोंको जुदा न होने देनेवाला जो भी कोई संबंध है वह समवाय है। जिस प्रकार 'इस पात्रमें दही है' यहांपर कोई न कोई संबंध जान पडता है और वह संयोग संबंध माना जाता है उसी प्रकार तंतुओंमें कपडा है। वीरणों (सींकों) में चटाई, द्रव्यमें गुण और कर्म, द्रव्य—गुण—कर्मोंमें सत्ता, द्रव्यमें द्रव्यत्व, गुणमें गुणत्व

१ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। जो द्रव्यके आधीन हैं और जिनमें कोई गुण नहीं रहता वे गुण हैं। २ प्रशस्तपाद भाष्य ३२५ पृष्ठ देखो।

कर्ममें कर्मत्व, नित्य द्रव्यमें विशेष, इत्यादि प्रतीति होती है और वह किसी न किसी संबंधकी बतानेवाली है संयोगादि संबंध बाधित है क्योंकि द्रव्यका द्रव्यके साथ संयोग माना गया है इसलिये यहां जो संबंध सिद्ध होगा उसीका नाम समवाय है और वह नित्य तथा एक संबंध है इत्यादि (उष्ण और अग्नि, आत्मा और ज्ञानादि पदार्थ संबंधसे पहिले अपने अपने स्वरूपसे सर्वथा भिन्न प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये समवायका लक्षण न घटनेके कारण इनका समवाय संबंध सिद्ध नहीं होता) ज्ञान और आत्माके अभेद सिद्ध करनेमें और भी यह पुष्ट हेतु है—

उभयथाप्यसद्भावात् ॥ १० ॥ सर्वासद्भादिवत् ॥ ११ ॥

जो वादी अग्नि और उष्ण एवं आत्मा और ज्ञानादिका समवाय संबंध माननेवाले हैं उनसे यह पूछना चाहिये कि अग्निके साथ जिससमय उष्ण गुणका संबंध हुआ उससे पहिले उसमें उष्ण गुण था या नहीं ? यदि उष्ण गुणके संबंधसे पहिले भी अग्निमें उष्ण गुण मौजूद था और अग्नि उष्ण है यह प्रतीति थी, तब उसमें संबंधसे उष्ण गुण मानना व्यर्थ है। यदि संबंधसे पहिले उष्ण गुण अग्निमें न था तो उष्ण ज्ञानके अभावसे अग्निका स्वभाव उष्ण नहीं बन सकेगा इसलिये दंडके संबंधसे जिस प्रकार दंडी वा दंडवान् यह व्यवहार होता है उसप्रकार उष्ण गुणके संबंध होने पर उष्णी वा उष्णवान् यही व्यवहार अग्निमें हो सकेगा 'अग्नि उष्ण है' यह व्यवहार न बन सकेगा किन्तु यह व्यवहार तो अभेद पक्षमें ही होता है इसलिये अग्नि और उष्णका अभेद संबंध ही मानना पडेगा अन्यथा दोनों ही पदार्थोंकी सिद्धि न होगी। असद्वादियोंके समान असत् पदार्थ ही सिद्ध होगा। और भी यह बात है कि—

अनवस्थाप्रतिज्ञाहानिदोषप्रसंगात् ॥ १२ ॥ सर्वसत्प्रतिपक्षवादिवत् १३ ॥

अग्निमें उष्ण गुणका समवाय संबंध मानकर उसमें उष्णताकी प्रतीति हो जायगी और 'अग्नि उष्ण है' यह व्यवहार भी हो सकेगा। परंतु उष्ण गुणमें उष्णताकी प्रतीति कैसे होगी ? यदि यह माना जायगा कि उष्णगुणमें उष्णताकी प्रतीतिके लिये समवाय संबंध माननेकी आवश्यकता नहीं, स्वभावसेही उसमें उष्णताकी प्रतीति हो जायगी, तब फिर अग्निमें भी स्वभावसे ही उष्ण गुणकी प्रतीति मान लेनी चाहिये। वहां भी अग्निमें उष्णगुणके समवाय संबंधकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि यह कहा जायगा कि उष्णगुणमें भी एक उष्णत्व जाति[1]—वा धर्म मौजूद है उससे उष्णगुणमें उष्णता की प्रतीति हो जायगी तो वहां पर भी यह पूछा जा सकता है कि उष्णत्व धर्ममें उष्णपनेकी प्रतीति किस संबंधसे होगी ? यदि उसमें स्वभावसे ही उष्णपना माना जायगा तब अग्निमें भी स्वभावसे ही उष्णपना मान लेना चाहिये वहां पर भी समवाय संबंधकी कल्पना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि यह कहा जायगा कि अग्निमें स्वभावसे उष्णपना मानना हमें इष्ट नहीं, उष्णत्व धर्ममें उष्णता की प्रतीतिके लिये हम दूसरा उष्णत्वत्व धर्म मान लेंगे और उससे उसमें उष्णपनेकी प्रतीति हो जायगी उसी प्रकार उष्णत्वत्वमें भी दूसरा (उष्णत्वत्वत्व) धर्म मान लेंगे उससे उष्णत्वत्वमें भी उष्णपनेकी प्रतीति हो जायगी इसी प्रकार आगे भी धर्मोंकी कल्पना कर उनसे पहिले पहिलेके धर्मोंमें उष्णपनेकी प्रतीति होती चली

१ नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् जातित्वम्। जो नित्य हो और अनेकोंमें समवाय सम्बन्धसे रहे वह जाति है नैयायिक और वैशेषिक उष्णत्वको जाति मानते हैं क्योंकि वह धर्म अनेक उष्णोंमें रहता है और उनके मतानुसार नित्य भी है। मुक्तावली पृष्ठ ७।

जायगी सो मानना ठीक नहीं। इसतरह माननेसे अनवस्था दोष आवेगा क्योंकि अप्रमाणभूत अनेक पदार्थोंकी कल्पना करते चला जाना अनवस्था दोष है यहां पर भी अग्निमें उष्णपनाकी प्रतीतिके लिये समवाय संबंधसे उष्ण गुणकी कल्पना, उष्ण गुणमें उष्णपनेकी प्रतीतिके लिये उष्णत्वधर्मकी, उष्णत्वमें उसकी प्रतीतिके लिये उष्णत्वत्व की कल्पना आदि अप्रमाणिक पदार्थोंकी कल्पना की गई है। अनवस्था दोषके दूर करनेके लिये यदि यह कहा जाय कि उष्णत्वधर्ममें उष्णपनाकी प्रतीति स्वतः ही हो जायगी वहां पर उष्णपनेकी प्रतीतिके लिये अन्य धर्मके कल्पनाकी आवश्यकता तो नहीं सो भी ठीक नहीं क्योंकि नैयायिक और वैशेषिकोंकी जो यह प्रतिज्ञा है कि जब कभी किसी पदार्थकी प्रतीति होती है तो वह दूसरे पदार्थके द्वारा होती है जिस तरह अग्निमें उष्णपनेकी प्रतीति उष्ण गुणके संबंधसे, उष्णगुणमें उष्णत्वधर्मसे इत्यादि वह छिन्न भिन्न हो जायगी। उसही प्रकार—

आत्मामें ज्ञान गुणका समवाय संबंध रहनेसे आत्मा ज्ञानी कहा जा सकता है परंतु ज्ञान गुणमें ज्ञानताकी प्रतीति कैसे होगी? यदि ज्ञान गुणमें स्वतः ही ज्ञानताकी प्रतीति कही जायगी तो फिर आत्माको भी स्वतः ही ज्ञानी मानो ज्ञान गुणका समवाय संबंध रहनेसे आत्माको ज्ञानी मानना व्यर्थ है। यदि कहोगे ज्ञान गुणमें एक ज्ञानत्व धर्म है उससे ज्ञानताकी प्रतीति हो जायगी तो यहां पर भी यह शंका होगी कि ज्ञानत्वमें ज्ञानताकी प्रतीति कैसे होगी? यदि यहां पर भी स्वतः ज्ञानताकी प्रतीति मानी जायगी तब आत्मामें भी स्वतः ज्ञानताकी प्रतीति मान लेनी चाहिये। समवाय संबंधसे ज्ञान गुणकी कल्पना कर आत्मामें ज्ञानताकी प्रतीति माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। यदि यह कहा जाय

---

१ अप्रमाणिकपदार्थपरम्परापरिकल्पनाविश्रांत्यभावश्चानवस्था। सप्तभंगीतरंगिणी पृष्ठ ८२।

कि आत्माका स्वतः ज्ञानपना इष्ट नहीं इसलिये ज्ञानत्वमें ज्ञानताकी प्रतीतिकेलिये हम दूसरा ज्ञानत्वत्व धर्म मानेंगे ज्ञानत्वत्वमें ज्ञानताकी प्रतीतिके लिये अन्य ज्ञानत्वत्वत्व धर्म स्वीकार करेंगे इसी प्रकार आगे भी धर्मों की कल्पना कर उसके पाहिले पाहिले धर्मोंमें ज्ञानताकी प्रतीति होती चली जायगी ? सो भी ठीक नहीं इसतरह आत्मामें ज्ञानताकी प्रतीतिकेलिये समवाय संबंधसे ज्ञानगुणकी कल्पना, ज्ञानगुणमें ज्ञानताकी प्रतीतिकेलिये ज्ञानत्वकी, ज्ञानत्वमें ज्ञानताकी प्रतीतिकेलिये ज्ञानत्वत्वकी इत्यादि अनंते अप्रामाणिक धर्मोंकी कल्पना करनेसे अनवस्था दोष आवेगा। अनवस्था दोषके दूर करनेकेलिये यदि ज्ञानत्वमें ज्ञानताकी प्रतीति स्वतः ही मानी जायगी तब भी जो यह प्रतिज्ञा है कि एक पदार्थका ज्ञान दूसरे पदार्थकी सहायतासे होता है जिसतरह आत्मामें ज्ञानताकी प्रतीति ज्ञानगुणसे, ज्ञानगुणमें ज्ञानत्वधर्मसे इत्यादि, वह नष्ट हो जायगी इसलिये जो वादी सर्वथा पदार्थोंको सत् ही माननेवाले हैं असत् नहीं मानते उनके मतमें जिसप्रकार अनवस्था और प्रतिज्ञाहानि दोष आते हैं उसीप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जब यहां भी उन दोषोंका उदय होता है तब उनकी निवृत्तिकेलिये अग्निमें उष्णता की और आत्मामें ज्ञानताकी प्रतीति स्वतः ही स्वीकार करनी होगी तथा वह प्रतीति अभेद पक्षमें ही बन सकेगी, भेदपक्षमें नहीं, इसलिये आत्मा और ज्ञानादिकका कथंचित् अभेद संबंध ही मानना ठीक है। और भी यह बात है—

तत्परिणामाभावात् ॥ १४ ॥

दंडी पुरुषके साथ दंडका संयोग तो है परंतु दंड उसका परिणाम नहीं। दंड और दंडी दोनों ही भिन्न भिन्न हैं इसलिये वहां पर दंडी यही व्यवहार होता है दंड व्यवहार नहीं। उसीप्रकार उष्णमें जो

उष्णत्व (उष्णपना) धर्म है वह उष्णत्वरूप जो सामान्य (जाति) उसके संबंधसे है अर्थात् उष्ण गुण है और उष्णत्व जाति है तथा गुण जाति और विशेष पदार्थ आपसमें जुदे जुदे हैं अर्थात् गुण पदार्थ जाति आदि स्वरूप नहीं हो सकता, जाति आदि पदार्थ गुणस्वरूप नहीं हो सकते इसलिये उष्णत्वके संबंधसे उष्णगुणमें उष्णत्ववान् यही प्रतीति हो सकेगी, उष्णगुण उष्ण है, यह नहीं। उसीप्रकार यद्यपि अग्नि में उष्णगुणका संबंध है तो भी द्रव्य गुण आदि पदार्थ भिन्न भिन्न माने हैं इसलिये अग्नि और उष्णगुण जब भिन्न भिन्न हैं तब अग्निमें उष्णवान् वा उष्णी यही प्रतीति होगी 'अग्नि उष्ण है' यह प्रतीति नहीं हो सकती। किंतु जब गुण जाति वा द्रव्य गुणका अभेद संबंध माना जायगा तब उष्णगुण और उष्णत्व जाति इन दोनोंमें भेद न रहने पर उष्णगुण उष्णत्ववान् है इसकी जगह 'उष्णगुण उष्ण है' ऐसा भी व्यवहार होगा तथा अग्नि द्रव्य और उष्णगुणमें अभेद रहने पर 'अग्नि उष्णवान् है' इसकी जगह अग्नि उष्ण है यह व्यवहार होगा। यह व्यवहार यथार्थ है इसलिये द्रव्य गुण आदिका कथंचित् अभेद संबंध ही मानना ठीक है। यदि यहां कहा जाय कि—

समवायाभावादिति चेन्न प्रतिनियमाभावात् ॥ १५ ॥

जो पदार्थ आपसमें जुदे जुदे नहीं हो सकते उनका जो संबंध है वह समवाय है और 'यह यहां है' इसप्रकार ज्ञानवाक्य प्रवृत्ति एवं क्रियाप्रवृत्तिका हेतु रूप जो अभेदजनक संबंध विशेष है वही समवाय है और उसीसे भिन्न भिन्न पदार्थोंका अभेद रूप व्यवहार होता है जिसतरह द्रव्यमें गुण, गुणमें गुणपना आदि ऐसी प्रतीतिका वह करनेवाला है। इस संबंधसे जो पदार्थ आपसमें अभिन्न जान पडते हैं जिस तरह आत्मा और ज्ञान आदि पदार्थ, उनका व्यवहार होता है इसलिये उष्णगुणमें

उष्णत्वका समवाय संबंध रहनेसे 'उष्णगुण उष्णत्ववान् है' इसकी जगह 'उष्णगुण उष्ण है' यह व्यवहार हो सकता है तथा उष्णगुण भी समवाय संबंधसे अग्निमें रहता है इसलिये वहांपर भी 'अग्नि उष्णवान् है' इसकी जगह अग्नि उष्ण है यह व्यवहार हो सकता है द्रव्यगुण आदिका अभेद संबंध मानना व्यर्थ है ? ऐसी आशंका ठीक नहीं। जब उष्णगुण और उष्णत्व जाति तथा उष्णगुण और अग्नि आपसमें सर्वथा भिन्न भिन्न पदार्थ हैं तब उष्णगुणका अग्निमें ही समवाय है जलमें नहीं तथा शीतगुणका जलमें ही समवाय है, अग्निमें नहीं यह नियम कैसे बन सकेगा ? उसीप्रकार उष्णपनाका उष्णगुणके ही साथ समवाय है शीतगुण आदि अन्य गुणोंके साथ नहीं यह भी नियम कैसे बनेगा ? इसलिये जब यह नियम नहीं ही दीख पडता है कि उष्णगुणका समवाय अग्निमें ही है जल आदिमें नहीं अथवा उष्णत्व धर्म उष्णगुणमें ही समवाय संबंधसे रहता है शीत आदि गुणोंमें नहीं तब यही मानना चाहिये कि उष्णगुण अग्निका परिणाम ही है। यदि नैयायिक वा वैशेषिक यहां पर यह तर्क करें कि—

उष्ण गुण अग्निमें ही है जल आदिमें नहीं यह स्वतः सिद्ध वात है। इस नियमके करनेके लिए अन्य किसी भी कारणकी आवश्यकता नहीं ? तब उष्ण गुण अग्निका परिणाम ही सिद्ध हो जाता है क्योंकि स्वभाव और परिणाममें कोई भेद नहीं इसलिये यह वात सिद्ध हो चुकी कि समवाय सम्बन्धसे उष्ण गुण उष्ण है अथवा अग्नि उष्ण है यह व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि वह व्यवहार अभेद पक्षमें ही होता है किंतु वहांपर 'उष्ण गुण उष्णत्ववान्' वा 'अग्नि उष्णवान्' है, यही व्यवहार होगा। और भी यह वात है कि—

समवायाभावो वृत्त्यंतराभावात् ॥ १६ ॥

अर्थ—नैयायिक और वैशेषिकोंने गुणोंकी सत्ता द्रव्यमें समवाय संबन्धसे मानी है जब समवाय भी एक पदार्थ है तो उसकी सत्ता द्रव्य आदिमें किस सम्बन्धसे मानी जायगी ? यदि दूसरे समवाय सम्बन्धसे मानी जायगी, यह कहोगे सो ठीक नहीं। क्योंकि दूसरा समवाय सम्बन्ध पदार्थ माना ही नहीं है 'स्वरूपसे समवाय एक ही पदार्थ है' ऐसा समवाय वादियोंके शास्त्रोंका वचन है। यदि यह माना जायगा कि द्रव्य आदिमें समवाय संबन्धकी सत्ता संयोग संबन्धसे मान लेंगे सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ भिन्न २ हो जानेवाले हैं उन विछुडे हुए पदार्थोंका मिल जाना संयोग संबन्ध है। समवाय, द्रव्य आदि पदार्थोंसे जुदा रह नहीं सकता इसलिये संयोग संबन्धसे द्रव्य आदिमें उसकी सत्ता नहीं मानी जा सक्ती तथा समवाय और संयोग संबन्धसे भिन्न अन्य कोई भी ऐसा संबन्ध नहीं जिससे द्रव्य आदिमें समवाय संबन्धकी सत्ता बन सके किन्तु जिस तरह खरविषाण—गधेके सींग असिद्ध हैं उसी तरह द्रव्य आदिमें किसी भी संबन्धसे समवाय पदार्थकी सत्ता सिद्ध न होनेसे समवाय पदार्थ भी असिद्ध है। इसलिये नैयायिक और वैशेषिकोंने जिस समवाय पदार्थकी कल्पना कर रक्खी है वह कोई पदार्थ ही नहीं। यदि समवायके विषयमें यह कहा जाय कि—

प्राप्तित्वात्प्राप्त्यंतराभाव इति चेन्न व्यभिचारात् ॥ १७ ॥

द्रव्य गुण आदि पदार्थ संबन्धवाले हैं इसलिये उनका कोई न कोई संबन्ध होना आवश्यक है। समवाय पदार्थ तो खास संबंध है, संबंधवान् नहीं, इसलिये उसकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये किसी संबंधकी आवश्यकता नहीं वह स्वतः सिद्ध है। सो ठीक नहीं। यदि खास संबन्धकी सत्ता किसी अन्य संबंधसे न मानी जायगी तो संयोग संबन्धकी सत्ता भी समवाय संबन्धसे न बन सकेगी क्योंकि संयोग भी

संबंध ही है इसलिये जिसतरह संबंध होनेपर भी संयोगकी द्रव्य आदि पदार्थोंमें सत्ता समवाय संबंधसे मानी है इसीतरह समवायकी सत्ता भी द्रव्य आदि पदार्थोंमें किसी अन्य संबंधसे मानना चाहिये किंतु द्रव्य आदिमें समवायकी सत्ता सिद्ध करनेवाला कोई भी संबंध है नहीं इसलिये समवाय पदार्थ सिद्ध ही नहीं हो सकता। और भी यदि यह कहा जाय कि—

प्रदीपवदिति चेन्न तत्परिणामादनन्यत्वसिद्धेः ॥ १८ ॥

जिसप्रकार दीपक दूसरे दीपककी कुछ भी अपेक्षा न कर अपनेको भी प्रकाशित करता है और घडा आदि अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है उसीप्रकार समवाय संबंध भी अन्य किसी भी संबंधकी अपेक्षा न कर द्रव्य आदि पदार्थोंमें अपनी सत्ताका स्वयं निश्चय कराता है और द्रव्यमें द्रव्य, वा द्रव्यमें गुण इत्यादिरूपसे द्रव्य आदिकी सत्ताका भी निश्चय कराता है ? सो ठीक नहीं। क्योंकि अन्य किसी भी संबंधकी अपेक्षा न कर यदि समवाय संबंध द्रव्य आदि पदार्थोंमें स्वतः ही अपनी सत्ताका निश्चय करानेवाला कहा जायगा तो वह द्रव्य आदिका परिणाम ही सिद्ध हो गया तब जिसतरह प्रकाश परिणामका धारक दीपक अपने स्वरूप प्रकाशसे भिन्न नहीं, यदि भिन्न माना जायगा तो दीपक पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि प्रकाशस्वरूप ही दीपक है प्रकाश नष्ट हो जाने पर दीपक कोई पदार्थ ही नहीं रह जाता उसीप्रकार जैनधर्मका यह सिद्धांत है कि—गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय ये सब द्रव्यके ही परिणाम हैं। द्रव्यसे भिन्न गुण आदि पदार्थ हैं ही नहीं किंतु बाह्य और अभ्यंतर कारणोंके द्वारा द्रव्य ही गुण कहा जाता है एवं वही कर्म सामान्य विशेष और समवाय भी कहा जाता है क्योंकि ये सब ही द्रव्यके परिणाम हैं इस रूपसे समवाय यदि द्रव्यका परिणाम ही है तब वह उससे भिन्न नहीं

हो सकता, द्रव्यस्वरूप ही है । तब जो समवायको एक संबंध और द्रव्यसे भिन्न पदार्थ माना है वह मिथ्या है । तथा यह भी बात है कि घट आदि पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला दीपक जिसतरह अपने स्वरूपसे प्रसिद्ध और घटादिसे भिन्न सबके प्रत्यक्षगोचर है उसतरह द्रव्यमें द्रव्यकी वा गुण आदिकी सत्ताका निश्चय करानेवाला समवाय अपने किसी भी स्वरूपसे प्रसिद्ध नहीं और द्रव्य आदिसे भिन्न प्रत्यक्षरूपसे भी किसीको दीख नहीं पडता इसलिये दीपकके समान कभी समवाय पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती । गुण कर्म सामान्य और समवाय पदार्थोंसे द्रव्य पदार्थ भिन्न है यह तो कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि गुण आदि स्वरूप ही द्रव्य है यदि गुण आदि उससे भिन्न मान लिये जांयगे तो द्रव्य पदार्थ ही न सिद्ध हो सकेगा । यदि यह कहा जाय कि गुण कर्म आदि द्रव्यके विशेष नहीं और न उनसे द्रव्यकी प्रसिद्धि है । द्रव्यकी प्रसिद्धि करनेवाला तो और ही कोई विशेष है और उस विशेषसे द्रव्यका गुण कर्म आदिसे संबंध है सो भी ठीक नहीं क्योंकि गुण कर्म आदिसे भिन्न स्वतः सिद्ध तो कोई द्रव्यका विशेष गुण दीख नहीं पडता है यदि हो तो उसका नाम लेना चाहिये । विना बतलाये उसकी सिद्धि हो नहीं सकती । इसलिये यह बात विलकुल निश्चित हो चुकी है कि गुण कर्म सामान्य और समवाय ये द्रव्यके परिणाम हैं परिणाम परिणामीका अभेद रहता है । जब समवाय परिणाम है तब वह द्रव्य स्वरूप ही है उससे भिन्न नहीं इसलिये समवाय संबंध द्रव्यसे जुदा एक और नित्य पदार्थ है यह जो नैयायिक और वैशेषिकोंका कहना है केवल कल्पनामात्र है । और भी यह बात है कि—

विशेषपरिज्ञानाभावात् ॥ १९ ॥

यह साधारण बात है कि जिस एक पुरुषने पिता और पुत्र दोनोंको देखा है वही यह कह सकता

है कि—'यह इसका पिता और यह उसका पुत्र है किन्तु एक पुरुषने पिता देखा है दूसरेने पुत्र देखा है वहांपर एक पुरुष 'यह इसका पिता और यह उसका पुत्र है' यह नहीं वता सकता उसीतरह जिसके मतमें युतासिद्ध—आपसमें जुदे हो जानेवाले और अयुतसिद्ध—आपसमें जुदे न हो सकने वाले पदार्थोंको विषय करनेवाला एक ही ज्ञान है उसके मतमें अयुतासिद्ध पदार्थ आत्मा और ज्ञानादिका समवाय और युतासिद्ध पदार्थ पुरुष और दंड आदिका संयोग संयोगसंबंध यह विशेष ज्ञान हो सकता है किन्तु युत-सिद्ध पदार्थोंको जाननेवाला अन्य ज्ञान और अयुतासिद्ध पदार्थोंको जाननेवाला अन्य ज्ञान होगा वहां पर वह विशेष नहीं बन सकेगा। नैयायिक और वैशेषिक मतमें पदार्थको विषय करनेके लिये ज्ञान सत्ता एक क्षण ही मानी है और एक ज्ञान एक ही पदार्थको विषय करता है, यह उनको इष्ट है तब उनके मतमें जो ज्ञान युतासिद्ध पदार्थको विषय करेगा वह अयुतासिद्धको नहीं कर सकता और जो अयुतासिद्ध को विषय करेगा वह युतासिद्धको विषय नहीं कर सकता इसलिये उनके मतानुसार अयुतासिद्ध पदार्थों का समवाय संबंध और युतसिद्ध पदार्थोंका संयोग यह विशेष ज्ञान नहीं हो सकता। जब यह ज्ञान ही न होगा तब कोई भी संबंध नहीं सिद्ध होगा। विशेष—

नैयायिक और वैशेषिकोंका यह सिद्धांत है कि ज्ञान प्रथम क्षणमें उत्पन्न होता है। द्वितीय क्षणमें अर्थलाभ अर्थात् पदार्थोंको विषय करता है और तृतीय क्षणमें नष्ट हो जाता है इस प्रक्रियासे पदार्थोंको विषय करनेकेलिये ज्ञानको एक दूसरा ही क्षण है। अनेक क्षण नहीं तथा वह ज्ञान एक क्षणमें एक ही पदार्थको विषय करता है। यदि विशेष ज्ञान करनेकेलिये यह उपाय बतलाया जाय कि—

संस्कारादिति चेन्न तस्यापि तादात्म्यात् ॥ २० ॥

अर्थ—एक क्षणमें रहनेवाले ज्ञानसे ऊपर बतलाया हुआ विशेष विज्ञान मत हो परन्तु उस ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले विशेष संस्कारसे विशेष ज्ञान हो जायगा ? सो भी ठीक नहीं। जो संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न हुआ है वह ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानसे भिन्न नहीं इसलिये जिसतरह एक ज्ञान एक क्षणमें एक ही पदार्थ ग्रहण करता है उसीप्रकार संस्कार भी एक ही पदार्थको ग्रहण करेगा तथा जिसप्रकार एक ज्ञान एक क्षणमें अनेक पदार्थोंको ग्रहण नहीं करता उसीप्रकार संस्कार भी अनेक पदार्थोंको ग्रहण न कर सकेगा इस रूपसे जिस समय एक क्षणवर्ती ज्ञानसे "युतासिद्ध पदार्थोंका संयोग संबंध और अयुतासिद्ध पदार्थोंका समवाय संबंध यह" विशेष ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार संस्कारसे भी न हो सकेगा। इसलिये समवाय संबंध सिद्ध हो ही नहीं सकता। अथवा—

"कर्तृकरणयोरन्यत्वादन्यत्वमात्मज्ञानादीनां परश्वादिवदिति चेन्न। तत्परिणामादग्निवत्" 'यह जो पहिले सूत्रकी पांचवी वार्तिक कह आये हैं उसका तात्पर्य यह है—वादीने जो यह शंका की है कि—जिसतरह 'देवदत्त फरसासे लकडी काटता है' यहां पर कर्ता देवदत्त और करण फरसा दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं उसीप्रकार 'आत्मा ज्ञानसे पदार्थको जानता है' यहांपर भी आत्मा कर्ता और ज्ञान करण है इसलिए आत्मा और ज्ञानका भी भेद मानना चाहिये क्योंकि कर्ता और करण भिन्न २ हुआ करते हैं ? सो नहीं। जिसतरह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा दाह स्वभावसे अग्नि भिन्न है परन्तु वह

१ इस वार्तिकका पहिले जो अर्थ लिखा गया है वह द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे है क्योंकि वहां उष्णको ही अग्नि और ज्ञान दर्शनको ही आत्मा माना है। पर्यायोंकी कल्पना नहीं की। यहां पर पर्यायार्थिक नयकी प्रधानतासे अर्थ है क्योंकि यहां पर दाह-स्वभाव वा ज्ञान स्वभावके उल्लेखसे अग्नि वा आत्माओंकी पर्यायोंकी प्रधानता है। पहले अर्थसे यह अर्थ सुगम है इसलिये दूसरी तरहसे यह वार्तिकका अर्थ लिखा गया है।

दाह परिणाम अग्निका ही है इसलिये जिससमय वह लकडीको जलाती है उस समय जलनारूप क्रियाकी वह कर्ता है तथा वह अपने ही दाह परिणामसे जलाती है इसलिये वही करण है उसीप्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान पर्यायसे आत्मा भिन्न है परन्तु वह परिणाम आत्माका ही है इसलिये जिससमय आत्मा पदार्थोंको जानता है उस समय जानना क्रियाका कर्ता आत्मा ही है तथा वह अपने ही ज्ञान गुणसे जानता है इसलिये वही करण है। यदि ज्ञानको आत्माका स्वभाव न माना जायगा तो जिसप्रकार दाह स्वभावके विना अग्निका निश्चय नहीं हो सकता उसीप्रकार ज्ञान स्वभावके विना आत्माका भी निश्चय न हो सकेगा इत्यादि भाव दहन स्वभावकी अपेक्षा समझना चाहिये। और भी यह बात है कि—

अनेकांतात्पर्यायपर्यायिणोरर्थांतरभावस्य घटादिवत् ॥ २१ ॥

मूल भेद नयोंके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो हैं। जिस नयसे पर्यायकी गौणता रखते हुए द्रव्यका प्रधान रूपसे बोध हो वह द्रव्यार्थिक है और द्रव्यकी गौणरूप अपेक्षा रख कर पर्यायोंका जाननेवाला नय पर्यायार्थिक है। घटका अर्थ मिट्टीका घडा और जिन दोनों पलडोंमें घडा रहता है अर्थात् घडेको फोडनेसे या घडेको तयार करनेमें जो समान रूप घडेके दो भाग हिस्से होते हैं उन्हें ही कपाल कहते हैं। जिस समय घट और कपालमें पर्यायार्थिक नयकी ओर ध्यान न देकर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा रक्खी जाती है उस समय यह घडा है वा यह कपाल है, इसतरह पर्यायोंकी विवक्षा—कहनेकी इच्छा नहीं रहती किन्तु मिट्टी द्रव्य वा अजीव[1] द्रव्य वा अनुपयोग[2] (ज्ञानदर्शनस्वरूप उप-

---

१ घट कपाल आदि अजीव द्रव्यके पर्याय हैं इसलिये उनका द्रव्य अजीव है। २ ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगरहित घट द्रव्यके कपालादि पर्याय हैं इसलिये उनका द्रव्य अनुपयोग भी है।

योगरहित) द्रव्य यह विवक्षा रहती है क्योंकि घट कपाल आदि पर्यायें किसी अवस्थामें मिट्टी वा अजीव वा अनुपयोग द्रव्योंसे जुदी नहीं रह सक्तीं, मिट्टी आदि स्वरूप ही होनेके कारण मिट्टी, अजीव वा अनुपयोगके कहनेसे उनका ग्रहण हो जाता है इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा घट कपाल आदि पर्यायें मिट्टी अजीव वा अनुपयोग स्वरूप ही हैं। परन्तु उन्हीं दोनोंमें जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी ओर ध्यान न देकर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा रक्खी जाती है उस समय मिट्टी अजीव वा अनुपयोग द्रव्यकी विवक्षा नहीं रहती किन्तु 'यह घट है, यह कपाल है' इस तरह पर्यायोंकी विवक्षा रहती है क्योंकि घट पर्याय भिन्न और कपाल पर्याय भिन्न है, घट कपाल नहीं कहा जाता और कपाल घट नहीं कहा जाता इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा घट और कपाल जुदे जुदे हैं। तथा घट और कपाल मिट्टीके ही परिणाम हैं इसलिये बाह्य और अभ्यंतर कारणोंसे जिस समय मिट्टी, घट कपाल आदि अपनी पर्यायस्वरूप परिणत होती है उस समय वह मिट्टी ही घट और कपाल स्वरूप कही जाती है क्योंकि मिट्टीसे घट कपाल आदि पर्याय जुदी नहीं और घट कपाल आदि पर्यायोंसे मिट्टी जुदी नहीं। विना मिट्टीके घट कपाल आदि पर्यायें रह नहीं सकतीं इसलिये परिणाम परिणामीकी जब अभेद विवक्षा रहती है तब मिट्टी और घट कपाल आदि पर्यायें एक ही हैं किंतु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जिस समय पर्यायी मिट्टी और पर्याय कपाल आदि भिन्न २ माने जाते हैं उस समय मिट्टी और घट कपाल आदि भिन्न २ हैं। इसी तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी अपेक्षा खांड और शक्कर में भी एकता और भेद समझ लेना चाहिये।

---

१ घड़ाको तयार करनेवाले चाक डोरा आदि। २ मिट्टीकी घट आदि परिणमनेरूप शक्ति।

उसीप्रकार जिस समय पर्यायार्थिक नयकी ओर ध्यान न देकर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा रक्खी जाती है उस समय 'यह ज्ञान है वा यह दर्शन है' इसतरह पर्यायोंकी विवक्षा नहीं रहती किंतु 'अनादि पारिणामिक चैतन्यस्वरूप जीव द्रव्य है' यह विवक्षा रहती है क्योंकि अनादि पारिणामिक चैतन्य-स्वरूप जीव द्रव्यको छोडकर ज्ञान दर्शन आदि रह नहीं सकते। जीवद्रव्यस्वरूप ही होनेके कारण आत्माके ग्रहणसे उनका भी ग्रहण हो जाता है। इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान दर्शन आदि परिणाम आत्मस्वरूप ही हैं परन्तु उन्हीं ज्ञानादिमें द्रव्यार्थिक नयकी ओर ध्यान न देकर जिससमय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा की जाती है उस समय आत्मा द्रव्यकी विवक्षा नहीं रहती किंतु यह ज्ञान है यह दर्शन है इसतरह पर्यायोंकी विवक्षा रहती है क्योंकि ज्ञान पर्याय भिन्न और दर्शन पर्याय भिन्न है। ज्ञान, दर्शन नहीं कहा जाता और दर्शन, ज्ञान नहीं कहा जाता इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान और दर्शन जुदे २ हैं। तथा ज्ञान दर्शन आदि पर्याय आत्माके ही परिणाम हैं इसलिये बाह्य[1] और अभ्यंतर[2] कारणोंसे जिस समय आत्मा, ज्ञान दर्शन आदि अपनी पर्यायस्वरूप परिणत होता है उस समय वह आत्मा ही ज्ञान और दर्शन स्वरूप कहा जाता है क्योंकि आत्मासे ज्ञान दर्शन आदि परि-णाम जुदे नहीं और ज्ञान दर्शन आदि परिणामोंसे आत्मा जुदा नहीं, विना आत्माके ज्ञान दर्शन आदि पर्यायें रह ही नहीं सकतीं। इसलिये परिणाम परिणमीकी जब अभेद विवक्षा रहती है तब आत्मा और ज्ञान दर्शन पर्यायें एक ही हैं किंतु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जिस समय पर्यायी आत्मा और पर्याय ज्ञान दर्शन आदि भिन्न २ माने जाते हैं उस समय आत्मा और ज्ञान दर्शन आदि पर्याय जुदे जुदे हैं

१ पुस्तकादिका अवलोकन। २ ज्ञानावरण दर्शनावरणकी क्षयोपशमरूप शक्तिविशेष।

इसप्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा परस्पर गुणोंमें भी अभेद है एवं गुणी और गुणोंमें भी अभेद है, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा गुण भी एक दूसरेसे आपसमें जुदे २ हैं एवं गुणी और गुण भी आपसमें भिन्न २ हैं। इस रूपसे पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जब अग्नि और उष्ण एवं आत्मा और उसके गुण ज्ञानादिक आपसेंमें भिन्न २ हैं तब वादीने जो यह दोष दिया था कि यदि आत्मा और ज्ञानमें कर्ता करणकी व्यवस्था मानी जायगी तो दोनोंको भिन्न २ मानना पडेगा वह दोष दूर होगया क्योंकि जैन सिद्धांतमें कथंचित्—पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा और ज्ञानका भेद भी माना है।

इतरथा हि एकार्थपर्यायादन्यत्वप्राप्तिर्वृक्षवत् ॥ २२ ॥

यदि कर्ता और करणका सर्वथा भेद ही माना जायगा तो एक ही पदार्थकी अर्थात् कर्तास्वरूप पदार्थकी पर्याय जहां करण मानी जाती है वहांपर कर्ता करणका अभेद रहता है परन्तु अब कर्ता करणका सर्वथा भेद मानना पडेगा इस रीतिसे "देवदत्त फरसा आदिसे (लकडीका) मकान बनाता है" जिस तरह यहां कर्ता—देवदत्त और करण फरसा आदि सर्वथा भिन्न हैं उस तरह "शाखाओंके वजनसे वृक्ष टूटा जाता है" यहां पर वृक्षरूप कर्ताकी पर्याय शाखाके करण होनेपर भी दोनोंका सर्वथा भेद ही माना जाना चाहिये। परंतु यह बात युक्तिसे बाधित है क्योंकि शाखाभारसे भिन्न वृक्ष पदार्थ है नहीं, शाखाओंका समुदाय ही वृक्ष कहा जाता है इसलिये वृक्ष और शाखाओंका आपसमें अभेद है। तथा यह वृक्ष और यह शाखा है इसप्रकार भेद विवक्षा रहने पर वृक्ष और शाखा जुदे जुदे भी हैं इसलिये वृक्ष और शाखाओंका आपसमें भेद भी है इसतरह कथंचित् भेदाभेद अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभेद और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भेद ही मानना चाहिये। यदि कर्ता करण

की व्यवस्था सर्वथा भेद पक्षमें ही मानी जायगी तो 'शाखाओंके वजनसे वृक्ष टूटा जाता है' यहांपर एक ही पदार्थकी पर्याय शाखा करण न पड सकेगी परन्तु वह एक ही पडती है। उसीप्रकार आत्मामे भिन्न ज्ञान पदार्थ नहीं। ज्ञानादि स्वरूप ही आत्मा है इसलिये आत्मा और ज्ञानका आपसमें अभेद है तथा यह आत्मा है और यह ज्ञान है। इसप्रकार भेद विवक्षा रहनेपर (वृक्ष और शाखाके समान) जुदे २ भी हैं इसलिये आत्मा और ज्ञानका आपसमें भेद भी है। इस तरह आत्मा और ज्ञानमें कथंचित् भेदाभेद अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभेद और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भेद मानना चाहिये यदि कर्ता करणकी व्यवस्था सर्वथा भेद पक्षमें ही मानी जायगी तो 'आत्मा ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानता है' यहां पर एक ही पदार्थका परिणाम ज्ञान, करण न हो सकेगा। इसलिये कथंचित् भेदाभेद पक्षमें ही कर्तृ करणकी व्यवस्था मानना ठीक है और भी यह है कि—

करणस्योभयथोपपत्तेर्द्रव्यस्य मूर्तिमदमूर्तिभेदवत् ॥ २३ ॥

द्रव्य मूर्तिक[1] भी है और अमूर्तिक भी है। किंतु द्रव्यके विषयमें यह आग्रह नहीं कि वह मूर्तिक ही है अमूर्तिक नहीं अथवा अमूर्तिक ही है मूर्तिक नहीं। क्योंकि जीव पुद्‍गल धर्म अधर्म आकाश और कालके भेदसे द्रव्योंके छे भेद हैं। उनमें पुद्‍गल द्रव्य मूर्तिक है और धर्म अधर्म आकाश और काल अमूर्तिक हैं तथा द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा अमूर्तिक है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा आत्माके साथ अनादि कालसे कार्माण शरीरका सम्बन्ध है इसलिये वह मूर्तिक भी है इस रीतिसे जिस प्रकार मूर्तिक और अमूर्तिकके भेदसे द्रव्य दो प्रकारका है उसीप्रकार विभक्तकर्तृक और अविभक्त

१ जिसमें रूप रस गंधादिक हों वह मूर्तिक और जिसमें वे न हों वह अमूर्तिक है।

कर्तृकके भेदसे करण भी दो तरहका है। जो करण, कर्तासे भिन्न हो वह विभक्तकर्तृक है जिसतरह देवदत्त फरसासे लकडी काटता है यहांपर फरसा भिन्न करण है, क्योंकि वह देवदत्तसे भिन्न है तथा जो करण कर्तास्वरूप ही है, कर्तासे भिन्न नहीं वह अविभक्तकर्तृक है जिस तरह 'अग्नि अपने उष्ण परिणामसे काठको जलाती है' यहां पर उष्ण परिणाम अभिन्न करण है क्योंकि वह अग्निस्वरूप ही है उसी तरह "आत्मा ज्ञानसे पदार्थोंको जानता है" इहां पर ज्ञान भी अविभक्तकर्तृक करण है क्योंकि ज्ञान आत्माका ही परिणाम है, उससे जुदा नहीं "इसलिये जब अभेद पक्षमें भी कर्ता करणकी व्यवस्था है तव वादीका जो यह कहना है कि' "भेद पक्षमें ही कर्ता करणकी व्यवस्था होती है" वह निरर्थक है और भी यह वात है कि—

दृष्टांताच्च कुशूलस्वातंत्र्यवत् ॥ २४ ॥

जिसप्रकार देवदत्त कुशूलको तोडता है यहां पर जिस समय कुशूल अत्यंत जीर्ण होनेके कारण अपने आप ही टूट जाता है वहां पर स्वयं ही वह करण बन जाता है। उसको तोडनेवाला कर्तासे भिन्न कोई करण नहीं होता उसी प्रकार आत्मा पदार्थोंको जानता है यहां पर जाननेवाला आत्मा ही करण है आत्मासे भिन्न करण पदार्थ नहीं इसलिये भेद होने पर ही कर्ता करण व्यवहार होता है अभेद होने पर नहीं, यह हठ नहीं की जासकती। और भी यह वात है कि—

एकार्थपर्यायविशेषोपपत्तेरिंद्रादिव्यपदेशवत् ॥ २५ ॥

एक पदार्थकी अनेक पर्यायें होती हैं परंतु वह पदार्थ पर्यायोंसे भिन्न नहीं कहा जाता जिसतरह एक ही देवराजकी इंद्र शक्र पुरंदर आदि अनेक पर्याय हैं परंतु उन पर्यायोंसे देवराज भिन्न नहीं।

तथा जिस समय ऐश्वर्यका भोग करता है उससमय इंद्र कहलाता है जिससमय सामर्थ्यका काम करता है उससमय शक्र कहलाता है और जिससमय नगरोंको विदारण करता है उससमय पुरंदर कहलाता है इसप्रकार विशेष विशेष कार्योंसे देवराज ही इंद्र शक्र और पुरंदर आदि विशेष नामोंका धारक गिना जाता है इसलिये जिस कार्य विशेषके करनेसे वह इंद्र कहा जाता है उस कार्य विशेषसे शक्र और पुरंदर नहीं। जिस कार्यविशेषसे शक्र कहा जाता है उससे इंद्र और पुरंदर नहीं और जिस कार्य विशेषसे पुरंदर कहा जाता है उससे इंद्र और शक्र नहीं कहा जाता क्योंकि इनकी शक्रादि रूप प्रत्येक अवस्था भिन्न २ व्यंजनपर्यायरूप प्रगट होती है। द्रव्यकी पर्यायको व्यंजनपर्याय कहते हैं। परंतु कार्य विशेषके कारण इंद्र शक्र पुरंदर आदि नामोंके रहते भी उनसे देवराज ही कहा जाता है वे पर्यायें देवराजसे भिन्न अन्य किसी पदार्थकी नहीं उसीप्रकार आत्माकी भी ज्ञान दर्शन सुख आदि पर्याय मोजूद है तथा जानना देखना आदि कार्य विशेषोंसे उन पर्यायोंका भेद भी है परंतु बोध उनसे आत्माका ही होता है अन्य किसी पदार्थका बोध नहीं होता इसलिये एक ही पदार्थकी पर्यायको करण माननेसे 'आत्मा ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जानता है' यहां पर आत्माकी ज्ञान पर्यायके करण पडजाने पर आत्मा और ज्ञानका सर्वथा भेद सिद्ध नहीं हो सकता। कथंचित् भेदाभेद ही युक्तियुक्त है। अथवा—

कर्तृसाधनत्वाद्वा दोषाभावः॥ २६॥

ज्ञान दर्शन और चारित्र ये तीनो शब्द कर्तृसाधन हैं। कर्ता अर्थमें प्रत्यय करने पर इनकी सिद्धि

१ जहां कर्ता प्रधान होता है वह कर्तृसाधन कहा जाता है जिसतरह देवदत्त भात खाता है यहां पर भात खानेवाला देवदत्त प्रधान है इसलिये वह कर्ता है।

हुई है किंतु करणसाधन नहीं—करण अर्थमें प्रत्यय कर इनकी सिद्धि नहीं है। उन ज्ञानादि परिणामोंको धारण करनेवाला आत्मा ही जानता है इसलिये ज्ञानरूप कहा जाता है, वही देखता है इसलिये दर्शनरूप कहा जाता है, वही आचरण करता है इसलिये चारित्ररूप कहा जाता है। इसप्रकार कर्तामें प्रत्यय करने पर एवंभूत नयकी अपेक्षा आत्मा ही ज्ञान दर्शन और चारित्र है। इसरीतिसे ज्ञान दर्शन को करण मानने पर जो वादीने यह दोष दिया था कि "कर्ता और करण पदार्थ सर्वथा भिन्न होते हैं। यदि ज्ञान और दर्शनको करण और आत्माको कर्ता माना जायगा तो आत्मा और ज्ञान दर्शनादिमें सर्वथा भेद मानना पडेगा" वह दोष दूर होगया। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

लक्षणाभाव इति चेन्न बाहुलकात् ॥ २७ ॥

युट् प्रत्यय भाव और कर्ममें होता है कर्तामें नहीं, फिर यहां कर्तामें युट् प्रत्यय कहना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। 'युड्ण्या बहुलं' (युट् और कृत् प्रत्यय बहुलतासे होते हैं) व्याकरणके इस सूत्रसे कर्तामें भी युट् और णित्र प्रत्यय होते हैं एवं कर्तामें युट् प्रत्यय करनेसे ज्ञान और दर्शन और णित्र प्रत्यय करनेसे चारित्र शब्दकी सिद्धि हो जाती है। सूत्रमें जो बहुल पद है उसका तात्पर्य यह है कि जिन प्रत्ययोंका जहां विधान किया गया है उससे अन्यत्र भी वे प्रत्यय होते हैं। कृत् प्रत्ययोंका विधान भाव और कर्ममें है वे करण आदिमें भी हो जाते हैं जिसतरह जिससे स्नान किया जाय वह स्नानीय चूर्ण (साबुन आदि) कहा जाता है इहांपर करणमें प्रत्यय है। जिसकेलिये दे वह दानीय—अतिथि कहा जाता है यहां

१ पहिले अर्थ लिखा जा चुका है। २ वर्तमानक्रिया परिणाम परिणत पदार्थकी विवक्षा रखनेवाला एवंभूतनय कहलाता है। जिससमय पढ़ रहा है उसीसमय छात्र है, पढाते समय वही पाठक कहा जाता है।

पर संप्रदान अर्थमें प्रत्यय है तथा जिसके द्वारा समावर्तन—आदरसत्कार किया जाय वह समावर्तनीय गुरु कहा जाता है इहां पर अपादान पंचमी कारकमें प्रत्यय है। तथा करण और अधिकरणमें जो युट् प्रत्यय कहा गया है वह कर्म आदि कारकोंमें भी होता है जिसतरह जो काटे वह निरदन—दांतरा यहां पर कर्ममें प्रत्यय है जिससे रेच (दस्त) होजावे वह प्रस्कंदन विरेचन कहा जाता है यहां अपादान कारक में युट् प्रत्यय है।

अथवा भावसाधना ज्ञानादिशब्दास्तत्त्वकथनाद्दात्रस्य करणव्यपदेशवत् ॥ २८ ॥

अथवा तृण आदिको न भी काटनेवाला दांतरा जिस समय उदासीनरूपसे जुदा पडा रहता है उस समय "यद्यपि वह भावसाधन है क्योंकि उसमें काटनेकी सामर्थ्य है। काट नहीं रहा है' तो भी वह नाम मात्रसे करण कहा जाता है उसी प्रकार जानना देखना और आचरण करनारूप अपनी क्रियाओंको न करनेवाला ज्ञान दर्शन और चारित्र जिस समय उदासीन रूपसे आत्मामें स्थित है उस समय वे नाम मात्रसे करण कहे जाते हैं वास्तवमें भावसाधन हैं क्योंकि उनमें करनेकी शक्ति है क्रिया को वे कर नहीं रहे हैं इहां पर ज्ञान दर्शन चारित्र स्वरूप मोक्ष मार्ग है। तथा ज्ञानादिकी जाननारूप ज्ञान, देखनारूप दर्शन, आचरण रूप चारित्र इस प्रकार भाव साधन व्युत्पत्ति है क्योंकि भावसाधनका अर्थ स्वस्वरूप सिद्ध करता है यहां व्युत्पत्तिसे स्वस्वरूप सिद्ध होता है इसलिये यहां पर कर्ता आदि किसी कारकका व्यवहार नहीं किन्तु जहां पर क्रियाकी अपेक्षा व्युत्पत्ति है जिस तरह—जिसके द्वारा जाने वा जो जाने वह ज्ञान जिसके द्वारा देखे वा जो देखे वह दर्शन जिसके द्वारा आचरण करे वा जो आचरण करे वह चारित्र वहां पर कर्ता करण आदिका व्यवहार होता है। इस रीतिसे जब ज्ञान आदि

को भाव साधन मान लिया तब कर्ता करणके व्यवहारकी योग्यता नहीं रही। इसलिये वादीने जो यह दोष दिया था कि कर्ता करण सर्वथा भिन्न होते हैं यदि ज्ञानको करण और आत्माको कर्ता माना जायगा तो आत्मासे ज्ञानको सर्वथा भिन्न कहना पडेगा। वह दोष दूर हो गया। यदि यहां पर यह शंका हो कि—

व्यक्तिभेदादयुक्तमिति चेन्नैकार्थे शब्दान्यत्वाद् व्यक्तिभेदगतेः ॥ २९ ॥

विशेष्यके जैसे लिंग और वचन होते हैं उसी प्रकार विशेषणके होते हैं ज्ञानं आत्मा अर्थात् आत्मा ही ज्ञान है जब यहां विशेष्य आत्मा और विशेषण ज्ञान है तब आत्मा जिस तरह पुंलिंग शब्द है उसी प्रकार ज्ञान भी पुलिंग होना चाहिये इसरीतिसे 'ज्ञानं आत्मा' कहना ठीक नहीं, ज्ञान आत्मा यह कहना चाहिये। सो ठीक नहीं। एक ही अर्थमें शब्दोंके भेदसे लिंग वचन आदिका भेद होता है जिस तरह गेह कुटी और मठ ये तीनों शब्द घर रूप अर्थके वाचक हैं तथापि शब्द भिन्न २ हैं इसलिये गेह यह नपुंसक लिंग शब्द कुटी स्त्रीलिंग शब्द और मठ पुलिंग शब्द है, इसी तरह पुष्य तारका नक्षत्र ये तीनों शब्द नक्षत्र रूप अर्थके कहनेवाले हैं तो भी शब्दोंका आपसमें भेद रहनेसे पुष्य पुलिंग, तारका स्त्रीलिंग, और नक्षत्र नपुंसक लिंग शब्द है। उसीप्रकार यद्यपि ज्ञान शब्द नपुंसक लिंग और आत्मा शब्द पुलिंग है तथापि शब्दोंका भेद होनेसे लिंग आदिका भेद रहने पर भी कोई दोष नहीं।

ज्ञानगृहणमादौ न्याय्यं तत्पूर्वकत्वाद्दर्शनस्य ॥ ३० ॥ अल्पाच्तरत्वाच्च दर्शनात् ॥ ३१ ॥

नोभयोर्युगपत्प्रवृत्तेः प्रतापप्रकाशवत् ॥ ३२ ॥

श्रद्धान, ज्ञान पूर्वक होता है जबतक पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तब तक उनका श्रद्धान

भी नहीं होता इसलिये 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यहांपर दर्शनसे पाहिले ज्ञान पढना चाहिये एक वात। दूसरे जिस शब्दमें थोडे स्वर–अक्षर होते हैं वह अधिक अक्षरवाले शब्दसे पहले पढा जाता है। यह व्याकरण शास्त्रका नियम है। दर्शन शब्दकी अपेक्षा ज्ञान शब्दके अक्षर कम हैं इसलिये भी दर्शन शब्दसे पहिले ज्ञान शब्दका पाठ होना चाहिये। इस रूपसे 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐसा सूत्र न रखकर 'सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐसा ही रखना चाहिये? सो ठीक नहीं। जिसतरह मेघपटलके दूर हो जानेपर सूर्यका प्रताप और प्रकाश–उष्णपना और रोशनी एक साथ प्रगट होते हैं। उसीप्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षयोपशम और क्षय हो जानेपर जिस समय आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है उसी समय मति अज्ञान और श्रुत अज्ञानके दूर हो जाने पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाते हैं। अर्थात्–

आत्मा, ज्ञान, दर्शन आदि स्वरूप है। उसकी ऐसी कोई भी अवस्था नहीं जहां ज्ञान और दर्शन की नास्ति हो सके। नहीं तो ज्ञान दर्शन आदिके अभाव हो जानेपर आत्मा पदार्थ ही नहीं बन सकेगा। हां! यह वात अवश्य है कि हर एक अवस्थामें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं रहते। किसी अवस्था में मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन तो किसी अवस्थामें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन रहते हैं। इस रीति से आत्मामें विभावरूपसे रहनेवाले मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानोंमें विभावरूप पर्याय उत्पन्न करनेवाले कारणोंका अभाव होनेसे जब मिथ्यादर्शन, सम्यग्दर्शनस्वरूप परिणत होता है उसीसमय मिथ्याज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्रगटताका जब एक ही समय है तब दर्शनसे पहले ज्ञान पढना चाहिये यह शंका निरर्थक है क्योंकि साथमें होनेवालोंमें कौन पहिले

पढना चाहिये और कौन पीछे ? यह संदेह किया ही नहीं जा सकता इसलिये जैसा सूत्र है वैसा ही ठीक है। यदि यह कहा जाय कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी एक साथ आत्मामें प्रगटता सिद्ध हो जानेपर जो यह शंका की गई थी कि–'विना ज्ञानके श्रद्धान नहीं होता इसलिये दर्शनके पहिले ज्ञान का ही पाठ रखना ठीक है' उसका तो परिहार हो गया परन्तु 'जिसमें थोडे अक्षर होते हैं उसका अधिक अक्षरवाले शब्दसे पहिले पाठ रहता है दर्शनकी अपेक्षा ज्ञानमें अक्षर कम हैं इसलिये दर्शनसे पहिले ज्ञानका ही पाठ रखना प्रमाणसिद्ध है' यह शंका तो ज्योंकी त्यों मौजूद है सो भी ठीक नहीं। क्योंकि–

दर्शनस्यैवाभ्यर्हितत्वात् ॥ ३३ ॥

थोडे अक्षरवाले शब्दसे अधिक अक्षरवाला भी शब्द यदि पूज्य–प्रधान होगा तो उसका ही पहिले पाठ रहेगा। थोडे अक्षरवालेका नहीं। यह भी उसका बाधक व्याकरणका सिद्धान्त है। सम्यग्दर्शनके होते ही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञानरूप हो जाता है, विना सम्यग्दर्शनके प्रगट हुए पदार्थको जान कर भी उसका वास्तविक श्रद्धान नहीं होता इसलिये वह ज्ञान मिथ्याज्ञान ही समझा जाता है इस रीतिसे मिथ्याज्ञानको सम्यग्ज्ञान बनानेवाला जब सम्यग्दर्शन है तब वही प्रधान है। ज्ञान प्रधान नहीं। इसलिये सम्यग्दर्शनका ही पहिले पाठ रखना ठीक है।

मध्ये ज्ञानवचनं ज्ञानपूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ॥ ३४ ॥

मन वचन आदिकी जिन विशेष क्रियाओंसे कर्म आवे उन क्रियाओंका रुक जाना सम्यक्चारित्र

१ अभ्यन्तर और बाह्य कारण–कषाय परिणाम और मन वचन कायरूप तीन योगोंकी प्रवृत्ति कर्मोंके बन्धनमें आवश्यक कारण है।

है। यह सम्यक्चारित्र जीव अजीव आदि पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपके ज्ञान हो जानेपर जिस समय चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम क्षयोपशम और क्षय होता है उस समय होता है किंतु विना सम्यग्ज्ञान के चारित्र, मिथ्याचारित्र कहा जाता है इसलिये उक्त सूत्रमें चारित्रसे पहिले वीचमें ज्ञान शब्दका प्रयोग किया है।

इतरेतरयोगे द्वंद्वो मार्गं प्रति परस्परापेक्षाणां प्राधान्यात् ॥ ३५ ॥

यथा प्लक्षन्यग्रोधपलाशा इति ॥ ३६ ॥

जहां पर विशेषतासे चकार आवे और उसके सभी पदार्थ परस्पर सापेक्ष और प्रधान हों वह द्वंद्व समास कहा जाता है। द्वंद्वसमासके समुच्चय अन्वाचय इतरेतरयोग और समाहार ये चार भेद हैं। जहां पर दो शब्दोंके अन्तमें द्विवचन और तीन आदि शब्दोंके अन्तमें बहुवचन आवे, जितने पदार्थों का आपसमें समास किया जाय वे सभी पदार्थ आपसमें सापेक्ष और प्रधान हों एवं विशेषतासे चकार आवें, वह इतरेतरयोग नामक द्वंद्व समास है। जिसतरह प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च पलाशश्च प्लक्षन्यग्रोध-पलाशाः इहांपर वृक्ष विशेषके वाचक प्लक्ष न्यग्रोध और पलाश तीनों शब्दोंके अन्तमें बहुवचन है। अस्तित्व आदि क्रियाओंकी, एक ही कालमें तीनोंके अन्दर समान रूपसे मौजूदगी है इसलिये तीनों ही प्रधान हैं। आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले हैं और विशेषतासे प्रत्येक शब्दके अन्तमें चकार है इसलिये इहां इतरेतरयोग नामक द्वंद्व समास है उसीप्रकार 'दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञान-चारित्राणि' इहां पर भी दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों शब्दोंके अन्तमें बहुवचन है। तीनों ही आपस

१ खुलासा व्याकरण ग्रंथोंमें देखना चाहिए।

में एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले हैं। अस्तित्व आदि क्रियाओंकी एक ही कालमें तीनोंके अन्दर समानरूपसे मोजूदगी है इसलिये तीनों ही प्रधान हैं और विशेष रूपसे प्रत्येकके अंतमें चकार है इस-लिये यहां भी इतरेतरयोग नामक द्वंद्व समास है। इतरेतर योग द्वंद्वमें सब पदार्थोंकी प्रधानता इस-लिये रक्खी गई है कि जिन पदार्थोंका इतरेतरयोग द्वंद्व किया गया है वे सभी पदार्थ जिस पदार्थके विशेषण माने गए हैं उस पदार्थका (विशेष्यका) समान रूपसे प्रधान बनकर एवं आपसमें एक दूसरे की अपेक्षा रखकर बोध कराते हैं। जिसतरह 'प्लक्षन्यग्रोधपलाशाः वृक्षः' इहांपर प्लक्ष आदि तीनों ही समान रूपसे प्रधान होकर एवं आपसमें सापेक्ष होकर वृक्षको जनाते हैं किंतु यह नहीं कि एक प्रधान-तासे वृक्षको जनावे, दूसरा गौणरूपसे, अथवा दो प्रधानतासे जनावें, एक गौणरूपसे। उसीतरह 'सम्य-ग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इहांपर दर्शन आदि तीनों ही प्रधान होकर एवं आपसमें सापेक्ष हो कर मोक्षमार्गको जनाते हैं किंतु यह नहीं कि सम्यग्दर्शन प्रधानतासे मोक्षमार्गको जनावे और ज्ञान चारित्र गौणरूपसे अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान मुख्यरूपसे और सम्यक्चारित्र गौणरूपसे जनावें इस लिये यह वात सिद्ध हुई कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही प्रधानरूपसे मोक्षमार्ग को जनाते हैं तब तीनों मिलकर ही मोक्षके मार्ग हैं। एक वा दो मोक्षके मार्ग नहीं कहे जा सकते।

प्रत्येकं सम्यग्विशेषणपरिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ ३७ ॥

देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्त तीनों भोजन करें, यहांपर जिसतरह भोजन कार्यका तीनोंके साथ सम्बन्ध है अर्थात् देवदत्त भोजन करे, जिनदत्त भोजन करे और गुरुदत्त भी भोजन करे उसी प्रकार 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इहां पर भी सम्यक् शब्दका दर्शन ज्ञान और चारित्र तीनोंके साथ

संबंध है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ए तीनों मिलकर मोक्षके मार्ग हैं। सम्यक् शब्दका अर्थ प्रशंसा है। इसलिये चाहे सम्यग्दर्शन आदि कह दिया जाय, चाहे प्रशस्तदर्शन आदि कहा जाय एक ही वात है।

पूर्वपदसामानाधिकरण्यात्तद्व्यक्तिवचनप्रसंग इति चेन्न मोक्षोपायस्यात्मप्रधानत्वात् ॥ ३८ ॥

समानाधिकरणका अर्थ एक जगह रहना है जिनका आपसमें विशेषण विशेष्यभाव होता है वे नियमसे एक जगह रहते हैं जिस तरह घडा पीला है यहांपर पीला विशेषण और घडा विशेष्य है जिस प्रकार रूप घडामें रहता है उसीप्रकार घडा भी अपने स्वरूप घडामें रहता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है यहांपर सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र विशेष्य और मोक्षमार्ग विशेषण है और जहांपर सम्यग्दर्शनादि है वहींपर मोक्षमार्ग है क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप ही मोक्षमार्ग है। तथा विशेष्यके जो लिंग और वचन हैं वे ही विशेषणके होते हैं। जब विशेष्य 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' यहां नपुंसक लिंग और बहुवचन है तो विशेषण मोक्षमार्गमें भी बहुवचन और नपुंसक लिंग होना चाहिये वैसी अवस्थामें "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गाणि" ऐसा सूत्र बनाना चाहिये? सो ठीक नहीं। मोक्षका उपाय स्वभावकी प्रधानतासे है, जिस स्वभावसे मोक्षका उपाय बतलाया गया है वह स्वभाव सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रकी एकतारूप है, स्वयं एक और पुंलिंग है इसलिये मोक्षमार्गकी प्रधानता है। इस रीतिसे 'साधवः प्रमाणं, सब साधु प्रमाण स्वरूप हैं' इहांपर प्रमाण और साधुओंका समानाधिकरण वा विशेषण विशेष्य भाव रहनेपर भी जिसतरह विशेष्य साधु शब्दका लिंग—पुंलिंग

१ यह नियम अभिन्न पदार्थोंके लिये है।

और वचन—बहुवचन है, उस तरह प्रमाणका नहीं किंतु 'प्रमाणं' यह एकवचन और नपुंसक लिंग ही है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका लिंग—नपुंसकलिंग और वचन—बहुवचन है तथापि प्रधानता रहनेके कारण मोक्षमार्गका वैसा नहीं, किंतु 'मोक्षमार्गः' यह एकवचन और पुंलिंग ही है।

आत्यंतिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्षः ॥ ३९॥

ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंका सर्वथा नष्ट हो जाना मोक्ष है। मोक्ष धातुका अर्थ क्षेपण—दूर कर देना है। उससे भाव साधन अर्थमें घञ् प्रत्यय करनेपर व्याकरण शास्त्रकी रीतिके अनुसार मोक्ष पदार्थ सिद्ध होता है।

मृजेः शुद्धिकर्मणो मार्ग इवार्थाभ्यंतरीकरणात् ॥ ४०॥

शुद्धि करना रूप अर्थको कहनेवाले मृजि धातुसे घञ् प्रत्यय करने पर मार्ग शब्दकी सिद्धि होती है और जो शुद्ध हो वह मार्ग है यह उसका अर्थ है। तथा मार्ग शब्दके अन्दर इव अव्ययको गुप्त माना है। इव प्रत्ययका अर्थ उपमा—समानता बतलाना है इस रीतिसे मार्ग शब्दके अन्दर इव अव्यय माननेसे 'मार्ग इव मार्गः' ऐसी मार्ग शब्दकी व्युत्पत्ति हो जाती है और उसका अर्थ यह है कि जिस तरह यह टीला कांटे पत्थर कंकर आदिके दूर कर देने पर रास्ता साफ हो जाता है और रास्तागीर बडे आराससे अपने इष्ट स्थान पर पहुंच जाते हैं उसी तरह मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और असंयम मिथ्याचारित्र रूप दोषोंके दूर हो जानेपर जिस समय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप शुद्ध मोक्ष मार्ग प्राप्त हो जाता है उस समय भव्य लोग बडी आसानीसे मोक्ष सुख पालेते हैं इसलिये मार्ग—रास्ताके समान होनेसे मोक्षमार्ग यहांपर मार्ग शब्द कहा गया है।

अन्वेषणाक्रियस्य वा करणत्वोपपत्तेः ॥ ४१ ॥

अथवा ढूंढना रूप अर्थको कहनेवाले मार्ग धातुसे भी मार्ग शब्दकी सिद्धि होती है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदिको करण कारक पहिले मान ही लिया है इस रूपसे जिनके द्वारा मोक्ष ढूंढी जा सके वह मोक्ष मार्ग है यह मोक्षमार्ग शब्दका अर्थ है। मोक्ष सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र गुणोंके द्वारा ढूंढी जाती है इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्ग हैं। यदि वहां पर यह कहा जाय कि—

युक्त्यनभिधानादमार्ग इति चेन्न मिथ्यादर्शनाज्ञानासंयमानां प्रत्यनीकत्वादौषधवत् ॥ ४२ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्षका मार्ग है इसमें कोई युक्ति तो दी नहीं फिर विना युक्तिके यह कैसे माना जाय कि सम्यग्दर्शन आदि ही मोक्षके मार्ग हैं अन्य नहीं। इसलिये सम्यग्दर्शन आदिको मोक्ष मार्गपना नहीं सिद्ध हो सकता? सो ठीक नहीं। जिस तरह वात पित्त आदिके विकारोंसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंको मय कारणोंके नष्ट करनेवाली स्निग्ध रूक्ष—चिकना और रूखापना गुणकी धारक औषधियें होती हैं उसी तरह मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र आदि दोषोंको मय उनके कारणोंके नष्ट करनेवाले सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो मिथ्यादर्शन आदिके द्वारा संसारमें ही घूमना पडेगा इस रीतिसे जब सम्यग्दर्शन आदि ही मोक्षके मार्ग युक्तिसे सिद्ध हो चुके तब वादीकी यह शंका कि—"सम्यग्दर्शनादि ही मोक्षके मार्ग हैं यह बात विना युक्तिके ठीक नहीं' वह सर्वथा निरर्थक है।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकामें प्रथमाह्निक समाप्त हुआ ॥ १ ॥

विपर्ययाद्बंधस्यात्मलाभे सति ज्ञानादेव तद्विनिवृत्तेस्त्रित्वानुपपत्तिः ॥ १ ॥

किसीका मत है कि विपर्ययज्ञानसे कर्मोंका बंध होता है। जिससमय विपर्ययज्ञान नष्ट हो जाता है उससमय आत्मामें तत्त्वज्ञान प्रगट हो जाता है और उससे फिर कर्मबंध नहीं होता क्योंकि कारणके नष्ट हो जानेसे कार्यका भी नाश हो जाता है। यहां पर कारण विपर्ययज्ञान, और कार्य कर्मबंधका होना है। तथा बंधका न होना ही मोक्ष है। इसरीतिसे जब मोक्षकी प्राप्तिमें तत्त्वज्ञान ही कारण है तब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंको कारण कहना व्यर्थ है। यदि कदाचित् जैनसिद्धांतकार यह कहैं कि—

प्रतिज्ञामात्रमिति चेन्न सर्वेषामविसंवादात् ॥ २ ॥

विपर्ययज्ञानसे कर्मबंध होता है यह बात कहनेमात्र है युक्तिसिद्ध नहीं। सो भी ठीक नहीं। "विपर्ययज्ञानसे बंध होना" सभी वादी प्रतिवादीको इष्ट है। जिसतरह कि—

धर्मेण गमनमूर्ध्वमित्यादिवचनमेकेषां ॥ ३ ॥

धर्माचरण करनेसे ऊर्ध्वलोककी ब्राह्म्य १ सौम्य २ प्राजापत्य ३ इंद्र ४ गांधर्व ५ यक्ष ६ राक्षस ७ और पिशाच ८ नामक जातियोंमें उत्पत्ति होती है। अधर्माचरणसे मानुष १ पशु २ मृग ३ मत्स्य ४

१ धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥ सांख्यतत्त्वकौमुदी। २ प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि ॥ २२ ॥ सांख्यतत्त्वकौमुदी ॥ अर्थात् प्रकृतिसे बुद्धि, बुद्धिसे अभिमान, अभिमानसे स्पर्शन रसना आदि पांच बुद्धींद्रिय पाणी पायु लिंग आदि पांच कर्मेंद्रिय और मन ये ग्यारह इन्द्रियां तथा शब्द स्पर्शन आदि पांच तन्मात्र ये सोलह तथा स्पर्शन आदि पांच तन्मात्राओंसे आकाश पृथ्वी आदि पांच भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

सरीसृप ५ और स्थावर ६ नामके स्थानोंमें उत्पत्ति होती है। और ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है रजोगुण और तमोगुण जिससमय गौण पड जाते हैं एवं सत्वगुण प्रधान हो जाता है उससमय प्रकृति और पुरुषका भेदविज्ञान—तत्त्वज्ञान होता है उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा विपर्ययज्ञानसे कर्मबंध होता है और वह विपर्ययज्ञान आत्मस्वरूपसे भिन्न प्रकृति अंतःकरण अभिमान और शब्द स्पर्श रस गंध वर्ण रूप पंचतन्मात्र तथा अहंकार तत्त्वके विकार पांच इंद्रियां उन्हें अपना माननेसे होता है इसतरह इस सांख्य सिद्धांतमें तत्त्वज्ञानसे ही मोक्षका उल्लेख है। तथा—

तथाऽनात्मीयेष्वात्माभिमानविपर्ययात्तस्य शब्दाद्युपलब्धिरादिः, गुणपुरुषांतरोपलब्धिरंतः ॥ ४ ॥

कान आदि इंद्रियोंके विषय शब्द स्पर्श रस आदि यद्यपि चेतनसे भिन्न हैं क्योंकि वे जड प्रकृतिके परिणाम हैं तो भी शब्द स्पर्श रस आदिका सुनने छूने और चाखनेवाला आदि मैं हूं इसप्रकारकी अभेद बुद्धि रखनेसे तथा शिर हाथ आदिका समूहरूप शरीर पृथ्वी जड़ पदार्थोंका बना हुआ है तो भी 'उस शरीरस्वरूप मैं ही हूं' इसप्रकारकी अभेद बुद्धि रखनेसे संसारमें घूमना पडता है किंतु जिस समय पुरुष—आत्माको यह ज्ञान हो जाता है कि पुरुषके सिवाय अन्य सब विकार प्रकृतिका कीया हुआ है। वह रजोगुण तमोगुण और सत्वगुणस्वरूप है। अचेतन और भोग्य है तथा पुरुष भोगनेवाला है पर कुछ करनेवाला नहीं वह चेतन और प्रकृतिसे भिन्न है एवं रजोगुण तमोगुण और सत्वगुण ये सभी गुण अचेतन हैं उससमय प्रकृति और पुरुषका भेदविज्ञान हो जाता है और उस भेदविज्ञानसे संसारका नाश हो जाता है इस रूपसे ज्ञानसे मोक्ष और विपर्यय—अज्ञानसे कर्मबंध होता है यह एकदेशी सांख्यकारोंका सिद्धांत है। तथा—

मोहका अर्थ अज्ञान है। जो पुरुष मोहरहित हैं उनके मिथ्या श्रद्धान नहीं होता । वे द्रव्य गुण आदि छह पदार्थोंके जानकार और वैराग्यके धारक होते हैं। जिस तरह दीपकके बुझ जानेपर प्रकाश भी नष्ट हो जाता है क्योंकि यह नियम है—जो जिसकी सहायतासे उत्पन्न होता है वह अपने सहायीके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो ही जाता है। प्रकाश दीपककी सहायतासे उत्पन्न होता है इसलिये दीपकके बुझ जानेपर प्रकाशका नष्ट होना ठीक ही है उसीतरह यथार्थ ज्ञानसे सुख दुःख इच्छा और द्वेष नष्ट हो जाते हैं। इच्छा आदिका नाश हो जानेपर धर्म अधर्म भी नष्ट हो जाते हैं। धर्म अधर्मके नाशसे संयोगका अभाव हो जाता है। इहांपर संयोग शब्दसे जीवन नामके संयोगका ग्रहण है एवं धर्म और अधर्मके द्वारा शरीरसहित आत्माका जो मनके साथ संबंध रहना है वह जीवन है अर्थात् धर्म और अधर्मसे आत्मा और शरीर आदि सर्वथा जुदे २ हो जाते हैं एवं संयोगके नाशसे धर्म अधर्मका नाश हो जाता है इसप्रकार धर्म और अधर्मके नाशसे मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा जब तक धर्म अधर्म मौजूद रहते हैं तब तक उनसे बंध होता रहता है क्योंकि अधर्म नामके अदृष्टसे अज्ञान, अज्ञानसे मोह, मोहसे इच्छा द्वेष, उनसे धर्म अधर्म और धर्म अधर्मसे बंध और बंधसे संसारकी उत्पत्ति होती है इसप्रकार यह बात सिद्ध हो चुकी कि—धर्म अधर्मके नाशसे संयोगका नाश और आगे होनेवाले शरीरोंका सर्वथा न उत्पन्न होना ही मोक्ष है। धर्म अधर्मका नाश अनागतानुत्पत्ति और संचितनिरोध दो तरहसे होता है। भविष्यतकालमें उत्पन्न न होना अनागतानुत्पत्ति है और विद्यमानका नष्ट हो जाना संचितनिरोध है। अधर्मको उत्पन्न करनेवाले शरीर इंद्रिय और मन हैं जिस समय इनका नाश हो जाता है उस समय शरीर इंद्रिय

और मनसे भिन्न आत्माके स्वरूपका दर्शन होने लगता है उससे फिर अधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार धर्मको उत्पन्न करनेवाले भी शरीर आदिक हैं जिस समय उनका सर्वथा नाश हो जाता है उस समय शरीर आदिसे भिन्न आत्माका साक्षात्कार हो जाता है और उससे फिर धर्मकी भी उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि धर्म अधर्मका जब तक आत्माके साथ संबंध रहता है तभी तक बंध होता है सम्बन्ध छूट जानेपर बंध नहीं होता इसतरह अनागतानुत्पत्तिसे यह धर्म अधर्मका नाश हो जाता है उसीतरह शरीरकी ओर दृष्टि डालने पर ठंडी गरमी और शोक आदि कारणोंसे होनेवाले शरीरके खेदको देकर अधर्म नष्ट हो जाता है तथा विषय भोगोंके दोष देखने और द्रव्य गुण आदि छहो पदार्थोंके वास्तविक ज्ञानसे आनन्द प्रदान कर धर्मका भी नाश हो जाता है इसतरह यह संचितनिरोध रूप धर्म अधर्मका नाश हो जाता है इसप्रकार दोनों तरहसे धर्म अधर्मका नाश हो जानेपर जिससमय संयोगका नाश हो जाता है उस समय मोक्षकी प्राप्ति होती है इहांपर भी मोक्षकी प्राप्तिमें तत्त्वज्ञान ही कारण है। यह वैशेषिकोंका सिद्धान्त है। तथा—

दुःखादिनिवृत्तिरित्यन्येषां ॥ ६ ॥

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनंतरापायादपवर्गः' अर्थात्—दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष और मिथ्याज्ञान इनमें उत्तर उत्तर पदार्थोंके नाश हो जानेपर पूर्व पूर्व पदार्थोंका भी नाश हो जाता है और जब दुःख आदि समस्त पदार्थोंका सर्वथा नाश हो जाता है उस समय मोक्ष प्राप्त हो जाती है यह न्यायदर्शनका दूसरा सूत्र है। सूत्रमें सबसे उत्तर मिथ्याज्ञान है उसका तत्त्वज्ञानसे नाश हो जाता है। मिथ्याज्ञानसे पहिले दोष है और वह मिथ्याज्ञानका कार्य भी है इस-

लिये मिथ्याज्ञानके नाशसे दोषका नाश हो जाता है। दोषसे पहिले प्रवृत्ति है और वह दोषका कार्य है इसलिये दोषके नाशसे प्रवृत्तिका नाश हो जाता है। प्रवृत्तिसे पहले जन्म है और वह प्रवृत्तिका कार्य है इसलिये प्रवृत्तिके नाशसे जन्मका नाश हो जाता है। जन्मसे पहिले दुःख है और वह जन्मका कार्य है इसलिये जन्मके नाशसे दुःखका भी नाश हो जाता है इसप्रकार तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञान, ईर्षा मायाचारी लोभ आदि दोष, प्रवृत्ति-प्रयत्न जन्म और दुःख जिस समय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं उससमय सुख दुःखका जरा भी अनुभव नहीं होता अर्थात् उस समय सुख दुःखका भोक्ता आत्मा नहीं रहता, बस यही मोक्ष है यह नैयायिकोंका सिद्धान्त है।

अविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इत्यादिवचनं केषांचित्॥ ७ ॥

विद्यासे विपरीत-अनित्य पदार्थोंमें नित्यताका, आत्मस्वरूपसे भिन्न पदार्थोंमें आत्मस्वरूपताका, अपवित्र पदार्थोंमें पवित्रताका और दुःखमें सुखका अभिमान करनेवाली अविद्या है और उसका कारण संस्कार है। राग द्वेष आदि स्वरूप संस्कार कहा जाता है और पुण्य अपुण्य एवं आनेज्यके भेदसे वह संस्कार तीन प्रकारका है। जो संस्कार पुण्यके कारण हैं उनका विज्ञान पुण्यके होनेपर होता है और उससे यह कहा जाता है कि अविद्यामें कारण संस्कार है और प्रतिनियतरूपसे वस्तुका जानना विज्ञान है। जो संस्कार अपुण्यमें कारण हैं उनका ज्ञान अपुण्यके होनेपर होता है और उससे यह कहा जाता है कि संस्कारसे विज्ञानकी उत्पत्ति होती है। जो संस्कार आनेज्यमें कारण हैं उनका विज्ञान आनेज्यके होनेपर होता है। उससे यह कहा जाता है कि नाम रूपकी उत्पत्ति विज्ञानसे होती है। नाम रूपमें लीन इंद्रियां षडायतन कहा जाता है क्योंकि नामरूपकी वृद्धि होनेपर षट् आयतनोंसे कर्म

और क्रिया उत्पन्न होते हैं इस रूपसे नाम प्रत्यय हीका नाम षडायतन है। विषय इंद्रिय और विज्ञान इन तीनों धर्मोंका जो आपसमें मिल जाना है वह स्पर्श है एवं छे आयतनोंसे ही छे स्पर्शकायोंकी प्रवृत्ति होती है इसलिये स्पर्शमें छे आयतन ही कारण हैं। स्पर्शका अनुभव करना वेदना है क्योंकि जिस तरहका स्पर्श होता है उसी तरहकी वेदना होती है इसलिये वेदनामें कारण स्पर्श है। वेदनाको जो जाने वह तृष्णा है क्योंकि विशेष विशेष वेदनाओंको जो भोगे बढावै जाने एवं उनकी लालसा रक्खे वह तृष्णा है और वह वेदनासे होती है इसलिये उसकी उत्पत्तिमें कारण वेदना है। अधिक तृष्णा का रखना उपादान है क्योंकि अधिक तृष्णा रखनेसे ही 'मेरी स्त्री मुझपर पूर्ण प्रेम करै' इस लालसासे किसी प्रकारकी विरक्ति न रख, उससे बार बार प्रार्थनाका प्रयत्न किया जाता है इसलिये उपादानमें कारण तृष्णा है। उपादानसे फिरसे संसारको उत्पन्न करनेवाले कर्म 'जिसका दूसरा नाम भव भी है' उत्पन्न होता है क्योंकि मेरी स्त्री मुझपर पूर्णरूपसे अनुराग करै इत्यादि मन वचन और कायसे प्रार्थना करनेसे बार बार संसारमें उत्पन्न करनेवाले कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्मसे जो स्कंध उत्पन्न होता है वह जातिस्कंध है। जातिस्कंधका जो परिपाक है वह जरा—बुढापा है यहांपर परिपाक शब्दका अर्थ जातिसे रचे हुए स्कंधोंका जीर्ण होना है। तथा जातिस्कंधके परिपाकसे जब विनाश हो जाता है वह मरण कहा जाता है इस रीतिसे बुढापा और मरणमें जातिस्कंध कारण पडता है इसप्रकार इस द्वादशांगसे जीवन मरणकी व्यवस्था है और इस द्वादशांगमें प्रत्येक अंग आपसमें एक दूसरेका कारण है। यहां पर विद्यासे अविद्याका नाश होता है। अविद्याके नाशसे संस्कारका नाश, संस्कारके नाशसे विज्ञानका नाश, विज्ञानके नाशसे नामरूपका नाश, नामरूपके नाशसे षडायतनका नाश, षडायतनके नाश

से स्पर्शका नाश, स्पर्शके नाशसे वेदनाका नाश, वेदनाके नाशसे तृष्णाका नाश, तृष्णाके नाशसे उपादानका नाश, उपादानके नाशसे जन्मका नाश, जन्मके नाशसे जराका नाश, जराके नाशसे मरणका नाश होता है। विद्याका अर्थ समस्त पदार्थोंको अनित्य मानना आत्मासे भिन्न, अपवित्र और दुःखस्वरूप समझना है। इस रीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि अविद्या—अज्ञानसे बंध और विद्या—ज्ञानसे मोक्ष होती है। यह बौद्धोंका सिद्धान्त है।

विशेष—जिस प्रकार जैनसिद्धान्तकारोंने अज्ञान विपरीत बोधमें कारण माना है और उससे राग द्वेष एवं कर्म बंधकी शृंखला मानी है उसी प्रकार बौद्धोंने एक संस्कारसे दूसरे संस्कारकी उससे तीसरे आदिकी उत्पत्ति मानी है बौद्ध दर्शनवाले अनित्य दुःखादिरूप भावोंमें नित्य सुखादि रूप विपरीत परिणामको अविद्या कहते हैं। उससे रागद्वेषादि रूप संस्कारोंकी उत्पत्ति मानते हैं, उनसे पुण्यपाप रूप भावोंकी उत्पत्ति मानते हैं, उनसे कर्म तृष्णा वेदना आदिसे संसार मानते हैं। विद्यासे अविद्याका नाश मानकर उससे क्रमशः संसारका नाश मानते हैं इसलिये उनके यहां भी ज्ञानसे ही मोक्ष होती है।

मिथ्यादर्शनादिरिति मतं भवतां ॥ ८ ॥

तथा केवल, विज्ञानसे ही मोक्ष पदार्थको माननेवाला जैनसिद्धांत पर भी यह आक्षेप करता है कि—"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः"। मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बंधके कारण हैं। यह अर्हंत भगवानको पूजनेवाले आपलोगोंका भी सिद्धांत है। हठसे पदार्थोंका विपरीत श्रद्धान करना मिथ्या दर्शन है। विपरीत हठ मोहसे होता है। मोहका नाम अज्ञान है

इसरीतिसे अज्ञानसे ही बंध होता है क्योंकि मिथ्यादर्शनको बंधका प्रधान कारण माना है तथा सामायिक मात्रसे अनंते जीवोंने मोक्षलाभ किया है क्योंकि "अनंताः सामयिकमात्रसिद्धाः" केवल सामायिकके द्वारा अनंत जीव सिद्ध हो चुके हैं। यह आगमका भी वचन है और सामायिकका अर्थ ज्ञान है इसलिये ज्ञानसे ही मोक्षका विधान है इसरीतिसे जब जैन सिद्धान्तमें अज्ञानसे बंध और ज्ञानसे मोक्ष मानी है तथा सांख्य नैयायिक आदि सिद्धांतकार भी अज्ञानसे बंध और विज्ञानसे मोक्ष स्वीकार करते है तब विज्ञानको ही मोक्षका मार्ग कहना चाहिये। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनोंको मोक्ष मार्ग वतलाना निरर्थक है। और भी यह वात है—

दृष्टांतसामर्थ्याद्वणिक्स्वप्रियैकपुत्रवत् ॥ ९ ॥

जिसतरह किसी वनियाके एक ही पुत्र था और वह उसे अत्यंत प्यारा था एक दिन उसने अपने ही पुत्रके समान किसी बालकको हाथीके पैरसे खुदा हुआ देखा। देखते ही वह मारे दुःखके वेहोश होगया। उसके शरीरकी समस्त चेष्टायें नष्ट हो गईं और वह मरा सरीखा जान पडने लगा। वनियाकी वैसी दशा उसके चतुर मित्रोंने देख उसे होशमें लानेका प्रयत्न किया। उसका असली पुत्र उसके सामने लाकर खडा कर दिया जिस समय उसकी मूर्छा जगी 'यही मेरा पुत्र है' यह उसको वास्तविक ज्ञान होगया। अपने पुत्रके समान बालकको हाथीके पैर तले कुचला हुआ देख जो उसे

१—समय नाम आत्माका है, उसका जो परिणाम—ज्ञानरूप—वहां सामायिक कहलाता है। अथवा समय नाम शास्त्रोंका है उनसे उत्पन्न जो ज्ञान वह सामयिक कहलाता है। इस व्युत्पत्तिसे विवक्षावश सामायिक नाम ज्ञानका भी है परन्तु जैन सिद्धांतमें सामयिकमात्रसिद्धाः अनन्ताः इस वाक्यका अर्थ जुदा ही है। उक्तवाक्यमें सामायिक चारित्रका भेदरूप हैं। जिन्होंने सामायिकचारित्र प्राप्त करके ही यथाख्यात चारित्र पाया हो उन्हें सामायिकमात्र सिद्ध कहते हैं।

अत्यंत दुख हुआ था वह उसका दुःख सर्वथा दूर होगया और उसे ऐसा जान पडने लगा मानों पहिले कभी दुःख हुआ ही न था यहांपर अज्ञानसे दुःख और ज्ञान हो जाने पर सुखकी प्राप्ति दीख पड़ती है इसलिये अज्ञानसे बंध और ज्ञानसे मोक्ष होती है यही वात ठीक है किन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनोंको मोक्ष मार्ग मानना मिथ्या है। उत्तर—

नवा नांतरीयकत्वाद्रसायनवत् ॥ १० ॥

वादीने जो केवल विज्ञानको मोक्षका मार्ग बतलाया है वह ठीक नहीं क्योंकि यह बात प्रायः मूर्खसे मूर्ख मनुष्य भी माननेकेलिये तयार है कि जो मनुष्य रोगको दूर करनेवाली रसायनको केवल पहिचानता है किंतु यह श्रद्धान नहीं रखता कि यह रोग दूर कर देगी एवं विधिपूर्वक उसका सेवन भी नहीं करता उस रसायनके ज्ञानसे उसका रोग दूर नहीं होता क्योंकि श्रद्धान और सेवनविधिके विना केवल रसायनको पहिचानने मात्रसे किसीका रोग दूर हो गया हो यह बात आजतक सुनी नहीं गई। तथा जो मनुष्य विधिपूर्वक रसायनका सेवन तो करता है परंतु वह रसायन चीज क्या है इस बातका ज्ञान नहीं रखता और न उसका उसे विश्वास है उसका भी रोग दूर नहीं होता तथा जिसको इस वातका श्रद्धान तो है कि रसायन रोग दूर करनेवाली है परंतु उसको वह पहिचानता नहीं और न विधिपूर्वक सेवन करता है उसका भी रोग दूर नहीं होता। किंतु रसायनको जो अच्छी तरह पहिचानता है। यह रोग दूर करनेवाली है इस वातका जिसे विश्वास है और जो विधिपूर्वक उसका सेवन करता है उसीका रोग दूर होता है। उसीप्रकार जो पुरुष गुरु आदिके उपदेशसे मोक्षको केवल पहिचानता है परंतु उसके स्वरूप पर विश्वास नहीं रखता और न उसके पानेका प्रयत्न करता है उसे मोक्ष नहीं मिलती। तथा जो

पुरुष मोक्षके स्वरूपका श्रद्धान तो रखता है परंतु वह क्या चीज है नहीं जानता और न उसकी प्राप्तिकेलिये प्रयत्न करता है उसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती । तथा जो पुरुष मोक्षकी प्राप्तिकेलिये प्रयत्न तो करता है परंतु उसके स्वरूपको जानता नहीं और न श्रद्धान करता है उसे भी मोक्ष नहीं मिलती क्योंकि विना ज्ञान और श्रद्धानके चारित्र पाला नहीं जा सकता किंतु मोक्षके स्वरूपका सच्चा श्रद्धान ज्ञान और उसके अनुकूल चारित्रका पालन करनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। ज्ञानमात्र रखनेसे किसी भी पदार्थकी सिद्धि आजतक संसारमें नहीं देखी गई इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंको मोक्षमार्ग कहना ही युक्तियुक्त है। बादीने जो 'अनंताः सामायिकासिद्धाः' यहां सामायिक शब्दका अर्थ ज्ञानकर यह कहा था कि जैनसिद्धांतमें भी ज्ञानमात्रसे मोक्ष माना है । सो ठीक नहीं। जो आत्मा सम्यग्ज्ञानस्वरूप है और तत्त्वोंका श्रद्धान करनेवाला है उसीके सामायिक नामका सम्यक्चारित्र भलेप्रकार पलता है विना सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनके नहीं, इसलिये सामायिक शब्दसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंका ग्रहण है तथा समय एकत्व और अभेद ये तीनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं इसलिये समय शब्दका अर्थ अभेद है और समय और सामायिक दोनों एक ही हैं। तथा चारित्र शब्दका अर्थ 'पाप कार्योंकी निवृत्ति होना है' इस रीतिसे अभेदरूपसे पापकार्योंकी निवृत्ति होना सो सामायिक चारित्र है तब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ ही रहनेवाला सामायिक चारित्र सम्यक्चारित्र हो सकता है और वह मोक्षका मार्ग है यही उसका वास्तविक अर्थ है इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही मोक्षके मार्ग हैं केवल सम्यग्ज्ञान नहीं । यही सिद्धांत दूसरी जगह भी प्रतिपादन किया गया है। यथा—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया। धावन् किलांधको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः ॥ १ ॥

क्रिया—चारित्रके बिना ज्ञान किसी कामका नहीं, जब ज्ञान किसी कामका नहीं तब उसका सहचारी दर्शन भी किसी कामका नहीं जिसतरह वनमें आग लगजाने पर उसमें रहनेवाला लंगडा मनुष्य नगरको जानेवाले मार्गको जानता है 'इस मार्गसे जानेपर मैं अग्निसे बच सकूंगा' इस बातका उसे श्रद्धान भी है परंतु चलनेरूप क्रिया नहीं कर सकता इसलिये वहीं जलकर नष्ट हो जाता है उसीप्रकार ज्ञान (और दर्शन) रहित क्रिया भी निरर्थक है जिसतरह वनमें आग लग जानेपर उसमें रहनेवाला अंधा जहां तहां दोडना रूप क्रिया करता है किंतु उसको नगरमें जानेवाले मार्गका ज्ञान नहीं और न उसको यह श्रद्धान ही है कि अमुक मार्ग नगरमें पहुंचानेवाला है इसलिये वह वहीं जलकर नष्ट हो जाता है। इस रीतिसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों ही मोक्षके मार्ग हैं। तथा—

संयोगमेवेह वदंति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति।
अंधश्च पंगुश्च वनं प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥ २ ॥

एक चक्र—पहियेसे रथ नहीं चलता किंतु दोनों चक्रोंके रहते ही रथ चलता है उसीप्रकार अकेले सम्यग्दर्शन वा सम्यग्ज्ञान वा सम्यक्चारित्रसे मोक्ष नहीं प्राप्त होती किंतु तीनोंके मिलनेसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। क्योंकि वनमें आग लगनेपर जब अन्धा और लंगडा जुदे २ रहते हैं तब तो वे वहीं जलकर नष्ट हो जाते हैं किंतु जिस समय वे मिल जाते हैं लंगडेकी पीठपर अंधा सवार हो लेता है

१ संजोगमेव त्ति वदंति तण्णा णोवेक्कचक्केण रहो पयादि। अन्धो य पंगू य वणं पविट्ठा ते संपजुत्ता णयरं पविट्ठा ॥८९२॥ गोमट्टसारकर्मकांड।

उस समय सुखपूर्वक वे नगरमें आजाते हैं। इसलिये यह वात सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दर्शन आदि तीनों मिलकर ही मोक्षके मार्ग हैं जुदे २ नहीं।

ज्ञानादेव मोक्ष इति चेदनवस्थानादुपदेशाभावः ॥ ११ ॥

दीपकसे अंधकार नष्ट हो जाता है इसलिये दीपकके रहते वह क्षणमात्र भी नहीं दीख पडता क्योंकि दीपक जल रहा हो और अन्धकार मौजूद हो यह वात युक्तियुक्त नहीं जान पडती। जो वादी ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष मानता है उसके मतमें आत्मस्वरूपके ज्ञानके होते ही मोक्ष हो जायगी क्योंकि विज्ञान प्रगट हो जाय और उसका कार्य मोक्ष न हो यह वात अनुभवविरुद्ध है, इस रीतिसे विज्ञानके होते ही उसी क्षणमें मोक्ष हो जानेसे शरीर और इंद्रियोंके व्यापार भी नष्ट हो जांयगे इसलिये फिर उपदेश देना न हो सकेगा तथा यह वात ठीक नहीं क्योंकि दिव्यज्ञान—केवलज्ञानके हो जानेपर आयुकर्मके अवशेष रहनेके कारण बहुत वर्ष तक केवली उपदेश देते हैं इसलिये अकेले ज्ञानसे ही मोक्ष कहना अयुक्त है। यदि यह कहा जाय कि—

संस्कारक्षयादवस्थानादुपदेश इति चेन्न प्रतिज्ञातविरोधात् ॥ १२ ॥

विज्ञानके उत्पन्न हो जाने पर भी पहिले संस्कारोंका नाश नहीं होता इसलिये जबतक वे संस्कार मौजूद रहते हैं तब तक आत्माकी मोक्ष नहीं होती, वह कुछ दिन संसारमें रहा आता है इसलिये उपदेश देनका समय मिल सकता है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर भी जब तक संस्कारका क्षय नहीं होता तबतक संसारमें रहना पडता है, मोक्ष नहीं प्राप्त होती यदि यह कहा जायगा तब मोक्षकी प्राप्ति संस्कारके क्षयसे हुई, ज्ञानसे तो हुई नहीं इसलिये 'ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति

होती है' यह जो वादीकी प्रतिज्ञा थी वह नष्ट होगई। प्रतिज्ञाके नष्ट हो जानेपर अकेले ज्ञानसे मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती और भी यह वात है कि—

उभयथा दोषोपपत्तेः ॥ १३ ॥

संस्कारोंका नाश ज्ञानसे माना जायगा वा अन्य किसी कारणसे? यदि ज्ञानसे कहा जायगा तब ज्ञानके हो जानेपर उसीसमय संस्कारोंका भी नाश हो जायगा इस रीतिसे संस्कारोंके नष्ट होजाने पर संसारमें रहना बन न सकेगा फिर उपदेश देना कैसे सिद्ध होगा? यदि अन्य किसी कारणको संस्कारोंका नाशक कहोगे तो फिर वह सिवाय चारित्रके दूसरा कोई है नहीं इस रीतिसे चारित्रको ही मोक्षकी सिद्धिका कारण हो जानेपर 'ज्ञानसे ही मोक्ष होती है' यह वादीकी प्रतिज्ञा छिन्न भिन्न हो जाती है। तथा—

प्रव्रज्याद्यनुष्ठानाभावप्रसंगश्च ॥ १४ ॥

यदि ज्ञानसे ही मोक्षका विधान माना जायगा तो फिर ज्ञानके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये, मूड़ मुडाना, डाढी कपटवाना, कषायले रंगके कपडे पहिननारूप सन्यास और यम नियम आदि भावनाओंका माना व्यर्थ है। कालकी मर्यादाकर किसी चीजका त्याग करना नियम और जीवन पर्यंत त्याग कर देना यम कहा जाता है।

ज्ञानवैराग्यकल्पनायामपि ॥ १५ ॥

यदि यह माना जायगा कि—'अकेले ज्ञानसे मोक्षका विधान नहीं किंतु ज्ञान और वैराग्यसे मोक्ष प्राप्त होती है? सो भी ठीक नहीं। जिस समय पदार्थोंका ज्ञान और विषय भोगोंमें अनासक्तिरूप

वैराग्य प्राप्त हो जायगा उसी समय मोक्ष हो जायगी । संसारमें क्षणमात्र भी न ठहरनेके कारण उपदेश आदि बन ही नहीं सकता । इस रीतिसे ज्ञान और वैराग्यकी कल्पना करने पर भी उपदेश आदि का अवसर मिलना कठिन है और भी यह बात है कि—

नित्यानित्यैकांतावधारणे तत्कारणासंभवः ॥ १६ ॥

कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानने पर ही ज्ञान और वैराग्य मोक्षके कारण बन सकते हैं किंतु पदार्थ सर्वथा नित्य ही है वा अनित्य ही है इसप्रकार एकांतरूपसे हठ करनेपर ज्ञान और वैराग्य मोक्षके कारण नहीं हो सकते । खुलासा तात्पर्य उसका यह है कि—

नित्यत्वैकांतेऽपि विक्रियाभावात् ज्ञानवैराग्याभावः ॥ १७ ॥

विक्रियाका अर्थ विकार है । उसके दो भेद हैं एक ज्ञानादिविपरिणामलक्षणा दूसरी देशांतरसंक्रमरूपा । जिसके द्वारा ज्ञान दर्शन आदिका परिणमन हो वह ज्ञानादिपरिणामलक्षणा विक्रिया है और जिसके द्वारा एकदेशसे दूसरे देशमें जाना हो वह देशांतरसंक्रमरूपा विक्रिया है । जिनके शास्त्रोंमें एकांतरूपसे यह लिखा है कि आत्मा सर्वथा नित्य और व्यापक है उनके मतमें दोनों विक्रियाओंमें एक भी विक्रिया नहीं हो सकती क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा नित्य है उसका किसीरूपसे परिणमन नहीं हो सकता । जब आत्मा नैयायिक आदिके सिद्धांतोंमें सर्वथा नित्य है तब ज्ञान दर्शन आदि उसके गुणोंका परिणमन नहीं हो सकता इसलिये ज्ञानादिविपरिणामरूप विक्रिया आत्मामें बाधित है । इसी प्रकार जो पदार्थ व्यापक—सर्वत्र मोजूद है वह एक जगहसे दूसरी जगह नहीं जा सकता । नैयायिक आदि मतोंमें जब आत्मा सब जगह पर रहनेवाला व्यापक है तब वह एक जगहसे दूसरी जगह नहीं

गमन कर सकता इसलिये आत्मामें देशांतरसंक्रमरूप विक्रिया भी बाधित है इसरीतिसे प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और शब्दके संबंधसे होनेवाले वा प्रत्यक्ष अनुमान शब्दसे उत्पन्न होनेवाले वा प्रत्यक्ष और अनुमानसे होनेवाले ज्ञानका जब आत्मामें अभाव है और वैराग्यरूप परिणाम भी नहीं सिद्ध हो सकता तब ज्ञान और वैराग्य मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं हो सकते एवं जिसतरह भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंमें समानरूपसे रहनेवाले आकाशकी मोक्ष नहीं हो सकती क्योंकि उसमें सर्वथा नित्य और व्यापक होनेसे विक्रियाका अभाव है उसीप्रकार आत्मा भी जब सर्वथा नित्य और व्यापक है तब विक्रिया न होनेके कारण उसे भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जायगा कि दोनों प्रकारकी विक्रियाकी सत्ता समवाय संबंधसे आत्मामें मान लेनेपर उसे मोक्ष प्राप्त हो सकेगी ? सो भी नहीं। समवाय सम्बन्ध कोई भी पदार्थ नहीं यह हम पहिले खंडन कर आए हैं। तथा—

क्षणिकैकांतेप्यवस्थानाभावाज्ज्ञानवैराग्यभावनाभावः ॥ १८ ॥

जिनका यह सिद्धांत है कि "क्षणिकाः सर्वसंस्काराः" समस्त पदार्थ क्षणिक हैं उनके मतमें जिस क्षणमें ज्ञान आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति होगी उसी क्षणमें उनका नाश हो जानेसे दूसरे क्षणमें ये मोजूद रह नहीं सकते इसलिये पदार्थोंका ज्ञान वा उपदेश आदि नहीं बन सकते। यदि यह कहा जाय कि ज्ञानोंसे संस्कार रूप पदार्थकी उत्पत्ति होगी और वह चिरस्थायी पदार्थ रहेगा जिससे उपदेश आदिकी व्यवस्था हो सकती है ? सो भी ठीक नहीं। जब सभी पदार्थ क्षणविनाशीक हैं तब ज्ञानोंसे उत्पन्न

१ जब कि आत्मा नित्य और व्यापक है तब वह सदा एक रूपमें और एक ही स्थानमें आकाशकी तरह ठहरा रहेगा, उसमें विशेष ज्ञान और वैराग्यरूप परिणाम भी नहीं हो सकता और न मोक्ष गमनरूप क्रिया ही हो सकती है।

होनेवाला पदार्थ भी क्षणिक ही हो सकता है, चिरस्थायी नहीं। इसलिये चिरस्थायी किसी भी पदार्थके न होनेके कारण ज्ञान और वैराग्यकी भावना न हो सकेगी इसरीतिसे ज्ञान और वैराग्य मोक्षके कारण नहीं हो सकते। तथा यह भी बात है कि बौद्धोंने उत्पत्तिके बाद पदार्थोंको निरन्वय विनाश माना है अर्थात् वे मानते हैं कि ज्ञानादि पदार्थ जिस समय उत्पन्न होते हैं उसी समय उनका नाश हो जाता है ऐसी अवस्थामें उनकी सन्तान भी नहीं चल सक्ती। जब यह बात है तब पूर्व पदार्थ और उत्तर पदार्थोंमें किसी प्रकारका संबंध न होनेके कारण पूर्व पदार्थ कारण और उत्तर पदार्थ कार्य इस कार्य कारण व्यवहारका सर्वथा लोप हो जायगा फिर 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' संस्कारोंकी उत्पत्तिमें कारण अविद्या है यह जो बौद्धोंके आगमका वचन है वह विरुद्ध हो जायगा क्योंकि यहां आविद्या कारण और संस्कारोंको कार्य माना है। अविद्याका निरन्वय विनाश मानने पर अविद्याके कार्य संस्कार न हो सकेंगे। यदि यह माना जायगा कि पदार्थोंका निरन्वय विनाश नहीं होता, संतान क्रमसे ही विनाश होता है। पूर्व पूर्व पदार्थ नष्ट होते चले जांय तो भी उनकी संतान वरावर बनी रहेगी इसरूपसे पूर्व पूर्व पदार्थोंको कारणपना और उत्तर उत्तर पदार्थोंका कार्यपना सिद्ध होजानेपर अविद्या कारण और संस्कार कार्य हो जायगें कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। यदि सन्तानकी कल्पना की जायगी तो वह संतान अपने आधारस्वरूप—संतानी पदार्थसे भिन्न है वा अभिन्न है? इत्यादि अनेक दोषोंकी उत्पत्ति हो जायगी अर्थात् ज्ञान आदि पदार्थोंकी संतान अपने आधारस्वरूप ज्ञानादि पदार्थोंसे भिन्न मानी जायगी तो जिसतरह 'घटका पट' यह व्यवहार नहीं होता क्योंकि घट पट दोनों ही पदार्थ आपसमें भिन्न हैं उसीतरह ज्ञानकी संतान वा आत्मा आदिकी संतान यह भी व्यवहार न होगा क्योंकि

ज्ञान वा आत्मा आदि पदार्थोंसे संतान पदार्थ भिन्न है। यदि यह कहा जायगा कि संबंध विशेषसे वैसा व्यवहार हो जायगा, कोई दोष नहीं आ सकता ? सो भी ठीक नहीं। वह संबंध कौनसा होगा ? जिस समय यह विचार किया जायगा उससमय कोई संबंध ही नहीं सिद्ध हो सकता। तथा वही संतान अपने ज्ञानादि पदार्थोंसे यदि अभिन्न मानी जायगी तो ज्ञान आदि और संतान दोनों एक ही हो जांयगे फिर ज्ञानके नाश होते ही संतानका भी नाश होगा। इस रूपसे संतान पदार्थकी कल्पना व्यर्थ ही होगी। इसप्रकार यह बात सिद्ध हो चुकी है कि ज्ञान वैराग्यका संभव न सर्वथा नित्य पक्षमें हो सकता है और न सर्वथा अनित्य पक्षमें, किंतु कथंचित् नित्यानित्य पक्षमें ही होगा। कथंचित् नित्यानित्य पक्ष नैयायिक आदि स्वीकार नहीं करते इसलिये ज्ञान वैराग्यको मोक्षका कारण मानना सर्वथा अयुक्त है। इसप्रकार तत्वज्ञानमात्र मोक्षका कारण नहीं हो सकता यह युक्तिपूर्वक कह दिया गया अब 'विपर्ययसे बंध होता है' यह जो वादीका कहना है उसपर विचार किया जाता है।

विपर्ययाभावः प्रागनुपलब्धेरुपलब्धौ वा बंधाभावः ॥ १९ ॥

यह बात लोकमें प्रसिद्ध है कि जिस पुरुषको यह जानकारी है कि "जिसके हाथ पैर मस्तक आदि विशेष हों वह पुरुष और जिसमें टेडापन खोलार आदि विशेष हों वह स्थाणु कहा जाता है" वह पुरुष जिससमय अपनेसे दूर प्रदेशमें रहनेवाले स्थाणुको देखता है और विशेष अंधकारसे वा किसी चीजके व्यवधानसे वा इंद्रियोंकी अशक्तिसे उसके टेडापन वा कोटर आदि विशेषोंका निश्चय नहीं कर सकता किंतु केवल सामान्य धर्म उचाई देखता है उसे 'यह पुरुष है' यह एककोटिनिश्चयात्मक विपरीत ज्ञान होता है किंतु जो पुरुष पृथ्वीके भीतर उत्पन्न हुआ है और जिसने स्थाणु और पुरुषके विशेषोंको

१ किसी गुप्त प्रदेशमें उत्पन्न होकर वहींपर जिसने वृद्धि पाई है। बाह्य प्रदेशोंका जिसे परिज्ञान नहीं है।

कभी नहीं जाना है उसे स्थाणुमें 'यह पुरुष है' ऐसा विपरीत ज्ञान नहीं होता। उसीप्रकार अनादिकाल से संसारमें घूमनेवाले जिस पुरुषको पहिले कभी प्रकृति और पुरुषके भेदका ज्ञान नहीं हुआ है उसके भी प्रकृति और पुरुषमें विपरीत ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि दोनोंका पहिले विशेष ज्ञान होना ही विपरीत ज्ञानमें कारण है सो पहिले कभी भी नहीं हुआ इस रूपसे प्रकृति और पुरुषके विशेषोंकी अनुपलब्धि से विपरीत ज्ञानका अभाव है। तथा अनित्य, आत्मस्वरूपसे भिन्न, अपवित्र और दुःखरूप समस्त पदार्थोंको नित्य आत्मिक पवित्र और सुखस्वरूप मानना विपरीत ज्ञान है वह अब न बन सकेगा क्योंकि समस्त पदार्थोंकी अनित्यता आदि पहिले कभी अनुभवमें नहीं आई और जिन पदार्थोंका सामान्य वा विशेष स्वरूप कभी अनुभवमें नहीं आया उनका विपरीत ज्ञान आजतक होता हुआ सुना नहीं गया इसलिये विपरीत ज्ञानके अभावसे बंधका अभाव जब सिद्ध हो जाता है तब 'विपरीत ज्ञान से बंध होता है' यह जो सांख्य आदिका आगम है वह खंडित हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि प्रकृति और पुरुषके विवेककी उपलब्धि अथवा समस्त पदार्थोंके अनित्यता वा नित्यता आदि विशेषों की उपलब्धि पहिले भी हो जाती है इसलिये विपरीत ज्ञानका अभाव नहीं कहा जा सकता? सो भी ठीक नहीं। प्रकृति और पुरुषका विवेकज्ञान वा समस्त पदार्थोंका अनित्यत्वादि ज्ञान ही मोक्ष मानी गई है यदि वैसा विशेष ज्ञान पहिले हो चुका तो उसी समय मोक्ष भी हो चुकी ऐसा समझना चाहिये। विवेक ज्ञान हो और मोक्ष न हो यह बात सांख्य आदि सिद्धान्तोंके विरुद्ध है और भी यह बात है कि—

प्रत्यर्थवशवर्तित्वाच्च ॥ २० ॥

जिनका यह सिद्धान्त है कि ज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको विषय करता है उनके मतमें भी

विपरीत ज्ञान वा संशयज्ञान नहीं बन सकता क्योंकि एक समयमें एक ही अर्थको विषय करनेवाला ज्ञान जिस समय स्थाणुको विषय करेगा उस समय पुरुषको विषय नहीं कर सकता और जिस समय पुरुषको विषय करेगा उस समय स्थाणुको विषय नहीं कर सकता किंतु जहांपर स्थाणु और पुरुष दोनों के भेदका ज्ञान होगा वहीं पर 'यह स्थाणु है वा पुरुष ?' इसप्रकारका संशय एवं स्थाणुमें 'यह पुरुष है' इसप्रकारका विपरीत ज्ञान होता है। तथा जिस समय ज्ञान एक समयमें अनेक पदार्थोंको विषय करने वाला होगा उसी समय वह समस्त पदार्थोंके अनित्यत्व अनात्मीयत्व आदि अनेक विशेषोंको एक समय में जान सकता है किंतु यदि वह एक ही अर्थको विषय करेगा तब वह अनेक विशेषोंको नहीं जान सकता क्योंकि एक समयमें एक ही पदार्थको विषय करनेवाला ज्ञान दो आदि पदार्थोंके विशेषोंको नहीं जान सकता यह नियम है इसलिये एक समयमें अनेक पदार्थोंके विशेषोंकी उपलब्धि न होनेके कारण विपरीत ज्ञान नहीं हो सकता। विपरीत ज्ञानके न होनेसे बंध भी नहीं हो सकता फिर 'विपरीत ज्ञानसे बंध होता है' यह सांख्य आदि वादियोंका कथन मिथ्या हो जाता है। तथा प्रकृति और पुरुषका विवेक ज्ञान अथवा समस्त पदार्थोंमें अनित्य अनात्मिक अशुचि दुःखरूप ज्ञानसे मोक्ष होती है ऐसा सिद्धान्त बौद्धोंने माना है ऐसी अवस्थामें यदि ज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको विषय करेगा तब प्रकृति और पुरुषके विवेकका वा समस्त पदार्थोंमें अनित्यत्व आदि विशेषोंका ज्ञान होगा नहीं इसलिये मोक्ष पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

ज्ञानदर्शनयोर्युगपत्प्रवृत्तेरेकत्वमिति चेन्न तत्त्वावायश्रद्धानभेदात्तापप्रकाशवत् ॥ २१ ॥

ज्ञान और दर्शनकी प्रवृत्ति—प्रकटता वा आत्मलाभ एक साथ होता है इसलिये उन दोनोंको

एक ही कहना ठीक है भिन्न २ माननेकी आवश्यकता नहीं ? सो ठीक नहीं। उत्ताप और प्रकाश दोनों ही एक साथ सूर्यसे प्रकट होते हैं किंतु उत्ताप दाह पैदा करता है और प्रकाश उजाला करता है इसलिये दाह और उद्योतरूप भिन्न २ सामर्थ्य रहनेके कारण प्रताप और प्रकाश भिन्न २ माने जाते हैं। उसीप्रकार ज्ञान और दर्शन यद्यपि आत्मामें एक साथ प्रकट होते हैं तो भी तत्त्वोंका जानना ज्ञान और उनका श्रद्धान दर्शन कहा जाता है इसलिये तत्त्वज्ञान और श्रद्धानके भेदसे ज्ञान और दर्शन भिन्न २ ही हैं। तथा यह भी वात है कि—

दृष्टविरोधाच्च ॥ २२ ॥

एक साथ प्रगट वा उत्पन्न होना ही एकतामें कारण है अर्थात् जो पदार्थ एक साथ प्रगट वा उत्पन्न होते हैं वे जुदे २ नहीं होते एक ही माने जाते हैं जिसका यह मत है वह प्रत्यक्षबाधित है क्योंकि गौके दोनों सींग एक साथ प्रकट होते हैं परन्तु एक न होकर दोनों जुदे जुदे रहते हैं इसलिये जिसतरह एक साथ प्रगट होनेवाले दोनों सींग एक नहीं हो सकते, भिन्न २ रहते हैं उसी प्रकार एक साथ आत्मामें प्रकट होनेवाले भी ज्ञान दर्शन एक नहीं माने जा सकते भिन्न २ ही मानने होंगे। तथा—

उभयनयसद्भावेऽन्यतरस्याश्रितत्वाद्वा रूपादिपरिणामवत् ॥ २३ ॥

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे नय दो प्रकारका है यह ऊपर कहा जा चुका है। परमाणु द्व्यणुक आदि पुद्गल द्रव्योंमें बाह्य अभ्यन्तर कारणोंसे रूप रस आदि एक साथ प्रगट होते हैं। दोनों नयोंमें वहांपर जिस समय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा की जाती है उस समय पुद्गलकी रूप पर्याय एवं रस आदि पर्यायें जुदी २ मानी जाती हैं इसलिये पुद्गल द्रव्यमें अपने कारणोंसे एक साथ उत्पन्न

होनेवाले भी रूप रस आदि पर्याय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जिसतरह जुदे जुदे माने जाते हैं उसी प्रकार यद्यपि आत्मामें ज्ञान और दर्शन पर्याय एक साथ प्रकट होते हैं तो भी पर्यायोंकी ओर दृष्टि डालनेपर ज्ञान पर्याय जुदी और दर्शन पर्याय जुदी है इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न भिन्न ही हैं एक नहीं। अथवा—

पुद्गल द्रव्यमें एक साथ उत्पन्न होनेवाले भी रूप रस आदि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथंचित् एक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथंचित् अनेक हैं क्योंकि रूप आदि पर्यायोंमें जिस समय पर्यायार्थिक नयका गौणपना और द्रव्यार्थिक नयका मुख्यपना रक्खा जायगा उस समय रूप आदि पर्यायोंकी ओर दृष्टि जायगी नहीं, द्रव्यकी ओर ही दृष्टि जायगी और उससे रूप रस आदि स्वरूप अनादि पारिणामिक पुद्गल द्रव्य है यह बोध होगा वहांपर भिन्न २ रूपसे रस रूप आदि पर्यायोंका बोध न होगा इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा रूप रस आदि एक ही हैं तथा जिससमय उन्हीं रूप आदि गुणोंमें द्रव्यार्थिक नयका गौणपना और पर्यायार्थिकनयका प्रधानपना माना जायगा उससमय द्रव्यकी ओर दृष्टि न जाकर पर्यायोंकी ओर दृष्टि जायगी और उससे यह रूप है और ये रस आदि पर्यायें हैं यह बोध होगा किंतु वे सब एक हैं यह बोध न हो सकेगा इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा रूप रस आदि भिन्न भिन्न हैं। उसीप्रकार ज्ञान दर्शनमें भी जिससमय पर्यायार्थिक नयको गौण और द्रव्यार्थिक नयको प्रधान माना जायगा उससमय पर्यायोंकी ओर दृष्टि न जाकर द्रव्यकी ओर ही दृष्टि जायगी और अनादि पारिणामिक ज्ञान दर्शनस्वरूप एक जीव द्रव्य है यह बोध होगा अर्थात् ज्ञान भी आत्मा माना जायगा और दर्शन भी आत्मा माना जायगा इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान दर्शन

दोनों एक हैं तथा उन्हीं ज्ञान दर्शनमें द्रव्यार्थिक नयको गौणकर पर्यायार्थिक नयको जिससमय प्रधान माना जायगा उससमय द्रव्यकी ओर दृष्टि न जाकर पर्यायोंकी ओर दृष्टि जायगी और ज्ञान पर्याय भिन्न और दर्शन पर्याय भिन्न है यह बोध होगा इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान दर्शन दोनों भिन्न भिन्न हैं। इसलिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान दर्शनको कथंचित एक और कथंचित् अनेक ही मानना चाहिये सर्वथा एक मानना युक्ति और अनुभवसे बाधित है । यदि यह कहा जाय कि—

ज्ञानचारित्रयोरकालभेदादेकत्वमगम्यावबोधवदिति चेन्नाशूत्पत्तौ
सूक्ष्मकालाप्रतिपत्तेरुत्पलपत्रशतव्यधनवत् ॥ २४ ॥

मोहके तीव्र उदयसे किसी पुरुषको परस्त्रीके साथ मैथुन करनेकी इच्छा हुई। मेघके होनेसे अत्यंत अंधकारवाली रात्रिमें वह परस्त्रीके पास चला । दैव योगसे उसकी मा भी व्यभिचारिणी थी वह भी उसी गलीमें आ पहुंची। दोनोंका आपसमें मिलाप हो गया। पुरुषने स्त्रीको व्यभिचारिणी जान उसके साथ रमण करनेकी इच्छा की और उसका स्पर्श करने लगा । अचानक ही बिजलीके चमकनेसे कुछ प्रकाश हुआ स्त्रीका मुख देखते ही उसे यह मालूम हुआ कि यह मेरी मा है, उसीसमय उसको यह ज्ञान भी हुआ कि यह मेरेलिये अगम्य है—इसके साथ मेरा मैथुन करना योग्य नहीं और उसीसमय उसके साथ मैथुन करनेकी निवृत्ति भी हो गई इसलिये जिसतरह यहां पर माके साथ मैथुन करना अयोग्य है यह ज्ञान और मैथुनसे निवृत्तिरूप क्रिया दोनों ही एक साथ हुए हैं इसलिये दोनोंका काल एक है उसीतरह जिस कालमें ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे यह ज्ञान हुआ है कि ये जीव हैं उसीसमय 'उन्हें

न मारना चाहिये' इस हिंसाकी भी निवृत्ति है। किंतु जीवोंके ज्ञानका काल और हिंसा निवृत्तिका काल भिन्न भिन्न नहीं तथा निवृत्तिका नाम चारित्र है इसरीतिसे ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्तिका काल जब समान है तब ज्ञान और चारित्र दोनोंको एक ही मानना चाहिये भिन्न भिन्न मानना ठीक नहीं ? सो भी अयुक्त है । क्योंकि जिसतरह एक साथ तर ऊपर रक्खे हुए कमलके सौ पत्रोंको एक ही समय तलवार वा सूजा आदिसे छेदे जाने पर उनके छेदनेका एक ही समय जान पडता है किंतु वहां पर एक पत्रके वाद दूसरे पत्रका छिदना उसके वाद तीसरे पत्रका छिदना इसप्रकार क्रमसे छिदनेमें असंख्यात समय वीत जाते हैं, यहांतक कि एक पत्रके छिदनेके वाद दूसरे ही पत्रके छिदनेमें असंख्याते समय व्यतीत हो जाते हैं परंतु वह काल अत्यंत सूक्ष्म है सिवाय सर्वज्ञके कोई भी अल्पज्ञानी उसे जान नहीं सकता इसलिये सौ पत्रोंके छेदनेका काल एक नहीं कहा जाता किंतु अत्यंत सूक्ष्म कहा जाता है उसी-प्रकार ज्ञान और चारित्रका काल भी एक नहीं किंतु अत्यंत सूक्ष्म है इसलिये एक सरीखा जान पडता है। वास्तवमें 'माके साथ मैथुन करना अयोग्य है' इस ज्ञानका काल और मैथुनसे निवृत्तिका काल दोनों जुदे जुदे हैं इस रूपसे ज्ञान और चारित्रका जब समान काल सिद्ध नहीं होता तब दोनोंका एक काल मानकर एक मानना यह वात भी मिथ्या है। और भी यह वात है—

अर्थभेदाच्च ॥ २५ ॥

ज्ञानका अर्थ तत्त्वोंका जानना है और चारित्रका जिन विशेष विशेष क्रियाओंसे कर्म आकर आत्मामें संबंध करते हैं उन क्रियाओंका त्यागना यह अर्थ है। इस रूपसे ज्ञान और चारित्र दोनोंका अर्थ भिन्न भिन्न होनेके कारण वे दोनों भिन्न ही हैं एक नहीं हो सकते। तथा—

कालभेदाभावो नार्थाभेदहेतुर्गतिजात्यादिवत् ॥ २६ ॥

जिन पदार्थोंका काल एक है वे सब पदार्थ आपसमें अभिन्न—एक हैं यह बात अयुक्त है क्योंकि यह सभीको मालूम है कि जिस समय देवदत्त नामके पुरुषका जन्म होता है उसीके साथ मनुष्य, गति, पंचेंद्रिय, जाति, वर्ण गंध आदि भी उत्पन्न होते हैं वहांपर यह बात नहीं कि मनुष्यगतिकी उत्पत्तिका काल दूसरा और पंचेंद्रिय जाति वर्ण गंध आदिका काल दूसरा हो परन्तु सबकी उत्पत्तिका काल एक होनेपर भी देवदत्त मनुष्यगति, पंचेंद्रिय जाति आदि पदार्थ एक नहीं होते, भिन्न भिन्न ही माने जाते हैं। यदि हठसे कोई यह माने कि जिन पदार्थोंका काल एक है वे पदार्थ भी आपसमें भिन्न नहीं, एक ही हैं उसे देवदत्त मनुष्यगति पंचेंद्रिय जाति आदि सभी साथ उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंको एक मानना पडेगा किन्तु उनका एक होना किसीको इष्ट नहीं इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्तिका काल एक भी मान लिया जाय तो भी वे दोनों एक नहीं हो सकते; भिन्न २ ही मानने होंगे। और भी यह बात है कि—

उक्तं च ॥ २७ ॥

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा ज्ञान और चारित्र एक हैं एवं पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न भिन्न हैं यह बात ऊपर विस्तारसे कही जा चुकी है इसलिये ज्ञान और चारित्रको सर्वथा एक वा सर्वथा अनेक न मानकर कथंचित् एक अनेक ही मानना युक्तियुक्त है। यदि यह कहा जाय कि—

लक्षणभेदात्तेषामेकमार्गानुपपत्तिरिति चेन्न परस्परसंसर्गे सत्येकत्वं प्रदीपवत् ॥ २८ ॥

जिन पदार्थोंका लक्षण भिन्न भिन्न है किसी रूपसे वे एक नहीं कहे जा सकते। सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके भी लक्षण आपसमें भिन्न हैं इसलिये ये तीनों एक मार्ग-स्वरूप नहीं हो सकते, भिन्न २ मार्गस्वरूप ही कहे जांयगे इस रीतिसे सम्यग्दर्शन आदि तीनोंका मिलना एक मोक्षका मार्ग है यह नहीं कहना चाहिये किंतु वे तीनों तीन मोक्षके मार्ग हैं यह अर्थ कहना चाहिये? सो ठीक नहीं। बाह्य और अभ्यंतर कारणोंसे आपसमें भिन्न २ भी वत्ती तेल और अग्नि तीनों पदार्थ आपसमें मिल जाते हैं उस समय वह समुदाय एक दीपक कहा जाता है वहां पर तीन पदार्थोंका संयोग होनेपर तीन दीपक कोई नहीं कहता उसीप्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन आदि तीनों अपने अपने लक्षणोंसे आपसमें भिन्न हैं तो भी उन तीनोंका समुदाय एक मोक्षमार्ग कहा जा सकता है, तीनका समुदाय रहनेसे तीन मोक्षमार्ग नहीं कहे जा सकते। और भी यह वात है कि—

सर्वेषामविसंवादात् ॥ २९ ॥

आपसमें अपने अपने लक्षणोंसे पदार्थ भिन्न भी रहें तो भी उन्हें किसी रूपसे एक माननेमें किसी भी प्रतिवादीको विसंवाद नहीं। जिस तरह सांख्य मतवालोंका कहना है कि—सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण प्रसन्नता और लाघवस्वरूप है। रजोगुण शोष और तापस्वरूप है। तमोगुण आवरण करना वा विराधना करना स्वरूप है इसतरह ये तीनों गुण अपने अपने लक्षणोंसे भिन्न भिन्न हैं तो भी तीनोंका समुदाय प्रधान पदार्थ एक ही है, तीनका संयोग रहनेसे प्रधानके तीन भेद नहीं। बौद्धोंका कहना है कि काकवडता आदि चारो भूत[1] एवं वर्ण गंध आदि भूतोंमें रहनेवाले धर्म यद्यपि अपने अपने लक्षणोंकी अपेक्षा आपसमें भिन्न भिन्न हैं तो भी उन सबका समुदायरूप

१ पृथ्वी, जल अग्नि, वायु।

परमाणु एक ही है। काकवडता वा रूप आदि भेदोंके समान परमाणुके भेद नहीं। विज्ञानाद्वैतवादियों[1] का कहना है कि राग द्वेष आदि धर्म वा प्रमाण प्रमेय विज्ञानरूप पदार्थ आदि अपने अपने लक्षणोंमे भिन्न हैं तौ भी उन सबका समुदाय विज्ञान पदार्थ एक ही है। राग द्वेष वा प्रमाण आदि भेदोंके समान विज्ञानके भेद नहीं। नैयायिक वैशेषिक वा सर्वसाधारणका कहना है कि पटके कारण तंतु काले पीले हरे आदि अनेक प्रकारके होते हैं तो भी उनका समुदाय चित्रपट एक ही है। तंतुओंके भेदसे चित्रपट के भेद नहीं होते उसीप्रकार यद्यपि अपने अपने लक्षणोंसे सम्यग्दर्शन आदि भिन्न भिन्न हैं तो भी तीनोंका समुदाय मोक्षमार्ग एक ही है। तीनोंके समुदायस्वरूप मोक्षमार्गको एक कहनेमें किसीप्रकार का विरोध नहीं आ सकता।

एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरं॥ ३०॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंमें पहिले पहिलेकी प्राप्ति होनेपर उत्तर उत्तरकी प्राप्ति भाज्य[2] है। अर्थात् सम्यग्दर्शनके हो जानेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वा सम्यग्ज्ञानके हो जानेपर सम्यक्चारित्र प्राप्त हो या न हो यह नियम नहीं, प्राप्त हो भी सकते हैं और न भी प्राप्त हों सकते हैं। परन्तु—

---

१ विज्ञानाद्वैतवादी, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति आदि ज्ञानके ही भेद मानते हैं। विज्ञानसे भिन्न प्रमाणादि पदार्थ उनके यहां कुछ भी नहीं हैं। २ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्र यद्यपि तीनों चौथे गुणस्थानमें साथ २ होते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन होने पर श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञानकी प्राप्ति क्रमसे भजनीय है—अर्थात् श्रुतज्ञानकी पूर्णता एवं अवधि मनःपर्यय आदि ज्ञानका क्षयोपशमविशेष केवलज्ञान पर्यंत प्राप्तव्य है संग्राह्य है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान होनेपर भी देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यात-चारित्रपर्यंत क्रमशः प्राप्तव्य हैं—गृहीतव्य हैं।

उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः ॥ ३१ ॥

सम्यग्दर्शन आदि तीनोंमें उत्तर उत्तरकी प्राप्ति होने पर तो पूर्व पूर्वकी प्राप्ति नियमसे होती है। सूत्रमें जैसा पाठ रक्खा गया है उसकी अपेक्षा पूर्व सम्यग्दर्शन और उत्तर सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शनके हो जानेपर सम्यग्ज्ञान हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता, परन्तु सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यग्दर्शन नियमसे रहता है। विना सम्यग्दर्शनके सम्यग्ज्ञान हो नहीं सकता। उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानसे उत्तर सम्यक्चारित्र और पूर्व सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानके रहते सम्यक्चारित्र रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता परन्तु सम्यक्चारित्रके रहते सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नियमसे रहते हैं विना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके चारित्र कभी सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

तदनुपपत्तिरज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसंगात् ॥ ३२ ॥

पूर्व पूर्वके प्राप्त हो जानेपर उत्तर उत्तर भाज्य है तब सम्यग्ज्ञानसे सम्यग्दर्शन पूर्व है इसलिये सम्यग्दर्शनके हो जानेपर भी सम्यग्ज्ञानका होना तो नियमरूप रहा नहीं। वह हो भी सकता है नहीं भी हो सकता। इस रीतिसे सम्यग्दर्शनके हो जानेपर जहां ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है वहांपर श्रद्धानको अज्ञान—मिथ्याज्ञानपूर्वक मानना पडेगा? तथा—

अनुपलब्धस्वतत्त्वेऽर्थे श्रद्धानानुपपत्तिरविज्ञातफलरसोपयोगवत् ॥ ३३ ॥

यदि अज्ञानपूर्वक श्रद्धान माना जायगा तो जिसतरह फलको विना जाने उसके रसकी भी पहिचान न होगी इसलिये उस फलके रसको तयार करो 'वह फल रसवाला है' ऐसा श्रद्धान नहीं हो सक्ता उसीप्रकार जीव अजीव आदि तत्त्वोंको विना जाने 'यह जीव है वा अजीव है' ऐसा श्रद्धान होना भी असंभव है। तथा—

आत्मस्वरूपाभावप्रसंगात् ॥ ३४ ॥

यदि सम्यग्दर्शनके हो जाने पर सम्यग्ज्ञानको भाज्य माना जायगा तब वह असत्–कभी होगा तो कभी नहीं भी होगा कहना पडेगा तब जिससमय सम्यग्दर्शनका विरोधी मिथ्याज्ञान सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही नष्ट हो जायगा और भाज्य होनेसे सम्यग्ज्ञान भी उससमय रह न सकेगा उससमय आत्मामें ज्ञानोपयोगका अभाव मानना पडेगा वह ज्ञानोपयोग आत्माका लक्षण है "लक्षणके अभावमें लक्ष्यका भी अभाव हो जाता है" इस नियमके अनुसार लक्ष्यभूत आत्माका भी अभाव हो जायगा फिर मोक्षमार्गकी परीक्षा करना व्यर्थ है क्योंकि आत्माके रहते ही मोक्षकी व्यवस्था है जब आत्मा पदार्थ ही संसारमें न रहेगा तब मोक्ष किसकी सिद्ध की जायगी ? इसलिये श्रद्धान, अज्ञानपूर्वक न हो इस बातकी रक्षाकेलिये "पूर्व पूर्वके प्राप्त हो जाने पर उत्तर उत्तर भाज्य हैं" यह नियम सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें मानना अयुक्त है ? उत्तर–

न वा यावति ज्ञानमित्येतत्परिसमाप्यते तावतोऽसंभवान्नयापेक्षं वचनं ॥ ३५ ॥

ऊपरकी वार्तिकमें जो शंकाकारने यह शंका उठाई थी कि यदि सम्यग्दर्शनके होने पर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, तो सम्यग्दर्शनके होने पर कुछ काल सम्यग्ज्ञानका अभाव रहनेसे आत्माका ज्ञानोपयोग रूप लक्षण ही नहीं घटित होगा ? इस शंकाके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शनके होने पर सम्यग्ज्ञान भजनीय है यहां पर सम्यग्ज्ञानसे श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञानसे प्रयोजन है। सामान्य ज्ञानमात्र को भजनीय नहीं बतलाया गया है। इसलिये उपर्युक्त दोष नहीं आता। ज्ञान सामान्य तो प्राणी मात्रमें पाया जाता है परन्तु विशेष सम्यग्ज्ञान असंभव है इसलिये उसीको भजनीय कहा गया है । नयकी

अपेक्षासे ही सम्यग्ज्ञान भजनीय है यह वाक्य कहा गया है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञानको ग्रहण करनेवाला शब्दनय श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञानको ही विषय करता है इसलिये उन्हींका यहां पर ग्रहण है। सारांश यह है कि यद्यपि चौथे गुणस्थानमें जिससमय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसीसमय सम्यग्ज्ञान भी प्रगट हो जाता है। परंतु द्वादशांग चतुर्दशपूर्वलक्षण रूप नियमसे नहीं होता इसलिये वह प्रासव्य है अथवा सम्यग्दृष्टिकेलिये वांच्छनीय है। उसीप्रकार अवधि मनःपर्यय ज्ञान भी उत्तरोत्तर वांच्छनीय हैं। इसप्रकार विशेष ज्ञानोंकी भजनीयता वहांतक चली जाती है जहांतक कि केवलज्ञान नहीं होता।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शनके लाभ होने पर सम्यग्ज्ञान भजनीय है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है। जिससमय सम्यग्दर्शन होता है उसीसमय स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हो जाता है परंतु क्रियात्मक एवं भावात्मक देशचारित्र, सकल चारित्र, और यथाख्यात चारित्र क्रमसे प्रासव्य है। अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टिकेलिये देशचारित्र प्रासव्य है देशचारित्रप्राप्त पुरुषकेलिये सकल चारित्र प्रासव्य है सकलचारित्र छठे गुणस्थानसे दशवें तक क्रमसे विकाशशील है, इसलिये जहां जितना सकलचारित्र जिस जीवको प्राप्त हो चुका है उसकेलिये उससे आगेका सकलचारित्र प्रासव्य है, सकलचारित्रप्राप्त पुरुषकेलिये यथाख्यात चारित्र प्रासव्य है।

यहां पर यह शंका उठाई जासक्ती है कि सम्यग्ज्ञानके होने पर सम्यक्चारित्र क्यों भजनीय बतलाया गया है क्योंकि सम्यग्ज्ञान तो केवलज्ञानकी अपेक्षा भी कहा गया है इसलिये वह तो तेरहवें गुणस्थानमें प्राप्त होता है परंतु सम्यक्चारित्र तो दशवेंकी समाप्ति एवं बारहवेंके प्रारंभमें ही हो जाता है ऐसी अवस्थामें सम्यक्चारित्रद्वारा सम्यग्ज्ञान ही भजनीय होना चाहिये। वैसी अवस्थामें सूत्रपाठक्रम-

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—भी बदलना पडेगा और विना वैसा किये उपर्युक्त शंका खडी रहती है, इस शंकाका परिहार इसप्रकार समझ लेना चाहिये कि जो सूत्रक्रम है उसीके अनुसार भजनीयता आती है, अन्यथा नहीं। सम्यग्ज्ञान होनेपर सम्यक्चारित्र ही भजनीय है कारण विना सम्यग्ज्ञानके प्राप्त किए सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति असम्भव है। बारहवें गुणस्थानमें भले ही सम्यक्चारित्र क्षायिकचारित्र पूरा हो जाता है परन्तु परमावगाढ यथाख्यात चारित्र चौदहवें गुणस्थानमें ही प्राप्त होता है इसलिये वह सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति होनेपर भी भजनीय रहता है।

पूर्वसम्यग्दर्शनलाभे भजनीयमुत्तरमिति चेन्न निर्देशस्यागमकत्वात् ॥ ३५ ॥

'पूर्व पूर्वके प्राप्त हो जानेपर उत्तर उत्तर भाज्य है' इस नियमके अनुसार जिस समय यह अर्थ किया जाता है कि पूर्व—सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर सम्यग्ज्ञान भाज्य है उस समय तो श्रद्धानको अज्ञानपूर्वकपना आता है और उस दोषकी निवृत्तिके लिये शब्द नयकी अपेक्षा ज्ञानका अर्थ श्रुतज्ञान वा केवलज्ञान किया जाता है किंतु जब यह अर्थ किया जायगा कि—'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके प्राप्त हो जानेपर सम्यक्चारित्र भाज्य है' तब अज्ञानपूर्वक श्रद्धानका प्रसंग नहीं आता क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका काल एक ही है इसलिये सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर सम्यग्ज्ञान भाज्य है यह अर्थ न कर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके प्राप्त हो जानेपर सम्यक्चारित्र भाज्य है यही अर्थ करना युक्त है सो ठीक नहीं। जैसा निर्देश होता है उसीके अनुसार अर्थ किया जाता है 'एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरं' इस वार्तिकमें 'पूर्वस्य' यह षष्ठी विभक्तिके एक वचनका निर्देश है इसलिये पूर्व शब्दसे अकेले सम्यग्दर्शनका ही ग्रहण हो सकता है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंका नहीं। हां! यदि

'पूर्वयोः' इस द्विवचनका निर्देश होता तब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान दोनोंका ग्रहण हो सकता था। सो है नहीं इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके प्राप्त हो जाने पर सम्यक्चारित्र भाज्य है यह अर्थ नहीं हो सकता। यदि यह कहा जायगा कि 'पूर्वस्य' यह सामान्य निर्देश है इसलिये सामान्यरूपसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंका ग्रहण हो जायगा कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। 'पूर्वस्य' इस निर्देशसे एकहीका ग्रहण होगा यह व्यवस्था निश्चित हो चुकी है यदि यह व्यवस्था स्वीकार न की जायगी और 'पूर्वस्य' इस निर्देशसे जबरन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान दोनोंका ग्रहण किया जायगा तो वार्तिकमें उत्तर शब्द मोजूद है उसकी भी व्यवस्था न माननी पडेगी क्योंकि वहां पर 'उत्तरं' इस नपुंसकलिंग एक वचनसे एकहीका ग्रहण है जब एक वचनके निर्देशसे एकके ग्रहणकी कोई व्यवस्था न मानी जायगी तब उत्तर शब्दसे दोका भी ग्रहण किया जा सकता है इसरीतिसे 'सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जाने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र दोनों भाज्य हैं' यह अर्थ होगा और इस अर्थके होने पर जो यह दोष दिया गया था कि यदि 'सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर सम्यग्ज्ञान भाज्य है' यह अर्थ किया जायगा तो 'श्रद्धानको अज्ञानपूर्वकपना आवेगा' वह दोष ज्योंका त्यों कायम रहेगा। इसलिये 'सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जाने पर श्रुतज्ञान और केवलज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान भाज्य है' यह जो शब्दनयकी अपेक्षा अर्थ किया गया था वही युक्त है। अथवा—

क्षायिक सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जाने पर क्षायिक सम्यग्ज्ञान भाज्य है यह अर्थ है। इस अर्थके करने पर कोई दोष नहीं आता क्योंकि क्षायिकसम्यग्ज्ञानका अर्थ केवलज्ञान है। क्षायिकसम्यग्दर्शनके होनेपर वह होवेगा ही यह कोई नियम नहीं किंतु हो भी सकता है और नहीं भी, इसलिये सम्यग्द-

र्शनके प्राप्त हो जानेपर सम्यग्ज्ञान भाज्य है यह अर्थ निर्दोष है। किंवा—पर्वत और नारद दोनों एक साथ रहते हैं इसलिये उनका साहचर्य संबंध है। पर्वतके ग्रहण करने पर नारदका और नारदके ग्रहण करनेपर पर्वतका भी ग्रहण हो जाता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं इसलिये उनका भी साहचर्य संबंध है सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दोनोंमें किसी एकके होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है इसरीतिसे 'पूर्वस्य' इस एक वचन निर्देशसे सम्यग्दर्शनका भी ग्रहण हो सकता है और साहचर्य संबंधसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंका भी। जब यह बात है तब 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके प्राप्त हो जानेपर सम्यक्चारित्र भाज्य है' यह उक्त नियमका अर्थ होने पर 'अज्ञान पूर्वक श्रद्धानका प्रसंग आवेगा' यह दोष न आसकेगा। "यहां यह शंका नहीं हो सकती कि जिसतरह 'पूर्वस्य' इस एक वचन निर्देशसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनोंका ग्रहण है उसीतरह 'उत्तरं' इस एक वचनसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका ग्रहण कर सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जाने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भाज्य है यह अर्थ होगा, और अज्ञानपूर्वक श्रद्धानका प्रसंग ज्योंका त्यों कायम रहेगा ? क्योंकि जिसतरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका साहचर्य संबंध है उसतरह सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका नहीं इसलिये 'उत्तरं' इस एक वचन निर्देशसे उन दोनोंका ग्रहण नहीं हो सकता।" तथा सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्ज्ञानमें किसी एकके प्राप्त हो जाने पर सम्यक्चारित्र—यथाख्यातचारित्र भाज्य है—हो भी सकता है नहीं भी हो सकता यह चारित्रको उत्तर मानने पर अर्थ समझना चाहिये।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकाके प्रथमाध्यायमें दूसरा आह्निक समाप्त हुआ ॥ २ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंको सामान्यरूपसे मोक्षमार्गपना सिद्ध हो चुका अब उन्हींके विशेष स्वरूपके जाननेके लिये यह कहते हैं—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ॥ २ ॥

अर्थ—जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित हैं उनका उसी रूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यक् यह क्या शब्द है ? इस वातका खुलासा करते हैं—

सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः क्यंतो वा ॥ १ ॥

सम्यक् यह शब्द निपात और उसका अर्थ प्रशंसा है इसलिये समस्त उत्तम रूप गति जाति कुल आयु और विज्ञान आदि अभ्युदय एवं मोक्षका प्रधान कारण होनेसे प्रशस्त दर्शन, वह सम्यग्दर्शन है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः' इस वचनसे सम्यक् शब्दका अर्थ इष्ट पदार्थ और तत्त्व है प्रशंसा अर्थ नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। निपात रूप शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं। सम्यक् शब्द जब निपात माना है तब उसका इष्ट पदार्थ और तत्त्व भी अर्थ है और प्रशंसा भी है कोई दोष नहीं। अथवा तत्त्वरूप अर्थमें सम्यक् शब्द यहां निपातित है। तत्त्वं दर्शनं सम्यग्दर्शनं यह सम्यक् शब्द का तत्वरूप अर्थ करनेपर सम्यग्दर्शनकी व्युत्पत्ति है और तत्व शब्दका अर्थ 'अविपरीत अर्थात् जो पदार्थ जिस रूपसे व्यवस्थित है वह पदार्थ' यह है। अथवा सम् उपसर्गपूर्वक अञ्चु धातुसे कि प्रत्यय करनेपर सम्यक् शब्द सिद्ध हुआ है और जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे ज्ञान होना सम्यक् शब्दका अर्थ है। दर्शन शब्दकी सिद्धि किस तरह है ?

करणादिसाधनो दर्शनशब्द उक्तः ॥ २ ॥

अर्थ—कर्ता कर्म करण और भावमें दृश धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर दर्शन शब्द सिद्ध होता है यह व्याख्यान पहिले किया जा चुका है। यदि यह शंका की जाय कि—

दृशेरालोकार्थत्वादभिप्रेतार्थासंप्रत्यय इति चेन्नानेकार्थत्वात् ॥ ३ ॥

दृशि धातुका अर्थ आलोक—देखना है और इंद्रिय एवं मनके द्वारा पदार्थोंका प्राप्त होना देखना कहा जाता है। सम्यग्दर्शन शब्दमें दृशि धातुका अर्थ देखना न लेकर श्रद्धान किया गया है जो कि दृशि धातुका अर्थ हो ही नहीं सकता इसलिये दर्शनका अर्थ श्रद्धान मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं यह व्याकरणसिद्धान्तसिद्ध बात है। दृशि भी धातु है। उसके भी अनेक अर्थ होंगे इसलिये देखना आदि अनेक अर्थोंमें श्रद्धान अर्थ भी उसका होता है, कोई दोष नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि दृशि धातुका प्रसिद्ध अर्थ देखना यहां इष्ट नहीं और अप्रसिद्ध अर्थ श्रद्धान इष्ट है यह कैसे? उसका समाधान यह है कि—

मोक्षकारणप्रकरणाच्छ्रद्धानगतिः ॥ ४ ॥

यहां मोक्षके कारणोंके विचारका प्रकरण चल रहा है। जो पदार्थ जिसरूपसे स्थित हैं उनका उसी रूपसे श्रद्धान करना मोक्षका कारण है, देखना मोक्षका कारण नहीं हो सकता इसलिये प्रकरणसे यहां दृशि धातुका अर्थ श्रद्धान ही इष्ट है, देखना इष्ट नहीं। तत्वार्थश्रद्धानमित्यादि सूत्रमें तत्व शब्दका तात्पर्य यह है—

प्रकृत्यपेक्षत्वात्प्रत्ययस्य भावसामान्यसंप्रत्ययस्तत्त्ववचनात् ॥ ५ ॥

सामान्य अर्थको कहनेवाला तत् यह शब्द सर्वनाम है। तत् शब्दसे त्व प्रत्यय करनेपर तत्व शब्द

की सिद्धि होती है इसलिये यहांपर 'तत्' शब्द प्रकृति है और उससे भाव अर्थमें त्व प्रत्यय किया गया है। तत् शब्द जिस अर्थको कहे वह भाव कहा जाता है। यहां सर्वनाम होनेसे तत् शब्द सभी अर्थोंका प्रतिपादन करता है इसलिये सब अर्थोंका नाम यहां भाव है। तथा तत् शब्द सभी अर्थोंका प्रतिपादन करता है उसकी अपेक्षा यहां भावका अर्थ भावसामान्य है। इस रीतिसे जो शब्द जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे होना तत्व कहा जाता है। उसी सूत्रमें तत्वार्थ शब्दका अर्थ यह है—

तत्वेनार्यत इति तत्वार्थः ॥ ६ ॥

जो जाना जाय—ज्ञानका विषय हो वह अर्थ है और जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित हो उसका उसी रूपसे ज्ञानका विषय होना तत्वार्थ है। इस रीतिसे जिसके द्वारा—जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे श्रद्धान हो वह सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

श्रद्धानशब्दस्य करणादिसाधनत्वं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

दृशि धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर जिस तरह दर्शन शब्दकी सिद्धि ऊपर कह आए हैं उसीप्रकार श्रत् अव्यय पूर्वक धारणार्थक 'धा' धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर श्रद्धान शब्दकी भी सिद्धि समझ लेनी चाहिये।

स त्वात्मपरिणामः ॥ ८ ॥

करण वा कर्ता आदि संज्ञाओंका धारक वह श्रद्धान शब्दका वाच्य अर्थ आत्माका परिणाम है। यदि यह शंका की जाय कि—

वक्ष्यमाणनिर्देशादिसूत्रविवरणात्पुद्गलद्रव्यसंप्रत्यय इति चेन्नात्मपरिणामेऽपि तदुपपत्तेः ॥ ९ ॥

इसी अध्यायमें आगे निर्देशस्वामित्व आदि सूत्रोंका उल्लेख है और निर्देश आदि पुद्गल द्रव्यमें

भी होते हैं यह उनका विवरण किया गया है। सम्यग्दर्शन आदि आत्माके गुण हैं यह तो कहीं नहीं गया इसलिये यहां भी सम्यग्दर्शन आदि पुद्गल द्रव्यके धर्म हैं यह कहा जा सकता है? सो नहीं। सम्यग्दर्शन आदि परिणाम सिवाय आत्माके किसीके भी नहीं, इसलिये वे पुद्गल द्रव्यके परिणाम नहीं कहे जा सकते। तत्वार्थोंका श्रद्धान आत्माके ही होता है इसलिये वह आत्माका ही परिणाम है इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान आदिको भी आत्माके ही परिणाम समझना चाहिये। यदि यह कहा जाय कि—

कर्माभिधायित्वेप्यदोष इति चेन्न मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात् ॥ १० ॥

जिस तरह सम्यक्त्व कर्म पुद्गल है उसी तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको भी पुद्गल माननेमें कोई दोष नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। इहांपर मोक्षके कारणोंका प्रकरण चल रहा है इसलिये मोक्षके कारण आत्माके परिणामोंकी ही विवक्षा है। वे मोक्षके कारण आत्माके परिणाम औपशमिक सम्यग्दर्शन क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि हैं इसलिये उन्हींकी विवक्षा है। सम्यक्त्वकर्म पुद्गलका विकार होनेसे पुद्गलकी पर्याय है इसलिये मोक्षका कारण आत्माका परिणाम न होनेसे उसकी विवक्षा नहीं। कदाचित् यह शंका हो कि—

स्वपरनिमित्तत्वादुत्पादस्येति चेन्नोपकरणमात्रत्वात् ॥ ११ ॥

पदार्थ जितने भी होते हैं उनकी उत्पत्ति परपदार्थोंसे भी होती है और अपनेसे भी होती है जिस तरह घडा मिट्टीका कार्य है उसकी उत्पत्तिमें मिट्टी भी कारण है और परपदार्थ दंड चाक डोरा आदि भी कारण हैं उसीतरह सम्यग्दर्शन भी कार्य है उसकी उत्पत्तिमें स्वयं आत्मा भी कारण है और सम्य-

१—सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमें क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है इसलिये वह भी सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें कारण है।

क्त्व नामका कर्म भी कारण है इस रीतिसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कारण होनेसे सम्यक्त्व नामका कर्म भी मोक्षका कारण है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है क्योंकि सम्यक्त्व नामका कर्म केवल उपकरण है और उपकरण बाह्य कारण कहा जाता है असाधारण कारण नहीं इसलिये सम्यक्त्व कर्म मोक्षका कारण नहीं हो सकता। तथा—

आत्मपरिणामादेव तद्रसघातात् ॥ १२ ॥

दर्शनमोहनीय कर्म आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका घातक है बाह्य और अभ्यंतर कारणोंसे जिस समय आत्माका परिणमन प्रथमोपशमरूप विशुद्धस्वरूपसे होने लगता है उससमय कुछ शक्तिके क्षीण हो जानेपर दर्शनमोहनीयका ही एक हलका खंड सम्यक्त्व कर्म हो जाता है इसरीतिसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण आत्मा ही है क्योंकि अपनी सामर्थ्यसे वही सम्यग्दर्शनरूप परिणमता है किंतु 'दर्शनमोहनीयकी ही पर्याय होनेसे' सम्यक्त्व कर्म मोक्षका कारण नहीं इसलिये सम्यग्दर्शन आदि आत्माके परिणाम ही मोक्षके कारण हो सकते हैं सम्यक्त्व कर्म नहीं। तथा—

अहेयत्वात्स्वधर्मस्य ॥ १३ ॥

जो छूट न सके वह अहेय कहा जाता है। आत्माके अतंरंग परिणाम सम्यक्त्वगुणके रहते नियमसे आत्मा सम्यग्दर्शनस्वरूप परिणत होता है इसलिये वह सम्यक्त्वगुण अहेय है किंतु सम्यक्त्व नामक कर्मके विना भी आत्मा क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिये सम्यक्त्वकर्म हेय है आत्मासे जुदा हो जाता है इसलिये सम्यक्त्वकर्म मोक्षका कारण नहीं हो सकता और भी यह बात है—

१—वास्तवमें तो जितने अंशमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय है उतने अंशमें वह सम्यग्दर्शनका घातक है।

प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

सम्यग्दर्शनके रहते ही वाह्य कारण सम्यक्त्व कर्म उसका उपग्राहक–उपकार करनेवाला होता है इसलिये अंतरंग आत्मिक परिणाम सम्यग्दर्शन प्रधान है तथा अंतरंग परिणाम सम्यग्दर्शनका उपकार करनेवाला और वाह्य कारण सम्यक्त्वकर्म सिवाय सम्यग्दर्शनका वाह्य उपकार करनेके और कुछ उपकार नहीं करता इसलिये अप्रधान है । "प्रधानाप्रधानयोः प्रधानं वलवत्" प्रधान और अप्रधानमें प्रधान ही बलवान है, इस नियमके अनुसार प्रधान ही बलवान् होता है इसलिये सम्यग्दर्शन ही मोक्षका कारण है सम्यक्त्व कर्म नहीं । तथा—

प्रत्यासत्तेः ॥ १५ ॥

आत्माका परिणाम सम्यग्दर्शन ही मोक्षका कारण है क्योंकि सम्यग्दर्शन और आत्माका तादात्म्य संबंध रहनेसे वही प्रत्यासन्न अत्यंत समीप कारण है । सम्यक्त्व कर्म अत्यंत दूर है और उसका एवं आत्माका तादात्म्य संबंध भी नहीं है इसलिये वह मोक्षका कारण नहीं हो सकता इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अहेय प्रधान और प्रत्यासन्न होनेसे आत्माका परिणाम ही मोक्षका कारण है । पुद्गलका परिणाम सम्यक्त्वकर्म मोक्षका कारण नहीं हो सकता । यदि यह शंका हो कि–

अल्पबहुत्वकल्पनाविरोध इति चेन्नोपशमाद्यपेक्षस्य सम्यग्दर्शनत्रयस्यैव तदुपपत्तेः ॥ १६ ॥

सम्यग्दर्शनमें अल्पबहुत्वकी कल्पना रहनेसे कोई सम्यग्दृष्टि अल्प और कोई बहुत ऐसा व्यवहार होता है यदि उसको आत्माका गुण माना जायगा तो सम्यग्दर्शनके अंदर कमीवेशी होगी नहीं, फिर उसमें अल्पबहुत्वकी कल्पना कैसे होगी ? सो ठीक नहीं । औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके

भेदसे सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं इसलिये उपशम आदिके निमित्तसे सम्यग्दृष्टियोंमें कमावेशी होनेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं। सबसे थोडे उपशम सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनसे असंख्यातगुणे क्षायिकसम्यग्दृष्टि हैं। उनसे असंख्यातगुणे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं और क्षायिकसम्यग्दृष्टि सिद्ध अनंतगुणे हैं इसरीतिसे आत्माका परिणाम सम्यग्दर्शन मोक्ष कल्याणका प्रधान कारण है। यदि यह शंका की जाय कि—

तत्वाग्रहणमर्थश्रद्धानमित्यस्तु लघुत्वात् ॥ १७ ॥ न, सर्वार्थप्रसंगात् ॥ १८ ॥

सूत्रमें कम अक्षरोंका रहना विद्वत्ता है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' यहां लाघवसे 'अर्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' यही सूत्र रखना ठीक है। तत्व शब्दका कहना व्यर्थ है? यह ठीक नहीं। अर्थ शब्द सामान्यरूपसे सभी पदार्थोंका कहनेवाला है इसलिये अर्थ शब्दसे सभी पदार्थोंका ग्रहण होने पर जो पदार्थ मिथ्यावादियोंने मिथ्यारूप मान रक्खे हैं उनका श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन कहा जायगा। तत्व शब्दके ग्रहण करने पर यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे होना तत्व कहा जाता है। मिथ्यावादियोंने जो पदार्थ मान रक्खे हैं वे तत्व हो नहीं सकते क्योंकि वे जिसरूपसे माने हैं उनका उसरूपसे होना प्रमाणबाधित है इसलिये मिथ्यावादियोंद्वारा माने गये तत्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन न कहा जाय इस बातकी रक्षाकेलिये सूत्रमें तत्व शब्दका रहना अत्यंत आवश्यक है। और भी यह बात है कि—

संदेहाच्चार्थशब्दकस्यानेकार्थत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ शब्द अनेक अर्थोंका कहनेवाला है जिसतरह "द्रव्यगुणकर्मसु, अर्थात् अर्थ शब्दकी वृत्ति

द्रव्यगुण और कर्ममें है" इस वचनसे अर्थ शब्द द्रव्य गुण और कर्मका प्रतिपादन करता है। कहीं पर अर्थ शब्दका अर्थ 'प्रयोजन है जिसतरह "किमर्थमिहागमनं भवतः किं प्रयोजनमिति" अर्थात् किस अर्थ-प्रयोजनसे आपका इहां आना हुआ ? कहीं पर अर्थ शब्दका धन भी अर्थ है जिसतरह 'अर्थवानयं देवदत्तो धनवानिति' अर्थात् देवदत्त, अर्थ-धनवाला है। कहीं पर अर्थ शब्दका अर्थ वाच्य-अर्थ ही है जिसतरह 'शब्दार्थसंबंध इति' अर्थात् शब्द और अर्थका संबंध। इसप्रकार अर्थ शब्दके अनेक अर्थ रहने पर यह संदेह होगा कि किस अर्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ? इसलिये तत्व शब्दका उल्लेख सूत्रमें किया गया है अर्थात् तत्वरूप अर्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

सर्वानुग्रहाददोष इति चेन्नासदर्थविषयत्वात् ॥ २० ॥

सभी प्रकारके अर्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन माननेमें कोई दोष नहीं क्योंकि सम्यग्दर्शनको मोक्षका कारण माना है यदि सभी प्रकारके अर्थका श्रद्धान सम्यग्दर्शन मान लिया जायगा तो सभी मोक्षके पात्र हो जांयगें। इस रीतिसे सब पर उपकार होगा तथा आपका यह द्वेष भी नहीं कि सभी लोग मोक्षके पात्र न बनें किंतु सभी लोग मोक्ष प्राप्त करें आपकी यह भावना है इसलिये सूत्रमें तत्व शब्द न रहनेपर 'सभी प्रकारके अर्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन माना जायगा' यह जो ऊपर दोष दिया गया है वह मिथ्या है। सो नहीं। 'सब लोग मोक्षके पात्र न बनें' यह कोई हमारा द्वेष नहीं किंतु यदि सभी प्रकारके अर्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन माना जायगा तो जो पदार्थ असत्-मिथ्या हैं उनका भी श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा जायगा तथा वह श्रद्धान मोक्षका कारण न हो सकेगा संसारका ही कारण होगा क्योंकि 'असत् पदार्थोंका श्रद्धान संसारका कारण है यह सिद्धान्त है' इसलिये सब जीव मोक्ष

कल्याण प्राप्त करें—सबका उपकार हो इस कारण अर्थ शब्दका विशेषण तत्व शब्द देना ही चाहिये। यदि यह कहा जाय कि—

अर्थग्रहणादेव तत्सिद्धिरिति चेन्न विपरीतग्रहणदर्शनात् ॥ २१ ॥

जिसका निश्चय किया जाय, वह अर्थ है, अर्थ शब्दका यह अर्थ माननेपर मिथ्यावादियोंने जिन पदार्थोंको मान रक्खा है उनका ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि वे सब असदर्थ हैं इसलिये सूत्रमें केवल अर्थ शब्दके रहते ही जब तत्व और अर्थ दोनों पदार्थोंका अभिप्राय सिद्ध हो जाता है तब तत्व ग्रहण करना व्यर्थ है। सो ठीक नहीं। पित्तके प्रकोपवाले मनुष्यको जिस तरह मीठा भी रस कडवा जान पडता है उसीतरह जिस मनुष्यके मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय है वह पुरुष एकांतरूपसे पदार्थ हैं ही, वा नहीं ही हैं, वा नित्य ही हैं, वा अनित्य ही हैं, वा भिन्नरूप ही हैं, वा अभिन्न रूप ही हैं, इस प्रकार मिथ्या-निश्चय कर बैठता है। इसप्रकार उसका भी एकांतरूपसे निश्चय किया हुआ पदार्थोंका स्वरूप अर्थ कहना पडेगा और उसका श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा जायगा इसलिये उस मिथ्यारूप अर्थका श्रद्धान सम्य-ग्दर्शन न हो इस कारण सूत्रमें तत्व शब्दका ग्रहण है। तत्व शब्दके ग्रहण करनेपर वह दोष नहीं क्योंकि जो जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे होना तत्व है। मिथ्यावादियोंने जो एकांतरूपसे वस्तुका स्वरूप माना है वह वैसा नहीं इसलिये तत्व शब्दसे उसका परिहार हो जाता है।

यदि यह शंका की जाय कि—जो तत्व हैं वे ही पदार्थ हैं तत्व और पदार्थ दोनों एक ही जगह रहनेवाले हैं इसलिये तत्व शब्दसे ही अभीष्टकी सिद्धि हो जायगी अर्थ शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है। सो ठीक नहीं।

अर्थग्रहणमव्यभिचारार्थं ॥ २२ ॥

अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति हो जाना व्यभिचार कहा जाता है व्यभिचार दोषकी निवृत्तिके लिये सूत्रमें अर्थ शब्दका ग्रहण है अर्थात् जो पदार्थ वास्तविक पदार्थ हैं उन्हींका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है मिथ्या-वादियोंद्वारा माने हुए पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन नहीं। इसलिये सूत्रमें अर्थ शब्दका ग्रहण किया गया है। वह व्यभिचार दोष इस प्रकार है—

तत्वमिति श्रद्धानमिति चेदेकांतनिश्चितेऽपि प्रसंगः ॥ २३ ॥

सूत्रमें अर्थ शब्द न ग्रहण करनेपर 'तत्त्वश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' ऐसा सूत्र रहेगा। 'तत्वश्रद्धानं' यह समस्त पद है और समासके द्वारा उसके अनेक अर्थ होते हैं। उनमें 'तत्वमिति श्रद्धानं तत्वश्रद्धानं' अर्थात् तत्वस्वरूप जो श्रद्धान वह तत्वश्रद्धान कहा जाता है यदि यह अर्थ किया जायगा तो एकांत-वादियोंने 'आत्मा कोई पदार्थ नहीं है वा वह सर्वथा नित्य ही है इत्यादि तत्वोंका श्रद्धान कर रक्खा है वह भी सम्यग्दर्शन कहा जायगा इसलिये तत्वस्वरूप जो श्रद्धान वह तत्वश्रद्धान कहा जाता है यह अर्थ नहीं हो सकता। तथा—

तत्त्वस्य श्रद्धानमिति चेद्भावमात्रप्रसंगः ॥ २४ ॥

यदि तत्वस्य श्रद्धानं तत्वश्रद्धानं अर्थात् तत्वका जो श्रद्धान वह तत्वश्रद्धान है यह अर्थ किया जाय तो भी ठीक नहीं। नैयायिक आदिने तत्व शब्दका अर्थ भावसामान्य माना है और वह द्रव्य गुण आदिसे भिन्न द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व आदि स्वरूप है। उसका भी श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहना पडेगा किंतु वह बाधित है क्योंकि द्रव्य गुण-आदिसे भिन्न द्रव्यत्व आदि सामान्य किसी भी प्रमाणसे निश्चित

नहीं है अथवा 'पुरुष एवेदं सर्वं' इत्यादि रूपसे पुरुषाद्वैतवादियोंने तत्व शब्दका अर्थ एक पुरुष ही मान रक्खा है, उसका भी श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहना पडेगा। सो भी ठीक नहीं।' क्रिया कारक कार्य कारण आदिका भेद जो प्रत्यक्ष दीख रहा है उस सबका लोप हो जायगा इसलिये तत्वका जो श्रद्धान वह तत्व-श्रद्धान है यह अर्थ भी तत्वश्रद्धान शब्दका नहीं हो सकता। तथा—

तत्वेन श्रद्धानमिति चेत्कस्य कस्मिन्वेति प्रश्नानिवृत्तिः॥ २५ ॥

यदि 'तत्वेन श्रद्धानं तत्वश्रद्धानं' अर्थात् तत्वके द्वारा जो श्रद्धान होता है वह तत्वश्रद्धान कहा जाता है यदि यह अर्थ किया जायगा तो तत्वके द्वारा श्रद्धान किसके और किसमें होता है? यह प्रश्न नहीं दूर हो सकता। क्योंकि तत्वके द्वारा श्रद्धान आज तक सुननेमें नहीं आया इसलिये तत्वके द्वारा जो श्रद्धान होता है वह तत्वार्थश्रद्धान कहा जाता है यह भी अर्थ बाधित है इस रीतिसे तत्वार्थरूप जो श्रद्धान वह तत्वश्रद्धान है इस अर्थमें भी व्यभिचार है। तत्वका जो श्रद्धान वह तत्वश्रद्धान कहा जाता है इस अर्थके करनेमें भी व्यभिचार है एवं तत्वके द्वारा जो श्रद्धान हो वह तत्वश्रद्धान है इस अर्थमें भी व्यभिचार है इसलिये व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये सूत्रमें अर्थ शब्दका कहना निर्दोष है।

इच्छाश्रद्धानमित्यपरे वर्णयंति॥ २६ ॥ तदयुक्तं मिथ्यादृष्टेरपि प्रसंगात्॥ २७ ॥

किसी वादीका कहना है कि इच्छासे जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है, वह अयुक्त है। क्योंकि मिथ्यादृष्टी लोग 'हम बहुत शास्त्रोंके जानकार हैं' इस बातकी प्रसिद्धिकी इच्छासे अथवा अर्हंतमतके जीतनेकी इच्छासे जैनशास्त्रोंका अध्ययन करते हैं। विना इच्छाके वे अध्ययन नहीं कर सकते। यदि 'इच्छासे जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है' यह माना जायगा तो मिथ्यादृष्टियोंके

भी इच्छा रहनेसे उनके भी सम्यग्दर्शन मानना पडेगा। वह हो नहीं सकता इसलिये 'इच्छासे श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है' यह सम्यग्दर्शनका स्वरूप नहीं मानना चाहिये। तथा—

केवलिनि सम्यक्त्वाभावप्रसंगाच्च ॥ २८ ॥

यदि इच्छाके द्वारा श्रद्धान होना ही सम्यग्दर्शन माना जायगा तो केवली भगवानके सम्यग्दर्शन का अभाव कहना पडेगा क्योंकि इच्छा लोभकी पर्याय है। लोभका दशवें ही गुणस्थानमें नाश होजाने के कारण क्षीणमोह भगवान केवलीके उसका अभाव है। लोभका अभाव रहनेपर इच्छा भी नहीं रह सकती इस रीतिसे इच्छाके न रहनेपर इच्छाके द्वारा होनेवाला सम्यग्दर्शन केवलीके बाधित है। इसलिये जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित हैं उनका उसी रूपसे श्रद्धान जिसके द्वारा हो वही सम्यग्दर्शन है अन्य सम्यग्दर्शनाभास है।

तद्द्विविधं सरागवीतरागविकल्पात् ॥ २९ ॥

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है एक सरागसम्यग्दर्शन दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन। सरागताका कारण सम्यग्दर्शन सरागसम्यग्दर्शन कहा जाता है और वीतरागताका कारण वीतराग सम्यग्दर्शन है। उनमें—

प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्याभिव्यक्तलक्षणं प्रथमं ॥ ३० ॥

प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्य आदिसे प्रगट जाना जाता है वह सरागसम्यक्त्व कहा जाता है। राग द्वेष आदिकी उत्कटताको दबा देना प्रशम है। संसारमें भयभीत रहना संवेग है। सब जीवोंको अपना मित्र समझना अनुकंपा है और जीव अजीव आदि पदार्थोंका जो स्वरूप है उसी

स्वभावसे उनका विश्वास करना आस्तिक्य कहा जाता है जहां पर ये गुण प्रगटरूपसे जान पड़ें उसे सरागसम्यक्त्व समझना चाहिये।

आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्॥ ३१॥

अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, और सम्यग्मिथ्यात्व इन सातों कर्म प्रकृतियोंके सर्वथा नाश हो जाने पर आत्माकी विशुद्धिका होना वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। सराग और वीतराग दोनों सम्यक्त्वोंमें सराग सम्यक्त्वके हो जानेपर वीतराग सम्यक्त्व होता है इसलिये सराग सम्यक्त्व कारण और वीतराग सम्यक्त्व कार्य है तथा वीतराग सम्यक्त्व स्वयं कारण भी है और कार्य भी है।

जीव अजीव आदि पदार्थोंको विषय करनेवाला सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है ? उसका उत्तर यह है—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा॥ ३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति स्वभावसे भी होती है और गुरुके उपदेश आदि कारणोंसे होनेवाले ज्ञानसे भी होती है।

'नि' उपसर्गपूर्वक सृज् धातुसे भावसाधन अर्थमें घञ् प्रत्यय करने पर निसर्ग शब्द सिद्ध होता है। निसर्गका अर्थ स्वभाव है और 'निसर्जनं निसर्गः' यह उसकी व्युत्पत्ति है। अधिपूर्वक 'गम्' धातुसे भावसाधन अर्थमें 'अच्' प्रत्यय करनेपर अधिगम शब्द सिद्ध होता है अधिगम शब्दका अर्थ ज्ञान और 'अधिगमनं

अधिगमः' यह उसकी व्युत्पत्ति है। 'निसर्गात् और अधिगमात्' ये दोनों पद पंचम्यंत हैं और वहां पर कारण अर्थमें पंचमी विभक्तिका निर्देश है। सूत्र सब ही साध्याहार होते हैं। यदि उनमें किसी शब्दकी कमी होती है तो या तो पूर्व सूत्रोंसे उसकी अनुवृत्ति कर ली जाती है अथवा ऊपरसे जोड लिया जाता है। इस सूत्रमें कारण अर्थमें पंचमी विभक्तिका निर्देश माना है और वह कारण उत्पत्तिरूप क्रियाका इष्ट है इस-लिये यहां 'उत्पद्यते' क्रिया ऊपरसे जोड ली गई है। इस रीतिसे कारण अर्थमें पंचमी मानकर और 'उत्पद्यते' इस क्रियाको सूत्रमें ऊपरसे जोड कर 'वह सम्यग्दर्शन निसर्ग–स्वभाव और अधिगम परोप-देशजन्य ज्ञान इन दो कारणोंसे उत्पन्न होता है' यह 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' इस सूत्रका स्पष्ट अर्थ है। यहां पर किसीकी शंका है कि–

सम्यग्दर्शनद्वैविध्यकल्पनानुपपत्तिः, अनुपलब्धतत्त्वस्य श्रद्धानाभावात् रसायनवत् ॥ १ ॥

जिस रसायन–औषधका फल अत्यंत परोक्ष है। इसके खानेसे मुझे क्या फल मिलेगा ? रोगी अपने आप उसे जान नहीं सकता। उस रसायन पर जिसतरह उसे विश्वास नहीं होता उसीतरह जिसको जीव अजीव आदि पदार्थोंके स्वरूपकी जरा भी जानकारी नहीं, वह भी विना किसीके समझाये स्वयं उनका श्रद्धान नहीं कर सकता इसलिये विना किसीके समझाये जब स्वभावसे ही जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान नहीं हो सकता तब उपदेश आदि निमित्तके विना स्वभावसे ही होनेवाला निसर्गज सम्यग्दर्शन सिद्ध नहीं हो सकता इसरीतिसे निसर्गज और अधिगमजके भेदसे जो सम्यग्दर्शनके दो भेद माने हैं यह ठीक नहीं। यदि यहां पर यह उत्तर दिया जाय कि–

शूद्रवेदभक्तिवदिति चेन्न वैषम्यात् ॥ २ ॥

शूद्र, वेदोंका पठन पाठन नहीं कर सकता वेदानुयायियोंका यह सिद्धांत है इसरीतिसे वेदोंका अर्थ न जानकर भी शूद्र जिसप्रकार उन पर परम श्रद्धान भक्ति रखता है उसीप्रकार जिसे जीव अजीव आदि पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान भी नहीं है तो भी उसका श्रद्धान उनमें कर सकता है ? सो ठीक नहीं । शूद्र महाभारत आदि पुराणोंसे वेदोंका महत्व जानता है तथा जो पुरुष वेदोंके जानकार हैं उनके वचनोंपर चलता है इसलिये उसकी जो वेदोंपर भक्ति है वह महाभारत आदि वचन और वेदज्ञोंके वचनोंसे होनेके कारण परनिमित्तसे है। स्वभावसे नहीं । निसर्गज सम्यग्दर्शनमें परके निमित्तके विना स्वभावसे श्रद्धान इष्ट है इसलिये शूद्रकी वेदभक्तिका उदाहरण देना विषम पडजाता है, समान नहीं पडता । यदि शूद्रके भी स्वभावसे ही वेदोंमें भक्ति सिद्ध होती तब सम उदाहरण माना जाता और उससे निसर्गज सम्यग्दर्शनकी सिद्धि कर ली जाती सो हुआ नहीं, इसलिये निसर्गज सम्यग्दर्शन सिद्ध नहीं हो सकता। अथवा—

इहां पर सम्यक्त्वका प्रकरण चल रहा है इसलिये जीव अजीव आदि पदार्थोंका यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन ग्रहण किया जा सकता है। वेदोंपर जो शूद्रका श्रद्धान है वह यथार्थ श्रद्धान नहीं इसलिये भी शूद्रकी भक्तिका उदाहरण यहां विषम उदाहरण हो जाता है । दृष्टांतके विषम रहने पर दार्ष्टांतकी बात सिद्ध हो नहीं सकती यह नियम है इसलिये शूद्रकी वेदभक्तिके दृष्टांतसे दार्ष्टांत निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं सिद्ध हो सकता । फिर भी यदि यह कहा जाय कि—

मणिग्रहणवदिति चेन्न प्रत्यक्षेणोपलब्धिसद्भावात् ॥ ३ ॥

मणिको न भी जाननेवाले मनुष्यको जिससमय मणि मिल जाती है तो वह तुरंत उठा लेता है और उसके मिल जानेसे खुशी आदि जो फल होने चाहिये वे भी उसमें दीख पडते हैं उसीप्रकार जीव

अजीव आदि पदार्थोंकी न भी जानकारी हो तो भी उनका श्रद्धान हो सकता है और यथार्थ श्रद्धानसे जो फल होना चाहिये वह भी हो सकता है ? इसतरह निसर्गज सम्यग्दर्शनके होनेमें कोई वाधा नहीं है सो ठीक नहीं। मणिका दीखना प्रत्यक्ष है । अत्यंत परोक्ष नहीं । इसालिये प्रत्यक्षसे देखकर वह मणिको ग्रहण करता है और मणिसे विपरीत पदार्थको ग्रहण नहीं करता अथवा मणिके विपर्यय विशेषको तो वह नहीं जानता है । इसरीतिसे मणिका स्वरूप न भी जानने पर प्रत्यक्षमें दीखनेके कारण उसका ग्रहण हो सकता है परन्तु जीव अजीव आदि पदार्थोंका स्वरूप अत्यन्त परोक्ष—सूक्ष्म है इसालिये विना परकी सहायताके उनका श्रद्धान नहीं किया जा सकता। जब विना परके निमित्तके—स्वभावसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता तब सम्यग्दर्शनका निसर्गज सम्यग्दर्शन भेद मानना व्यर्थ है। यदि यह कहा जायगा कि उपदेश वा शास्त्रके द्वारा जीवादि पदार्थोंका सामान्य ज्ञान हो जानेपर उनका यथार्थ श्रद्धान हो जायगा और वही निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जायगा कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। यदि उपदेश वा शास्त्र आदि परनिमित्तोंसे वह श्रद्धान माना जायगा तो वह अधिगमज सम्यग्दर्शन ही है निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं कहा जा सकता। तथा—

तापप्रकाशवद्युगपदुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च ॥ ४ ॥

यदि सम्यग्दर्शनके पहिले विना किसी निमित्तके सम्यग्दर्शन हो, तब तो वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है सो तो माना नहीं किंतु जिसप्रकार सूर्यसे उत्ताप और प्रकाशकी एक साथ उत्पत्ति होती है उसीप्रकार जिससमय आत्मामें सम्यग्दर्शन पर्याय प्रकट होती है उसी समय मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान सम्यग्ज्ञानस्वरूप हो आत्मामें प्रकट हो जाते हैं इस रीतिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी

प्रकटताका काल जब एक ही है तब सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यग्दर्शनकी प्रकटता होनेके कारण अधिगमज सम्यग्दर्शन सिद्ध हो सकता है निसर्गज नहीं। इसलिये निसर्गज सम्यग्दर्शन कोई भी चीज नहीं इन सब शंकाओंका समाधान वार्तिककार करते हैं—

उभयत्र तुल्येऽतरंगहेतौ बाह्योपदेशापेक्षानपेक्षभेदाद् भेदः ॥ ५ ॥

दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम क्षय और क्षयोपशम तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें अंतरंग कारण है और उपदेश आदि बाह्य कारण हैं। चाहैं निसर्गज हो चाहैं अधिगमज सम्यग्दर्शन हो अंतरंग कारण दोनोंमें ही बराबर हैं। इस रीतिसे दर्शनमोहके उपशम आदि अंतरंग कारणोंके होनेपर जहां बाह्य उपदेशके विना ही जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान हो जाय वह तो निसर्गज सम्यग्दर्शन है और उपदेश आदि परकी सहायतासे जहां जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान होवे वह अधिगमज सम्यग्दर्शन है। और भी यह बात है कि—

अपरोपदेशपूर्वके निसर्गाभिप्रायो लोकवत् ॥ ६ ॥

लोकमें यह बात प्रत्यक्ष दीख पडती है कि जो सिंह होता है उसकी स्वभावसे ही क्रूर प्रकृति होती है तथा अष्टापदकी शूर और भेडियाकी कायर होती है एवं सर्प आदि स्वभावसे ही पवनाहारी कहे जाते हैं। सिंह आदि जीवोंकी क्रूर आदि प्रकृतियां आकस्मिक—विना कारणके नहीं होतीं क्योंकि उनके होनेमें कर्म कारण है यथायोग्य अपने कर्मानुसार सिंह आदि योनियोंमें जन्म लेनेसे वैसे स्वभावोंको धारण करना पडता है इसलिये जिस तरह सिंह आदिकी क्रूर आदि प्रकृतियां परके उपदेशके विना ही होनेके कारण निसर्गज—स्वाभाविक हैं उसीप्रकार उपदेश आदि बाह्य कारणोंकी सहायताके विना

ही जहां सम्यग्दर्शन होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा जाता है। यदि यहांपर कोई यह शंका करे कि—

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेरधिगमसम्यक्त्वाभावः॥ ७ ॥ न विवक्षितापरिज्ञानात् ॥ ८ ॥

जिस जीवका मोक्षकाल केवली भगवानके ज्ञानके द्वारा निश्चित है, उस कालसे पहिले ही यदि अधिगमज सम्यग्दर्शनसे मोक्ष प्राप्त हो जाय तब तो अधिगमज सम्यग्दर्शन मानना फलप्रद है। सो तो है नहीं। किंतु जो काल निश्चित हो चुका है उसीमें जाकर मोक्षकी प्राप्ति होती है और वहांपर निसर्गज सम्यग्दर्शन ही मोक्षकी प्राप्तिमें कारण होता है अर्थात् यदि नियत कालमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है तब उसी समय आत्मामें सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा जब कि मोक्षगमन काल निकट होगा इसलिये निसर्गज सम्यग्दर्शनकी सिद्धि होती है यदि अधिगमज सम्यग्दर्शन ही कारण माना जाय तो उपदेश द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त कराकर किसी जीवको नियत कालसे पहले भी मोक्ष प्राप्त कराई जा सकती है। वह तो होती नहीं इसलिये जब काल लब्धिसे ही भव्यको मोक्षकी प्राप्ति होती है तब अधिगमज सम्यग्दर्शनके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं? सो ठीक नहीं। हमें जो कहना इष्ट है शंका करनेवालेने उसपर ध्यान ही नहीं दिया। हमें यह कहना इष्ट है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है तथा तीनोंमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति कैसे होती है? यह वात बतलानेके लिये 'वह सम्यग्दर्शन निसर्ग—स्वभाव और अधिगम—उपदेश आदिसे होता है' यह कहा गया है यदि ज्ञानचारित्रके विना केवल निसर्गजसम्यग्दर्शनसे वा केवल अधिगमजसम्यग्दर्शनसे मोक्षकी प्राप्ति इष्ट होती तब तो 'जब भव्यको काललब्धिके ही द्वारा मोक्ष प्राप्त हो जायगी तब अधिगमज सम्यग्दर्शन

मानना विफल है' यह दोष आता सो तो माना नहीं किंतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र जिस समय विशुद्धरूपसे आत्मामें प्रकट होंगे उसी समय मोक्ष होगी यह माना है इसलिये काललब्धि से मोक्षकी प्राप्ति स्वीकार कर अधिगमज सम्यग्दर्शन विफल नहीं कहा जा सक्ता। अथवा—

कुरुक्षेत्रमें कहीं कहीं पर पुरुषके प्रयत्नरूप बाह्य कारणके विना भी स्वभावसे ही सोना उत्पन्न हो जाता है इसलिये जिसतरह वह निसर्गज कहा जाता है उसीप्रकार पुरुषके उपदेशसे उत्पन्न होनेवाले जीव आदि पदार्थोंके ज्ञानरूप बाह्य कारणके विना ही जहां स्वभावसे ही सम्यग्दर्शन हो वह निसर्गज सम्यग्दर्शन है और जहांपर सोनेके उत्पन्न करनेकी तरकीबको जाननेवाले पुरुषके प्रयत्नसे सुवर्णपाषाण से सोना निकाला जाता है और वह प्रयत्नजनित कहा जाता है उसीप्रकार जीव आदि पदार्थोंके स्वरूपके जानकार पुरुषके उपदेशसे उनका स्वरूप जान लेने पर जहां श्रद्धान होता है वह अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस रीतिसे सम्यग्दर्शनके निसर्गज और अधिगमज दोनों भेद स्वाभाविक हैं एकका भी अभाव नहीं कहा जा सकता इसलिये 'जो कहना इष्ट था उसे न समझकर शंकाकारकी जो यह शंका थी कि काललब्धिसे ही सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जायगा अधिगमज सम्यग्दर्शन मानना विफल है' वह व्यर्थ थी। तथा यह भी बात है कि—

कालानियमाच्च निर्जरायाः॥ ९॥

समस्त कर्मोंकी निर्जरा हो जानेपर जिस मोक्षकी प्राप्ति होती है उस मोक्षके कालका कोई नियम नहीं क्योंकि बहुतसे जीव संख्यातकालमें ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं बहुतसे असंख्यात काल तो बहुतसे अनन्तकालमें जाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं तथा बहुतसे जीव ऐसे भी हैं जिन्हें अनन्तानन्तकाल बीत

जानेपर भी मोक्ष नहीं प्राप्त होती इसलिये भव्यजीवोंको काललब्धिके द्वारा मोक्ष प्राप्त हो जायगी। अधिगमज सम्यग्दर्शनकी कोई आवश्यकता नहीं यह वात मिथ्या है। और भी यह वात है कि—

चोदनानुपपत्तेश्च ॥ १० ॥

जो केवल ज्ञानहीसे मोक्ष माननेवाले हैं वा केवल चारित्रहीसे वा ज्ञान चारित्र दोनोंसे अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं उनके शास्त्रमें यह कहीं नहीं माना गया कि भव्यको काललब्धिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये काल मोक्षकी प्राप्तिमें कारण नहीं हो सकता यदि समस्त मतके अनुयायी मोक्षकी प्राप्तिमें कालहीको कारण मानेंगे तो प्रत्यक्ष वा अनुमानसे मोक्षके कारण निश्चित हैं वे सब विरुद्ध हो जांयगे इसलिये मोक्षकी प्राप्तिमें काल किसीतरह कारण नहीं हो सकता।

तदित्यनंतरनिर्देशार्थं ॥ ११ ॥ इतरथा हि मार्गसंबंधप्रसंगः ॥ १२ ॥

'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' इस सूत्रमें जो तत् शब्दका उल्लेख किया गया है वह थोडे ही पीछे वर्णन किये गये सम्यग्दर्शनके ग्रहणकेलिये है अर्थात् निसर्ग और अधिगमसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है अन्य पदार्थ नहीं। यदि यहां पर यह कहा जाय कि समीपमें सम्यग्दर्शनका ही वर्णन है इसलिये सूत्रमें तत्शब्दके विना भी सम्यग्दर्शनहीका ग्रहण होगा अन्य पदार्थका नहीं, तत् शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ ही है। सो ठीक नहीं। यदि उक्त सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण नहीं किया जायगा तो पासमें मोक्षमार्गका भी वर्णन हो चुका है उसका भी इस सूत्रमें संबंध हो जायगा तब वह मोक्षमार्ग निसर्गमात्र स्वभावसे ही प्राप्त होता है यह अर्थ होगा तथा 'हम वहुत शास्त्रोंके विद्वान् हैं' इस बातकी प्रसिद्धिकी

अजीवके साथ संबंध रहते ही संसारकी सत्ता है इस रीतिसे अजीव द्रव्यका भी जुदा उल्लेख करना सार्थक है। जीव और अजीवके संबंध होनेपर जब संसारका होना निश्चित है तब उसके प्रधान कारण आस्रव और बंध हैं इसलिये उनका भी पृथक् कहना सार्थक है तथा जीव अजीवके आपसी संबंधके नष्ट हो जानेपर मोक्ष होती है और उस मोक्षकी प्राप्तिमें संवर और निर्जरा कारण हैं इसलिये उनका भी पृथक् रूपसे उल्लेख करना परमावश्यक है इसप्रकार जीव आदि समस्त तत्त्वोंके भले प्रकार जाननेपर मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये सातों तत्त्वोंका जो पृथक् पृथक् रूपसे उल्लेख किया है वह ठीक ही है। यहां पर यह न समझना चाहिये कि सामान्यसे ही जब इष्टसिद्धि हो जाती है तब विशेषको जुदा कहना लाभदायक नहीं क्योंकि सामान्यके कहनेपर विशेषका ग्रहण हो जानेपर भी जो उसका जुदा कथन किया जाता है वह किसी खास प्रयोजनके लिये होता है जिसतरह 'क्षत्रिया आयाताः शूरवर्मापीति' अर्थात् सब क्षत्री आगए और शूरवर्मा भी आ गया यहांपर शूरवर्माको जुदा कहना उसकी प्रधानता प्रगट करनेके लिये है उसीप्रकार यद्यपि आस्रव आदिका ग्रहण जीव और अजीवके कहनेसे ही हो जाता है तो भी आस्रव और बंध संसारके प्रधान कारण एवं संवर और निर्जरा मोक्षके प्रधान कारण हैं यह खास प्रयोजन प्रगट करनेके लिये उनका पृथक् ग्रहण है। इसलिये आस्रव आदिका पृथक्रूपसे उल्लेख करना व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। तथा—

उभयथापि चोदनानुपपत्तिः ॥ ४ ॥

जो मनुष्य जीव और अजीवमें समावेश होनेके कारण आस्रव आदिका जुदा कथन करना निरर्थक समझता है उससे यह पूछना है कि—जीव और अजीवसे आस्रव आदि भिन्नरूपसे उपलब्ध हैं कि

जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं ॥ ४ ॥

अर्थ—जीव १ अजीव २ आस्रव ३ बंध ४ संवर ५ निर्जरा ६ और मोक्ष ७ ये सात तत्व हैं।

यदि कोई यहां पर यह शंका करे कि जीव अजीव आदि पदार्थ द्रव्यके ही भेद हैं इसलिये केवल द्रव्यका ही उल्लेख करना चाहिये जीव अजीव आदिका भिन्न भिन्न रूपसे नाम लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं उसका वार्तिककार समाधान देते हैं—

एकाद्यनंतविकल्पोपपत्तौ विनेयाशयवशान्मध्यमाभिधानं ॥ १ ॥

पदार्थोंके एक दो तीन संख्येय असंख्येय और अनंत भेद हैं। उनमें एक पदार्थ द्रव्य है क्योंकि 'एकं द्रव्यमनंतपर्यायमिति' अनंत पर्यायोंका धारक द्रव्य पदार्थ एक है ऐसा वचन है। दो पदार्थ जीव अजीव हैं। तीन, पदार्थ १ शब्द २ और ज्ञान ३ हैं तथा जितने वचनोंके भेद हैं उतने ही पदार्थोंके भेद हैं इसप्रकार वचन भेदोंकी अपेक्षा पदार्थोंके असंख्याते भेद हैं एवं ज्ञान और ज्ञेयकी अपेक्षा अनंते भेद हैं। पदार्थोंके भेदोंका जो निरूपण होता है वह शिष्योंकी बुद्धिको लक्ष्य कर होता है। यदि संक्षेपरूपसे ही उनका वर्णन किया जाय तो जो शिष्य विद्वान हैं वे तो समझ सकते हैं अल्पज्ञानी नहीं समझ सकते। यदि अत्यंत विस्तारसे वर्णन किया जाय तो वहुत कालके वीत जानेपर भी पदार्थोंके भेदोंका ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि पदार्थोंके अनंते भेद हो सकते हैं और उनके समझनेमें वहुतसा काल लग जासकता

१ अनन्त पर्यायोंवाला द्रव्य सामान्यरूपसे एक ही है, क्योंकि द्रव्य सामान्यमें सभी द्रव्य आ जाते हैं, पदार्थको यदि दो कोटियोंमें वांटा जाय तो जीव, अजीव, इन दो में सब पदार्थ आ जाते हैं, यदि उन्हें तीन भेदोंमें वांटा जाय तो शब्द, वाचक और उसका बोध ये तीनों भेद हो जाते हैं।

है। इसलिये विद्वान् और अल्पज्ञानी दोनों समझ लें। यहां पर जीव अजीव आदि पदार्थोंका क्रमसे मध्यमरूपसे वर्णन किया गया है इसरीतिसे 'सब पदार्थ द्रव्यके ही भेद होते हैं इसलिये जीव अजीव आदि भेद न मानना चाहिये' यह कहना निर्मूल है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

जीवाजीवयोरन्यतरत्रैवांतर्भावादास्रवादीनामनुपदेशः ॥ २ ॥

न वा परस्परोपश्लेषे संसारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात् ॥ ३ ॥

आस्रव संवर आदि जीवादिरूप हैं कि अजीव स्वरूप? यदि जीव स्वरूप माने जांयगे तो जीव के कहनेसे ही उनका ग्रहण हो जायगा उनका जुदा कथन करना व्यर्थ है। यदि अजीवस्वरूप माने जांयगे तो भी उनका पृथक्‌रूपसे वर्णन करना व्यर्थ है क्योंकि अजीवके कहनेसे उनका भी ग्रहण हो जायगा इसलिये जीव और अजीव दो ही तत्त्व मानना ठीक है आस्रव आदिका उल्लेख करना निरर्थक है? सो ठीक नहीं। जीव और अजीव तत्त्वोंके आपसमें सम्बन्ध रहनेपर संसारकी प्रवृत्ति और संबंध छूट जानेपर मोक्ष प्राप्त होती है। संसारकी प्रवृत्तिमें आस्रव और बंध प्रधान कारण हैं। मोक्षमें संवर और निर्जरा प्रधान कारण हैं इसलिये आस्रव आदि तत्त्वोंका जीव और अजीवमें अंतर्भाव होने पर भी संसार और मोक्षमें प्रधान कारण होनेसे उनका जुदा जुदा उल्लेख किया गया है। जीव अजीव आदि सातों तत्त्वोंका पृथक् पृथक् रूपसे उल्लेख इसप्रकार सार्थक है—यहां मोक्षमार्गका प्रकरण चल रहा है। मोक्षमार्गका फल मोक्ष है इसलिये मोक्षका जुदा उल्लेख अवश्य करना चाहिये। मोक्षकी प्राप्ति जीवके ही होती है इसलिये जीवका भी जुदा उल्लेख करना आवश्यक है। मोक्षका अर्थ छूटना—संसार का छूटना है वह छूटना संसारके रहते ही होता है इसलिये मोक्षकी प्राप्ति संसारपूर्वक है। जीवका

अजीवके साथ संबंध रहते ही संसारकी सत्ता है इस रीतिसे अजीव द्रव्यका भी जुदा उल्लेख करना सार्थक है। जीव और अजीवके संबंध होनेपर जब संसारका होना निश्चित है तब उसके प्रधान कारण आस्रव और बंध हैं इसलिये उनका भी पृथक् कहना सार्थक है तथा जीव अजीवके आपसी संबंधके नष्ट हो जानेपर मोक्ष होती है और उस मोक्षकी प्राप्तिमें संवर और निर्जरा कारण हैं इसलिये उनका भी पृथक् रूपसे उल्लेख करना परमावश्यक है इसप्रकार जीव आदि समस्त तत्त्वोंके भले प्रकार जाननेपर मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये सातों तत्त्वोंका जो पृथक् पृथक् रूपसे उल्लेख किया है वह ठीक ही है। यहां पर यह न समझना चाहिये कि सामान्यसे ही जब इष्टसिद्धि हो जाती है तब विशेषको जुदा कहना लाभदायक नहीं क्योंकि सामान्यके कहनेपर विशेषका ग्रहण हो जानेपर भी जो उसका जुदा कथन किया जाता है वह किसी खास प्रयोजनके लिये होता है जिसतरह 'क्षत्रिया आयाताः शूरवर्मापीति' अर्थात् सब क्षत्री आगए और शूरवर्मा भी आ गया इहांपर शूरवर्माको जुदा कहना उसकी प्रधानता प्रगट करनेके लिये है उसीप्रकार यद्यपि आस्रव आदिका ग्रहण जीव और अजीवके कहनेसे ही हो जाता है तो भी आस्रव और बंध संसारके प्रधान कारण एवं संवर और निर्जरा मोक्षके प्रधान कारण हैं यह खास प्रयोजन प्रगट करनेके लिये उनका पृथक् ग्रहण है। इसलिये आस्रव आदिका पृथक्‌रूपसे उल्लेख करना व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। तथा—

उभयथापि चोदनानुपपत्तिः ॥ ४ ॥

जो मनुष्य जीव और अजीवमें समावेश होनेके कारण आस्रव आदिका जुदा कथन करना निरर्थक समझता है उससे यह पूछना है कि—जीव और अजीवसे आस्रव आदि भिन्नरूपसे उपलब्ध हैं कि

अनुपलब्ध ? यदि भिन्नरूपसे उपलब्ध माने जांयगे तब आस्रव आदिका भिन्नपना ही सिद्ध होगया। जीव और अजीवमें उनके समावेशकी शंका करना व्यर्थ है। यदि अनुपलब्ध हैं तब समावेशका प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि जो पदार्थ उपलब्ध ही नहीं—आजतक किसीने देखा सुना नहीं उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तथा यह भी पूछना आवश्यक है कि—जिन आस्रव आदि पदार्थों-को जीव और अजीवमें समावेश करनेकी शंका की जाती है वे आस्रव आदि पदार्थ जीव और अजीव से भिन्न, सिद्ध हैं कि असिद्ध ? यदि भिन्न सिद्ध हैं तब उनका जीव और अजीवसे भिन्नपना ही सिद्ध होगया, समावेशकी शंका करना निर्मूल है। यदि असिद्ध हैं तो जिसतरह गधेके सींग असिद्ध—असत होनेके कारण किसी पदार्थमें उनके समावेशकी कल्पना नहीं की जाती, उसीतरह आस्रव आदि भी असिद्ध होनेके कारण जीव और अजीवमें उनके समावेशकी भी कल्पना नहीं की जा सकती।

विशेष—उपलब्धका अर्थ प्राप्त और अनुपलब्धका अर्थ अप्राप्त है। कार्माण जातिकी वर्गणा वा परमाणु आदि बहुतसे ऐसे पदार्थ हैं जो अप्राप्त हैं। यदि 'अप्राप्त पदार्थोंके विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकेगा' तो कार्माण जाति वर्गणा वा परमाणु आदिके विषयमें भी कुछ भी न कहा जा सकेगा। उनका स्वरूप ही कुछ न हो सकेगा क्योंकि ये भी अप्राप्त हैं इसीलिये वार्तिककारने उपलब्ध और अनु-पलब्ध पक्षको छोडकर सिद्ध और असिद्ध पक्षका उल्लेख किया है। सिद्धका अर्थ सत् और असिद्धका अर्थ असत् है। असत् कहनेमें कोई दोष नहीं क्योंकि कार्माण जातिकी वर्गणा वा परमाणु आदि अप्राप्त तो हैं पर असत् नहीं। तथा—

अनेकांताच्च ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस समय पर्यायार्थिक नयको गौण और द्रव्यार्थिक नयको प्रधान माना जायगा उससमय आस्रव बंध आदि भिन्न भिन्न पर्यायोंकी तो विवक्षा होगी नहीं किंतु अनादिकालीन पारिणामिक जीव और अजीव द्रव्यकी ही विवक्षा रहेगी इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आस्रव आदिका जीव और अजीवमें समावेश कहा जा सकेगा क्योंकि आस्रव बंध आदि पदार्थ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जीव अजीव स्वरूप ही हैं। तथा जिस समय द्रव्यार्थिक नयको गौण और पर्यायार्थिक नयको प्रधान माना जायगा उस समय अनादि पारिणामिक जीव अजीव द्रव्यकी विवक्षा तो होगी नहीं किंतु आस्रव बंध आदि पर्यायोंकी ही विवक्षा होगी इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा आस्रव आदिका जीव और अजीवमें समावेश नहीं हो सकेगा क्योंकि आस्रव बंध आदि पर्यायें पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जीव अजीवसे भिन्न हैं इस रीतिसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आस्रव आदिका जीव और अजीवमें समावेश और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा समावेशका अभाव इसप्रकार अनेकांतसे जब आस्रव बंध आदिका जीव और अजीवमें समावेश और असमावेश दोनों सिद्ध हैं तब 'जीव और अजीवमें ही आस्रव आदि का समावेश होनेके कारण उनका जुदा कथन करना व्यर्थ है' यह वात युक्त नहीं।

तेषां निर्वचनलक्षणक्रमहेत्वभिधानं ॥ ६॥

जीव अजीव आदि तत्त्वोंका भिन्न भिन्न कहनेका प्रयोजन बतला दिया गया अब उनका व्युत्पत्ति, लक्षण और जीवके बाद अजीव, अजीवके बाद आस्रव इसप्रकारके क्रमके कहनेका कारण, बतलाया जाता है। वह इसप्रकार है—

त्रिकालविषयजीवनानुभवनाज्जीवः ॥ ७॥

अर्थ—जिनके आधारपर जीवोंकी सत्ता निर्भर हो वे प्राण कहे जाते हैं। वे प्राण द्रव्यप्राण और भावप्राणके भेदसे दो तरहके हैं। भावप्राण—ज्ञान दर्शन आदि चैतन्यस्वरूप अनेक प्रकार हैं और द्रव्यप्राण-स्पर्शन रसना घ्राण नेत्र और श्रोत्र ये पांच इंद्रियां, मनोबल, वचनबल, कायबल ये तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश हैं। इनमें एकेंद्रियके ४ प्राण, द्वींद्रियके ६, त्रींद्रियके ७, चतुरिंद्रियके ८, असैनी पंचेंद्रियके ९ और सैनी पंचेंद्रियके १० होते हैं। एकेंद्रिय आदि जातिके अनुसार दश प्राणोंमें हीन अधिकरूपसे पाये हुए प्राणोंके आधारपर अपनी जीवन पर्यायका अनुभव करता हुआ जो जीवे, जीया और जीवेगा, वह जीव कहा जाता है। यद्यपि वर्तमानमें ये प्राण सिद्धोंमें नहीं तथापि पहिले थे इसलिये भूतपूर्व[2] नैगमनयकी अपेक्षा सिद्ध भी जीव हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि भूतपूर्व नैगमकी अपेक्षा सिद्धोंमें दश प्राण मान भी लिये जांय तो भी वर्तमानमें तो उनके वे हैं नहीं इसलिये उन्हें वर्तमानमें जीव नहीं कहा जा सकता सो ठीक नहीं। यद्यपि उनके द्रव्य प्राणोंका सिद्ध अवस्थामें अभाव है तथापि ज्ञान दर्शन रूप भाव प्राण उनके मौजूद हैं और प्रतिसमय वे उनका अनुभव किया करते हैं इसलिये भावप्राणोंकी अपेक्षा वर्तमानमें भी वे जीव हैं अथवा 'जीव' यह रूढि शब्द है। रूढि शब्दका जो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है वह केवल शब्दसिद्धिकेलिये होता है हर एक अवस्थामें वह अर्थ रहे, यह कोई नियम नहीं जिसतरह 'गच्छतीति गौः' जो गमन करे वह गाय है यहां यद्यपि व्युत्पत्तिलभ्य 'गमन करना' अर्थ है तथापि गायको सदा गमन ही करना चाहिये तभी वह गाय कही जायगी अन्यथा

१ तिकाले चदु पाणा इंदिय बलमाउ आणपाणो य। ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥ द्रव्यसंग्रह।
२ बीती बातको वर्तमानमें मान लेना भूतपूर्व नैगमनय है।

नहीं, यह कोई नियम नहीं किसी एक समय गमन करने पर भी हर एक अवस्थामें वह गाय कही जाती है अथवा बैठी खडी लेटी हुई अवस्थामें भी 'गाय' ऐसा व्यवहार होता है वह न हो सकेगा उसी तरह 'जीवतीति जीवः' जो जीवै वह जीव है यहां व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्राणोंसे जीना है वहां पर सदा प्राणोंसे जीना ही चाहिये यह कोई नियम नहीं किंतु किसीसमय प्राणोंसे जीनेपर भी जीव कहा जा सकता है। सिद्ध यद्यपि इससमय नहीं जीते तथापि सिद्धपर्यायसे पहिले जीते थे इसलिये उन्हें जीव कहना बाधित नहीं कहा जा सकता।

तद्विपर्ययोऽजीवः ॥ ८ ॥

जो किसी भी प्राणसे न जीवे। कहे हुए प्राणोंमें जिसमें किसी भी प्राणका संभव न हो सके वह अजीव है। अर्थात् जड–अचेतनको अजीव कहा जाता है।

आस्रवत्यनेनास्रवणमात्रं वास्रवः ॥ ९ ॥

जिसके द्वारा कर्म आवें वा जो कर्मोंका आना स्वरूप हो वह आस्रव है।

बध्यतेऽनेन बंधनमात्रं वा बंधः ॥ १० ॥

जिसके द्वारा आत्मा बांधा जाय परतंत्र किया जाय अथवा परतंत्र करना–बंध होना वह बंध है।

संव्रियतेऽनेन संवरणमात्रं वा संवरः ॥ ११ ॥

जिसके द्वारा कर्मोंका आगमन रोका जाय अथवा कर्मोंके आगमनका रुकना ही संवर है।

१ निश्चयरूपसे चेतना ही प्राण है वह सब जीवोंमें सदा त्रिकाल पाई जाती है, सिद्धोंमें भी वह सदा रहती है इसलिये वे भी सदा जीवनगुण विशिष्ट रहते हैं।

निर्जीर्यंते यया निर्जरणमात्रं वा निर्जरा ॥ १२ ॥

जिसके द्वारा कर्मोंका एकदेश रूपसे क्षय हो अथवा जो एकदेशरूपसे कर्मोंका क्षय होना है वही निर्जरा है।

मोक्ष्यते येन मोक्षणमात्रं वा मोक्षः ॥ १३ ॥

जिसके द्वारा सर्वथा कर्मोंका नाश हो अथवा जो समस्त कर्मोंका नाश होना है वही मोक्षतत्त्व कहा जाता है। इसप्रकार 'जीवश्च अजीवश्च आस्रवश्च बंधश्च संवरश्च निर्जरा च मोक्षश्च जीवाजीवास्रवबंध-संवरनिर्जरामोक्षाः' यह इतरेतरयोग द्वंदसमास है। परस्पर सापेक्ष पदार्थोंका जो आपसमें संबंध होना है वह इतरेतरयोग है। इस रीतिसे जीव अजीव आदिकी व्युत्पत्तिका कथन कर दिया गया अब उनका लक्षण कहा जाता है।

चेतनास्वभावत्वात्तद्विकल्पलक्षणो जीवः ॥ १४ ॥

जीवका स्वभाव चेतना है। अपने असाधारण लक्षण चेतनाहीसे वह अजीव आदि पदार्थोंसे भिन्न माना जाता है। ज्ञान दर्शन आदि उस चेतनाके भेद हैं इस रीतिसे जिसके संसर्गसे आत्मा जाननेवाला देखनेवाला करनेवाला और भोगनेवाला कहा जाता है वह चेतना पदार्थ है और जिसके अंदर वह चेतना पाई जाय वह जीव पदार्थ है इसलिये जीवका लक्षण चेतना है।

तद्विपरीतत्वादजीवस्तदभावलक्षणः ॥ १५ ॥

जीवसे विपरीत, अचेतन स्वभावका धारक और ज्ञान दर्शन आदि चेतनाका जिसके अंदर अभाव हो वह अजीव है। यदि यहांपर अभावको तुच्छ पदार्थ माननेवाला यह शंका करे कि इस अजी-

वके लक्षणमें ज्ञान आदिके अभावको भी अजीवका लक्षण कहा है। अभाव जब कोई पदार्थ नहीं तब वह लक्षण नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। जिस तरह भावको हेतुका अंग माना है उसीतरह अभाव भी हेतुका अंग है अर्थात् 'पक्षसत्व सपक्षेसत्व विपक्षाद्व्यावृत्तत्व अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये पांच हेतुके अंग स्वीकार किए गये हैं। यहांपर पक्षमें हेतुका रहना, सपक्षमें हेतुका रहना ये दो अंग तो भावस्वरूप हैं किंतु विपक्षमें हेतुका न रहना, हेतुका विषय बाधित न होना और हेतुका दूसरा कोई प्रतिपक्ष न रहना ये तीन अंग अभावस्वरूप हैं। यदि अभाव कोई पदार्थ न माना जायगा तो विपक्षाद्व्यावृत्तत्व आदि तीन हेतुके अंग ही न माने जा सकेंगे, इस रीतिसे जब अभाव नामका भी पदार्थ संसारमें निर्बाधरूपसे मौजूद है तब अभावको लक्षण मानना अयुक्त नहीं। तथा 'सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः'[1] सब पदार्थोंकी एक स्वरूपसे प्राप्ति होना संकर दोष कहा जाता है। पदार्थोंमें जो भेद है वह अभाव पदार्थके माननेसे ही सिद्ध होता है क्योंकि घटका अभाव पटमें है अर्थात् घडा कपडास्वरूप नहीं इसलिये घटसे पट भिन्न है। इसीरूपसे अभाव पदार्थके ही आधारपर मठ आदिसे वृक्ष आदि भिन्न हैं यदि अभावको पदार्थ न माना जायगा तब घट आदिसे पट आदि भिन्न पदार्थ तो हो न सकेंगे किंतु सब एक ही स्वरूप हो जांयगे इस रीतिसे संकर दोष होगा। इसलिये अभाव पदार्थका लोप नहीं कहा जा सकता। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

ज्ञानपूर्वक चेष्टाओंसे ज्ञानका निश्चय होता है और ज्ञानपूर्वक चेष्टा हित करनेवाली चीजके ग्रहण और अहित करनेवाली चीजके छोडनेसे जान पडती है। कहा भी है—

---

1 सप्तभंगीतरंगिणी पृष्ठ ६।

बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् ।
मन्यते बुद्धिसद्भावं सा न येषु न तेषु धीः ॥ १ ॥ इति

अर्थात्–अपने शरीरमें बुद्धिपूर्वक क्रिया देखकर यदि दूसरेके शरीरमें भी बुद्धिपूर्वक क्रिया दीख पडती है तो उससे दूसरेमें बुद्धिका निश्चय कर लिया जाता है किंतु जहांपर बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं वहां पर ज्ञान भी नहीं रहता। वनस्पति जल तेज आदिमें बुद्धिपूर्वक चेष्टा मालूम नहीं पडती इसलिये ज्ञान आदिका अभाव होनेसे वनस्पति आदि भी अजीव कहे जांयगे ? सो ठीक नहीं। वनस्पति आदिमें ज्ञान दर्शन आदि मौजूद ही हैं परन्तु सिवाय सर्वज्ञके उन्हें कोई नहीं जान सकता इसलिये वनस्पति आदिमें ज्ञान आदिक सर्वज्ञके ज्ञानके गोचर हैं। भगवान सर्वज्ञके द्वारा आगमका प्रतिपादन हुआ है और आगममें वनस्पति आदिमें ज्ञान बतलाया है इसलिये आगम प्रमाणकी कृपासे हमें भी उनमें ज्ञान मालूम पडता है एवं जिस कायके अन्दर जीव रहता है आहार करनेपर वह पुष्ट होता है और आहार के अभावमें कुम्हला जाता है यह युक्तियुक्त वात है। आगम और विज्ञान दोनोंसे यह सिद्ध है कि वनस्पति आदि जल पवन आदिका यथायोग्य आहार करते हैं। जिससयय वे आहार करते हैं हरे भरे पुष्ट होते हैं और जिससमय आहार नहीं मिलता तब कुम्हला जाते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिये युक्ति से भी वनस्पति आदिमें ज्ञान सिद्ध है। तथा जहां बुद्धिपूर्वक क्रिया होती है वहां ज्ञान रहता है यह शंकाकारकी व्याप्ति है और इस व्याप्तिमें 'बुद्धिपूर्वक क्रिया' हेतु एवं 'ज्ञानका अस्तित्व' साध्य है। जो जीव अंडेके भीतर रहते हैं वा जो गर्भमें अथवा मूर्छित रहते हैं उनमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं जान पडती किंतु ज्ञान अवश्य मौजूद है इसलिये अंडज आदि जीवोंमें ज्ञानका अस्तित्वरूप साध्य रहनेसे और

बुद्धिपूर्वक क्रियारूप हेतु न रहनेसे वह हेतु नहीं, हेत्वाभास है इस रीतिसे अजीवका जो भी लक्षण कहा है निर्दोष है।

पुण्यपापागमद्वारलक्षण आस्रवः ॥ १६ ॥

पुण्य पाप–शुभ अशुभ रूप कर्मोंके आनेका द्वार आस्रव कहा जाता है आस्रवके समान होनेसे इसे आस्रव कहा गया है क्योंकि जिसतरह अगणित नदियोंके द्वारा रात दिन समुद्रका जल पूर्ण किया जाता है इसलिये समुद्रके जलके पूरण करनेमें नदियां आस्रवस्वरूप हैं उसीतरह मिथ्यादर्शन अविरति आदिके द्वारा सदा कर्म आत्मामें आते रहते हैं इसलिये मिथ्यादर्शन आदि आस्रव कहे जाते हैं।

आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बंधः ॥ १७ ॥

मिथ्यादर्शन अविरति आदि कारणोंसे आत्मामें बंधे हुए कर्म प्रदेशोंका और आत्माके प्रदेशोंका जो आपसमें एकमएक हो जाना है वह बंध है। बंधका अर्थ बंधना है बँधनाके समान होनेसे इसे बंध कहा गया है क्योंकि जिसतरह वेडी वा रस्सी आदिसे बंधा हुआ देवदत्त परतंत्र हो जानेके कारण अपने अभिलषित स्थानपर नहीं जा सकता वहीं पडा रह कर अत्यंत दुःख भोगता रहता है उसीतरह कर्मरूपी बंधनसे बंधा हुआ आत्मा भी परतंत्र हो जानेके कारण संसारमें पडा रहनेसे शारीरिक मानसिक अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगता रहता है।

आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन आदि द्वारोंका जो शुभ परिणामोंसे रुक जाना है वह संवर है। संवरका अर्थ रुक जाना है। संवरके समान होनेसे इसे संवर कहा गया है क्योंकि जिसतरह जिस नगरके दरवाजेके

किवाड सुरक्षित और मजबूतीसे बंद हैं वह नगर सुरक्षित समझा जाता है और शत्रुलोग उसमें प्रवेश नहीं कर सकते उसीतरह आगे कहे जानेवाले गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा और परीषहजयरूप चारित्रों के द्वारा जिसके इंद्रिय कषाय और योग वश हो चुके हैं उसके कर्मोंके लानेमें कारण मिथ्यादर्शन आदि रुक जाते हैं इसलिये उसके संवर होता है।

विशेष—मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं। ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण और आलोकित–पानभोजन ये पांच समिति हैं। उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य दश धर्म हैं। अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचित्व आस्रव संवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षा हैं। क्षुधा तृष्णा शीत उष्ण दंशमशक नाग्न्य अरति स्त्री चर्या निषद्या शय्या आक्रोश वध याचना अलाभ रोग तृणस्पर्श मल सत्कारपुरस्कार प्रज्ञा अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं। ये संवरके कारण हैं और इनके द्वारा मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये जो आस्रव और बंधके कारण हैं उनका प्रतिरोध हो जाता है। इन सबका स्वरूप आगे यथावसर विस्तारसे कहा जायगा।

एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा ॥ १९ ॥

जो कर्म गृहीत–मौजूद हैं उनका तपकी विशेषतासे एकदेशरूपसे क्षय हो जाना निर्जरा है। निर्जराका अर्थ झड जाना है। जो निर्जराके समान हो वह निर्जरा है क्योंकि मंत्र औषधके बलसे जिस की शक्ति नष्ट हो चुकी है ऐसा विष जिसतरह किसी प्रकारकी हानि करनेवाला नहीं होता उसीतरह सविपाक और अविपाक निर्जराके कारण विशिष्ट तप द्वारा जिन कर्मोंकी शक्ति नष्ट हो चुकी है वे फिर संसारमें आत्माको नहीं घुमा सकते।

विशेष—जिसतरह आमका फल अपने पकनेका काल पूरा कर पकता और गिर पडता है उसी-प्रकार जो कर्म अपनी स्थितिको पूराकर फल देकर खिर जाते हैं वह तो सविपाक निर्जरा है और जिसतरह कच्चा आम वीच हीमें पाल आदिके द्वारा पका दिया जाता है उसतरह जो कर्म स्थितिको पूरी विना ही किये तप विशेषसे वीचमें ही खिरा दिये जाते हैं वह अविपाक निर्जरा है। सविपाक निर्जरा प्रत्येक संसारी जीवके सदा काल हुआ करती है क्योंकि प्रतिसमय अनंते कर्मोंका वंध होता रहता है और स्थिति पूरी कर अनंते ही खिरते रहते हैं किंतु अविपाक निर्जरा यम नियम धारकोंके ही होती है।

कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः ॥ २० ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्रकृष्टता होनेपर ज्ञानावरण आदि कर्मोंके प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश इन चारो वंधोंको जो सर्वथा आत्मासे वियोग—नाश हो जाना है वह मोक्ष है। मोक्षका अर्थ छूट जाना है। मोक्षके समान होनेसे इसे मोक्षतत्व कहा गया है क्योंकि जिसतरह बेडी वा रस्सी आदिसे छुटकारा पा जानेपर स्वतंत्रतासे अभीष्ट स्थानमें जा सकनेके कारण पुरुष अपनेको सुखी समझता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन आदिकी प्रकृष्टता होनेपर समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेके कारण आत्मा स्वाधीन आत्यंतिक ज्ञान दर्शन और अनुपम सुखका अनुभव करता है।

विशेष—मोह अज्ञान आदि विभाव परिणामोंके करनेवाले और ज्ञान दर्शन आदि आत्माके स्वभाव गुणोंके घातक स्वभाववाले कार्माण पुद्गल स्कंधोंका जो आत्मासे सम्बन्ध होना है वह प्रकृतिबंध है और उसके ज्ञानावरण आदि भेद हैं। कर्मोंमें आत्माके साथ रहनेकी हद पडनेको स्थितिबंध कहते हैं।

फल देनेकी शक्तिकी हीनाधिकताको अनुभागबंध कहते हैं। बंधनवाले कर्मोंकी संख्याके निर्णयको प्रदेश बंध कहते हैं। यह प्रकृति स्थिति आदिका पारिभाषिक अर्थ है इनके उत्तरोत्तर भेद और विशेषस्वरूप का विस्तारसे वर्णन स्वयं ग्रंथकार करेंगे। इसप्रकार जीव अजीव आदि तत्वोंका लक्षण बतला दिया गया। अब उनको क्रमसे कहनेका कारण बतलाते हैं—

तादर्थ्यात्परिस्पंदस्यादौ जीवग्रहणं ॥ २१ ॥

मोक्षमार्गके स्वरूपका कथन आत्माके लिये है क्योंकि मोक्ष पर्याय आत्मा हीकी है तथा जीव अजीव आदि तत्वोंका जो उपदेश है वह भी आत्माके ही लिये है क्योंकि उपयोग स्वभावका धारक आत्मा ही है इसलिये वही उपदेश ग्रहण कर सकता है इसरीतिसे जीव पदार्थ ही सबमें मुख्य है अतः 'जीवाजीवास्रवेत्यादि' सूत्रमें सबसे पहले जीवका ग्रहण किया है।

तदनुग्रहार्थत्वात्तदनंतरमजीवाभिधानं ॥ २२ ॥

शरीर वाणी मन श्वासोच्छ्वाससे अजीव, जीवका उपकार करता है इसलिये जीवका उपकारी होनेसे जीवके बाद अजीवका उल्लेख किया गया है। " जीवका अजीव कैसे उपकार करता है यह 'शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानां' इस सूत्रकी व्याख्यामें खुलासारूपसे कहा जायगा।"

तदुभयाधीनत्वात्तत्समीपे आस्रवग्रहणं ॥ २३ ॥

आत्मा और कर्मके आपसमें संबंध होने पर आस्रवतत्त्वकी सिद्धि होती है इसलिये जीव और अजीवका निकट संबंधी होनेसे अजीवके बाद आस्रवका विधान है।

तत्पूर्वकत्वाद्बंधस्य ततःपरं बंधवचनं ॥ २४ ॥

बंध आस्रवपूर्वक होता है—कर्मके आने पर ही उनका आत्माके साथ संबंध हो सकता है इसलिये आस्रवके बाद बंधतत्त्वका निर्देश किया गया है।

संवृतस्य बंधाभावात्तत्प्रत्यनीकप्रातिपत्त्यर्थं संवरवचनं ॥ २५ ॥

जो आत्मा संवर अवस्था धारण कर लेता है अर्थात् जिसके किसी भी कर्मका आस्रव नहीं होता उसके फिर बंध नहीं होता इसरीतिसे संवर तत्व, बंधका विरोधी है यह बतलानेकेलिये बंधके बाद संवरका उल्लेख किया गया है।

संवरे सति निर्जरोपपत्तेस्तदनंतरे निर्जरावचनं ॥ २६ ॥

जिससमय नवीन कर्मोंके आगमनका रुक जाना रूप संवर हो जाता है उसके बाद निर्जरा होती है इसलिये संवरके बाद निर्जराका उल्लेख किया है।

अंते प्राप्तत्वान्मोक्षस्यांते वचनं ॥ २७ ॥

ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर सबसे अंतमें जाकर मोक्ष प्राप्त होती है इसलिये सब तत्वोंके अंतमें मोक्षतत्व रक्खा है। यदि यह शंका की जाय कि—

पुण्यपापपदार्थोपसंख्यानमिति चेन्नास्रवे बंधे वांतर्भावात् ॥ २८ ॥

पुण्य और पाप दोनों पदार्थोंका उल्लेख शास्त्रोंमें मिलता है अन्य सिद्धांतकारोंने[1] भी पुण्य पाप पदार्थ जुदे माने हैं इसलिये 'जीवाजीवास्रवेत्यादि सूत्रमें जीव और अजीव आदिके समान उनका भी

१ नैयायिक और वैशेषिक धर्म और अधर्म जुदे पदार्थ स्वीकार करते हैं धर्म और अधर्मका अर्थ पुण्य और पाप है।

जुदा उल्लेख होना चाहिये ? सो नहीं । आस्रव और बंध पुण्य पाप स्वरूप है अर्थात् शुभ कर्मोंका आस्रव पुण्यास्रव और अशुभ कर्मोंका आस्रव पापास्रव स्वरूप माना है इसीतरह शुभ कर्मोंका बंध पुण्य बंध और अशुभ कर्मोंका बंध पाप बंध माना है इसलिये आस्रव और बंधमें पुण्य और पापका समावेश होनेके कारण उनके जुदे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं इसलिये जीव अजीव आदिकी तरह उनका पृथग् उल्लेख नहीं किया गया। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

तत्त्वशब्दस्य भाववाचित्वाज्जीवादिभिः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः ॥ २९ ॥

न वाऽव्यतिरेकात्तद्भावासिद्धेः ॥ ३० ॥

समानाधिकरणका अर्थ दो आदि पदार्थोंका एक जगह रहना है । जीवाजीवेत्यादि सूत्रमें तत्व शब्द भाववाची है यह ऊपर कहा जा चुका है और जीव और अजीव आदि द्रव्यवाचक हैं इसलिये जीव अजीव आदि ही तत्व हैं यह जो भाववाचक तत्व शब्दका और द्रव्यवाचक जीव अजीव आदि का समानाधिकरण बतलाया गया है वह बाधित है। सो ठीक नहीं। जिसतरह ज्ञान ही आत्मा है यहांपर ज्ञान गुण और आत्मद्रव्यका सामानाधिकरण्य, यद्यपि गुण और द्रव्यका सामानाधिकरण्य होनेके कारण विरुद्ध सरीखा जान पडता है तो भी ज्ञान आत्मासे कोई भिन्न पदार्थ नहीं, दोनों एक ही हैं। इसलिये कोई दोष नहीं माना जाता उसीप्रकार भाव भी द्रव्यसे भिन्न पदार्थ नहीं। भावरूपसे ही द्रव्यका अध्यारोपण होता है इसलिये द्रव्य और भाव इस नामसे भिन्नता रहने पर भी वास्तविक दृष्टिसे दोनों का अभेद होनेके कारण सामानाधिकरण्य बाधित नहीं । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जब भावरूप कर ही द्रव्यको स्वीकार किया जाता है, भाव द्रव्यसे भिन्न नहीं हो सकता तब जो लिंग वचन

द्रव्यके हैं वे ही भावके होने चाहिये परंतु यहां सो बात नहीं है। 'जीवाजीवासूवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः' इन द्रव्यवाचक शब्दोंका लिंग-पुल्लिग और वचन बहुवचन है और 'तत्वं' इस भाववाचक शब्दका लिंग· नपुंसकलिंग वचन एक वचन है वह विरुद्ध है ? सो ठीक नहीं।

तल्लिंगसंख्यानुवृत्तौ चोक्तं ॥ ३१ ॥

लिंग और संख्याके विषयमें सम्यग्दर्शनज्ञानेत्यादि सूत्रमें कहा जा चुका है वैसा ही यहां समझ लेना चाहिये अर्थात् जिसतरह 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यहां तीनोंका मिलना रूप मोक्षमार्ग एक है इसलिये 'मोक्षमार्गः' यहां एक वचन एवं 'जो शब्द नित्यलिंगी हैं वे अपना लिंग नहीं छोडते' इस व्याकरणके नियमानुसार मार्ग शब्द नित्यपुलिंग होनेसे पुल्लिग है। उसीतरह 'जीवाजी· वासूवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वं' यहां मिलना रूप तत्व पदार्थ एक है इसलिये ,तत्वं' यहां एक वचन और नित्यनपुंसकलिंगी होनेसे नपुंसकलिंग है। तथा जिसतरह सम्यग्दर्शनज्ञानेत्यादि सूत्रमें सम्यग्द- र्शनादि तीनों आपसमें जुदे जुदे प्रधान हैं इसलिये 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' यहां बहुवचन और चारित्र शब्द नित्यनपुंसकलिंग होनेसे नपुंसकलिंग है उसीतरह जीवाजीवेत्यादि सूत्रमें भी जीव अजीव आदि जुदे जुदे प्रधान हैं इसलिये 'जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः' यहां बहुवचन एवं मोक्ष शब्द नित्यपुल्लिग होनेसे पुल्लिग है इसरीतिसे जहां जो लिंग और संख्या है उसकी उसी रूपसे प्रमाणता सिद्ध होने पर जीवाजीवेत्यादि सूत्रमें लिंग संख्याके विषयमें शंका करना निरर्थक है।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकाके प्रथमाध्यायमें चौथा आह्निक समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

नाम और लक्षण आदि पूर्वक कहे हुए जीवादि पदार्थोंका निर्दोषरूपसे व्यवहार कैसे होता है? यह बतलानेके लिये सूत्रकार सूत्रद्वारा उनके व्यवहारका उपाय बतलाते हैं—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—नाम स्थापना द्रव्य और भावके द्वारा जीवादि पदार्थों वा सम्यग्दर्शन आदिका व्यवहार होता है।

जिससे पदार्थ जाना जाय वा जो पदार्थको जनावे—सम्मुख लाकर उपस्थित करे वह नाम निक्षेप है। जो पदार्थ दूसरे किसी पदार्थमें स्थापा जाय प्रतिनिधिरूपसे कहा जाय वह स्थापना निक्षेप है। आगामीकालमें जिसके द्वारा गुण प्राप्त किये जांय वा जो आगे जाकर प्राप्त करेगा वह द्रव्य है और जो पदार्थ वर्तमानमें जैसा हो उसका उसीरूपसे होना भाव है। यह नाम आदि निक्षेपोंका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ है। 'नामस्थापनाद्रव्यभावतः' यहांपर 'नाम च स्थापना च द्रव्यं च भावश्च नामस्थापनाद्रव्यभावाः, तैः, नामस्थापनाद्रव्यभावैरिति नामस्थापनाद्रव्यभावतः' यह इतरेतरयोग नामका द्वंद समास है। व्याकरणमें एक आद्यादि शब्दोंका गण माना है और उसके तृतीयांत व पंचम्यंत शब्दोंसे 'आद्यादिभ्यस्तासिः ।४।३।६०। इस जैनेंद्र सूत्रसे तासि प्रत्यय होता है 'नामस्थापनाद्रव्यभाव' इस समासविशिष्ट एक पदका आद्यादिगणमें पाठ मानकर यहां तृतीयांत पदसे तासि प्रत्यय मानकर नामस्थापनाद्रव्यभावतः यह शब्द बना है अथवा 'दृश्यतेऽन्यतोऽपि' जिन शब्दोंसे तासि प्रत्ययका विधान है उनसे अन्य शब्दोंसे भी तसि प्रत्यय होता है यह भी व्याकरणका सिद्धान्त है इस सिद्धांतके अनुसार भी तृतीयांत नामस्थापनाद्रव्यभाव इस समस्त पदसे तासि प्रत्यय, करनेपर नामस्थापनाद्रव्यभावतः इस शब्दकी सिद्धि समझ लेनी चाहिये। जो व्यवहारस्वरूप हो वा जिसके द्वारा व्यवहार हो वह न्यास कहा जाता

है और उसका अर्थ निक्षेप है। जीव अजीव आदि पदार्थोंका वा सम्यग्दर्शन आदिका निक्षेप तन्न्यास कहा जाता है। इस रीतिसे नाम स्थापना द्रव्य और भावोंके द्वारा जीव आदि पदार्थ वा सम्यग्दर्शन आदिका व्यवहार होता है यह सूत्रका स्पष्ट अर्थ है। अब इन नाम आदिका लक्षण निरूपण किया जाता है—

निमित्तांतरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम ॥ १ ॥

जाति गुण क्रिया आदि किसी भी निमित्तकी अपेक्षा न कर जो किसीका नाम रख दिया जाता है वह नाम निक्षेप है। जिसतरह जो परमैश्वर्यको भोगता है वह इंद्र कहा जाता है यह इन्द्र शब्दका प्रसिद्ध अर्थ है किंतु जहांपर परमैश्वर्यकी कोई पर्याय न कर किसी दरिद्रका नाम इन्द्र रख दिया जाता है और इन्द्र नामके पुकारते ही वह सामने आकर खडा होजाता है इसलिये उसका उस प्रकारका इंद्र नाम रखना नामनिक्षेप कहा जाता है उसीतरह जहां जीवन पर्यायका सम्बंध है वहां जीव और जहां श्रद्धान क्रियाका संबंध है वहां सम्यग्दर्शन यथार्थरूपसे कहा जाता है किंतु जहांपर जीवन पर्यायका कोई संबंध नहीं वहांपर जिस किसीका नाम जीव रख दिया जाता है वह और जहांपर श्रद्धान क्रिया का कोई सम्बंध नहीं वहांपर जिस किसीका नाम श्रद्धान रख दिया जाता है वह नामनिक्षेप है—केवल व्यवहारके लिये उसका जीव और सम्यग्दर्शन नाम है।

१ या निमित्तांतरं किंचिदनपेक्ष्य विधीयते। द्रव्यस्य कस्यचित् संज्ञा तन्नाम परकीर्तितं ॥ १० । अध्याय १, तत्त्वार्थसार। नामके अनुसार उसमें गुणोंके नहीं रहनेपर केवल उस नामसे उसे व्यवहारमें लाया जाय इसी उद्देश्यसे किसीका कुछ भी नाम रख देना नामनिक्षेप है।

विशेष—जो मनुष्य गौरवर्णका धारक है उसे गौर कहना यह गुणकी अपेक्षा नाम है । मनुष्यको मनुष्य, देवको देव, गौको गौ, घोडेको घोडा, हाथीको हाथी कहना ये जातिकी अपेक्षा नाम हैं । जिसके हाथमें दंड हो उसे दंडी कहना, जो कुंडल पहिने हो उसे कुंडली कहना ये द्रव्यलक्षणकी अपेक्षा नाम हैं । पूजन करते समय पूजक कहना, नृत्य करते समय नर्तक कहना ये क्रियाकी अपेक्षा नाम हैं। इन नामोंमें गुण आदिकी अपेक्षा है । गुण आदिके द्वारा ही इन नामोंकी उत्पत्ति हुई है इसलिये अन्वर्थ नाम हैं, नामनिक्षेपमें इनका ग्रहण नहीं किया जा सकता किंतु जहां गुण जाति द्रव्य क्रिया कोई भी वात न पाई जाय और माता पिताके लाडसे रत्नकुमार करोडीचंद हाथीसिंह आदि नाम रख दिये जांय वह सब नामनिक्षेप है क्योंकि केवल व्यवहारके लिये वहांपर नाम रक्खे गये हैं ।

सोऽयमित्यभिसम्बन्धत्वेनान्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना ॥ २ ॥

एक पदार्थकी दूसरे पदार्थमें 'यह वह है' इस रूपसे स्थापना कर देना स्थापना निक्षेप है जिसप्रकार इन्द्रके आकारकी मूर्ति बनाकर उसमें इस रूपसे स्थापना करना कि जो परम ऐश्वर्यका भोगनेवाला इंद्राणीका स्वामी इन्द्र है 'वह यह है' स्थापनानिक्षेप कहा जाता है और इंद्रके रहते जैसी भक्ति श्रद्धा होनी चाहिये वैसी ही उस मूर्तिके अंदर होने लगती है उसी तरह किसी पुतलीमें यह जीव है वा किसी क्रियामें यह सम्यग्दर्शन है अथवा सतरंजमें लकडीके बने प्यादोंमें यह हाथी है यह घोडा और ऊंट है इसप्रकारकी स्थापना करना स्थापनानिक्षेप है ।

---

१ । सोऽयमित्यक्षकाष्ठादौ सम्बन्धेनान्यवस्तुनः । यद् व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते ॥ ११ ॥ अध्याय १ तत्त्वार्थसार । भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित् । स्याद् गृहीताभिमुख्यं हि तद् द्रव्यं ब्रुवते जनाः ॥ १२ ॥ अध्याय १ तत्त्वार्थ०

विशेष—स्थापनाके दो भेद माने हैं एक तदाकार स्थापना जिसे सद्भाव स्थापना भी कहते हैं और दूसरा अतदाकारस्थापना जिसका दूसरा नाम असद्भावस्थापना भी है। जिस पदार्थका जो आकार है वैसी ही मूर्ति तयार कर उस पदार्थकी उस मूर्तिमें स्थापना करना तदाकार स्थापना कही जाती है और पदार्थका जैसा आकार है उससे अन्य आकारके पदार्थमें उसकी स्थापना करना अतदाकार स्थापना है। ऋषभदेव आदिकी प्रतिमाओंमें ऋषभदेव आदिकी स्थापना तदाकारस्थापना है और चावल आदिमें ऋषभदेव वा सिद्धोंकी स्थापना अतदाकार स्थापना कही जाती है। नाम और स्थापनाका भेद स्वयं वार्तिककार कहेंगे।

अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यं ॥ ३ ॥

जो पर्याय आगे जाकर प्रकट होनेवाली है। वर्तमानमें नहीं, किंतु उसके होनेकी योग्यता है उस पर्यायको वर्तमानमें मान लेना द्रव्यनिक्षेप है। अथवा—

अतद्भावं वा ॥ ४ ॥

जिस पदार्थकी जो अवस्था होनेवाली है उसकी पूर्व अवस्थाको ही होनेवाली अवस्था कह डालना द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है जिस तरह जिस काष्ठसे इंद्रकी प्रतिमा तयार की जायगी उस काष्ठको ही इंद्र कह दिया जाता है। उसी तरह जिस जीवमें आगे जीवपर्याय प्रकट होनेवाली है उसको पूर्वपर्याय में ही जीव कह दिया जाता है तथा जिसमें आगे जाकर सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट होनेवाली है उसके पहिले ही सम्यग्दर्शन कह दिया जाता है यह सब द्रव्यनिक्षेपका विषय है। यदि यहांपर यह शंका की

१ यह उपलक्षण है। भावीपर्यायके समान भूतपर्याय भी द्रव्यनिक्षेपका विषय है, यह बात ग्रंथांतरोंमें विवेचित की गई है।

जाय कि जहां आगे सम्यग्दर्शन पर्याय प्रकट होनेवाली है उसकी पूर्व पर्यायको सम्यग्दर्शन कह देना यह तो युक्त है क्योंकि पर्याय सदा बदलतीं रहतीं हैं अर्थात् जीवको सम्यग्दर्शन आदि परिणामोंसे रहित मान लिया जायगा तो जीव पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि सर्वथा नित्य कोई पदार्थ नहीं परन्तु जिसमें आगे जीवपर्याय प्रगट होनेवाली है उसकी पूर्व पर्यायको ही जीव कह देना यह वात नहीं बन सकती क्योंकि यदि जीवन पर्यायका सदा परिणमन न माना जायगा तो जीवन पर्यायसे पहिले अजीवपना भी आ सकता है इस रीतिसे किसी समय जीव भी अजीव हो जानेके कारण सर्वदा कोई जीव पदार्थ सिद्ध न हो सकेगा ? सो ठीक नहीं। मनुष्य जीव वा तिर्यंच जीव आदिकी विशेष अपेक्षासे यह कथन है अर्थात् जो जीव इस समय मनुष्य पर्यायमें है और आगे जाकर वह देव होनेवाला है उसको मनुष्य पर्यायमें ही यह कह देना कि यह देव है अथवा जो जीव इस समय तिर्यंच पर्यायमें है और आगे जाकर उसे मनुष्य पर्याय मिलनेवाली है उसे तिर्यंच पर्यायमें ही मनुष्य कह देना यह द्रव्यनिक्षेप का विषय है किंतु जिसको आगे सामान्य जीव पर्याय प्राप्त होनेवाली है उसकी पूर्व पर्यायको जीव कहना यह अर्थ प्रमाणबाधित है क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं जिसे आगे जाकर सामान्य जीवपर्याय प्राप्त हो सके किंतु विशेष जीव पर्याय ही प्राप्त हो सकती है इसलिये कोई दोष नहीं।

विशेष—इस ग्रंथमें यहां पर जो द्रव्य निक्षेपकी व्युत्पत्ति की गई है और लक्षण कहा गया है वह उत्तर पर्यायकी अपेक्षासे है भूत आदि पर्यायकी अपेक्षासे नहीं इसलिये जो मनुष्य इससमय राजाका पुत्र है आगे वह राजा होनेवाला है किंतु इससमय उसमें राजाकी योग्यता है वही द्रव्यनिक्षेपका विषय हो सकता है किंतु जो राजा किसी कारणविशेषसे राजकार्यसे विमुख होगया है तब भी वह राजा कहा

जाता है वह द्रव्यनिक्षेपका विषय न होगा किंतु यह व्यवहार लोक प्रसिद्ध है । सब लोग राजकार्यसे विमुख पुरुषोंको भी राजा कह कर पुकारते हैं । इसी संबंधमें श्रीविद्यानंदिमहाराजने श्लोकवार्तिकमें इसप्रकार खुलासा किया है—

नन्वनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमयुक्तं गुणपर्ययवद् द्रव्यमिति तस्य सूत्रितत्वात् तदागमनविरोधादिति ? कश्चित् । सोऽपि सूत्रार्थानभिज्ञः । पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचरानंतक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यमुक्तं । तच्च यदानागतपरिणामविशेषं प्रत्याभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रांतं परित्यक्तपूर्वपर्यायं च निश्चीयतेऽन्यथाऽनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः । खरविषाणादिवत् । केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन वचनेऽनागतपरिणामाभिमुखमतीतपरिणामं वानपायिद्रव्यमिति निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तं । अर्थात्—आगामी कालमें होनेवाली पर्यायको वर्तमान में मान लेना द्रव्य है यह जो द्रव्यका लक्षण किया है वह ठीक नहीं । गुण और पर्यायस्वरूप द्रव्य है यह सूत्रकारने स्वयं द्रव्यका लक्षण कहा है इसलिये इस सूत्रकारके लक्षणसे विरुद्ध लक्षण करने पर आगम विरोध आता है ? सो ठीक नहीं । शंकाकारने सूत्रका अर्थ समझा ही नहीं क्योंकि पर्यायवाला द्रव्य है यह कहनेसे सूत्रकारने भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालकी क्रमसे होनेवाली अनंती पर्यायोंका आधार द्रव्य बतलाया है इसलिये तीनों कालकी पर्यायोंका धारक द्रव्य जिससमय आगामी कालमें होनेवाली पर्यायके प्रति अभिमुखता धारण करेगा उससमय वह वर्तमान पर्यायसे भी व्याप्त रहेगा और बीती हुई पहिला पर्यायसे भी व्याप्त रहेगा । यदि इसतरह न माना जायगा तो आगामी कालमें होनेवाली अभिमुखता भी द्रव्यमें न बन सकेगी क्योंकि आगामी कालमें होनेवाली पर्याय वर्तमान और भूतकालमें होने-

वाली पर्यायोंके बिना सिद्ध ही नहीं हो सकती इसलिये जिसतरह गधेके सींग कोई पदार्थ नहीं उसतरह प्रमाणबाधित अकेली आगामी कालमें होनेवाली पर्यायके ही माने जानेपर द्रव्य भी कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये निक्षेप प्रकरणमें जो यह द्रव्यका लक्षण किया गया है कि 'आगामी कालमें होनेवाली पर्यायको वर्तमानमें मान लेना द्रव्य है' वह द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे समझ लेना चाहिये और वहां द्रव्यकी तीनों कालकी पर्यायोंका ग्रहण करना चाहिये। इसरीतिसे आगामी होनेके कारण, अनुपस्थितको जिसतरह द्रव्यनिक्षेपका विषय माना है उसीतरह वीत जानेसे अनुपस्थित वा वर्तमानकी अपेक्षासे अनुपस्थितको भी द्रव्यनिक्षेपका विषय मानना चाहिये।

सर्वार्थसिद्धिमें भी नामस्थापनेत्यादि सूत्रमें द्रव्य शब्दका जो यह 'गुणैर्द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यं' व्युत्पत्ति की है उसकी टिप्पणीमें यह लिखा है 'गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं प्राप्तमिति द्रव्यमित्यप्यधिकपाठः पुस्तकांतरे, दृश्यते' अर्थात् गुणोंसे जो प्राप्त किया गया वा गुणोंको प्राप्त हुआ वह द्रव्य है यह भी अधिक पाठ दूसरी पुस्तकमें दीख पडता है, इससे भी यह सिद्ध है कि बीत जानेसे अनुपस्थित भी द्रव्यनिक्षेपका ही विषय है इसप्रकार इन दो आगम प्रमाणों एवं उपर्युक्त युक्तिबलसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि तीनों कालकी अपेक्षा अनुपस्थित द्रव्यनिक्षेपका विषय है। केवल आगामीकालकी अपेक्षा अनुपस्थित ही नहीं।

तद् द्विविधमागमनोआगमभेदात् ॥ ५ ॥ अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञाय्यात्मागमः ॥ ६ ॥

इतरत्त्रिविधं ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात् ॥ ७ ॥

द्रव्यनिक्षेपके दो भेद हैं एक आगमद्रव्यनिक्षेप, दूसरा नो आगमद्रव्यनिक्षेप। ग्रंथकारने जीव और

सम्यग्दर्शन पर चारों निक्षेपोंको घटाया है इसलिये जीवकी अपेक्षा द्रव्यनिक्षेपके आगमद्रव्य जीव और नो आगमद्रव्य जीव ये दो भेद हैं। सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा आगम सम्यग्दर्शन और नो आगम सम्यग्दर्शन ये दो भेद हैं। जिस पदार्थका निक्षेप किया जाय उस पदार्थको वर्णन करनेवाले शास्त्रका जानकार तो हो परंतु जिससमय उसके चिंतवन आदिमें उपयोगरहित हो ऐसी आत्मा आगमद्रव्यनिक्षेप कहा जाता है। यह सामान्यरूपसे आगमद्रव्यनिक्षेपका लक्षण है। तथा विशेषरूपसे—जो पुरुष जीवन पर्यायके वर्णन करनेवाले शास्त्रका जानकार तो है परंतु जिससमय उसके चिंतवन आदिमें उपयोगरहित है वह आगमद्रव्य जीव है और जो पुरुष सम्यग्दर्शनको वर्णन करनेवाले शास्त्रका जानकार तो है परंतु जिससमय उसके चिंतवन आदिमें उपयोगरहित है वह आगमद्रव्य सम्यग्दर्शन है।

नो आगमद्रव्य तीन प्रकार है। ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। जो ज्ञाताका शरीर है वह ज्ञायकशरीर कहा जाता है वह त्रिकालगोचर ग्रहण किया गया है अर्थात् उसके भूत भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं। जो शरीर मनुष्य आदि जीवनपर्याय और सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार है परंतु उन्हें पहिले ही प्राप्त कर चुका और अवधि पूर्ण हो जानेपर वे छूट भी गये तब भी उस शरीरको मनुष्य वा सम्यग्दर्शनका धारक कह देना भूतज्ञायक शरीर नो आगमद्रव्य है। जो शरीर मनुष्य आदि जीवन पर्याय और सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार है परंतु उन्हें आगे जाकर प्राप्त करेगा तब भी उसे इससमय मनुष्य आदि वा सम्यग्दर्शनका धारक कहना भविष्यत् नो आगमज्ञायक शरीर है एवं जो शरीर मनुष्य आदि जीवन पर्याय और सम्यग्दर्शनका जानकार है परंतु उन्हें प्राप्त कर रहा है पूर्णरूपसे प्राप्त नहीं कर सका है तो भी उसे मनुष्य वा सम्यग्दर्शनका धारक कह देना वह वर्तमान नो-आगम ज्ञायक शरीर है।

जो शरीर मनुष्य आदि जीवन पर्याय वा सम्यग्दर्शन पर्याय प्राप्तिके सम्मुख है, आगे जाकर प्राप्त करेगा तब भी उसे इस समय मनुष्य आदि कहना वा सम्यग्दर्शनका धारक कहना भावि नो आगम (जीव वा सम्यग्दर्शन) नामका दूसरा नो आगम द्रव्यका भेद है। तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य के दो भेद हैं एक कर्म दूसरा नो कर्म। जो मनुष्य आदि नाम कर्मकी वर्गणा आगे मनुष्य आदि पर्याय रूप परिणत होनेवाली हों उन वर्गणाओंको अभीसे मनुष्य आदि कह देना तद्व्यतिरिक्त नामक नो आगम द्रव्यका 'मनुष्य आदि जीवकर्म' नामका पहिला भेद है इसी तरह जो दर्शनमोहनीयकी वर्गणा आगे उपशम क्षय वा क्षयोपशमरूप परिणत होनेवाली हैं उन्हें इसी समय उपशम आदि स्वरूप कह देना तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्यका 'सम्यग्दर्शन' कर्म नामका पहिला भेद है। तथा आहार आदि नोकर्म जिनपर मनुष्य आदिके शरीरकी स्थिति निर्भर है और जो आगे जाकर मनुष्य आदिके शरीर रूप परिणत होनेवाले हैं उनको इसी समय मनुष्य आदि कह देना तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्यका 'मनुष्य आदि जीव' नोकर्म नामका दूसरा भेद है। इसीतरह उपदेश, जिनेंद्रदर्शन, मुनिदर्शन आदि जो दर्शनमोहनीयके क्षय आदिमें कारण हैं इस समय उन्हींको सम्यग्दर्शन कह देना यह तद्व्यतिरिक्त नो-आगम द्रव्यका 'सम्यग्दर्शन' नोकर्म नामका दूसरा भेद है। जीवन सामान्यकी अपेक्षा नो आगम द्रव्य नहीं है क्योंकि जीवन सामान्य सर्वदा विद्यमान है उसमें भूत भावि भेद नहीं हो सकते इसलिये मनुष्य आदि विशेष जीवन पर्यायोंका अवलम्बन लिया गया है। आगमद्रव्यमें आत्माका ग्रहण किया गया है। नो आगमद्रव्यमें उसके परिकर शरीर कर्म वर्गणा आदिका ग्रहण है। इतना विशेष समझ लेना चाहिये।

विशेष—मनुष्य आदि जीव पर्याय और सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार जो शरीर आगे उन्हें प्राप्त करेगा वह भविष्यत् ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्य कहा गया है। यही भावि नो आगम द्रव्यका आशय है इसलिये भविष्यत् ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्यसे ही जब भावि नो आगमद्रव्यका अर्थ सिद्ध हो जाता है तब भावि नो आगम द्रव्य भेद मानना निरर्थक है ? सो ठीक नहीं। भविष्यत् ज्ञायक शरीर नामक नो आगम द्रव्यमें जो शरीर आगे जाकर मनुष्य आदि जीवनपर्याय वा सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा वह उनके शास्त्रका भी जानकार होना चाहिये यह तात्पर्य है और भावि नो आगम द्रव्यमें जो शरीर आगे जाकर मनुष्य आदि जीवनपर्याय वा सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा उसे उनके शास्त्र जाननेकी आवश्यकता नहीं। वह अज्ञायक होकर ही प्राप्त कर सकेगा इसलिये भविष्यत् ज्ञायक शरीर नो आगम द्रव्यमें ज्ञायकपना और भावि नो आगम द्रव्यमें अज्ञायकपना इसतरह ज्ञायकपना और अज्ञायकपना का दोनोंमें जब बलवान् भेद मौजूद है तब दोनोंका विषय एक मानकर भावि नो आगम द्रव्यके नाम के भेदको निरर्थक बतलाना युक्तिबाधित है। भावि नो आगम द्रव्यका यदि कोई आगम द्रव्यमें समावेशकी शंका करे वह भी अयुक्त है क्योंकि आगम द्रव्यमें आत्माका ग्रहण किया गया है और भावि

१ तर्हि ज्ञायकशरीरं भाविनोआगमद्रव्यादनन्य एवेति चेन्न ज्ञायकविशिष्टस्य ततोऽन्यत्वात्। तस्यागमद्रव्यादन्यत्वं सुप्रतीतमेवानात्मत्वात्। कर्मनोकर्म वान्वयप्रत्ययपरिच्छिन्नं ज्ञायकशरीरादनन्यदिति चेत्, न। कार्मणस्य शरीरस्य तैजसस्य च शरीरस्य शरीरभावमापन्नस्याहारादिपुद्गलस्य वा ज्ञायकशरीरत्वासिद्धेः औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयस्यैव ज्ञायकशरीरत्वोपपत्तेरन्यथा विग्रहगतावपि जीवस्योपयुक्तज्ञानत्वप्रसंगात्। तैजसकार्माणशरीरयोः सदूभावात्। कर्म नोकर्म नोआगमद्रव्यं भाविनोआगमद्रव्यादनर्थांतरमिति चेन्न जीवादिप्राभृतज्ञायिपुरुषकर्मनोकर्मभावमापन्नस्यैव तथाभिधानात्। ततोऽन्यस्य भाविनोआगमद्रव्यत्वोपगमात्। श्लोकवार्तिक पृष्ठ नं० ११२—११३ ॥ गांधी नाथारंगग्रन्थमाला।

अनुपस्थित पदार्थोंका होता है और अनुभवमें आता है इसलिये तीनों कालोंकी अपेक्षा अनुपस्थित को ही आगमद्रव्यनिक्षेपका विषय मानना ठीक है। केवल भविष्यत् पर्यायकी अपेक्षा अनुपस्थित ही को नहीं।

राजवार्तिककारने जो आगमद्रव्यका उदाहरण दिया है वह उपलक्षणमात्र है। इसकी समानता रखनेवाले अन्य भी आगमद्रव्य निक्षेपके उदाहरण समझ लेने चाहिये जिसतरह—जो पुरुष राजनीति का जानकार है परन्तु जिस समय उसके विचारमें वा उसे काममें लानेमें उपयुक्त नहीं आगे जाकर उपयुक्त होगा उसे अभीसे राजा कह देना यह भविष्यत् कालकी अपेक्षा अनुपस्थित, आगमद्रव्यनिक्षेप का विषय है। जो पुरुष राजनीतिके शास्त्रका जानकार है परन्तु उसके चिंतवन आदिमें वा उसे काम में लानेमें पहिले ही उपयुक्त हो चुका इस समय अनुपयुक्त है उसे अब भी राजा कहना यह भूतकाल की अपेक्षा अनुपस्थित आगम द्रव्य निक्षेपका विषय है तथा जो पुरुष राजनीतिके शास्त्रका जानकार है किंतु उसके चिंतवन आदिमें वा काममें लानेमें उपयुक्त हो रहा है अभी पूर्ण उपयुक्त नहीं हुआ उसे भी राजा कहना यह वर्तमानकी अपेक्षा अनुपस्थित आगमद्रव्य निक्षेपका विषय है। इसी तरह और भी यथाव्यवहारमूलक उदाहरण समझ लेने चाहिये।

नोआगम द्रव्यके तीनों भेदोंमें ज्ञायक शरीरका विषय तीनों कालोंकी अपेक्षा अनुपस्थित ही ग्रंथकारोंने स्वयं वर्णन किया है और वह विस्तृतरूपसे ऊपर कह दिया जा चुका है। ज्ञाताके शरीरको ज्ञाता मानना यह तो स्थापना निक्षेपका विषय है और आत्मामें होनेवाले परिणामोंको शरीरमें मान कर भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंकी अपेक्षा अनुपस्थितको विषय करनेवाला द्रव्य निक्षेप है इस

आशयकी समता रखनेवाले जितने भी उदाहरण मिलें सब ज्ञायक शरीर नोआगमद्रव्यके उदाहरण समझ लेने चाहिये ।

भावि नोआगमद्रव्यका उदाहरण ग्रंथकारोंने भविष्यत पर्यायकी अपेक्षासे दिया है परन्तु वहांपर भूत भविष्यत वर्तमान तीनों पर्यायोंकी अपेक्षा समझ लेनी चाहिये अर्थात् जो शरीर मनुष्य आदि जीवन पर्याय वा सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके प्रति अभिमुख है आगे जाकर प्राप्त करनेवाला है उसको इस समय भी मनुष्य आदि वा सम्यग्दर्शनका धारक कहना यह जिसतरह भावि नोआगमका विषय है उसी तरह जिस शरीरसे मनुष्य आदि जीवन पर्याय पहिले प्राप्त कर ली है उसे भी मनुष्य आदि वा सम्यग्दर्शनका धारक कहना यह भूतकालकी अपेक्षा अनुपस्थित भी भावि नोआगमका विषय है तथा जो शरीर वर्तमानकालमें मनुष्य आदि जीवन पर्याय प्राप्त कर रहा है, पूर्णरूपसे प्राप्त नहीं कर चुका उसे भी मनुष्य आदि वा सम्यग्दर्शनका धारक कहना यह वर्तमानकालकी अपेक्षा अनुपस्थित भी भावि नो आगमद्रव्यका विषय है । ऊपर यह कहा जा चुका है कि भावि नोआगम द्रव्यमें ज्ञायकताका संबंध नहीं । आत्मासे भिन्न शरीर आदि सभी द्रव्यका यहां पर ग्रहण है इसलिये इसके लक्षणानुकूल जितने भी उदाहरण मिलें सब भावि नो आगमके उदाहरण समझ लेने चाहियें । जिस ईंट चूनासे घर बननेवाला है उसे अभीसे घर कह देना यह भविष्यत कालकी अपेक्षा अनुपस्थित, जो घर नष्ट हो चुका उसे भी घर कहना यह भूतकालकी अपेक्षा अनुपस्थित, जो घर बन रहा है, अभी बनकर पूर्ण नहीं हुआ उसे भी घर कहना यह वर्तमानकी अपेक्षा अनुपस्थित इत्यादि सभी उदाहरण भावि नो आगमद्रव्यके ही जानने चाहिये ।

नोआगमद्रव्यमें शरीरका ग्रहण किया गया है इसलिये आपसमें विरोध रहनेके कारण आगमद्रव्यमें भाविनोआगमका समावेश नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि शरीर कर्म और नोकर्मोंका समुदाय स्वरूप है जब ज्ञायक शरीरमें ही कर्म और नोकर्मोंका समावेश हो जायगा तब नो आगमद्रव्यका एक तद्व्यतिरिक्त भेद मानना और उसके कर्म और नोकर्म भेद मानना यह झगडा व्यर्थ है ? सो भी ठीक नहीं। औदारिक वैक्रियक और आहारक इन तीनों ही शरीरोंमें ज्ञायकपना माना है, तैजस और कार्माण कर्मरूप शरीरोंमें तथा शरीररूप परिणत होनेवाले आहार आदि नोकर्म रूप पुद्गलोंमें ज्ञायकपना नहीं हो सकता यदि इनमें भी ज्ञायकपना मान लिया जायगा तो विग्रहगति में तैजस और कार्माण शरीर मौजूद हैं वहांपर भी जीवको ज्ञान होना चाहिये परन्तु होता नहीं। इस रीतिसे कर्म और नोकर्मका जब शरीरमें समावेश नहीं हो सकता तब तद्व्यतिरिक्त नामका नो-आगमद्रव्यका भेद और उसके कर्म और नोकर्म भेदोंका मानना परमावश्यक है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि कर्म और नोकर्मोंका ज्ञायक शरीरमें समावेश न सही, भावि नोआगमद्रव्यका और कर्म नोकर्मका विषय प्रायः एक ही है क्योंकि शरीरमें होनेवाली भविष्यत् कालकी पर्यायका वर्तमानमें आरोप भावि नोआगमद्रव्यका भी विषय है और कर्म नोकर्मका भी, इसलिये कर्म और नोकर्मके अर्थ की सिद्धि भावि नो आगमसे ही हो जायगी, तद्व्यतिरिक्तका कर्म नोकर्म भेद मानना निरर्थक है ? सो ठीक नहीं। जो पुरुष—आत्मा, मनुष्य आदि पर्याय वा सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार है उसीके कर्म और नोकर्मोंका ग्रहण है किंतु जो पुरुष मनुष्य आदि पर्याय वा सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार नहीं है उसके कर्म और नोकर्मोंका ग्रहण नहीं। भावि नो आगम द्रव्यमें तो जो पुरुष मनुष्य आदि

जीवनपर्याय वा सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार नहीं उसके शरीर वा कर्म नोकर्मोंका ग्रहण है इसलिये आपसमें अर्थमें विरुद्धता होनेके कारण कर्म और नोकर्मका भावि नोआगम द्रव्यमें समावेश नहीं हो सकता।

विस्तृत व्याख्यान—श्लोक वार्तिकालंकार सर्वार्थसिद्धिकी टिप्पणीका पाठांतर और युक्तिबलसे हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि यद्यपि लक्षण करते समय द्रव्यनिक्षेपका विषय भविष्यत् पर्यायकी अपेक्षा ही ग्रंथकारोंने वर्णन किया है तो भी वह तीनों कालोंकी अपेक्षा ही मानना ठीक है। जिस पदार्थका निक्षेप किया जाय उस पदार्थको वर्णन करनेवाले शास्त्रका जानकार तो हो परन्तु जिस समय उसके चिंतवन आदिमें उपयोगरहित हो 'आगे जाकर उपयुक्त हो' ऐसा आत्मा आगमद्रव्य है यह सामान्य आगम द्रव्यका लक्षण कहा गया है और यहांपर भविष्यत् पर्यायकी ही प्रधानता रक्खी है। इस रीति से जो पुरुष मनुष्य आदि जीवन पर्याय वा सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार हो और जिससमय वह उसके चिंतवन आदिमें उपयोगरहित हो तो भी इस समय उसे उपयुक्त कह देना यही आगम द्रव्यका विषय कहा जा सकता है किंतु जो पुरुष मनुष्य आदि जीवन पर्याय वा सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार हो, उनके चिंतवन आदिमें पहिले ही उपयुक्त हो चुका, इस समय अनुपयुक्त है उसे भी उपयुक्त कह देना यह भूतकालकी अपेक्षा अनुपास्थित आगम द्रव्यनिक्षेपका विषय न कहा जा सकेगा तथा जो पुरुष मनुष्य आदि जीवन पर्याय और सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार हो, उनके चिंतवन आदि में उपयुक्त हो रहा हो पूर्ण उपयुक्त न हुआ हो उसे भी उपयुक्त कह देना यह वर्तमान कालकी अपेक्षा अनुपास्थित भी आगमद्रव्य निक्षेपका विषय न कहा जा सकेगा परन्तु व्यवहार तीनों कालोंकी अपेक्षा

तद्व्यतिरिक्तके जो कर्म और नोकर्म दो भेद बतलाये हैं उनके उदाहरण भी ग्रंथकारने भविष्यत् पर्यायकी अपेक्षा ही दिये हैं परंतु वहांपर भी तीनों कालोंकी अपेक्षा उदाहरण समझलेने चाहिये क्योंकि कर्म नोकर्ममें जिसतरह भविष्यत् पर्यायकी अपेक्षा व्यवहार होता है उसीतरह भूत और वर्तमान पर्यायोंकी अपेक्षा भी व्यवहार होता है। कर्म और नोकर्मोंमें ज्ञायक पुरुषके ही कर्म और नोकर्मोंका ग्रहण है यह ऊपर कह दिया जा चुका है।

सामान्यरूपसे तो चेतन अचेतन दोनों प्रकारके पदार्थोंमें भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंकी अपेक्षा अनुपस्थित पदार्थोंको वर्तमानमें उपस्थितरूपसे कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है परंतु आगम नो आगम आदि जो भी भेद कहे गये हैं वे कुछ विषयकी विशेषता और स्पष्टताकेलिये कहे गये हैं। यद्यपि ग्रंथकारको प्रसिद्ध उदाहरणोंका अवलंबन कर द्रव्यनिक्षेपका स्वरूप कहना था परंतु ऊपरसे प्रकरण जीव आदि तत्त्व वा सम्यग्दर्शनका चला आरहा है इसलिये निक्षेपोंमें उन्हींको उदाहरण रख निक्षेपोंका विषय घटाया है। अच्छीतरह द्रव्यनिक्षेपका मनन करनेसे द्रव्यनिक्षेपके लौकिक और शास्त्रीय दोनों प्रकारके उदाहरण स्पष्टरूपसे अनुभवमें आ जाते हैं। नैगमनय और द्रव्यनिक्षेपका विषय समान नहीं है। द्रव्यनिक्षेपका विषय खुलासारूपसे कहीं भी हमारे देखनेमें नहीं आया इसलिये श्लोकवार्तिकालंकारके आधारसे कुछ मनन कर यहां उसका कुछ विशदस्वरूप लिखा गया है। इस

१ नय ज्ञानरूप पडता है और निक्षेप पदार्थोंका व्यवहार प्रकार है। इसलिये नैगमनय और द्रव्यनिक्षेपमें विषय-विषयी सम्बन्ध है। नय विषयी है, निक्षेप विषय है।

कथनमें यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसे शास्त्रानुसार विद्वान् ठीक कर लेवें, इसप्रकार यह द्रव्यनिक्षेपका विचार समाप्त हो चुका। अब भावनिक्षेपका विचार किया जाता है—

वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ॥ ८ ॥ स द्विविधः पूर्ववत् ॥ ९ ॥

इंद्र नामक नामकर्मके उदयसे जो आत्मा इंद्र पर्याय प्राप्त कर चुका है और जिससमय परमैश्वर्यका भोग कर रहा है वह जिसतरह इंद्र कहा जाता है उसीतरह जो द्रव्य, मनुष्य आदि जीवन पर्याय और सम्यग्दर्शनसे जिससमय युक्त है उसीसमय उसे मनुष्य आदि और सम्यग्दर्शन या सम्यग्दर्शनका धारक कहना, अन्य समयमें न कहना, यह भाव निक्षेपका विषय हैं। जिसतरह द्रव्यनिक्षेपके एक आगम द्रव्यनिक्षेप दूसरा नो आगम द्रव्यनिक्षेप इसतरह दो भेद कह आये हैं उसीतरह भाव निक्षेपके भी एक आगम भाव निक्षेप, दूसरा नो आगम भाव निक्षेप ये दो भेद हैं। उनमें—

तत्प्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मागमः ॥ १० ॥ जीवादिपर्यायाविष्टोऽन्यः ॥ १२ ॥

जो आत्मा जिसका निक्षेप किया जारहा है उसके शास्त्रका जानकार है और जिससमय उसके चिंतवन आदिमें उपयुक्त है वह आगम भाव निक्षेप है। ऊपर कहा जा चुका है कि शास्त्रीय उदाहरण जीव और सम्यग्दर्शनपर ग्रंथकारने निक्षेपोंका विषय घटाया है इसलिये जो आत्मा जीवशास्त्रका जानकार है और वर्तमानमें उसके चिंतवन आदिमें उपयुक्त है वह आगम भाव जीवनिक्षेप है इसीतरह जो आत्मा सम्यग्दर्शनके शास्त्रका जानकार है और वर्तमानमें उसके चिंतवन आदिमें उपयुक्त है वह आगम भाव सम्यग्दर्शन है तथा जो आत्मासे भिन्न शरीर आदि मनुष्य आदि जीवन पर्यायसे युक्त हो वह नो आगम भाव जीव है और जो शरीर आदि सम्यग्दर्शन पर्यायसे युक्त हो वह नो आगम भाव

सम्यग्दर्शन है। नो आगम द्रव्यनिक्षेपमें उदाहरण बतला आये हैं उनमें उपयुक्त अवस्था सब नो आगम भाव निक्षेपका विषय समझ लेना चाहिये। यदि शंका की जाय कि—

नामस्थापनयोरेकत्वं संज्ञाकर्माविशेषादिति चेन्नादरानुग्रहाकांक्षित्वात्स्थापनायां ॥ १२ ॥

नामनिक्षेपमें यह करोडीचंद है वा हाथीसिंह आदि नाम ही रक्खे जाते हैं स्थापनानिक्षेपमें भी पार्श्वनाथकी मूर्तिको पार्श्वनाथ वा शांतिनाथकी मूर्तिको शांतिनाथ कहना इत्यादि नाम ही रक्खे जाते हैं तथा विना नामके स्थापना निक्षेप सिद्ध ही नहीं होता इसलिये जब दोनों जगह नाम रखनेकी ही प्रधानता है तब नाम निक्षेप ही मानना चाहिये स्थापना निक्षेपकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो अयुक्त है। किसी पदार्थका बढकर नाम रखनेपर भी उसमें खास पदार्थके समान आदर बुद्धि और उससे किसी प्रकारके उपकार पानेकी आकांक्षा नहीं होती किंतु स्थापना निक्षेपमें यह बात नहीं, वहां पर खास पदार्थका जैसा आदरसत्कार किया जाता है उसीप्रकारका आदरसत्कार होता है एवं खास पदार्थसे जिसप्रकारके उकार प्राप्त करनेकी इच्छा रहती है वैसी ही जिसमें स्थापना की गई है उससे उपकार प्राप्त करनेकी इच्छा रहती है जिसतरह—जिन पुरुषोंके अर्हंत इंद्र गणेश ईश्वर आदि नाम रख दिये जाते हैं उन पुरुषोंमें अर्हंत आदिमें जैसी आदरबुद्धि होती है वैसी नहीं होती और अर्हंत आदिसे जैसी उपकार पानेकी इच्छा रहती है वैसी अर्हंत आदि नामधारी पुरुषोंसे नहीं होती किंतु जिन जिन प्रतिमाओंमें यह स्थापना की जाती है कि—यह भगवान अर्हंत हैं यह इंद्र यह गणेश और यह ईश्वर हैं उनमें अर्हंत आदिके समान ही आदरसत्कारबुद्धि होती है और अर्हंत आदिके समान ही उनसे उपकार प्राप्त करनेकी इच्छा रहती है इसरीतिसे नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप दोनो जगह यद्यपि नाम

रचना समान है तथापि नाम निक्षेपकी अपेक्षा स्थापना निक्षेपमें आदर अनुग्रह आकांक्षाकी विशेषता है इसलिये दोनों निक्षेपोंका एक निक्षेप नहीं कहा जा सकता।

द्रव्यभावयोरेकत्वमव्यतिरेकादिति चेन्न कथंचित्संज्ञास्वालक्षण्यादिभेदात्तद्भेदसिद्धेः ॥ १२ ॥

द्रव्यसे त्रिकालवर्ती पर्यायोंका समुदाय ग्रहण किया गया है। भाव, द्रव्यकी पर्याय है। क्योंकि नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों निक्षेप द्रव्यको विषय करनेवाले हैं और भाव निक्षेप केवल वर्तमान पर्यायको विषय करता है तथा पर्याय और द्रव्यका आपसमें अभेद संबध है। द्रव्यसे भिन्न पर्याय नहीं रह सकतें और पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य नहीं रह सकती इसलिये द्रव्यके कहनेसे ही जब भावका ग्रहण हो जायगा तब भाव निक्षेपको जुदा कहना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। जिनके नाम वा लक्षण संख्या आदिसे भेद सिद्ध है वे पदार्थ आपसमें भिन्न माने जाते हैं। द्रव्य और भावके व्यवहारमूलक नाम जुदे जुदे हैं। लक्षण भी भिन्न भिन्न हैं। दोनोंके भेद प्रभेद भी जुदे जुदे हैं इसलिये वे दोनों ही जुदे जुदे पदार्थ हैं एक नहीं हो सकते।

विशेष—आदेके तीन निक्षेप द्रव्यको विषय करनेवाले हैं और भाव निक्षेप पर्यायको विषय करनेवाला है यह विषय स्वानुभव सिद्ध है और श्लोकवार्तिककारने भी इस विषयमें यह उल्लेख किया है—

नामोक्तं स्थापना द्रव्यं द्रव्यार्थिकनयार्पणात्।
पर्यायार्थार्पणाद् भावस्तैर्न्यासः सम्यगीरितः॥ ६९॥ पृष्ठ ११३।

१। पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि। दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥ पंचास्तिकायसमयप्राभृत पृष्ठ २८ रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला।

अर्थात् द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नाम स्थापना और द्रव्यका कथन है क्योंकि ये तीनों ही निक्षेप द्रव्यको विषय करते हैं और भाव निक्षेप पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा कहा गया है क्योंकि वह वर्तमान काल संबंधी द्रव्यकी पर्यायको ही विषय करता है इसप्रकार इन चारो निक्षेपोंसे जीवादि पदार्थोंका व्यवहार होता है। शंका—

द्रव्यस्यादौ वचनं न्याय्यं तत्पूर्वकत्वान्नामादीनां ॥ १४ ॥

द्रव्यके रहते ही नाम और स्थापना हो सकते हैं जब द्रव्य ही कोई पदार्थ न रहेगा तब किसका तो नाम रक्खा जायगा और किसकी किसमें स्थापना होगी। इसरीतिसे नाम और स्थापनाका कारण द्रव्य पदार्थ होनेसे नामस्थापना इत्यादि सूत्रमें उसका सबसे पहिले पाठ रखना चाहिये। नामका सबसे पहिले पाठ रखना अयुक्त है? सो ठीक नहीं।

संव्यवहारहेतुत्वात्संज्ञायाः पूर्ववचनं ॥ १५ ॥

लोकका समस्त व्यवहार नामपूर्वक होनेसे नामस्वरूप है यदि पदार्थोंका नाम न होगा तब यह घडा है यह कपडा है इत्यादि व्यवहार ही सिद्ध न हो सकेगा किंतु पदार्थोंके व्यवहारका सर्वथा उच्छेद हो जायगा। तथा लोकके व्यवहारके नामपूर्वक होनेके कारण यदि कोई स्तुति करता है तो राग-प्रीति और निंदा करता है तो द्वेष होता है। यदि लोकमें स्तुति और निंदाका व्यवहार ही न होगा तो राग द्वेष भी न हो सकेगा इसरीतिसे लोकके समस्त व्यवहारकी सत्ता जब नाम निक्षेप पर ही निर्भर है तब वही प्रधान हुआ इसलिये सबसे पहिले जो उसका पाठ रक्खा है वह युक्त है।

ततः स्थापनावचनमाहितनामकस्य स्थापनोपपत्तेः ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस पदार्थका कुछ न कुछ नाम मोजूद है उसीकी स्थापना होती है विना नामके स्थापना नहीं हो सकती क्योंकि नाम रहते ही 'यह अमुक है' इसप्रकार स्थापना की जा सकती है इसलिये नामके बाद स्थापनाका पाठ रक्खा गया है।

द्रव्यभावयोः पूर्वापरन्यासः पूर्वोत्तरकालवृत्तित्वात् ॥ १७ ॥

द्रव्यका पहिले और भावका पीछे जो पाठ रक्खा गया है वह पूर्व और उत्तरकालकी अपेक्षा है। पूर्वकाल द्रव्यका विषय है और उत्तरकाल भावका विषय है। अथवा—

तत्त्वप्रत्यासत्तिप्रकर्षाप्रकर्षभेदाद्वा तत्क्रमः ॥ १८ ॥

तत्त्वशब्दका अर्थ भाव है यह ऊपर कहा जा चुका है। द्रव्य स्थापना और नाम निक्षेपोंका जन्म भावके ही आधार है इसलिये नाम आदि सबमें भाव प्रधान है। उस प्रधान भाव शब्दके समीपमें द्रव्य शब्दका पाठ रक्खा है क्योंकि भावका आधार द्रव्यके सिवा अन्य नहीं। द्रव्यके समीपमें स्थापनाका पाठ रक्खा है क्योंकि जिस पदार्थका अतद्भाव है—साक्षात् वह उपस्थित नहीं है उसके तद्भावमें अर्थात् उसको उसीरूपसे मनवानेमें प्रधान कारण स्थापना है। स्थापनाके द्वारा साक्षात् पदार्थ न हो तो भी वह साक्षात् सरीखा मनवा दिया जाता है। स्थापनाके समीपमें नामका पाठ है क्योंकि भावसे वह अत्यंत दूर है। इसप्रकार भावकी अपेक्षा समीप वा दूर होनेके कारण नाम आदि निक्षेपोंका क्रमपूर्वक कथन है।

१ द्रव्य स्वयं भावरूप परिणत होता है इसलिये भावके समीप ही द्रव्यका उल्लेख किया गया है। भावकेलिये द्रव्य कारणरूप सामग्री है।

विशेष—भाव शब्दसे वर्तमान पर्यायका ग्रहण है। द्रव्य निक्षेपमें भावकी प्रधानता है क्योंकि वहां भविष्यत् आदि अनुपस्थित पर्यायोंको वर्तमान कालका पर्याय मानकर व्यवहार किया जाता है। स्थापना निक्षेपमें भी भावकी ही प्रधानता है क्योंकि वहां अतद्भावको तद्भाव माना जाता है अर्थात् जो पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकर हो चुके उनकी प्रतिमाओंको वर्तमानमें पार्श्वनाथ आदि ही कहना पडता है। नाम निक्षेपमें भी वर्तमानमें किसी मनुष्यको करोडीचंद वा हाथीसिंह आदि कहना यह भावकी ही प्रधानता है परंतु यहां पर कुछ साक्षात् प्रधानता नहीं आपेक्षिक प्रधानता है क्योंकि करोडीचंद आदि आत्मद्रव्यकी पर्याय नहीं, पर्याय सरीखी लगनेवालीं हैं इस रीतिसे भाव निक्षेपको प्रधान मान उसकी अपेक्षा व्यतिक्रमसे इहां निक्षेपोंके क्रमकी सार्थकता बतलाई है तथा समस्त लोकका व्यवहार नाम पर निर्भर है इसलिये चारों निक्षेपमें सबसे पहिले नामका उल्लेख है। विना नामके स्थापना सिद्ध नहीं हो सकती इसलिये नामके बाद स्थापनाका पाठ रक्खा है। नाम और स्थापना दोनों निक्षेप द्रव्यके आधीन हैं—विना द्रव्यके नाम और स्थापना सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये स्थापनाके वाद द्रव्य निक्षेपका उल्लेख है। भाव द्रव्यकी ही पर्याय है। विना द्रव्यके भाव हो नहीं सकता इसलिये पूर्व और उत्तर कालकी अपेक्षा द्रव्यका पहिले और उसके बाद भावका उल्लेख किया है। इस रीतिसे यहां नामको प्रधान मान उसकी अपेक्षा अनुक्रमसे द्रव्यादि निक्षेपोंकी सार्थकता उपर वतलाई गई है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

नामादिचतुष्टयाभावो विरोधात् ॥ १९ ॥ न वा सर्वेषां संव्यवहारं प्रत्यविरोधात् ॥ २० ॥

एक ही शब्दार्थ नाम स्थापना आदि चारों निक्षेप स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि जो नाम है वह

नाम ही है स्थापना नहीं कहा जा सकता, यदि नाम ही स्थापना माना जायगा तो वह नाम नहीं कहा जा सकता स्थापना कहना पडेगा परंतु स्थापना नाम हो नहीं सकता इसलिये विरोधके कारण जो नामका अर्थ है वह स्थापना नहीं हो सकता तथा एक ही जीव आदि पदार्थ वा एक ही सम्यग्दर्शनादि अर्थ नाम आदि चारो स्वरूप नहीं हो सकते इसलिये विरोधके कारण जब एक शब्दका अर्थ नाम आदि चारो स्वरूप नहीं हो सकता तब नाम आदि चार निक्षेप नहीं सिद्ध हो सकते ? सो ठीक नहीं । नाम आदि चारो निक्षेपोंकी अपेक्षा लोकमें व्यवहार दीख पडता है जिसतरह किसी पुरुषका नाम इंद्र वा देवदत्त रख देना यह नामकी अपेक्षा व्यवहार है। इंद्रकी प्रतिमामें यह इंद्र है ऐसा मानना स्थापनाकी अपेक्षा व्यवहार है। जो परिणाम आगे होनेवाला है उसको वर्तमानमें ही कह डालना यह द्रव्य निक्षेपकी अपेक्षा लोकमें व्यवहार दीख पडता है। जिसतरह—जो द्रव्यस्वरूप बालक आगे जाकर आचार्य सेठ वैयाकरण और राजा होगा उसे वर्तमानमें ही आचार्य सेठ वैयाकरण और राजा कह दिया जाता है इसलिये जो काष्ठ इंद्रकी प्रतिमा बननेके लिये आया है उसे इंद्र कह देना क्योंकि "काष्ठके लाने पर; 'मैं इंद्र लाया हूं' ऐसा कहा जाता है" यह द्रव्यकी अपेक्षा व्यवहार है तथा जो शचीपति इंद्र जिससमय परमैश्वर्यका भोग कर रहा है उससमय उसे इंद्र कहना यह भावकी अपेक्षा व्यवहार है इसरीतिसे जब भिन्न भिन्न रूपसे चारो निक्षेपोंकी अपेक्षा संसारका व्यवहार प्रत्यक्ष सिद्ध है, एक भी निक्षेपकी कमी हो जाने पर व्यवहारकी भी कमी दीख पडती है तब चारो निक्षेपोंमें एकका भी अभाव नहीं हो सकता। और भी यह बात है—

अभिहितानवबोधात् ॥ २१ ॥

अर्थ—जिस वादीका यह कहना है कि जो नाम है वह नाम ही माना जा सकता है स्थापना नहीं उसने यथार्थ बातको समझा ही नहीं? हमारे कहनेका यह तात्पर्य ही नहीं कि नाम ही स्थापना माना जायगा किंतु हम यह कहते हैं एक ही पदार्थका नाम स्थापना द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपोंसे व्यवहार होता है इसलिये हमारे कहनेमें उपर्युक्त कोई दोष नहीं लागू हो सकता। और भी यह बात है कि—

अनेकांताच्च ॥ २२ ॥ मनुष्यब्राह्मणवत् ॥ २३ ॥

एकांतरूपसे हमारी यह कोई हठ भी नहीं कि नाम ही स्थापना है वा नहीं है। अथवा स्थापना ही नाम है वा नहीं है क्योंकि जिसतरह ब्राह्मण जाति, मनुष्यजातिस्वरूप है मनुष्यजातिसे भिन्न नहीं, इसलिये ब्राह्मण, मनुष्य कहा जाता है, किंतु मनुष्य, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि सब जाति स्वरूप है। मनुष्यके कहनेसे सभी जातियोंका एक साथ ज्ञान होता है इसलिये वह ब्राह्मण कहा भी जा सकता है और नहीं भी। उसीप्रकार विना नामके स्थापना नहीं हो सकती इसलिये स्थापना तो नाम कह दी जा सकती है परन्तु नाम स्थापनास्वरूप भी दीख पडता है और जिस नाममें स्थापनाका सम्बन्ध नहीं वह विना स्थापनाके अकेला भी दीख पडता है इसलिये वह स्थापना स्वरूप भी कहा जाता है और विना स्थापनाके भी कहा जाता है। तथा—द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य, भावरूप पर्यायसे भिन्न नहीं है। भावस्वरूप ही है इसलिये द्रव्य ही भाव कह दिया जाता है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा द्रव्य भाव पर्यायसे भिन्न है इसलिये द्रव्य, भाव पर्यायरूप नहीं कहा जाता इस रीतिसे द्रव्यका भावके साथ कथंचित् भेदाभेद ही अनुभवमें आता है एवं द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा भाव पर्याय द्रव्यसे जुदी नहीं है इसलिये वह द्रव्यस्वरूप कही जाती है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा भावपर्याय भिन्न और द्रव्य भिन्न

है इसलिये वह द्रव्यस्वरूप नहीं कही जा सकती इस रीतिसे भावका द्रव्यके साथ कथंचित् भेदाभेद ही अनुभवमें आता है। इसप्रकार अनेकांतके आश्रयसे भी कोई दोष नहीं आता। तथा—

अतस्तत्सिद्धेः ॥ २४ ॥

वादी जिस युक्तिसे नाम आदि निक्षेपोंका आपसमें विरोध कहकर उनका अभाव कहना चाहता है उसीसे उनका अभाव नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि विरोधके तीन भेद हैं—वध्यघातक, सहानवस्थान और प्रतिबध्यप्रतिबंधक। एक पदार्थ नाश करनेवाला हो और दूसरा उससे नष्ट होनेवाला हो ऐसी जगह वध्यघातक विरोध होता है जिस तरह काक उल्लूको मार डालता है अथवा नोला सांपको मार डालता है जल अग्निको बुझा देता है इसलिये यहांपर वध्यघातक विरोध कहा जाता है। एक साथ जो दो पदार्थ न रह सकें जिसतरह एक ही स्थानपर जब छाया रहती है तब धूप नहीं, जब धूप रहती है तब छाया नहीं अथवा एक ही आममें जब कच्ची अवस्थामें हरा रंग रहता है तब पीला नहीं रहता और जब पीला रंग होता है तब हरा नहीं रहता यह सहानवस्थान नामका विरोध है। एक कार्यका रोकनेवाला हो दूसरा रुक जानेवाला हो जिस तरह एक चन्द्रकान्त नामकी मणि होती है यदि जलती हुई अग्निके सामने उसे रख दिया जाता है तो अग्निका जलना बंद हो जाता है यह प्रतिबध्य-प्रतिबंधक नामका विरोध है। वादी नाम आदि निक्षेपोंमें सहानवस्थान नामका विरोध बतलाता है क्योंकि उसका कहना है कि जिस समय कोई शब्दका अर्थ नामस्वरूप कहा जायगा वह स्थापना स्वरूप नहीं हो सकता और जब स्थापनास्वरूप कहा जायगा तब नामरूप नहीं हो सकता परन्तु जिसतरह वध्यघातक विरोध विद्यमान पदार्थोंका ही होता है जो पदार्थ आजतक देखने सुननेमें ही

नहीं आए जैसे काकके दांत गधेके सींग नहीं होते उसीतरह सहानवस्थान लक्षण विरोध भी विद्यमान पदार्थोंका ही होता है अविद्यमानोंका नहीं। यदि नाम और स्थापना आदिको न माना जायगा तो काकके दांत, गधेके सींगके समान उनका भी सहानवस्थान नामका विरोध सिद्ध न हो सकेगा। इसलिये जब नाम और स्थापना आदि पदार्थ भिन्न २ हैं तब चारों निक्षेपोंका कभी अभाव नहीं कहा जा सकता। और भी यह बात है कि—

नामाद्यात्मकत्वानात्मकत्वे विरोधस्याविरोधकत्वात ॥ २५ ॥

जिस सहानवस्थान नामके विरोधका नाम आदि निक्षेपोंमें वादी उल्लेख कर रहा है वह विरोध नाम स्थापना आदि निक्षेप स्वरूप है वा उससे भिन्न है? यदि वह नाम आदि निक्षेपस्वरूप है तब नाम आदिमें विरोध करनेवाला ही कोई पदार्थ नहीं रहा क्योंकि विरोध करनेवाला सहानवस्थान नामक विरोध पदार्थ था वह नाम आदि स्वरूप ही मान लिया गया यदि नाम आदि स्वरूप रहकर भी विरोध पदार्थ नाम आदिमें विरोध करनेवाला माना जायगा तो नाम आदिका स्वरूप भी उनमें विरोध करनेवाला मानना पडेगा क्योंकि जिसतरह नाम आदिसे विरोध पदार्थ अभिन्न है तो भी वह विरोध करनेवाला माना जाता है उसीप्रकार नाम आदिका स्वरूप भी नाम आदिसे अभिन्न है वह भी विरोध करनेवाला होगा इस रूपसे स्वरूपको ही विरोधका करनेवाला होनेके कारण नाम आदिका अभाव ही हो जायगा। यदि यह कहा जायगा कि वह विरोध नाम आदिसे भिन्न है तब तो वह नाम आदिमें विरोध करनेवाला हो ही नहीं सकता क्योंकि नाम आदिसे वह अर्थान्तर है भिन्न है। यदि भिन्न होकर भी वह नाम आदिमें विरोध करनेवाला माना जायगा तो समस्त पदार्थ आपसमें एक दूसरेसे भिन्न हैं इसलिये

हर एक पदार्थ हर एक पदार्थका विरोध करनेवाला हो जायगा इस रीतिसे अभेद और भेद दोनों पक्षों की अपेक्षा जब सहानवस्थान लक्षण विरोध नाम आदिमें विरोध करनेवाला सिद्ध नहीं होता तब उसे जबरन विरोध करनेवाला बतलाना युक्तिविरुद्ध है ।

तादूगुण्याद् भावस्य प्रामाण्यमिति चेन्नतरव्यवहारनिवृत्तेः ॥ २६ ॥

जीवन आदि गुण वा सम्यग्दर्शन आदि गुण जिसमें विद्यमान हों वह तद्गुण कहा जाता है तद्गुणका जो भाव–वर्तमानमें उसी रूपसे रहना तादूगुण्य–तद्गुणपना कहलाता है इस रीतिसे हर एक पदार्थमें भावकी ही घनिष्ठता होनेसे वही प्रधान है उसीके द्वारा लोकका व्यवहार सिद्ध हो सकता है नाम आदि निक्षेप माननेकी कोई भी आवश्यकता नहीं क्योंकि उनमें तद्गुणपना नहीं है ? सो अयुक्त है । जिस तरह भावकी अपेक्षा होनेवाला व्यवहार अनुभवमें आता है उसीप्रकार नाम स्थापना आदि की अपेक्षा होनेवाला व्यवहार भी अनुभवमें आता है यदि नाम आदिको न माना जायगा तो उनकी अपेक्षा होनेवाले व्यवहारका लोप ही हो जायगा इस रीतिसे केवल भावकी ही प्रधानता न होकर नाम आदिकी भी प्रधानता है इसलिये उनका अभाव नहीं कहा जा सकता । यदि यह कहा जाय कि–

उपचारादिति चेन्न तदूगुणाभावात् ॥ २७ ॥

जिस तरह 'सिंहो माणवकः' अर्थात् बालक सिंह है यहांपर यद्यपि बालक सिंह नहीं हो सकता तो भी क्रूरता शूरता आदि गुणोंकी कुछ समानता रहनेसे उसे उपचारसे सिंह कह दिया जाता है उसी तरह प्रधान तो भाव ही है और उससे होनेवाला व्यवहार ही प्रामाणिक और प्रधान है तथापि उपचार से नाम आदिको मानकर उनसे होनेवाला व्यवहार भी हो सकता है वह निवृत्त नहीं हो सकता ? सो

ठीक नहीं। सिंहके अन्दर जो क्रूरता शूरता आदि अनेक गुण भयंकरतासे होते हैं, बालकमें उनका कुछ अंश रहनेपर उसमें सिंहका व्यवहार होना उचित है परन्तु नाम आदिमें तो जीवन आदि गुणका कैसा भी कुछ अंश नहीं इसलिये उनमें कभी उपचार नहीं हो सकता एवं उपचारके अभावसे उनका भी अभाव कहना पडेगा इस रीतिसे उनसे होनेवाला व्यवहार निवृत्त ही हो जायगा, वह हो नहीं सक्ता। और भी यह बात है कि—

मुख्यसंप्रत्ययप्रसंगाच्च ॥ २८ ॥

'गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः' अर्थात् प्रधान अप्रधान पदार्थोंमें प्रधानका ही ग्रहण होता है अप्रधानका नहीं। यह सर्वसाधारण नियम है। यदि भावसे होनेवाले व्यवहारको मुख्य व्यवहार माना जायगा और नाम आदिसे होनेवाले व्यवहारको गौण माना जायगा तो भावसे होनेवाले ही प्रधान व्यवहारका ग्रहण होगा, नाम आदिसे होनेवाले अप्रधान व्यवहारका ग्रहण न हो सकेगा परन्तु जिस पुरुषको नाम आदिके संकेतका ज्ञान है वह नाम आदिके अर्थ[1] वा प्रकरणकी[2] कोई अपेक्षा न कर उनका उच्चारण होते ही तत्काल उनसे होनेवाले व्यवहारको जान लेता है इसलिये नाम आदिसे होनेवाला व्यवहार गौण व्यवहार नहीं कहा जा सकता। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवतीति लोके ॥ २९ ॥ तन्न, किं कारणं ? उभयगतिदर्शनात् ॥ ३० ॥

इहांपर कृत्रिमका अर्थ रूढि और अकृत्रिमका अर्थ स्वभावसिद्ध अर्थ है। लोकमें यह व्यवहार

---

१ जिसका जो नाम है उसका उसी नामसे व्याख्यान करना अर्थ कहा जाता है। २ यहांपर यह व्याख्यान इस तरह करना चाहिये ऐसा जहां उपदेश है वहां प्रकरण समझना चाहिये।

दीख पडता है कि कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थोंमें कृत्रिमहीका ग्रहण किया जाता है जिसतरह गोपालक शब्दका अकृत्रिम अर्थ गौका पालन करनेवाला है और कृत्रिम अर्थ किसी पुरुषका नाम भी है परन्तु[1] गोपालक कहनेसे गौका पालन करनेवाला इस अर्थका बोध नहीं होता किंतु गोपालक नामका अमुक व्यक्ति है यही बोध होता है तथा कटेजकका अकृत्रिम अर्थ चटाईमें पैदा होनेवाला और कृत्रिम अर्थ किसी पुरुषका नाम भी है परन्तु कटेजक कहनेसे चटाईमें उत्पन्न होनेवाला इस अर्थका बोध नहीं होता 'कटेजक नामका अमुक व्यक्ति है' यही बोध होता है उसीप्रकार जीव आदि शब्दोंका अकृत्रिम अर्थ आत्मा भी है और कृत्रिम अर्थ किसी पुरुषका नाम भी हो सकता है। इहांपर भी जीव वा सम्यग्दर्शन ऐसा उच्चारण करनेपर जिस पुरुषके ये नाम होंगे उन्हींका बोध होगा आत्माका वा श्रद्धानरूप अर्थ का बोध न हो सकेगा इसलिये नाम आदिसे होनेवाले व्यवहारको उपचारसे माननेपर भी किसी प्रकार का दोष नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। जो पदार्थ जिस नामसे प्रसिद्ध है उसका उसी नामसे व्याख्यान करना अर्थ है। इहांपर यह व्याख्यान इस रीतिसे करना चाहिये ऐसा जहां उपदेश हो वह प्रकरण है। कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थोंमें जहां जहांपर कृत्रिम पदार्थका अर्थ वा प्रकरण होगा वहीं उस का ग्रहण हो सकेगा किंतु जहांपर कृत्रिम पदाथका अर्थ वा प्रकरण न होगा वहांपर कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों ही पदार्थोंका एक साथ ज्ञान होगा। यह वात प्रत्यक्षरूपसे देखी गई है कि जिसके पैर धूलि से भदमेले हो रहे हैं, खुरके समान फटे हुए हैं और जो प्रकरणको विलकुल नहीं पहिचानता ऐसे गांव से आए हुए पुरुषसे यह कहा जाय कि भाई ! गोपालक वा कटेजकको ले आओ तो कृत्रिम और अकृ-

[1] रक्खा हुआ नाम।

त्रिमके प्रकरणका ज्ञान न होनेके कारण उसे दोनों हीका एक साथ ज्ञान होता है और वह भ्रममें पड जानेके कारण जबतक यह निश्चय नहीं कर लेता कि किस गोपालक वा कटेजकको लाऊं तबतक उन के लानेमें वह प्रवृत्त नहीं होता इसलिये जब अर्थ और प्रकरणके विना कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों पदार्थोंका एक साथ बोध होगा तब कृत्रिमको प्रधान मानकर नाम आदिसे होनेवाले व्यवहारको उपचारसे माननेपर भी कोई दोष नहीं, यह कहना युक्तिबाधित है। तथा—

अनेकांतात् ॥ ३१ ॥

एकांतसे हमारा यह भी कहना नहीं कि यह कृत्रिम ही है वा अकृत्रिम ही है किंतु सामान्यकी अपेक्षा अकृत्रिम और विशेषकी अपेक्षा कृत्रिम इसप्रकार कथंचित् अकृत्रिम और कथंचित् कृत्रिम यह हम मानते हैं अर्थात् सामान्यसे तो अकृत्रिम–स्वभावसिद्ध ही अर्थका बोध होता है किंतु कृत्रिम पदार्थके जब अर्थकी विशेषता रहती है वा प्रकरणकी विशेषता रहती है तब विशेषकी विवक्षासे कृत्रिम अर्थकी प्रतीति होने लगती है इसरीतिसे अपनी अपनी अपेक्षा कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों ही बलवान हैं जहां अकृत्रिमकी विवक्षा रहती है वहां अकृत्रिम मुख्य और कृत्रिम गौण एवं जहां कृत्रिमकी विवक्षा रहती है वहां कृत्रिम मुख्य और अकृत्रिम गौण गिना जाता है तब कृत्रिम और अकृत्रिममें कृत्रिम बलवान है और उसीका ग्रहण होता है यह कहना अनेकांत प्रमाणबाधित है। और भी यह बात है–

नयद्वयाविषयत्वात् ॥ ३२ ॥

मूलमें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे नय दो प्रकारका है यह ऊपर कहा जा चुका है नाम

स्थापना और द्रव्य किसी पर्यायविशेषको विषय न कर सामान्यको विषय करनेवाले हैं इसलिये ये तीन निक्षेप तो द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं और भाव निक्षेप पर्याय प्रधान है—वर्तमान पर्यायका ग्रहण करनेवाला है इसलिये वह पर्यायार्थिक नयका विषय है इसरीतिसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नाम आदि तीनो मुख्य और भाव गौण, तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भाव मुख्य और नामादि गौण इसतरह अपने अपने नयकी अपेक्षा प्रधानता और दूसरे दूसरे नयकी अपेक्षा अप्रधानता होनेसे सभी निक्षेप प्रधान और अप्रधान हैं तब गौण और मुख्यमें मुख्य प्रधान होनेसे उसीका ग्रहण होगा यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि नयोंकी अपेक्षा सभी निक्षेप गौण और मुख्य हैं। तथा—कृत्रिम और अकृत्रिममें कृत्रिम मुख्य है इसलिये उसीका ग्रहण है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि नयोंकी अपेक्षा एक मुख्य ही हो वा एक गौण ही हो यह बात नहीं, सभी निक्षेप मुख्य भी हो जाते हैं और गौण भी हो जाते हैं इसलिये यह जो कहा गया था कि भाव निक्षेपसे होनेवाला व्यवहार मुख्य व्यवहार है और नाम आदिसे होनेवाला व्यवहार उपचारसे व्यवहार है वह युक्तिबाधित हो चुका। यदि यह शंका की जाय कि—

द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकांतर्भावान्नामादीनां तयोश्च नयशब्दाभिधेयत्वात्पौनरुक्त्यप्रसंगः ॥ ३३ ॥

न वा विनेयमतिभेदाधीनत्वाद् द्रव्यादिनयविकल्पनिरूपणस्य ॥ ३४ ॥

नाम स्थापना और द्रव्य इन तीन निक्षेपोंको द्रव्यार्थिक नयका विषय बतलाया है और भाव निक्षेपको पर्यायार्थिक नयका विषय बतलाया है तथा आगे जाकर जहां नयोंके भेद प्रभेदोंका वर्णन किया जायगा वहां इनका विषय भी वर्णन किया गया है इसरीतिसे जब नाम आदिका समावेश नयोंमें

ही हो जाता है और उनका आगे कथन किया ही जायगा तब यहां उनका कथन करना पुनरुक्त है। अर्थात् जो एकवार प्रतिपादित हो चुका उसका फिर प्रतिपादन करना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। शिष्योंकी बुद्धिकी अपेक्षा यहां नामादि निक्षेपोंका कथन किया गया है क्योंकि जो पुरुष मेधावी हैं—थोडा कहनेपर बहुत समझ लेते हैं उनकेलिये तो द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दो ही नय उपयुक्त हैं। नयोंका जितना विषय है द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके ही द्वारा वे सब समझ लेते हैं परंतु जो मंदबुद्धि हैं उनमें कोई तो नयोंके तीन भेदोंसे नयोंका समस्त विषय पहिचानते हैं। कोई चार भेदोंसे और कोई कोई पांच आदि अनेक भेदोंसे पहिचानते हैं। नाम आदि जो नयोंके विषय कहे हैं विद्वानोंकी अपेक्षा न भी उनका कहना उपयुक्त हो तो भी जो पुरुष खुलासारूपसे उनका विषय समझ लेनेमें असमर्थ हैं उनके समझानेकेलिये नाम आदिका कहना उपयुक्त ही है इसप्रकार अल्पबुद्धि मनुष्योंकी अपेक्षा नाम आदिके विषयमें विशेषता होनेसे वे पुनरुक्त नहीं कहे जा सकते। यदि कदाचित् यह शंका हो कि—

तच्छब्दाग्रहणं प्रकृतत्वात् ॥ ३५॥

ऊपरसे सम्यग्दर्शन आदिका प्रकरण चला आरहा है इसलिये नाम आदिके साथ उनका संबंध हो ही जायगा। अर्थात् नाम स्थापना आदिसे उनके व्यवहारमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं हो सकती इसलिये 'नामस्थापना' इत्यादि सूत्रमें जो सम्यग्दर्शन आदिके ग्रहणकेलिये तत् शब्दका ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है। यदि यहां पर यह शंका उठाई जाय कि—

प्रत्यासन्नत्वाज्जीवादिषु प्रसंग इति चेन्न सम्यग्दर्शनविषयत्वात् ॥ २६॥

'अनंतरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' अर्थात् जो बिलकुल पासमें रहता है उसीका विधान और

निषेध होता है। नामस्थापनेत्यादि इस सूत्रके समीपमें जीव अजीवादिका व्याख्यान हो चुका है। यदि इहां तत् शब्दका उल्लेख न किया जायगा तो नाम आदि निक्षेपोंसे जीव अजीव आदिका ही व्यवहार होगा सम्यग्दर्शन आदिका न हो सकेगा किंतु होता सम्यग्दर्शन आदिका भी है इसलिये सम्यग्दर्शन आदिका भी नाम आदि निक्षेपोंसे व्यवहार होता है यह बतलानेके लिये सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण युक्त ही है? सो ठीक नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका तत्त्वार्थसूत्र नामक शास्त्रमें प्रधानतासे उपदेश है क्योंकि इन्हींके स्वरूपके समझानेके लिये शास्त्रका आरंभ हुआ है इसलिये ये तीनों प्रधान हैं तथा जीव अजीव आदि तत्त्व, सम्यग्दर्शन आदिके विषय हैं इसलिये उनका गौणरूपसे उपदेश होनेसे वे अप्रधान हैं। प्रधान और अप्रधानमें प्रधानका ही ग्रहण है इस नियमके अनुसार यदि सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण न किया जायगा तो नाम आदि निक्षेपोंके साथ सम्यग्दर्शन आदि प्रधानोंका ही सम्बन्ध हो जायगा अप्रधान जीव अजीव आदिका संबंध ही न हो सकेगा इसलिये सूत्रमें तत् शब्दके ग्रहण न करनेपर अत्यन्त समीपमें रहनेवाले जीव अजीव आदिका; नाम स्थापना आदिके साथ संबंध होगा, सम्यग्दर्शन आदिका न होगा यह नहीं कहा जा सकता। तथा—

विशेषातिदिष्टत्वाच्च ॥ ३७॥

'विशेषेणातिदिष्टाः प्रकृतं न बाधंते' अर्थात् जिनका वर्णन विशेषरूपसे किया जाता है वे प्रकरणसे चले आनेवाले पदार्थमें बाधा नहीं पहुंचाते। इहांपर सम्यग्दर्शन आदि तीनोंका प्रकरण चला आ रहा है और जीव अजीव आदि सम्यग्दर्शन आदिके विषय हैं यह भी विशेष रूपसे कहा गया है इसलिये जीव अजीव आदि कैसे भी अत्यंत समीप क्यों न हों वे सम्यग्दर्शन आदिको बाधा नहीं कर सक्ते

इसलिये जिसका यह कहना था कि यदि नाम स्थापनेत्यादि सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण न किया जायगा तो अत्यंत पासमें रहनेवाले जीव अजीव आदिका ही नाम स्थापना आदिके साथ संबंध होगा सम्यग्दर्शन आदिका नाम आदिके साथ सम्बन्ध न हो सकेगा, उसका कथन बाधित हो चुका। तब फिर सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण क्यों है ? इस बातका समाधान वार्तिककार देते हैं—

सर्वभावाधिगमार्थं तु ॥ ३८ ॥

जीव अजीव आदि अप्रधान और सम्यग्दर्शन आदि प्रधान, सबका नाम आदि निक्षेपोंके साथ संबंध हो इसलिये सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण किया गया है। यदि तत् शब्दका ग्रहण सूत्रमें न किया जायगा तो प्रधान और अप्रधानमें प्रधानका ही ग्रहण होता है इस नियमके अनुसार सम्यग्दर्शन आदि प्रधानोंके साथ ही नाम आदिका सम्बंध होगा जीव अजीव आदि अप्रधानोंका संबंध न हो सकेगा। तत् शब्दके रहते सबका ग्रहण होगा इसलिये उसका उल्लेख करना निरर्थक नहीं। जहांपर नाम आदि निक्षेपोंका संबंध बतलाया है वहां सम्यग्दर्शन और जीवको प्रधान रक्खा है परन्तु जिसतरह उनके साथ नाम आदिका संबंध है उसी तरह ज्ञान चारित्र और अजीव आस्रव आदि सबके साथ समझ लेना चाहिये ॥ ५ ॥

जिनका ऊपरसे अधिकार आरहा है और नाम स्थापना आदि निक्षेपोंके साथ संबंध रहनेसे जिनका वाच्य वाचकसंबंध अव्यभिचारित है—निर्दोषरूपसे है उन सम्यग्दर्शन आदि वा जीव आदिका वास्तविक ज्ञानमें कौन कारण है—किनके द्वारा उनका वास्तविक ज्ञान होता है ? यह सूत्रकार बतलाते हैं—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

"प्रमाणे च नयाश्च प्रमाणनयाः, तैः प्रमाणनयैः" यह यहांपर समास है प्रमाण और नयोंके द्वारा सम्यग्दर्शन आदि वा जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है। प्रमाण पदार्थ क्या है और नय पदार्थ क्या है? यह आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा। शंका—जिस शब्दमें थोडे अक्षर होते हैं उसका पहिले प्रयोग किया जाता है। यह व्याकरणका सिद्धांत है। प्रमाण और नय इन दोनों शब्दोंमें नय शब्दमें थोडे अक्षर हैं और प्रमाणमें अधिक हैं इसलिये प्रमाणसे पहिले नयका प्रयोग उपयुक्त होनेपर 'नयप्रमाणैरधिगमः' ऐसा सूत्र कहना चाहिये? सो ठीक नहीं।

अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणशब्दस्य पूर्वनिपातः ॥ १ ॥

'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति' अर्थात् जो पूज्य होता है उसका ही पहिले प्रयोग होता है यह भी उसका बाधक व्याकरणका नियम मोजूद है नयकी अपेक्षा प्रमाण पूज्य है इसलिये उसीका पहिले प्रयोग रहना उपयुक्त है। प्रमाण क्यों पूज्य है? यह बतलाते हैं—

प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तेर्व्यवहारहेतुत्वादभ्यर्हः ॥ २ ॥

जो पदार्थ प्रमाणके विषय हैं उन्हींमें व्यवहारके कारण नयोंकी प्रवृत्ति है किंतु जो प्रमाणके विषय नहीं उनमें नयोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसरीतिसे जब प्रमाणके विषयभूत पदार्थोंको ही नय विषय करते हैं तब प्रमाण ही पूज्य है। अथवा—

समुदायावयवविषयत्वाद्वा ॥ ३ ॥

'सकलादेशः प्रमाणधीनो विकलादेशो नयाधीन इति' अर्थात् समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला

प्रमाण है और उनके एक देशका विषय करनेवाला नय है ऐसा शास्त्रका वचन है इस रीतिसे भी प्रमाण-पूज्य है क्योंकि वह सब पदार्थोंको विषय करनेवाला है नय पूज्य नहीं हो सकते क्योंकि वे पदार्थके एक देशको ही विषय करनेवाले हैं। इसलिये पूज्य होनेके कारण प्रमाणका ही सूत्रमें पहिले पाठ रखना युक्तिसिद्ध है, नयका नहीं।

आधिगमहेतुर्द्विविधः स्वाधिगमहेतुः पराधिगमहेतुश्च ॥ ४ ॥

अधिगमज हेतुका अर्थ ज्ञानमें कारण है। वह दो प्रकारका है एक स्वाधिगमहेतु, दूसरा पराधिगमहेतु। जो अपने ही ज्ञानमें कारण हो वह स्वाधिगमहेतु है इसलिये वह ज्ञानस्वरूप ही माना है और उसके एक प्रमाणस्वाधिगम दूसरा नयस्वाधिगम इस तरह दो भेद हैं। जो दूसरेको ज्ञान करानेमें कारण हो वह पराधिगमहेतु है वह वचनस्वरूप है क्योंकि दूसरेको ज्ञान करानेमें कारण वचन ही है। इस पराधिगम हेतुको श्रुतज्ञान प्रमाण कहते हैं स्याद्वादनयसे युक्त इस श्रुतज्ञान (आगम) प्रमाणके द्वारा हर एक पर्यायमें सप्तभंगीमान जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है। सप्तभंगीका लक्षण इसप्रकार है—

प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी ॥ ५ ॥

पूछनेवालेके प्रश्नके वशसे किसी एक पदार्थमें प्रत्यक्ष और अनुमान किसी भी प्रमाणसे विरोध न आ सके इसरूपसे जो विधि और निषेधकी कल्पना करना है वह सप्तभंगी कही जाती है और आस्तित्व नास्तित्व आदि सातों धर्मोंका जो समूह है वह सप्तभंगी शब्दका अर्थ है। वह इसप्रकार है—कथंचित घट है ॥ १ ॥ कथंचित् घट नहीं है ॥ २ ॥ कथंचित् घट है भी और नहीं भी है ॥ ३ ॥ कथंचित् घट अव-

क्तव्य है ॥ ४ ॥ कथंचित् घट भी है और अवक्तव्य भी है ॥ ५ ॥ कथंचित् घट नहीं भी है और अव-क्तव्य भी है ॥ ६ ॥ और कथंचित् घट है भी, नहीं भी है, अवक्तव्य भी है ॥ ७ ॥ इसप्रकार एक और अनेक धर्मोंकी विवक्षा और अविवक्षा रहनेपर सात भंग सिद्ध हो जाते हैं। स्वस्वरूपकी अपेक्षा रहनेपर घट है और परस्वरूपकी अपेक्षा रहनेपर वह नहीं है। घटका स्वरूप क्या है और परस्वरूप क्या है? जिस रूपसे घटरूप बोध होता हो, घट संज्ञा जानी जाती हो और घट पदार्थमें प्रवृत्ति होती हो वही घटका निजरूप है और जिससे घटज्ञान, घट संज्ञा और घटमें प्रवृत्ति नहीं होती हो वह घटका पररूप है। घटत्वरूपसे घटका ज्ञान और घटका नाम तथा घटकी प्रवृत्ति होती है क्योंकि घटत्वधर्म सिवाय घटके अन्य किसीमें भी नहीं रहता इसालिये घटत्व तो घटका स्वरूप है और पटत्व मठत्व आदिसे घट ज्ञान वा घट नाम वा घट प्रवृत्ति नहीं होती इसालिये पटत्व आदि घटके पररूप हैं। यह नियम है कि जहांपर स्वस्वरूपका ग्रहण और परस्वरूपका परित्याग रहता है वहीं पर वस्तु वास्तविक वस्तु कही जाती है किंतु जहांपर इससे विपरीत नियम है वहांपर वस्तुका वस्तुपना नहीं ठहर सकता। घट जिस तरह स्वस्वरूपसे है उस तरह यदि परस्वरूपसे भी उसका होना माना जायगा तो वस्त्र आदि जितने भी पदार्थ हैं घटसे कोई भिन्न न हो सकेंगे फिर सब पदार्थोंको घट ही कह देना पडेगा तथा पट आदि पदार्थोंसे घटको भिन्न माननेपर भी यदि जिस तरह पट आदि पदार्थ घटसे भिन्न हैं उस तरह घटका स्वरूप भी यदि घटसे भिन्न मान लिया जायगा तब गधेके सींगके समान घट नामका कोई पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि जिसप्रकार गधेके सींगका कोई स्वरूप नहीं इसालिये वह पदार्थ नहीं उसी प्रकार यदि घटका स्वरूप सर्वथा घटसे जुदा माना जायगा तो वह भी स्वस्वरूपके अभावमें पदार्थ न सिद्ध

हो सकेगा। इसलिये स्वस्वरूपके ग्रहण और परस्वरूपके त्यागसे ही वस्तुका वास्तविक वस्तुपना है यह नियम वस्तुकी यथार्थ सिद्धिमें कारण है।

अथवा—नाम स्थापना द्रव्य और भाव जो चार निक्षेप ऊपर कहे जा चुके हैं उन चारोंमें घटके साथ संबंध करनेकी जिस किसीकी विवक्षा हो वह तो घटका स्वरूप और जो अवशेष अविवक्षित रह गए वे पररूप समझने चाहिये जिस तरह घटका संबंध नाम निक्षेपके साथ विवक्षित है इसलिये घटका नाम तो स्वरूप है और स्थापना आदि पररूप हैं अपने नाम स्वरूपसे घट है और स्थापना आदि स्वरूपसे वह नहीं है। स्थापना आदि परस्वरूपके समान अपने स्वरूप नामसे भी यदि घटका होना न माना जायगा तो वह पदार्थ नहीं हो सकेगा क्योंकि जिसका कोई स्वरूप ही नहीं वह पदार्थ नहीं कहा जा सकता तथा जिस तरह स्वस्वरूप नामसे घटका होना माना है उस तरह परस्वरूप स्थापना आदिसे भी यदि घटका होना मान लिया जायगा तो स्वरूप पररूपका कुछ भेद ही न रहेगा फिर घटके स्वरूप नामसे स्थापना आदि भिन्न न हो सकेंगे इस रूपसे नाम आदिका भेद ही न सिद्ध हो सकेगा।

अथवा घट शब्द सामान्य है इसलिये उसके समान आकार धारण करनेवाले सब घटोंका घट शब्दके कहनेसे ग्रहण हो जाता है उनमें किसी एक घटके ग्रहण करनेपर केवल उसीमें रहनेवाले आकार आदि तो घटका स्वरूप है और दूसरे घटोंमें रहनेवाले आकार आदि घटके पररूप हैं। वहां उसी घटमें रहनेवाले आकार स्थूलता आदि जो घटका स्वरूप है उसकी अपेक्षा तो घट है और विवक्षित घटसे भिन्न घटोंमें रहनेवाले आकार स्थूलता आदि पररूपकी अपेक्षा घट नहीं है यदि स्वस्वरूपके समान परस्वरूपकी अपेक्षा भी घटका होना माना जायगा तो स्वरूप पररूपका भेद तो रहेगा नहीं फिर विव-

क्षित एक घटस्वरूप ही सब घट हो जानेके कारण संसारमें केवल एक घट ही कहना पडेगा तथा बहुत से घटोंको घटसामान्य और किसी एक घटको घटविशेष कहा जाता है यह संसारमें व्यवहार है यदि विवाक्षित एक घटस्वरूप ही सब हो जांयगे तो घटविशेषका ही व्यवहार होगा, घट सामान्यका व्यव-हार उठ जायगा।

अथवा—उसी विवाक्षित एक घटमें पूर्वकालमें रहनेवाले स्थास कोश कुशूल पर्याय और उत्तरकालमें रहनेवाले कपाल आदि पर्याय पररूप हैं एवं उन पर्यायोंके वीच रहनेवाली घटपर्याय स्वस्वरूप है। वहां घटपर्यायरूप स्वस्वरूपकी अपेक्षा घट है क्योंकि घटपर्यायमें ही जल लाना आदि घटके कार्य घटके गुण और घटका नाम देखनेमें आते हैं और कुशूल कपाल आदि पररूपकी अपेक्षा घट नहीं है क्योंकि कुशूल कपाल आदि पर्यायोंमें घटका कार्य आदि कोई वात देखनेमें नहीं आती। यदि स्थास कोश कुशूल कपाल आदि स्वरूपसे भी घटका होना माना जायगा तो घट अवस्थामें जिस तरह घटपर्याय दीख पडती है उस तरह स्थाश कोश कपाल आदि पर्यायें भी देख पडनी चाहिये। कदाचित् कुशूल और कपाल आदि अवस्थाओंमें भी घटका होना माना जायगा तो उसके उत्पन्न करनेमें जो प्रयत्न किया जाता है वह न करना चाहिये क्योंकि घट हर एक पर्यायमें मौजूद है एवं उसके नाशके लिये प्रयत्न करना भी व्यर्थ है क्योंकि उत्तर पर्याय कपाल आदिमें जब घटका रहना माना जायगा तब घट का नाश नहीं हो सकता। तथा जिस तरह कुशूल कपाल आदि परस्वरूपकी अपेक्षा घट नहीं है उस तरह घटपर्यायरूप स्वस्वरूपकी अपेक्षा भी घटका होना न माना जायगा तो घट अवस्थामें जो जल लाना आदि कार्य उससे होते हैं, वे न हो सकेंगे।

अथवा घट आदि द्रव्योंमें प्रतिसमय नवीन नवीन पर्यायोंका उत्पाद और विनाश हुआ करता है और उन पर्यायों की अपेक्षा पदार्थोंका भेद माना जाता है इसलिये घटकी भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों पर्यायोंमें ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा घटकी जो वर्तमान पर्याय है वह तो स्वस्वरूप है और भूत भविष्यत् पर्यायें परस्वरूप हैं। वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा घट है। भूत और भविष्यत् पर्यायकी अपेक्षा वह नहीं है क्योंकि वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा घट दीख पड़ता है और भूत भविष्यत् पर्यायकी अपेक्षा वह नहीं दीख पड़ता। जिसतरह वर्तमान पर्यायरूप स्वस्वरूपकी अपेक्षा घटका होना माना गया है उसतरह भूत और भविष्यत् पर्यायकी अपेक्षा भी घटका होना माना जायगा तो स्वरूप पररूपका विभाग तो रहेगा नहीं फिर भूत भविष्यत् वर्तमान तीनोंमें कुछ भेद भी न रहेगा सब एक ही हो जांयगी इसलिए सब घटोंका एक समयमें ही होना मानना पड़ेगा। यदि कदाचित् जिसतरह भूत भविष्यत् पर्याय रूप पररूपकी अपेक्षा घटका होना नहीं माना है उसतरह वर्तमान पर्यायरूप स्वस्वरूपकी अपेक्षा भी घटका होना न माना जायगा तो जो घट नष्ट हो चुका अथवा जो घट आगे जाकर उत्पन्न होनेवाला है उसमें जिसप्रकार घट व्यवहार नहीं होता उसप्रकार जो घट वर्तमानमें मोजूद है उसमें भी घट व्यवहार न होगा।

अथवा—उसी एक समयमें रहनेवाले आपसमें एक दूसरेके उपकारक रूप आदि गुणोंके समूहस्वरूप घटमें विशालता और वृक्षके मूल आदिके समान गोल आकार घटका स्वरूप है। उससे भिन्न आकार पररूप है। विशालता और गोलाई आकाररूप स्वस्वरूपकी अपेक्षा घट है और उससे भिन्न आकाररूप पररूपकी अपेक्षा घट नहीं है क्योंकि विशालता और गोल आकारके रहते ही घट व्यवहार

होता है और उसके अभावमें घटका व्यवहार नहीं होता। यदि जिसतरह विशालता और वृक्षके मूल आदिके समान गोल आकारसे भिन्न आकारकी अपेक्षा घटका होना नहीं माना जाता उसतरह विशालता और वृक्षके मूल आदिके समान गोल आकाररूप स्वस्वरूपकी अपेक्षा भी उसका होना न माना जायगा तो घट पदार्थ ही न सिद्ध हो सकेगा क्योंकि जिसका स्वरूप ही नहीं वह गधेके सींगके समान कोई पदार्थ ही नहीं कहा जा सकता। यदि कदाचित् विशालता और वृक्षके मूल आदिके समान गोल आकाररूप स्वस्वरूपकी अपेक्षा घटका होना माना जाता है उसतरह उससे भिन्न आकाररूप पररूपकी अपेक्षा भी घटका होना माना जायगा तो जहां पर विशाल और उपर्युक्त गोलाई लिये आकार न होगा उससे विपरीत आकार होगा उसे भी घट कहना पडेगा इसरूपसे सब लोक घटस्वरूप ही हो जायगा।

अथवा—रूप रस आदिका जो संनिवेश है वह आकार कहा जाता है। रूप आदि विशिष्ट घट नेत्र इंद्रियसे ग्रहण किया जाता है इस व्यवहारमें रूप आदि विशिष्ट घटका ग्रहण रूपके द्वारा नेत्र इंद्रियसे होता है अन्य इंद्रियमें सामर्थ्य नहीं जो रूपविशिष्ट घटका ग्रहण कर सके क्योंकि रूप रस आदि को भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण करनेवाली भिन्न भिन्न इंद्रियां हैं और जो रूपको ग्रहण करनेवाली है वह रसादिको ग्रहण नहीं कर सकती, एवं जो रसको ग्रहण करनेवाली है वह रूप आदिको ग्रहण नहीं कर सकती। इसलिये रूप तो घटका स्वरूप है और रस आदि पररूप हैं। रूपकी अपेक्षा घट है, रस आदिकी अपेक्षा घट नहीं है। यदि चक्षुसे रूपविशिष्ट घटका जिसतरह ग्रहण होता है उसतरह रस आदि विशिष्ट भी घटका ग्रहण मान लिया जायगा तो सब लोक केवल रूपस्वरूप ही कहना पडेगा

क्योंकि जुदी जुदी इंद्रियां रूप रस आदिको ग्रहण करनेवाली हैं इसलिये उनमें भेद है। जब केवल चक्षु इंद्रियसे ही रूप रस आदि सबका ग्रहण मान लिया जायगा तब उनमें भेद तो रहेगा नहीं। सब रूप-गुणस्वरूप ही हो जांयगे इसलिये सब लोक केवल रूपस्वरूप ही हो जायगा फिर स्पर्शन रसना आदि पांच इंद्रियोंकी जो जुदी जुदी कल्पना है वह भी व्यर्थ है क्योंकि स्पर्शको ग्रहण करनेकेलिये स्पर्शन इंद्रिय, रस आदिको ग्रहण करनेकेलिये रसना आदि इंद्रियोंकी कल्पना है यदि उन सबका कार्य चक्षु इंद्रियसे ही हो जायगा तब पांच इंद्रियोंको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं, केवल चक्षु इंद्रिय ही मानना योग्य है तथा जिसतरह रस आदि विशिष्ट घटका चक्षु इंद्रियसे ग्रहण नहीं होता उसीतरह यदि रूपविशिष्ट घटका भी चक्षुरिंद्रियसे ग्रहण न माना जायगा तो चक्षुसे फिर घटका ज्ञान ही न हो सकेगा इसरीतिसे घटके देखते ही जो उसके लाने धरने आदिमें प्रवृत्ति होती है वह न हो सकेगी।

अथवा—जितने शब्द होते हैं उतने ही उनके अर्थ भी होते हैं। इसलिये अनेक अर्थोंको कह कर किसी विशेष अर्थको रूढिसे ग्रहण करनेवाले समभिरूढ नयकी अपेक्षा घट कुट आदि पर्यायवाचक शब्दोंका भी भेद माना गया है जिसतरह इंद्र शक्र पुरंदर एक ही देवराज व्यक्तिके वाचक हैं तो भी वही देवराज 'इंदनात् इंद्रः' ऐश्वर्यसहित होनेसे इंद्र और 'शकनात् शक्रः' शत्रुओंके पराजय आदिमें समर्थ होनेसे शक्र कहा जाता है। उसी तरह घट कुट आदि शब्द एक ही घडा अर्थके वाचक हैं तो भी वह 'घटनात् घटः' जल धारण आदि क्रियाओंमें समर्थ होनेसे घट और 'कौटिल्यात् कुटः' कुटिलता आदि गुणके संबंधसे कुट कहा जाता है इस रीतिसे जिस क्रियाका परिणाम जिस समय होता है उस समय उसी क्रियाके अनुकूल अर्थवाचक शब्दका प्रयोग करना चाहिये। इसलिये जिस समय जला-

दि धारण क्रिया घटमें हो रही है उस समय जलादि धारण रूप क्रियाका होना तो घटका स्वस्वरूप है और उससे भिन्न कुटिलता आदि गुणका संबंध होना पररूप है। स्वस्वरूपकी अपेक्षा घट है परस्वरूप की अपेक्षा घट नहीं है। परस्वरूपकी अपेक्षा जिस तरह घटका होना नहीं माना जाता उसी तरह यदि जलादि धारणरूप क्रियाका होनारूप स्वस्वरूपकी अपेक्षा भी घटका होना न माना जायगा तो घट पदार्थ ही सिद्ध न होगा क्योंकि जिसका कोई रूप नहीं वह पदार्थ नहीं कहा जा सकता एवं यह घट है वा नया घट बन गया, घट फूट गया आदि व्यवहार भी न होगा। तथा जिसप्रकार स्वस्वरूपकी अपेक्षा घट है उसप्रकार परस्वरूपकी अपेक्षा भी यदि घटका होना माना जायगा तो जलादि धारण रूप क्रियाका होना रूप स्वस्वरूपसे भिन्न रूपोंको धारण करनेवाले पट आदिको भी घट कह देना पडेगा और समस्त लोक एक घटस्वरूप ही कह देना होगा।

अथवा—घट शब्दके प्रयोगके बाद ही जो ज्ञानाकाररूपसे घटका होना है वह तो घटका स्वरूप है क्योंकि वह अहेय है—छूट नहीं सकता और अंतरंग भी है तथा उससे बाह्य पदार्थ जिस तरह मिट्टी आदिके घडेका आकार वह पररूप है क्योंकि वह घटका आकार समीपमें न भी हो तो भी 'वहां घट रख आओ वा ले आवो, इत्यादि व्यवहार होता दीख पडता है। यहां स्वस्वरूप ज्ञानाकारकी अपेक्षा घट है। परस्वरूप बाह्य पदार्थ घटाकारकी अपेक्षा घट नहीं है। यदि जिस तरह बाह्य पदार्थ घटाकार की अपेक्षा घटका होना नहीं माना जाता उस तरह स्वस्वरूप ज्ञानाकारकी अपेक्षा भी घटका होना नहीं माना जायगा तो कहनेवाले और सुननेवालोंका कार्य कारणरूपसे जो ज्ञानाकाररूपसे घटका होना है उसका अभाव हो जायगा इसलिये उसके आधीन जो संसारमें घटका व्यवहार होता है वह न हो सकेगा।

तथा जिसतरह ज्ञानाकारकी अपेक्षा घटका होना माना है उस तरह ज्ञानकारसे अत्यंत दूर बाह्य पदार्थ घटाकारकी अपेक्षा भी यदि घटका होना मान लिया जायगा तो ज्ञानाकारसे अत्यन्त दूर बाह्य पदार्थ जैसा घटाकार है वैसे पट आदि भी हैं इसलिये पट आदिको भी घट कह देना होगा फिर समस्त लोक एक घटमात्र स्वरूप ही मानना पडेगा।

अथवा—चैतन्य शक्तिके दो आकार हैं एक ज्ञानाकार दूसरा ज्ञेयाकार। जिसमें कोई प्रतिविम्ब नहीं पड रहा है ऐसे दर्पणके शुद्ध मध्यभागके समान तो ज्ञानाकार है और प्रतिविम्बविशिष्ट दर्पणके मध्यभागके समान ज्ञेयाकार है। यहां ज्ञेयाकार घटका स्वरूप है क्योंकि जिस तरह दर्पणमें प्रतिविंबके पडते ही वह अमुककी प्रतिविंब है ऐसा व्यवहार होता है उसी तरह ज्ञानस्वरूप घट आदि ज्ञेयाकारके रहते ही घटका व्यवहार हो सकता है। एवं ज्ञानाकार घटका परस्वरूप है क्योंकि वह ज्ञानाकार सबके लिये सामान्य है। जिस समय घटका ज्ञान करना रहता है उस समय भी ज्ञानाकार घटके समीप रहता है और जिस समय पट आदिका ज्ञान करना होता है उस समय भी वह पट आदिके समीप रहता है ऐसा कोई विशेष नहीं कि वह घटके व्यवहारमें ही कारण पडे, पट आदिके व्यवहारमें कारण न पड सके। ज्ञेयाकारको घटका स्वरूप माननेमें कोई अडचन नहीं। क्योंकि जिस समय घटरूप ज्ञेयाकार ज्ञानात्मक रहेगा उस समय वह घट व्यवहार हीका कारण होगा। इस रीतिसे जब ज्ञेयाकार घटका स्वस्वरूप और ज्ञानाकार घटका पररूप निश्चित है तब स्वस्वरूप ज्ञेयाकारसे घट है, परस्वरूप ज्ञानाकार से घट नहीं है। यदि जिस तरह ज्ञानाकारकी अपेक्षा घटका होना नहीं माना जाता उस तरह ज्ञेयाकारकी अपेक्षा भी घटका होना न माना जायगा तो ज्ञेयाकारका आश्रय घट है। उसके बनानेकेलिये

यत्न किया जाता है वह न करना होगा क्योंकि ज्ञेयाकार रूपसे घटका होना निश्चित नहीं तथा जिस तरह ज्ञेयाकारकी अपेक्षा घटका होना माना जाता है उस तरह ज्ञानाकारकी अपेक्षा भी घटका होना माना जायगा तो पट आदिके ज्ञानके समय भी ज्ञानाकारकी समीपता है इसलिये पट आदिका ज्ञान होनेपर पट आदिका व्यवहार होना चाहिये परन्तु उस समय भी घटका व्यवहार होगा इस रीतिसे किसी भी पदार्थका ज्ञान क्यों न हो वहांपर घटका व्यवहार न रुक सकेगा। इसप्रकार उपर्युक्त रीतिसे स्वरूप पररूपकी अपेक्षा घटका घटपना और अघटपना अर्थात् स्यादस्ति घटः—कथंचित् घट है, स्यान्नास्ति घटः, कथंचित् घट नहीं है इन दो भंगोंका विस्तारसे स्वरूप कह दिया गया।

परन्तु जिस तरह घट और पट आपसमें भिन्न हैं और दोनों एक जगह नहीं रह सकते इसलिये उनका सामानाधिकरण्य नहीं, उस तरह घटत्व और अघटत्व दोनों भिन्न नहीं, घटत्व अघटत्व दोनोंका आधार घट ही है। यदि घटत्व और अघटत्वमें भेद माना जायगा तो एक ही घटमें दोनोंका रहना न बन सकेगा और घटत्व अघटत्वके एक जगह रहनेसे जो घट ज्ञान और घट नामकी प्रवृत्ति होती है वह भी न हो सकेगी तथा घटत्व और अघटत्वका अविनाभाव संबंध है। घटत्वके विना अघटत्व नहीं रह सकता और अघटत्वके विना घटत्व नहीं रह सकता। यदि घटत्व अघटत्वका आपसमें सर्वथा भेद मान लिया जायगा तो दोनों हीका अभाव हो जायगा फिर घट है वा घट नहीं है यह जो घटत्व और अघटत्व दोनोंके आधीन व्यवहार होता है वह नष्ट हो जायगा इसलिये घटत्व अघटत्व दोनों स्वरूप घटका मानना ठीक है इस तरह 'स्याद् घटश्चाघटश्च' कथंचित् घट है कथंचित् घट नहीं है अर्थात् घटत्व अघटत्व दोनों स्वरूप घट है यह तीसरा भंग युक्तिसिद्ध ठहरता है।

घटत्व आर अघटत्व दोनों स्वरूप वस्तुको यदि घट ही कह दिया जायगा तो अघटका तो ग्रहण होगा नहीं इसलिये वह अवस्तु ही कहा जायगा यदि दोनों स्वरूप वस्तुको अघट कहा जायगा तो घटका ग्रहण होगा नहीं और अघटमात्र वस्तु संसारमें है नहीं इसलिये वह भी अवस्तु कहा जायगा। दूसरा कोई ऐसा शब्द है नहीं जो स्वस्वरूपकी अपेक्षा घटत्व, परस्वरूपकी अपेक्षा अघटत्व इसतरह दोनों स्वरूप घट वस्तुको एक साथ कहनेवाला हो इसलिये दोनों स्वरूप घट वस्तुको एक साथ कहने-वाला कोई भी शब्द न होनके कारण घटत्व अघटत्व रूप वस्तु एकसाथ कही नहीं जा सकती इसीलिये 'कथंचित् अवक्तव्य' किसीप्रकारसे घट अवाच्य भी है यह चौथा भंग माना गया है।

केवल स्वरूपकी विवक्षा रहनेपर 'घट है' और एक साथ स्वरूप और पररूपकी विवक्षा करनेपर एक साथ घटत्व अघटत्वको कहनेवाला कोई भी शब्द नहीं इसलिये वह अवक्तव्य भी है इसरीतिसे 'स्याद् घटश्चावक्तव्यश्च' कथंचित् घट है कथंचित् वह अवक्तव्य है यह पांचवां भंग माना गया है।

केवल पररूपकी विवक्षा रहने पर 'घट नहीं है' और स्वरूप और पररूपकी विवक्षासे होनेवाले घटत्व और अघटत्व दोनों स्वरूप घट वस्तुको एक साथ कहनेवाला कोई भी शब्द नहीं इसलिये वह घट अवाच्य भी है इसरीतिसे स्यादघटश्चावक्तव्यश्च कथंचित् घट नहीं है और कथंचित् अवक्तव्य है यह छठा भंग माना है।

क्रमसे स्वस्वरूपकी विवक्षा रहने पर 'घट है' पररूपकी विवक्षा रहने पर 'घट नहीं है' एवं एक साथ स्वस्वरूप पररूपकी विवक्षा रहनेपर घटत्व अघटत्व दोनों स्वरूप घट वस्तुको कहनेवाला कोई भी शब्द न होनेके कारण वह अवक्तव्य भी है इसतरह स्याद् घटश्चाघटश्चावक्तव्यश्च—कथंचित् घट है कथंचित् घट नहीं है और कथंचित् अवक्तव्य है यह सातवां भंग माना गया है।

इसप्रकार कथंचित् घट है, कथंचित् घट नहीं है इत्यादि रूपसे यह सप्तभंगी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जीव अजीव आदिमें वा सम्यग्दर्शन आदिमें घटा लेनी चाहिये। जिसतरह उन्मत्त पुरुष हठसे मिथ्यावातको सत्य मानकर यह ऐसे और यही है ऐसा कहता है इसलिये उसका कहना मिथ्या समझा जाता है उसीतरह केवल द्रव्यार्थिक नयके मानने पर उसके द्वारा निश्चित तत्त्व भी मिथ्यातत्व ही है क्योंकि तत्व, द्रव्य और पर्याय दोनों स्वरूप है द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा केवल द्रव्य ही तत्व है यह माना जाता है इसलिये वह मिथ्या है। उसीप्रकार केवल पर्यायार्थिक नयके मानने पर उसके द्वारा निश्चित तत्व भी मिथ्यातत्व है क्योंकि तत्व, द्रव्य और पर्याय दोनों स्वरूप माना है पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा केवल पर्याय ही तत्व है यह माना जाता है इसलिये उन्मत्त पुरुषके माने तत्वके समान वह मिथ्या ही है परंतु जिसतरह समझदार मनुष्य जो पदार्थ जैसा होता है उसे वैसा ही मानता है उसीतरह अनेकांतवाद भी नय आदिकी अपेक्षासे पदार्थोंका यथार्थरूपसे कथन करता है इसलिये उसके द्वारा जो पदार्थ निश्चित है वह यथार्थ है उसके द्वारा निश्चिततत्व मिथ्यातत्व नहीं कहे जा सकते। इसीतरह जिसका यह कहना है कि केवल अवक्तव्य ही भंग है—कोई भी पदार्थ किसी रूपसे नहीं कहा जा सकता, उसका कहना भी स्ववचनविरोधी होनेसे मिथ्या है क्योंकि जिसतरह कोई पुरुष अपनेको यह कहे कि मैं मौनी हूं—कुछ भी नहीं बोलता चालता, तो उसका वचन स्ववचन विरोधी माना जाता है क्योंकि मौनी भी बनता है और यह भी कहता फिरता है कि मैं मौनी हूं। उसीतरह केवल अवक्तव्य भंग माननेवालेका कहना भी स्ववचनबाधित है क्योंकि बनता तो वह अवक्तव्य मतका अनुयायी है परंतु यह कहता ही फिरता है कि कोई पदार्थ किसी रूपसे कहा नहीं जाता इसलिये सब अवक्तव्य हैं

किंतु जिसका मत कथंचित् अवक्तव्यवाद है वह यथार्थ है क्योंकि कथंचित् अवक्तव्यका अर्थ कथंचित् वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य है। जिसतरह जो पुरुष सत्य असत्य दोनों प्रकारके वचनोंका भले प्रकार जानकार है वह जो बोलता है वह सत्य ही बोलता है और उसका वचन यथार्थ समझा जाता है उसीतरह जो पुरुष कथंचित् वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य सिद्धांतका माननेवाला है उसका वचन भी यथार्थ ही माना जाता है क्योंकि कौन पदार्थ किस रूपसे वक्तव्य और किस रूपसे अवक्तव्य है इस बातका उसे यथार्थ ज्ञान है वास्तवमें वक्तव्यत्व अवक्तव्यत्व दो ही भंग हैं। सातों भंगोंका इन्हीं दोनोंमें समावेश है इसरीतिसे भी कथंचित् वक्तव्यावक्तव्य सिद्धांतका माननेवाला यथार्थ वक्ता है।

अनेकांते तदभावादव्याप्तिरिति चेन्न तत्रापि तदुपपत्तेः ॥ ६ ॥

कथंचित् जीव है कथंचित् जीव नहीं है। वा कथंचित् सम्यग्दर्शन है कथंचित् सम्यग्दर्शन नहीं है इत्यादिरूपसे जीव और सम्यग्दर्शन आदिमें तो विधि निषेधकी कल्पना युक्त है परन्तु अनेकांत पदार्थ में विधि निषेधकी कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि वहांपर विधि निषेधकी कल्पना करनेपर कथंचित् एकांत है, कथंचित् अनेकांत है इसतरह विधिपक्षमें एकांत मतको भी प्रमाणीक मानना पड़ता है इसलिए एकांत मतके मानने में जो दोष दिये जाते हैं उन सबका यहां भी प्रसंग होगा। यदि इस एकांतमें किसीतरहका दोष न माना जायगा तो फिर एकांत सामान्यमें भी कोई दोष न मानना होगा फिर जिसने एकांत रूपसे किसी तत्त्वको माना है उसका वैसा मानना मिथ्या कह दिया जाता है सो अब उसे भी यथार्थ कहना पड़ेगा। तथा अनवस्था[1] दोष भी आवेगा क्योंकि यदि उस एकांतको भी अनेकांत ही

१-अनवस्था शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है।

माना जायगा तो उस अनेकांतमें भी विधि निषेध की कल्पना करनेपर फिर विधिपक्षकी अपेक्षा एकांत मानना पड़ेगा यदि उसे भी अनेकांत ही मानाजायगा तो फिरभी उसमें विधिनिषेधकी कल्पना करने-पर विधि पक्षमें एकांत मानना पड़ेगा इत्यादि रूपसे कहीं भी जाकर व्यवस्था न होगी इसलिये अनेकांत पदार्थमें विधि निषेधकी कल्पना नहीं हो सकती, अनेकांत पदार्थ तो सर्वथा अनेकांत स्वरूप ही मानना होगा इस रीतिसे हरएक पदार्थकी सप्तभंगी चलती है यह सामान्य नियम बाधित होगा क्योंकि अनेकांत पदार्थकी सप्तभंगी उपर्युक्त रीतिसे नहीं चलाई जा सकती? सो ठीक नहीं। अनेकांत पदार्थमें सातों भंग माने हैं जिस तरह—तत्व कथंचित् एकधर्म स्वरूप है १ कथंचित् अनेक धर्मस्वरूप है २। कथंचित् एकधर्म स्वरूप भी कथंचित् अनेक धर्मस्वरूप भी है ३। कथंचित् अवक्तव्य है ४। कथंचित् एक धर्मस्वरूप भी है और अवक्तव्य भी है ५। कथंचित् अनेक धर्मस्वरूप भी है और अवक्तव्य भी है ६। कथंचित् एक धर्मस्वरूप भी है कथंचित् अनेक धर्म स्वरूप भी है और कथंचित् अवक्तव्य भी है ७। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि कथंचित् एकांत है यह विधिपक्षमें माना हुआ एकांत कैसे निर्दोष माना जा सकता है? तो वार्तिककारने उसका यह समाधान दिया है—

प्रमाणनयार्पणाभेदात् ॥ ७ ॥

प्रमाण और नयकी भिन्नरूपसे विवक्षा करनेपर कथंचित् एकांतके माननेमें कोई दोष नहीं हो सकता। वह इसप्रकार है—एकांत दो प्रकारका है, एक सम्यगेकांत दूसरा मिथ्यैकांत। अनेकांत भी दो प्रकारका है एक सम्यगनेकांत दूसरा मिथ्यानेकांत। उनमें स्वरूप पररूप आदि विशेष २ कारणोंकी अपेक्षा रखकर जो प्रमाणके द्वारा कहे गए पदार्थके एक देशको कहनेवाला है अर्थात् प्रमाणज्ञान

के द्वारा निश्चित पदार्थके एक देशको विषय करनेवाला है वह सम्यगेकांत है तथा किसी वस्तुके एक धर्मका निश्चय कर उस वस्तुमें रहनेवाले अन्य समस्त धर्मोंका निषेध कर देना यह मिथ्यैकांत है क्यों- कि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है इसलिये किसी एक धर्मके जान लेनेपर दूसरे धर्म भी अज्ञातरूपसे उसमें मौजूद हैं उनका अभाव नहीं हो सकता। तथा युक्ति और आगम दोनोंसे अविरुद्ध, अस्तित्व नास्तित्व आदि एक दूसरेके प्रतिपक्षी अनेक धर्मोंके स्वरूपको निरूपण करनेवाला सम्यगनेकांत है और सम्यगनेकांतसे वस्तुका जो वास्तविक स्वभाव निश्चित है उस स्वभाव स्वरूप वा उससे अन्य स्वभाव- स्वरूप वस्तुसे रहित दूसरोंके द्वारा केवल कल्पनामात्र वचन आडम्बर स्वरूप जो अनेकांत है वह मि- थ्यानेकांत है । वहांपर सम्यगेकांत नय है और सम्यगनेकांत प्रमाण है। सम्यगेकांतसे एक धर्मका निश्चय होता है इसलिये वह नयकी विवक्षासे है। सम्यगनेकांतसे अनेक धर्मोंका निश्चय होता है इस- लिये वह प्रमाणकी विवक्षासे है इसरीतिसे प्रमाणकी विवक्षासे होनेवाला सम्यगनेकांत जिस तरह प्रमाणीक माना जाता है उसी तरह नयकी विवक्षासे होनेवाला सम्यगेकांत भी प्रमाण है। संसारमें यह बात प्रसिद्ध है कि भिन्न २ अवयवोंके रहते ही अवयवोंका समूहरूप अवयवी रह सकता है। यदि अव- यव नहीं हों तो अवयवी भी नहीं हो सकता। शाखा मूल पत्ते आदि अवयवोंके रहते ही अवयवी वृक्ष है। यदि शाखा पत्ते आदि न हों तो वृक्ष ही नहीं हो सकता क्योंकि शाखा आदि अवयवोंका समूह ही वृक्ष है। एकांत, अनेकांतका अवयव है। अनेकांत यदि सर्वथा अनेकांत ही रहै, एकांत न हो सके तो एकांतके अभावसे उसका समूह रूप अनेकांत भी न हो सकेगा इसप्रकार जो विशेष अनेकांतके विना नहीं हो सकते उनका अभाव हो जायगा। विशेषोंके अभावसे कोई भी पदार्थ न सिद्ध होगा। फिर

समस्त पदार्थोंका लोप ही हो जायगा। इस रीतिसे कथंचित् एकांत है, कथंचित् अनेकांत है इन दो भंगोंका स्वरूप समझा दिया गया इसीप्रकार आगेके पांच भंग भी समझ लेने चाहिये अर्थात् अनेक धर्मस्वरूप वस्तुमें जहांपर विवाक्षित एक धर्मकी अपेक्षा है वहां वस्तु कथंचित् एकांत है ॥ १ ॥ जहां अविवाक्षित अनेक धर्मोंकी अपेक्षा है वहां कथंचित् अनेकांत है ॥ २ ॥ जहांपर विवाक्षित एक धर्म और अविवाक्षित अनेक धर्मोंकी क्रमसे अपेक्षा है वहां कथंचित् एकांत भी है और अनेकांत भी है ॥ ३ ॥ जहांपर विवाक्षित एक धर्मकी और अविवाक्षित अनेक धर्मोंकी एक साथ अपेक्षा है वहां एक दोनों धर्मों को कहनेवाला कोई शब्द नहीं इसलिये कथंचित् अवक्तव्य है ॥ ४ ॥ जहांपर केवल विवाक्षित एक धर्म की अपेक्षा और विवाक्षित एक धर्म वा अविवाक्षित अनेक धर्मोंकी एक साथ विवक्षा हो वहां कथंचित् एकांत और अवक्तव्य भी है ५। जहां पर केवल अविवाक्षित अनेक धर्मोंकी अपेक्षा हो और विवाक्षित एक धर्मकी और अविवक्षित अनेक धर्मोंकी एकसाथ अपेक्षा हो वहां कथंचित् अनेकांत और अवक्तव्य है ६। एवं जहां पर विवक्षित एक धर्मकी और अविवक्षित अनेक धर्मोंकी क्रमसे और एकसाथ दोनों प्रकारसे अपेक्षा हो वहां कथंचित् एकांत, अनेकांत, अवक्तव्य है ॥ ७ ॥

विशेष—अंतका अर्थ धर्म है। जहां पर अनेक धर्म हों वह अनेकांत कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मस्वरूप है इसलिये प्रत्येक वस्तुका यथार्थ ज्ञान कथंचित् अनेकांतसे हो सकता है। यह अनेकांतवाद स्वाभाविक वाद है इसलिये इसका खंडन नहीं हो सकता। यद्यपि वास्तवमें विरुद्ध नहीं किंतु विरुद्ध सरीखा लगनेवाले धर्मोंका अनेकांतवादमें प्रवेश होनेके कारण वह विरुद्धसरीखा जान पडता है परन्तु उन धर्मोंका अपेक्षासे समावेश होनेपर कोई दोष नहीं हो सकता। जिस तरह एक ही पुरुष पिता

काका मामा आदि कहा जाता है और देखनेमें जो पिता है वह काका नहीं हो सकता जो काका है वह मामा नहीं हो सकता क्योंकि पिता काका आदि धर्म आपसमें विरुद्ध हैं परन्तु एक ही पुरुष अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। भतीजेकी अपेक्षा काका है और भानजेकी अपेक्षा मामा कहा जाता है इसप्रकार अपेक्षासे कहनेपर कोई दोष नहीं होता और वैसा व्यवहार विना किसी शंकासे संसारमें होता दीख पडता है। उसीतरह एक ही पदार्थ आस्तित्व नास्तित्व वा नित्यत्व अनित्यत्व आदि स्वरूप कहा जाता है और जो अस्तित्वस्वरूप है वह नास्तित्वस्वरूप नहीं हो सकता। जो नास्तित्वस्वरूप है वह अस्तित्व स्वरूप नहीं हो सकता अथवा जो नित्यस्वरूप है वह अनित्यस्वरूप नहीं हो सकता, जो अनित्यस्वरूप है वह नित्यस्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि धर्म परस्परमें विरुद्ध हैं। परन्तु स्वस्वरूपकी अपेक्षा आस्तित्वस्वरूप, परस्वरूपकी अपेक्षा नास्तित्वस्वरूप, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यत्वस्वरूप, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्यत्वस्वरूप इस तरह अपेक्षाका अवलंबन करने पर कोई दोष नहीं हो सकता। सात ही भंग क्यों माने छह, पांच, वा चार आदि ही क्यों नहीं माने गए ? एव शब्दका अर्थ क्या है ? चकार शब्दका प्रयोग क्यों किया जाता है ? केवल आस्तित्व वा केवल नास्तित्व आदि एक ही भंग माननेपर क्या क्या दोष आता है ? इसका खुलासा श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें किया गया है, विद्वान् लोग मननपूर्वक वहां देख लें।

छलमात्रमनेकांत इति चेन्न छललक्षणाभावात् ॥ ९ ॥

जो पदार्थ आस्तित्वस्वरूप है वही नास्तित्व स्वरूप कह दिया जाता है और जो पदार्थ नित्यस्वरूप वा एक स्वरूप है वही अनित्यस्वरूप वा अनेक स्वरूप कहा जाता है इस रीतिसे अनेकांत वादका कथन

करना तो छल जान पडता है। छलसे कभी यथार्थ वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये अनेकांत
वादसे वस्तुका निर्णय यथार्थ होता है यह कहना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। 'वचनविघातोऽर्थविकल्पो-
पपत्त्या छलं' अर्थात् जिस अर्थके लिये शब्दका प्रयोग किया गया है उसमें विकल्प उठाकर दूसरा अर्थ
कर जो वचनको काट देना है वह छल कहा जाता है जिस तरह किसी नवीन कंबलको ओढनेवाले
पुरुषको देखकर किसीने यह सामान्यरूपसे कह दिया कि 'नवकंबलोऽयं' अर्थात् यह पुरुष नवीन कंबल
धारण करनेवाला है वहां पर वक्ताका यही आशय था कि यह नूतन कंबलका धारण करनेवाला है परंतु
पासमें खडे किसी मनुष्यने उसका अभिप्राय काट कर यह अभिप्राय सूचित कर डाला कि इसके पास नौ
कंबल हैं चार वा तीन नहीं हैं। अथवा किसीके पास नौ कंबल देख किसीने यह कह दिया कि 'नव-
कंबलोऽयं' अर्थात् इसके पास नौ कंबल हैं उस समय पासमें रहनेवाले पुरुषने उसका वह वचन काट
यह अभिप्राय सूचित कर डाला कि इसके पास नूतन कंबल है पुराना नहीं है। परन्तु अनेकांत वादमें
ऐसा छलका समावेश नहीं क्योंकि वहांपर जो वचन कहा जा चुका है उसे काटकर दूसरा अभिप्राय
नहीं निकाला जाता किंतु जिस रूपसे जिस वचनका प्रयोग किया गया है उसका उसी रूपसे प्रयोग
माना जाता है जिस तरह जो घट द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य कहा जा सकता है वह द्रव्यार्थिक
नयकी अपेक्षा नित्य ही माना जाता है, अनित्य नहीं, एवं जो घट पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य
कहा गया है वह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य ही माना जाता है नित्य नहीं। इसलिये अनेकांत
वादमें छलका लक्षण नहीं घट सकता। हां! जो घट द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य माना गया है

१ अभिप्रायांतरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थांतर परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलं। सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ७९।

उसी नयकी अपेक्षा यदि वह अनित्य माना जाय एवं पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जो घट अनित्य है उसी नयकी अपेक्षा यदि वह नित्य भी मान लिया जाय तब अनेकांत वादको छल कहनेका अवकाश मिल सकता है सो है नहीं किंतु जिस युक्तिमें आस्तित्व नास्तित्व वा नित्यत्व अनित्यत्व आदि दोनों प्रकारके गुणोंकी प्रधानता है और विवक्षित और अविवक्षितरूप जो व्यवहार उसकी सिद्धिकी सामर्थ्य मौजूद है ऐसी युक्तिसे पुष्ट अनेकांत वाद है इसलिये उसमें छल दोषका समावेश नहीं हो सकता।

संशयहेतुरिति चेन्न विशेषलक्षणोपलब्धेः ॥ ९ ॥

यदि कदाचित् यह कहा जाय कि अनेकांतवाद संशयका कारण है क्योंकि 'एकवस्तुविशेष्यविरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं हि संशयः' अर्थात् किसी एक वस्तुमें परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोंका ज्ञान होना संशय ज्ञान कहा जाता है जिसतरह नदीके उस पारमें रहनेवाले वृक्षमें अंधकार हो जानेसे स्पष्ट दिखाई न पडनेके कारण यह स्थाणु है वा पुरुष है? ऐसा ज्ञान होता है इसलिये एक ही स्थाणुमें स्थाणुत्व और पुरुषत्व दो विरुद्ध धर्मोंका ज्ञान होनेके कारण वह ज्ञान संशय ज्ञान कहा जाता है। उसीप्रकार अनेकांतवादसे एक ही घट आदि पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्व वा नित्यत्व अनित्यत्व आदि विरुद्ध धर्मोंका ज्ञान होता है इसलिये यह भी संशयज्ञान है। इसरीतिसे अनेकांतवाद संशयज्ञानका कारण होनेसे अप्रमाण है? सो ठीक नहीं। जहां पर सामान्य धर्म दिखाई पडता है, विशेष धर्म नहीं दीख पडते किंतु विशेष धर्मोंका स्मरण रहता है वहांपर संशयज्ञान होता है जिसतरह—जहांपर स्थाणु पुरुष दोनोंके रहनेका संभव है ऐसी जगह पर रहनेवाले स्थाणुको तो दूरमें खडा रहनेवाला पुरुष संध्याके समय कुछ

१ सप्तभंगी तरंगिणी पृष्ठ ८०। विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं हि संशयः। न्यायदीपिका।

अंधकार हो जानेके कारण स्पष्टरूपसे नहीं देख सकता किंतु सामान्य (स्थाणु पुरुष दोनोंमें समानरूपसे रहनेवाला) ऊंचाईको देखता है और टेडापन खोलार घोसले आदि स्थाणुमें रहनेवाले विशेष एवं वस्त्रका हिलना मस्तकका खुजाना चोटीका बांधना आदि पुरुषोंमें रहनेवाले विशेष भी स्पष्ट नहीं दीख पड़ते किन्तु उसको यह स्मरण अवश्य उससमय रहता है कि स्थाणुके विशेष ऐसे होते हैं और पुरुषके ऐसे विशेष होते हैं ऐसे पुरुषको उस स्थाणुके अंदर यह स्थाणु है वा पुरुष है? ऐसा संशय होता है परंतु अनेकांतवादमें संशयका लक्षण नहीं घट सकता क्योंकि विशेषोंकी उपलब्धि न रहनेपर संशय ज्ञान बतलाया गया है परन्तु अनेकांतवादमें घट आदि स्वस्वरूपकी अपेक्षा है। पररूपकी अपेक्षा नहीं है इस प्रकार हरएक पदार्थमें स्वरूप पररूप आदि विशेषोंकी उपलब्धि है इसलिए अनेकांतवाद संशयका कारण नहीं कहा जासकता।

यदि कदाचित् अनेकांतवादको इसरूपसे संशयका कारण कहा जाय कि —घट आदिमें जो अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्म माने गये हैं उनको नियमित रूपसे सिद्ध करनेवाले नियमित कारण मौजूद हैं या नहीं? यदि यह कहा जायगा कि नियमित रूपसे कारण नहीं हैं तो जो पुरुष व्युत्पन्न हैं— अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मोंको विरोधी बतलाकर एक पदार्थमें उनका रहना असंभव समझनेवाले हैं उन्हें समझाना कठिन है क्योंकि इसरूपसे घट आदिमें अस्तित्व है और इसरूपसे नास्तित्व है इस-प्रकार नियमित कारणोंके द्वारा घटमें अस्तित्व नास्तित्वका रहना तो वे मान सकते हैं किन्तु कारण न बतलाकर वचनमात्रसे अस्तित्व नास्तित्व आदिका घटमें होना उन्हें समझाया जायगा तो वे कभी भी नहीं मान सकते। यदि यह कहा जायगा कि घट आदि पदार्थोंमें अस्तित्व नास्तित्वके नियामक

नियमित कारण मोजूद हैं तो एक पदार्थमें अनेक विरुद्ध कारण मानने पड़ते हैं इसलिए एक आधार अनेक विरोधी कारणोंके रहनेसे संशय ज्ञानही होगया इसरीतिसे अनेकांतवाद संशयका कारण है यह प्रश्न ज्योंका त्यों मोजूद है? सो ठीक नहीं।

विरोधाभावात्संशयाभावः ॥ १० ॥ अर्पणाभेदादविरोधः पितृपुत्रादिसंबंधवत् ॥ ११ ॥

जिसतरह जाति कुल रूप और नामका धारक एक भी देवदत्त पिता पुत्र भाई मामा कहा जाता है। यद्यपि जो पिता है वह पुत्र नहीं होसकता जो पुत्र है वह पिता नहीं हो सकता। जो मामा है वह भानजा एवं जो भानजा है वह मामा नहीं कहा सकता इसरूपसे विरोध दीख पड़ता है परन्तु जन्य जनकत्वरूप सामर्थ्यकी अपेक्षा करनेपर कोई विरोध नहीं होसकता अर्थात् जो पिता है वह अपने पुत्र की अपेक्षा है। पुत्र अपने पिता की अपेक्षा है। मामा अपने भानजे की अपेक्षा है और भानजा अपने मामाकी अपेक्षा है किन्तु यह बात नहीं कि जिसतरह देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है उसतरह अपने पिता वा मामा आदिकी अपेक्षा भी पिता हो वा अपने पिताका पुत्र, मामाकी अपेक्षा भानजा आदि है उसतरह अपने पुत्रकी अपेक्षा वा मामा आदि की अपेक्षा भी पुत्र है और भानजा वा पिता आदिकी अपेक्षा भी भानजा हो। उसीतरह एक भी घट अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि अनेक धर्मस्वरूप कहा जा सकता है यद्यपि जो घट आस्तित्व स्वरूप है वह नास्तित्वस्वरूप नहीं हो सकता, जो नास्तित्वस्वरूप है वह आस्तित्व स्वरूप नहीं हो सकता वा जो नित्यत्व आदि स्वरूप है वह अनित्यत्व आदि स्वरूप नहीं कहा जा सकता इसलिये विरोध दीख पडता है परन्तु स्वरूप पररूप आदि शक्तियोंकी अपेक्षा करनेपर कोई विरोध नहीं हो सकता अर्थात् स्वस्वरूपकी अपेक्षा घट अस्तित्व स्व-

रूप है। पररूपकी अपेक्षा नास्तित्वस्वरूप है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यत्व और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्यत्व स्वरूप है। किंतु यह वात नहीं कि जिसतरह स्वस्वरूपकी अपेक्षा आस्तित्व स्वरूप है उस तरह पररूपकी अपेक्षा भी आस्तित्व स्वरूप हो और पररूपकी अपेक्षा जिस तरह नास्तित्व स्वरूप है उस तरह स्वस्वरूपकी अपेक्षा भी नास्तित्वस्वरूप हो अथवा जिस तरह द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्यत्व स्वरूप है उस तरह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भी नित्यत्वस्वरूप हो और जिस तरह पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्यस्वरूप है उस तरह द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा भी अनित्यस्वरूप हो। इसलिये यह वात सिद्ध हो चुकी कि जिस तरह एक ही पुरुषमें पितापना पुत्रपना आदि अनेक धर्मोंका रहना विरुद्ध नहीं माना जाता उस तरह एक भी घटमें आस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक धर्मोंका रहना भी विरुद्ध नहीं माना जा सकता इस रीतिसे अनेकांत वादमें नय आदिकी अपेक्षा एक पदार्थमें अनेक विरुद्ध धर्मोंका होना जब विरोध नहीं कहा जा सकता तब संशय भी नहीं हो सकता फिर अनेकांत वाद संशयका कारण है यह कहना ही मिथ्या है। अथवा—

सपक्षासपक्षापेक्षोपलक्षितसत्त्वासत्त्वादिभेदोपचितैकधर्मवद्वा ॥ १२ ॥

जहांपर साध्यका संदेह होनेपर हेतु देखकर उसकी सिद्धि की जाय वह पक्ष कहा जाता है। जहांपर साध्य और साधनका निश्चय हो वह सपक्ष कहा जाता है और जहांपर साध्य और साधन दोनोंके अभावका निश्चय रहे वह विपक्ष कहा जाता है जिस तरह इस पर्वतमें अग्नि है क्योंकि अविच्छिन्न रूपसे धूमकी रेखा निकल रही है यहांपर पर्वत पक्ष है क्योंकि धूमरूप हेतुसे अग्निरूप साध्यकी सिद्धि उसमें की जाती है। रसोई खाना सपक्ष है क्योंकि वहांपर अग्नि और धूमका होना प्रत्यक्ष सिद्ध है और

तालाब विपक्ष है क्योंकि वहांपर न अग्नि है न धूम है दोनोंका अभाव है। यहांपर जो धूम हेतु सपक्ष रसोई खानेमें है, उसीका विपक्ष तलावमें अभाव कहा गया है इसालिये सपक्षकी अपेक्षा सत्व और विपक्षकी अपेक्षा असत्त्व इसतरह आपसमें विरुद्ध भी सत्व असत्वरूप दोनों धर्मोंका एक ही हेतुमें होना जिसतरह विरुद्ध नहीं माना जाता उसीतरह आपसमें विरुद्ध भी आस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक धर्मोंका एक घट आदि किसी पदार्थमें स्वरूप पररूप आदिकी अपेक्षा होना भी विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। परंतु हां! जहां पर सपक्ष विपक्षकी अपेक्षा न कर किसी एक जगह पर वादी तो हेतुका सत्त्व कहे और प्रतिवादी उसका असत्त्व कहे जिसतरह वादी तो यह कहे कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह परिणामी है और प्रतिवादी यह कहे कि शब्द नित्य है क्योंकि वह अपरिणामी है अर्थात् वादी परिणामित्व हेतुका शब्दमें सत्व माने और प्रतिवादी उसका शब्दमें अभाव कहे वहांपर शब्दमें परिणामित्व है वा अपरिमाणित्व इसप्रकारका संशयात्मक ज्ञान होता है इसलिए वहां संशयज्ञानका होना ठीक है। यदि कदाचित् स्वरूप पररूप आदिकी अपेक्षा रहने पर भी घट आदि किसी एक पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मोंका होना जबरन संशय माना जायगा तो सपक्ष विपक्षकी अपेक्षा एक ही हेतुमें सत्व और असत्वका होना भी संशय माना जायगा। संशय यथार्थ वस्तुका निश्चायक होता नहीं इसलिये धूम हेतुसे जो वह्नि साध्यकी सिद्धि मानी जाती है वह अब यथार्थ सिद्धि न मानी जा सकेगी। अथवा—

एकस्य हेतोः साधकदूषकताविसंवादवद्वा ॥ १३ ॥

उपर्युक्त रीतिसे अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि आपसमें विरुद्ध भी अनेक धर्म नि-

दोषरूपसे एक पदार्थमें रह सकते हैं कोई विरोध नहीं हो सकता यह बात अच्छी तरह बतला देने पर भी जो वादी मिथ्यादर्शनके उदयसे अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मोंका एक जगह रहना विरोध ही मानते हैं—असली स्वरूप नहीं समझ सकते उन्हें लोकमें प्रसिद्ध हेतुवादका आश्रय कर इसतरह समझाया जाता है—

यह बात सबके अनुभवगोचर और निश्चित है कि संसारमें अनेक सिद्धांत हैं और किसी प्रसिद्ध पदार्थका निरूपण वे एक रूपसे नहीं करते किंतु जितने सिद्धांत हैं उतने ही प्रकारोंसे उस पदार्थका निरूपण किया जाता है जिसतरह प्रसिद्ध पदार्थ मोक्षको सभी सिद्धांतकार स्वीकार करते हैं परंतु हर एक सिद्धांतकार उसका स्वरूपनिरूपण अपनी अपनी इच्छानुसार करता है परंतु जो स्वरूप हेतुके बलसे सुनिश्चित हो जाता है वही यथार्थ माना जाता है उससे अन्य सब मिथ्या माने जाते हैं। यदि हेतुको न मान कर वचन मात्रसे ही किसी इष्ट पदार्थकी सिद्धि कर ली जाय तो फिर विना हेतुके सब सिद्धांतकारोंके अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि हो सकती है क्योंकि 'साधक और बाधक हेतु होता है' वह माना नहिं जाता इसरीतिसे जो एक सिद्धांतकारने मोक्षका स्वरूप विना हेतुके मनसे गढ लिया वह संसारका स्वरूप भी हो सकता है जिससे लक्ष्यको छोड अलंक्ष्यमें लक्षण चले जानेसे अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) दोषका अवसर आजाता है इसलिये जो वादी अपने सिद्धांतकी मर्यादा स्थिर रखनेमें दत्तचित्त है—उसका उलंघन करना नहीं चाहता, मनगढंत बातको ठीक न समझ न्याय धर्मका अनुसरण करनेवाला है और जिस अभीष्ट अर्थकी सिद्धिकी प्रतिज्ञा कर चुका है उसकी सिद्धि करना चाहता है उस वादीको हेतुके विना वचनमात्रसे सब सिद्धांतकारोंके अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि न हो अन्यथा अतिव्याप्ति

दोष अनिवार्य हो जायगा इसलिये हेतुको स्वीकार करना पडता है एवं वह हेतु साधक भी कहा जाता है क्योंकि जिस बातकी सिद्धिकेलिये उसका प्रयोग किया गया है उस बातको सिद्ध करता है और दूषक भी कहा जाता है क्योंकि वह अपनेसे विरुद्ध बातको दूषित करता है । वे साधन और दूषण हेतुसे सर्वथा भिन्न नहीं, जिससे वे साधन दूषण दूसरे किसी पदार्थके धर्म माने जांय तथा सर्वथा अभिन्न भी नहीं जिससे वह हेतु जिस रूपसे अपने पक्षका साधक हो उसी रूपसे परपक्षका दूषक भी कह दिया जाय वा जिस रूपसे परपक्षका दूषक हो उसरूपसे स्वपक्षका साधक भी कह दिया जाय किंतु साधक और दूषण धर्मोंका हेतुके साथ कथंचित् भेदाभेद है ।

एक ही हेतुमें साधन और दूषण दोनों धर्मोंके माननेमें संकर दोष भी नहीं आता क्योंकि 'सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः सब धर्मोंकी एकसाथ एकरूपसे प्राप्ति होना संकर दोष है। जिसरूपसे आस्तित्व है यदि उसीरूपसे नास्तित्व माना जाय वा जिसरूपसे नास्तित्व है उसीरूपसे आस्तित्व माना जाय तब तो संकर दोष हो सकता है किन्तु स्वस्वरूपकी अपेक्षा आस्तित्व परस्वरूपकी अपेक्षा नास्तित्व इसतरह अस्तित्व नास्तित्व आदि भिन्न भिन्न अपेक्षासे माने गए हैं इसलिए संकर दोषको यहां अवकाश नहीं मिल सकता ।

एकही हेतुमें साधन दूषण दोनों धर्मोंके माननेमें विरोध दोष भी नहीं होसकता क्योंकि बध्यघातक आदि तीन प्रकारके विरोधका प्रतिपादन ऊपर कर आए हैं उनमेंसे एक भी प्रकारका विरोध नहीं आता इसीतरह वैयधिकरण्य व्यतिकर आदि दोष भी नहीं आसकते क्योंकि उनका लक्षण यहां घट नहीं सकता इसरीतिसे जिसतरह साधनपना और दूषणपना दोनों आपसमें विरुद्ध धर्मोंका स्वपक्ष परपक्षकी अपेक्षा

एक ही हेतुमें होना विरुद्ध नहीं माना जाता उसीतरह अस्तित्व नास्तित्व आदि विरुद्ध भी धर्मोंका स्वरूप और पररूपकी अपेक्षा एक ही घट आदि किसी पदार्थमें होना भी विरुद्ध नहीं माना जासकता। इसप्रकार समस्त पदार्थोंमें व्यापक यह अनेकांत प्रक्रिया समस्त पदार्थोंके विरोध दोषका खंड खंड कर डालती है। तथा—

सर्वप्रवाद्यविप्रतिपत्तेश्च ॥ १४ ॥

तथा तत्त्व कथंचित् एक स्वरूप भी है कथंचित् अनेकस्वरूप भी है इस सिद्धांतके माननेमें किसी भी प्रतिवादीको विवाद नहीं सब प्रतिवादी इस बातको स्वीकार करते हैं। जिसतरह—सांख्यसिद्धांतकार यह मानते हैं—सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण इन तीनोंकी जो साम्यावस्था है वह प्रधानतत्त्व है। वहां पर प्रसन्नता और लाघव सत्वगुणका स्वभाव है। शोष और ताप रजोगुणका स्वभाव है, आवरण (ढंक देना) और आसादन तमका स्वभाव है। यद्यपि प्रसन्नता शोष आवरण आदि पदार्थ परस्पर विरुद्ध हैं तो भी उन्हें प्रधान स्वरूप माननेमें किसीप्रकारका विरोध नहीं माना गया। यदि यहांपर यह कहा जाय कि सत्वगुण रजोगुण तमोगुणसे भिन्न कोई भी प्रधान नामका एक पदार्थ संसारमें नहीं किंतु वे ही सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण जिससमय साम्य अवस्था धारण करलेते हैं उन्हींका नाम प्रधान पड जाता है तो फिर बहुतसे प्रधान मानने पडेंगे क्योंकि सत्व आदि अवयवोंका नाम प्रधान माना गया है सत्व आदि अवयव अनेक हैं इसलिये प्रधान भी अनेक हो जांयगे। यदि उन सबका समुदाय ही एक प्रधान तत्व है तब अवयवस्वरूप सत्व आदि गुण और समुदायस्वरूप प्रधान दोनोंके माननेमें किसीप्रकारका विरोध नहीं इसरीतिसे सत्व रज आदि विरुद्ध भी गुणोंका आधार भी प्रधान पदार्थ

जिसतरह विरुद्ध नहीं माना जाता उसीप्रकार अस्तित्व आदि विरुद्ध धर्मोंका आधार एक भी घट पदार्थ विरुद्ध नहीं कहा जासकता।

नैयायिक और वैशेषिक सिद्धांतकारोंका यह कहना है कि—जिस पदार्थका ज्ञान अनुगताकारसे हो और जो अनुगताकाररूपसे ही कहा जाय वह सामान्य पदार्थ है और जिसका ज्ञान व्यावृत्ताकार से हो और व्यावृत्ताकाररूपसे ही जो कहा जाय वह विशेष पदार्थ है। जिस तरह गौ सामान्य पदार्थ है। क्योंकि उसमें रहनेवाला गोत्व धर्म काली सफेद पीली लाल सभी गौओंमें अनुगतरूपसे रहता है। गौ कहनेसे सभी गौओंका सामान्यरूपसे ज्ञान हो जाता है। काली गौ वा पीली गौ, यह विशेष पदार्थ है क्योंकि गौ सामान्यसे काली गौ वा पीली गौ व्यावृत्तस्वरूप है। एक देशस्वरूप है। परन्तु सामान्य-विशेष इस शब्दकी व्युत्पत्ति 'सामान्यमेव विशेषः' अर्थात्—सामान्य ही विशेष हो जाता है, यह है वही युक्त भी है क्योंकि काली गौरूप विशेषका, सामान्य गौमें ही समावेश है इसलिये सामान्य गौका काली गौ जब अवयव है तो वह सामान्यस्वरूप ही विशेष हो गया इस रूपसे सामान्य और विशेष दोनों धर्मविरुद्ध हैं तो भी उन दोनोंका एक ही आधार गौ पदार्थ जिसतरह विरुद्ध नहीं माना जाता उसी तरह अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक धर्मोंका आधार एक भी घट पदार्थ विरुद्ध नहीं कहा जासकता।

बौद्ध सिद्धांतकारोंका कहना है कि— वर्ण गंध आदि परमाणुओंका समुदायरूप परमाणु है और उन्होंने भिन्न २ लक्षणोंके धारक काकुत्व और बडत्व आदि पदार्थोंको रूपपरमाणुस्वरूप माना है तो जिसप्रकार काकुपना वा बडपना आदि विरुद्ध धर्मोंका धारक एक भी रूपपरमाणु विरुद्ध नहीं माना जाता उसीप्रकार अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक धर्मोंका आधार एक भी घट पदार्थ विरुद्ध नहीं हो सकता।

विज्ञानवादियोंका कहना है कि—परमाणु नामका कोई भी बाह्य पदार्थ नहीं किंतु विज्ञान ही एक पदार्थ है और परमाणुके आकार परिणत होनेके कारण वह विज्ञान ही परमाणु कहा जाता है परन्तु उन्हें भी पदार्थोंका ग्रहण करना, पदार्थोंका झलकना और जाननारूप शक्ति इन तीन शक्तियोंका आधार विज्ञान स्वीकार करना पडा है इसलिये ग्राहक विषयाभास और संवित्ति इन आपसमें विरुद्ध भी तीन शक्तियोंका आधार भी एक विज्ञान विरुद्ध नहीं माना जाता उसीप्रकार अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक आपसमें विरुद्ध धर्मोंका आधार भी एक घट विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

तथा यह सभी सिद्धांतकारोंको मानना पडेगा कि एक ही पदार्थ अपने पूर्वकालके पर्यायकी अपेक्षा कारण और उत्तर कालके पर्यायकी अपेक्षा कार्य माना जाता है जिस तरह मिट्टीसे घट बनाया जाता है वहांपर घटसे पहिले रहनेवाला मिट्टीका कुसूलरूप पर्याय कारण माना जाता है और उत्तर-कालमें होनेवाला मिट्टीका ही घट पर्याय कार्य माना जाता है यहां यद्यपि कार्य और कारण दोनों आपसमें विरुद्ध धर्म हैं। जो कार्य है वह कारण नहीं हो सकता और जो कारण है वह कार्य नहीं हो सकता परन्तु पूर्वकालमें रहनेवाले पर्यायकी अपेक्षा कारण और उत्तर कालमें रहनेवाले घट पर्यायकी अपेक्षा कार्य इस तरह दोनोंका एक ही मिट्टी पदार्थमें होना विरुद्ध नहीं माना जाता उसी तरह अस्तित्व नास्तित्व आदि विरुद्ध भी धर्मोंका स्वरूप पररूपकी अपेक्षा एक भी घट आदि किसी पदार्थमें रहना विरुद्ध नहीं कहा जा सकता ॥ ६ ॥ इसप्रकार जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञानके उपाय प्रमाण और नय बतला दिये गये और भी उन्हींके ज्ञानके उपाय सूत्रकार बतलाते हैं—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७॥

निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति और विधानसे भी जीवादि पदार्थ वा सम्यग्दर्शन आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है।

निर्देशका अर्थ नाम मात्रका कहना है। स्वामित्वका अर्थ स्वामीपना है। साधनका अर्थ कारण है। अधिकरणका अर्थ आधार है। स्थितिका अर्थ कालकी मर्यादा है और विधानका अर्थ भेद है। विधानतः यहां तृतीयांत वा पंचम्यंत 'विधान' शब्दसे तस् प्रत्यय की गई है। सूत्र सोपस्कार होते हैं। जिस शब्दका उल्लेख सूत्रमें न हो उसकी अनुवृत्ति पहिले सूत्रसे आ जाती है। निर्देश स्वामित्व आदि सूत्रमें अधिगम शब्दका उल्लेख नहीं है इसलिये 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्रसे यहां अधिगम शब्दकी अनुवृत्ति की गई है। निर्देशश्च स्वामित्वं च साधनं च अधिकरणं च स्थितिश्च विधानं च निर्देशस्वामित्व-साधनाधिकरणस्थितिविधानानि तैः, तेभ्यो वा निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः, यह यहां समास समझ लेनी चाहिये अर्थात् निर्देश आदिके द्वारा जीव आदि पदार्थों वा सम्यग्दर्शन आदिका ज्ञान होता है यह सूत्रका तात्पर्य है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि 'का' अर्थ षष्ठीका होता है। जीव आदि वा सम्यग्दर्शन आदिका अधिगम होता है यदि यह अर्थ किया जायगा तो 'जीवादीनां सम्यग्दर्शनादीनां च' यह पाठ निर्देश स्वामित्व आदि सूत्रमें और भी रखना चाहिये। यदि इसका यह उत्तर दिया जाय कि ऊपरके सूत्रोंमें उनका उल्लेख है इसलिये यहां उनकी अनुवृत्ति आ जायगी ? तो उसका समाधान यह होगा कि ऊपर तो प्रथमांत जीव आदि वा सम्यग्दर्शन आदिका उल्लेख किया गया है षष्ठ्यंतोंका नहीं और यहांपर षष्ठ्यंत जीव आदिकी आवश्यकता है क्योंकि यहांपर 'जीव आदिका

वा सम्यग्दर्शन आदिका अधिगम होता है' यह षष्ठी विभक्तिकी अपेक्षा अर्थ किया गया है। तथा ऊपरके सूत्रोंमें षष्ठी विभक्त्यंत जीव आदि वा सम्यग्दर्शन आदिका उल्लेख है नहीं, यदि प्रथमा विभक्त्यंत जीव आदिकी अनुवृत्ति कर भी ली जाय तो प्रथमा विभक्तिकी अपेक्षा यहां अर्थ बाधित है इस लिये "जीवादीनां सम्यग्दर्शनादीनां च" इतना सूत्र बढाकर ही बनाना ठीक है ? सो नहीं। जैसे अर्थ की जहां आवश्यकता होती है उसीके अनुसार विभक्तियोंका परिणमन कर लिया जाता है। जिसतरह 'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाण्यामंत्रयस्वैनं' अर्थात् ऊँच बने हुए घर देवदत्तके हैं उसे (देवदत्तको) बुला लो। यहांपर यद्यपि 'देवदत्तस्य' यह षष्ठ्यंत पद है तथापि बुलानारूप क्रियाके कर्ममें द्वितीया ही होती है इसलिये 'देवदत्तस्य' इस षष्ठी विभक्त्यंतका परिणमन कर 'देवदत्तं' इस द्वितीया विभक्त्यंतका अध्याहार होता है उसीतरह निर्देश स्वामित्व इत्यादि सूत्रमें प्रथमा विभक्त्यंत जीव आदि वा सम्यग्दर्शन आदिका अर्थ बाधित है इसलिये प्रथमाविभक्तिका षष्ठी विभक्ति परिणमन कर षष्ठ्यंत ही जीव आदि वा सम्यग्दर्शन आदिकी वहां अनुवृत्ति है इस रीतिसे षष्ठ्यंत जीव आदि वा सम्यग्दर्शन आदि की अनुवृत्ति युक्तिसिद्ध है तब उनका सूत्रमें उल्लेख करना व्यर्थ है। निर्देशस्वामित्व इत्यादि सूत्रमें निर्देशका ही सबसे पहिले पाठ क्यों रक्खा गया ? उसका समाधान—

अवधृतार्थस्य धर्मविकल्पप्रतिपत्तेरादौ निर्देशवचनं ॥ १ ॥

जिस पदार्थका पहिले नाम जान लिया जाता है उसी पदार्थके स्वभाव और विशेषोंका ज्ञान होता है जिस तरह आत्मपदार्थका नाम जान लेनेपर उसका स्वभाव चैतन्य है और ज्ञान दर्शन आदि विशेष है यह ज्ञान होता है किंतु जिसके नामका भी ज्ञान नहीं, उसके स्वभाव वा विशेषोंका भी ज्ञान नहीं हो

सकता। नामके जान लेनेपर ही स्वामीपना आदि धर्मोंका ज्ञान होता है, विना नामज्ञानके नहीं इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें निर्देश शब्दका उल्लेख किया गया है।

इतरेषां प्रश्नवशात्क्रमः ॥ २ ॥

स्वामित्व आदिका जो सूत्रमें क्रम रक्खा गया है वह प्रश्नकी अपेक्षा है। जैसा जैसा प्रश्न होता जाता है वैसा ही स्वामित्व आदिका क्रमसे उल्लेख होता चला जाता है। जिसतरह जीवका नाम जान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि वह जीव पदार्थ क्या है? कैसे स्वभाव और कैसे विशेषका धारक है?

औपशमिकादिभावपर्यायो जीवः पर्यायादेशात् ॥ ३ ॥

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा औपशमिक क्षायिक आदि भावस्वरूप जीव है। 'औपशमिकक्षायिको भावौ' इत्यादि सूत्रसे औपशमिक आदि भावोंका आगे जाकर स्वरूप विस्तारसे कहा जायगा।

द्रव्यार्थादेशान्नामादिः ॥ ४ ॥

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जीव पदार्थ नाम आदि स्वरूप भी है।

तदुभयसंग्रहः प्रमाणं ॥ ५ ॥

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंके अर्थको संग्रह करनेवाला—विषय करनेवाला प्रमाण है। अर्थात् प्रमाणकी अपेक्षा औपशमिक आदि भाव वा नाम आदि दोनों स्वरूप जीव पदार्थ है इसप्रकार यह तो निर्देशके द्वारा जीवके ज्ञानका उपाय है अब स्वामित्व आदिके द्वारा कहा जाता है। वहां जीव किसका स्वामी है? इस प्रश्नका समाधान—

तत्परिणामस्य भेदादग्नेरौष्ण्यवत् ॥ ६ ॥

परिणाम और परिणामीका कथंचित् भेद माननेके कारण जिसतरह उष्णतास्वरूप अग्निका जलाना पकाना और पसेव उत्पन्न करनेमें समर्थ औष्ण्य गुण भिन्न माना जाता है और वह अग्नि उष्ण गुणकी आधार मानी जाती है उसीतरह जीवका जो परिणाम है उससे जीव कथंचित् भिन्न है । उस परिणामका ही अशुद्ध निश्चयनयसे जवि स्वामी है ।

व्यवहारनयवशात्सर्वेषां ॥ ७ ॥

किंतु व्यवहार नयकी अपेक्षा जीव अजीव आदि सब ही पदार्थोंका स्वामी जीव है अर्थात् अजीव आदि सब पदार्थोंमें असाधारण चैतन्यगुणकी मुख्यतासे जीव पदार्थ प्रधान है और सब अप्रधान हैं। प्रधान ही स्वामी कहा जाता है इसलिये अजीव आदि पदार्थोंका स्वामी जीव है। तथा जीवसे बढकर उत्तम कोई पदार्थ संसारमें नहीं इसलिये अपना स्वामी आप जीव ही है इसरीतिसे व्यवहार नयकी अपेक्षा जीव अजीव आदि सबका स्वामी जीव पदार्थ है । जीवका कारण कौन है ? इस प्रश्नका समाधान—

पारिणामिकभावसाधनो निश्चयतः ॥ ८ ॥

जीवस्वरूप पारिणामिक भाव ज्ञान दर्शन आदिसे ही सदा काल जीव जीता रहता है इसलिये निश्चयनयसे तो पारिणामिक भाव जीवके कारण हैं और—

औपशमिकादिभावसाधनश्च व्यवहारात् ॥ ९ ॥

व्यवहार नयकी अपेक्षा औपशमिक क्षायिक आदि भावोंके द्वारा जीव जीता है इसलिये औप-शमिक क्षायिक आदि भाव व्यवहार नयसे जीवके कारण हैं तथा वीर्य रक्त आहार आदिसे भी जीव

जीता है इसलिये व्यवहार नयकी अपेक्षा वीर्य आदि भी जीवके कारण हैं। जीवके रहनेकी जगह कौन है? इस प्रश्नका समाधान—

स्वप्रदेशाधिकरणो निश्चयतः ॥ १० ॥

जीवके प्रदेश असंख्याते माने हैं[1]। नाम कर्मके उदयसे जीव जैसा शरीर धारण करता है उसके अनुसार जीवके प्रदेश संकुचित और फैल तो जाते हैं. अर्थात् जिससमय छोटा शरीर धारण करता है उससमय जीवके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं और जिससमय विशाल शरीर धारण करता है उससमय फैल जाते हैं तो भी यह बात नहीं कि छोटे शरीरके धारण करनेपर वे कुछ कम हो जांय और विशाल शरीरके धारण करनेपर अधिक हो जांय किंतु वे असंख्यात ही रहते हैं इसलिये जिसतरह आकाशके अनंत प्रदेश हैं और वे अनंत प्रदेश ही निश्चयनयसे आकाशके रहनेके स्थान हैं उसीप्रकार जीवके जो असंख्यात प्रदेश हैं निश्चयनयसे वे ही जीवके रहनेके स्थान हैं। यदि कर्मके उदयसे जीव निगोदियाका शरीर धारण करले तो उसके प्रदेश कम नहीं होते और यदि महामत्स्यका विशाल शरीर धारण करले तो अधिक नहीं होते वे असंख्यातके असंख्यात ही रहते हैं।

व्यवहारतः शरीराद्यधिष्ठानः ॥ ११ ॥

किंतु कर्मके उदयसे जीव जैसा शरीर धारण करता है उसमें ही वह रहता है इसलिए व्यवहार नयकी अपेक्षा जीवके रहनेका स्थान शरीर है। जीवकी स्थिति कितनी है? इस प्रश्नका समाधान—

स्थितिस्तस्य द्रव्यपर्यायापेक्षानाद्यवसाना समयादिका च ॥ १२ ॥

१। असंख्येयाः प्रदेशा धर्माऽधर्मैकजीवानां ॥ ८ ॥ तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा दो प्रकारसे जीव द्रव्यकी स्थिति मानी है उनमें द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा तो जीवद्रव्यकी स्थिति अनादि अनंत है क्योंकि–सामान्यरूपसे चैतन्य उपयोग और असंख्यात प्रदेश आदि स्वरूप जीव द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जीव द्रव्यकी स्थिति एकसमय आदि है क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जीव भिन्न भिन्न पर्यायोंको धारण करता रहता है जिस पर्यायमें एकसमय जीकर मर जाता है उस पर्यायकी अपेक्षा जीवकी स्थिति एक समय है। जिस पर्यायमें दो समय चार समय घंटा एकदिन एकमास एकवर्ष आदि जीकर मरजाता है वहां पर अपने अपने पर्यायोंकी अपेक्षा दो समय चार समय आदि जीवकी स्थिति है। जीव द्रव्यके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नका समाधान–

नारकादिसंख्येयासंख्येयानंतप्रकारो जीवः ॥ १३ ॥

निश्चय नयकी अपेक्षा जीवका कोई भेद नहीं किंतु व्यवहार नयकी अपेक्षा नारकी मनुष्य आदि संख्यात असंख्यात और अनंत उसके भेद हैं। इसप्रकार निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षा जीव द्रव्यमें निर्देश स्वामित्व आदि भेदोंका निरूपण करदिया गया। अब–

तथेतरेषामागमाविरोधान्निर्देशादिवचनं ॥ १४ ॥

जिसतरह जीव द्रव्यमें निर्देश आदिका निरूपण शास्त्रानुकूल किया है उसीप्रकार अजीवआदिमें भी शास्त्रानुकूल निर्देश आदिका निरूपण किया जाता है। अजीवद्रव्यसे पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाशका भी ग्रहण किया गया है और आस्रव आदिका भी ग्रहण किया गया है। वह इसप्रकार है–

निश्चयनयसे पुद्गल द्रव्य इन्द्रिय आदि दश प्राणोंसे रहित है और व्यवहारसे वह नाम स्थापना

आदि स्वरूप है यह पुद्गल द्रव्यका निर्देश है। निश्चयनयसे अजीवका स्वामी अजीव है और व्यवहार नयसे पुद्गलके कार्योंका भोगनेवाला जीव है इसलिए जीव स्वामी है। द्व्यणुकका भेद करनेसे अणुरूप पुद्गलद्रव्यकी उत्पत्ति होती है। संघात–अवयवों के मिलनेसे वा भेदसे वा भेद और संघात दोनोंसे स्कंधरूप पुद्गलद्रव्यकी उत्पत्ति होती है इसलिए निश्चय नयसे पुद्गल द्रव्यका साधन–कारण भेद आदि है व्यवहारसे काल आदि भी कारण हैं सब द्रव्योंका रहना वास्तविक दृष्टिसे अपनेमें ही है इस-लिए निश्चयनयसे तो पुद्गल द्रव्यका अधिकरण पुद्गल द्रव्य ही है तथा व्यवहार नयसे उसका सामान्यरूपसे अधिकरण आकाश है और विशेष रूपसे घट आदि अधिकरण हैं क्योंकि जल आदि पुद्गल, घट आदिमें भी रहते हैं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पुद्गल द्रव्यकी स्थिति अनादि अनंत है क्योंकि रूपादिगुणस्वरूप पुद्गल द्रव्यका कभी नाश नहीं हो सकता तथा पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा एक समय आदि है क्योंकि जो पुद्गलकी पर्याय एक समय ठहरकर नष्ट होती है उसकी स्थिति एक समय है। जो दो समय चार समय घंटा चार घंटा दिन चार दिन आदि ठहरकर नष्ट होती है उसकी स्थिति दो समय आदि है। रूप स्पर्श आदि परिणमनस्वरूप पुद्गल द्रव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा एक है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा उसके अनेक संख्याते असंख्याते और अनंते पर्याय हैं इसलिये उनकी अपेक्षा अनेक संख्यात असंख्यात और अनंत है। इसप्रकार यह पुद्गल द्रव्यमें निर्देश आदि भेदोंके निरूपणका क्रम है।

निश्चयनयसे धर्म द्रव्य भी दशों[1] प्राणोंसे रहित है और व्यवहारनयसे नाम आदि स्वरूप है यह धर्म

१ पुद्गल द्रव्यके समान ही धर्म आदि द्रव्योंका यहां निर्देश लिखा गया है। धर्म आदिकी विशेषता बुद्ध्यनुसार समझ लेना चाहिये।

द्रव्यका निर्देश है। निश्चयनयसे धर्मद्रव्यका धर्म द्रव्य ही स्वामी है और व्यवहारनयसे जीव और पुद्गल हैं क्योंकि जीव और पुद्गलके आधीन ही गमनमें धर्मद्रव्यका सहकारीपना है। तथा वह सहकारीपना अगुरुलघु गुणके द्वारा परिणमनस्वरूप है और वह धर्मद्रव्यको छोडकर अन्यत्र नहीं रहता इसलिये धर्म द्रव्यस्वरूप है इस रीतिसे धर्म द्रव्य और गति परिणाम दोनों जब एक हैं और गतिपरिणाममें कारण अगुरुलघु गुण है तब निश्चयनयसे धर्म द्रव्यका कारण अगुरुलघु गुण है और व्यवहारनयसे जीव और पुद्गल उसके कारण हैं क्योंकि धर्म द्रव्यका गमनमें कारणपना जीव और पुद्गलकी ही अपेक्षा प्रगट है। निश्चयनयसे धर्म द्रव्यका धर्म द्रव्य ही अधिकरण है और व्यवहारनयसे आकाशद्रव्य अधिकरण है। निश्चयनयसे तो धर्म द्रव्य एक है और व्यवहारनयसे वह अनेक संख्यात असंख्यात और अनंत जीव और पुद्गलको गमनमें सहायता पहुंचाता है इसलिये अनेक संख्यात असंख्यात और अनंत भी उसके भेद हैं। इसप्रकार धर्मद्रव्यकी अपेक्षा यह निर्देश आदि भेदोंके क्रमका निरूपण है। अधर्म द्रव्यमें भी इसीप्रकार क्रम निरूपण समझ लेना चाहिये, भेद इतना है कि धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलके गमनमें सहकारी कारण है और अधर्म द्रव्य उनके ठहरनेमें कारण है इसलिये गतिकी जगह स्थिति समझ लेनी चाहिये। शेष सब प्रक्रिया धर्म द्रव्यके समान है।

निश्चयनयसे काल द्रव्य इंद्रिय आदि दश प्राणोंसे रहित है और व्यवहारनयसे नाम स्थापना आदि स्वरूप है यह कालका निर्देश है। निश्चयनयसे कालद्रव्यका कालद्रव्य ही स्वामी है और जीव आदि द्रव्योंके आधीन उसका वर्तना गुण प्रकट होता है इसलिये व्यवहारनयकी अपेक्षा जीव आदि द्रव्य उसके स्वामी हैं। कालद्रव्यका जो वर्तना स्वरूप है वह अगुरुलघु गुणकी अपेक्षा परिणमनस्वरूप

१ अगुरु लघु नामकी एक प्रकारकी शक्ति मानी है उसीसे धर्म आदिमें परिणमन होता है।

है और वह कालद्रव्यसे भिन्न नहीं है कालद्रव्यस्वरूप ही है इस रीतिसे कालद्रव्य और वर्तना जब एक हैं और वर्तनामें कारण अगुरुलघु गुण है तो निश्चयनयसे कालद्रव्यका कारण अगुरुलघु गुण है और व्यवहारनयसे जीव पुद्गल आदि कारण हैं क्योंकि कालद्रव्यका परिणाम जीव आदिके ही आधीन है। निश्चयनयसे कालद्रव्यका कालद्रव्य ही अधिकरण है और व्यवहारनयसे कालद्रव्यका अधिकरण आकाश है। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कालद्रव्य अनादि और अनंत है क्योंकि कालद्रव्यका कभी नाश नहीं होता और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा समय घंटा घडी पल आदि पर्याय नष्ट होते रहते हैं इसलिये जिस पर्यायका जितना ठहरना है वही उसकी स्थिति है। निश्चयनयसे कालद्रव्य एक ही है और व्यवहारनयसे वह अनेक संख्यात असंख्यात और अनंते पदार्थोंके परिणमनमें कारण है इसलिये परपदार्थोंकी अपेक्षा अनेक संख्यात असंख्यात और अनंत भी उसके भेद हैं।

निश्चयनयसे आकाशद्रव्य इंद्रिय आदि दश प्राणोंसे रहित है और व्यवहारनयसे नाम स्थापना आदि रूप है यह कालका निर्देश है। निश्चयनयसे आकाशका आकाश ही स्वामी है और व्यवहारनयसे घटाकाश—घटके भीतर रहनेवाले आकाशका घट, मठाकाश, आदि—मठके भीतर रहनेवाले आकाशके मठ आदि स्वामी हैं सब द्रव्योंको अवकाश दान देनेमें जो आकाशका कारणपना है वह अगुरुलघु गुणके द्वारा परिणमनस्वरूप है और वह अवगाह परिणाम आकाशसे भिन्न नहीं, आकाश स्वरूप ही है इस रीतिसे जब आकाश और अवगाह परिणाम दोनों एक हैं और अवगाह परिणामका कारण अगुरुलघु गुण है तब निश्चयनयसे आकाशद्रव्यका कारण अगुरुलघु गुण है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा जीव आदिक द्रव्य कारण हैं क्योंकि उन्हींकी अपेक्षासे अवगाह परिणामकी प्रगटता होती

है। निश्चयनयसे आकाशका आकाश ही अधिकरण है और व्यवहारनयसे घटाकाशका अधिकरण घट मठाकाश आदिका अधिकरण मठाकाश आदि हैं। निश्चयनयसे आकाशद्रव्यकी स्थिति अनादि अनंत है और व्यवहारनयकी अपेक्षा जिस पदार्थकी एक समयकी स्थिति है उसके नष्ट हो जानेपर उसके भीतर रहनेवाला आकाश भी नष्ट हो जाता है इसलिये उसकी भी एक समयकी स्थिति है इसी तरह दो समय आदि भी स्थिति समझ लेनी चाहिये। इसप्रकार जीव पुद्गल आदि छहों द्रव्योंके निर्देश आदिका निरूपण कर दिया गया अब सात तत्त्वोंके निर्देश आदिका निरूपण करते हैं। सात तत्त्वोंमें जीव अजीवके निर्देश आदिका निरूपण हो चुका आस्रव आदिका निरूपण इसप्रकार है—

शरीर वचन और मनकी क्रियाका नाम योग है और उस योगको आस्रव कहते हैं इसप्रकार आगे आस्रवका स्वरूप बतलाया गया है इसलिये निश्चयनयसे तो शरीर वचन और मनकी क्रियाओंका परिणमन होना आस्रव है और व्यवहारसे आस्रवका नाम वा स्थापना आदि आस्रव है। आस्रवका स्वामी निश्चयनयसे जीव है और व्यवहारनयसे कर्म स्वामी है क्योंकि आस्रवकी उत्पत्तिमें कर्म भी कारण है। शुद्ध आत्माके आस्रव नहीं होता इसलिये निश्चयनयसे तो आस्रवका कारण आस्रव वा आस्रवविशिष्ट आत्मा है और कर्मोंके होनेपर आस्रवकी प्रवृत्ति होती है इसलिये व्यवहारनयसे आस्रवका कारण कर्म भी है। संसारी आत्मामें आस्रवका फल जान पडता है इसलिये निश्चयनयसे तो आस्रवका अधिकरण संसारी आत्मा है और कर्ममें वा कर्मद्वारा किये गये शरीर आदिमें भी आस्रवका फल दीख पडता है अर्थात् शुभकर्मके आस्रवसे उत्तम शरीर और अशुभ कर्मके आस्रवसे निंदित रोग आदिका

१ कायवाङ्मनः कर्म योगः ॥ १ ॥ स आस्रवः ॥ २ ॥ अध्याय ६ तत्त्वार्थसूत्र।

स्थान शरीर होता है इसलिये व्यवहारसे कर्म वा शरीर आदि आस्रवके अधिकरण हैं। वचन और मनःकृत आस्रवकी जघन्य स्थिति एक समय है और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त है कायकृत आस्रवकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट स्थिति अनंत काल है और उसमें असंख्याते पुद्गल[1] परिवर्तन होते रहते हैं। सत्यवचनकृत आस्रव १ असत्यवचनकृत आस्रव २ उभयवचनकृत आस्रव ३ अनुभयवचनकृत आस्रव ४ इस तरह वचनकृत आस्रवके चार भेद हैं। इसीप्रकार सत्यमनःकृत आस्रव १ असत्यमनःकृत आस्रव २ उभयमनःकृत आस्रव ३ अनुभयमनःकृत आस्रव ४ इसतरह मनःकृत आस्रव भी चार प्रकारका है। कायकृत आस्रवके सात भेद हैं—औदारिक १ औदारिक मिश्र २ वैक्रियिक ३ वैक्रियिकमिश्र ४ आहारक ५ आहारक मिश्र ६ और कार्माण। "[2]मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर स्थूल होता है इसलिये उनके शरीरका नाम औदारिक शरीर है और उससे होनेवाले योगको औदारिक योग कहते हैं। जब तक औदारिक शरीर पूर्ण नहीं होता अपूर्ण रहता है तब तक वह औदारिक मिश्र कहा जाता है और उससे होनेवाले योगको औदारिक मिश्रयोग कहते हैं। देव और नारकियोंका शरीर वैक्रियिक शरीर कहा जाता है और उससे होनेवाले योगको वैक्रियिक योग कहते हैं। जबतक वैक्रियिक शरीर पूर्ण न हो तबतक वह वैक्रियिक मिश्र कहा जाता है और उससे होनेवाले योगको वैक्रियिकमिश्रयोग कहते हैं। छठे गुणस्थानवर्ती मुनिको जब किसी तत्त्वमें शंका होती है और सिवाय केवलीके उस शंकाको कोई दूर कर नहीं सकता उस समय जिस दिशामें भगवान केवली विराजते हैं उस दिशाकी ओर शुभ

१ कर्म और नोकर्मके भेदसे पुद्गल परिवर्तनके दो भेद हैं। यथावसर आगे इनका स्वरूप लिखा जायगा। २ जीवकांड गोम्मटसार पृ० नं० ९२ गाथा नं० २२९ से देखो।

विशुद्ध व्याघातरहित एक हाथ प्रमाण मनुष्याकार पुतला जो मुनिके मस्तकसे निकलकर जाता है वह आहारक शरीर है और उससे होनेवाले योगको अहारककाययोग कहते हैं। जबतक आहारक शरीर पूर्ण न हो तबतक वह आहारकमिश्र कहा जाता है और उससे होनेवाले योगको आहारकमिश्रयोग कहते हैं। तथा ज्ञानावरण आदि कर्मोंके समूहका नाम कार्माण शरीर है।" सात प्रकारके काययोगोंमें औदारिक और औदारिकमिश्र ये दो काययोग तो मनुष्य और तिर्यंचोंके होते हैं। वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र ये दो काययोग देव और नारकियोंके होते हैं। आहारक और आहारकमिश्र ये दो काय योग ऋद्धि प्राप्त मुनियोंके होते हैं और कार्माण काययोग जो जीव विग्रहगतिमें हैं उनके और समुद्घात करनेवाले केवलियोंको होता है "एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये जो गमन करना है वह विग्रहगति है" मूल शरीरको न छोडकर तैजस कार्माणस्वरूप उत्तर देहके साथ साथ जो जीवके प्रदेशोंका बाहर निकलना है वह समुद्घात है और वह वेदना[3] १ कषाय २ वैक्रियिक ३ मारणांतिक ४ तैजस ५ आहारक ६ और केवलके भेदसे सात प्रकारका है।

अथवा आस्रवके भेद शुभ और अशुभ भी हैं। हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह इन पांच पापोंमें प्रवृत्त होनेसे अशुभकायकृत आस्रव और उनसे दूर रहनेसे शुभ–कायकृत आस्रव होता है। कठोर वचन बोलना कोसना चुगली खाना और परको पीडा पहुंचानेवाला वचन बोलना आदिसे अशुभ

---

२ विग्रहो देहः, तदर्था गतिविग्रहगतिः। राजवार्तिक पृ० ९५। २ मूलसरीर मछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६७ ॥ जीवकांड गोम्मटसार। ३ वेयण कसाय वेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो। तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥ जीवकांड गोम्मटसार।

वचनकृत आस्रव और उनसे विपरीत मीठे हितकारी आदि वचन बोलनेसे शुभ-वचनकृत आस्रव होता है। मिथ्या शास्त्रोंके चिंतवनसे ईर्षा द्वेष आदि रखनेसे अशुभ-मानस आस्रव होता है। और उनसे दूर रहनेसे शुभ-मानस आस्रव होता है। इसप्रकार यह आस्रवतत्त्वके निर्देश आदिका निरूपण है।

निश्चयनयसे जीवके प्रदेश और कर्मोंके प्रदेशोंका जो आपसमें घनिष्ठरूपसे मिल जाना है वह बंध है और व्यवहारनयसे बंधके नाम स्थापना आदि भी बंध हैं। बंधके फलका संसारी जीव भोग करता है इसलिये निश्चयनयसे तो उसका स्वामी संसारी जीव है अथवा संसारी जीव और कर्म दोनों ही बंधके होनेमें कारण हैं इसलिये व्यवहारनयसे जीवका स्वामी कर्म भी है। मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बंधके कारण हैं अथवा बंधविशिष्ट आत्मा भी बंधका कारण है। जो वस्तु स्वामिसंबंधके योग्य होती है स्वामी कही जाती है वह, वस्तु अधिकरण भी मान ली जाती है। बंधके स्वामी होने योग्य जीव और कर्म हैं इसलिये वे ही उसके आधिकरण हैं।

यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जो स्वामिसंबंधके योग्य है वह अधिकरण नहीं हो सकता क्योंकि स्वामिसंबंधके योग्य पदार्थ भिन्न होता है और अधिकरण पदार्थ भिन्न होता है। जहां पर स्वामिसंबंध रहता है वहां पर षष्ठी कारक विभक्ति होती है और अधिकरणमें सप्तमी कारक विभक्तिका विधान है। जिसतरह 'राज्ञः पुरुषः' राजाका पुरुष, यहां स्वस्वामिसंबंध है इसलिये 'राज्ञः' यहांपर षष्ठी विभक्ति है और 'कटे काकः' चटाई पर काक बैठा है यहां पर अधिकरणकी विवक्षा है इसलिये 'कटे' यहां सप्तमी विभक्ति है इसरीतिसे जब स्वस्वामिसंबंध और अधिकरण विरुद्ध पदार्थ हैं तब स्वस्वामिसं-बंधके योग्य ही अधिकरण है यह कहना बाधित है? सो ठीक नहीं। कारकोंकी प्रवृत्ति वक्ताकी इच्छा

क आधीन है । यदि वह षष्ठी कारककी जगह सप्तमी कारक कहना चाहे तो कह सकता है जब यह बात है तब स्वामिसंबंधके योग्य और अधिकरणमें कोई विरोध नहीं हो सकता इसलिये स्वस्वामिसंबंधके योग्यको ही अधिकरण मानना बाधित नहीं।

जघन्य और उत्कृष्टके भेदसे स्थिति दो प्रकारकी है और बंधकी स्थितिसे ज्ञानावरण आदि सब कर्मोंकी स्थितिका ग्रहण किया गया है । इसलिये वेदनीयकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है अर्थात् जघन्यसे जघन्य बारह मुहूर्त तक वेदनीयकर्मका बंध आत्माके साथ रहता है। नाम और गोत्र कर्मोंकी स्थिति आठ मुहूर्त है। अवशिष्ट ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त मात्र है। तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्टस्थिति तीस कोडाकोडि सागरप्रमाण है। मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडि सागरप्रमाण है । नाम और गोत्र कर्मोंकी बीस कोडाकोडि सागरप्रमाण है और आयुकर्मकी तेतीस सागर प्रमाण है अर्थात् अधिकसे अधिक इतने काल तक ज्ञानावरण आदि कर्मोंका आत्माके साथ बंध रहता है।

अथवा—बंध संतान–सामान्यरूपसे बंधकी विवक्षा करने पर अभव्योंकी अपेक्षा बंधकी स्थिति अनादि और अनंत है तथा जो भव्य अनंतकालमें भी मोक्ष न प्राप्त कर सकेंगे उनके भी बंधकी स्थिति संतानकी अपेक्षा अनादि अनंत है किंतु ज्ञानावरण दर्शनावरणकी उत्पत्ति और विनाशकी अपेक्षा वह बंधस्थिति सादि और सांत है। क्योंकि ज्ञानावरण आदिकी जितनी स्थिति पडेगी उतने काल रहनेके बाद वह छूट जायगी इसलिए वह अनादि अनंत नहीं कही जा सकती। यह सादि सांत स्थिति प्रत्येक कर्मकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिके भेदसे ऊपर कह दी गई है। सामान्यकी अपेक्षा बंधद्रव्य एक ही

प्रकारका है। विशेषकी अपेक्षा शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है। द्रव्य भाव और उभयके भेदसे तीन प्रकारका है। प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है। मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योगके भेदसे पांच प्रकारका है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे छह प्रकारका है। नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव और भवके भेदसे सात प्रकारका है। ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अंतरायके भेदसे आठ प्रकारका है इसीतरह कारण और कार्यके भेदसे बंध तत्वके संख्यात असंख्यात और अनंत भेद हैं।

आस्रवका स्वरूप ऊपर कह दिया गया है। उस आस्रवका रुक जाना संवर कहा जाता है अथवा संवरनाम, संवरस्थापना भी संवर है। यह संवरका निर्देश है। संवरका फल जीवको भोगना पडता है इसलिए जीव उसका स्वामी है अथवा संवरके हो जानेपर कर्मोंका निरोध होता है इसलिए रुकने योग्य पदार्थ कर्म होनेके कारण वह भी संवरका स्वामी है। तीन गुप्ति पांच समिति दश धर्म आदि संवरके कारण हैं। जो पदार्थ स्वामिसंबंधके योग्य है वही संवरका अधिकरण है। स्वामिसंबंधके योग्य पदार्थ जीव और कर्म हैं इसलिए वे ही अधिकरण हैं। संवर तत्वकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट स्थिति कुछ घाटि कोटि पूर्व है। संवर तत्वके एकसौ आठ १०८ भेद हैं अथवा निरोध्य निरोधक—रुकनेवाला और रोकनेवालेके भेदसे उसके उत्तर भेद संख्यात असंख्यात और अनंत हैं। ये जो संवर तत्वके एकसौ आठ भेद कहे हैं वे इसप्रकार हैं—

मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति ये तीन गुप्ति, ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षपण और आलोकितपान-

१– स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥ अध्याय ९ त० सूत्र

भोजन ये पांच समिति, उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म, अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचित्व आस्रव संवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ और धर्मानुप्रेक्षा ये बारह अनुप्रेक्षा, क्षुधा तृषा शीत उष्ण दंशमशक नाग्न्य अरति स्त्री चर्या निषद्या शय्या आक्रोश बध याचना अलाभ रोग तृणस्पर्श मल सत्कारपुरस्कार प्रज्ञा अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह, अनशन अवमोदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य-तप एवं प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अंतरंगतप, इसतरह बारह तप, आलोचना प्रतिक्रमण उभय (आलोचनाप्रतिक्रमण) विवेक व्युत्सर्ग तप छेद परिहार और उपस्थापना ये नौ प्रायश्चित्त, ज्ञान दर्शन चारित्र और उपचार ये चार विनय, आचार्य उपाध्याय तपस्वी शक्ष्य ग्लान गण कुल संघ साधु और मनोज्ञ इसतरह दश प्रकारके साधुओंकी सेवा टहल करना दश प्रकारका वैयावृत्य, वाचना पृच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय और धर्मोपदेश यह पांच प्रकारका स्वाध्याय, बाह्य उपधि और अंतरंग उपधिके भेदसे दो प्रकारका व्युत्सर्ग, अपायविचय उपायविचय जीवविचय आज्ञाविचय विपाकविचय अजीवविचय हेतुविचय विरागविचय भवविचय संस्थानविचय यह दश प्रकारका धर्मध्यान, पृथक्त्ववितर्क एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती यह चार प्रकारका शुक्लध्यान इसतरह सब मिलकर एकसौ आठ प्रकारका संवरतत्व है। गुप्ति आदिका स्वरूप विस्तारसे नौवें अध्याय में वर्णित है।

स्वयमेव पाकसे वा तपके द्वारा होनेवाले पाकसे जिस कर्मकी सामर्थ्य क्षीण हो चुकी है वह निर्जरा है अथवा निर्जराका नाम निर्जराकी स्थापना आदि भी निर्जरा है यह निर्जराका निर्देश है । निर्जरा

के स्वामी जीव और कर्म दोनों हैं क्योंकि द्रव्य और भावके भेदसे निर्जरा दो प्रकारकी है उनमें भाव निर्जरा आत्मामें और द्रव्य निर्जरा कर्मकी होती है। निर्जराका कारण तप अथवा यथाकाल कर्मोंका पाक है। निर्जरा आत्मा होती है इसलिये निर्जराका अधिकरण आत्मा है अथवा प्रत्येक पदार्थ अपना अधिकरण आप ही होता है इसलिये निर्जराका अधिकरण निर्जरा भी है। निर्जराकी जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति अंतर्मुहूर्त है। यहांपर निर्जराकी स्थिति ध्यानकी अपेक्षा समझनी चाहिये अर्थात् ध्यानके बलसे समस्त कर्मोंकी निर्जराका जघन्य तो एक समय और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त समय है इस रीतिसे वह स्थिति सादि सांत है सामान्यरूपसे निर्जरातत्व एक है। विशेषरूपसे उसके सविपाक और अविपाकके दो भेद हैं अथवा ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृति आठ हैं इसलिये मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा उसके आठ भी भेद हैं। इसी तरह आत्मा और कर्मकी अपेक्षा उसके संख्याते असंख्याते और अनंते भेद हैं।

ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश होना मोक्ष है अथवा मोक्षका नाम मोक्षकी स्थापना आदि भी मोक्ष है यह मोक्षका निर्देश है। मोक्षका स्वामी परमात्मा है अथवा मोक्षका स्वामी स्वयं मोक्ष है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण हैं। जो पदार्थ स्वामीसंबंधके योग्य होता है वह अधिकरण कहा जाता है मोक्षका स्वामी परमात्मा है इसलिये वही उसका अधिकरण है। मोक्षकी स्थिति सादि अनंत है। सामान्यरूपसे मोक्ष एक ही प्रकारका है और विशेष रूपसे उसके द्रव्य मोक्ष और भाव मोक्ष ये दो भेद हैं।

जो पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उनका उसी रूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है अथवा सम्य-

ग्दर्शनका नाम वा सम्यग्दर्शनकी स्थापना आदि सम्यग्दर्शन हैं यह सम्यग्दर्शनका निर्देश है। सम्यग्दर्शन आत्माके होता है इसलिये उसका स्वामी आत्मा है वा अपना स्वामी आप ही सम्यग्दर्शन है। दर्शन मोहका उपशम क्षय आदि सम्यग्दर्शनके अंतरंग कारण हैं और बाह्य कारण धर्मोपदेश शास्त्र-स्वाध्याय आदि हैं अथवा अपना कारण स्वयं सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शनका स्वामी होनेके योग्य आत्मा है इसलिये वही अधिकरण है। सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छ्यासठि सागर प्रमाण है अथवा औपशमिक और क्षायोपशमिककी स्थिति सादि सांत है और क्षायिक सम्यग्दर्शनकी सादि अनंत है। सामान्यसे सम्यग्दर्शन एक प्रकारका है और विशेष रूपसे उसके निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद हैं वा औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद हैं अथवा संख्याते असंख्याते और अनंते पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा जाता है इसलिये उसके संख्यात असंख्यात और अनंत भी भेद हैं।

जीव अजीव आदि तत्वोंको भले प्रकार जानना ज्ञान है अथवा ज्ञानका नाम ज्ञानकी स्थापना आदि भी ज्ञान है यह ज्ञानका निर्देश है। ज्ञान आत्मामें रहता है इसलिये ज्ञानका स्वामी आत्मा है अथवा ज्ञानका आकार भी ज्ञानका स्वामी है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशम क्षय आदि ज्ञानके कारण हैं अथवा स्व-(सम्यग्दर्शन)-स्वरूपकी प्रगट होनेकी शक्ति भी ज्ञानका कारण है। ज्ञान आत्मामें रहता है। इसलिये उसका अधिकरण आत्मा है अथवा अपने आकारमें भी ज्ञान रहता है इसलिये ज्ञानका आकार भी ज्ञानका अधिकरण है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान इन चार क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति सादि सांत है। क्षायिकज्ञान—केवलज्ञानकी स्थिति सादि अनंत है।

सामान्यरूपसे ज्ञान एक प्रकारका है विशेष रूपसे प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकार, द्रव्य गुण और पर्याय इन तीन पदार्थोंको विषय करनेके कारण तीन प्रकार, नाम स्थापना आदि भेदोंके कारण चार प्रकार, मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि भेदोंसे पांच प्रकार, इस तरह ज्ञेयाकार परिणामके भेदसे अर्थात् संख्यात असंख्यात, और अनंत पदार्थोंको विषय करनेके कारण उसके संख्यात असंख्यात और अनंत भेद हैं।

जिन कारणोंसे आत्मामें कर्म आते हैं उन कारणोंकी निवृत्ति होना चारित्र है अथवा चारित्रका नाम चारित्रकी स्थापना आदि भी चारित्र है यह चारित्रका निर्देश है। चारित्र आत्मामें ही रहता है इसलिये उसका स्वामी आत्मा है अथवा स्वयं चारित्र भी चारित्रका स्वामी है। चारित्रमोहनीयकर्मके उपशम क्षय आदिक चारित्रके कारण हैं अथवा जिस शक्तिसे चारित्रगुण प्रगट होता है वह शक्ति भी चारित्रका कारण है। चारित्रका स्वामी आत्मा है इसलिये आत्मा ही उसका अधिकरण है। अथवा अपना स्वामी आप ही चारित्र है इसलिये चारित्र भी चारित्रका अधिकरण है। चारित्रकी जघन्य-स्थिति अंतर्मुहूर्त है। उत्कृष्टस्थिति कुछ घाट पूर्वकोटि है। अथवा औपशमिक और क्षायोपशमिककी स्थिति सादि सांत है क्षायिककी स्थिति सादि अनंत है। आत्माकी जो शुद्धि है उसीका नाम चारित्र है जिससमय शुद्धिकी प्रकटता हो जाती है फिर उसका नाश नहीं होता इसलिये शुद्धिकी प्रकटताकी अपेक्षा क्षायिक चारित्रकी आदि तो है परंतु नाश नहीं वह सादि और अविनाशी है। सामान्यरूपसे चारित्र एक प्रकारका है। विशेषरूपसे वाह्यनिवृत्ति और अंतरंगनिवृत्तिके भेदसे वह दो प्रकारका है अथवा औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिकके भेदसे वह तीन प्रकारका है। चार यमोंके भेदसे (?) वह

चार प्रकारका है। सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यातके भेदसे वह पांच प्रकारका है। इसतरह आत्माके परिणामोंके भेदसे उसके संख्यात असंख्यात और अनंत भेद हैं॥ ७॥

क्या इतने ही जीव आदि वा सम्यग्दर्शन आदिके जाननेके उपाय हैं अथवा और भी उपाय हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वैश्च॥ ८॥

इस सूत्रमें भी अधिगम शब्दकी अनुवृत्ति है इसलिये सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अंतर भाव और अल्पबहुत्वसे भी उन जीव आदि वा सम्यग्दर्शन आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है।

प्रशंसादिषु सच्छब्दवृत्तेरिच्छातः सद्भावग्रहणं॥ १॥

सत् शब्दके प्रशंसा आदि अनेक अर्थ हैं, जिसतरह—'सत्पुरुषः सदश्वश्चेति' यह पुरुष प्रशस्य है और यह घोडा प्रशस्य है। यहांपर सत् शब्दका प्रशंसा अर्थ है। 'सद्घटः सत्पटः' घडा है कपडा है यहां पर सत् शब्दका अर्थ अस्तित्व है। 'प्रव्रजितः सन् कथमनृतं ब्रूयात्' यह पुरुष दीक्षित है इसलिये यह झूठ नहीं बोल सकता यहां पर प्रव्रजितका अर्थ सत् शब्दके योगसे प्रतिज्ञायुक्त है इसलिये यहां सत् शब्दका अर्थ प्रतिज्ञा है। 'सत्कृत्यातिथीन् भोजयतीति' अतिथियोंका आदर कर भोजन करता है यहां पर सत् शब्दका अर्थ आदर है परंतु सूत्रमें जो सत् शब्दका उल्लेख है उसका अर्थ यहां अस्तित्व ग्रहण किया है अर्थात् पदार्थोंके अस्तित्वसे उनका ज्ञान हो जाना है। सत्के बाद संख्या उसके बाद क्षेत्र इत्यादि सत् आदि क्रमका निरूपण—

अव्यभिचारात्सर्वमूलत्वाच्च तस्यादौ वचनं ॥ २ ॥

जो पदार्थ सब जगह पाया जाता है वह व्यापक कहा जाता है, व्यापक होने पर यदि वह कहीं पाया जाय और कहीं नहीं, तो वह व्यभिचारदोषसे दूषित माना जाता है। आकाश पदार्थ सर्वत्र पाया जाता है इसलिए वह व्यापक है। रूप आदि गुण वा ज्ञान आदि गुण किसीमें पाये जाते हैं किसीमें नहीं पाये जाते अर्थात् रूप आदि गुण पुद्गलमें ही पाये जाते हैं अन्य द्रव्योंमें नहीं। ज्ञान आदि गुण आत्मामें ही पाए जाते हैं पुद्गल आदिमें नहीं, इसलिए रूप आदि गुण वा ज्ञान आदि गुण व्यापक नहीं, इसीतरह हलन चलनरूप क्रिया जीव और पुद्गलोंमें ही है धर्म अधर्म आदि द्रव्योंमें नहीं इसलिये सर्वत्र न पाये जानेके कारण वह भी व्यापक नहीं। अस्तित्व जिसको सत्ता कहते हैं हरएक पदार्थमें पाया जाता है। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिसमें सत्ता न पाई जाय, इसलिए समस्त पदार्थोंमें रहनेके कारण सत्ता पदार्थ व्यापक है। यदि वह किसी पदार्थमें रहेगा और किसीमें न रहेगा इस रूपसे व्यभिचरित होगा तो न वह वचनका विषय ही हो सकेगा और न उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहाया जा सकेगा। तथा जो पदार्थ विचार करनेके योग्य हैं उन सबका मूल कारण सत्ता है। जिन पदार्थोंकी सत्ता निश्चित है उन्हींका विचार किया जा सकता है किंतु जिनकी सत्ता निश्चित नहीं, जिसतरह गधेके सींग, बाँझका लड़का आदि उनका किसी प्रकारसे विचार नहीं हो सकता। इस रीतिसे समस्त पदार्थोंमें रहनेके कारण और समस्त पदार्थोंकी विद्यमानता वा उन्हें विचारके योग्य बनानेमें कारण सत्ता है, इसलिए सत् संख्या आदिमें सबसे पहिले सत् शब्दका पाठ रक्खा है।

सतः परिणामोपलब्धेः संख्योपदेशः ॥ ३ ॥

अर्थ—संख्याका अर्थ भेदोंकी गिनती करना है और वह एक दो तीन संख्यात असंख्यात और अनंत प्रकारकी है। सत्ताके आश्रय—विद्यमान पदार्थके रहते ही वह संख्यात आदि संख्या कही जा सकती है। अविद्यमान आकाशके फूल आदि पदार्थोंकी संख्यात आदि संख्या नहीं कही जा सकती। इस रीतिसे सत्के आधीन संख्याका स्वरूप निरूपण रहनेके कारण सत्के बाद सूत्रमें संख्या शब्दका पाठ रक्खा गया है।

निर्ज्ञातसंख्यस्य निवासविप्रतिपत्तेः क्षेत्राभिधानं ॥ ४ ॥

क्षेत्रका अर्थ वर्तमान निवास स्थान है। जिस पदार्थके भेदोंका ज्ञान हो चुका है उसीमें यह विवाद होता है कि वह ऊपर है वा नीचे है वा तिरछा है? इसलिए उस पदार्थका यह निश्चय करानेके लिए कि वह ऊपर ही है वा नीचे और तिरछा ही है, सूत्रमें क्षेत्र शब्दका पाठ रक्खा गया है इस रीतिसे संख्याके आधीन क्षेत्रकी सार्थकता होनेके कारण संख्याके बाद क्षेत्रका सूत्रमें उल्लेख है।

अवस्थाविशेषस्य वैचित्र्यात्त्रिकालविषयोपश्लेषनिश्चयार्थं स्पर्शनं ॥ ५ ॥

अवस्था विशेष—पदार्थोंके रहनेके स्थान त्रिकोण चतुःकोण आदि अनेक प्रकारके हैं। उनका तीनोंकाल पदार्थोंके साथ संबंध रहना स्पर्शन कहलाता है अर्थात् जिस अधिकरणमें तीनोंकाल पदार्थ रह सके उस अधिकरणका नाम स्पर्शन है। जिस तरह किसी किसी द्रव्यका स्पर्शन क्षेत्र ही है अर्थात् धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य आकाश द्रव्य और कालद्रव्य तीनों कालमें आकाशमें ही रहती है इसलिए इन द्रव्योंका स्पर्शन आकाश क्षेत्र है। कई एक पदार्थोंका द्रव्य ही स्पर्शन है अर्थात् ज्ञानादि गुण आत्मामें तीनोंकाल नियमसे रहते हैं। रूपादि गुण पुद्गलमें तीनोंकाल नियमसे रहते हैं इसलिए ज्ञान आदि गुणोंका स्पर्शन आत्मा द्रव्य और रूप आदि गुणोंका स्पर्शन पुद्गल द्रव्य है। कई एक पदार्थोंका छह

राजू वा आठ राजू स्पर्शन है अर्थात् सोलहवें स्वर्गमें रहनेवाले देव यदि नीचे गमन करें और मध्यलोकमें आवें तो उनका छह राजू और उससे भी नीचे तीसरे नरक जांय तो आठ राजू स्पर्शन है। इसीतरह एक जीवकी अपेक्षा स्पर्शनका विधान है वहां स्पर्शनसे एक जीवका निश्चय होता है और जहां अनेक जीवोंकी अपेक्षा स्पर्शनका विधान है वहांपर स्पर्शनसे अनेक जीवोंका निश्चय होता है।

स्थितिमतोऽवधिपरिच्छेदार्थं कालोपादानं ॥ ६ ॥

वर्तमानकालकी अपेक्षा वा तीनों कालोंकी अपेक्षा जिस वस्तुका क्षेत्र आदिमें रहना निश्चित हो चुका है उसीकी कालके द्वारा अवधि कही जासकती है अर्थात् वह इतने कालतक अपने क्षेत्र आदिमें रहेगी यह कहा जा सकता है इसलिये सूत्रमें स्पर्शनके बाद कालका पाठ रक्खा गया है।

अंतरशब्दस्यानेकार्थवृत्तेश्छिद्रमध्याविरहेष्वन्यतमग्रहणं ॥ ७ ॥

अंतर शब्दके अनेक अर्थ हैं जिसतरह 'सांतरं काष्ठं सछिद्रमिति' यह काष्ठ छेद सहित है, यहांपर अंतर शब्दका अर्थ छेद है। 'द्रव्याणि द्रव्यांतरमारंभंते' द्रव्य ही दूसरी द्रव्योंकी रचना करते हैं यहांपर अंतर शब्दका अर्थ अन्य (दूसरा) है। 'हिमवत्सागरांतरे' हिमवन् पर्वत और सागरके मध्यमें, यहांपर अंतर शब्दका मध्य अर्थ है। 'स्फटिकस्य शुक्लरक्ताद्यंतरस्य तद्वर्णता' सफेद लाल आदि पदार्थोंके समीप रहने पर स्फटिक, सफेद लाल रूप परिणत हो जाता है। यहांपर अंतरशब्दका समीप अर्थ है।

"वाजिवारण लोहानां काष्ठपाषाण वाससां। नारीपुरुष तोयानामंतरं महदंतरं ॥" घोडा हाथी और लोह, काठ पत्थर और वस्त्र, स्त्री पुरुष और जल इनका विशेष, महान विशेष है। यहांपर अंतर शब्दका अर्थ विशेष है। 'ग्रामस्यांतरं कूपाः' कूवें गांवसे बाहर हैं, यहांपर अंतर

शब्दका बाहर अर्थ है। 'अंतरे शाटिका' (शाटिका परिधानीया) साड़ी पहिननी चाहिए यहांपर अंतर शब्दका परिधान-पहिनना अर्थ है। 'अनभिप्रेतश्रोतृजनांतरे मंत्रं मंत्रयते' जो सुननेवाले अनिष्ट हैं— आपत्ति खडी कर देनेवाले हैं उनके विरहमें अर्थात् उनके न रहनेपर सला मसोदा करता है, यहां पर अंतर शब्दका अर्थ विरह है। सूत्रमें जो अंतर शब्द है उसका छेद मध्य और विरह इन तीनों अर्थोंमेंसे किसी एक अर्थका ग्रहण है अर्थात् एक शरीरको छोड कर जिससमय जीव दूसरे शरीरको धारण करनेके लिए गमन करता है वहांपर पहिले शरीरसे निकलकर जबतक दूसरे शरीरको ग्रहण नहीं कर लेता बीचमें ही आकाशकी श्रेणियोंमें रहता है उसको मध्य भी कह सकते हैं, छेद भी कह सकते हैं और विरह भी कहते हैं, इसलिए अंतर शब्दका तीनों ही प्रकारका अर्थ मान लेना अयुक्त नहीं। अथवा—

अनुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरद्भूतिदर्शनात्तद्वचनं ॥ ८ ॥

जिसकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है ऐसी द्रव्यकी किसी कारणसे पहिली पर्यायके नष्ट हो जाने पर फिर किसी अन्य कारणसे उसी पर्यायके उत्पन्न होनेसे जो समयका व्यवधान पडता है वह विरहकाल है।

परिणामप्रकारनिर्णयार्थं भाववचनं ॥ ९ ॥

औपशमिक क्षायिक आदि भावोंका आगे जाकर निर्णय करना आवश्यकीय है इसलिए सूत्रमें भाव शब्दका उल्लेख किया गया है।

संख्याताद्यन्यतमनिश्चयेप्यन्योन्यविशेषप्रतिपत्यर्थमल्पबहुत्ववचनं ॥ १० ॥

जिन पदार्थोंका एक दो तीन संख्यात असंख्यात और अनंत रूपसे निश्चय हो चुका है उन पदा-

थोंकी परस्पर विशेषताके ज्ञानके लिए अल्प बहुत्वका सूत्रमें उल्लेख किया गया है अर्थात्–यह पदार्थ इससे छोटा है यह बडा है इसतरहसे भी पदार्थका निश्चय होता है इसलिए छोटा बडा रूप विशेष ज्ञान करानेके लिए सूत्रमें अल्पबहुत्वका ग्रहण है। शंका–

निर्देशवचनात्सत्त्वप्रसिद्धेरसद्‌ग्रहणं ॥११॥ न वा कास्ति क नास्तीति चतुर्दशमार्गणास्थानविशेषणार्थत्वात् ॥१२॥

निर्देश स्वामित्वसाधनादि सूत्रमें पदार्थोंके ज्ञानका कारण निर्देश कह आए हैं और नाममात्र कथन करना उसका अर्थ है। जो पदार्थ असत् है–जिसकी संसारमें सत्वरूपसे प्रसिद्धि नहीं है जैसे कि गधेके सींग आदि उसका निर्देश हो नहीं सकता किंतु सत् पदार्थका ही निर्देश होता है इसलिये निर्देश-के कहनेसे ही सत्के कहनेका प्रयोजन निकल आता है फिर सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनादि सूत्रमें सत् प्रत्यय-का ग्रहण व्यर्थ है ? सो नहीं। यदि सत् शब्द सामान्यसे सम्यग्दर्शन आदिके सत्वका कहनेवाला हो तब तो निर्देशमें उसका अंतर्भाव हो जानेसे जुदा उसे पदार्थोंके ज्ञानका कारण बतलाना व्यर्थ है किंतु गति इंद्रिय काय योग आदि जो चौदह मार्गणा बतलाई हैं उनमें किस जगह किस प्रकारका सम्यग्-दर्शन है किस प्रकारसे नहीं है ? इसप्रकारके विशेषका ज्ञान सत्वसे ही होता है। निर्देशसे यह ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये सूत्रमें सत् शब्दका ग्रहण व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। और भी यह बात है कि–

सर्वभावाधिगमहेतुत्वात् ॥ १३ ॥

सूत्रोंका यह नियम है कि जो बात सूत्रके अंदर नहीं होती उनकी अनुवृत्ति दूसरे सूत्रोंसे कर ली जाती है। निर्देश स्वामित्वेत्यादि सूत्रमें सम्यग्दर्शन और जीव आदिकी अनुवृत्ति है क्योंकि ऊपर-से उनका अधिकार चला आ रहा है। यदि सत्संख्याक्षेत्रेत्यादि सूत्रमें सत् शब्दका उल्लेख न किया

जायगा तो निर्देश वचनसे जिनका पूर्व सूत्रोंसे अधिकार चला आरहा है ऐसे सम्यग्दर्शन आदि वा जीव आदिका ही अस्तित्व जाना जा सकेगा किंतु जीवकी क्रोध मान आदि पर्याय और पुद्गलकी वर्ण गंध आदि वा घट पट आदि पर्याय जिनका कि अधिकार नहीं आ रहा है उनका अस्तित्व न जाना जा सकेगा। सत् शब्दसे क्रोध आदि वा वर्ण गंध घट पट आदि सबका अस्तित्व जान लिया जाता है इसलिये सत् शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ नहीं। यदि कदाचित् यह शंका हो कि—

अनधिकृतत्वादिति चेन्न सामर्थ्यात् ॥ १४ ॥

जिनका अधिकार चला आ रहा है जैसे कि सम्यग्दर्शन आदि उन्हींके अस्तित्वका सत् शब्दसे ज्ञान होना ठीक है किंतु जिनका अधिकार नहीं आ रहा है जैसे जीवकी क्रोध आदि पर्याय वा अजीव की वर्ण गंध घट पट आदि पर्याय उनका सत् शब्दसे ज्ञान नहीं हो सकता। जब यह बात निश्चित हो चुकी कि अधिकृत पदार्थोंका ही सत् शब्दसे ज्ञान हो सकता है अनधिकृतोंका नहीं तब निर्देशके कहने हीसे उनका ज्ञान हो जायगा सत् शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ ही है। सो ठीक नहीं। पदार्थोंकी सामर्थ्य अचिंत्य है। कोई भी दृढरूपसे यह नहीं कह सकता कि अमुक पदार्थकी सामर्थ्य इतनी ही है। सत् शब्दके अंदर भी यह सामर्थ्य है कि वह अनधिकृत पदार्थोंके भी अस्तित्वका ज्ञान करा सकता है इसलिये क्रोध आदि वा वर्ण शब्द आदि अनधिकृत पदार्थोंके अस्तित्वके ज्ञान करानेके लिये सत् शब्द का सूत्रमें ग्रहण करना सार्थक ही है व्यर्थ नहीं।

विधानगृहणात् संख्यासिद्धिरिति चेन्न भेदगणनार्थत्वात् ॥ १५ ॥

निर्देशस्वामित्वेत्यादि सूत्रमें विधान शब्द कह आए हैं। विधानका अर्थ भेद कहना है।

सत्संख्याक्षेत्रेत्यादि सूत्रमें भी जो संख्या शब्द है उसका भी अर्थ भेदोंका कहना है इसलिये विधान शब्दके कह देनेसे ही संख्या शब्दके कहनेका प्रयोजन निकल आता है फिर सत्संख्याक्षेत्रेत्यादि सूत्रमें संख्या शब्दका ग्रहण व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। प्रकार गणना और भेद गणनामें भेद है। सम्यग्दृष्टिके उपशम-सम्यग्दृष्टि क्षायिक-सम्यग्दृष्टि आदि भेद हैं यह तो प्रकार-गणना है और उसके भेदोंके भेदोंकी भी गिनती करना जिस तरह उपशम सम्यग्दृष्टि इतने हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि इतने हैं, यह भेद-गणना है। इस विशेषताका ज्ञान संख्या शब्दसे होता है, इसलिये उत्तरोत्तर भेदोंकी गणनाकी विशेषता जनानेमें कारण होनेसे संख्या शब्दका ग्रहण व्यर्थ नहीं हो सकता।

विशेष—यद्यपि विधान शब्दके कहनेसे ही मूल पदार्थके भेदोंका वा भेदोंके भेदोंका ग्रहण हो सकता है परन्तु विधान शब्दके मूल पदार्थके भेदोंके ग्रहण करनेमें ही शक्ति मानी है इसलिये भेदोंके भेदोंका ग्रहण करनेके लिये संख्या शब्दका उल्लेख सार्थक है। वास्तवमें तो मूल पदार्थके भेदोंका वा उसके भी भेदोंका विधान शब्दसे ही ग्रहण हो सकता है तो भी संख्या शब्दका उल्लेख विशेष स्पष्टताके लिये किया गया है।

क्षेत्राधिकरणयोरभेद इति चेन्नोक्तत्वात् ॥ १६ ॥

जिसमें पदार्थ रहे उसका नाम अधिकरण है यही अर्थ क्षेत्रका भी है। निर्देशस्वामित्वादि सूत्रमें अधिकरण शब्दका पाठ रक्खा गया है इसलिये अधिकरणके कहनेसे ही क्षेत्र शब्दके कहनेका प्रयोजन निकल आता है फिर सत्संख्याक्षेत्रेत्यादि सूत्रमें क्षेत्र शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। अधिकरण शब्द व्याप्य है थोडी जगहको धारण करनेवाला है। क्षेत्र शब्द व्यापक है अधिक जगह

को धारण करनेवाला है। अधिकरणके कहनेसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। क्षेत्रके कहनेसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिये समस्त पदार्थोंके ज्ञानके लिये क्षेत्र शब्दका सूत्रमें ग्रहण किया गया है।

क्षेत्रे सति स्पर्शनोपलब्धेरंबुघटवत्पृथग्ग्रहणं ॥ १७ ॥ न वा विषयवाचित्वात् ॥ १८ ॥

घटस्वरूप क्षेत्रके रहते ही जल उसमें रहता है यह नियम है किंतु यह बात नहीं कि जल घडामें रहे किंतु वह घडासे संबंध न करे इसलिये जिस तरह घट जलका स्पर्शन माना जाता है। उसी तरह आकाशस्वरूप क्षेत्रमें जीव आदि समस्त द्रव्योंका नियमसे रहना है किंतु यह बात नहीं कि वे आकाशमें रहें और उनका आकाशके साथ संबंध न हो इसलिये आकाश भी जीव आदिका स्पर्शन है इस रीतिसे क्षेत्रके कहनेसे ही स्पर्शनके कहनेका प्रयोजन निकल जाता है फिर स्पर्शनका सूत्रमें जुदा ग्रहण करना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। क्षेत्र शब्द एक देशको विषय करता है और स्पर्शन शब्द सब देशको विषय करनेवाला है। जिसतरह किसीने कहा 'राजा कहां है?' उत्तर मिला 'अमुक नगरमें रहता है' यहां पर संपूर्ण नगरमें राजा नहीं रहता किंतु नगरके एक देशमें रहता है इसलिए राजाका निवास नगरके एक देशमें रहनेके कारण नगर क्षेत्र है। इसीतरह किसीने कहा 'तेल कहां है' उत्तर मिला 'तिलमें है' वहां पर तेल तिलके एक देशमें नहीं रहता सब देशमें रहता है इसलिए तिलमें सर्वत्र तेलके रहनेके कारण तेलका तिल स्पर्शन है, इसरीतिसे एक देश और सर्वदेश की अपेक्षा विषय भेद होनेसे क्षेत्रके कहनेसे स्पर्शन नहीं कहा जा सकता। और भी यह बात है—

त्रैकाल्यगोचरत्वाच्च ॥ १९॥

अर्थ—जिसतरह वर्तमानकालीन जलका वर्तमानकालीन घटसे संबंध है उसतरह उस जलका पीछे हो जाने वाले अतीत और आगे होने वाले अनागतके साथ संबंध नहीं इसलिए वर्तमानकी अपेक्षा जलका घटके साथ संबंध रहनेसे घट जलका स्पर्शन नहीं कहा जा सकता किंतु स्पर्शनका त्रिकाल-गोचर विषय है जिस जगह तीनों काल पदार्थकी सत्ता रह सके उसका नाम स्पर्शन है इसरीतिसे भी जब क्षेत्र और स्पर्शनमें भेद है तब क्षेत्र शब्दका उल्लेख करने पर स्पर्शनका अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता।

स्थितिकालयोरर्थांतरत्वाभाव इति चेन्न मुख्यकालास्तित्वसंप्रत्ययार्थं ॥ २० ॥

निर्देश स्वामित्वेत्यादि सूत्रमें स्थिति शब्दका उल्लेख कर आए हैं और सत्संख्याक्षेत्रेत्यादि सूत्रमें काल शब्द ग्रहण किया गया है परंतु हैं दोनों एक ही, क्योंकि जो स्थिति है वही काल है और जो काल है वही स्थिति है, इसलिए स्थिति शब्दके कहनेसे ही काल शब्दका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है फिर काल शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। काल दो प्रकारका है एक मुख्य दूसरा व्यवहार। उनमें निश्चयकाल मुख्यकाल कहा जाता है और पर्यायविशिष्ट पदार्थोंके पर्यायोंकी हद जाननेवाला अर्थात् घंटा घडी पल आदि व्यवहारकाल है। स्थितिका अर्थ कालकी मर्यादा है अर्थात् अमुक पदार्थ इतने काल तक अमुक जगह रहेगा बस इसी बातको स्थिति शब्द बतला सकता है किंतु वह काल निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है इस तात्पर्यको काल शब्द ही बतलाता है इसलिए निश्चय और व्यवहारके भेदसे काल द्रव्य दो प्रकारका है यह बतलानेके लिए सूत्रमें काल शब्दका उल्लेख सार्थक है। अथवा स्थिति शब्द व्याप्य है, कुछ एक पदार्थोंके ही कालकी मर्यादा बतलाने वाला है और काल शब्द व्यापक है समस्त पदार्थोंकी मर्यादामें कारण है। (स्थिति, थोड़े ही पदार्थोंके ज्ञान

करानेमें कारण है और कालके कहनेसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान होता है) इसलिए समस्त पदार्थोंके ज्ञानमें कारण होनेसे काल द्रव्यमें सूत्रका ग्रहण करना सार्थक है, वह व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

नामादिषु भावगृहणात्पुनर्भावागृहणमिति चेन्नौपशमिकाद्यपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

'नामस्थापना' इत्यादि सूत्रमें भाव शब्दका ग्रहण कर आये हैं। उसी भाव शब्दके ग्रहणसे कार्य चल जायगा फिर 'सत्संख्याक्षेत्र' इत्यादि सूत्रमें भाव शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। उक्त सूत्रमें जो भाव शब्दका ग्रहण किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य न हो वह भाव है अर्थात् जो पर्याय भविष्यत् कालमें होनेवाला हो उसको वर्तमानमें कह देना, जिसतरह राजपुत्र आगे जा कर राजा होनेवाला है उसे अभीसे राजा कह देना द्रव्य निक्षेप है और जो पदार्थ वर्तमानमें जिस पर्यायसे मौजूद है उसे वैसा ही कहना जिसतरह 'राजाको राजा' यह भाव निक्षेप है। द्रव्यनिक्षेप भाव निक्षेप न कहा जाय इसलिये वहां पर भाव शब्दका उल्लेख किया गया है किंतु 'सत्संख्याक्षेत्रेत्यादि' सूत्रमें जो भाव शब्दका उल्लेख है उससे औपशमिक क्षायिक आदि भावोंका ग्रहण है जिसतरह औपशमिक भी सम्यग्दर्शन कहा जाता है और क्षायिक आदि भी सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इसरीतिसे दोनों भाव शब्दोंका जुदा जुदा प्रयोजन होनेके कारण एक जगह भाव शब्दके कहनेसे दूसरी जगहके भाव शब्दका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये सत्संख्या आदि सूत्रमें ग्रहण किया गया, भाव शब्द व्यर्थ नहीं। अथवा—

विनेयाशयवशो वा तत्त्वाधिगमहेतुविकल्पः ॥ २२ ॥

संसारमें कोई शिष्य तो ऐसे होते हैं थोडा कहने पर ही विशेष तात्पर्य समझ लेते हैं और अनेक

मोटी बुद्धिके ऐसे होते हैं जिनकेलिये विस्तारसे कहा जाता है तब उनकी समझमें आता है। परम कारुणिक आचार्योंका उद्देश हर एकको तत्त्वोंके स्वरूपके समझानेका होता है इसलिये यहां पर जो पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान करानेकेलिये आचार्यने निर्देश आदि भेदोंका उल्लेख किया है वह विस्तारसे तत्त्वोंके स्वरूपको समझानेवाले शिष्योंकेलिये किया हुआ समझ लेना चाहिये नहीं तो केवल प्रमाणसे ही समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है निर्देश आदिको ज्ञानका कारण मानना व्यर्थ ही है। इसरीतिसे जब यह बात सिद्ध हो गई कि विस्तार रुचि शिष्योंकेलिये निर्देश स्वामित्व आदिका उल्लेख है तब एकका दूसरेमें समावेशकी कल्पना कर जो ऊपर शंकायें उठाई गई हैं वे व्यर्थ हैं, क्योंकि समावेश हो भी जाय तो भी निर्देश आदिका कथन स्पष्ट प्रतीतिकेलिये है। इसतरह जिसप्रकार प्रमाण और नय अथवा निर्देश स्वामित्व आदि कारणोंसे जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है उसप्रकार सत् संख्या क्षेत्र आदि कारणोंसे भी उनका ज्ञान होता है यह समझ लेना चाहिये ॥ ८ ॥

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकाके प्रथमोध्यायमें पांचवां आह्निक समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्रमें सबसे पहिले सम्यग्दर्शनका उल्लेख किया गया है। उसकी उत्पत्ति स्वामि विषय निक्षेप और अधिगमके उपाय बतला दिये गये। सम्यग्दर्शनके संबंधसे जीव अजीव आदिके संज्ञा परिणाम आदि भी बतला दिये गये। अब सम्यग्दर्शनके बाद क्रम प्राप्त सम्यग्ज्ञान है उस पर विचार किया जाता है—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं ॥ ९ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच भेद सम्यग्ज्ञानके हैं। मति आदि शब्दोंका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ यह है—

मतिशब्दो भावकर्तृकरणसाधनः ॥ १ ॥

ज्ञानार्थक मनु धातुसे भावसाधन अर्थमें क्ति प्रत्यय करने पर मति शब्द सिद्ध हुआ है और मननं मतिः, मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे इंद्रिय और मनकी सहायतासे जो पदार्थोंका जानना है वह मति है। इसीतरह उदासीनतासे जहां बाहुल्यकी अपेक्षा पदार्थोंका स्वरूप कहा जाता है वहां पर 'मनुतेऽर्थान्' पदार्थोंको जो जाने वह मति है यह कर्ता अर्थमें मति शब्दकी व्युत्पत्ति है। इसीतरह जहां पर कथंचित् भेद और अभेदकी विवक्षा है वहांपर 'मन्यतेऽनेनेति मतिः' जिसके द्वारा पदार्थ जाने जांय वह मति है यह करण अर्थमें व्युत्पत्ति है। यहांपर ज्ञान करण है और आत्मा कर्ता है परंतु आत्मासे ज्ञानको कथंचित् भिन्न वा कथंचित् अभिन्न मानने पर कोई दोष नहीं है।

श्रुतशब्दः कर्मसाधनश्च ॥ २ ॥

श्रुतज्ञानावरण वा नोइंद्रिय (मन) आवरणके क्षयोपशम आदि अंतरंग वहिरंग कारणोंके मौजूद रहते जिसके द्वारा सुना जाय—श्रुतज्ञानका विषय किया जाय वह श्रुतज्ञान है। यहां पर श्रुतशब्दकी कर्ता करण और भाव अर्थमें व्युत्पत्ति समझ लेनी चाहिए। 'शृणोतीति श्रुतं' यह श्रुत शब्दका कर्तृसाधन व्युत्पत्ति है और श्रुतज्ञानरूप परिणत आत्मा ही पदार्थोंको सुनता है यह उसका अर्थ है। जिससमय श्रुतज्ञानको आत्मासे कथंचिद्भिन्न माना जायगा उससमय 'श्रूयतेऽनेनेति श्रुतं' यह करण साधन व्युत्पत्ति

है और जिसके द्वारा सुना जाय वह श्रुत है यह उसका अर्थ है। यहांपर करण होनेसे श्रुतज्ञान भिन्न जान पडता है तो भी कथंचित् भेद पक्षके अवलंबनसे कोई दोष नहीं। 'श्रवण मात्रं वा श्रुतं' यह भावसाधन व्युत्पत्ति है। सुनना-जानना रूप यह उसका अर्थ है।

अवपूर्वस्य दधातेः कर्मादिसाधनः किः ॥ ३ ॥

अब उपसर्ग पूर्वक धा धातुसे कर्म करण और भाव तीनों अर्थोंमें कि प्रत्यय करने पर अवधि शब्द सिद्ध होता है। अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम और वीर्यांतरायका क्षयोपशम आदि अंतरंत वहिरंग कारणोंके रहते जिसके द्वारा पदार्थ जाने जांय वा जो पदार्थोंको जाने अथवा पदार्थोंका जानना स्वरूप ही जिसका स्वभाव हो वह अवधि—अवधिज्ञान कहा जाता है यह कर्ता करण और भाव तीनों अर्थोंकी अपक्षा अवधिशब्दका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ है। जिसतरह अधःक्षेपणं अवक्षेपणं नीचे गिरना अवक्षेपण कहा जाता है उसीतरह अवधिज्ञानका अर्थ भी अधोलोकके पदार्थोंका जानना है इसरीतिसे अधोलोकके बहुतसे पदार्थोंको जो ज्ञान विषय करे वह अवधिज्ञान कहा जाता है। "यद्यपि अवधिज्ञानवाला मर्यादित रूपसे कुछ ऊपरके पदार्थोंको भी जान सकता है परंतु बहुत थोडा किंतु अधिक रूपसे अधोलोकके पदार्थोंको ही जान सकता है इसलिए 'अधोलोकके बहुतसे पदार्थोंको जो ज्ञानविषय करे वह अवधिज्ञान है' यह लक्षण प्रधानताकी अपेक्षा किया गया है।" अथवा—

अवधिका अर्थ मर्यादा भी है। जो मर्यादित रूपसे पदार्थोंको विषय करे वह अवधिज्ञान है। इसी अध्यायके 'रूपिष्ववधेः' अवधिज्ञानका विषय रूपी पदार्थ है, इस सत्ताईसवें सूत्रमें अवधिज्ञानके मर्यादित विषयका वर्णन किया गया है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—केवलज्ञानके सिवाय मर्यादित विषय

तो चारों ज्ञानोंका है अर्थात् पांच इंद्रिय और मनसे जो मतिज्ञान होता है वह भी मर्यादारूपसे होता है। श्रुतज्ञानकी भी मर्यादा है एवं मनःपर्यायज्ञान भी दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थोंको जानता है, इसलिए यहांपर भी मर्यादा है। यदि मर्यादितरूपसे पदार्थोंका जानना अवधिज्ञान कहा जायगा तो मति आदि ज्ञानोंको भी अवधिज्ञान कहना पडेगा ? सो ठीक नहीं। जिसतरह गौ शब्दके पृथ्वी वाणी गाय आदि अनेक अर्थ होते हैं तो भी रूढ़िबलसे गाय ही अर्थ लिया जाता है उसीतरह मर्यादित रूपसे जानना यद्यपि सभी ज्ञानोंका विषय है तो भी रूढ़िबलसे मर्यादितरूपसे पदार्थोंको जानना अवधिज्ञान ही कहा जाता है, अन्य ज्ञान नहीं।

मनः प्रतीत्य प्रतिसंधाय वा ज्ञानं मनः पर्ययः ॥ ४ ॥

मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम और वीर्यांतरायका क्षयोपशम आदि अंतरंग वहिरंग कारणोंके द्वारा दूसरेके मनमें स्थित पदार्थका जान लेना मनःपर्ययज्ञान कहा जाता है। जिसतरह मति आदि शब्दोंको कर्तृसाधन करण साधन और भावसाधन बतला आए हैं उसीतरह 'मनः पर्येति परीयते पर्ययमात्रं वा मनःपर्ययः' इसतरह मनःपर्यय शब्दको भी कर्ता करण और भावसाधन मान लेना चाहिए। मनको प्रतीति कर वा आश्रय कर जो ज्ञान होता है वह मनःपर्ययज्ञान कहलाता है यह जो व्युत्पत्तिसिद्ध मनःपर्ययज्ञानका अर्थ है यहांपर मन शब्दसे परके मनमें स्थित पदार्थका ग्रहण है, क्योंकि आधारमें रहनेवाला आधेय पदार्थ भी आधारके नामसे कह दिया जाता है यह व्यवहार है। यहांपर दूसरेके मनमें स्थित पदार्थ आधेय और मन आधार है तो भी उस पदार्थको मनके नामसे पुकारनेमें कोई हानि नहीं। तथा वह परके मनमें रहनेवाला पदार्थ घट आदि रूपी पदार्थ ग्रहण किया गया है अर्थात् परके

मनमें यदि रूपी पदार्थका विचार हो रहा होगा तभी मनःपर्ययज्ञानी उसके मनकी बात जान सकता है किंतु यदि वह पर मनुष्य किसी अमूर्तिक पदार्थका चिंतवन करेगा तो मनःपर्ययज्ञानी उसके मनकी बात नहीं जान सकता। इसरीतिसे परके मनमें स्थित रूपी पदार्थको प्रतीति कर वा आश्रय कर मनःपर्ययावरणके क्षयोपशम आदि अंतरंग वहिरंग कारणोंके द्वारा जो दूसरेके मनमें स्थित रूपी पदार्थको जान लेना है वह मनःपर्ययज्ञान है यह खुलासा रूपसे मनःपर्ययज्ञानका अर्थ है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

मतिज्ञानप्रसंग इति चेन्नापेक्षामात्रत्वात् ॥ ५॥

ऊपर मनसे मतिज्ञानकी उत्पत्ति कह आए हैं। यदि मनःपर्ययज्ञानमें भी मनका निमित्त माना जायगा तो फिर मनःपर्ययज्ञानको मतिज्ञान ही कह देना पडेगा। आगमका भी यह वचन है कि मनके द्वारा मनको आश्रय कर जो ज्ञान होता है वह मनःपर्ययज्ञान है इसरीतिसे मनके निमित्तसे मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति मानने पर वह मतिज्ञान ही कहा जासकेगा मनःपर्ययज्ञान जुदा सिद्ध नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। 'अभ्रे चंद्रमसं पश्य' आकाशमें चंद्र देखो यहांपर आकाशका कहना जिसतरह अपेक्षामात्र है यदि आकाशको न कहा जाय, 'चंद्र देखो' इतना ही कहा जाय तब भी चद्रमाका ज्ञान हो सकता है उसीतरह मनःपर्ययज्ञानमें भी मनका निमित्त अपेक्षामात्र है। 'विना मनको निमित्त मान मनःपर्ययज्ञान होगा ही नहीं, यह बात नहीं। तथा जिसतरह मतिज्ञान मनका कार्य है मनकी सहायतासे ही होता है उसतरह मनःपर्ययज्ञान मनका कार्य नहीं किंतु मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिमें आत्माकी विशुद्धता ही निमित्तकारण है। आत्माकी विशुद्धिके बिना मनःपर्ययज्ञान हो ही नहीं सकता।

वाह्याभ्यंतरक्रियाविशेषात् यदर्थं केवंते तत्केवलं ॥ ६ ॥

जिस ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए मन वचन काय तीनों योगोंके निरोधपूर्वक बाह्य और अभ्यंतर तपोंका आराधन किया जाता है वह केवलज्ञान है अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान तो साधारण हैं प्राणिमात्रके प्रतिसमय विद्यमान रहते हैं इसलिए मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें तपकी जरा भी आवश्यकता नहीं पडती। अवधिज्ञानकेलिए भी खास रूपसे तपकी आवश्यकता नहीं, देव आदिको वा तीर्थंकर आदिको तपके बिना ही अवधिज्ञान हो जाता है। मनःपर्ययज्ञानमें भी यह बात नहीं कि वह तप तपनेसे ही हो किंतु दीक्षा लेते समय परिणामोंकी विशुद्धतासे मनःपर्ययज्ञान हो जाता है। किंतु केवलज्ञान अनशन अवमोदर्य आदि बाह्यतप और प्रायश्चित्त विनय आदि अंतरंग तप इन दोनों प्रकारके तपोंको विना आराधन किये नहीं प्राप्त हो सकता, इसीलिये केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके तपोंको प्रधानतासे कारण बतलाया है। अथवा—

अव्युत्पन्नोवाऽसहायार्थः केवलशब्दः ॥ ७ ॥

देवदत्त केवल अन्नको खाता है यहांपर केवलका अर्थ असहाय रहनेके कारण अन्न जिसतरह अन्य व्यंजनोंकी सहायता रहित असहाय माना जाता है उसीतरह केवलज्ञानमें जो केवल शब्द है उसका भी अर्थ असहाय है और मतिज्ञान आदि क्षायिक ज्ञानोंकी सहायता रहित केवलज्ञान असहाय ज्ञान कहा जाता है इस रीतिसे असहाय अर्थको कहनेवाला केवल शब्द अव्युत्पन्न रूढिसे है व्युत्पत्तिसिद्ध नहीं।

करणादिसाधनो ज्ञानशब्दो व्याख्यातः ॥ ८ ॥

'जानाति ज्ञायते ज्ञानमात्रं वा ज्ञानं' जो जाने, जिससे जाना जाय और जो जाननास्वरूप हो

वह ज्ञान है इस तरह कर्ता करण भाव साधन ज्ञान शब्दका विस्तारसे पहिले व्याख्यान कर दिया गया है।

इतरेषां तदभावः ॥ ९ ॥

यह जो ज्ञान शब्दको कर्ता करण और भाव साधन कहा गया है वह अनेकांतवादमें ही बन सकता है एकांतवादमें नहीं बन सकता क्योंकि एकांतवादमें एक ही धर्मकी प्रधानता हो सकती है। जिससमय ज्ञानशब्द कर्तृसाधन कहा जायगा उससमय करणसाधन नहीं कहा जा सकता। जिससमय कर्मसाधन कहा जायगा उस समय कर्तृसाधन नहीं कहा जा सकता। किंतु अनेकांतवादमें कर्तृसाधन आदि तीनोंका कथन कथंचित् शब्दकी अपेक्षा रखनेके कारण विरुद्ध नहीं माना जा सकता। एकांतवादियोंके मतमें ज्ञान शब्दमें कर्तृसाधन आदि इसप्रकार नहीं घट सकते क्योंकि—

आत्माभावे ज्ञानस्य करणादित्वानुपपत्तिः कर्तुरभावात् ॥ १० ॥

यह नियम है कि कर्ताके रहते ही करण बन सकता है जिस तरह परशुसे देवदत्त काष्ठका छेदन करता है यहांपर कर्ता देवदत्तके रहते ही परशुको करण कहा जाता है किंतु विना देवदत्तके परशु करण नहीं हो सकता उसी तरह आत्मा कर्ता और ज्ञान करण माना गया है यहांपर भी आत्माके रहते ही ज्ञानको करणपना आसकता है किंतु आत्माके अभावमें ज्ञान करण नहीं कहा जा सकता। बौद्ध लोग ज्ञानके सिवाय आत्मा पदार्थ नहीं मानते इसलिये कर्ता आत्माके अभावमें उनके मतमें ज्ञान करण नहीं कहा जा सकता। तथा कर्ता आत्माके अभावमें ज्ञानको भाव साधन भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ज्ञप्तिर्ज्ञानं—जाननारूप ज्ञान, भाव कहा जाता है। भावका अधिकरण ही जब आत्मा सिद्ध नहीं

तब ज्ञान भावसाधन भी नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि आत्माके न माने जानेपर ज्ञान करण वा भाव साधन मत बनो किंतु 'जानातीति ज्ञानं' जो जाने वह ज्ञान है इसप्रकार कर्तृसाधन तो बन सकता है इस रीतिसे ज्ञान; करण और भाव न भी कहा जाय कर्ता तो कहा जा सकता है? सो ठीक नहीं। बौद्ध लोग सब पदार्थोंको निरीहक–उदासीन मानते हैं। जो उदासीन होता है वह कर्ता नहीं कहा जा सकता क्योंकि कार्यके करनेमें जो स्वतंत्र होता है वह कर्ता माना जाता है जिस तरह देवदत्त घडा बना रहा है यहांपर घट कार्यके करनेमें देवदत्त स्वतंत्र है इसालिये वह घडाका कर्ता माना गया है यदि उदासीन पदार्थको भी कर्ता माना जायगा तो जहांपर देवदत्त घडा बना रहा है वहांपर उदासीनरूपसे आकाश आदि पदार्थ भी विद्यमान हैं उनको भी कर्ता कह देना पडेगा परन्तु उनका कर्ता होना प्रमाणबाधित है। जब बौद्ध सब ही पदार्थोंको उदासीन मानते हैं तब ज्ञान पदार्थ भी उनके मतमें उदासीन ही है इसालिये वह कर्ता नहीं हो सकता।

अथवा–जिस पदार्थको पूर्व और उत्तरकी अपेक्षा रहती है कुछ काल ठहरता है वही कर्ता कहा जा सकता है। जिस तरह कुंभकार घडा बनाता है। उसको घटकी पहिली पर्याय मिट्टीकी अपेक्षा रहती है और उत्तर पर्याय–घटका पूर्ण हो जाना या जलधारण आदि क्रियामें घटका समर्थ हो जाना आदिकी अपेक्षा रहती है इसालिये जबतक घट पूरा नहीं होता तबतक उसका रहना कार्यकारी समझा जाता है। बौद्ध ज्ञानको जो कर्ता स्वीकार करते हैं वह अयुक्त है। उनके मतमें प्रत्येक पदार्थ एक क्षण में रहकर नष्ट होनेवाला है। जो पदार्थ एक क्षणमें ही नष्ट हो जानेवाला है उसको पूर्व और उत्तरपर्यायोंकी अपेक्षाका अवसर नहीं मिल सकता क्योंकि पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी अपेक्षाके लिये अधिक क्षण

ठहरनेकी आवश्यकता पडती है। ज्ञान भी बौद्ध मतमें अन्य पदार्थोंके समान क्षण भरमें विनष्ट हो जानेवाला है। उसे भी अपनी पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी अपेक्षा करनेका अवसर नहीं मिल सकता इस रीतिसे जब ज्ञान पदार्थ निरपेक्ष है—क्षणभरमें विनाशीक होनेके कारण जिस कार्यका वह कर्ता होगा उस कार्यके पूर्व और उत्तर पर्यायोंकी अपेक्षा नहीं रख सकता तब वह कर्ता नहीं हो सकता।

अथवा—जो पदार्थ करणके व्यापारकी अपेक्षा करनेवाला होता है वही कर्ता कहा जाता है। जिस तरह देवदत्त परशुसे काष्ठ छेदता है यहांपर कर्ता देवदत्त है और उसको करण परशुकी अपेक्षा है यदि ज्ञानको कर्ता माना जायगा तो उसके भिन्न कोई करण मानना चाहिये। करण दूसरा कोई है नहीं इस-लिये ज्ञानको कर्ता नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जायगा कि ज्ञानकी जो स्वशक्ति है वह करण मान ली जायगी तब ज्ञान कर्ता हो सकेगा कोई दोष नहीं? सो अयुक्त है क्योंकि वहांपर यह विकल्प उठता है कि वह जो ज्ञानकी स्वशक्ति है वह ज्ञानसे भिन्न है कि अभिन्न है? यदि भिन्न मानी जायगी तब ज्ञानसे भिन्न आत्मा पदार्थकी सिद्धि हो जायगी क्योंकि शक्तिमान पदार्थ आत्मा कहना पडेगा और शक्ति पदार्थ ज्ञान मानना पडेगा। ज्ञानको शक्ति ही माना गया है। यदि शक्ति और ज्ञान अभिन्न—दोनों एक माने जांयगे तब जो ऊपर दोष दिया गया है कि करणके व्यापारकी अपेक्षा विना कीये ज्ञान कर्ता नहीं कहा जा सकता। वह दोष जैसाका तैसा रहेगा क्योंकि ज्ञान और शक्ति एक ही पदार्थ हो गये स्वशक्तिरूप करण भिन्न सिद्ध नहीं हुआ। यदि कदाचित् फिर यह कहा जाय कि हम एक ज्ञानको नहीं मानते, ज्ञानकी संतान मानते हैं। यद्यपि संतानमें एक ज्ञानके उत्पन्न होनेपर दूसरा ज्ञान नष्ट हो जाता है दो ज्ञान एक साथ नहीं रहते तो भी जिस ज्ञानकी संतान मानी गई है उस संतानी

ज्ञानको कर्ता और उसकी संतानको करण इस रूपसे उपचारसे कर्ता करणका व्यवहार बन सकता है इसलिये संतानकी अपेक्षा ज्ञान कर्ता हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो ठीक नहीं। ज्ञानकी संतान मान कर उसमें कर्ता करणका व्यवहार मानना और आत्मा पदार्थका अभाव कहना वास्तविक तत्त्वसे विपरीत बात है—मिथ्या है इसलिये उस प्रकारके तत्वका मानना मृषावाद कहना पडेगा तथा वहांपर यह विकल्प भी उठता है कि वह जो संतान है वह संतानीसे भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न मानी जायगी तब संतानीको आत्मा और संतानको ज्ञान माननेसे आत्मा पदार्थ सिद्ध हो जायगा। यदि अभिन्न मानी जायगी तब संतानी और संतान दोनों एक ही हो गये संतानीसे भिन्न संतान सिद्ध नहीं हुआ इस रीतिसे संतानको करणपना न होनेसे ज्ञान कर्ता नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि विना किसी करणके व्यापारकी अपेक्षा कीए ज्ञान कर्ता नहीं हो सकता इसलिये हम मन और इंद्रियोंको करण मान लेंगे ज्ञान कर्ता हो जायगा कोई दोष नहीं ? सो ठीक नहीं। मन किसी पदार्थको नहीं जान सकता है उसमें जाननेकी शक्ति नहीं है क्योंकि बौद्ध सिद्धान्तमें समस्त पदार्थ क्षणभरमें विनश जानेवाले हैं। मन पदार्थ भी क्षणविनाशीक है जो क्षणविनाशीक है वह करण नहीं हो सकता किंतु कुछ क्षण तक ठहरनेवाला ही पदार्थ करण कहा जा सकता है इसलिये क्षण विनाशीक होनेसे मन ज्ञानका करण नहीं हो सकता। बौद्ध सिद्धान्तमें कहा भी है 'षण्णामनंतरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः' अर्थात् छै आयतनोंके पीछे अतीत विज्ञान है वह मन है। इस रीतिसे क्षण विनाशीक होनेसे मन करण नहीं हो सकता। इसी तरह इंद्रियोंको भी क्षणविनाशीक माना है और उन्हें अतीत विज्ञान बतलाया है इसलिये इंद्रियां भी करण नहीं हो सकतीं। यदि यह कहा जायगा कि जिस समय ज्ञान

मौजूद है उसी समय होनेवाले मन और इंद्रियां करण हो सकते हैं कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि जिस मनुष्यके सींग उत्पन्न होते हैं वे एक साथ होते हैं वहांपर यह बात नहीं कि दोनों सींग एक साथ उत्पन्न हुए हैं इसालिये दाहिनी ओरके सींगका बांही ओरका सींग करण माना जाय। इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जो पुरुष आत्माको न मानकर ज्ञान ही पदार्थ माननेवाला है और उसे क्षण विनाशीक मानता है उसका माना हुआ ज्ञान करणके व्यापारकी अपेक्षा विना किये कर्ता नहीं कहा जा सकता। और भी यह वात है कि—

बौद्ध लोग प्रकृतिका जो अर्थ है उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं मानते। ज्ञान शब्दकी प्रकृति ज्ञा धातु है क्योंकि ज्ञा धातुसे युट् प्रत्यय करनेपर ज्ञान शब्दकी सिद्धि होती है तथा उस ज्ञा धातुका अर्थ जानना मात्र है उससे भिन्न आत्मा पदार्थ है नहीं जिसे कर्ता माना जाय इसालिये प्रकृतिका अर्थ ज्ञान; कर्ता नहीं हो सकता। और भी यह वात है कि—

यदि ज्ञानको कर्ता मान भी लिया जाय तो ज्ञान सिवाय एक क्षणके दूसरे क्षणमें नहीं रह सकता और उसमें रहनेवाला कर्तापन भी सिवाय एक क्षणके दूसरे क्षणमें नहीं रह सकता इस रीतिसे जब ज्ञानमें रहनेवाला कर्तृत्वधर्म क्षणविनाशीक है तब जिसका उच्चारण अनेक क्षणोंमें हो सकता है ऐसे कर्ता शब्दसे वह नहीं कहा जा सकता। यदि कदाचित् कर्तृत्वको कहनेवाले कर्ता शब्दको भी क्षणविनाशीक मान लेवे सो भी ठीक नहीं। कर्तृशब्द कर्तृत्व अर्थको अनेक क्षण ठहर कर ही कह सकता है किंतु एक क्षण ठहर कर वह कर्तृत्व अर्थको कभी नहीं कह सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि हम ज्ञानकी संतान मान लेंगे। संतानी पदार्थ अनेक क्षणस्थायी होगा और वह कर्ता कहा जा सकेगा

कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। भेद और अभेदका विकल्प उठाकर पहिले संतानका स्पष्टतासे खंडन कर आए हैं। यहांपर अवक्तव्यवादीका कहना है कि—

आत्मा पदार्थ माना नहीं जाता। ज्ञान कर्ता आदि बन नहीं सकता। जब कोई पदार्थ किसी रूपसे सिद्ध नहीं हो सकता तब अवाच्य तत्व मानना ही ठीक है क्योंकि समस्त धर्मोंमें किसी प्रकारका कर्ता कर्म आदि व्यापार नहीं बन सकता इसलिये वे वचनके विषय नहीं हो सकते इसलिये ज्ञानके कर्तृत्व आदिके निषेधसे (हमारा अवक्तव्यवादियोंका) अभिमत सिद्ध होनेसे हमारे घरमें रत्नोंकी वर्षाके समान अत्यन्त हर्ष है। सो ठीक नहीं। उनको अवाच्य कहना भी तो वचनका ही विषय है यदि सब धर्मोंको सर्वथा अवाच्य माना जायगा तो अवाच्य धर्म भी वचनसे न कहा जा सकेगा इसलिये जिस तरह मेरी मा बंध्या है यह कहना स्ववचन बाधित है उसीतरह सब धर्मोंको अवाच्य मानकर अवाच्यत्व धर्मका कहना भी स्ववचन बाधित है। तथा जीव अजीव आदि तत्व प्रमाणसिद्ध हैं। यदि सर्वथा अवाच्य ही तत्व मान लिया जायगा तो जीव अजीव आदि तत्वोंके ज्ञानका उपाय ही लुप्त हो जायगा। इसलिये केवल अवाच्य तत्व नहीं माना जा सकता। और यह वात है कि—

जिसतरह जिस मनुष्यको सफेद और नीला आदिका ज्ञान है वही मनुष्य यह कह सकता है कि यह पदार्थ सफेद है नीला आदि नहीं किंतु जिसे यह सफेद है और यह नीला आदि नहीं ऐसा ज्ञान नहीं वह उपर्युक्त विशेषको नहीं जान सकता उसी तरह जो मनुष्य कर्तृसाधन और करण आदि साधनका जानकार है वही यह विशेष जान सकता है कि यह कर्तृसाधन है और यह करण आदि साधन है किंतु जिसे यह ज्ञान नहीं कि यह कर्तृसाधन है और यह करण आदि साधन नहीं, वह उपर्युक्त विशेष नहीं

जान सकता। क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें ज्ञान पदार्थ एक क्षण रहकर विनश जानेवाला है और प्रत्यर्थवशवर्ती है अर्थात् एक ज्ञान एक ही पदार्थको विषय करता है इसलिये वह कर्तृसाधन और करण आदि साधन इन दोनों धर्मोंको विषय नहीं कर सकता। इस रीतिसे यह कर्तृसाधन है, करण आदि साधन नहीं। इस प्रकारके विशेष ज्ञानके न होनेसे 'जानातीति ज्ञानं' जो जाने वह ज्ञान है इस रूपसे ज्ञानको कर्तृसाधन नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी कि यदि आत्मा पदार्थ नहीं माना जायगा ज्ञान ही माना जायगा तो ज्ञान कर्ता वा करण आदि न हो सकेगा।

अस्तित्वेप्यविक्रियस्य तदभावोऽनभिसंबंधात् ॥ ११ ॥ पृथगात्मलाभाभावात् ॥ १२ ॥

नैयायिक और वैशेषिकोंका सिद्धान्त है कि जो पदार्थ आत्मा इंद्रिय मन और पदार्थके संबंधसे उत्पन्न होता है वह भिन्न माना जाता है ज्ञान पदार्थ, आत्मा इंद्रिय मन और पदार्थके संबंधसे उत्पन्न होता है इसलिये वह आत्मासे भिन्न है तथा आत्मा पदार्थ निष्क्रिय है। कोई भी उसमें क्रिया नहीं। यद्यपि ऐसा माननेसे नैयायिक आत्मा पदार्थ स्वीकार करते हैं तथापि ज्ञान उनके मतमें करण नहीं माना जा सकता क्योंकि परशुसे देवदत्त काष्ठ छेदता है यहांपर देवदत्तसे भिन्न परशु तीक्ष्ण भारी और कठिन आदि अपने विशेष स्वरूपोंसे प्रत्यक्ष सिद्ध है और वह करण कहा जाता है। यदि ज्ञान आत्मा से भिन्न माना जायगा तो उसका भी कुछ विशेष स्वरूप प्रसिद्ध होना चाहिये। सो प्रसिद्ध है नहीं। इसलिये वह करण नहीं हो सकता इस रीतिसे निष्क्रिय आत्माको मान भी लिया जाय और ज्ञानं उस का गुण भी स्वीकार कर लिया जाय तो भी सर्वथा भिन्न होनेसे उसका आत्माके साथ किसी प्रकार संबंध न रहनेके कारण वह करण आदि नहीं कहा जा सकता। और भी यह बात है, कि—

अपेक्षाभावात् ॥ १३ ॥

देवदत्तके हाथमें रहनेवाला परशु, ऊपरको उठना नीचेको पडना रूप देवदत्त द्वारा की जानेवाली क्रियाओंकी अपेक्षा रखता है बिना इन क्रियाओंकी अपेक्षा किए परशु अपना काम नहीं कर सकता इसलिए वह करण कहा जाता है। ज्ञान कर्ता आत्मा द्वारा की जानेवाली किसी क्रियाकी अपेक्षा नहीं करता क्योंकि आत्मा निष्क्रिय है किसी प्रकारकी उसमें क्रिया नहीं मानी गई इसलिए वह करण नहीं कहा जासकता।

तत्परिणामाभावात् ॥ १४ ॥

जिससमय देवदत्त छेदनरूप क्रियासे परिणत होता है उससमय उसके संबंधसे छेदन क्रियामें प्रवृत्त परशु करण माना जाता है। नैयायिक और वैशेषिकोंके मतमें आत्मा निष्क्रिय है उसमें किसी प्रकारकी क्रियाका संबंध माना नहीं इसलिए वह ज्ञानरूप क्रियासे परिणत हो नहीं सकता। आत्माको ज्ञानरूप क्रियासे परिणत हुए बिना ज्ञान करण नहीं कहा जासकता। इसलिए आत्माका सद्भाव माननेपर भी वह निष्क्रिय और ज्ञान गुण सर्वथा उससे भिन्न माना जायगा तो ज्ञान, करण आदि नहीं कहा जा सकता। तथा——

अर्थांतरत्वे तस्याज्ञत्वात् ॥ १५ ॥

संसारमें यह बात दीख पडती है कि जो पदार्थ ज्ञानसे भिन्न माना जाता है वह जड कहा जाता है जिसतरह घट पट आदि द्रव्य ज्ञानसे भिन्न हैं इसलिए वे जड हैं। यदि आत्माको भी ज्ञानसे सर्वथा भिन्न माना जायगा तो वह भी जड कहा जायगा चेतन नहीं कहा जासकता। यदि यह कहा जाय कि

जिसतरह दंड मनुष्यसे सर्वथा भिन्न है तो भी उसके संबंधसे मनुष्य दंडी कहा जाता है। जिसके हाथमें दंड रहता है वही दंडीके नामसे पुकारा जाता है अन्य नहीं उसीतरह ज्ञान भी आत्मासे भिन्न रहे तो भी उसके संबंधसे आत्मा चेतन कहा जा सकता है कोई दोष नहीं । सो भी अयुक्त है । जो पदार्थ ज्ञानस्वभाव होगा उसीके साथ ज्ञानका संबंध हो सकता है किंतु जो ज्ञानसे सर्वथा भिन्न है उसके साथ ज्ञानका संबंध नहीं हो सकता । आत्माको ज्ञानसे सर्वथा भिन्न माना गया है इसलिए जिसतरह ज्ञान-स्वभाव न होनेके कारण मन और इंद्रियोंके साथ ज्ञानका संबंध नहीं हो सकता उसीप्रकार आत्मा भी ज्ञानस्वभाव नहीं इसलिए आत्माके साथ भी ज्ञानका संबंध नहीं हो सकता । क्योंकि ज्ञानस्वभावके अभावमें आत्माके साथ ही ज्ञानका संबंध है मन और इंद्रियोंके साथ नहीं ऐसा नियम नहीं हो सकता। तथा दंडके संबंधसे मनुष्य जिसप्रकार दंडी कहा जाता है उसप्रकार ज्ञानके संबंधसे आत्मा भी ज्ञानी-चेतन कहा जा सकता है यहां जो दृष्टांत दिया है वह विषम दृष्टांत है क्योंकि आपसमें पृथक् रूपसे सिद्ध जो दंड दंडीका संबंध है उसमें अपने स्वरूपसे प्रसिद्ध दंडका केवल विशेषण रूपसे ग्रहण है किंतु दंडी, दंडरूप वा दंडकी क्रिया रूप परिणत नहीं होता आत्मा और ज्ञानके संबंधमें ज्ञानका केवल विशेषणरूप से ही ग्रहण नहीं है किंतु आत्मा ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर अहितका विचारना—जाननारूप ज्ञानकी क्रियासे परिणत होता अनुभवमें आता है इसलिए दृष्टांतमें तो विशेष्यका विशेषणकी क्रियारूप परिणत न होना है और दार्ष्टांतमें विशेष्यका विशेषणकी क्रियारूप परिणत होना है यह स्पष्ट विषमता होनेसे, दंडी उदाहरण ठीक नहीं । तथा ज्ञानको कर्ता करण और भावसाधनस्वरूप माना है । नैयायिक आदि के मतमें कर्ता आदि तीनों स्वरूप ज्ञान बन नहीं सकता इसलिये जिस समय ज्ञान कर्ता माना जायगा

उस समय करण अंशमें अज्ञानी है। जिस समय करण माना जायगा उस समय कर्ता अंशमें अज्ञानी है इसरूपसे जब ज्ञान भी अज्ञानी हो जाता है और ज्ञानसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण आत्मा अज्ञानी है ही, इसलिये जिस तरह जो मनुष्य जन्मसे अंधे हैं उन दोनोंका आपसमें संबंध हो जानेपर भी दोनों अंधे ही कहे जाते हैं देखनेवाले नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके देखनेकी शक्तिका अभाव है उसीतरह जब ज्ञान और आत्मा दोनों जड हैं तब ज्ञान और आत्माका आपसमें संबंध भी हो जाय तो भी वे चेतन नहीं कहे जा सकते। जड ही रहेंगे। इसलिये ज्ञानके संबंधसे भी आत्मा चेतन नहीं कहा जा सकता। तथा—

यदि ज्ञानके माननेमें कुछ विशेषता न मानी जायगी और 'ज्ञायते अनेन तत् ज्ञानं' जिसके द्वारा जाना जाय वह ज्ञान है इस रूपसे उसे करणसाधन ही माना जायगा तो इंद्रिय और मनको भी ज्ञान कहना पडेगा क्योंकि इंद्रियां और मनके द्वारा भी पदार्थ जाने जाते हैं। तथा और भी यह बात है कि— नैयायिक लोग आत्माको व्यापक—सर्वत्र रहनेवाला मानते हैं। जो व्यापक होता है उसमें कोई भी क्रिया नहीं होती इसरीतिसे आत्मा उनके मतमें निष्क्रिय है एवं ज्ञान भी उनके मतमें निष्क्रिय माना गया है क्योंकि " क्रियावत्त्वं द्रव्यस्यैव लक्षणं " अर्थात् क्रिया द्रव्यमें ही रहती है, गुण पदार्थमें नहीं। ज्ञान गुण है इसलिये उसमें क्रिया नहीं रहती इस रीतिसे नैयायिक और वैशेषिक मतमें आत्मा और ज्ञान दोनों निष्क्रिय हैं। जो क्रियारहित—निष्क्रिय होता है वह कर्ता और करण नहीं हो सकता इसलिये ज्ञान न कर्ता हो सकता है और न करण हो सकता है इसप्रकार आत्माके माननेपर भी यदि वह ज्ञानसे सर्वथा भिन्न माना जायगा तो आत्मा जड कहना पडेगा। ज्ञान भी कर्ता और करण न बन सकेगा। दोनों पदार्थोंका अभाव ही हो जायगा।

सांख्य सिद्धान्तमें भी पुरुषका ज्ञान करण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें बुद्धि ज्ञान प्रकृतिका विकार स्वरूप हैं, इंद्रिय मन अहंकार और महत्तत्वके व्यापारसे उत्पन्न हैं, सत्ता और विकल्परूप अभिमानकी परिणातस्वरूप है तथा पुरुष शुद्ध निष्क्रिय नित्य निर्विकारस्वरूप माना है। संसारमें यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जो कर्ता क्रियावान् होता है वही करणका प्रयोग करता दीख पडता है जिस तरह 'देवदत्त तलवारसे शिर छेदता है' यहांपर क्रियावान् ही देवदत्त कर्ता परशु करणको उठाकर शिर में मारता दीख पडता है। सांख्यमतमें पुरुषको क्रियारहित माना है इसलिये करणके साथ उसका किसी प्रकारका संबंध न होनेके कारण उसका ज्ञान करण नहीं कहा जा सकता। ज्ञानको कर्ता भी नहीं माना जा सकता क्योंकि देवदत्त तलवारसे शिर छेदता है यहांपर तलवार करणरूपसे संसारमें प्रसिद्ध है और जब वह खूब पैनी भारी कठिन आदि उचित विशेषोंसे युक्त होनेसे सुन्दर जान पडती है उस समय तलवारकी प्रशंसामें यह कह दिया जाता है कि "वाह यह तलवार खूब अच्छी तरह छेदन क्रिया करती है" इस रीतिसे तलवारमें कर्ताके कार्यका आरोपण कर उसे कर्ता कह दिया जाता है। ज्ञानमें इस रूपसे कर्ताके कार्यका अध्यारोप नहीं किया जा सकता क्योंकि तलवार जिसतरह करणरूपसे संसारमें प्रसिद्ध है उस तरह ज्ञान; करणरूपसे प्रसिद्ध नहीं। यदि प्रसिद्ध न होनेपर भी हठात् उसे करण माना जायगा तो जो ऊपर ज्ञानको करण माननेमें अनेक दोष कह आए हैं उन दोषोंके कारण वह करण न हो सकेगा इसलिये ज्ञान किसी रूपसे कर्तृसाधन नहीं कहा जा सकता। ज्ञानको भावसाधन भी नहीं मान सकते क्योंकि जिस पदार्थमें विकृत होनेकी शक्ति है उसीका भाव विकार होता दीख पडता

१ इसका खुलासा ऊपर कह आए हैं।

है जिस तरह चावलोंमें विकृत होनेकी शक्ति है इसलिये उसमें सीझना आदि भाव हो सकते हैं और 'पचनं पाकः' पकना ही पाक है यह कहा जाता है किंतु जिसमें विकृत होनेकी शक्ति नहीं है उनमें भाव—विकार उत्पन्न नहीं हो सकता जिसतरह आकाश निर्विकार पदार्थ माना है इसलिये उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं हो सकता। सांख्यमतमें पुरुषको विक्रियारहित निर्विकार माना गया है इसलिये उसके ज्ञानमें भावरूप परिणामकी उत्पत्ति नहीं हो सकती किंतु वह जैसाका तैसा ही रहेगा इस रीतिसे ज्ञानको भावसाधन नहीं कहा जा सकता। तथा—

जो प्रमाण होता है वह अज्ञानकी निवृत्ति आदि फलोंसे युक्त होता है। ज्ञानको प्रमाण माना गया है उसका भी कोई न कोई फल अवश्य होना चाहिये परन्तु ज्ञानके सिवाय और दूसरा कोई फल अन्य हो नहीं सकता और जिस ज्ञानको प्रमाण माना है यदि वही फल भी हो तो यह वात भी विरुद्ध है इसलिये परमत में ज्ञानको प्रमाण मानना भी युक्त नहीं जान पडता। यदि उससे अन्य दूसरा ज्ञान माना जायगा और पहिला ज्ञान उसका फल माना जायगा ? सो भी अयुक्त है क्योंकि वह फल आत्माका होगा ज्ञानका नहीं। परन्तु आत्माको भी निष्क्रिय माना है इसलिये वह फल आत्मामें भी नहीं हो सकता इस रीतिसे ज्ञान भावसाधन माना ही नहीं जा सकता। यदि यह कहा जायगा कि जाननारूप जो अधिगम है उसे प्रमाण न मानकर फल ही मान लिया जायगा और उस फलमें प्रमाणका उपचार कर लिया जायगा अर्थात् उपचारसे उस फल हीको प्रमाण मान लिया जायगा कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है क्योंकि— विना मुख्यके उपचार नहीं हो सकता। प्रमाण मुख्य है इसलिये उसके विना जाननारूप फल नहीं हो सकता। यदि यहांपर भी यह कहा जाय कि आकारके भेदसे जाननारूप अधिगममें प्रमाण और फल

की कल्पना हो सकती है अर्थात् ज्ञानस्वरूपको प्रमाण और अज्ञान निवृत्ति आदि आकारोंको फल इसप्रकार एक ही जाननारूप अधिगमको प्रमाण और फल माननेमें कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। वे आकार, आकारवान् ज्ञानस्वरूप प्रमाणसे भिन्न हैं वा अभिन्न हैं ? जिससमय यह भेदाभेद विकल्प उठाया जायगा उस समय अनेक दोष आकर उपस्थित होंगे और उनसे जाननारूप अधिगमको प्रमाण और फल न माना जा सकेगा।

जो तत्त्वको निर्विकल्पक माननेवाले हैं। कोई भी भेद नहीं मानते उनके मतमें तो ज्ञानमें किसी प्रकारके आकारकी कल्पना ही नहीं हो सकती इसलिये उनके मतमें किसीप्रकारके आकारके न होनेसे फलकी कल्पना नहीं हो सकती। फलके विना प्रमाण नहीं माना जा सकता इसलिये उनके मतमें ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। यदि यह कहा जायगा कि वाह्यमें पदार्थोंका भेद न होनेसे वाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा ज्ञानमें आकार न हो अंतरंग आकार मान लिया जायगा और उसे फल मान लिया जायगा ? सो भी ठीक नहीं। वाह्य पदार्थोंके आकारके बिना अंतरंग आकार नहीं बन सकता इसलिये वह फल-स्वरूप नहीं हो सकता इसप्रकार जो मनुष्य एकांती है उनके द्वारा माने गये ज्ञानमें प्रमाण और फल दोनों नहीं घट सक्ते परंतु जो मनुष्य जिनेंद्र भगवानके आदेशके माननेवाले हैं, परमऋषि भगवान सर्वज्ञद्वारा प्रणीत नय भंगोंके गूढ विस्तारके जानकार हैं और अनेकांतवादके प्रकाशसे जिनके ज्ञान-रूपी नेत्र प्रकाशमान हैं उनके एक ही पदार्थमें अपेक्षासे अनेक पर्यायोंका संभव होनेसे प्रमाण और फल एक ही ज्ञानमें घट जाते हैं इसलिये अनेकांत वादकी अपेक्षा एक ही ज्ञान कर्ता करण और भाव साधन माना जा सकता है और एक ही ज्ञानमें प्रमाणपना और फलपना सिद्ध हो सकता है इसलिये पदार्थोंका स्वरूप अनेकांतवादकी अपेक्षा ही सुनिश्चित है।

मत्यादीनां ज्ञानशब्देन प्रत्येकमभिसंबंधो भुजिवत् ॥ १६ ॥

'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यंतां' देवदत्त जिनदत्त और गुरुदत्त तीनोंको भोजन कराओ, यहां पर जिसतरह देवदत्त आदिमें प्रत्येकके साथ भुजि क्रियाका संबंध है जैसे देवदत्तको भोजन कराओ जिनदत्तको भोजन कराओ और गुरुदत्तको भोजन कराओ उसीतरह 'मतिश्रुतावधि' इत्यादि सूत्रमें ज्ञान शब्दका प्रत्येक मति आदिके साथ संबंध है इसलिये मतिके साथ ज्ञान शब्दका संबंध रहने पर मतिज्ञान और श्रुत आदिके साथ ज्ञान शब्दका संबंध रहने पर श्रुतज्ञान अवधि मनःपर्यय और केवल के साथ संबंध होनेसे अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान समझ लेने चाहिये । यद्यपि यहां यह शंका हो सकती है कि 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं' इस सूत्रमें मति आदि और ज्ञान एक ही अधिकरणमें रहते हैं आत्माके सिवाय अन्य उनका कोई अधिकरण नहीं अथवा मति आदि विशेषण और ज्ञान विशेष्य है जो विशेष्यका लिंग वा वचन होता है वह ही विशेषणका भी होता है। 'ज्ञानं' यहां पर विशेष्यमें जब एक वचन है तो 'केवलानि' यहां पर भी विशेषणमें 'केवलं' यह एक वचन होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। शब्दकी शक्तिकी अपेक्षा जिस शब्दका जो लिंग वा वचन नियत है यह परिवर्तित नहीं हो सकता। द्वंद्वसमासमें सर्व पद प्रधान होनेसे तीन या तीनसे अधिक शब्दोंका यदि समास होता है तो बहुवचन आता है इसलिये 'केवलानि' यहांपर बहुवचन ही न्याय्य है और वे सब मतिज्ञान आदि एक ज्ञानके ही भेद हैं इसलिये 'ज्ञानं' यहां पर एक वचन ही युक्त है—हेरफार नहीं हो सकता। यह बात 'सम्यग्दर्शनेत्यादि' सूत्रमें वा 'जीवाजीवेत्यादि' सूत्रमें विस्तारके साथ कह दी गई है। मति श्रुत आदिके क्रमसे कथन करनेका कारण यह है—

स्वंतत्वादल्पाच्तरत्वादल्पविषयत्वाच्च मतिग्रहणमादौ ॥ १७ ॥

जैनेंद्रव्याकरणमें 'स्वंसाखिपति १ । २ । ११० । सूत्र है । साखि और पति शब्दके सिवाय जितने ह्रस्व इकारांत और ह्रस्व उकारांत शब्द हैं उनमें सु संज्ञाका विधान करता है ह्रस्व इकारांत होनेसे मति शब्दकी भी सु संज्ञा है इसलिये एक तो सुसंज्ञक होनेसे मति शब्दका सबसे पहिले सूत्रमें उल्लेख किया गया है । दूसरे अवधि आदि शब्दोंकी अपेक्षा मति शब्दमें अक्षर थोडे हैं । जो थोडे अक्षरवाला होता है उसका पहिले प्रयोग होता है इसलिये भी सबसे पहिले मति शब्दका सूत्रमें उल्लेख है । तीसरे नेत्र आदिकी सहायतासे मतिज्ञान होता है । नेत्र आदिका विषय प्रतिनियत है बहुत कम होनेसे मतिज्ञान का विषय बहुत कम है अन्य ज्ञानोंका विषय अधिक है इसलिये विषयकी अल्पतासे भी अन्य ज्ञानोंकी अपेक्षा मतिज्ञानका सबसे पहिले सूत्रमें उल्लेख है ।

विशेष—सूत्रमें जो मति शब्दका सबसे पहिले उल्लेख किया है वार्तिककारने उसमें तीन कारण बतलाये हैं । एक तो मति शब्द सुसंज्ञक है, दूसरे अवधि आदि शब्दोंकी अपेक्षा इसमें अक्षर थोडे हैं, तीसरे और ज्ञानोंकी अपेक्षा इसका विषय कम है । यहांपर श्रुत आदिकी अपेक्षा मति शब्दके पूर्व निपातमें केवल सुसंज्ञकपना कारण नहीं हो सकता क्योंकि इकारांत होनेसे जिसतरह मति शब्द सुसं-

१ पाणिनीय व्याकरणमें सु संज्ञाकी जगह घि संज्ञाका विधान है । 'शेषो घ्यसखि । १ । ४ । ७ । यह अष्टाध्यायीका सूत्र है वह नदी संज्ञक शब्द और सखि (पति) शब्दको छोड जितने भर इदंत उदंत शब्द हैं उनमें घि संज्ञाका विधान करता है । २ । चक्षुरिंद्रिय केवल नातिनिकट और नातिदूरवर्ती सम्मुखस्थित पदार्थको ही देखती है, बाकी इन्द्रियां भी स्पर्श हुए पदार्थका बोध कराती हैं इसलिये इसका नियत ही विषय है ।

ज्ञक है उसतरह अवधि शब्द भी इकारांत होनेसे सुसंज्ञक है इस रीतिसे मति शब्दके समान अवधि शब्दका भी सबसे पहिले उल्लेख करनेमें अल्प अक्षरपना दूसरा कारण बतलाया है। अब अवधिका सबसे पहिले उल्लेख नहीं किया जा सकता क्योंकि अवधिमें अक्षर अधिक हैं मतिमें थोडे हैं इसलिये मति शब्दका ही सबसे पहिले उल्लेख हो सकता है।

तदनंतरं श्रुतं ॥ १८ ॥ विषयनिबंधनतुल्यत्वाच्च ॥ १९ ॥ तत्सहायत्वाच्च ॥ २० ॥

विना मतिज्ञानके श्रुतज्ञान नहीं हो सकता किंतु मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुत होता है इसलिये मतिके बाद श्रुतका पाठ रक्खा है। अथवा "मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कुछ पर्यायोंके धारक समस्त द्रव्योंको जानते हैं, यह आगे जाकर दोनोंका विषय समानरूपसे सूत्रकारने बतलाया है इसलिये दोनोंका विषयसंबंध समान रूपसे होनेके कारण मतिके बाद श्रुतका पाठ रक्खा गया है। किंवा जिस तरह पर्वत और नारदका साहचर्य है जहां जहां नारद है वहां वहां पर्वत है एवं जहां जहां पर्वत है वहां वहां नारद है, दोनोंमें एकको छोडकर दूसरा नहीं रहता, उसी तरह मति और श्रुतज्ञानका भी साहचर्य है जहां जहां मतिज्ञान रहेगा वहां वहां नियमसे श्रुतज्ञान रहेगा एवं जहां जहां श्रुतज्ञान रहेगा वहां वहां नियमसे मतिज्ञान रहेगा दोनोंमें एक दूसरेको छोडकर नहीं रह सकता इसलिये भी मतिके बाद श्रुतका पाठ रक्खा गया है इस प्रकार इन तीन कारणोंसे श्रुतका ही क्रम प्राप्त है इसलिये मतिके बाद श्रुतका पाठ रक्खा है।

प्रत्यक्षत्रयस्यादाववधिवचनं विशुद्ध्यभावात् ॥ २१ ॥

यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अवधिज्ञानमें विशुद्धता अधिक हैं क्योंकि मति और

श्रुतज्ञानकी अपेक्षा विशेष निर्मलता लीये वह पदार्थोंको जानता है इसलिये मति और श्रुतज्ञानसे पहिले अवधिज्ञानका पाठ रखना न्यायप्राप्त है तथापि अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे जो तीन प्रकारका प्रत्यक्ष माना है उनमें सबसे पहिले अवधिज्ञानका उल्लेख है एवं मनःपर्यय और केवल ज्ञानके समान अवधिज्ञानमें विशुद्धता नहीं है इसलिये श्रुतके बाद और तीनों प्रत्यक्षोंमें सबकी आदिमें कहे जाने वाले अवधिज्ञानका, मनःपर्ययके पहिले पाठ रक्खा है।

ततो विशुद्धतरत्वान्मनःपर्ययग्रहणं ॥ २२ ॥

अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान अधिक विशुद्ध है क्योंकि अवधिज्ञान तो देव आदि गतियोंमें विना संयम तप आदिके भी हो जाता है परंतु मनःपर्ययज्ञान मनुष्य गतिके सिवाय दूसरी गतिमें नहीं होता और संयमके द्वारा ही होता है इसलिये संयम गुणकी अपेक्षा अवधिज्ञानसे मनःपर्यय ज्ञानमें विशेष निर्मलता होने के कारण अवधिज्ञानके बाद क्रमप्राप्त मनःपर्ययका पाठ रक्खा है।

अंते केवलग्रहणं ततः परं ज्ञानप्रकर्षाभावात् ॥ २३ ॥

मतिज्ञान आदि समस्त ज्ञान केवलज्ञानमें ही समा जाते हैं। मतिज्ञान आदिका जो भी विषय है उस सबको केवलज्ञान जानता है किंतु केवल ज्ञानका जो विषय है वह किसी ज्ञानका विषय नहीं हो सकता केवलज्ञानका ही विषय हो सकता है क्योंकि इससे बढकर अन्य कोई ज्ञान नहिं इसलिये मतिश्रुतावधी-त्यादि सूत्रमें मनःपर्ययके बाद सब ज्ञानोंके अंतमें केवलका पाठ रक्खा है। और भी यह बात है कि—

१ मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान क्षयोपशमरूप हैं परंतु केवलज्ञान क्षायिकरूप है इसलिये जहां क्षायिकज्ञान—केवलज्ञान प्रगट हो जाता है वहां ज्ञानका पूर्ण विकाश हो जाता है उस अवस्थामें क्षयोपशम ज्ञानकी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती।

तेनैव सह निर्वाणाच्च ॥ २४ ॥

मतिज्ञान आदि जो चार ज्ञान हैं वे क्षायोपशमिक ज्ञान हैं। केवलज्ञान अकेला क्षायिक ज्ञान है। मोक्षकी जो प्राप्ति होती है वह केवलज्ञानके द्वारा ही होती है अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंके द्वारा मोक्ष नहीं होती इसलिये यह सब ज्ञानोंकी अपेक्षा केवलज्ञानमें ही उत्कृष्टता रहनेके कारण सब ज्ञानोंके अंतमें केवलज्ञानका पाठ रक्खा है। शंका—

मतिश्रुतयोरेकत्वं साहचर्यादेकत्रावस्थानाच्चाविशेषात् ॥ २५ ॥ नातस्तात्सिद्धेः ॥ २६ ॥

तत्पूर्वकत्वाच्च ॥ २७ ॥

जहां जहां मतिज्ञान है वहां वहां श्रुतज्ञान है एवं जहां जहां श्रुतज्ञान है वहां वहां मतिज्ञान है इस रूपसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका साहचर्य है दोनोंमें एकके विना दूसरा नहीं रहता तथा दोनोंका आधार भी एक ही है। दोनोंमेंसे एक भी सिवाय आत्माके अन्यत्र नहीं रहता इसरीतिसे जब दोनोंका आपसमें साहचर्य और सामानाधिकरण्य संबंध है इसलिये दोनों ज्ञानोंका समान विषय एवं समान आधार होनेसे कोई भेद नहीं है ऐसी अवस्थामें दोनों एक रूप ही पडते हैं फिर मति और श्रुत दो ज्ञान न कह कर एक ही कोई ज्ञान कहना ठीक है? सो नहीं। जिन पदार्थोंके विशेष भिन्न भिन्न रूपसे निश्चित हैं और उनके कारण जो आपसमें भिन्न हैं उन्हींका साहचर्य और सामानाधिकरण्य संबंध प्रसिद्ध है किंतु जो एक है उसमें उक्त दोनों संबंध नहीं घट सकते। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका साहचर्य और समानाधिकरण्य सिद्ध है इसीलिये वे दोनों ही भिन्न भिन्न ज्ञान हैं। एक नहीं हो सकते। इसलिये उन दोनोंके एकत्वकी शंका करना व्यर्थ है। तथा "श्रुतं मतिपूर्वमित्यादि" श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, यह

आगे सूत्रकारने कहा है जो पदार्थ एक है उसमें एक आगे और एक पीछे यह विभाग नहीं हो सकता परंतु मतिज्ञान पहिले और श्रुतज्ञान पीछे होता है यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें विभाग है इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों एक नहीं हो सकते। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

तत एवाविशेषः कारणसदृशत्वाद्युगपद्वृत्तेश्चेति चेन्नात एव नानात्वात् ॥ २८ ॥

जो कार्य होता है वह कारणके समान वा कारणस्वरूप ही होता है जिस तरह सफेद आदि तंतुओंका कार्य पट है इसलिये वह सफेद आदि तंतु स्वरूप ही है। श्रुतज्ञान भी मतिज्ञानका कार्य है इसलिये वह भी मतिस्वरूप ही है मतिसे भिन्न नहीं कहा जा सकता इस रीतिसे श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक कहनेसे ही दोनोंमें एकता सिद्ध हो जाती है तथा जिन पदार्थोंका किसी एक पदार्थमें एक साथ रहना होता है वे एक माने जाते हैं जिस तरह अग्निमें उष्णपना और प्रकाश एक साथ रहते हैं इसलिये वे अग्निस्वरूप ही माने जाते हैं। जिससमय आत्मामें सम्यग्दर्शनकी प्रकटता होती है उससमय मति और श्रुतको सम्यग्ज्ञानके नामसे कहा जाता है इसलिये अग्निमें उष्णपन और प्रकाशके समान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों एक ही हैं भिन्न नहीं? सो भी अयुक्त है। कारणकी समानता और एक जगह एक साथ रहना ये दोनों वातें भी भिन्न पदार्थोंमें ही होती हैं क्योंकि कारण और कार्य दोनों पदार्थ भिन्न हैं इसीलिये यह कहा जाता है कि कार्य, कारणस्वरूप होता है। यदि दोनों एक होते तो यह भेदद्योतक व्यवहार हो ही नहीं सकता तथा अग्निमें प्रताप और प्रकाश दोनों भिन्न हैं इसलिये यह कहा जाता है कि वे दोनों अग्निस्वरूप हैं यदि अभिन्न होते तो दोनोंका जुदा जुदा उल्लेख कर दोनों अग्निस्वरूप नहीं कहे जाते। मति और श्रुत भी दोनों भिन्न भिन्न माने जांयगे तभी उनमें

यह कहा जा सकता है कि श्रुतज्ञान, मतिज्ञानपूर्वक होता है अथवा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका आधार एक है यदि दोनोंको एक माना जायगा तो यह व्यवहार नहीं बन सकता इसलिये कारणके समान कार्यका होना और एक जगह दोनोंका एक साथ रहना ये दोनों बातें जब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंको भिन्न सिद्ध करनेवाली हैं तब वे दोनों एक नहीं कहे जा सकते। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

विषयाविशेषादिति चेन्न गृहणभेदात् ॥ २९ ॥

'मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषयनियम द्रव्योंके थोडे पर्यायोंमें है, इस सूत्रसे सूत्रकारने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषयनियम समानरूपसे बतलाया है इस रीतिसे मति और श्रुतज्ञान दोनोंका विषय अभिन्न है तब दोनों अभिन्न ही हुए इसलिये दोनोंमें एक ही कहना चाहिये, दोके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं? सो भी कहना ठीक नहीं। दोनोंका विषय ग्रहण करनेमें भेद है। मतिज्ञान अन्य रूपसे विषयोंको ग्रहण करता है और श्रुतज्ञान अन्यरूपसे ग्रहण करता है यदि इस प्रकारका विषय अभेद मानकर मतिज्ञान श्रुतज्ञानको एक कह दिया जायगा तब जो घट आंखसे देखा जाता है वही हाथसे छूआ भी जाता है। दोनों इंद्रियोंका विषय एक ही घट है फिर नेत्र और स्पर्शन दो इंद्रियां न मानकर एक ही इंद्रिय माननी चाहिये। वा नेत्रसे देखनेको दर्शन कहा जाता है और हाथ आदिसे छूनेको स्पर्शन कहते हैं जब दोनोंका विषय एकसा है तब दर्शन और स्पर्शन दोके माननेकी आवश्यकता नहीं, दोनोंमें एक किसीको मान लेना चाहिये परंतु सो बात नहीं, यद्यपि दर्शन और स्पर्शनका विषय एक है तो भी दोनोंका उस विषयको ग्रहण करनेका प्रकार जुदा जुदा है इसलिये

दोनोंको एक नहीं कहा जा सकता। इस रूपसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय एक होनेपर भी दोनों का उस विषयको ग्रहण करनेका प्रकार जुदा जुदा है इसलिये दोनों एक नहीं कहे जा सकते। यदि फिर भी यह शंका की जाय कि—

उभयोरिंद्रियानिंद्रियनिमित्तत्वादिति चेन्न असिद्धत्वात् ॥ ३० ॥

जिस तरह मतिज्ञान इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होता है उसी तरह श्रुतज्ञान भी इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होता है क्योंकि इंद्रिय और मनसे मतिज्ञानकी उत्पत्ति सर्वानुभव सिद्ध है और श्रुतज्ञान वक्ताके कहनेपर और श्रोताके सुननेपर उत्पन्न होता है इसलिये वक्ताकी जिह्वा और श्रोताके कान एवं मन श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें भी कारण है। यह नियम है जिसके उत्पादक कारण समान होते हैं वह एक ही माना जाता है उसमें भेद नहीं होता। मति और श्रुतज्ञानके उत्पादक कारण एक हैं इसलिये वे भी आपसमें भिन्न नहीं हो सकते इस रीतिसे कारणोंके अभेदसे मति और श्रुतज्ञानमें कोई एक ही मानना चाहिये दोके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो ठीक नहीं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक हैं क्योंकि दोनों ही इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं यहांपर 'इंद्रिय और मनसे होना' रूप हेतु असिद्ध है क्योंकि जिह्वा और कानको श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण बतलाया है सो जिह्वा तो शब्दका जो उच्चारण करता है उसीमें कारण है, श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण नहीं। कान भी अपनेसे होनेवाले मतिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण है श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण नहीं इसलिये श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें दो इंद्रियोंको कारण बताकर एवं श्रुतज्ञानको मतिज्ञानके समान इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला सिद्ध कर जो दोनोंको एक सिद्ध करना चाहा था वह मिथ्या ठहरा क्योंकि उक्त दोनों इंद्रियां श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त न

सिद्ध हो सकीं तथा जब जिह्वा और कान इंद्रियां श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त न हो सकीं तब 'इंद्रिय और मनसे होना' रूप हेतु ही असिद्ध हो गया। असिद्ध हेतु साध्यको सिद्ध कर नहीं सकता। इसलिये जब इंद्रिय और मनसे होनेवाला श्रुतज्ञान सिद्ध न हो सका तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको एक नहीं माना जा सकता। तो फिर श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें क्या निमित्त है? सो कहते हैं—

अनिंद्रियनिमित्तोऽर्थावगमः श्रुतं ॥ ३१ ॥

जिस पदार्थका इंद्रिय और मनके द्वारा निश्चय हो चुका है उसी पदार्थमें मनके द्वारा जो विशेषता से ज्ञान होना है वह श्रुतज्ञान है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

ईहादिप्रसंग इति चेन्नावगृहीतमात्रविषयत्वात् ॥ ३२ ॥

अवग्रहके बाद कुछ विशेषता लिये इहा ज्ञान होता है और वह मनसे होता है। यदि इंद्रिय और मनसे निश्चित पदार्थमें मनकी प्रधानतासे कुछ विशेषता रखनेवाले ज्ञानको श्रुतज्ञान माना जायगा तो ईहाको भी श्रुतज्ञान कहना पडेगा? सो ठीक नहीं, ईहा ज्ञानमें कोई अपूर्व पदार्थ विषय नहीं होता किंतु जिस पदार्थको अवग्रहने ग्रहण किया है उसीको ईहा ग्रहण करता है। श्रुतज्ञान इसतरहका नहीं वह अपूर्व पदार्थको विषय करता है जिसतरह इंद्रिय और मनकी सहायतासे घटमें यह निश्चय हो जाना कि यह घट है, यह मतिज्ञान है। उसके बाद उस घटमें भिन्न, अनेक देश अनेक कालमें रहनेवाले और भिन्न रंगोंके समान जातीय अन्य घटोंका जान लेना यह श्रुतज्ञान है इस रीतिसे एक पदार्थके जानने के बाद समानजाति दूसरे पदार्थको जान लेना यह श्रुतज्ञानका विषय है तब ईहा श्रुतज्ञान नहीं पड

१ अवग्रहेहावायधारणा ॥ १५ ॥ इस सूत्रमें अवग्रहका खुलासा अर्थ लिखा जायगा।

सकता क्योंकि वह एक ही पदार्थमें कुछ विशेषता लीये जानता है। एक पदार्थको छोडकर अन्य पदार्थ का ज्ञान वहांपर नहीं होता। अथवा—

जिस घटका इंद्रिय और मनके द्वारा यह निश्चय हो चुका है कि 'यह घट है' उसीमें उसके भेदोंका ज्ञान करना कि अमुक घट अमुक रंगका और अमुक घट अमुक रंगका होता है वा अमुक घट मिट्टीका तो अमुक घट पीतल तांवा आदिका होता है इसतरह इंद्रिय और मनके द्वारा घटका निश्चय कर उस के भेद प्रभेदोंका जाननेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाता है। ईहामें यह विशेषता नहीं किंतु जिस एक पदार्थको अवग्रहने जाना है उसीको कुछ विशेषतासे ईहा ज्ञान जानता है उस पदार्थके भेद प्रभेदोंको नहीं। अथवा—

इंद्रिय और मनसे यह जीव है और यह अजीव है ऐसे निश्चयके वाद जिस ज्ञानसे सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अंतर भाव और अल्पबहुत्व आदिके द्वारा उनका स्वरूप जाना जाता है वह श्रुतज्ञान है क्योंकि सत् संख्या आदिके द्वारा कहे जानेवाला विशेष स्वरूप इंद्रिय और मनके निमित्तसे नहीं हो सकता इसलिये वह मतिज्ञानका विषय नहीं कहा जा सकता किंतु वह श्रुतज्ञानहीका विषय है। जीव और अजीवके जान लेनेके बाद उनके सत् संख्या आदि विशेषोंका ज्ञान केवल मनकी सहायतासे ही होता है। ईहा ज्ञानमें इसप्रकार एक पदार्थके ज्ञानके बाद अन्य पदार्थ वा उसके विशेषोंका ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये ईहा ज्ञान कभी श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता। यदि यह शंका की जाय कि—

श्रुत्वावधारणाच्छ्रुतमिति चेन्न मतिज्ञानप्रसंगात् ॥ २२ ॥

सुनकर जिसके द्वारा निश्चय किया जाय वह श्रुत है ऐसा कोई लोग श्रुतज्ञानका लक्षण मानते हैं

परंतु वह ठीक नहीं। जिस पदार्थका जो लक्षण किया जाता है वह असाधारण होता है। अपने लक्ष्य को छोड कर अलक्ष्यमें नहीं जाता परंतु यह जो श्रुतज्ञानका लक्षण किया गया है वह लक्ष्य श्रुतज्ञान को छोड कर अलक्ष्य मतिज्ञानमें भी चला जाता है क्योंकि शब्दको सुनकर यह गो शब्द है ऐसा ज्ञान इंद्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञान कहा जाता है परंतु श्रुतज्ञान श्रोत्र इंद्रिय के व्यापारकी कोई अपेक्षा नहीं करता क्योंकि जो शब्द अनेक पर्यायोंका समूह स्वरूप है वह चाहे इंद्रिय और मनके द्वारा ग्रहण किया गया हो वा न ग्रहण किया गया हो श्रुतज्ञान उसे जानता है एवं उस शब्दका जो वाच्य अर्थ है उसे भी श्रुतज्ञान जानता है। अर्थात् खुलासा इसका अर्थ यह है कि गो शब्दकी बहुतसी पर्याय हैं। शब्दको सुन कर 'यह गो शब्द है' यह तो मतिज्ञानका विषय है उसके बाद—पीली गौको कहनेवाला गो शब्द, काली गौको कहनेवाला गो शब्द, नीली गौका कहनेवाला गो शब्द आदि जो इंद्रिय और मनके द्वारा ग्रहण की हुई वा न ग्रहण की हुई गोशब्दकी अनेक पर्याय हैं उन्हें श्रोत्र इंद्रियकी सहायताके विना श्रुतज्ञान जानता है एवं गो शब्दका वाच्य जो गाय अर्थ है उसे भी श्रुतज्ञान जानता है इसरीतिसे जब श्रोत्र इंद्रियकी अपेक्षा विना किये भी श्रुतज्ञान नयादि ज्ञानोंके द्वारा अपने विषयको जानता है तब सुनकर जिसके द्वारा निश्चय किया जाय वह श्रुतज्ञान है यह श्रुतज्ञानका लक्षण नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

नय और प्रमाणके द्वारा जीव आदि पदार्थोंका वास्तविकरूपसे जान लेना 'प्रमाणनयैरधिगमः' इस सूत्रका अर्थ है वह ऊपर कह दिया जा चुका है वहां पर कोई तो ज्ञानको प्रमाण मानते हैं किन्हींके

मतमें सन्निकर्ष प्रमाण माना गया है इसलिये जिन मतिज्ञान आदि ज्ञानोंके नामका ऊपर उल्लेख किया गया है वे ही प्रमाण हैं यह बात बतलानेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दो ज्ञान परोक्ष और शेष ज्ञान प्रत्यक्ष हैं यह आगेके सूत्रोंसे कहा जायगा वे प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रकारके ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाण शब्दका अर्थ क्या है? यह बतलाते हैं—

भावकर्तृकरणत्वोपपत्तेः प्रमाणशब्दस्येच्छातोऽर्थाध्यवसायः ॥ १ ॥

प्रमाण शब्दके भाव कर्ता और करण तीनों अर्थ हैं। जिस समय प्रमाण शब्दका भाव अर्थ किया जायगा उस समय उसकी पदार्थोंके जानने रूप व्यापारमें प्रवृत्ति न होनेके कारण केवल उसका स्वरूप कहा जायगा और वह प्रमा—प्रमिति (अज्ञानकी निवृत्ति) स्वरूप ही होगा इसलिये भाव साधन अर्थमें प्रमाण शब्दका अर्थ प्रमा है एवं 'प्रमाणमात्रं प्रमाणं' यह प्रमाण शब्दकी भाव साधन व्युत्पत्ति है। जिससमय कर्ता अर्थ माना जायगा उससमय पदार्थोंका भलेप्रकार जाननारूप शक्तिका आधार प्रमाण माना जायगा और 'प्रमिणोति प्रमेयमिति प्रमाणं' पदार्थोंको यथार्थरूपसे जो जाने वह प्रमाण है यह उसकी व्युत्पत्ति होगी तथा जिस समय प्रमाण शब्दका करण अर्थ माना जायगा उससमय आत्मा और ज्ञेय पदार्थों को एवं प्रमाण और ज्ञेय पदार्थोंको कथंचित् भिन्न कहना पडेगा और 'प्रमिणोत्यनेनेति प्रमाणं' जिस के द्वारा आत्मा पदार्थोंको जाने वह प्रमाण है, यह व्युत्पत्ति होगी। इसप्रकार प्रमाण शब्दके भाव कर्ता

१ विषयेंद्रियसम्बन्धो व्यापारः सोऽपि षड्विधः । पदार्थ और इंद्रियोंका जो संबंध हो जाना है वह सन्निकर्ष है। मुक्तावलीकारिका ६१।

और करण तीनों अर्थ हैं और अनेकांतवादमें तीनों ही अर्थोंका संभव और प्रामाण्य है । यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

अनवस्थेति चेन्न दृष्टत्वात्प्रदीपवत् ॥ २ ॥

जिसतरह प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि आवश्यक मानी गई है उसी प्रकार प्रमाणकी सिद्धि भी माननी होगी वहांपर ये कल्प उठते हैं कि वह प्रमाणकी सिद्धि किसी परपदार्थसे मानी जायगी वा स्वतः ही मानी जायगी । यदि यह कहा जायगा कि जिसतरह पदार्थोंकी सिद्धि प्रमाणसे होती है उसीतरह प्रमाणकी सिद्धि भी दूसरे प्रमाणसे होती है तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि पदार्थोंको निश्चय करानेवाले प्रमाण की सिद्धि यदि दूसरे किसी प्रमाणसे मानी जायगी तो उस प्रमाणकी सिद्धि भी अन्य प्रमाणसे मानी जायगी, उसकी भी अन्य प्रमाणसे मानी जायगी इसतरह अनेक अप्रमाणीक प्रमाण पदार्थोंकी कल्पना करनी पडेगी, अप्रमाणीक अनेक पदार्थोंकी कल्पना करना ही अनवस्था कही जाती है । यदि अनवस्था दोषकी निवृत्तिकेलिये यह कहा जायगा कि प्रमाणकी स्वतः सिद्धि ही मानेंगे तब भी यह दोष दिया जा सकता है कि जिस तरह प्रमाणकी सिद्धि स्वतः मानी जायगी उसतरह प्रमेयकी सिद्धि भी स्वतः माननी चाहिये, उसकी सिद्धिकेलिये प्रमाणकी कल्पना करना व्यर्थ है । यदि यह कहा जायगा कि हम प्रमेयकी सिद्धि प्रमाणसे मानेंगे और प्रमाणकी स्वतः सिद्धि मानेंगे यह हमारी इच्छा है । सो भी ठीक नहीं । इच्छा किसी कार्यकी सिद्धिमें विशेष हेतु नहीं मानी जाती । यदि इच्छाको विशेष हेतु माना जायगा तो जो मनुष्य अपनी इच्छासे किसी विपरीत बातको मानते हैं उनकी विपरीत बात भी यथार्थ माननी

१ अनवस्थाका लक्षण ऊपर कह दिया गया है ।

पडेगी इसरीतिसे जब प्रमाणकी स्वतः और परतः सिद्धि बाधित है तब प्रमाण पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। जिसतरह दीपक घट पट आदि पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है और अपनेको भी प्रकाशित करता है उसे अपने प्रकाशन करनेमें अन्य दीपककी आवश्यकता नहीं पडती उसी तरह प्रमाण भी दूसरे घट पट आदि पदार्थोंको भी जानता है और अपनेको भी जानता है किंतु उसे अपने जाननेकेलिये दूसरे किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं पडती इसरीतिसे दीपकके समान प्रमाणके होनेसे उसकी स्वतः वा परतः सिद्धिका विकल्प उठाकर जो अनवस्था दोष दिया गया था वह नहीं हो सकता। अथवा यह भी दूसरा अर्थ हो सकता है—

एक पदार्थमें अनेक विरुद्ध धर्मोंका रहना भी अनवस्था कहा जाता है क्योंकि अनवस्थाका अर्थ अनिश्चय है जहांपर अनेक विरुद्ध धर्म रहते हैं वहां कोई निश्चय नहीं हो सकता। प्रमाण शब्दको भाव, कर्ता और करण साधन माना है और उसका आधार एक ही आत्मा पदार्थ है इसलिये भाव साधन आदि अनेक विरुद्ध धर्मोंका आधार आत्मा होनेसे फिर भी अनवस्था दोष आता है ? सो ठीक नहीं। 'प्रदीपनं प्रदीपः' प्रकाशमात्र दीपक है यह भावसाधन, 'प्रदीपयति इति प्रदीपः' जो पदार्थोंको प्रकाश करे वह दीपक है यह कर्तृसाधन, एवं 'प्रदीप्यते इति प्रदीपः' जिसके द्वारा प्रकाशित हो वह प्रदीप है यह करणसाधन इसप्रकार एक ही दीपक जिसतरह भाव कर्ता और करणसाधन तीनो रूप माना जाता है—उसे भाव आदि माननेमें किसीप्रकारका विरोध नहीं उसीप्रकार 'प्रमाणमात्रं प्रमाणं' प्रमितिस्वरूप प्रमाण है। 'प्रमिणोतीति प्रमाणं' पदार्थोंको जाने वह प्रमाण है 'एवं प्रमीयते इति प्रमाणं' जिसके द्वारा जाना जाय वह प्रमाण है इसप्रकार प्रमाणको भी भाव, कर्ता, करणसाधन माननेमें कोई विरोध नहीं।

इतरथा हि प्रमाणव्यपदेशाभावः ॥ ३ ॥

जो ज्ञान अन्य पदार्थोंका जानकार हो और अपना भी जानकार हो वह प्रमाण माना जाता है। यदि ज्ञानको अपने स्वरूपका जाननेवाला न मान अन्य किसी ज्ञानसे उसका ज्ञान माना जायगा तो वह प्रमाण ही न कहा जा सकेगा क्योंकि जो स्व और पर पदार्थोंका जानकार है वही प्रमाण माना जाता है इसलिये किसी दूसरे प्रमाणसे प्रमाणका ज्ञान न मानकर उसे स्व और परका जाननेवाला ही मानना चाहिये। तथा—

विषयज्ञानतद्विज्ञानयोरविशेषः ॥ ४ ॥

यदि ज्ञानको निजस्वरूपका जाननेवाला न मानकर परपदार्थोंका ही जाननेवाला माना जायगा तो उसमें निजाकार—ज्ञानाकारस्वरूपता तो होगी नहीं, घट पटादि विषयाकारस्वरूपता ही रहेगी। उसके बाद उस पहिले ज्ञानके जाननेके लिये जो दूसरा ज्ञान माना जायगा उसमें भी विषयाकारस्वरूपता ही रहेगी क्योंकि पहिला ज्ञान उसमें विषयरूपसे ही प्रतिभासित हुआ है इसलिये सामान्यरूपसे जब दोनों ज्ञानोंमें विषयस्वरूपता है तब फिर पहिला ज्ञान और उस ज्ञानके जाननेके लिये जो दूसरा ज्ञान माना है वह, इस तरह दोनों ज्ञान एक हो जाते हैं, कोई प्रकारका भेद सिद्ध नहीं होता इसलिये ज्ञानको परसंवेद्य न मानकर अपना और पर पदार्थोंका जाननेवाला मानना ही ठीक है। और भी यह बात है कि—

स्मृत्यभावप्रसंगश्च ॥ ५ ॥

जो पदार्थ पहिले निश्चित किया जा चुका है उसीका 'वह' यह स्मरण और 'यह वही है' यह

प्रत्यभिज्ञान होता है। अनिश्चित पदार्थका नहीं। यदि ज्ञान अपने स्वरूपको न जानेगा तो स्वयं अज्ञानी हो उत्तरकालमें यह कैसे कह सकेगा? कि 'मैं ज्ञानवान हूं' क्योंकि जब तक ज्ञान अपने स्वरूपको न जानेगा तबतक 'मैं ज्ञानवान हूं' यह स्मृति नहीं हो सकती इस रीतिसे जब ज्ञानको निज स्वरूपका जाननेवाला न माननेपर स्मृतिज्ञान नहीं बन सकता तब उसे स्व और परका जाननेवाला मानना ही आवश्यक है। शंका—

फलाभाव इति चेन्नार्थावबोधे प्रीतिदर्शनात् ॥ ६ ॥ उपेक्षाऽज्ञाननाशो वा ॥ ७ ॥

प्रमितिका अर्थ अज्ञानकी निवृत्ति है और उसे प्रमाणका फल माना है। यदि प्रमाण शब्दको भावसाधन माना जायगा तो उसका दूसरा कोई फल सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि भावसाधन अर्थमें वह प्रमिति—अज्ञानकी निवृत्तिस्वरूप होगा और अज्ञानकी निवृत्ति ही प्रमाणका फल है इसलिये भावसाधन अर्थमें प्रमाणका कोई फल न होनेके कारण उसकी भावसाधन व्युत्पत्ति न माननी चाहिये? सो ठीक नहीं। यह आत्मा वास्तविक दृष्टिसे ज्ञानस्वरूप है परन्तु कर्मसे मलिन रहनेके कारण इसका ज्ञान पराधीन हो रहा है इसलिये इंद्रियोंके आश्रयसे जिससमय इसे किसी पदार्थका निश्चय होता है उस समय इसे जो प्रीति उत्पन्न होती है बस वही फल है इसरीतिसे जब प्रमिति—अज्ञानकी निवृत्तिरूप फलसे अतिरिक्त भी प्रीतिरूप फल सिद्ध है तब भावसाधन अर्थमें प्रमाण भले ही प्रमितिरूप पड जाय, अर्थ निश्चय के बाद प्रीतिरूप फलके रहते वह निष्फल नहीं कहा जा सकता इसलिये प्रमाण शब्दको भावसाधन माननेपर कोई दोष नहीं। अथवा—उपेक्षा और अज्ञाननाश भी फल माना है। राग और द्वेषका न होना उपेक्षा कहा जाता है और आवरणके हट जानेपर पदार्थका जानना अज्ञाननाश कहा जाता है।

प्रमाण शब्दको भावसाधन माननेपर भी ये दोनों फल जुदे जुदे अनुभवमें आते हैं इसलिये अज्ञान-निवृत्तिके सिवाय जब प्रीति उपेक्षा और अज्ञाननाश ये भिन्न भी फल दीख पडते हैं तब प्रमाण शब्दको भावसाधन मानना सफल है। विफल नहीं।

ज्ञातृप्रमाणयोरन्यत्वमिति चेन्नाज्ञत्वप्रसंगात् ॥ ८ ॥

नैयायिक आदि गुण गुणीका भेद मानते हैं। उनके मतमें द्रव्य पदार्थ जुदा है और रूप आदि गुण जुदे माने हैं। ज्ञान गुण और आत्मा गुणी है इसलिये ज्ञान भी आत्मासे भिन्न है तथा यह उनके आगमका वचन भी है कि–'आत्मेंद्रियमनोऽर्थसंनिकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यादिति' आत्मा इंद्रिय मन और पदार्थके संबंधसे जो उत्पन्न हो वह अनुमानादिसे अन्य प्रत्यक्ष ज्ञान है। आत्मा आदि पदार्थोंके संबंधसे ज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये वह आत्मासे भिन्न है इस रीतिसे प्रमाण–ज्ञान, गुण होनेसे जब प्रमाणता–आत्मा, गुणीसे भिन्न है तब 'प्रमिणोत्यात्मानं परं वा प्रमाणमिति,' जो निज और परको जाने वह प्रमाण है इस रीतिसे प्रमाण शब्द कर्तृसाधन नहीं कहा जा सकता किंतु उसे करण साधन ही मानना चाहिये अर्थात् कर्तृसाधन माननेपर आत्मा और ज्ञानका अभेद संबंध जान पडता है और करण साधन माननेपर सर्वथा दोनोंका भेद सिद्ध होता है क्योंकि करण सर्वथा भिन्न रहता है इसलिये प्रमाण शब्दको कर्तृसाधन मानना ही ठीक है? सो नहीं। यदि प्रमाण शब्दको करण साधन माना जायगा और उसे आत्मासे सर्वथा भिन्न माना जायगा तो जिसतरह ज्ञानसे सर्वथा भिन्न रहनेके कारण घट अज्ञानी कहा जाता है उसीतरह ज्ञानकी भी आत्मासे सर्वथा भिन्नता हो जानेपर आत्मा भी अज्ञानी कहना पडेगा इसलिये ज्ञान और आत्माका सर्वथा भेद नहीं कहा जा सकता और न आत्मा एकांतसे

करण साधन ही माना जा सकता किंतु दोनोंका कथंचित् भेदाभेद स्वीकार करना होगा और अविरोध-रूपसे प्रमाण शब्दको कर्तृसाधन आदि स्वीकार करना पडेगा। यदि कदाचित् यहांपर यह समाधान दिया जाय कि—

ज्ञानयोगादिति चेन्नाऽतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावोऽधप्रदीपसंयोगवत् ॥ ९ ॥

ज्ञान भले ही आत्मासे भिन्न रहे किंतु जिस तरह दंडके संबंधसे पुरुष दंडी कहा जाता है उसी तरह ज्ञानके संबंधसे आत्मा भी ज्ञानी हो जायगा कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। जिस तरह अंधे पुरुषमें देखनेकी शक्ति नहीं है उसके हाथमें यदि दीपक भी दे दिया जाय तो भी वह देख नहीं सकता उसी तरह जब आत्मामें जाननेकी शक्ति नहीं है तब उसके साथ ज्ञानका सम्बंध कर भी दिया जाय तब भी वह जान नहीं सकता। इसलिये ज्ञानके सम्बंधसे आत्मा ज्ञानी हो जायगा उसे ज्ञानस्वरूप न मानना चाहिये यह बात अयुक्त है। किंतु ज्ञान और आत्माका कथंचित् अभेद मानना ही युक्त है।

प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वमिति चेन्नानवस्थानात् ॥ १० ॥

दीपक घटका प्रकाशक है और घडा प्रकाश्य है—दीपकसे प्रकाशित होता है इसलिये जिसतरह दीपक और घटका आपसमें भिन्न स्वरूप होनेसे दोनों भिन्न भिन्न हैं उसी तरह प्रमाण, प्रमेयका जाननेवाला है और प्रमेय—ज्ञेय है—उससे जाना जाता है इसलिये दोनोंका आपसमें भिन्न भिन्न स्वरूप होनेसे दोनोंको भिन्न मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिस तरह बाह्य घट आदि प्रमेयाकारसे प्रमाण अन्य है उसी तरह यदि अंतरंग—ज्ञानस्वरूप प्रमेयाकारसे भी उसे अन्य माना जायगा तो अनवस्था दोष हो जायगा अर्थात् जिसतरह घट बाह्य प्रमेय है उसीतरह जाननास्वरूप ज्ञान भी अंतरंग प्रमेय

कहा जाता है। विना प्रमाणके जब प्रमेयका ज्ञान होना असंभव है और प्रमाणसे प्रमेय भिन्न है तब उस ज्ञानस्वरूप प्रमेयकी सिद्धिकेलिये कोई अन्य प्रमाण मानना चाहिये वह भी प्रमेय है उसकी सिद्धिके-लिये भी कोई अन्य प्रमाण मानना चाहिये इसरीतिसे अनवस्था दोष होगा इसलिये प्रमाण और प्रमेय का कथंचित् अभेद मानना ही ठीक है अर्थात् घट आदि प्रमेयाकारोंसे प्रमाण भिन्न है किंतु ज्ञानस्वरूप प्रमेयाकारसे उसका कोई भेद नहीं। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

प्रकाशवदिति चेन्न प्रतिज्ञाहानेः ॥ ११ ॥

जिस तरह प्रकाश घट पट आदि पदार्थोंको प्रकाशित करता है और अपनेको भी प्रकाशित करता है किंतु प्रकाशको अपने प्रकाशनकेलिये अन्य प्रकाशकी आवश्यकता नहीं रहती उसीतरह घट पट आदि प्रमेयोंका जानना ज्ञानसे होता है और ज्ञानका भी ज्ञान उसी ज्ञानसे ही होता है किंतु ज्ञानको अपने जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती, इसरीतिसे जब ज्ञानको अपने स्वरूपके जाननेके लिये दूसरे ज्ञानकी कोई आवश्यकता नहीं तब प्रमाण और प्रमेयके भिन्न माननेमें जो अनवस्था दोष दिया था वह व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। ऐसा कहनेसे जो मनुष्य प्रमाण और प्रमेयका सर्वथा भेद मानने वाला है उसकी प्रतिज्ञाका भंग होजाता है क्योंकि प्रकाश्य—जिस प्रकाशको प्रकाशित किया गया है वह और जो प्रकाशक—प्रकाशन करनेवाला है वह भिन्न नहीं, इसीतरह यदि ज्ञान अपनेको जानेगा तो स्वयं ही वह प्रमेय और प्रमाण वन जायगा। यहां पर प्रमाण और प्रमेयका भेद न होगा इस रीतिसे वही प्रमेय और प्रमाण बन जाता है। प्रमाण और प्रमेयका भेद सिद्ध नहीं होता।

अनन्यत्वमेवेति चेन्नोभयाभावप्रसंगात् ॥ १२ ॥

यदि प्रमाता और प्रमाणके एवं प्रमाण और प्रमेयके भेद माननेमें दोष आता है तब दोनोंका अभेद ही मान लेना चाहिये ? सो भी अयुक्त है। यदि प्रमातासे प्रमाणको सर्वथा अभिन्न माना जायगा तब दोनों एक ही कहे जांयगे फिर प्रमाता वा प्रमाण दोनोंमेंसे एकके अभाव हो जाने पर दोनों हीका अभाव हो ही जायगा। इसीतरह यदि प्रमाण और प्रमेय इन दोनोंको भी अभिन्न माना जायगा तो यहांपर भी एकके अभावसे दूसरेका अभाव कहना पडेगा इसलिये प्रमाता और प्रमाण वा प्रमाण और प्रमेय दोनों का सर्वथा अभेदसंबंध भी नहीं माना जा सकता। अब प्रमाता प्रमाण वा प्रमाण और प्रमेय इनके भेद अभेदकी सिद्धि सिद्धांतमार्गसे आचार्य वतलाते हैं—

अनेकांतात्सिद्धिः ॥ १३ ॥

प्रमाता प्रमाण एवं प्रमाण और प्रमेय इनके लक्षण और नाम आदि भिन्न भिन्न हैं इसलिये उन में भेद है और प्रमाता—आत्मासे प्रमाण—ज्ञान कभी भिन्न नहीं हो सकता अथवा ज्ञानस्वरूप प्रमेय से प्रमाण भी कभी भिन्न नहीं हो सकता इसलिये वे आपसमें अभिन्न भी हैं इसरीतिसे प्रमाता प्रमाण आदि आपसमें कथंचित् भिन्न भी हैं कथंचित् अभिन्न भी हैं। यहांपर यह बात भी सिद्ध समझ लेना चाहिये कि जो घट आदि प्रमेय हैं वे तो नियमसे प्रमेय ही हैं कभी वे प्रमाणस्वरूप नहीं हो सकते किंतु प्रमाण जिस समय घट पट आदिका ज्ञान कराता है उस समय प्रमाण माना जाता है और जिस समय स्वयं जाना जाता है उस समय प्रमेय माना जाता है इसलिये प्रमाण कथंचित् प्रमेय भी हो सकता है और प्रमाण हो सकता है इसलिये एक ही प्रमाणको प्रमाण और प्रमेय दोनों स्वरूप माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

वक्ष्यमाणभेदापेक्षया द्वित्वनिर्देशः ॥ १४ ॥

'प्रमाणे' यह नपुंसकलिंगका द्विवचन है। 'आद्ये परोक्षं ॥ ११ ॥' प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥' आदिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दो परोक्ष ज्ञान हैं और शेष प्रत्यक्ष हैं, यह आगे कहेंगे। उन्हीं प्रत्यक्ष और परोक्षकी अपेक्षा 'प्रमाणे' यह नपुंसकलिंग द्विवचन है अर्थात् प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ज्ञान प्रमाण हैं।

तद्वचनं सन्निकर्षादिनिवृत्त्यर्थं ॥ १५ ॥ सान्निकर्षे प्रमाणे सकलपदार्थपरिच्छेदाभावस्तदभावात् ॥ १६ ॥

मतिज्ञान आदि जिन ज्ञानोंका पहिले वर्णन किया जा चुका है वे ही प्रमाण हैं सन्निकर्ष आदि प्रमाण नहीं है इस बातके सूचित करनेकेलिये सूत्रमें तत् शब्दका पाठ रक्खा गया है अर्थात् मति आदि ही प्रमाण है अन्य नहीं। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि सन्निकर्षको प्रमाण माननेमें क्या दोष होगा? सो ठीक नहीं। जो मनुष्य सन्निकर्षको प्रमाण माननेवाले हैं और पदार्थोंके ज्ञानको फल कहते हैं उनके मतमें समस्त पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष नहीं होगा इसलिये समस्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। वह इसप्रकार है—

कोई न कोई सर्वज्ञ तो अवश्य मानना पडेगा यदि उस सर्वज्ञके पदार्थज्ञानमें कारण सन्निकर्ष माना जायगा तो वह बन नहीं सकता क्योंकि आत्मा मनके साथ संबंध करता है। मन, इंद्रियके और इंद्रिय पदार्थके साथ तब ज्ञान होता है इसरीतिसे कहीं तो आत्मा, मन, इंद्रिय और अर्थ ये चार बातें सन्निकर्षमें कारण होतीं हैं। कहीं आत्माके सिवाय इंद्रिय आदि तीन बातें एवं कहीं इंद्रिय और पदार्थ ये दो बातें कारण पडती हैं। उनमें आदिका दो प्रकारका सन्निकर्ष अर्थात् चार कारणोंसे होनेवाला वा तीन कारणोंसे होनेवाला सन्निकर्ष तो सर्वज्ञ ज्ञानमें कारण हो नहीं सकता क्योंकि परमाणु आदि सूक्ष्म

पदार्थ, राम रावण आदि कालांतरित मेरु आदि विप्रकृष्ट देशांतरित पदार्थ, भूत भविष्यत् वर्तमान कालके भेदसे अनंते हैं और मन एवं इंद्रियोंकी प्रवृत्ति एक साथ ही नहीं—क्रमसे होती है तथा उनका विषय भी मर्यादाकोलीये निश्चित है। इंद्रिय और मनमें समस्त पदार्थोंके जाननेकी शक्ति नहीं इसलिये संसारके समस्त पदार्थोंके साथ उनका सन्निकर्ष नहीं हो सकता तथा सन्निकर्षके अभावमें जिन पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष नहीं हुआ उनका जानना रूप फल भी नहीं प्राप्त हो सकता इसरीतिसे सर्वज्ञके ज्ञानमें सन्निकर्षको प्रमाण मानने पर समस्त पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष न घट सकनेके कारण सर्वज्ञका अभाव ही कहना पडेगा। इसीतरह इंद्रियोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होनेके कारण इंद्रिय और पदार्थ इन दो कारणोंसे होनेवाला भी सन्निकर्ष सर्वज्ञ ज्ञानमें कारण नहीं पड सकता क्योंकि त्रिकालसंबंधी पदार्थ अनंते हैं, इंद्रियां उन सबके साथ संबंध नहीं कर सकतीं इसलिये समस्त पदार्थोंके ज्ञानमें कारण न होनेसे सन्निकर्ष कभी प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि यहां पर यह समाधान दिया जाय कि—

सर्वगतत्वादात्मनः सकलेनार्थेन सन्निकर्ष इति चेन्न तस्य परीक्षायामनुपपत्तेः ॥ १७ ॥

हमारे मतमें आत्मा व्यापक है—सर्वत्र मोजूद है इसलिये सब पदार्थोंके साथ उसका संबंध होनेसे सब पदार्थोंका ज्ञान हो जायगा, सर्वज्ञका अभाव नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। यदि आत्माको व्यापक और निष्क्रिय माना जायगा तो उसमें किसीप्रकारकी क्रिया तो होगी नहीं फिर वह पुण्य और पापका कर्ता न हो सकेगा तथा पुण्य और पापके कारण संसार और उसके अभाव हो जानेपर मोक्ष होती है सो अब दोनों ही बातें आत्माके न हो सकेंगी क्योंकि न उसके पुण्य और पापका उपार्जन होगा और न नाश हो सकेगा इसलिये आत्माको व्यापक माननेपर सर्वज्ञकी सिद्धि कर सन्निकर्ष प्रमाण

नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि आत्माके हम संसारकी सत्ता नहीं मानते इंद्रियोंके संसार होता है यह कहते हैं, सो भी ठीक नहीं। संसारका संबंध चेतन पदार्थके साथ हो सकता है अचेतनके नहीं। इंद्रियां अचेतन हैं इसलिये उनके साथ संसारकी घटना नहीं घट सकती। यदि हठात् इंद्रियोंके ही संसार माना जायगा तो फिर मोक्ष भी उन्हींकी होगी आत्माकी नहीं हो सकती क्योंकि संसारका छूट जाना मोक्ष है। जिसके साथ संसारका संबंध रहेगा वही मुक्त होगा। संसारका सम्बंध इंद्रियोंके साथ है इसलिये वे ही मुक्त होंगीं, आत्मा नहीं। फिर आत्मा पदार्थका मानना ही व्यर्थ हो जायगा इसलिये आत्मा व्यापक नहीं कहा जा सकता। और भी यह वात है कि–

सर्वेंद्रियसन्निकर्षाभावश्च चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वाभावात ॥ १८ ॥

इंद्रियोंका पदार्थोंसे संयोग होनेपर सन्निकर्ष माना है सो समस्त इंद्रियां तो पदार्थोंसे संयुक्त होती नहीं क्योंकि नेत्र और मनका सम्बंध संभव नहीं इसलिये जब समस्त इंद्रियोंसे सन्निकर्षका होना असंभव है तब सन्निकर्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता। नेत्र और मनका पदार्थोंसे संयोग होना कैसे असंभव है ? यह वात आगे विस्तारसे लिखी जायगी। तथा–

सर्वथा ग्रहणप्रसंगश्च सर्वात्मना सन्निकृष्टत्वात् ॥ १९ ॥

जिन इंद्रियोंका पदार्थोंसे संबंध माना गया है वे इंद्रियां सब ओरसे पदार्थके साथ सन्निकर्ष करतीं हैं इसलिये सर्व प्रकारसे पदार्थका ज्ञान होना चाहिये किंतु वहां तो यत् किंचित् अंशका ज्ञान होता है अर्थात् जिस पदार्थकी सुगंधिका नाकसे ज्ञान हुआ है वहांपर जब नासिका इंद्रियका सब ओरसे पदार्थके साथ संबंध है तब इसमें इतने परमाणु दुर्गंधिके हैं इतने सुगंधिके हैं इत्यादि सब प्रकारसे उसका

ज्ञान होना चाहिये परन्तु सो नहीं होता वहां तो केवल सुगंधिका ही सामान्यरूपसे ज्ञान होता है इस-लिये सन्निकर्षको प्रमाण नहीं माना जा सकता। और भी यह बात है कि–

तत्फलस्य साधारणत्वप्रसंगः स्त्रीपुरुषसंयोगवत् ॥ २० ॥

स्त्री और पुरुषका जब आपसमें संयोग होता है तब उस संयोगसे होनेवाला सुख दोनोंको प्राप्त होता है एकको नहीं, उसीतरह यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जायगा तो आत्मा मन इंद्रिय और पदार्थ के संयोगका नाम सन्निकर्ष माना है वहां जिसतरह 'पदार्थोंका ज्ञान' रूप फल आत्माको प्राप्त होता है उसीतरह साधारणरूपसे इंद्रिय मन और पदार्थको भी होना चाहिये–आत्माके समान 'पदार्थोंका ज्ञान' इंद्रिय आदिको भी होना चाहिये परन्तु यह वात दीख नहीं पडती–पदार्थोंका ज्ञान सिवाय आत्माके इंद्रिय आदिको नहीं होता इसलिये सन्निकर्षको प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह समा-धान दिया जाय कि–

शय्यावदिति चेन्नाचेतनत्वात् ॥ २१ ॥

पलंग और पुरुषका संयोग दोनोंमें समानरूपसे है तो भी उस संयोगसे होनेवाले सुखको पुरुष ही अनुभव करता है, पलंग नहीं उसीप्रकार यद्यपि आत्मा मन इंद्रिय और पदार्थके संयोगका नाम सन्नि-कर्ष है तो भी पदार्थोंका ज्ञान रूप जो सन्निकर्षका फल बतलाया है उसका अनुभव करनेवाला आत्मा ही है इंद्रिय आदि नहीं हो सकते? सो भी ठीक नहीं। पलंग पदार्थ अचेतन है अचेतनमें सुख भोगने की योग्यता नहीं हो सकती इसलिये भले ही पलंग और पुरुषका संयोग हो तथापि उस संयोगसे होने-वाले सुखका अनुभव करनेवाला चेतन पुरुष ही होगा, अचेतन पलंग नहीं हो सकता। फिर भी कदा-चित् यह कहा जाय कि–

इहापि तत एवेति चेन्नाविशेषात् ॥ २२ ॥

पलंग अचेतन है इसलिये पलंग और पुरुषके संयोग होनेपर उस संयोगसे होनेवाले सुखको पुरुष ही भोग सकता है अचेतन पलंग नहीं। उसीप्रकार आत्मा मन इंद्रिय और पदार्थके संयोगको जो सन्निकर्ष माना है उसमें संयोगसे होनेवाले सुखको आत्मा ही भोग सकता है इंद्रिय आदि अचेतन नहीं ? सो भी ठीक नहीं। परमतमें ज्ञान और आत्माका सर्वथा भेद माना गया है इसलिये सामान्य रूपसे जिस तरह ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण इंद्रिय आदि पदार्थ अचेतन हैं उसी तरह आत्मा भी अचेतन है इस रीतिसे जब आत्मा इंद्रिय आदिमें कोई विशेष नहीं—सामान्य रूपसे सभी अचेतन हैं तब पदार्थोंका ज्ञानरूप सन्निकर्षके फलको चेतन आत्मा ही भोगता है अचेतन इंद्रिय आदि नहीं भोग सकते यह भेद नहीं कहा जा सकता इसलिये सन्निकर्षको प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि पदार्थोंका जाननारूप सन्निकर्षके फलका भोक्ता आत्मा ही है इंद्रिय आदि नहीं। इस बातकी सिद्धिके लिये आत्माको ज्ञानस्वरूप माना जायगा तो प्रतिज्ञाभंग दोष होगा क्योंकि परमतमें ज्ञान गुण और आत्मा गुणीका आपसमें सर्वथा भेद सम्बन्ध माना है यदि उसे ज्ञानस्वरूप माना जायगा तो अभेद सिद्ध होगा सर्वथा भेदकी प्रतिज्ञा नष्ट हो जायगी। यदि यहांपर भी यह समाधान दिया जाय कि—

समवायादिति चेन्नाविशेषात् ॥ २३ ॥

जिस सम्बंधसे पदार्थ आपसमें अलग २ न हो सकें वह समवाय संबंध माना है। उस समवाय संबंधसे पदार्थोंका जानना आत्माके ही हो सकता है इंद्रिय आदिके नहीं इसलिये पदार्थोंका जाननारूप सन्निकर्षका फल जब आत्माके सिवाय इंद्रिय आदिमें नहीं हो सकता तब सन्निकर्षको प्रमाण मानने

में कोई हानि नहीं ? सो भी अयुक्त है। समवायको व्यापक सम्बंध माना है तथा आत्मा इंद्रिय आदि सभी पदार्थ सामान्यरूपसे ज्ञस्वभावसे शून्य हैं—आत्मा आदि किसी भी पदार्थको ज्ञानस्वभाव नहीं माना किंतु ज्ञानसे भिन्न माना है फिर सामान्यरूपसे सब पदार्थोंके ज्ञान स्वभावसे रहित होनेपर भी समवाय संबंधसे आत्मामें ही ज्ञान रहता है इंद्रिय आदिमें नहीं यह वात किसी भी विद्वानको रुचिकर नहीं हो सकती इसलिये समवाय संबंधसे कभी ज्ञान आत्मामें नहीं रह सकता तथा जब समवाय संबंध से आत्मामें ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती तब सन्निकर्ष भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसी तरह यदि कोई मनुष्य यह कहे कि इंद्रियोंमें समवायसंबंधसे ज्ञान मानेंगे सो भी ठीक नहीं क्योंकि उपर्युक्त युक्तिसे इंद्रियोंमें भी समवाय संबंधसे ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता ॥ १० ॥

अनुमान उपमान, अनुमान आगम, अनुमान प्रत्यक्ष, उपमान प्रत्यक्ष, उपमान आगम, आगम प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष परोक्ष इनमेंसे ही कोई दो ज्ञान परोक्ष न मान लीये जांय किंतु मति आदि जो पहिले पांच ज्ञान बतलाये गए हैं उनमें ही मति और श्रुत दो ज्ञान परोक्ष मानें जांय, नियम रूपसे यह वात बतलानेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

आद्ये परोक्षं ॥ ११ ॥

मतिज्ञान आदि जो पांच ज्ञान कहे हैं उनमें आदिके दो ज्ञान—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। अपने होनेमें इंद्रिय आदि पर पदार्थोंकी अपेक्षा रखते हैं।

आदिशब्दस्यानेकार्थवृत्तित्वे विवक्षातः प्राथम्यार्थसंगूहः ॥ १ ॥

आदि शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'अकारादयो वर्णाः' अकार आदिक वर्ण हैं—वर्णोंमें सबसे पहिला

वर्ण अकार है। वा 'ऋषभादयः तीर्थंकराः' ऋषभको आदि लेकर तीर्थंकर हैं—तीर्थंकरोंमें सबसे पहिले ऋषभ हैं। यहांपर आदि शब्दका अर्थ 'पहिला' है। 'भुंजगादयः परिहर्तव्याः' सर्प आदि समस्त हिंसक जीवोंसे बचना चाहिये। यहांपर आदि शब्दका अर्थ 'आदि' ही है। 'सर्वादि सर्वनाम' सर्व आदि शब्द सर्वनाम संज्ञक कहे जाते हैं। यहांपर आदि शब्दका अर्थ व्यवस्था है क्योंकि सर्व आदि शब्दोंको सर्वनामकी व्यवस्था की गई है। 'नद्यादीनि क्षेत्राणि' नदीके समीप क्षेत्र हैं। यहांपर आदि शब्दका अर्थ समीप है। 'टिदादिरिति' टित् आदि प्रत्यय, यहांपर आदि शब्दका अर्थ अवयव है क्योंकि जिन प्रत्ययों के 'ट' का लोप हो जाता है वे टित् कहे जाते हैं परन्तु यहांपर आदि शब्दका अर्थ 'पहिला' ही विवक्षित है इसलिये यहांपर आदि शब्दका 'पहिला' ही अर्थ लिखा गया है। जो आदिमें होनेवाला हो वह आद्य कहा जाता है और वे आदिमें होनेवाले मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हैं अर्थात् आदिके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ज्ञान परोक्ष हैं।

श्रुताग्रहणमप्रथमत्वात् ॥ २ ॥ उत्तरापेक्षयादित्वमिति चेन्नातिप्रसंगात् ॥ ३ ॥ द्वित्वनिर्देशादिति चेन्नातिप्रसंगात् ॥ ४ ॥ न वा प्रत्यासत्तेः श्रुतग्रहणं ॥ ५ ॥

'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं' इस सूत्रमें सबसे पहिले मतिज्ञानका पाठ रक्खा है श्रुतज्ञानका नहीं इसलिये 'आद्ये परोक्षं' इस सूत्रमें आदि शब्दसे मतिज्ञानका ही ग्रहण किया जासकता है क्योंकि सूत्रमें सबसे पहिले उसीको पढा गया है किंतु श्रुतज्ञान सबसे पहिले नहीं पढा गया इसलिये उसका ग्रहण नहीं हो सकता फिर आदि शब्दसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनोंका ग्रहण करना अयुक्त है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि श्रुतके वाद जो अवधि आदिका पाठ रक्खा है उनसे तो श्रुतज्ञान

पहिला है इसलिये मतिज्ञानके समान श्रुतज्ञानका भी आदि शब्दसे ग्रहण हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि यदि इसप्रकार उत्तरकी अपेक्षा पूर्वकी कल्पना की जायगी तो एक केवल ज्ञानके सिवाय सभी ज्ञान पहिले पड जांयगे फिर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हीका क्यों ? आदि शब्दसे सभीका ग्रहण होगा और अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञानको भी परोक्ष कहनेका प्रसंग आवेगा इसलिये अवधि आदिकी अपेक्षा श्रुतज्ञान आदि–पूर्व नहीं कहा जा सकता किंतु प्रारंभमें पढा जानेवाला मतिज्ञान ही पहिला कहा जायगा। यदि कदाचित् यहांपर भी यह समाधान दिया जाय कि 'आद्ये परोक्षं 'यहांपर 'आद्ये' यह द्विवचन है इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दो हीका ग्रहण किया जा सकता है अवधि आदि सबका ग्रहण न होगा इसलिये कोई दोष नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। यदि उत्तरकी अपेक्षा पहिलेको आदि माना जायगा तो केवलज्ञानके पहिलेके सभी ज्ञान पूर्व कहे जांयगे इस लिये वहां पर यह शंका ज्योंकी त्यों रहेगी कि 'आद्ये' इस शब्दसे मति और श्रुतज्ञान इन दोका ग्रहण होगा वा श्रुत और अवधिज्ञान इन दोका वा अवधि और मनःपर्यय इन दोका इसलिये अवधि आदि की अपेक्षा जब श्रुतज्ञान कभी आदि–पहिला नहीं कहा जा सकता तब आदि शब्दसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंका कभी ग्रहण नहीं किया जा सकता ? सो ठीक नहीं। 'आद्ये' यह द्विवचनका निर्देश किया गया है और दो ज्ञानोंका ग्रहण किया गया है यहां पर मतिज्ञान आद्य है क्योंकि सूत्रमें सबसे पहिले मतिज्ञानका पाठ है और उसके समीपमें श्रुतज्ञान है अन्य अवधि आदि कोई ज्ञान नहीं इसलिये समीपमें रहनेवाले श्रुतज्ञानका ही ग्रहण हो सकता है अवधि आदिका नहीं। श्रुतज्ञानको प्रथम-पना यहां उपचारसे है वास्तवमें तो मतिज्ञान ही प्रथम है इस रीतिसे जब मति और श्रुत दोनोंको प्रथम-

पना सिद्ध है तब 'आद्ये परोक्षं' इस सूत्रमें आद्य शब्दसे मति और श्रुत ही ग्रहण किया जा सकता है और वे ही परोक्ष कहे जा सकते हैं किंतु अवधि आदिका न ग्रहण हो सकता है और न वे परोक्ष कहे जा सकते हैं। अथवा श्रुतज्ञानका जो अर्थ है उसकी अपेक्षा श्रुतज्ञानको ही समीपता है क्योंकि श्रुतज्ञान को मतिपूर्वक माना है विना मतिज्ञानके श्रुतज्ञान नहीं हो सकता। इसरीतिसे भी जब मतिज्ञानके समीप श्रुतज्ञान ही है तब मतिज्ञानके साथ उसीका ग्रहण हो सकता है अवधि आदिका नहीं इसलिये 'आद्ये परोक्षं' इस सूत्रमें आद्य शब्दसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका ही ग्रहण युक्तिसिद्ध है अवधि आदिका नहीं।

उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षं ॥ ६ ॥

उपात्त शब्दसे यहांपर इंद्रिय और मनका ग्रहण है। अनुपात्त शब्दसे प्रकाश और उपदेश आदि लिया गया है। जो ज्ञान अपने होनेमें इंद्रियां मन प्रकाश और उपदेश आदिकी प्रधान रूपसे अपेक्षा रखता है वह परोक्ष कहा जाता है। खुलासा रूपसे तात्पर्य इसका यह है कि जिस मनुष्यमें गमन करनेकी शक्ति तो है परंतु यष्टि आदिका सहारा विना लिये वह गमन नहीं कर सकता इसलिये जिसतरह यष्टि आदिक उसके गमनमें प्रधानरूपसे सहकारी माने जाते हैं उसीप्रकार मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जिस आत्मामें जाननेकी तो शक्ति है परंतु इंद्रिय आदि उपर्युक्त कारणोंकी सहायता विना वह पदार्थोंके ज्ञानमें असमर्थ है—जान नहीं सकता उसके ज्ञानमें भी इंद्रिय आदिक प्रधान सहकारी हैं इसरीतिसे अपनी उत्पत्तिमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इंद्रिय और मन आदिकी अपेक्षा रखनेके कारण पराधीन हैं इसीलिये दोनों परोक्ष हैं।

अत एव प्रमाणत्वाभाव इत्यनुपालंभः ॥ ७ ॥

किन्हीं मनुष्योंका यह उपालंभ था कि जिसके द्वारा पदार्थोंका निश्चय किया जाय वह प्रमाण है परोक्ष तो परोक्ष ही है—जाना नहीं जा सकता इसलिये उसके द्वारा किसी पदार्थका निश्चय नहीं हो सकता अतः परोक्ष कोई प्रमाण ही नहीं ? वह भी दूर हो गया क्योंकि अपनी उत्पत्तिमें इंद्रिय और मन आदिकी अपेक्षा रखनेके कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परोक्ष माना गया है, ज्ञानका न होना परोक्ष नहीं इसरीतिसे जब परोक्ष ज्ञानसे पदार्थोंका निश्चय होता है तब परोक्ष ज्ञानको प्रमाण माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानके समान परोक्ष ज्ञान भी प्रमाण है ॥ ११ ॥

इसप्रकार परोक्ष प्रमाणका लक्षण कह दिया गया उससे भिन्न जितने ज्ञान हैं सब प्रत्यक्ष हैं यह बात सूचित करनेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके सिवाय जो बाकीके अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान हैं वे प्रत्यक्ष हैं। वार्तिककार प्रत्यक्षका लक्षण कहते हैं—

इंद्रियानिंद्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षं ॥ १ ॥

स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्रके भेदसे इंद्रिय पांच हैं और अनिंद्रियका अर्थ मन है। जो ज्ञान चक्षु आदि इंद्रिय और मनकी अपेक्षासे रहित हो वह ज्ञान, तथा अवास्तविक पदार्थको वास्तविक मानना व्यभिचार कहा जाता है जिसतरह सीपको चांदी मानना इसलिये जो ज्ञान इसप्रकारके व्यभिचारसे रहित हो वह एवं जो सविकल्पक हो वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है। अवधिज्ञान मनःपर्य-

यज्ञान केवलज्ञानमें ये सब विशेषण घट जाते हैं इसलिये वे तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। यहांपर प्रत्यक्ष विशेष्य और इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष आदि विशेषण हैं। प्रत्यक्षका जो 'इंद्रियानिंद्रियानपेक्षं' विशेषण है वह मति-ज्ञान और श्रुतज्ञानकी निवृत्तिकेलिये है क्योंकि यदि इतना ही प्रत्यक्षका लक्षण माना जायगा कि 'जो ज्ञान व्यभिचाररहित और सविकल्पक हो वह प्रत्यक्ष है' तो व्यभिचाररहित और सविकल्पक तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी है उन्हें भी प्रत्यक्ष कहना पडेगा जो कि बाधित है। यदि 'इंद्रियानिंद्रिया-नपेक्ष' यह प्रत्यक्षका विशेषण कर दिया जायगा तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते क्योंकि अपनी उत्पत्तिमें वे इंद्रिय और मनकी अपेक्षा सहित ही है रहित नहीं। 'अतीतव्यभिचारं' यह विशेषण कुमति कुश्रुत और कुअवधि विभंग ज्ञानोंकी निवृत्तिके लिये है। क्योंकि 'जो ज्ञान सविकल्पक हो वह प्रत्यक्ष है' यदि इतना ही प्रत्यक्षका लक्षण किया जायगा तो कुमति आदि ज्ञान भी सविकल्पक हैं उन्हें भी प्रत्यक्ष कहना पडेगा। किंतु यदि 'अतीतव्यभिचार' यह विशेषण प्रत्यक्षका रहेगा तो कुमति आदिको प्रत्यक्षपना नहीं आ सकता क्योंकि मिथ्यादर्शनके उदयसे अवास्तविक पदार्थको वास्तविक-रूपसे जानना कुमति आदिका विषय है। प्रत्यक्षका सविकल्पक विशेषण अवधिदर्शन और केवलदर्शन की निवृत्तिके लिये है क्योंकि 'जो पदार्थ इंद्रिय और मनकी अपेक्षारहित और व्यभिचाररहित हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है' यदि इतना ही प्रत्यक्ष ज्ञानका लक्षण माना जायगा तो अवधिदर्शन और केवलदर्शन में इंद्रिय और मनकी अपेक्षा नहीं होती और किसी प्रकारका व्यभिचार भी नहीं होता इसलिये उन्हें भी प्रत्यक्ष ज्ञान कहना पडेगा। सविकल्पक विशेषणसे वे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहे जा सकते क्योंकि दर्शन को निराकार—निर्विकल्पक माना है सविकल्पक नहीं। इस रीतिसे जो ज्ञान इंद्रिय और मनकी अपेक्षा

रहित, व्यभिचाररहित और सविकल्पक हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह प्रत्यक्ष ज्ञानका युक्तिसिद्ध लक्षण है।

विशेष—बहुतसे विशेषण अनिष्ट बातकी व्यावृत्तिके लिये हुआ करते हैं और बहुतसे विशेषणोंका प्रयोग स्वरूप निर्देशके लिये किया जाता है। वार्तिककारने जो यहां प्रत्यक्षका लक्षण कहा है और उसके विशेषण दिये हैं उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी निवृत्तिके लिये इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष यह व्यावर्तक विशेषण दिया है क्योंकि उससे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको प्रत्यक्षज्ञानपनेकी व्यावृत्ति की गई है। अवधिदर्शन और केवलदर्शनकी निवृत्तिके लिये जो सविकल्पक विशेषण दिया है वह भी व्यावर्तक विशेषण है क्योंकि दर्शनको निर्विकल्पक माना है इसलिये सविकल्पक कहनेसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनकी व्यावृत्ति हो गई परन्तु कुमति आदि विभंग ज्ञानोंको प्रत्यक्षज्ञानकी निवृत्तिके लिये जो अतीतव्यभिचार विशेषण दिया है वह प्रत्यक्षके स्वरूप निर्देशके लिये है क्योंकि विभंग ज्ञान इंद्रिय और मनकी अपेक्षासे होता है—विना अपेक्षाके नहीं हो सकता इसलिये 'इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष' इस विशेषणसे ही विभंग ज्ञानोंकी निवृत्ति हो जाती है इस रीतिसे इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष और सविकल्पक ये प्रत्यक्षके दो विशेषण तो व्यावर्तक विशेषण हैं। और अतीत व्यभिचार यह विशेषण स्वरूपका प्रतिपादक विशेषण है।

इस वार्तिकमें जिस रूपसे प्रत्यक्षका लक्षण बतलाया है उसी रूपसे प्रत्यक्षका लक्षण नहीं है किंतु अन्य रूपसे भी है, और वह इस प्रकार है—

अक्षं प्रतिनियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः ॥ २ ॥

'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्षः' जो पदार्थोंको जाने वह अक्ष कहा जाता है और उस

का अर्थ—ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका धारक वा ज्ञानावरण कर्मका सर्वथा नाश करनेवाला आत्मा है। उस केवलमात्र आत्माकी अपेक्षा जो ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है इस अव्ययीभाव समाससे अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीन ही ज्ञान प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं। क्योंकि इनकी उत्पत्तिमें सिवाय आत्माके इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं होती। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते क्योंकि विना इंद्रिय आदिकी अपेक्षा कीए उनकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती इसलिये जो केवल आत्माकी अपेक्षासे हो वह प्रत्यक्ष है इस समासगर्भित प्रत्यक्षके लक्षणसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको प्रत्यक्षज्ञानपनेकी निवृत्ति हो जाती है।

अधिकारादनाकारव्यभिचारव्युदासः ॥ ३ ॥

सूत्रकारने 'प्रत्यक्षमन्यत्' अर्थात् परोक्षसे जो भिन्न है वह प्रत्यक्ष है, यह प्रत्यक्षका स्वरूप वतलाया है परंतु परोक्षसे भिन्न तो अवधिदर्शन केवलदर्शन और कुमति आदि विभंगज्ञान भी हैं इसलिये सूत्रकारके मतकी अपेक्षा वे भी प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं? सो ठीक नहीं। ऊपरके सूत्रोंसे 'प्रत्यक्षमन्यत्' इस सूत्रमें 'ज्ञान' और सम्यक् दोनों शब्दोंका अधिकार चला आ रहा है इसलिये 'ज्ञान' और 'सम्यक्' शब्दोंके अधिकारसे 'परोक्ष ज्ञानोंसे भिन्न जो सम्यग्ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है' जब यह 'प्रत्यक्षमन्यत्' इस सूत्रका अर्थ होगा तब अवधिदर्शन और केवलदर्शनको प्रत्यक्षज्ञानपना नहीं हो सकता क्योंकि अवधिदर्शन आदि ज्ञान नहीं, दर्शन हैं। एवं कुमति वा संशय आदि विभंग ज्ञानोंको भी प्रत्यक्षज्ञानपना नहीं हो सकता क्योंकि विभंगज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं, मिथ्याज्ञान हैं। इसलिये प्रत्यक्षमन्यत् यह सूत्र निर्दोष है। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

करणात्यये गृहणाभाव इति चेन्न दृष्टत्वात्प्रदीपवत् ॥ ४ ॥

इंद्रियोंकी अपेक्षा विना कीये कहीं भी ज्ञान होता नहीं देखा गया इसलिये जब इंद्रियोंके विना पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता तब 'प्रत्यक्ष ज्ञानमें इंद्रिय आदि कारण नहीं होते' यह बात नहीं कही जा सकती ? सो ठीक नहीं । जिसतरह जो पुरुष काष्ठ कील व सूला आदि उपकरणोंके विना रथके बनानेमें असमर्थ है वह काष्ठ आदि उपकरणोंके रहते ही रथ बना सकता है । विना उपकरणोंकी अपेक्षा कीए वह रथ तयार नहीं कर सकता किंतु जो पुरुष तप विशेषसे विना ही उपकरणके रथके बनानेकी ऋद्धिको प्राप्त कर चुका है । काष्ठ आदि उपकरणोंकी अपेक्षा कीए विना ही रथ बना सकता है उसीतरह जो मनुष्य कर्मोंसे मलिन है वह इंद्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशम होने पर इंद्रिय मन प्रकाश और उपदेश आदिकी सहायतासे पदार्थोंको जानता है किंतु जिसके तप आदिकी विशेषतासे ज्ञानावरण आदि ज्ञानके विरोधी कर्मोंका क्षयोपशम वा क्षय हो चुका है वह इंद्रिय आदिके विना ही अपनी सामर्थ्यमात्रसे पदार्थोंको जानता है इसलिये तप विशेषकी कृपासे जब आत्माकी यह दिव्य अवस्था प्रगट हो जाती है कि पदार्थोंके जाननेमें उसे इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं करनी पडती तब विना इंद्रियोंके कोई ज्ञान होता दीख ही नहीं पडता यह कहना प्रलापमात्र है । और भी यह बात है कि—

ज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च भास्करादिवत् ॥ ५ ॥

जिसतरह सूर्य आदि पदार्थ प्रकाशस्वरूप हैं इसलिये वे दूसरे प्रकाशकी विना अपेक्षा कीए घट पट आदि प्रकाशन योग्य पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं उसीप्रकार आत्मा भी ज्ञान दर्शनस्वरूप है इसलिये ज्ञानके विरोधी ज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षय वा विशिष्टक्षयोपशमसे अपनी सामर्थ्यमात्रसे ही वह

पदार्थोंको जान लेता है—पदार्थोंके जाननेमें उसे इंद्रिय आदि किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं करनी पडती। शंका—

इंद्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षं तद्विपरीतं परोक्षमित्यविसंवादि लक्षणमिति
चेन्नाप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसंगात् ॥ ६ ॥

जो ज्ञान इंद्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष और जिसमें इंद्रिय व्यापारकी अपेक्षा न हो वह परोक्ष है यही प्रत्यक्ष और परोक्षका विसंवादरहित निर्दोष लक्षण है । अन्य सिद्धांतकार भी ऐसा ही प्रत्यक्षका लक्षण मानते हैं। जिसतरह बौद्धोंका कहना है कि—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना। असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपादिश्यते ॥ १ ॥

जिसमें नाम जाति आदिकी योजना किसी प्रकारकी कल्पनासे रहित हो वह प्रत्यक्ष है और उसकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण इंद्रियां हैं इसलिये इंद्रियोंसे उसका व्यवहार होता है इसरीतिसे बौद्ध सिद्धांतमें प्रत्यक्षकी उत्पत्ति वा उसका व्यवहार इंद्रियोंके आधीन माना है। नैयायिकोंका मानना है कि—"इंद्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं।"[1] अर्थात् जो ज्ञान इंद्रिय और पदार्थके संबंधसे उत्पन्न हो, अव्यपदेश्य अर्थात् पहिले किसीके द्वारा कहा न गया हो, अव्यभिचारि-संशय आदि व्यभिचारी ज्ञानोंसे रहित हो और व्यवसायात्मक निश्चय करानेवाला हो वह प्रत्यक्ष है। यहांपर भी प्रत्यक्षज्ञानमें इंद्रियोंकी अपेक्षा बतलाई गई है। वैशेषिकोंका कहना है कि "आत्मेंद्रिय[2]

१ न्यायवार्तिक सूत्र ४ पृ॰ ३०। २ वैशेषिक दर्शन अ॰ ३ आ॰ १ सूत्र १८ पृ॰ १४४।

मनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत"[1] । अर्थात् आत्मा इंद्रिय मन और पदार्थोंके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। यहां पर भी प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रक्खी है । सांख्य सिद्धांतकारोंका यह कहना है कि—"श्रोत्रादिवृत्ति प्रत्यक्षं" श्रोत्र आदि इंद्रियोंका जो व्यापार है वह प्रत्यक्ष है अर्थात् इंद्रियां पदार्थको देखती हैं। उनके देखे हुए पर मन बिचार करता है। मनसे बिचारे हुएको अहंकार मानता है। अहंकार तत्व द्वारा माने हुए पदार्थको बुद्धि निश्चय करती है और बुद्धि द्वारा निश्चित पदार्थको पुरुष बिचारता है इस रूपसे कान आदि इंद्रियोंके व्यापारका नाम ही प्रत्यक्ष है (श्लोकवार्तिक पृ० १८७ कारिका ३६।) इसरीतिसे सांख्य सिद्धांत में भी प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें इंद्रियों की अपेक्षा की गयी है। मीमांसकमतके अन्यतम प्रवर्तक जैमिनिका कहना है कि—"सत्संप्रयोगे पुरुषस्येंद्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमिति"[2] अर्थात् पदार्थके साथ इंद्रियोंका संबंध होने पर जो पुरुषमें बुद्धि की उत्पत्ति होना है वह प्रत्यक्ष है इसप्रकार मीमांसकमतमें भी इंद्रियोंके आधीन ही प्रत्यक्षकी उत्पत्ति मानी है इस रूपसे जब प्रत्येक सिद्धांतकार प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें इंद्रियोंको कारण मानता है—इंद्रियोंकी अपेक्षा बिना कीए प्रत्यक्षकी उत्पत्ति ही असंभव मानता है तब जो ज्ञान इंद्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष और जिसकी उत्पत्तिमें इंद्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा न हो वह परोक्ष है यही प्रत्यक्ष और परोक्षका लक्षण मानना ठीक है ? सो नहीं। यदि इंद्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जायगा तो सर्वज्ञके ज्ञानमें तो इंद्रियोंका व्यापार कारण पडता नहीं इसलिये सर्वज्ञका ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान न कहा जा सकेगा इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानमें कभी इंद्रियां कारण नहीं पड सकतीं। सर्वज्ञके ज्ञानमें इंद्रियोंकी कारणता मानने

१ यह सांख्यमतके वार्षगण्य आचार्यका बनाया हुआ सूत्र है। २ जैमिनि सूत्र १ अ० १ पा० ४ सू०।

पर किसरीतिसे सर्वज्ञको असर्वज्ञपना आता है, यह बात विस्तारपूर्वक पहिले कह दी जा चुकी है। यदि यहां पर यह समाधान दिया जाय कि—

आगमादिति चेन्न तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात् ॥ ७ ॥

इंद्रियोंसे न भी अतींद्रिय पदार्थोंका ज्ञान हो तो भी आगमसे अव्याघातरूपसे उनका ज्ञान हो सकता है इसलिये आगमके द्वारा जब समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है तब सर्वज्ञका भी अभाव नहीं कहा जा सकता ? सो भी कहना अयुक्त है। क्योंकि जिसका प्रतिपादन समस्त दोषोंसे रहित सर्वज्ञानी आप्तके प्रत्यक्षज्ञानसे होता है वही आगम माना जाता है अन्य आगम नहीं किंतु आगमाभास है इस-रीतिसे जब आगमकी उत्पत्ति प्रत्यक्षज्ञानसे मानी गई है तब आगमसे प्रत्यक्ष ज्ञानकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती। वास्तवमें तो यदि आगमसे प्रत्यक्ष ज्ञानकी सिद्धि मानी जायगी तो अन्योन्याश्रय दोष होगा क्योंकि "स्वापेक्षापेक्षकत्वं ह्यन्योन्याश्रयत्वं" दो पदार्थोंमें एकको दूसरेकी अपेक्षाका होना अन्यो-न्याश्रय दोष कहा जाता है। जब आगमसे प्रत्यक्षज्ञानकी सिद्धि मानी जायगी तब आगमसे प्रत्यक्ष-ज्ञान; और विना प्रत्यक्षज्ञानके आगमका प्रतिपादन नहीं हो सकता इसलिये प्रत्यक्षज्ञानसे आगम, इस तरह प्रत्यक्षज्ञानको अपनी उत्पत्तिमें आगमकी अपेक्षा और आगमको अपनी उत्पत्तिमें प्रत्यक्षज्ञानकी अपेक्षा होनेके कारण अन्योन्याश्रय दोष होनेसे आगमसे अतींद्रिय पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। फिर भी यदि यह कहा जाय कि—

अपौरुषेयादिति चेन्न तदासिद्धेः ॥ ८ ॥

जब आगमका प्रतिपादन प्रत्यक्षज्ञानसे माना जायगा तब उपर्युक्त दोष हो सकता है किंतु हम तो

आगमको अपौरुषेय (पुरुषकृत नहीं) अनादिनिधन और अत्यन्त परोक्ष भी पदार्थोंका अप्रतिहतरूप से ज्ञान करानेवाला मानते हैं इसलिये इसप्रकारके आगमसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। कोई आगम अपौरुषेय है यह वात ही किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं। इस-लिये अपौरुषेय आगमकी कल्पनाकर उससे अतींद्रिय पदार्थोंकी सिद्धि मानना सर्वथा असंभव है। तथा जिस आगमको अपौरुषेय माना जाता है वह संसारमें वेदके नामसे प्रख्यात है परन्तु वह हिंसा आदि पाप कार्योंका प्रतिपादक है इसलिये वह कभी प्रमाणीक नहीं हो सकता इस रीतिसे किसी आगमको अपौरुषेय मान उससे अतींद्रिय पदार्थोंकी उत्पत्ति मानना कल्पनामात्र है।

अतींद्रियं योगिप्रत्यक्षमिति चेन्नार्थाभावात्॥ ९॥

यदि यह कहा जाय कि हम योगियोंके ज्ञानको अतींद्रिय प्रत्यक्ष मानते हैं और वह आगमसे नहीं उत्पन्न होता इसलिये उस योगियोंके अतींद्रियज्ञानसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है कोई दोष नहीं। इसी वातका पोषक यह वचन भी है—"योगिनां गुरुनिर्देशादतिभिन्नार्थमात्रदृक्" अर्थात् गुरुके उपदेश से योगी लोग अत्यन्त भिन्न—परोक्ष भी समस्त पदार्थोंको देखते हैं। सो भी ठीक नहीं। प्रत्यक्ष शब्द का जब अक्षरार्थ किया जायगा उस समय 'जो इंद्रियोंकी सहायतासे हो वह प्रत्यक्ष है' यह प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ होगा। ऐसा अर्थ करनेसे योगिज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहांपर योगिज्ञान में इंद्रियां कारण नहीं पडतीं इसलिये प्रत्यक्ष शब्दके इस उपर्युक्त अर्थसे योगिज्ञान अतींद्रिय प्रत्यक्ष नहीं हो सकता अथवा द्रव्यका लक्षण 'सत्' माना गया है और वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप कहा गया है। स्याद्वादसिद्धांत—जैनसिद्धांतके सिवा अन्य सिद्धांतोंमें पदार्थोंकी व्यवस्था एकांतरूपसे

मानी है इसलिये उनके मतमें स्वरूप पररूप और उभय—स्वपररूप हेतु वा अहेतुओंसे पदार्थ उत्पत्ति आदि स्वरूप सिद्ध हो नहीं सकते अथवा एक अनेक स्वरूप जो सामान्य और विशेष धर्म है उनका भी एकांतरूपसे रहना पदार्थोंमें असंभव आदि दोषोंसे परिपूर्ण है इसलिये परमतकी अपेक्षा समस्त पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकते इस रीतिसे समस्त पदार्थ ही तो योगिज्ञानके अवलंबन हैं जब समस्त पदार्थोंकी ही असिद्धि रहेगी तब योगिज्ञान निरालंबन ठहरेगा जो बाधित होनेसे माना नहीं जा सकता। यदि यहां पर यह कहा जाय कि सविकल्पक कोई पदार्थ नहीं सब पदार्थ निर्विकल्पक ही हैं इसलिये योगिज्ञानको निर्विकल्पक माननेमें कोई हानि नहीं ? सो भी अयुक्त है क्योंकि निर्विकल्पक पदार्थका ज्ञान ही नहीं हो सकता। वास्तवमें तो परमतके शास्त्रोंमें न निर्विकल्पक पदार्थका कोई लक्षण बतलाया है और न निर्विकल्पक पदार्थको विषय करनेवाले ज्ञानहीका कोई लक्षण कहा है इसलिये परमतमें न कोई निर्विकल्पक पदार्थ है और न निर्विकल्पक पदार्थको विषय करनेवाला कोई ज्ञान है इसरीतिसे योगिज्ञानको अतींद्रिय प्रत्यक्ष मान उससे समस्त पदार्थोंका ज्ञान मानना प्रलापमात्र है। और भी यह बात है—

तदभावाच्च ॥ १० ॥

परमतमें जिस योगीकी कल्पना की गई है उसका कोई विशेष लक्षण नहीं माना गया इसलिये उसका अभाव ही है तथा परमतमें एकांतरूपसे समस्त पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये जब समस्त पदार्थोंका अभाव है तब उन समस्त पदार्थोंके जाननेवाले योगीका भी अभाव सुतरां सिद्ध है। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि निर्वाणके दो भेद माने हैं एक सोपाधिविशेष जिसको कि जीवन्मुक्त

भी कहते हैं और दूसरा निरुपाधिविशेष जिसका कि दूसरा नाम मुक्त है उनमें सोपधिविशेष निर्वाणमें समस्त पदार्थोंका जाननेवाला योगी है—उसका अभाव नहीं कहा जा सकता ? सो भी ठीक नहीं। नैयायिक आदि परमतमें आत्माको निष्क्रिय और व्यापक माना गया है यदि योगिज्ञानमें बाह्य इंद्रियोंकी कारणताका अभाव माना जायगा तो अंतरंग आत्माकी परिणतिका भी अभाव मानना चाहिये क्योंकि निष्क्रिय और नित्य पदार्थमें किसीप्रकारका परिणाम नहीं हो सकता इसरीतिसे जब योगीकी आत्मामें ज्ञानका परिणमन न होगा तब वह पदार्थोंको न जान सकेगा फिर समस्त पदार्थोंके प्रत्यक्षके विना योगीका अभाव ही कहना पडेगा। यदि यहां पर यह कहा जायगा कि योगीमें योगसे होनेवाला एक धर्मविशेष रहता है उसकी कृपासे इंद्रियोंकी अपेक्षा विना ही किये आत्मा समस्त पदार्थोंको जान लेगा योगीका अभाव नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ निष्क्रिय और नित्य होता है उसमें किसीप्रकारकी क्रिया अनुग्रह और विकार कुछ भी नहीं हो सकता। परमतमें आत्माको निष्क्रिय और नित्य माना है इसलिये उसमें पदार्थोंकी जाननरूप क्रिया नहीं हो सकती। जब योगीकी आत्मामें पदार्थोंकी जाननरूप क्रिया न होगी तब वह अतींद्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार न कर सकेगा इसलिये जबरन उसका अभाव कहना ही पडेगा। तथा—

तल्लक्षणानुपपत्तिश्च स्ववचनव्याघातात् ॥ ११ ॥

वास्तवमें तो जो ऊपर प्रत्यक्षका लक्षण कहा है वह निर्दोषरूपसे सिद्ध हो ही नहीं सकता क्योंकि जिसतरह 'मेरी मा बांझ है' यह कहना स्ववचनबाधित माना जाता है उसी प्रकार ऊपर कहे गये प्रत्यक्षके लक्षणमें भी स्ववचनव्याघात है। यद्यपि कई मतोंके अनुसार ऊपर प्रत्यक्षके लक्षण कहे गये हैं

तथापि वार्तिककार अन्य मतोंमें मानेगये प्रत्यक्षके लक्षणोंकी उपेक्षा कर बौद्ध मतमें जो प्रत्यक्ष–लक्षण माना है; उसीका प्रतिवाद करते हैं क्योंकि वार्तिककारका स्वयं यह कहना है कि–बौद्धके सिवाय जो अन्यमत हैं उनमें माने गये प्रत्यक्षके लक्षणका बौद्धोंने अच्छीतरह खंडन कर दिया है इसलिये उनके खंडन करनेकी यहां हमारी विशेष इच्छा नहीं है किंतु बौद्धमतमें जो प्रत्यक्षका लक्षण माना गया है उसमें कुछ गुणोंकी संभावना लोगोंको दीख पडती है इसलिये बौद्ध मतमें मानेगये प्रत्यक्षके लक्षणके निराकरण करनेकेलिये यहां हम कुछ विचार करते हैं और वह इसप्रकार है–

बौद्धोंने जो 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षं' अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी कल्पना न हो सके वह प्रत्यक्ष है, यह प्रत्यक्षका लक्षण माना है। वहांपर जाति गुण और क्रियाका जो कहना उससे होनेवाला जो वचन और बुद्धिका विकल्प अर्थात् यह जाति है, यह गुण है, यह क्रिया है ऐसा वचन और जातिको जाति रूपसे, गुणको गुणरूपसे और क्रियाको क्रिया रूपसे जाननारूप बुद्धि उसका जो भेद, वह कल्पना शब्दका अर्थ है उससे रहित प्रत्यक्ष कहा जाता है। वहांपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्यक्षको जो कल्पनारहित माना गया है वह सर्वथा कल्पनारहित है कि कथंचित् कल्पनारहित है ? यदि सर्वथा 'कल्पनासे रहित है' यह अर्थ माना जायगा तो स्ववचनव्याघात दोष होगा क्योंकि 'प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है' यह भी तो कल्पना ही है, इस कल्पनासे रहित भी प्रत्यक्ष ज्ञानको मानना पडेगा फिर प्रत्यक्षका कोई लक्षण ही न स्थिर होगा। यदि यह कहा जायगा कि 'कल्पनासे रहित है' इत्यादि कल्पना युक्त ही प्रत्यक्ष माना जायगा तब भी वचनका व्याघात ही है क्योंकि 'प्रत्यक्ष सर्वथा कल्पनासे रहित है' यह स्वीकार किया गया है अब यदि 'कल्पनारहित है' इत्यादि कल्पनासे युक्त उसे माना

जायगा तो कथंचित् कल्पनायुक्त उसे मानना पडा इसलिये 'सर्वथा कल्पनासे रहित है' यह वचन व्याहत हो गया। यदि कदाचित् यह कहा जायगा कि हम कथंचित् कल्पनारहित प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं–अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पनारहित है इत्यादि कल्पनासे युक्त तो है परन्तु जाति आदिकी कल्पनासे रहित है ? सो भी ठीक नहीं। यहांपर भी वह वचनव्याघात दोष ज्योंका त्यों उपस्थित है क्योंकि बौद्ध लोग एकांतसे प्रत्यक्षको 'कल्पनारहित मानते हैं' यदि उसे कथंचित् कल्पनासे रहित माना जायगा तो एकांतका त्याग कर देना पडेगा क्योंकि कथंचित् शब्द अनेकांतका द्योतक है इसलिये कथंचित् कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष को नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर भी यह समाधान दिया जाय कि 'प्रत्यक्ष कल्पनासे रहित ही है' यह हमारे एकांत नहीं इसलिये उसे कथंचित् कल्पनासे रहित माननेमें स्ववचनव्याघात नहीं हो सकता ? सो भी अयुक्त है। फिर प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' यह विशेषण ही व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि 'कल्पनासे रहित है' इत्यादि अनुरूप प्रत्यक्षमें कल्पना मान ली गई तब वह 'कल्पनापोढ' नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि परमत—जैन आदि मतोंमें नाम जाति आदि की भेदकल्पना व्यवहारसे मानी गई है निश्चयसे नहीं। इसलिये वैसी कल्पनाओंसे रहित हम (बौद्ध) प्रत्यक्षको मानते हैं किंतु वितर्क विचार आदि जो प्रत्यक्षसंबंधी विकल्प हैं उनसे रहित नहीं मानते इसलिये 'कल्पनापोढ' यह जो प्रत्यक्षका विशेषण है वह परमतकी अपेक्षा है, व्यर्थ नहीं है। इसी विषय में यह वचन भी है–

सवितर्कविचारा हि पंच विज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पनविकल्पकाः ॥ १ ॥

अर्थात्—वितर्क विचार निरूपण अनुस्मरण और विकल्पन ये पांच विज्ञानके धर्म हैं। विज्ञानके

ही भेद हैं। सो भी ठीक नहीं। घट पट आदिज्ञान आलंबन पदार्थोंमें जो 'यह घट है यह पट है' इत्यादि अर्पणा यह वितर्क है। उसीमें वार वार चिंतवन करना विचार है। उस विचारकी नाम-घट पट आदि रूपसे कल्पना करना निरूपण है और पूर्वकालमें अनुभव किए हुए पदार्थोंका विकल्पन—भेदपूर्वक स्मरण करना अनुस्मरण है। ये धर्म संतानरहित और क्षणिक इंद्रियविषयक विज्ञानमें नहीं उत्पन्न हो सकते क्योंकि ये धर्म ज्ञानमें क्रमसे उत्पन्न होनेवाले और कुछ क्षण ठहरनेवाले हैं परंतु बौद्ध मतमें इनकी एकसाथ उत्पत्ति मानी है और क्षणिक माने हैं इसलिए अधिक क्षण तक ठहर नहीं सकते। तथा इन धर्मोंमें पहिला पहिला धर्म ग्राह्य है और उत्तर उत्तर धर्मको ग्राहक माना है यदि इनकी युगपत् उत्पत्ति मानी जायगी तो जिसतरह बछडेके दायां और बायां दोनों सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं इसलिए उनमें ग्राह्य ग्राहकपना नहीं होता उसीतरह वितर्क आदिकी भी एकसाथ उत्पत्ति मानी गई है इसलिए इनमें भी ग्राह्य ग्राहकपना सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जायगा कि हम (बौद्ध) वितर्क आदि की युगपत् उत्पत्ति न मान क्रमसे उत्पत्ति मानेंगे तब उसमें ग्राह्य ग्राहकपना होसकता है, कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। यदि उनकी क्रमसे उत्पत्ति मानी जायगी तो उनको अनेक क्षणतक ठहरनेवाला भी मानना पडेगा फिर सब पदार्थ क्षणिक हैं—क्षणभरमें विनष्ट हो जानेवाले हैं, यह बौद्धोंका अभिमत अर्थ न सिद्ध हो सकेगा इसलिये वितर्क आदिकी क्रमसे उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। यदि यह कहा जायगा कि हम विज्ञानकी संतान मानेंगे और वैसा माननेसे वितर्क आदिकी क्रमसे उत्पत्ति बन सकेगी कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। परीक्षाकी कसोटीपर संतानकी जांच करनेपर वह सिद्ध ही नहीं हो सकता इस रीतिसे जब किसी प्रकारका भी विकल्प विज्ञानके अंदर सिद्ध नहीं होता तब विज्ञानमें

'कल्पनासे रहित यह विकल्प है जाति आदिका विकल्प नहीं है' यह वात नहीं बन सकती इसलिये समस्त विकल्पोंके अभावसे विज्ञान पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता। और भी यह वात है कि—

बौद्ध लोग सब पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं परंतु उन्होंने अनुस्मरण आदि धर्मोंको स्वीकार किया है। वे अनुस्मरण आदि पदार्थ अनेक क्षण ठहरनेवाले हैं इसलिये अनुस्मरण आदिके स्वीकार करनेसे उन्हींके मतानुसार एक पदार्थ अनेक क्षणस्थायी सिद्ध हो गया जो कि उनके माने हुए क्षणिक सिद्धांत पर आघात पहुंचाता है। यहां पर यह वात भी निश्चित समझ लेना चाहिये कि जो पदार्थ पहिले कभी अनुभवमें नहीं आये हैं अथवा अन्यके अनुभवमें आये हैं उन पदार्थोंका अनुस्मरण आदि नहीं होता किंतु एक ही आत्मामें जिसका पहिले अच्छी तरह अनुभव हो चुका है उसीके अनुस्मरण आदि होते हैं इसलिये अनुस्मरण आदिको एक क्षणस्थायी नहीं कहा जा सकता किंतु वे अनेक क्षणस्थायी ही हैं। तथा मानस प्रत्यक्षका अंगीकार भी बौद्धोंके क्षणिक सिद्धांतको सिद्ध नहीं होने देता क्योंकि 'षण्णामनंतरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः' छै पदार्थोंके अनंतर जो अतीत विज्ञान है वह मन कहा जाता है, यहां पर मनको विज्ञानका कारण बतलाया है। यदि किसी भी पदार्थको अनेक क्षण ठहरनेवाला न माना जायगा तब मन भी अनेक क्षणस्थायी न ठहरेगा फिर क्षणभरमें ही नष्ट हो जानेवाला असत्पदार्थ और अतीत मन विज्ञानका कारण नहीं हो सकेगा इसलिये यदि बौद्ध मानस प्रत्यक्षको स्वीकार करते हैं तो उन्हें मनको अनेक क्षणस्थायी मानना ही होगा इस रीतिसे उनका क्षणिक सिद्धांत कभी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कदाचित् कार्य कारणकी सिद्धिके लिये यह कहा जाय कि—

हम पूर्व पदार्थका नाश और उत्तर पदार्थकी उत्पत्ति एक साथ मानते हैं इसलिये कार्य कारण

भाव हो सकता है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। यदि इस रूपसे कार्य कारणभाव माना जायगा तो एक ही कालमें उत्पन्न और विनश जानेवाले भिन्न भिन्न संतानवर्ती घट और पटका भी आपसमें कार्य कारणभाव कहना पडेगा। यदि कदाचित् यह कहा जायगा कि एक ही संतानके अंदर यह शक्ति मानी है कि उसी संतानके अन्दर एक ही कालमें उत्पन्न और विनश जानेवाले पूर्व और उत्तर पदार्थों में कार्य कारण भाव हो सकता है किंतु एक ही कालमें उत्पन्न और विनश जानेवाले भिन्न संतानियोंमें नहीं इसलिये भिन्न संतानियोंमें कार्य कारणभाव नहीं हो सकता? सो भी ठीक नहीं। यदि ज्ञानसंतान में शक्ति मानी जायगी तो ज्ञान निर्विकल्पक सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जिसमें शक्ति जान पडती है वह सविकल्पक माना जाता है इसलिये ज्ञान-संतानमें शक्ति स्वीकार करनेपर 'ज्ञान निर्विकल्पक है' यह प्रतिज्ञा भंग हो जाती है। इस रीतिसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया कि 'प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है' यह जो बौद्धमतमें प्रत्यक्षका लक्षण माना गया है वह निर्दोषरूपसे नहीं।

अपूर्वाधिगमलक्षणानुपपत्तिश्च सर्वस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः ॥ १२ ॥

बौद्धोंने प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्वाधिगम' विशेषण दिया है और जो ज्ञान पहिले किसी भी ज्ञान द्वारा निश्चित न हुआ हो वह प्रमाण है, यह उस 'अपूर्वाधिगम' विशेषणका अर्थ है परन्तु उन्होंने ज्ञान की संतान मानी है इसलिये प्रमाणका जो उन्होंने 'अपूर्वाधिगम' विशेषण माना है वह व्यर्थ हो जाता है क्योंकि ज्ञानकी संतानमें पहिला ज्ञान तो अपूर्वज्ञान हो सकता है परंतु उसके उत्तर ज्ञान अपूर्व ज्ञान नहीं हो सकते। यहांपर यह वात नहीं कही जा सकती कि संतानमें जो पहिला ज्ञान है वह तो प्रमाण है और उत्तर ज्ञान प्रमाण नहीं क्योंकि जिस तरह-अंधकारमें विद्यमान पदार्थोंको दीपक उत्पन्न होते

ही प्रकाशित करता है तथा वह प्रकाशपना ही दीपककी स्थितिमें कारण है। यदि पदार्थोंको प्रकाशित न करे तो अपना 'दीपक' नाम भी कायम नहीं रख सकता इसलिये अंधकारमें स्थित पदार्थोंके प्रकाशनके बाद भी उत्तर कालमें प्रकाशमान होनेसे उसका दीपक नाम नहीं छूटता उसी तरह ज्ञान भी उत्पन्न होते ही घट पट आदि पदार्थोंका जाननेवाला है तथा वह जानना ही ज्ञानकी स्थितिमें कारण है यदि वह पदार्थोंको न जान सके तो उसका 'ज्ञान' नाम ही कायम नहीं रह सकता इसलिये घट पट आदि पदार्थोंके जाननेके बाद भी उत्तर कालमें पदार्थोंके जाननास्वरूप कार्यमें परिणत रहनेसे उसका प्रमाण नाम नहीं छूट सकता इस रीतिसे जब उत्तरज्ञान भी प्रमाण सिद्ध होते हैं और संतानके प्रथम ज्ञानके सिवाय उनमें अपूर्वता है नहीं तब प्रमाणका 'अपूर्वाधिगम' विशेषण सर्वथा व्यर्थ ही है। किंतु जिसके द्वारा पदार्थोंका निश्चय हो वह प्रमाण है इतना ही प्रमाणका अर्थ ठीक है इस अर्थसे संतानके अन्दर रहनेवाले पूर्व उत्तर सभी ज्ञानोंको प्रमाणता सिद्ध हो जाती है क्योंकि सब ज्ञानोंसे पदार्थोंका निश्चय होता है यदि कदाचित् यहां यह समाधान दिया जाय कि क्षण क्षणमें दीपक नवीन नवीन ही उत्पन्न होता है और पदार्थोंको प्रकाशित करता है इसलिये जो प्रथम क्षणमें दीपक है वह उत्तरकालमें दीपक नहीं कहा जा सकता तब ज्ञान भी दीपकके समान क्षण क्षणमें नवीन नवीन ही उत्पन्न होनेवाला मानना होगा तथा ज्ञानको क्षणिक माननेपर प्रमाणका जो 'अपूर्वाधिगम' विशेषण माना है वह भी चरितार्थ हो जायगा क्योंकि क्षण क्षणमें उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अपूर्वज्ञान ही होगा परन्तु स्मृतिज्ञान इच्छा और द्वेष आदिके समान पूर्व पूर्व ज्ञानों द्वारा निश्चित किये गये पदार्थोंको विषय करनेके कारण फिर फिरसे कहा जानेवाला अर्थात् अनेक क्षणस्थायी ज्ञान; प्रमाण है, बौद्धोंने जो यह कहा है उसका व्याघात हो

जायगा क्योंकि पहिले ज्ञानको क्षणिक माना जा चुका है और यहां इस वचनसे उसे अनेक क्षणस्थायी माना गया है तथा सब पदार्थोंको क्षणिक माननेपर अनेक क्षण पर्यंत ठहरनेवाले इच्छा द्वेष आदि पदार्थोंकी भी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये ज्ञानकी संतान और समस्त पदार्थोंका क्षणिकपना दोनों ही वातें असिद्ध हैं। और भी यह वात है कि—

स्वसंवित्तिफलानुपपत्तिश्चार्थांतरत्वाभावात् ॥ १३ ॥ प्रमाणोपचारानुपपत्तिर्मुख्याभावात् ॥ १४ ॥

संसारमें प्रमाण पदार्थ फलवान देखा गया है। बौद्धोंने जो प्रमाण माना है उसका भी कुछ न कुछ फल होना चाहिये परंतु क्षणिक होनेसे उसका कोई फल नहीं हो सकता इसलिये उसका माना हुआ प्रमाण पदार्थ ठीक नहीं। यहां पर वादी प्रतिवादीसे भिन्न तटस्थका कहना है कि ज्ञान अपना और घट पट आदि पदार्थोंका निश्चय कराता हुआ ही उत्पन्न होता है इसलिये अपने स्वरूपका और घट पट आदि पदार्थोंका जानना ही उसका फल होगा इसरीतिसे वह फलवान ही है—फल रहित नहीं कहा जा सकता? सो भी ठीक नहीं। जिसतरह छेदनेवाला, छेदनके योग्य काष्ठ आदि और छेदनाक्रिया इन तीनोंसे भिन्न काष्ठके टुकडे होनारूप फल दीख पडता है। उसीतरह प्रमाणका फल भी प्रमाणसे भिन्न ही होता है किंतु अपना और परपदार्थोंका जानना रूप फल प्रमाण स्वरूप ही है प्रमाणसे भिन्न नहीं इसलिये वह प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यहांपर वादी बौद्धका कहना है कि—स्वपरका जानना रूप फल प्रमाण स्वरूप ही है इसलिये वह फल नहीं हो सकता यह वात विलकुल ठीक है इसलिये अधिगम—पदार्थोंका जाननारूप फलमें व्यापारकी प्रतीति मान उपचारसे प्रमाणकी कल्पना मानी है अर्थात् अधिगमरूप ही प्रमाणको माना है इसलिये फल और प्रमाण दोनोंकी सिद्धि होनेसे प्रमाण फलरहित नहीं कहा जा

सकता ? सो भी अयुक्त है। जिसतरह 'सिंहो माणवकः' यह बालक सिंह है इत्यादि स्थानों पर पशुओंका राजा, पंचेंद्रिय, नख, दाढ, सटा, दीप्तिमान किंतु पीले नेत्र आदि अवयवोंका धारक सिंह नामका मुख्य रूपसे पदार्थ संसारमें मोजूद है इसलिये उसीके समान बालकमें क्रूरता शूरता आदि गुणोंको देखकर यह कह दिया जाता है कि यह बालक सिंह है किंतु विना असली सिंहके गौणरूपसे वालकमें सिंहकी कल्पना नहीं हो सकती उसीतरह मुख्यरूपसे प्रमाणके रहतेही अधिगमरूप फलको गौणरूपसे प्रमाण माना जाता है विना असली प्रमाणके नहीं बौद्ध मतमें असली प्रमाण सिद्ध नहीं किंतु अधिगमको गौण रूपसे प्रमाण मानने के लिये चेष्टा की है इसलिये अधिगमरूप फलको गौण रूपसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसरीति से बौद्ध मतमें माने गये प्रमाणका कोई फल सिद्ध नहीं होता इसलिये फलरहित होनेसे वह प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

आकारभेदात्तद्भेद इति चेन्नैकांतवादत्यागात् ॥ १५ ॥

ग्राहक, विषय—घट पट आदिका झलकना और संविति—जानना, ये तीन शक्तियां हम ज्ञानमें मानते हैं उनके भेदसे प्रमाण प्रमेय और फलका भेद हो जायगा अर्थात् ज्ञानमें जो ग्राहक शक्ति है उस से प्रमाण, विषयाभास शक्तिसे प्रमेय और संवित्तिसे फलकी कल्पना हो जायगी, प्रमाण भी फलवान् सिद्ध हो जायगा कोई दोष नहीं ? सो भी कहना अयुक्त है। बौद्धोंने एकांतसे ज्ञानको निर्विकल्पक माना है और निर्विकल्पकमें कोई भी आकार प्रतीत हो नहीं सकता। यदि ज्ञानको ग्राहक, विषयाभास और संवित्तिरूप तीन शक्तियोंके आकारस्वरूप माना जायगा तो ज्ञानको सर्वथा निर्विकल्पकरूप जो एकांतसे माना है वह एकांत छोड देना पडेगा क्योंकि एक पदार्थ अनेक आकारस्वरूप है यह अनेकां-

तवादके प्रतिपादक भगवान जिनेंद्रका मत है वह कभी एकांतवादमें लागू नहीं हो सकता अर्थात् ज्ञान को सर्वथा निर्विकल्पक मानने पर कैसे भी आकारकी कभी भी उसमें कल्पना नहीं की जा सकती। यदि कदाचित् यही हठ की जायगी कि निर्विकल्पक होने पर भी हम उसे तीन आकारस्वरूप मानेंगे ही तब द्रव्यको अनेकाकार स्वरूप कहनेमें क्या आपत्ति है? वहां भी एक परमाणु द्रव्यको रूपादि अनेक स्वरूप, वा एक ही आत्मा द्रव्यको ज्ञान आदि अनेकस्वरूप मान लेना चाहिये। यदि यहांपर फिर भी वादी बौद्ध यह कहे कि उपर्युक्त आकारोंको ज्ञानस्वरूप मानें तब तो अनेक धर्मस्वरूप द्रव्यकी सिद्धि हो सकती है परंतु हम तो ग्राहक आदि शक्तियोंको आकार मात्र मानते हैं उन्हें ज्ञानस्वरूप नहीं कहते इसलिये हमारे मतमें अनेक धर्मात्मक द्रव्यकी सिद्धिकी आपत्ति नहीं हो सकती? सो भी ठीक नहीं। वहां पर भी यह प्रश्न उठेगा कि यदि वे ज्ञानके आकार नहीं हैं तब किसके आकार हैं? क्योंकि आकार किसी न किसी पदार्थके होते हैं यदि उन्हें किसी पदार्थका आकार न बतलाकर केवल आकारमात्र बतलाया जायगा तो विना आधारके उसका अभाव ही हो जायगा इसलिये उन आकारोंको ज्ञानस्वरूप ही मानना पडेगा और ज्ञानस्वरूप माननेसे अनेक धर्मात्मक द्रव्यकी सिद्धिकी आपत्ति ज्योंकी त्यों रहेगी और भी यह बात है कि उन आकारोंकी ज्ञानमें एक साथ उत्पत्ति होती है कि क्रमसे?

यदि एक साथ उत्पत्ति मानी जायगी तो ग्राहक—प्रमाण और संवित्ति—फल भी एक साथ उत्पन्न होंगे इसलिये उनमें प्रमाण कारण और फल कार्य न कहाया जा सकेगा क्योंकि पहिले कारण, पीछे कार्य इसप्रकार क्रमवृत्ति पदार्थोंमें ही कार्य कारणके विभागका नियम है। एक साथ उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें कार्य कारणपनेका नियम नहीं लागू हो सकता। यदि उन आकारोंकी क्रमसे उत्पत्ति मानी

जायगी तो बौद्ध लोग विज्ञानको तो क्षण विनाशीक मानते हैं । क्षण विनाशीक पदार्थोंमें आकारोंके क्रमकी कल्पना नहीं हो सकती इसलिये ग्राहक आदि शक्तियोंके आकारोंकी क्रमसे कल्पना नहिं की जा सकती। यदि कदाचित् जवरन यह माना जायगा कि क्षणिक भी विज्ञानमें हम आकारोंकी क्रमसे ही कल्पना मानेंगे तो आकारोंमें ग्राहक–प्रमाण और संविचि–फलका भी उल्लेख किया गया है यदि ग्राहक और संविचिकी क्रमसे उत्पत्ति मानी जायगी तो उस अधिगमस्वरूप संविचि पदार्थको प्रमाणसे भिन्न मानना पडेगा फिर "अधिगम–जानना कोई दूसरा पदार्थ नहीं है प्रमाण स्वरूप है" बौद्धोंके इस वचनका व्याघात हो जायगा । इसलिये ज्ञानमें ग्राहक आदि शक्तियोंके आकारोंकी क्रमसे कल्पना नहीं कर सकते। और भी यह बात है कि–

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सिवाय विज्ञानके अन्य कोई भी बाह्य पदार्थ स्वीकार नहीं करता तथा विज्ञानमें ग्राहक आदि शक्तियोंक आकारकी कल्पना करता है उन्हें विज्ञान स्वरूप ही मानता है विज्ञान से भिन्न नहीं इस रीतिसे जब उसके मतमें बाह्य कोई पदार्थ नहीं—एक विज्ञानमात्र ही पदार्थ है तब तब वह केवल एक विज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभासरूप विरुद्ध धर्मस्वरूप नहीं हो सकता। यदि यहां पर यह कहा जायगा कि मिथ्या पदार्थको सत्य मानना जिस तरह सीपको चांदी वह प्रमाणाभास और सत्य पदार्थको सत्य ही समझना जिस तरह सीपको सीप वा चांदीको चांदी वह प्रमाण है इस रीतिसे एक भी विज्ञानके स्वीकार करनेपर प्रमाण और प्रमाणाभासका भेद हो जायगा कोई दोष नहीं? सो भी कहना अयुक्त है। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं और उन दोनों प्रमाणोंकी विशेष और सामान्य इन दो प्रमेयोंके आधीन व्यवस्था मानते हैं क्योंकि बौद्धोंका सिद्धांत है कि प्रत्यक्ष

स्वलक्षणको विषय करता है और उस स्वलक्षणको असाधारण धर्म माना है उसमें यह घट है वा यह पट और मठ है इस प्रकारका कैसा भी विकल्प नहीं रहता तथा अनुमान सामान्यको विषय करता है। यह सामान्य स्वलक्षणसे ठीक विपरीत है—इसमें वह अमुक पदार्थ है तो वह अमुक पदार्थ है इस तरहका भेद रहता है यदि मिथ्या पदार्थको सत्य मानना प्रमाणाभास और सत्यको सत्य ही मानना प्रमाण इस-तरह मिथ्या पदार्थ और सत्य पदार्थोंकी भी कल्पना करनी पडेगी तो ये जो प्रत्यक्ष और अनुमानकी सिद्धिकेलिये विशेष और सामान्यके भेदसे दो ही पदार्थ माने हैं वह मानना व्याहत हो जायगा क्योंकि प्रमाण और प्रमाणाभासकी सिद्धिकेलिए सामान्य और विशेषसे अतिरिक्त मिथ्या और सत्य पदार्थोंकी भी कल्पना करनी पडती है इसरीतिसे जब विज्ञानके सिवाय कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता तब एक ही विज्ञानमें प्रमाण और प्रमाणाभासरूप भेदोंकी कल्पना नहीं की जा सकती। और भी यह बात है कि—

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध विज्ञानके सिवाय अन्य समस्त पदार्थोंको असत् भी विशेषरूपसे नहीं कह सकता क्योंकि पदार्थोंके अभावसे उनका असत्त्व भिन्नरूपसे सिद्ध नहीं हो सकता किंतु घट पट आदि असत्त्वके संबंधी पदार्थोंके रहते ही यह घटका असत्व है यह पटका असत्व है इत्यादि भिन्नरूपसे असत्व सिद्ध होता है इसलिये विज्ञानमात्र तत्व मानकर समस्त पदार्थोंको असत् कहना बौद्धका युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। यदि यहां पर यह कहा जाय कि संबंधी घट पट आदि पदार्थोंके अभाव रहने पर ही उनके विशेषोंका अभाव कहा जा सकता है उनके विद्यमान रहते नहीं। सत्व भी घट पट आदिका विशेष है इसलिये घट पट आदिके अभावमें उसका अभाव भी सिद्ध है कोई दोष नहीं ? सो भी ठीक नहीं। यदि संबंधियोंके अभावमें उनके विशेषोंका अभाव माना जायगा तब घट पट आदि पदार्थोंके

न माननेपर विज्ञान पदार्थ भी सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि घट पट आदि ज्ञेय पदार्थोंके अभावमें विज्ञान किनका होगा ? इस रीतिसे जब यथार्थरूपसे एक मात्र विज्ञानकी सिद्धि न हो सकी तब निर्विकल्प (अवक्तव्य) वादियोंका कहना है कि हमें भी यही वात सिद्ध करनी थी कि संसारमें निर्विकल्पताके सिवा कोई पदार्थ नहीं है सो विना किसी कष्ट और प्रयत्नके उक्त तर्क प्रणाली सिद्ध हो गयी। इसलिये घरमें रत्नवृष्टि होनेसे जिसप्रकार परमानंद होता है उसी तरह विना किसी प्रयत्नके हमारे अभिमतकी सिद्धि हो जानेपर हमें भी आनन्द है। अतएव जिसमें किसी भी विकल्प—भेदका उदय नहीं हुआ है ऐसे निर्विकल्पक पदार्थको विषय करनेवाले निर्विकल्पक विज्ञानको प्रमाण मानना ही ठीक है जैसा कहा भी है—

शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्या प्रवर्तते ॥ १ ॥ इति

शास्त्रोंमें जो विज्ञानकी प्रक्रियाका भेद बतलाया है वह सब अविद्या है शास्त्रीय विकल्पोंसे रहित विद्याकी तो स्वयं प्रवृत्ति है। इसलिये निर्विकल्पक विज्ञानमात्र तत्वके माननेमें कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। निर्विकल्पक विज्ञान ही संसारके अंदर है इस वातका निश्चय करानेवाला कोई प्रमाण नहीं। कहा भी है—

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिंगगम्यं न तदर्थलिंगं।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः कष्टमश्रृण्वतस्ते ॥ १ ॥[1]

१ युक्त्यनुशासन श्लोक २२। 'कष्टमश्रृण्वतां ते' यह भी पाठ है।

अर्थात् बौद्धोंका माना हुआ जो विज्ञानाद्वैतवाद है वह न प्रत्यक्षका विषय है न अनुमानका विषय है वचनका भी उसके साथ संबंध नहीं हो सकता इसलिये हे भगवन् ! आपकी वातको न सुनने-वाले जो बौद्ध लोग हैं उनकी कष्टमय दशा है आपके मतका अवलंबन लिये विना वे अपने अभीष्ट तत्वकी सिद्धि नहीं कर सकते । इस रीतिसे बौद्धोंका कल्पनारहित प्रत्यक्ष प्रमाणका मानना और विज्ञान मात्र ही संसारके अंदर तत्व है इत्यादि कहना युक्ति और प्रमाणसे बाधित है ॥ १२ ॥

ऊपर कहे हुए प्रमाणके परोक्ष और प्रत्यक्ष भेदोंमें परोक्षज्ञानका आदिम भेद मतिज्ञानके विशेष भेद प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

मतिःस्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरं ॥ १४ ॥

मति स्मृति संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान, चिंता—तर्क और अभिनिबोध—स्वार्थानुमान, आदि आपसमें अनर्थांतर हैं—एक ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं ।

इतिशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षावशादाद्यर्थसंप्रत्ययः ॥ १ ॥

इति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं जिस तरह—'हंतीति पलायते' मारता है इस कारण भागता है । 'वर्षतीति धावति' मेघ बरसता है इस कारण दौडता है यहांपर इति शब्दका अर्थ 'कारण' है । 'इति स्म उपाध्यायः कथयति' उपाध्याय ऐसा कहते थे यहांपर इति शब्दका अर्थ 'ऐसा' है। गौरश्वः शुक्लो नीलः चरति प्लवते जिनदत्तो देवदत्त इति अर्थात् गाय, घोडा, श्वेत नील, चरना कूदना देवदत्त, जिन-

दत्त इसप्रकारके शब्द । भावार्थ—गाय घोडा आदि प्रकारके शब्द जातिवाचक, श्वेत नील प्रकारके गुण-वाचक, चरना कूदना आदि प्रकारके क्रियावाचक और देवदत्त जिनदत्त आदि प्रकारके संज्ञावाचक होते हैं । यहांपर इति शब्दका अर्थ प्रकार है । 'ज्वलितिकसंताण्णः' ज्वलसे लेकर कस पर्यंत धातुओंसे ण प्रत्यय होता है यहांपर इतिशब्दका अर्थ व्यवस्था है क्योंकि इहां इतिशब्दसे ज्वल और कस धातुओंके बीचमें गिनी गई बल आदि अनेक धातुओंकी व्यवस्था की गई है । 'गौरित्ययमाह' यह गौ कहता है यहांपर इति शब्दका अर्थ विपर्यास है क्योंकि यहांपर 'जो गौ नहीं है उसे गौ कहता है' इस विपरीत अर्थको इतिशब्दसे सूचित किया है । 'प्रथमाह्निकमिति, द्वितीयाह्निकमिति' प्रथमाह्निक समाप्त हुआ, द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ, यहां पर इति शब्दका अर्थ समाप्ति है । श्रीदत्तमिति, सिद्धसेनमिति, यह श्रीदत्तका कहना है, यह सिद्धसेनका कहना है यहां पर इति शब्दका शब्दोंका उत्पन्न करना वा कहना अर्थ है । इत्यादि अनेक इति शब्दके अर्थ हैं परन्तु सूत्रमें जो इति शब्द है उसका आदि अर्थ विवाक्षित है इसलिये उसका आदि अर्थ समझना चाहिये । अर्थात् मति स्मृति संज्ञा चिंता और अभिनि-बोध आदि सबका एक ही अर्थ है भिन्न नहीं । यहांपर जो इतिशब्दका आदि अर्थ किया गया है उससे प्रतिभा बुद्धि उपलब्धि आदिका ग्रहण है । वे भी अनर्थांतर ही हैं । अथवा इतिशब्दका यहां प्रकार अर्थ है अर्थात् मति आदिकी तरहके शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं । मति आदिको एक ही अर्थका बोधक-पना इसप्रकार है—

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तार्थोपलब्धिविषयत्वादनर्थांतरत्वं रूढिवशात् ॥ २ ॥

मति आदिसे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है उसमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम समानरूपसे कारण पडता

अर्थात् बौद्धोंका माना हुआ जो विज्ञानाद्वैतवाद है वह न प्रत्यक्षका विषय है न अनुमानका विषय है वचनका भी उसके साथ संबंध नहीं हो सकता इसलिये हे भगवन् ! आपकी बातको न सुनने-वाले जो बौद्ध लोग हैं उनकी कष्टमय दशा है आपके मतका अवलंबन लिये विना वे अपने अभीष्ट तत्वकी सिद्धि नहीं कर सकते । इस रीतिसे बौद्धोंका कल्पनारहित प्रत्यक्ष प्रमाणका मानना और विज्ञान मात्र ही संसारके अंदर तत्व है इत्यादि कहना युक्ति और प्रमाणसे बाधित है ॥ १२ ॥

ऊपर कहे हुए प्रमाणके परोक्ष और प्रत्यक्ष भेदोंमें परोक्षज्ञानका आदिम भेद मतिज्ञानके विशेष भेद प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

मतिःस्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरं ॥ १४ ॥

मति स्मृति संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान, चिंता—तर्क और अभिनिबोध—स्वार्थानुमान, आदि आपसमें अनर्थांतर हैं—एक ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं ।

इतिशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षावशादाद्यर्थसंप्रत्ययः ॥ १ ॥

इति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं जिस तरह—'हंतीति पलायते' मारता है इस कारण भागता है । 'वर्षतीति धावति' मेघ बरसता है इस कारण दौडता है यहांपर इति शब्दका अर्थ 'कारण' है । 'इति स्म उपाध्यायः कथयति' उपाध्याय ऐसा कहते थे यहांपर इति शब्दका अर्थ 'ऐसा' है । गौरश्वः शुक्लो नीलः चरति प्लवते जिनदत्तो देवदत्त इति अर्थात् गाय, घोडा, श्वेत नील, चरना कूदना देवदत्त, जिन-

दत्त इसप्रकारके शब्द ! भावार्थ—गाय घोडा आदि प्रकारके शब्द जातिवाचक, श्वेत नील प्रकारके गुण-वाचक, चरना कूदना आदि प्रकारके क्रियावाचक और देवदत्त जिनदत्त आदि प्रकारके संज्ञावाचक होते हैं। यहांपर इति शब्दका अर्थ प्रकार है। 'ज्वलितिकसंताण्णः' ज्वलसे लेकर कस पर्यंत धातुओंसे ण प्रत्यय होता है यहांपर इतिशब्दका अर्थ व्यवस्था है क्योंकि इहां इतिशब्दस ज्वल और कस धातुओंके बीचमें गिनी गई बल आदि अनेक धातुओंकी व्यवस्था की गई है। 'गौरित्ययमाह' यह गौ कहता है यहांपर इति शब्दका अर्थ विपर्यास है क्योंकि यहांपर 'जो गौ नहीं है उसे गौ कहता है' इस विपरीत अर्थको इतिशब्दसे सूचित किया है। 'प्रथमाह्निकामिति, द्वितीयाह्निकामिति' प्रथमाह्निक समाप्त हुआ, द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ, यहां पर इति शब्दका अर्थ समाप्ति है। श्रीदत्तमिति, सिद्धसेनमिति, यह श्रीदत्तका कहना है, यह सिद्धसेनका कहना है यहां पर इति शब्दका शब्दोंका उत्पन्न करना वा कहना अर्थ है। इत्यादि अनेक इति शब्दके अर्थ हैं परन्तु सूत्रमें जो इति शब्द है उसका आदि अर्थ विवक्षित है इसलिये उसका आदि अर्थ समझना चाहिये। अर्थात् मति स्मृति संज्ञा चिंता और अभिनि-बोध आदि सबका एक ही अर्थ है भिन्न नहीं। यहांपर जो इतिशब्दका आदि अर्थ किया गया है उससे प्रतिभा बुद्धि उपलब्धि आदिका ग्रहण है। वे भी अनर्थांतर ही हैं। अथवा इतिशब्दका यहां प्रकार अर्थ है अर्थात् मति आदिकी तरहके शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं। मति आदिको एक ही अर्थका बोधक-पना इसप्रकार है—

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमानिमित्तार्थोपलब्धिविषयत्वादनर्थांतरत्वं रूढिवशात् ॥ २ ॥

मति आदिसे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है उसमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम समानरूपसे कारण पडता

है किंतु यह बात नहीं कि मतिमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम कारण हो और स्मृति आदिमें अन्य किसी कर्मका क्षयोपशम कारण हो अतः मति आदि शब्द एकही अर्थके कहनेवाले हैं यदि यह कहा जाय कि 'मननं मतिः' जिससमय यह भावसाधन व्युत्पत्ति की जायगी उससमय मतिका अर्थ मानना होगा और जिस समय 'मन्यते इति मतिः' यह कर्मसाधन व्युत्पत्ति की जायगी उससमय जिसके द्वारा माना जाय वह मति है यह अर्थ होगा इसीतरह स्मृति शब्दकी भावसाधन व्युत्पत्ति करने पर 'याद करना' यह उसका अर्थ होगा और कर्मसाधन माननेपर जिसके द्वारा याद किया जाय यह अर्थ होगा, इत्यादि रूपसे जब मति आदिका अर्थ भिन्न भिन्न है तब मति आदि एकार्थवाचक नहीं माने जा सकते ? सो ठीक नहीं। 'गच्छतीति गौः' जो गमन करे वह गाय है, इस व्युत्पत्तिसे गौ शब्दका, गमन करना अर्थ सिद्ध होता है तो भी व्युत्पत्ति बलसे होनेवाले गमन अर्थको छोडकर रूढिबलसे उसका गाय अर्थ लिया जाता है उसीप्रकार मति स्मृति आदि शब्दोंका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ जुदा जुदा है तो भी रूढिसे वे एक ही अर्थके वाचक हैं—मतिज्ञानके ही पर्यायांतर हैं भिन्न नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

शब्दभेदादर्थभेदो गवाश्वादिवदिति चेन्नातः संशयात् ॥ ३ ॥ इंद्रादिवत् ॥ ४ ॥

जिसप्रकार गाय घोडा आदि शब्द भिन्न भिन्न हैं इसलिये उनका अर्थ भी भिन्न भिन्न है एक अर्थ नहीं माना जाता उसी प्रकार मति स्मृति आदि शब्द भी आपसमें भिन्न भिन्न हैं उनका भी एक अर्थ नहीं मानना चाहिये किंतु गाय घोडा आदि शब्दोंके समान भिन्न भिन्न अर्थ ही मानना उचित है इसतरह मति आदि शब्दोंके भेदसे जब उनका भिन्न भिन्न ही अर्थ युक्तिसे सिद्ध होता है तब उन्हें

अनर्थांतर मानना अयुक्त है ? सो भी ठीक नहीं क्योंकि शब्दके भेदसे जो मति स्मृति आदिके भेदकी शंका की जाती है उससे तो यह संशय और उठ खडा होता है कि शब्दभेदसे अर्थभेद होता है या नहीं ? क्योंकि इंद्र शक्र पुरंदर आदि शब्दोंके भिन्न भिन्न रहते भी उन सबका अर्थ एकही शचीपति होता है। भिन्न भिन्न नहीं यदि शब्दोंके भेदसे अर्थ भी भिन्न होता तो एक ही शचीपति अर्थके वाचक इंद्र आदि शब्दोंके भेदसे उनका भी अर्थ भेद होना चाहिये था परंतु सो नहीं इसलिये जिसतरह इंद्र आदि शब्दोंके भेद रहनेपर भी उनका अर्थभेद नहीं माना जाता—सबका एक शचीपति ही अर्थ होता है उसीप्रकार मति आदि शब्दोंके भिन्न रहते भी उनके अर्थमें भेद नहीं—सब मतिज्ञानके ही पर्यायांतर हैं। यहां पर यह बात और भी समझ लेना चाहिये कि जिससे संशय होता है उससे कभी पदार्थका निश्चय नहीं हो सकता और जिससे पदार्थोंका निश्चय होता है उससे कभी संशय नहीं हो सकता। गाय और घोडा आदि शब्दोंका भिन्न भिन्न अर्थ रहनेसे यह संशय होता है कि शब्दके भेदसे अर्थका भेद होता है या नहीं ? इसलिये शब्दोंके भेदसे अर्थका भेद ही होता है यह बात निश्चितरूपसे नहीं मानी जाती परन्तु एक ही शचीपति अर्थके बोधक अनेक इंद्र आदि शब्दोंके रहते यह निश्चय हो जाता है कि शब्दोंका भेद रहते भी एक भी अर्थ होता है इस रीतिसे, इस दृष्टांतसे यह बात निश्चित हो जाती है कि 'अनेक शब्द भी एक अर्थके बोधक होते हैं' तब मति आदि शब्दोंका एक ही अर्थ है—वे मतिज्ञानके पर्यायांतर ही हैं, इस बातके माननेमें कोई भी विवाद नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

शब्दभेदेप्यर्थैकत्वप्रसंगात् ॥ ५ ॥

जिस वादीका यह सिद्धांत है कि जहां पर शब्दभेद है वहां पर नियमसे अर्थभेद है—शब्दभेद

अर्थभेदमें कारण है उसके मतमें यह नियम भी माना जा सकेगा कि जहां पर शब्द तो एक है और अर्थ अनेक हैं वहां पर शब्दाभेद—एक ही शब्दके रहनेसे वे सब अर्थ भी एक ही हैं इसरीतिसे एक ही गो शब्दके वाणी पृथ्वी गाय आदि नौ अर्थ हैं उन सबको एक ही मानना पडेगा परंतु गोशब्दके वे सब अर्थ भिन्न भिन्न हैं इसलिये उन्हें एक नहीं माना गया—नौ ही अर्थ माने गये हैं इसलिये जिसतरह शब्दके अभेद रहनेपर अर्थोंका अभेद नहीं माना जाता उसीतरह शब्दोंके भेद रहते अर्थका भी भेद नहीं माना जा सकता। तथा—

आदेशवचनात् ॥ ६ ॥

वास्तवमें मति आदिका आपसमें कथंचिद्भेदाभेद है क्योंकि जिसतरह इंद्र—आदि अनेक शब्द एक ही शचीपति अर्थके बोधक हैं इसलिये एक द्रव्य पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वे सब एक हैं किंतु जिससमय प्रतिनियत पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है उससमय ऐश्वर्यका भोक्ता होनेसे इंद्र, समर्थ होनेसे शक्र और पुरोंका विदारण करनेसे पुरंदर इसप्रकार ये भिन्न भिन्न पर्याय शब्द हैं इसलिये प्रतिनियत पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इंद्र आदि अनेक भी हैं। उसीतरह मति आदिमें जिससमय एक द्रव्यपर्याय नयकी विवक्षा की जायगी उससमय मति स्मृति आदि एक ही मतिज्ञानरूप अर्थके बोधक हैं इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा एक हैं और जिससमय प्रतिनियत पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जायगी उससमय मानना मति, याद करना स्मृति, पूर्व और उत्तर अवस्थाका एकरूप ज्ञान संज्ञा, व्याप्ति ज्ञान होना चिंता और स्वयं हेतुसे साध्यका जान लेना आभिनिबोध इसप्रकार मति आदिका भेद भी है इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा मति आदिक आपसमें भिन्न भिन्न अनेक भी हैं। अतः मति

आदि अनर्थांतर नहीं किंतु भिन्न भिन्न ज्ञान हैं यह एकांतरूपसे नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

पर्यायशब्दो लक्षणं नेति चेन्न ततोऽनन्यत्वात् ॥ ७ ॥ औष्ण्याग्निवत् ॥ ८ ॥

मति आदिको मतिज्ञानका पर्याय बतलाया है और उन्हें मतिज्ञानका लक्षणस्वरूप माना है परंतु वह बात ठीक नहीं जिसतरह मनुष्यकी मानव मर्त्य नर आदि अनेक पर्यायें हैं परंतु वे लक्षण नहीं हो सकते उसीतरह मति आदि भी मतिज्ञानके पर्यायांतर हैं इसलिये ये भी मतिज्ञानके लक्षण नहीं कहे जा सकते ? सो नहीं। जिसतरह उष्णता अग्निकी पर्याय है और पर्यायी–अग्निसे अभिन्न है इसलिये अग्निका लक्षण कही जाती है उसीतरह मतिज्ञानके पर्याय जो मति आदिक हैं वे भी अपने पर्यायी मतिज्ञानसे अभिन्न हैं इसलिये उन्हें मतिज्ञानका लक्षण मानना अयुक्त नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे जो पर्याय अपने पर्यायी पदार्थोंसे अभिन्न हैं उन्हें लक्षण माननेमें किसीप्रकारकी आपत्ति नहीं।

अथवा इस रूपसे भी पर्यायी पदार्थोंसे अभिन्न पर्याय लक्षण कहे जाते हैं। जिसतरह–मनुष्य मर्त्य मनुज मानव आदि पर्याय मनुष्यके सिवाय घट आदि द्रव्यकी न होनेसे असाधारण और मनुष्यसे अभिन्न हैं इसलिये वे मनुष्यके लक्षण हैं। यदि मनुष्य आदि पर्यायोंको मनुष्यका लक्षण न माना जायगा तो स्वस्वरूपके अभावमें मनुष्यका अभाव ही हो जायगा। क्योंकि मनुष्य मर्त्य आदि पर्यायस्वरूप लक्षणके सिवाय मनुष्यका अन्य कोई लक्षण नहीं। मनुष्य पदार्थका अभाव तो इष्ट है नहीं इसलिये मनुष्य आदि पर्यायोंको मनुष्यका लक्षण मानना ही पडेगा उसीतरह मति स्मृति आदि पर्याय मतिज्ञानके सिवाय अन्य ज्ञानकी न होनेके कारण असाधारण और मतिज्ञानसे अभिन्न हैं इसलिये वे मति-

ज्ञानके लक्षण हैं "यदि मति आदिको मतिज्ञानका लक्षण न माना जायगा तो मतिज्ञानका अभाव ही हो जायगा क्योंकि मति आदि पर्यायस्वरूप लक्षणके सिवाय मतिज्ञानका अन्य कोई लक्षण नहीं" इसलिये मति आदि पर्यायोंको मतिज्ञानका लक्षण मानना ही पडेगा इसरीतिसे पर्याय शब्दको लक्षण मानना युक्तिसंगत है। तथा इसरूपसे पर्याय शब्द लक्षण है–

गत्वा प्रत्यागतलक्षणग्रहणात् ॥ ९ ॥ अग्न्युष्णवत् ॥ १० ॥

जहांपर जाकर फिर लौटनारूप कार्य जान पडे वह भी लक्षण कहा जाता है यथा—यह पदार्थ अग्नि है ऐसा जानकर चित्तमें यह प्रश्न उठता है कि यह कौन अग्नि है ? फिर वहीं समाधान होजाता है जो उष्ण है वह यह अग्नि है इसलिए यहांपर अग्नि ऐसा जानकर बुद्धि उष्ण पर्यायकी ओर झुकती है तथा उष्ण ऐसा जानकर यह प्रश्न होता है कि यह कौन उष्ण है ? फिर वहीं समाधान होजाता है कि जो अग्नि है वह उष्ण है इसलिए यहांपर 'उष्ण' ऐसा जानकर बुद्धि पीछे लौटकर फिर अग्निकी ओर झुकती है इसरीतिसे यहांपर जाकर फिर लौटनारूप कार्यके ग्रहण होनेसे जिसप्रकार उष्ण पर्याय अग्नि का लक्षण माना जाता है उसीप्रकार 'यह मति है' ऐसा जाननेके बाद यह प्रश्न उठता है कि यह कौन मति है फिर वहीं समाधान होजाता है कि 'जो स्मृति है वह यह मति है' इसलिए यहांपर 'मति' ऐसा जानकर बुद्धि स्मृति रूप पर्यायकी ओर झुकती है तथा यह स्मृति है ऐसा जानकर यह प्रश्न होता है कि यह कौन स्मृति है ? फिर उसीसमय समाधान होजाता है कि जो मति है वह स्मृति है इसलिए यहांपर स्मृति ऐसा जानकर बुद्धि फिर पीछे लौटकर स्मृतिकी ओर झुकती है इसलिए यहांपर जाकर फिर लौटनारूप कार्यके ग्रहण होनेसे मति आदि भी मतिज्ञानके लक्षण होसकते हैं इसरीतिसे जहांपर जाकर

फिर लौटनारूप कार्यका ग्रहण होता है वहांपर पर्यायशब्द लक्षण माना जाता है यह बात निश्चित है तब जाकर लौटनारूप कार्यका ग्रहण उष्णके समान मति आदिकमें भी होता है इसलिए उष्णपर्याय जिसतरह अग्निका लक्षण है उसतरह मति आदि पर्याय भी बिना किसी बाधाके मतिज्ञानके लक्षण हैं। वास्तवमें 'जाकर लौटना रूप कार्य' गुण गुणी और पर्याय पर्यायीमें ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। गुण और पर्याय पदार्थके लक्षण माने गए हैं इसलिए मति आदि पर्यायोंको मतिज्ञानका लक्षण मानना कभी आपत्तिजनक नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

पर्यायद्वैविध्यादग्निवत् ॥ ११ ॥

प्रत्येक पदार्थके दो प्रकारके पर्याय माने गए हैं एक आत्मभूत जो उस पदार्थसे कभी जुदे नहीं हो सकते तत्स्वरूपही रहते हैं दूसरे अनात्मभूत जो बाह्यनिमित्तसे उत्पन्न होते हैं और उस बाह्य निमित्तकी जुदाई हो जानेपर पदार्थसे जुदे होजाते हैं उनमें जो आत्मभुत पर्याय हैं वेही लक्षण होते हैं अनात्मभूत नहीं आग्नि पदार्थ मेंभी आत्मभूत और अनात्मभूत दोनों प्रकारके पर्याय मौजूद हैं उनमें आत्मभूतपर्याय आग्निका उष्णपना है क्योंकि किसी भी हालतमें वह अग्निसे जुदा नहीं होसकता इसलिए वही लक्षण है। तथा अनात्मभूत लक्षण अग्निका धूआं है क्योंकि वह अपनी उत्पत्तिमें ईंधन आदि बाह्य कारणोंकी अपेक्षा रखता है। वे कारण रहते हैं तबतक उसका अग्निके साथ संबंध रहता है और कारणोंकी जुदाई हो जानेपर अग्निसे जुदा होजाता है इसलिए सदा अग्निमें न रहनेसे धूम पर्याय अग्निका लक्षण नहीं कहा जासकता। इसरीतिसे जिसतरह आत्मभूत होनेसे उष्ण पर्याय अग्निका लक्षण कहाजाता है धूम पर्याय नहीं क्योंकि वह सदा अग्निमें न रहनेकेकारण अनात्मभूत है उसीतरह मतिज्ञानके भी आत्मभूत और अ-

नात्मभूत दोनों प्रकारके पर्याय हैं उनमें अंतरंग ज्ञान स्वरूप मति आदि आत्मभूत पर्याय हैं और बाह्य पुद्गलस्वरूप मति आदि शब्द अनात्मभूत पर्याय हैं क्योंकि मति आदि शब्दोंकी उत्पत्ति बाह्य कर्णइंद्रियके प्रयोगके आधीन है। वहांपर आत्मभूत होनेसे ज्ञानस्वरूप मति आदि पर्याय मतिज्ञानके लक्षण हैं, अनात्मभूत मति आदि शब्द सदा मति ज्ञानमें रहते नहीं इसलिए वे लक्षण नहीं कहे जासकते। इस रीतिसे जब ज्ञानस्वरूप अंतरंग मति आदि पर्यायोंको मतिज्ञानका लक्षणपना सिद्ध है तब 'पर्याय लक्षण नहीं होसकते' यह कथन व्यर्थ होजाता है।

इतिकरणस्य वाभिधेयार्थत्वात् ॥ १२॥

पहिले इतिशब्दका अभिप्राय बतला दिया जाचुका है अब अन्य रूपसे उसका यह अभिप्राय बतलाया जाता है अथवा सूत्रमें जो इति शब्द कहा गया है उसका अर्थ 'अर्थ' है और उससे—मति स्मृति संज्ञा चिंता और अभिनिबोधसे जो अर्थ कहाजाय वह मति ज्ञान है यह सूत्रका अर्थ होता है इसरीतिसे जब मति आदिका अर्थही मतिज्ञान ठहरा तब मति आदि मतिज्ञानसे भिन्न नहीं हो सकते इसलिए उन्हें मतिज्ञानका लक्षण मानना निर्विवाद है। यदि यहांपर कदाचित् यह शंका हो कि जिसप्रकार मति स्मृति आदिसे मतिज्ञान कहा जाता है उसप्रकार श्रुतज्ञान आदि भी कहे जा सकेंगे उसका उत्तर वार्तिककार देते हैं—

श्रुतादीनामेतैरनभिधानात् ॥ १३ ॥ वक्ष्यमाणलक्षणसद्भावाच्च ॥ १४ ॥

जिसतरह मति आदिसे मतिज्ञान कहा जाता है उसतरह श्रुतज्ञान आदि नहीं कहे जा सकते क्योंकि श्रुतज्ञान आदिका मतिज्ञानके लक्षणसे भिन्न लक्षण आगे विस्तारसे कहा है इसलिये वे मतिज्ञानस्वरूप नहीं हो सकते ॥ १३ ॥

मति स्मृति आदि लक्षण स्वरूप मतिज्ञान अच्छीतरह निश्चित हो चुका अब उसकी उत्पत्ति किन किन कारणोंसे होती है इस बातको सूचित करनेकेलिए सूत्रकारने 'तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं' इस सूत्रका उल्लेख किया है। अथवा सभी ज्ञान आत्माकी पर्याय हैं—आत्मस्वरूप हैं इसलिये आत्मस्वरूपकी अविशेषतासे वे सब एक न कहाये जावें किंतु निमित्तके भेदसे जुदे जुदे ही माने जावें इस बातको हृदयमें रख सब ज्ञानोंसे मतिज्ञानको भिन्न सिद्ध करनेकेलिए सूत्रकारने 'तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं' इस सूत्रसे मतिज्ञानके निमित्त—कारण बतलाये हैं—

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं ॥ १४ ॥

जिस मतिज्ञानका ऊपर वर्णन कर आए हैं उस मतिज्ञानकी उत्पत्ति पांच इंद्रिय और मनसे होती है। वार्तिककार इंद्रिय शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

इंद्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिंगमिंद्रियं ॥ १ ॥

इंद्रका अर्थ आत्मा है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे मलिन रहनेके कारण आत्मा जब स्वयं पदार्थोंको नहीं जान सकता उससमय उसे पदार्थोंके जनावनेमें जो कारण है वह इंद्रिय पदार्थ कहा जाता है क्योंकि ज्ञानावरण आदि कर्मोंके तीव्र क्षयोपशम और क्षय रहनेके कारण प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें इंद्रियोंकी आवश्यकता नहीं पडती वहांपर स्वयं आत्मा पदार्थोंको जानने लग जाता है परन्तु परोक्ष ज्ञान, इंद्रियों की सहायताके विना नहीं हो सकता—उस अवस्थामें इंद्रियोंकी सहायतासे ही आत्मा पदार्थोंको जान सकता है इसलिये कर्मोंसे मलिन आत्माको पदार्थोंके जनावनेमें जो पदार्थ कारण है उसे इंद्रिय माना है। अब अनिंद्रिय शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

आनिंद्रियं मनोऽनुदरावत् ॥ २ ॥

मन जिसको कि अंतःकरण भी कहा जाता है वह अनिंद्रिय पदार्थ है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'जो इंद्रिय न हो वह अनिंद्रिय है' यह अनिंद्रिय शब्दका अर्थ है इसलिये जिसतरह 'अब्राह्मण-मानय' इत्यादि स्थलोंमें ब्राह्मण जातिसे भिन्न जातिवाले मनुष्यका बोध होता है और वहां ब्राह्मणको न बुला वैश्य आदिको बुला दिया जाता है उसी तरह अनिंद्रिय ऐसा कहनेपर इंद्रियसे भिन्न घट पट आदिका ही बोध हो सकता है आत्माके लिंगस्वरूप मनका बोध नहीं हो सकता इसलिये अनिंद्रिय का अर्थ मन नहीं लिया जा सकता? सो ठीक नहीं। जिसतरह 'अनुदरा कन्या' यहांपर जिसके पेट नहीं है वह यह कन्या है यह अर्थ नहीं लिया जाता क्योंकि सर्वथा पेटरहित कन्याका होना ही संसार में असंभव है किंतु इस कन्याका पेट बहुत ही सूक्ष्म है इसलिये यह गर्भका भार नहीं वहन कर सकती यह उस 'अनुदरा' शब्दका अर्थ लिया जाता है उसी तरह—जो सर्वथा इंद्रिय नहीं है वह अनिंद्रिय है यह अनिंद्रिय शब्दका अर्थ नहीं किंतु जिस प्रकार नेत्र आदि इंद्रियोंका रहनेका स्थान और पदार्थोंके जाननेकी अवधि निश्चित है उस प्रकार मनका रहनेका स्थान विषयोंके जाननेकी अवधि निश्चित नहीं किंतु वह अपने रहनेका स्थान और पदार्थोंके जाननेकी अवधिसे रहित होकर ही आत्माको पदार्थोंके ज्ञान करानेमें लिंग है इसलिये 'जो ईषत् इंद्रिय हो वह अनिंद्रिय—मन है' यह अनिंद्रिय शब्दका अर्थ है। ऊपरका दृष्टांत जो शंकाकारकी ओरसे दिया गया है वह भी सिद्धांतानुकूल ही घटित होता है जैसे अब्राह्मण कहनेसे ब्राह्मण भिन्न ब्राह्मण सदृश वैश्य क्षत्रिय वर्णवाले मनुष्यका ही ग्रहण किया जाता है न कि ब्राह्मण भिन्न घट पट आदि जड द्रव्योंका। उसीप्रकार इंद्रिय भिन्न कहनेसे इंद्रिय भिन्न इंद्रिय तुल्य—मनका ही ग्रहण किया जाता है न कि इंद्रियभिन्न किसी अनुपयोगी पदार्थका। तथा—

अंतरंगं तत्करणमिंद्रियानपेक्षत्वात् ॥ ३ ॥

जिसको अपने कार्यके करनेमें इंद्रियोंकी अपेक्षा न हो वह इंद्रियानपेक्ष कहा जाता है। मन जिस समय गुण और दोषोंका विचार करनारूप अपने विषयमें प्रवृत्त होता है उस समय उसे किसी भी इंद्रिय की अपेक्षा नहीं करनी पडती इसलिये वह अंतरंग इंद्रिय है। इस रीतिसे जो ज्ञान पांच इंद्रिय और मनके अवलंबनसे हो वह मतिज्ञान है इसप्रकार मतिज्ञानके कारणोंका निर्दोषरूपसे निश्चय हो चुका। शंका—

तदित्यग्रहणमनंतरत्वादिति चेन्नोत्तरार्थत्वात् ॥ ४ ॥

इस सूत्रसे पहिले सूत्रमें मतिज्ञानका ही वर्णन किया गया है इसलिये अत्यंत अव्यवहित होनेसे 'तदिंद्रियानिंद्रियानिमित्तं' इस सूत्रमें मतिज्ञानकी ही अनुवृत्ति आवेगी और उसीके इंद्रिय और अनिंद्रिय कारण माने जांयगे, अन्य किसी पदार्थके नहीं माने जा सकते फिर मतिज्ञानके ग्रहण करनेके लिये जो सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। आगेके सूत्रोंमें भी मतिज्ञानका संबंध है इसलिये उनके अर्थको सुगमतासे खुलासा करनेके लिये सूत्रमें 'तत्' शब्दका उल्लेख किया गया है यदि इस सूत्रमें तत् शब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो 'अवग्रहेहावायधारणाः' इस आगेके सूत्रका अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये भेद मतिज्ञानके हैं यह अर्थ नहीं जाना जा सकता किंतु इंद्रिय और अनिंद्रियके भेद हैं यह भी शंका हो जाती परन्तु 'तत्' शब्दके ग्रहण करनेसे अवग्रह आदि मतिज्ञानके भेद हैं यह सुगमरूपसे अर्थ हो जाता है इसलिये तत् शब्दका उल्लेख व्यर्थ नहीं ॥ १४॥

इंद्रिय और अनिंद्रियरूप मतिज्ञानके कारणोंका वर्णन हो चुका और उससे उसका स्वरूप भी

प्रगट हो चुका परन्तु उसके कितने भेद हैं? अभी तक यह वात नहीं कही गई इसलिये सूत्रकार अब मति-ज्ञानके भेदोंका वर्णन करते हैं—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ये चार भेद मतिज्ञानके हैं।

विषयविषयीसन्निपातसमनंतरमाद्यग्रहणमवग्रहः ॥ १ ॥

जिस पदार्थको जाना जाता है वह विषय है और जिसके द्वारा जाना जाता है वह विषयी कहा जाता है। इंद्रियोंके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं इसलिये यहां विषयी शब्दसे इंद्रियोंका ग्रहण है और विषयका अर्थ घट पट आदि हैं। जिस समय पदार्थ और इंद्रियोंका आपसमें संबंध होता है उस समय पदार्थका दर्शन होता है और उसके बाद जो पदार्थका ग्रहण होता है वह ज्ञान कहा जाता है उस ज्ञान का नाम अवग्रह है। अर्थात् विशेषज्ञानशून्य जो पदार्थोंका इंद्रियों द्वारा सामान्य अवलोकन होता है उसे सत्ता कहते हैं। जिस समय इंद्रियां पदार्थज्ञानकी ओर झुकती हैं उस समय पदार्थोंके ज्ञानमें कारण-भूत योग्य संबंधके होनेपर ज्ञानमें 'कुछ है' ऐसा सामान्य बोध होता है वह दर्शन कहा जाता है। उसके बाद यह पदार्थ 'पुरुष है' इसप्रकार अवांतर जातिविशिष्ट[1] वस्तुका ग्रहण होता है वह ज्ञान कहा जाता है उसी ज्ञानका नाम अवग्रह है।

अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा ॥ २ ॥

जिस पदार्थको अवग्रह ज्ञानने विषय कर लिया है उस पदार्थके भाषा उम्र और रूप आदिके द्वारा

१ जातिसे प्रयोजन धर्मका है, वस्तुके धर्मको छोडकर जो कि वस्तुस्वरूप ही है और कोई स्वतंत्र जाति या सत्ता पदार्थ नहीं है।

विशेष रूपसे जाननेकी आंकांक्षा होना ईहा ज्ञान है। अर्थात् 'यह पुरुष है' यह अवग्रह ज्ञानका विषय है उसकी बोल चाल उम्र और रूप आदि देखकर यह दक्षिणी है वा उत्तरी है इस संशयके बाद दक्षिणी होना चाहिये ऐसा जो एक ओर झुकता हुआ ज्ञान होता है वह ईहा ज्ञान कहा जाता है।

विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः ॥ ३ ॥

बोल चाल, उम्र आदि विशेषोंको जानकर उसका यथार्थ जानना अवायज्ञान है जिसतरह इस पुरुषकी भाषा दक्षिणी है इसलिये यह दक्षिणी है, युवा और गोरवर्णका है।

निर्ज्ञातार्थाऽविस्मृतिर्धारणा ॥ ४ ॥

बोल चाल, उम्र, रूप आदि विशेषों द्वारा जिस पुरुषका यथार्थरूपसे निश्चय हो चुका है कालांतर में उसे भूल जाना नहीं किंतु 'यह वही है' ऐसे स्मरणका बना रहना जिस ज्ञानके द्वारा हो वह धारणा ज्ञान है इसप्रकार ये अवग्रह आदि चारों भेद मतिज्ञानके हैं। अवग्रहके बाद ईहा, ईहाके बाद अवाय यह जो क्रमसे अवग्रह आदिका सूत्रमें उल्लेख किया गया है वह क्यों और कैसे है? यह बात वार्तिककार कहते हैं—

अवगृहादीनामानुपूर्व्यमुत्पत्तिक्रियानपेक्षं ॥ ५ ॥

ईहादिक ज्ञान विना अवग्रहके नहीं हो सकते किंतु अवग्रहपूर्वक ही होते हैं इसलिये अवग्रह आदि चारों भेदोंमें सबसे पहिले अवग्रहका उल्लेख है। अवाय और धारणा ईहापूर्वक होते हैं इसलिये अवग्रहके बाद ईहाका कथन है। धारणा ज्ञान अवायपूर्वक होता है इसलिये ईहाके बाद अवायका

कथन है। धारणा ज्ञान सबके अंतमें होता है इसलिये सबके अंतमें धारणा ज्ञान रक्खा गया है इसप्रकार उत्पत्तिके क्रमकी अपेक्षा अवग्रह आदिका क्रमसे उल्लेख है। शंका—

अवगृहेहयोरप्रामाण्यं तत्सद्भावेऽपि संशयदर्शनाच्चक्षुर्वत् ॥ ६ ॥

अवगृहवचनादिति चेन्न संशयानतिवृत्तेरालोचनवत् ॥ ७ ॥

जिसतरह नेत्रके रहते भी यह स्थाणु है कि पुरुष है? इसप्रकारका संशय दीख पडता है किंतु यह पुरुष ही है वा स्थाणु ही है इसप्रकारका निर्णय नहीं होता उसीतरह अवग्रहके रहते भी यह पुरुष दक्षिणी है वा उत्तरी है? इसप्रकारका संशय रहता है किंतु यह दक्षिणी ही है वा उत्तरी ही है इसप्रकारका निर्णय नहीं होता इसीलिये निर्णयके न होनेसे ईहा ज्ञानका अवलंबन किया जाता है तथा इसीतरह ईहाके रहते भी निर्णय नहीं होता कि—यह दक्षिणी ही है वा उत्तरी ही है क्योंकि निर्णयकेलिये ईहा ज्ञानका अवलंबन किया जाता है, स्वयं ईहा निर्णयस्वरूप नहीं तथा जो ज्ञान निर्णयस्वरूप नहीं होता वह संशयकी जातिका समझा जाता है इसीलिये जिसतरह संशय ज्ञानको अप्रमाण माना है उसीतरह अवग्रह और ईहाज्ञान भी अप्रमाण है।

यदि यहांपर यह कहा जाय कि अवग्रहका कथन सम्यग्ज्ञानके भेदोंमें है और जितना अवग्रहका विषय माना गया है उतने विषयका इससे यथार्थ ज्ञान होता है इसलिये अवग्रह संशय नहीं कहा जा सकता तथा 'यह पुरुष है' यह जो अवग्रहका विषय माना है उसके बोल चाल वय और रूप आदिके द्वारा विशेष रूपसे जाननेकी इच्छाका होना ईहा कहा गया है यहांपर भी ईहाका जो विषय माना गया है उतने विषयका यथार्थ ज्ञान है इसलिये यह भी संशय नहीं हो सकता क्योंकि संशयमें यथार्थ ज्ञान-

पना थोडा भी नहीं इसलिये अवग्रह और ईहा ज्ञान संशयकी जातिके नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक नहीं। अवग्रहको तो संशयका जातीय मानना ही पडेगा क्योंकि संशयज्ञानमें दूरसे किसी पुरुषाकार ऊंचे उठे पदार्थके देखनेसे यह ऊंचा पदार्थ स्थाणु है या पुरुष है ? इसप्रकारका संशय होता ही है रुकता नहीं। उसीप्रकार 'यह पदार्थ ऊंचा है' इस प्रकारके अवग्रह ज्ञानके बाद भी यह पुरुषाकार ऊंचा पदार्थ 'स्थाणु है या पुरुष है' यह संशय भी होता ही है अतः अवग्रहज्ञान संशयज्ञान है इसीलिये तो अवग्रहके बाद ईहा ज्ञानकी अपेक्षा करनी पडती है इस रीतिसे जब संशयज्ञानके समान अवग्रह ज्ञान भी संशयमें कारण है तब अवग्रहज्ञानको सम्यग्ज्ञानका भेद नहीं माना जा सकता ? सो नहीं। क्योंकि—

लक्षणभेदादन्यत्वमग्निजलवत् ॥ ८ ॥ अनेकार्थानिश्चितापर्युदासात्मकसंशयस्तद्विपरीतोऽवग्रहः ॥ ९ ॥

अग्निका जलाना, प्रकाश करना आदि लक्षण है और जलका बहना चिकनापन आदि लक्षण है इसलिये अपने अपने लक्षणोंके भेदसे जिसतरह अग्नि और जल पदार्थ आपसमें जुदे हैं उसी प्रकार अवग्रह और संशयका भी लक्षणोंके भेदसे आपसमें भेद है क्योंकि—संशयज्ञान स्थाणु पुरुष आदि अनेक पदार्थोंके सहारेसे होता है इसलिये अनेक पदार्थात्मक है और अवग्रह पुरुष आदि एक ही पदार्थके अवलंबनसे होता है इसलिये एकपदार्थात्मक है। संशयज्ञानसे स्थाणुके धर्म और पुरुषके धर्मोंका निश्चय नहीं होता इसलिये वह स्थाणु और पुरुषके अनेक धर्मोंका अनिश्चयस्वरूप है और अवग्रहसे पुरुष आदि किसी एक धर्मका निश्चय होता है इसलिये वह एक धर्मका निश्चायक है। एवं संशयज्ञानसे न तो स्थाणुमें रहनेवाले धर्मोंका निषेध होता है और न पुरुषमें रहनेवाले धर्मोंका निषेध होता है इसलिये वह स्थाणु और पुरुषके अनेक धर्मोंका अनिषेधक है और अवग्रह अन्य पर्यायोंका निषेधकर एकमात्र पुरुष

पर्यायका अवलंबन करता है इसलिये वह अन्य धर्मोंका निषेधक है इस रीतिसे जब अवग्रहज्ञान और संशयज्ञानमें लक्षणोंके भेदसे जमीन आकाशका भेद है तब कभी अवग्रहज्ञान संशयज्ञान नहीं कहा जा सकता । शंका—

संशयतुल्यत्वमपर्युदासादिति चेन्न निर्णयविरोधात्संशयस्य ॥ १० ॥

जिसतरह संशयसे स्थाणु और पुरुषके विशेषोंका निषेध नहीं होता इसलिये वह स्थाणु और पुरुषके विशेषोंका अनिषेधक है उसीतरह अवग्रहसे भी पुरुषके बोल चाल उम्र और रूप आदि का निषेध नहीं होता इसलिये वह भी भाषा आदिका आनिषेधक है इसीलिये वह उत्तरकालमें बोलचाल आदि विशेषों के निश्चय करनेकेलिये ईहा ज्ञानका अवलंबन करता है इसरीतिसे संशयज्ञान और अवग्रहज्ञान जब दोनोंका विषय एक है तो अवग्रहज्ञानको संशयज्ञान मानना अयुक्त नहीं ? सो ठीक नहीं । संशयके रहते निर्णय नहीं होता अवग्रहके रहते निर्णय होता है इसलिये संशय तो निर्णय का विरोधी है और अवग्रह निर्णयका विरोधी नहीं किंतु निर्णय करानेवाला है अर्थात् संशयज्ञानमें तो स्थाणु और पुरुष दोनोंमें किसीका निश्चय नहीं होता और अवग्रहज्ञानमें 'यह पुरुष है' ऐसा निश्चय रहता है इसलिये अवग्रह ज्ञानको संशयज्ञान नहीं माना जा सकता । यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

ईहायां तत्प्रसंग इति चेन्न अर्थादानात् ॥ ११ ॥

अवग्रहज्ञानमें 'यह पुरुष है' ऐसा निश्चय होता है इसलिए निर्णयका विरोधी न होनेसे अवग्रह ज्ञान तो संशयज्ञान नहीं कहा जासकता परंतु ईहाज्ञान तो निर्णयका विरोधी है क्योंकि 'यह दक्षिणी होना चाहिए' ऐसे एक ओर लटकते हुए ज्ञानमें दक्षिणी व उत्तरीका कुछ भी निश्चय नहीं होता इसलिये

ईहाज्ञानमें निर्णय न होनेके कारण उसे संशय ज्ञान मानना ही पडेगा ? सो ठीक नहीं। जिस पदार्थको अवग्रहज्ञानने विषय किया है उसी पदार्थके कुछ विशेष निश्चयकेलिए ईहाज्ञानका आलंबन किया जाता है इसलिए जब ईहाज्ञानमें अवग्रहके विषयभूत पदार्थसे विशेष पदार्थका आलंबन है और संशयमें किसी पदार्थ विशेषका आलंबन माना नहीं गया तथा ईहाज्ञानमें जिस पदार्थ विशेषका आलंबन है उसका उससे निश्चय होता है और संशयज्ञानसे किसी पदार्थका निश्चय होता नहीं तब ईहाज्ञानको कभी संशयज्ञान नहीं ठहराया जासकता। और भी यह बात है कि—

संशयपूर्वकत्वाच्च ॥ १२ ॥

'यह पुरुष है' इस अवग्रहज्ञानके बाद पहिले 'यह पुरुष दक्षिणी है वा उत्तरी है' यह संशय होता है और वहांपर किसी भी पदार्थका निश्चय नहीं होता इसलिए वह संशयज्ञान कहाजाता है किंतु उसके बाद विशेष जाननेकी अभिलाषासे ईहाज्ञानका आश्रय किया जाता है इसरीतिसे पहिले संशयज्ञान और पीछे ईहा इसरूपसे ईहा और संशयज्ञानका जब कालभेद है तब संशयसे भिन्न ही ईहाज्ञान है-दोनों एक नहीं। अर्थात् संशयज्ञानके दूर करनेके लिए ही ईहाज्ञान होता है इसलिए वह संशयका निवारक है न कि संशयरूप। तथा—

अतएव संशयावचनमर्थग्रहीते: ॥ १३ ॥

अवग्रह ईहा आदि ज्ञानोंमें पदार्थका आलंबन है। संशयज्ञानमें किसी पदार्थका अवलंबन नहीं इसलिए यद्यपि अवग्रहके बाद संशयज्ञान और उसके बाद ईहा आदि ज्ञान इसरूपसे ज्ञानोंके होनेका क्रम है तो भी पदार्थ विशेषका आलंबन न रहनेके कारण 'अवग्रहेहावायधारणाः' इस सूत्रमें अवग्रहके

बाद संशयका उल्लेख नहीं किया है इसरीतिसे जब संशयज्ञानमें किसी पदार्थका आलंबन है नहीं और ईहाज्ञानमें पदार्थका आलंबन है इसलिए संशयज्ञानमें ईहाका होना बाधित है तब ईहाज्ञान कभी संशयज्ञान नहीं कहा जा सकता।

अपाय और अवाय दोनों प्रकारके पाठोंके माननेमें कोई दोष नहीं क्योंकि 'यह पुरुष दाक्षिणी नहीं है' जिससमय ऐसा अपाय निषेध किया जाता है उससमय 'उत्तरी है' इस अर्थसे अवायज्ञानसे ग्रहण होता है और जिस समय 'यह उत्तरी है' इसरूपसे पदार्थका ग्रहण होता है उस समय 'यह दाक्षिणी नहीं है' इस पदार्थका निषेध हो जाता है इसलिए अवाय और अपाय यह दोनों प्रकारका पाठ इष्ट है। शंका—

'दर्शनकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण'—पदार्थ और इंद्रियोंके संबंधसे दर्शन होता है और उस के बाद अवग्रह ज्ञान होता है यह बात जैनसिद्धांतमें मानी है परंतु यह कहना अयुक्त है। अवग्रह ज्ञानसे भिन्न दर्शन पदार्थ है ही नहीं? सो ठीक नहीं। बालक जिससमय जन्म लेता है उससमय वह घट पट आदि भिन्न भिन्न द्रव्योंको देखता है परंतु उनकी विशेषता नहीं जानता इसलिए उसका देखना जिसतरह दर्शन माना जाता है उसीतरह चक्षुर्दर्शनावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे एवं अंगो-पांग नामक नामकर्मके बलसे जिससमय आत्मामें कुछ विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होजाती है उससमय 'यह कुछ है' इसरूपसे उसमें निराकार वस्तुकी झलक उदित होती है उसीका नाम दर्शन है और केवल-ज्ञानियोंके सिवा हरएक संसारी जीवके ज्ञानसे पहिले यह दर्शन होता है। इस दर्शनके बाद दो तीन आदि समयमें होनेवाला नेत्रजन्य अवग्रह मतिज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे एवं

१ इनका स्वरूप आगे लिखा जायगा।

अंगोपांग नामक नाम कर्मके बलसे 'यह रूप है' 'वा पुरुष है' इसप्रकारकी ज्ञानमें जो विशेषताका प्रगट हो जाना है वह अवग्रह है इसरीतिसे काल और कारणोंके भेदसे जब दर्शन और अवग्रहमें भेद है तब वे दोनों कभी एक नहीं हो सकते। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जन्मते बालकका जो पदार्थोंको देखना है जिसको कि दर्शन माना है वह तो अवग्रह ज्ञानकी जातिका है इसलिए वह ज्ञान ही होगा दर्शन नहीं कहा जा सकता? तो वहां पर यह प्रश्न उठता है कि जिस दर्शनको अवग्रहका सजातीय होनेसे तुम ज्ञान कहना इष्ट समझते हो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है या सम्यग्ज्ञान? यदि उसे मिथ्याज्ञान माना जायगा तब भी वहां यह कहा जा सकता है वह संशय नामका मिथ्याज्ञान है वा विपर्यय और अनध्यवसाय नामका है? संशय और विपर्यय नामका तो मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि दर्शनको सम्यग्ज्ञानका कारण माना है। सम्यग्ज्ञानका कारण मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता। तथा दर्शनके बाद अवग्रह और उसके बाद संशय विपर्ययका होना माना गया है। दर्शन संशय और विपर्ययसे पहिले होनेवाला है इसलिये वह संशय और विपर्ययस्वरूप नहीं माना जा सकता। यदि उसे अनध्यवसाय नामका मिथ्याज्ञान माना जायगा तो भी बाधित है क्योंकि जात्यंध पुरुषको सामने रक्खे हुए पदार्थका यद्यपि रूप नहीं जान पडता तो भी 'कुछ है' ऐसी उसे प्रतीति रहती है। बहिरा कुछ सुन नहीं सकता तब भी 'कुछ कह रहा है' ऐसी उसे प्रतीति रहती है इसीप्रकार दर्शनमें 'कुछ है' ऐसी वस्तुसामान्यकी प्रतीति रहती है परंतु अनध्यवसाय ज्ञानमें किसीप्रकारकी प्रतीति नहीं रहती इसलिये दर्शन कभी अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता। यदि कदाचित् अवग्रहसे पहिले होनेवाले दर्शनको

१ दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं० द्रव्यसंग्रह।

सम्यग्ज्ञान कहा जायगा सो भी नहीं क्योंकि सम्यग्ज्ञानमें पदार्थविशेषके आकारका आश्रय रहता है। दर्शनमें किसी भी पदार्थ विशेषका आश्रय नहीं इसलिये दर्शनसे ज्ञान पदार्थ भिन्न है। और भी यह बात है कि—

कारणनानात्वात्कार्यनानात्वसिद्धेः ॥ १४ ॥

विना मिट्टीके घडा तयार नहीं हो सकता इसलिये घटकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण मिट्टी और विना तंतुओंके पट उत्पन्न नहिं हो सकता इसलिये पटकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण तंतु हैं इसरीतिसे अपने अपने कारणोंकी जुदाईसे जिसतरह घट और पट जुदे जुदे हैं उसीतरह दर्शनकी उत्पत्तिमें दर्शनावरण कर्मका क्षयोपशम कारण है और ज्ञानकी उत्पत्तिमें ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम कारण है इसतरह अपने अपने कारणोंकी जुदाई होनेसे दर्शन और ज्ञान भी भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। दोनों कभी एक नहीं हो सकते। दर्शनादिकी उत्पत्तिका क्रम इसप्रकार है—

पहिले ही पहिले 'यह कुछ है' ऐसा दर्शन होता है। उसके वाद 'यह रूप है' इसप्रकारका अवग्रह ज्ञान होता है अवग्रहके पीछे वह रूप सफेद है वा काला? इसप्रकारका संशयज्ञान होता है क्योंकि यहां पर किसी भी पदार्थकी निश्चित प्रतीति नहीं उसके वाद 'यह रूप शुक्ल होना चाहिए' ऐसी शुक्लरूपकी आकांक्षा होनेसे ईहाज्ञान होता है उसके वाद 'यह रूप शुक्ल ही है कृष्ण नहीं' ऐसा निश्चायक ज्ञान अवाय ज्ञान होता है। एवं अवायके पीछे जिस पदार्थका अवायज्ञानसे निश्चय हो चुका है उसका कालांतरमें न भूलना रूप धारणाज्ञान होता है। यहां पर जो अवग्रह आदिका क्रम वर्णन किया गया है वह

१ जो भाव अवायमें निश्चयरूपसे जाना जाता है उसी यथार्थ भावकी ओर ईहा ज्ञान झुक जाता है। इसलिये वह सम्यग्ज्ञान है।

नेत्र इंद्रियकी अपेक्षा है परंतु जिसतरह नेत्र इंद्रियसे अवग्रह आदिका क्रम माना है उसीतरह कान नाक जीभ आदि इंद्रियोंसे भी समझ लेना चाहिये क्योंकि नेत्रजन्य अवग्रहादि ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम जुदा है और श्रोत्र आदि जन्य अवग्रहादि ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम जुदा है। इसप्रकार भिन्न भिन्न आवरण कर्मोंके क्षयोपशमके भेदसे अवग्रह आदि ज्ञानावरण कर्मका भेद है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिए कि ज्ञानावरण प्रकृतिके तो मतिज्ञानावरण आदि पांच ही भेद माने हैं, नेत्रजन्य अवग्रहावरण आदि भेद कहांसे गढ लिए गये। क्योंकि मतिज्ञानावरण आदि पांच जो ज्ञानावरण कर्मकी प्रकृतियां मानी हैं उनके भी उत्तरोत्तर बहुतसे भेद हैं। इसी बातका पोषक आगमका भी यह वचन है कि--'ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः असंख्यलोकाः' अर्थात् ज्ञानावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियां असंख्याती है इस रीतिसे पांचों इंद्रियां और मनके अवग्रह आदि भेद हैं। यह बात निश्चित हो चुकी।

जो ज्ञान इंद्रिय और मनसे हो वह मतिज्ञान है ऐसा ऊपर कह आए हैं। शंका—अवग्रह ज्ञान तो मति-ज्ञान कहा जा सकता है क्योंकि वह इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होता है परन्तु ईहा आदि ज्ञान मतिज्ञान नहीं कहे जा सकते क्योंकि ईहा आदि ज्ञान साक्षात् इंद्रिय और मनसे नहीं होते किंतु अवग्रहसे ईहा, ईहासे अवाय, और अवायसे धारणा ज्ञान होता है इसलिये ईहादि ज्ञानको मतिज्ञान मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। ईहा आदि ज्ञानोंमें न भी साक्षात् इंद्रियां कारण पडें तो भी मन तो साक्षात् कारण है ही क्योंकि विना मनका आश्रय किये ईहादि ज्ञान नहीं हो सकते इसलिये ईहादि ज्ञानकी मनसे उत्पत्ति होनेके कारण उन्हें मतिज्ञानके भेद माननेमें कुछ भी आपत्ति नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि यदि मनसे उत्पन्न होनेमात्रसे ईहादिको मतिज्ञान माना जायगा तो मनसे तो श्रुतज्ञानकी भी उत्पत्ति

मानी है इसलिये श्रुतज्ञानको भी मतिज्ञान कहना होगा ? सो नहीं । यद्यपि ईहा आदि ज्ञानोंमें साक्षात् रूपसे इंद्रियां कारण नहीं हैं तो भी जिस पदार्थको इंद्रियां ग्रहण करतीं हैं उसी पदार्थको ईहा आदि ज्ञान विषय करते हैं इसलिये उनकी उत्पत्तिमें उपचारसे इंद्रियां कारण हैं परन्तु श्रुतज्ञान मनका ही विषय है। उसकी उत्पत्तिमें केवल मन ही कारण पडता है इसलिये श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें उपचारसे भी इंद्रियां कारण नहीं हो सकतीं ।

किसी एक घटको नेत्रसे देखकर अनेक देश और कालसंबंधी उसके सजातीय किंवा विजातीय घटोंका जान लेना श्रुतज्ञान कहा है। यह तो ईहा आदि ज्ञानोंके समान ही हो गया क्योंकि जिसतरह नेत्र आदि इंद्रियोंसे साक्षात् अवग्रहज्ञानके हो जानेपर विशेषरूपसे पदार्थोंको जाननेवाले ईहा आदि ज्ञान होते हैं वहांपर साक्षात् इंद्रियां कारण नहीं पडतीं उसीप्रकार नेत्र आदि इंद्रियोंसे घटके जान लेने पर विशेष अनेक देश कालसंबंधी उसके सजातीय विजातीय घटोंके जाननेवाला श्रुतज्ञान होता है। यहांपर भी इंद्रियां साक्षात् कारण नहीं होतीं इस रीतिसे जब ईहा आदि और श्रुतज्ञानमें समानता है तब श्रुतज्ञानको भी ईहा आदिके समान मतिज्ञान कह देना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिस पदार्थको इंद्रियोंने विषय किया है, ईहादि ज्ञानका तो वही विषय है इसलिये व्यवहारसे ईहादि ज्ञानोंकी कारण इंद्रियां कही जा सकतीं हैं परन्तु श्रुतज्ञानका जो विषय है वह एकदम इंद्रियोंके अगोचर है। इंद्रियां कभी उसे जान ही नहीं सकतीं इसलिये श्रुतज्ञानमें व्यवहारसे भी इंद्रियां कारण नहीं हो सकतीं इस

१—अर्थसे अर्थांतरका बोध करना श्रुतज्ञानमें है, परन्तु ईहामें अर्थसे अर्थांतर नहीं है किंतु जो अवग्रहका विषय है वही कुछ विशेषरूपसे पडता है ।

रीतिसे जब ईहा आदि ज्ञानमें साक्षात् इंद्रियां कारण न भी हों तो भी परंपरासे पड जाती हैं और श्रुतज्ञानमें साक्षात् और परंपरा किसी रूपसे इंद्रियां कारण नहीं हो सकतीं तब ईहादि ज्ञान मतिज्ञान कहे जा सकते हैं श्रुतज्ञान मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता। शंका—

मतिज्ञानके तीनसै छत्तीस भेद माने हैं उनमें चक्षुरिंद्रियजन्य ईहा आदि श्रोत्रइंद्रियजन्य ईहा आदि इत्यादि भेद कहे गये हैं। यदि ईहा आदिकी उत्पत्ति केवल मनसे ही मानी जायगी इंद्रियोंको कारण नहीं कहा जायगा तो उक्त भेद न हो सकेंगे फिर मतिज्ञानके ३३६ तीनसौ छत्तीस भेद ही न बन सकेंगे? सो ठीक नहीं। इंद्रियाकार परिणत आत्मा भावेंद्रिय कहा जाता है। उसकी विषयाकार परिणति ईहा आदि कहे जाते हैं इस रीतिसे जब भावेंद्रियस्वरूप आत्माके परिणाम ईहादिक हैं तब चक्षु इंद्रियजन्य ईहा आदि जो भेद माने हैं वे अखंडरूपसे सिद्ध हो जाते हैं। इसरूपसे ईहा आदिमें इंद्रियकारणता और मतिज्ञानपना माननेमें कोई आपत्ति नहीं ॥१५॥

ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाले मतिज्ञानके भेद अवग्रह आदिका वर्णन कर दिया गया अब वे अवग्रह आदि किन किन पदार्थोंके होते हैं? यह सूत्रकार बतलाते हैं—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां ॥ १६ ॥

बहु (बहुतसे) बहुविध (बहुत प्रकार) क्षिप्र (जल्दी) अनिसृत (नहीं निकला हुआ) अनुक्त (नहीं कहा गया) ध्रुव (निश्चल) एवं इनके उलटे एक, एकप्रकार, धीरे, निकला हुआ, कहा हुआ और चल विचल इसप्रकार इन बारह प्रकारके पदार्थोंके अवग्रह आदि होते हैं।

१ मतिज्ञानके प्रकरणके समाप्त हो जानेपर लिखे जांयगे।

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात् ॥ १ ॥

बहु शब्दके दो अर्थ हैं एक संख्या जिसतरह एक दो और बहुत यहां पर बहु शब्दसे तीन आदि संख्या ली जाती है। दूसरा अर्थ बहुत है जिसतरह "बहुरोदनः' 'बहुसूपः' बहुतसा भात, बहुतसी दाल। सूत्रमें जो बहु शब्दका पाठ रक्खा है वह किसीप्रकारका भेद न कर दोनों ही अर्थका वाचक लिया गया है। शंका—

बह्वग्रहाद्यभावः प्रत्यर्थवशवर्तित्वादिति चेन्न सर्वदैकप्रत्ययप्रसंगात् ॥ २ ॥

बौद्ध लोग ज्ञानको प्रत्यर्थवशवर्ति अर्थात् एक समयमें एकही पदार्थको विषय करनेवाला मानते हैं इसलिये उनकी ओरसे यह कहना है कि जब ज्ञान एक समयमें एकही पदार्थको ग्रहण करता है अनेक पदार्थोंको नहीं तब एकसाथ बहुतसे पदार्थोंके अवग्रह ईहा आदि ज्ञान होते हैं यह नहीं कहा जा सकता। परंतु उनका कहना ठीक नहीं। यदि ऐसा माना जायगा तो सदा एकही पदार्थकी प्रतीति होगी फिर किसी विशाल वृक्षरहित चट्टान प्रदेशमें वा वृक्षोंसे घने प्रदेशमें एक ही पुरुषको देखनेवाले पुरुषको जो यह ज्ञान होता है कि अनेक पुरुष नहीं हैं यह ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अनेक पदार्थों को ग्रहण करनेवाला विज्ञान माना नहीं गया और 'अनेक नहीं' इस ज्ञानमें अनेक पदार्थोंका अवलंबन है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि उस ज्ञानमें 'अनेक नहीं' ऐसी प्रतीति नहीं होती तब 'अनेक हैं' यह प्रतीति कहनी होगी फिर एक पदार्थको अनेक समझना मिथ्याज्ञान कहा जाता है इसलिये उस प्रतीतिको मिथ्या प्रतीति कहना पडेगा। तथा अनेक घरोंके समूह रूप नगरमें 'यह नगर है' ऐसी एक ही प्रकारकी सदा प्रतीति होती है। अनेक वृक्षोंके समुदायस्वरूप वनमें वा अनेक ग्रामोंके समूहस्वरूप

स्कंधावार-देशमें 'यह वन है' और 'यह देश है' ऐसी एक एक प्रकारकी ही सदा प्रतीति होती है। यदि ज्ञानको एकसमयमें एकही पदार्थका ग्रहण करनेवाला माना जायगा तब नगर वन स्कंधावारका ज्ञान ही न हो सकेगा क्योंकि नगर आदि पदार्थ अनेक पदार्थोंके समूहस्वरूप है और विज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको विषय करता है। इसलिये यदि इसप्रकार समूहात्मक प्रतीति नहीं होगी तो 'यह नगर है, यह वन और देश है' इसप्रकारका जो संसारमें व्यवहार होता है वह सर्वथा उठ जायगा। इसलिए एकसमयमें एक पदार्थका ग्रहण करनेवाला विज्ञानको न मान अनेकार्थग्राही ही मानना पडेगा। और भी यह बात है—

नानात्वप्रत्ययाभावात् ॥ ३ ॥

जो यह मानता है कि ज्ञान एक समयमें एकही पदार्थका ग्रहण करनेवाला है उससे यह पूछना चाहिए कि पूर्वज्ञानके नष्ट होजानेपर उत्तरज्ञानकी उत्पत्ति होती है अथवा उसके रहते ही उत्तरज्ञान उत्पन्न हो जाता है? यदि दूसरे पक्षका आश्रयकर यह कहा जायगा कि पूर्वज्ञानके रहते ही उत्तरज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब 'एकार्थं एकमनस्त्वात्' विज्ञानकी उत्पत्तिमें मन एक कारण है इसलिए वह एकही पदार्थको विषय करता है यह जो बौद्धोंका कहना है वह बाधित होजायगा क्योंकि पूर्वज्ञानके रहते उत्तर ज्ञानके माननेपर जब विज्ञान अनेकक्षणस्थायी होगा तो स्वयं वह अनेक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला सिद्ध हो जायगा। तथा बौद्ध लोग एकही मनसे अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति मानते हैं इसलिए जिसतरह एक ही मन अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें कारण है उसीतरह एक ज्ञान भी अनेक पदार्थोंको ग्रहण कर सक्ता है ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है? यदि कदाचित् बौद्ध यह कहैं कि—एक ज्ञान अनेक पदार्थोंको

जानता है यह बात हमें इष्ट है तो 'एकस्य ज्ञानमेकं चार्थमुपलभते' एकका ज्ञान एक ही पदार्थको ग्रहण करता है, यह उनका वचन बाधित हो जाता है इसरीतिसे यदि बौद्ध लोग ज्ञानको अनेक पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला मानते हैं तब उनको आगम विरोधका सामना करना पडता है और यदि उसे वैसा नहीं मानते तो असंभव आदि अनेक दोषोंके साथ संसारका व्यवहार नष्ट होता है इसलिए संसारके व्यवहारकी रक्षार्थ युक्ति और प्रमाणसे भले प्रकार सिद्ध ज्ञानका अनेक पदार्थोंका ग्राहकपना ही स्वीकार करना पडेगा। यदि पहिले विकल्पका अवलंबनकर बौद्ध लोग यहां यह कहैं कि पूर्वज्ञानके नष्ट हो जानेपर ही उत्तरज्ञानकी उत्पत्ति होती है ऐसा हम मानते हैं। हमारे ऐसे माननेमें जब ज्ञान अनेकक्षण स्थायी सिद्ध नहीं होता तब वह अनेक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला भी सिद्ध नहीं हो सकता और 'ज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको ग्रहण करता है' हमारे इस वचनकी भी रक्षा हो जाती है इसलिये कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। यदि 'एकज्ञान एक समयमें एकही पदार्थको विषय करता है अनेकोंको नहीं' यह सिद्धांत माना जायगा तो 'यह पदार्थ उससे अन्य है' यह व्यवहार ही लुप्त हो जायगा क्योंकि ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थोंके ग्रहण होने पर ही इस व्यवहारका होना माना जा सकता है। जीव पुद्गलसे भिन्न है पुद्गल जीवसे भिन्न है। घट पटसे, और पट घटसे भिन्न है इत्यादि व्यवहार तो सर्वजन प्रसिद्ध ही है इसलिये एक ज्ञान ही एक पदार्थको विषय करता है यह सब कुछ नहीं कल्पनामात्र है। इसरीतिसे नाना पदार्थोंकी सत्ता कायम रखनेकेलिये ज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको ग्रहण करता है यह बात नहीं मानी जा सकती और भी यह बात है कि—

आपेक्षिकसंव्यवहारानिवृत्तेः ॥ ४ ॥

अर्थ—मध्यमा (बीचकी) अंगुली और प्रदेशिनी-अनामिका अर्थात् सबसे छोटी अंगुलीके पास की अंगुली इन दोनों अंगुलियोंमें मध्यमा बडी और प्रदेशिनी छोटी मानी जाती है और दोनोंमें छोटे बडेका व्यवहार होता है तथा बीचकी अंगुलीकी अपेक्षा प्रदेशिनी छोटी है और प्रदेशिनीकी अपेक्षा बीचकी बडी है यह जो छोटे बडेका व्यवहार है वह अपेक्षासे है। जो लोग ज्ञानको एक समयमें एक ही पदार्थको ग्रहण करनेवाला मानते हैं उनके मतमें ज्ञानके क्षणिक होनेसे अपेक्षा सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि अपेक्षाकी सिद्धि अनेक क्षणस्थायी ज्ञानके मानने पर ही अवलंबित है इसलिये ज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थका ग्रहण करनेवाला है यह बात अयुक्त है। तथा—

संशयाभावप्रसंगात् ॥ ५ ॥

यह 'स्थाणु है या पुरुष है ?' इसप्रकार अनेक पदार्थोंके अवलंबन करनेवाले ज्ञानको संशय माना है। जिनके मतमें विज्ञान एक समयमें एक ही अर्थका ग्रहण करनेवाला माना गया है उनके मतमें स्थाणु और पुरुष दोनोंमें एक किसीकी प्रतीति होगी दोनोंकी नहीं हो सकती क्योंकि एक ज्ञानसे दोनोंकी प्रतीति मान लेनेपर 'एक ज्ञान एक ही पदार्थको ग्रहण करता है' यह प्रतिज्ञावचन बाधित हो जाता है इसलिये उनके मतमें यह स्थाणु है या पुरुष है ? ऐसा संशय नहीं हो सकता । यदि यहांपर यह कहा जायगा कि—जिसतरह बंध्या (बांझ) का पुत्र अवस्तु है इसलिये स्थाणुमें उसका संभव नहीं हो सकता उसीतरह स्थाणुमें पुरुषका मानना भी संभव नहीं माना जा सकता इसलिये स्थाणुमें पुरुषकी प्रतीतिका होना असंभव होनेसे स्थाणुमें पुरुषका संशय नहीं हो सकता ? तो वहां पर यह भी कहा जा सकता है कि पुरुषमें भी स्थाणु द्रव्यकी अपेक्षा नहीं इसलिये स्थाणुकी असंभवतासे पुरुषमें भी स्थाणुका संशय नहीं

हो सकता परन्तु संशयस्थलमें स्थाणुमें पुरुषकी और पुरुषमें स्थाणुकी प्रतीति निर्बाध है इसलिये स्थाणुमें पुरुषकी प्रतीतिका और पुरुषमें स्थाणुकी प्रतीतिका (संशयका) अभाव इष्ट नहीं कहा जा सकता। अतः एक ज्ञान एक ही पदार्थको विषय करता है यह बौद्धोंकी कल्पना कभी निर्दोष नहीं मानी जा सकती किंतु अनेक अर्थोंको ग्रहण करनेवाला ही विज्ञान माना जायगा। तथा—

ईप्सितानिष्पत्तिः अनियमात् ॥ ६ ॥

विज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको ग्रहण करता है यदि यही सिद्धान्त माना जायगा तो चित्र-क्रियामें कुशल कोई चैत्र नामका मनुष्य जिस समय पूर्णकलशका चित्र खींच रहा है उस समय 'चित्र कैसे बनना चाहिये' इसप्रकार चित्रक्रियाका ज्ञान उसका भिन्न है और घटके आकार प्रकारका ज्ञान भी उसका भिन्न है इसलिये आपसमें उनके विषयका मिलाप नहीं हो सकता तथा अनेक विज्ञानोंकी एक साथ उत्पत्ति मानी नहीं गई इसलिये उस एक क्षणस्थायी ज्ञानमें ही घटकी एक साथ उत्पत्ति माननी पडेगी क्योंकि दूसरे क्षणमें चित्रक्रिया और घटके आकार प्रकारका ज्ञान उपयोगी हो नहीं सकता परंतु घटकी एक साथ उत्पत्ति न होकर क्रम क्रमसे ही उत्पत्ति देखनेमें आती है इसलिये एक ज्ञान एक ही पदार्थको विषय करता है यह बात कभी नहीं मानी जा सकती किंतु उसे नाना पदार्थोंका विषय करने-वाला ही मानना होगा। और भी यह बात है—

द्वित्र्यादिप्रत्ययाभावाच्च ॥ ७ ॥

यदि ज्ञानको एक ही पदार्थका विषय करनेवाला माना जायगा तो उससे दो तीन आदि पदार्थों

का तो ग्रहण होगा नहीं फिर 'ये दो हैं' 'ये तीन हैं' इत्यादि व्यवहार ही संसारसे उठ जायगा], इसलिये कभी एक पदार्थको विषय करनेवाला विज्ञान नहीं माना जा सकता। तथा—

संतानसंस्कारकल्पनायां च विकल्पानुपपत्तिः ॥ ८ ॥

यदि यह कहा जायगा कि हम एक पदार्थके विषयको करनेके लिये एक ज्ञानको ही मानें तब तो 'यह दो हैं' 'यह तीन आदि हैं' यह ज्ञान नहीं हो सकता किंतु यदि हम ज्ञानकी 'संतान' मानेंगे अथवा 'पहिला पहिला ज्ञान उत्तर उत्तर ज्ञानोंमें अपना संस्कार समर्पण करता जाता है' इस रूपसे संस्कार मानेंगे तब दो तीन आदि पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है क्योंकि वहां पर ये प्रश्न उठते हैं कि—वे जो संतान और संस्कार हैं वे ज्ञानकी जातिके हैं कि अज्ञानकी जातिके हैं? यदि अज्ञानकी जातिके मानकर उन्हें अज्ञानस्वरूप माना जायगा तब उनको माननेसे भी दो तीन आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये उन्हें अज्ञानस्वरूप मानना प्रयोजनीय नहीं। यदि ज्ञान की जातिका ज्ञानस्वरूप माना जायगा तब फिर वहांपर यह प्रश्न मौजूद है कि वह संतान वा संस्कार एक अर्थके ग्रहण करनेवाले हैं वा अनेक अर्थके ग्रहण करनेवाले हैं? यदि एक ही अर्थको ग्रहण करने-वाले हैं यह अर्थ माना जायगा तो वैसे माननेमें जो अनेक दोष ऊपर कह आए हैं वे सबके सब फिर ज्योंके त्यों यहां लागू होंगे। यदि अनेक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले हैं यह अर्थ माना जायगा तब 'एक ज्ञान एक ही पदार्थका ग्रहण करनेवाला है' यह बौद्धका प्रतिज्ञावचन बाधित हो जाता है। इस रीतिसे बौद्धके मतानुसार 'ज्ञान एकार्थग्राही है वा अनेकार्थग्राही है' यह कोई प्रकार सिद्ध नहीं होता और युक्ति एवं अनुभवसे वह अनेकार्थग्राही ही सिद्ध होता है तब उसे अनेक पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला ही मानना चाहिये।

विधगृहणं प्रकारार्थं ॥ ९ ॥

विध युक्त गत और प्रकार ये सब शब्द समान अर्थके वाचक हैं इसलिये सूत्रमें जो विध शब्दका उल्लेख किया है उसका अर्थ 'प्रकार' है इस रीतिसे बहुविध शब्दका 'बहुत प्रकार' यह अर्थ है।

क्षिप्रगृहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थं ॥ १० ॥

क्षिप्र शब्दका अर्थ 'जल्दी' है। विजली आदि क्षिप्र पदार्थोंके भी अवग्रह आदि होते हैं यह बतानेकेलिये सूत्रमें क्षिप्र शब्दका ग्रहण किया गया है। अर्थात् पदार्थोंकी जल्दी प्रतीति हो इसके लिए क्षिप्र शब्दका प्रयोग है।

अनिःसृतगृहणमसकलपुद्गलोद्गमार्थं ॥ ११ ॥

जिस पुद्गलपदार्थके अवग्रह आदि ज्ञान करने हैं उसका समस्त स्वरूप न भी दीखे, कोई एक अवयव ही दीखे उस अवयव मात्रके देखनेसे उस समस्त पदार्थके अवग्रह आदि ज्ञान होजाते हैं, यह बात प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रमें अनिःसृत शब्दका उल्लेख किया है। तालाव आदिमें समस्त शरीरके डूब जाने पर भी एक सूंढ मात्र अवयवके देखलेनेसे हाथीके विषयमें अवग्रह आदि ज्ञान होते ही हैं। यहां पर बाहर पदार्थके समस्त स्वरूपका निकला न रहना, 'किसी एक अवयवका निकला रहना' अनिःसृत शब्दका अर्थ है।

अनुक्तमभिप्रायेण प्रतिपत्तेः ॥ १२ ॥

विना कहे—इशारेमात्रसे वतलाये हुए पदार्थमें भी अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं यह बात वतलानेके लिये सूत्रमें अनुक्त शब्दका पाठ है। यहांपर अनुक्त शब्दका अर्थ विना कहा हुआ है।

ध्रुवं यथार्थग्रहणात् ॥ १३ ॥

जो पदार्थ जिसरूपसे स्थित है उसका बहुतकालतक उसीरूपसे ज्ञान होता रहता है यह बात प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रमें ध्रुव शब्दका ग्रहण है।

सेतरगृहणाद्विपर्ययावरोधः ॥ १४ ॥

बहु बहुविध आदि पदार्थोंसे विपरीत अल्प अल्पप्रकार चिर निःसृत उक्त और अध्रुव पदार्थोंके ग्रहण करनेकेलिये सूत्रमें सेतर शब्दका ग्रहण है अर्थात् जिसतरह बहु आदि पदार्थोंके अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं उसीतरह अल्प अल्पप्रकार आदि पदार्थोंके भी अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं।

अवगूहादिसंबंधात् कर्मनिर्देशः ॥ १५ ॥

'बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां' यहां पर कर्ममें षष्ठीका निर्देश है और वह अवग्रह आदि की अपेक्षा है इसलिये षष्ठी विभक्तिके आधीन तो बहु आदिके अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं यह अर्थ है परंतु अवग्रह आदि ज्ञान, बहु आदि पदार्थोंको विषय करते हैं यह सूत्रका खुलासा अर्थ है।

बह्वादीनामादौ वचनं विशुद्धिप्रकर्षयोगात् ॥ १६ ॥

ते च प्रत्येकमिंद्रियानिंद्रियेषु द्वादशविकल्पा नेयाः ॥ १७ ॥

यद्यपि बहु आदिमें यह शंका हो सकती है कि जब बहु बहुविधके समान अल्प अल्पविध आदि पदार्थोंके भी अवग्रह आदि होते हैं तब अल्प अल्पविध आदिका साक्षात् उल्लेखकर सेतर शब्दसे बहु बहुविध आदिका क्यों ग्रहण नहीं किया गया ? उसका समाधान यह है कि बहु आदिके जो अवग्रह आदि होते हैं उनमें ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी अधिक विशेषता है अल्प आदिके होनेवाले

अवग्रह आदिमें उतनी नहीं इसलिये अल्प अल्पविध आदि नामोंका जुदा उल्लेख न कर बहु बहुविध आदिक नामोंका जुदा जुदा उल्लेख किया है और सेतर शब्दसे अल्प अल्पविध आदि शब्दोंका ग्रहण किया है। अवग्रह आदि हरएक ज्ञानके इंद्रिय और मनकी अपेक्षा वारह वारह भेद होते हैं और वे इस प्रकार हैं—

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतरायके तीव्र क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे संभिन्नसंश्रोतृ नामक ऋद्धि के धारक वा उससे भिन्न किसी पुरुषके, एकसाथ तत (तांतका शब्द) वितत (डंका वा तालका शब्द) घन (कांसेके वाद्यका शब्द) और सुषिर (वंशी आदिका शब्द) आदि शब्दोंका अवग्रह ज्ञान होता है "यद्यपि तत आदि भिन्न भिन्न शब्दोंका ग्रहण अवग्रहसे नहीं हो सकता है तथापि उनके समुदायरूप सामान्यको वह ग्रहण करता है यह अर्थ समझ लेना चाहिये। यहां-पर यह शंका हो सकती है कि संभिन्नसंश्रोतृ ऋद्धिके धारक पुरुषके तत आदि शब्दोंका स्पष्टतया भिन्न भिन्न रूपसे ज्ञान रहता है इसलिये उसके अवग्रह ज्ञानका होना बाधित है? सो ठीक नहीं। सामान्य मनुष्यके समान उक्त ऋद्धिधारीके भी क्रमसे ही ज्ञान होता है इसलिये उसके अवग्रहज्ञानका होना असंभव नहीं।" एवं श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशम रूप विशुद्धिकी मंदतासे आत्माके तत आदि शब्दोंमेंसे किसी एक शब्दका अवग्रह होता है।

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नामके नामकर्मके बलसे आत्मा तत आदि शब्दोंमें हर एकके दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनंत भेदोंका ग्रहण करता है इसलिए उससमय उसके बहुत प्रकारका अवग्रह होता है और श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशम

रूप विशुद्धिके मंद रहनेपर आत्मा तत आदि शब्दोंमें किसी एक प्रकारके शब्दको ग्रहण करता है इस-
लिये उसके एकविध पदार्थका अवग्रह कहा जाता है।

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशम रूप विशुद्धिसे और अंगोपांग कर्मके
बलसे आत्मा बहुत शीघ्र शब्दको ग्रहण कर लेता है इसलिए उसके क्षिप्र पदार्थका अवग्रह कहा जाता
है और श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी मंदता होने पर आत्माके देरीसे
शब्दका ग्रहण होता है इसलिये उसके चिर-देरीसे होनेवाला अवग्रह कहा जाता है।

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नाम कर्मके बलसे परि-
णत आत्मा जिस समय विना कहे वा बिना बताये शब्दको ग्रहण करता है उस समय उसके अनिःसृत
पदार्थका अवग्रह होता है और श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी मंदता
से जिस समय आत्मा मुखसे निकले हुए शब्दका ग्रहण करता है उस समय निःसृत पदार्थका
अवग्रह होता है।

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नाम कर्मके बलसे परिणत
आत्मा जिस समय समस्त शब्दका न भी उच्चारण किया जाय किंतु एक वर्णके मुंहसे निकलते ही अभि-
प्राय मात्रसे उस समस्त शब्दको ग्रहण कर लेता है कि आप यह कहने वाले हैं उस समय उसके अनुक्त
पदार्थका अवग्रह होता है और श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशम रूप विशुद्धिकी मंदतासे
जिस समय आत्मा समस्त शब्दके कहे जाने पर उसे ग्रहण करता है उस समय उसके उक्त पदार्थका
अवग्रह होता है। अथवा उक्त क्षयोपशमादि कारणोंके आत्मामें प्रगट हो जाने पर तंत्री वा मृदंग आदि

में स्वरसंचार नहीं किया गया है कि किस स्वर पर गाया जायगा उसके पहिले ही केवल उन बाजोंके गाये जाने वाले स्वरके मिलाप होते ही जिस समय आत्माको यह ज्ञान हो जाता है कि 'आप इस स्वर पर बाजा बजावेंगे' उस समय अनुक्त पदार्थका अवग्रह होता है और बाजों द्वारा उस स्वरके गाये जाने पर उस स्वरका जानना उक्त पदार्थका अवग्रह कहा जाता है।

संक्लेश परिणामोंसे रहित यथायोग्य श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशम आदि विशुद्धिसे परिणत आत्माके जिसप्रकार प्रथम समयमें शब्दका ग्रहण हुआ है उसी प्रकार निश्चल रूपसे कुछ काल ग्रहण बना रहना, उसमें किंचिन्मात्र भी कम बढती न होना ध्रुव पदार्थका अवग्रह है और बार बार होनेवाले संक्लेश परिणाम और विशुद्धि परिणामरूप कारणोंसे युक्त आत्माके जिस समय श्रोत्रेंद्रिय आदि कर्मोंका कुछ आवरण भी होता रहता है और क्षयोपशम भी होता रहता है इस तरह श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी कुछ प्रकर्ष और कुछ अप्रकर्ष दशा रहती है उस समय हीनता और अधिकतासे जाननेके कारण कुछ चल विचलपना रहता है इसलिए उस प्रकारका अवग्रह अध्रुव अवग्रह कहा जाता है तथा कभी तत आदि बहुतसे शब्दोंका ग्रहण करना कभी थोडेका कभी बहुत प्रकारके शब्दोंका ग्रहण करना कभी एक प्रकारकेका, कभी जल्दी शब्दको ग्रहण करना, कभी देरीसे करना, कभी अनिःसृत शब्दका ग्रहण करना, कभी निःसृत शब्दका ग्रहण करना, कभी उक्त शब्दका ग्रहण करना, कभी अनुक्त शब्दका ग्रहण करना यह जो चल विचलपनेसे शब्दका ग्रहण करना है वह सब उसी अध्रुवावग्रहका विषय है। शंका—

बहुत शब्दोंके अवग्रहमें भी तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है और बहुत प्रकारके शब्दोंके अव-

ग्रहमें भी तत आदि शब्दोंका ही ग्रहण माना है इसरीतिसे बहु और बहुविध जब दोनोंप्रकारके शब्दोंमें अवग्रहका विषय समानरूपसे माना है—कोई विशेष नहीं तब उन दोनोंमें एक ही कहना चाहिये, दोनोंका कहना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिसतरह वाचालतारहित कोई विद्वान बहुतसे शास्त्रोंका विशेष विशेष अर्थ न कर एक सामान्य अर्थ ही प्रतिपादन करता है। अन्य विद्वान बहुतसे शास्त्रोंका आपसमें एक दूसरेसे अतिशय रखनेवाले बहुत प्रकारके अर्थोंका प्रतिपादन करता है उसीतरह बहु और बहुविध दोनों प्रकारके शब्दोंके अवग्रहमें सामान्य रूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है तो भी जिस अवग्रहमें तत आदि शब्दोंके एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंत प्रकारके भेदोंका ग्रहण है अर्थात् अनेक प्रकारके भेद प्रभेदयुक्त तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह बहुविध—बहुत प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला अवग्रह कहा जाता है और जिस अवग्रहमें भेद प्रभेदोंसे रहित सामान्यरूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह—बहुतसे शब्दोंका अवग्रह कहा जाता है। शंका—

मुखसे पूरे शब्दका निकल जाना निःसृत कहा जाता है यही अर्थ उक्तका भी है फिर दोनोंमें एक हीका कहना आवश्यक है। दोनों शब्दोंका जो सूत्रमें उल्लेख किया गया है वह व्यर्थ है? सो भी ठीक नहीं। किसी अन्यके कहने पर जहां शब्दका ग्रहण होता है जिसतरह किसीने गोशब्दका उच्चारण किया वहां पर 'यह गो शब्द है' ऐसा ज्ञान होना वह उक्त कहा जाता है और अन्यके विना ही बताये सामने पदार्थके रहनेपर 'यह अमुक पदार्थ है' ऐसा स्वयं ज्ञान होना निःसृत है। इसलिये उक्त और निःसृतका भेद रहनेपर वे एक नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार श्रोत्रइंद्रियकी अपेक्षा बहु बहुविध आदिका अवग्रह बतला दिया गया अब नेत्र इंद्रियकी अपेक्षा बतलाया जाता है—

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नामके नामकर्मके बलसे परिणत आत्मा जिस समय शुक्ल कृष्ण नील आदि शब्दोंको ग्रहण करता है उस समय उसके बहु पदार्थका अवग्रह कहा जाता है और जिस समय उक्त कारणोंकी मंदता रहती है उस समय आत्मा शुक्ल आदिमें थोडोंको ग्रहण करता है इसलिये उस समय उसके अल्प पदार्थोंका अवग्रह कहा जाता है।

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नामके नाम कर्मके बलसे जिस समय आत्मा शुक्ल कृष्ण आदिके एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंत भेद प्रभेदोंको ग्रहण करता है उस समय उसके बहुविध—बहुत प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह कहा जाता है और जिस समय उक्त कारणोंकी मंदता रहती है उस समय शुक्ल कृष्ण आदिमें एकविध—एक प्रकार को ग्रहण करता है उससमय उसके एक प्रकारके पदार्थका अवगृह होता है।

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नामक नाम कर्मके बलसे जिससमय आत्मा शुक्ल आदि रूपका जल्दी ग्रहण करता है उसमय उसके क्षिप्र पदार्थका अवग्रह होता है और उक्त कारणोंकी मंदतासे जिससमय देरीसे पदार्थका ग्रहण करता है उससमय उसके चिर अवग्रह होता है।

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जिससमय आत्मा पंचरंगे किसी वस्त्र कंवल वा चित्रके एकवार किसी अवयवमें पांचो रंगोंको देखता है उससमय यद्यपि शेष अवयवोंका पंचरंगापन उसे दीखता नहीं और न निकला हुआ उसके सामने ही रक्खा है तो भी उस अवयवके पांचो रंगोंको देखकर उस समस्त अवयवोंके पंचरंगेपनको ग्रहण कर

लेता है इसलिये उसप्रकारका ग्रहण करना उसका अनिःसृत पदार्थका अवग्रह कहा जाता है और उक्त कारणोंकी मंदतासे जिससमय आत्मा सामने निकाल कर रक्खे हुए पंचरंगे वस्त्रके पांचों रंगोंको ग्रहण करता है उससमय उसके निःसृत पदार्थका अवगृह होता है।

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामके नामकर्मके बलसे जिस समय आत्मा सफेद काला वा सफेद पीला आदि रंगोंको आपसमें मिलाते हुए किसी पुरुषको देखकर आप इन दो प्रकारके रंगोंको मिलाकर अमुक रंगको तयार करनेवाले हैं, इसप्रकार विना कहे ही जान लेता है उस समय उसके अनुक्त पदार्थका अवग्रह होता है अथवा दूसरे देशके बने हुये किसी पंचरंगे पदार्थके कहते समय, कहनेवाला पुरुष कहनेका प्रयत्न ही कर रहा है उसके पहिले ही विना कहे उस वस्तुके पांचों रंगोंको जान लेता है उसके भी उस समय अनुक्त पदार्थका अवग्रह होता है और उक्त कारणोंकी मंदता रहनेपर कंबल आदि पंचरंगे पदार्थके कहनेपर जब पांचों रंगोंको जानता है तब उस के उक्त पदार्थका अवग्रह होता है।

संक्लेश परिणामोंसे रहित और यथायोग्य चक्षुरिंद्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशम परिणामरूप कारणोंका धारक आत्मा जैसा पहिले ही पहिले रूप ग्रहण करता है उसीप्रकार निश्चलरूपसे और भी कुछ काल वैसा ही उसके रूपका ग्रहण बना रहता है कुछ भी कम बढती नहीं होता उस समय उसके ध्रुव पदार्थका अवगृह होता है और बार बार होनेवाले संक्लेश परिणाम और विशुद्धि परिणामरूप कारणोंसे युक्त आत्माके जिस समय चक्षु इंद्रिय आदि कर्मोंका कुछ कुछ आवरण भी होता रहता है और क्षयोपशम भी होता रहता है इस तरह चक्षु इंद्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशमकी कुछ उत्कृष्ट

और कुछ अनुत्कृष्ट दोनों दशा रहतीं हैं उस समय कुछ हीनता और कुछ आधिकतासे जाननेके कारण चल विचलपना रहता है इसलिये उसप्रकारका अवगृह अध्रुव पदार्थका अवगृह कहा जाता है तथा कृष्ण आदि बहुत रूपोंको जानना वा थोडे रूपोंको जानना, बहुत प्रकारके रूपोंको जानना, एक प्रकारके रूपको जानना, जल्दी रूपको जानना, देरीसे रूपको जानना, अनिःसृत रूपको जानना, निःसृत रूप को जानना, अनुक्त रूपको जानना, उक्त रूपको जानना यह जो चल विचल रूपसे जानना है वह उसी अध्रुवावगृहका विषय है। जिस तरह श्रोत्र और चक्षु इंद्रियकी अपेक्षा बहु बहुविध आदिको अव· ग्रहका विषय कहा गया है उसीप्रकार घ्राण आदि इंद्रियोंकी अपेक्षा भी समझ लेना चाहिए तथा जिस तरह बहुविध आदिको अवग्रहका विषय माना है उसी तरह ईहा अवाय और धारणा ज्ञानोंका भी विषय मानना चाहिये। शंका—

जो इंद्रियां पदार्थसे भिडकर ज्ञान कराती हैं उनका पदार्थके जितने अवयवोंके साथ संबंध रहेगा उतने ही अवयवोंका ज्ञान करा सकती है अधिक अवयवोंका नहीं। श्रोत्र घ्राण स्पर्शन और रसना ये चार इंद्रियां प्राप्यकारी हैं—भिडकर पदार्थोंका ज्ञान कराती हैं इसलिये जितने अवयवोंके साथ इनका भिडाव होगा उतनेही अवयवोंका ये ज्ञान करा सकती हैं अधिकका नहीं। अनिःसृत और अनुक्तमें ऐसा नहीं क्योंकि वहांपर पदार्थोंका एक देश देख लेने पर वा कहे जाने पर समस्त पदार्थका ज्ञान माना है इसलिए श्रोत्र आदि चार इंद्रियोंसे जो अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह ईहादिक माने हैं सो व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिसतरह चिउंटी आदि जीवोंका नाक और जिह्वा इंद्रियके साथ गुड आदि द्रव्यका भिडाव नहीं रहता तो भी उनके गंध और रसका ज्ञान चिउंटी आदिको हो जाता है

क्योंकि वहांपर अत्यंत सूक्ष्म जिनको हम देख ही नहीं सकते ऐसे गुड आदि द्रव्योंके अवयवोंके साथ चिउंटी आदि जीवोंकी नाक और जिह्वा इंद्रियोंका आपसमें स्वाभाविक संयोग संबंध रहता है उस संबंधमें किसी भी अन्य पदार्थकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिए सूक्ष्म अवयवोंके साथ संबंध रहनेसे वे प्राप्त होकर ही पदार्थको ग्रहण करती हैं उसी प्रकार आनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह आदिमें भी अनिसृत और अनुक्त पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोंके साथ श्रोत्र आदि इंद्रियोंका अपनी उत्पत्तिमें पर पदार्थकी अपेक्षा न रखनेवाला स्वाभाविक संयोग संबंध है इसलिए आनिःसृत और अनुक्त स्थलों पर भी प्राप्त हो कर इंद्रियां पदार्थोंका ज्ञान कराती ही हैं, अप्राप्त होकर नहीं। और भी यह बात है कि—

अस्मदादीनां तदभाव इति चेन्न श्रुतापेक्षत्वात् ॥ १८ ॥

यदि यह कहा जायगा कि आनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ श्रोत्र आदि इंद्रियोंका संयोग होता है यह हम देख नहीं सकते इसलिए हम उस संयोगको स्वीकार नहीं कर सकते? सो भी ठीक नहीं। जिसतरह जन्मसे ही जमीनके भीतर पाला गया पुरुष जब बाहर किसी कारणसे आता है तो उसको घट पट आदि समस्त पदार्थोंका आभास होता है परंतु यह घट है और यह पट है इत्यादि जो विशेष ज्ञान उसे होता है वह परके उपदेशसे ही होता है। वह स्वयं वैसा ज्ञान नहीं कर सकता उसी प्रकार आनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोंके साथ जो इंद्रियोंका भिडाव होता है और उससे अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं यह विशेष ज्ञान भी परके उपदेशसे ही जाना जाता है हमारे अंदर यह सामर्थ्य नहीं कि हम स्वयं जान सकें इसलिए परोपदेशके द्वारा जब आनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह आदि सिद्ध हैं तब उनका कभी अभाव नहीं कहा जा सकता। तथा—

लब्ध्यक्षरत्वात् ॥ १९ ॥

जहांपर श्रुतज्ञानके भेद प्रभेदोंका निरूपण किया गया है वहांपर चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना स्पर्शन और मनके भेदसे छैप्रकारका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान माना है। आगमका यह वचन भी है–'चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरं' अर्थात् चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना स्पशन और मन रूप छैप्रकारका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। इसलिये श्रोत्र घ्राण रसना स्पर्शन और मनरूप लब्ध्यक्षरसे यह वात सिद्ध हो जाती है कि अनिःसृत और अनुक्त शब्दोंके भी अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं सार अर्थ यह है कि लब्धिका अर्थ क्षयोपशम रूप शक्ति है और अक्षरका अर्थ अविनाशी है अर्थात् जिस क्षयोपशम शक्तिका कभी भी नाश न हो सके वह लब्ध्यक्षर कहा जाता है यह लब्ध्यक्षर ज्ञान श्रुतका वहुत ही सूक्ष्म भेद है इसलिये जब इस लब्ध्यक्षरज्ञानको भी माना जाता है तव अनिःसृत और अनुक्त पदार्थके अवग्रह आदि माननेमें कोई दोष नहीं ॥ १६ ॥

बहु बहुविध आदि पदार्थोंको अवग्रह आदि विषय करते हैं यह कह दिया गया। अब वे अवग्रह आदि विशेषण किसके हैं इसवातको सूत्रकार कहते हैं—

अर्थस्य ॥ १७ ॥

नेत्र आदि इंद्रियां जिसे विषय करती हैं वह अर्थ–पदार्थ कहा जाता है उस अर्थके ही ऊपर कहे गये बहु बहुविध आदि विशेषण हैं अर्थात्–बहु बहुविध आदि पदार्थोंके अवग्रह आदि होते हैं यह सूत्र का अर्थ है। अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ कहा जाता है—

इयर्ति पर्यायानर्यते वा तैरित्यर्थो द्रव्यं ॥ १ ॥

वाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंसे जिनकी उत्पत्ति निश्चित है ऐसे अपने अपने पर्यायोंको जो प्राप्त हो अथवा जिसके द्वारा वे पर्याय प्राप्त किये जांय वह अर्थ है और उसे द्रव्य कहते हैं। 'अर्थस्य' यह सूत्र क्यों निर्माण किया गया वार्तिककार इसका समाधान देते हैं—

अर्थवचनं गुणग्रहणनिवृत्त्यर्थं ॥ २ ॥

नैयायिक आदिका सिद्धांत है कि रूप आदि गुणोंका ही इंद्रियोंसे सन्निकर्ष होता है—इंद्रियां रूप आदि गुणोंसे युक्त पदार्थोंको न ग्रहण कर रूप आदि गुणोंको ही ग्रहण करती हैं उनके सिद्धांतको मिथ्या सिद्धांत सिद्ध करनेकेलिये 'अर्थस्य' इस सूत्रका निर्माण है क्योंकि मूर्त इंद्रियोंसे मूर्तिक पदार्थों का ही ग्रहण हो सकता है अमूर्तिक पदार्थोंका नहीं। रूप आदि गुणोंको उन्होंने अमूर्तिक माना है इस-लिये उन्हें इंद्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि हम रूपोंका मिलकर पिंड रसोंका मिलकर पिंड इसतरह रूप आदिके पिंडोंकी कल्पना कर लेंगे। पिंड स्वरूप रूप आदिका ज्ञान इंद्रियोंसे हो सकता है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है क्योंकि अमूर्तिक रूप आदि गुणोंकी पिंड कल्पना की ही नहीं जा सकती और भी यह वात है कि रूप आदिके पिंडोंकी कल्पना करनेपर यदि वे पिंड किसी अन्य स्थूल पदार्थ स्वरूप सिद्ध हो जांय तब तो इंद्रियां उन पिंडोंको ग्रहणकर सकती हैं परंतु अन्य पदार्थांतर रूप तो पिंडोंको नैयायिक आदि सिद्धांतकार मानते नहीं—रूप आदि स्वरूप ही मानते हैं फिर जब इनका अमूर्तपना ही नष्ट न होगा तब असामर्थ्यसे इंद्रियां उन्हें ग्रहण कर ही नहीं सकतीं। यदि कदाचित् नैयायिक आदि यह कहैं कि—जब विना द्रव्यके रूप आदि गुणोंका इंद्रियोंसे

ग्रहण ही नहीं माना तब 'मैंने रूप देखा' 'मैंने गंध सूंघा' यह जो संसारमें व्यवहार होता है वह न होगा ? सो भी कहना अयुक्त है। जैनसिद्धांतमें निश्चयनयकी अपेक्षा गुण गुणीका अभेद अर्थात् रूपादि गुण-स्वरूप ही द्रव्य माना है इसलिये जब द्रव्यसे रूप आदिक अभिन्न हैं और जहां पर गुणगुणीकी अभेद विवक्षा है वहां पर गुणी ग्रहणसे गुण ग्रहणकी विवक्षा एवं गुणग्रहणसे गुणी ग्रहणकी विवक्षा सब घट जाती है। फिर उपर्युक्त व्यवहारके होनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसलिये 'अर्थस्य' इस सूत्रका बनाना निरर्थक नहीं, सार्थक है। शंका—

तेषु सत्सु मतिज्ञानात्मलाभात्सप्तमीप्रसंगः ॥ ३ ॥ नानेकांतात् ॥ ४ ॥

घट पट आदि विषयोंके रहने पर ही मतिज्ञान होता है, विना घट पटादिकी अवस्थितिके मति-ज्ञान नहीं उत्पन्न होता इसलिये 'अर्थस्य' ऐसा षष्ठ्यंत सूत्र न कह कर 'अर्थे' यह सप्तम्यंत सूत्र कहना चाहिये ? सो ठीक नहीं। यदि घट पट आदि पदार्थोंके रहते मतिज्ञान माना जायगा तो जो बालक जमीनके भीतरमें बने हुए मकानमें उत्पन्न हुआ है और ऊपर आते ही वह घट पट आदि पदार्थोंको देखता है परंतु यह घट है यह पट है ऐसा मतिज्ञान उसे नहीं होता उसे भी मतिज्ञान होना चाहिये क्योंकि पदार्थ तो मौजूद हैं ही किंतु उसे वहां मतिज्ञान नहीं होता इसलिए पदार्थोंके रहते ही मतिज्ञान होता है यह कहना बाधित है। पदार्थकी उपस्थिति ज्ञानोत्पत्तिमें आवश्यक नहीं है उसके बिना भी ज्ञान होता है जैसा कि ऊपर बालकके दृष्टांतमें कहा गया है इसलिए अर्थस्य यही ठीक है अथवा जहां पर अधिकरणका निर्देश होगा वहीं सप्तमी विभक्ति होगी षष्ठी विभक्ति आदिके निर्देशमें सप्तमी विभक्ति नहीं मानी जा सकती यह भी एकांत नहीं क्योंकि 'विवक्षावशाद्धि कारकाणि भवंति' वक्ताकी जैसी

इच्छा रहती है उसीके अनुकूल कारकोंकी कल्पना की जाती है। यदि षष्ठी विभक्तिके निर्देश रहनेपर उसे वक्ता द्वितीया विभक्ति मानना चाहे तो मान सकता है। एवं वक्ताकी ही इच्छासे षष्ठी विभक्तिके निर्देश रहने पर सप्तमी विभक्ति मान ली जाती है इस रीतिसे जब अन्य विभक्ति (कारक) के रहते अन्य विभक्ति मान ली जा सकती है तब 'अर्थस्य' ऐसा षष्ठ्यंत सूत्र न कह कर 'अर्थे' यह सप्तम्यंत कहना चाहिए। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जब पदार्थ ज्ञानमें विषयकी उपस्थिति आवश्यक कारण नहीं सिद्ध होती तब अर्थका ज्ञान अथवा अर्थके विषयमें ज्ञान कुछ भी कहा जासकता है ऐसी अवस्थामें षष्ठी या सप्तमी विभक्तिका प्रयोग वक्ताकी इच्छा पर ही निर्भर है।

क्रियाकारकसंबंधस्य विवक्षितत्वात् ॥ ५ ॥

अवग्रह आदि ज्ञानोंको क्रिया विशेष—(जानना, स्वरूप) कह आए हैं क्रिया कर्मविशिष्ट होती है। उसका कोई न कोई कर्म मानना पडता है इसलिए यहां अवग्रह आदि क्रियावोंका बहु बहु विध आदि भेद विशिष्ट अर्थको कर्म माना है अर्थात् बहु बहु विध आदि भेद विशिष्ट पदार्थोंको अवग्रह आदि ज्ञान जानते हैं। शंका—

बह्वादिसामानाधिकरण्याद्बहुत्वप्रसंगः ॥ ५ ॥ नवानभिसंबंधात् ॥ ७ ॥ अवगृहणादिभिः ॥ ८ ॥

बहु बहुविध आदि ही तो पदार्थ हैं उनसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है ऐसी अवस्थामें "बहुबहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां" यहां पर तो षष्ठी विभक्तिके बहुवचनका निर्देश है और 'अर्थस्य' यहां पर षष्ठी विभक्तिके एक वचनका निर्देश है। इसलिये विभिन्न वचन होनेसे दोनोंका सामानाधिक-रण्य नहीं हो सकता इसरीतिसे बहु बहुविध आदि एवं अर्थ, इन दोनोंका आपसमें जब सामानाधिकरण्य

बाधित है तब बहु आदि विशिष्ट पदार्थोंको अवग्रह आदि जानते हैं यह अर्थ नहीं हो सकता अतः 'अर्थानां' यह सूत्रका पाठ होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जब बहु बहुविध आदि शब्दोंको और अर्थ शब्दको आपसमें विशेष्य विशेषण रूप माना जायगा तब उपर्युक्त दोष हो सकता है । यहां सो तो माना नहीं गया किंतु अवग्रह आदि ज्ञान किसके होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर वे पदार्थके होते हैं और वह पदार्थ कोई बहुरूप होता है कोई बहुविध आदिरूप होता है इसरीतिसे 'अर्थ' शब्दका संबंध अवग्रह आदिके साथ है इसलिये यहां पर उपर्युक्त दोष नहीं लागू हो सकता। अथवा—

सर्वस्य वार्यमाणत्वात् ॥ ९ ॥

अथवा संसारके समस्त पदार्थ अर्यमाण—जानने योग्य हैं इसलिये जातिकी अपेक्षा 'अर्थस्य' यह अर्थ शब्दका षष्ठी विभक्तिके एक वचनका प्रयोग अयुक्त नहीं। अर्थात् पदार्थमात्र ही जानने योग्य हैं इसलिये समस्त पदार्थोंमें पदार्थत्व धर्म रहनेसे वे सभी पदार्थ ही कहे जाते हैं इसलिये एक वचन कहने से सवोंका ग्रहण हो जाता है। अथवा—

प्रत्येकमभिसंबंधाद्वा ॥ १० ॥

अथवा बहुत अर्थका अवग्रह होता है। बहुत प्रकारके अर्थका अवग्रह होता है। क्षिप्र पदार्थका अवग्रह होता है इसप्रकार बहु आदि शब्दोंमें हरएकके साथ जुदा जुदा अर्थ शब्दका संबंध है। बहु आदि जुदे जुदे सब एक एक ही हैं इसलिये प्रत्येक बहु आदि शब्दके साथ अर्थ शब्दका संबंध करने पर 'अर्थस्य' यह षष्ठी विभक्तिके एक वचनका प्रयोग ही ठीक है ॥ १७ ॥

जिन अवग्रह आदिका ऊपर वर्णन किया गया है वे अवग्रह आदि इंद्रिय और मनके विषयभूत समस्त पदार्थोंके होते हैं कि कुछ विशेष है ऐसी शंका उठाकर सूत्रकार विशेष बतलाते हैं—

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

व्यंजनका अर्थ अव्यक्त है। जो शब्द आदि पदार्थ व्यक्त नहीं—अव्यक्त हैं उनका अवग्रह ज्ञान होता है। इस सूत्रका उल्लेख नियम करनेके लिये है अर्थात् अव्यक्त पदार्थका केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है ईहा अवाय आदिक नहीं होते। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि अव्यक्त पदार्थका केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है ईहा आदि ज्ञान नहीं होते यह नियम तो सूत्रमें 'एव' शब्द जोडे विना नहीं हो सकता इसलिये 'व्यंजनस्यावग्रह एव' ऐसा सूत्र निर्माण करना चाहिये? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

न वा सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरब्भक्षवत् ॥ १ ॥

संसारमें ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जो जलको न पीता हो किंतु सभी जलका पान करते हैं वहां पर किसी खास व्यक्तिके लिये जो केवल जलके आधारपर ही रहता हो, 'अब्भक्षः' शब्दका प्रयोग कर दिया जाय तो उसका अर्थ होता है कि यह जल पीता है ऐसे वचनके रहनेपर एवकारके विना भी वहांपर जिसतरह यह नियम हो जाता है कि यह जल ही पीता है और कोई चीज नहीं खाता पीता यदि और भी वस्तु खाता पीता हो तो यह जल पीता है यह प्रयोग व्यर्थ है क्योंकि जल तो सभी पीते ही हैं इसलिये वह प्रयोग नियम करता है कि वह जलमात्र पीता है। उसीप्रकार व्यक्त अव्यक्त सभी पदार्थोंके जब अवग्रह आदि सिद्ध हैं तब अव्यक्तके अवग्रह होता है यहांपर एव शब्दके विना भी यही नियम मानना पडता है कि अव्यक्त पदार्थका अवग्रह ही होता है ईहा अवाय आदि नहीं होते। यदि यह नियम न माना जायगा तो फिर 'व्यंजनस्यावग्रहः' यह सूत्र ही व्यर्थ है क्योंकि व्यक्त अव्यक्त

सभी पदार्थोंके अवग्रह आदि जब माने जांयगे तो अव्यक्त पदार्थके अवग्रह होता है यह विशेष कथन व्यर्थ ही पडेगा। अव्यक्त पदार्थका अवग्रह तो सिद्ध है ही इसलिये ईहादिकी निवृत्तिके लिये उपर्युक्त नियम मानना ही होगा। यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

तयोरभेदो ग्रहणविशेषादिति चेन्न व्यक्ताव्यक्तभेदादभिनवशरावव॒त् ॥ २ ॥

जिस तरह शब्द आदि पदार्थोंका अर्थावग्रहसे ग्रहण होता है उसीतरह व्यंजनावग्रहसे भी होता है कोई भेद नहीं इसलिये दोनों प्रकारके अवग्रहोंमें जब कोई विशेष नहीं तब अवग्रहको दो प्रकारका मानना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिस तरह नवीन मिट्टीका कोरा सरावा सूक्ष्म जलकी एक दो तीन बूंदोंके पडने पर गीला नहीं होता इसलिये उसका गीलापन स्पष्टरूपसे न दीख पडनेके कारण व्यक्त नहीं कहा जाता किंतु वही कोरा सरवा बार बार धीरे धीरे जलके सींचे जानेपर गीला हो जाता है और उसका गीलापन स्पष्टरूपसे दीख पडनेके कारण व्यक्त कहा जाता है उसी तरह जहां पर ज्ञानमें पदार्थोंका व्यक्तरूपसे ग्रहण होता है वहां पर अर्थावग्रह कहा जाता है और जहां पर अव्यक्तरूपसे ग्रहण होता है वहां पर व्यंजनावग्रह कहा जाता है इसप्रकार व्यक्त ग्रहण और अव्यक्त ग्रहणकी अपेक्षा अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह दोनों प्रकारके अवग्रहोंमें भेद है इसलिये उन दोनोंका मानना व्यर्थ नहीं ॥ १८ ॥

जिसतरह अर्थावग्रह सब इंद्रियोंसे होता है उसतरह व्यंजनावग्रहका होना भी सब इंद्रियोंसे प्राप्त है परंतु इंद्रियोंसे व्यंजनावग्रह होता नहीं इसलिये जिन जिन इंद्रियोंसे व्यंजनावग्रह नहीं होता उन उन इंद्रियोंका सूत्रकार उल्लेख करते हैं—

न चक्षुरनिंद्रियाभ्यां ॥ १९ ॥

नेत्र इंद्रिय और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता। क्यों नेत्र और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता। वार्तिककार उसमें कारण बतलाते हैं—

व्यंजनावग्रहाभावश्चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारित्वात् ॥ १ ॥

जो पदार्थ अप्राप्त हो इंद्रियसे प्राप्त होकर ग्रहण न किया जाय, अविदिक सन्मुख रक्खा हो, युक्त योग्य हो, सन्निकर्षका विषय होने योग्य हो और बाह्य प्रकाशसे अभिव्यक्त—स्पष्ट रूपसे दीख पडनेवाला हो ऐसे पदार्थका ज्ञान नेत्रसे होता है तथा अप्राप्त और स्पष्ट पदार्थका ही मनसे ज्ञान होता है इस रीतिसे जब नेत्र और मनसे व्यक्त पदार्थका ही ग्रहण होता है और व्यंजनावग्रहमें अव्यक्त पदार्थोंका ही ग्रहण माना है तब नेत्र और मनसे अर्थावग्रह ही होता है व्यंजनावग्रह नहीं हो सकता।

इच्छामात्रमिति चेन्न सामर्थ्यात् ॥ २ ॥ आगमतो युक्तितश्च ॥ ३ ॥

नैयायिक लोग नेत्र इंद्रियको प्राप्यकारी मानते हैं उनका सिद्धांत है कि नेत्र तैजस इंद्रिय है, सूर्य आदि तैजस पदार्थमें जिसतरह किरणें हैं और वे आकर पदार्थोंके साथ संबंध करती हैं उसी तरह नेत्र इंद्रियके अंदर भी किरणें हैं और वे पदार्थोंके साथ संबंध करती हैं तब उनके ज्ञान होता है इसलिए उनकी ओरसे यदि यह शंका हो कि चक्षु प्राप्यकारी है—पदार्थके पास जाकर उसका ज्ञान कराती है यह युक्तिसिद्ध बात है तब उसे अप्राप्यकारी मानना इच्छामात्र है—युक्तिसे सिद्ध नहीं ? सो ठीक

१ न तो इंद्रियसे बहुत दूर हो और न अति निकट हो किंतु जितने क्षेत्रवर्ती पदार्थको इंद्रिय ग्रहण कर सकती हैं उतने ही क्षेत्र पर पदार्थ उपस्थित हो इसीका नाम योग्यता है।

नहीं, आगम और युक्ति दोनों प्रकारसे चक्षु अप्राप्यकारी ही सिद्ध होता है उसमें आगमसे इसप्रकार है—

पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं। गंधं रसं च फासं पुट्ठं बद्धं विजाणादि ॥ १ ॥

स्पृष्टं शृणोति शब्दमस्पृष्टं पुनरपि पश्यति रूपं। गंध रसं च स्पर्शं स्पृष्टं बद्धं विजानाति ॥ १ ॥

आत्मा शब्दको कर्ण इंद्रियसे स्पर्श होने पर ही सुनता है, और रूपको नेत्रेंद्रियसे स्पर्श नहीं होने पर दूरवर्ती रहने पर ही देखता है। तथा गंध रस और स्पर्शको घ्राण रसना और स्पर्शनेंद्रिय द्वारा स्पर्श करने पर और बद्ध हो जाने पर ही जानता है। इस आगमसे चक्षु अप्राप्यकारी है। युक्तिसे भी वह अप्राप्यकारी है—

जो इंद्रिय प्राप्यकारी होती है—पास जाकर पदार्थका ज्ञान कराती है वह अपनेसे संबंधित पदार्थको ही जनाती है। स्पर्शन इंद्रिय प्राप्यकारी—संबंध कर पदार्थका ज्ञान कराती है इसलिए वह अपनेसे संबंधित पदार्थका ज्ञान कराती है। नेत्र इंद्रिय प्राप्यकारी नहीं क्योंकि उससे संबंधित पदार्थका ज्ञान नहीं होता यदि उसे प्राप्यकारी माना जायगा तो नेत्रमें लगे हुए काजलका भी नेत्र इंद्रियसे ज्ञान होना चाहिए परंतु उसका ज्ञान नहीं होता इसलिए जिस तरह मन इंद्रिय अप्राप्यकारी है-पास जा कर पदार्थका ज्ञान नहीं कराती है उसीप्रकार नेत्र इंद्रिय भी अप्राप्यकारी है, वह भी पदार्थके पास जाये बिना ही उसका ज्ञान करा देती है। शंका—

जिस तरह स्पर्शन इंद्रिय आवृत—ढके हुए पदार्थके जाननेमें असमर्थ है क्योंकि वह छूकर ही ज्ञान कराती है। इसलिए उसे प्राप्यकारी माना गया है उसी प्रकार नेत्र इंद्रियसे भी ढके हुए पदार्थका ग्रहण नहीं होता इसलिए वह भी प्राप्यकारी है। इस रीतिसे नेत्र इंद्रिय प्राप्यकारी है क्योंकि वह आवृता-

नवग्रह ढके हुए पदार्थको ग्रहण नहीं करा सकती यह जो नेत्र इंद्रियको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए अनुमान है वह निर्दोष है। सो ठीक नहीं। जिसप्रकार 'सर्वे जीवाः चेतनाः स्वापवत्त्वात्' सब जीव चेतन हैं क्योंकि सब सोते हैं' यहांपर स्वापवत्त्व हेतु पक्षाव्यापक है क्योंकि पक्षमें सर्वत्र हेतु न रहै वह पक्षाव्यापक कहा जाता है। स्वापवत्व हेतु वनस्पति कायके जीवोंमें नहीं रहता क्योंकि वे सोते नहीं इसलिये समस्त जीवरूप पक्षमें न रहनेके कारण वह हेतु पक्षाव्यापक कहा जाता है उसीप्रकार 'आवृतानवग्रहात्' यह जो नेत्रको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिये हेतु दिया है वह भी पक्षाव्यापक है क्योंकि चक्षुसे ढके हुए पदार्थोंका कभी भी ग्रहण न हो सके तब तो वह हेतु पक्षाव्यापक नहीं हो सकता किंतु कांचके भीतर रक्खे हुए वा अवरख और स्फटिकमणिके भीतर रक्खे हुए पदार्थोंका चक्षुइंद्रियसे ग्रहण होता है इसलिये ढके हुए पदार्थोंका भी ग्रहण होनेके कारण हेतु पक्षाव्यापक दोषसे दूषित हुआ इस कारण चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध नहीं कर सकता। तथा 'आवृतानवग्रहत्व' यह हेतु संशय व्यभिचारसे भी दूषित है क्योंकि अयस्कांत—चुंबक पत्थर अप्राप्यकारी तो है क्योंकि वह लोहेके पास जाकर लोहेको ग्रहण नहीं करता परंतु जिससमय वह लोहा ग्रहण करता है उससमय जमीनके अंदर ढके हुए लोहेको ग्रहण नहीं करता—सामने रक्खे हुएको ही ग्रहण करता है इसलिये अयस्कांत-चुंबक पत्थर रूप विपक्षमें 'आवृतानवग्रहत्व' रूप हेतुके रहनेके कारण यह संशय होता है कि यह हेतु प्राप्यकारित्व सिद्ध करता है कि अप्राप्यकारित्व? क्योंकि पक्ष और विपक्ष दोनोंमें रहनेके कारण हेतु संशयजनक माना जाता है और वह साध्य सिद्ध नहीं कर सकता। 'आवृतानवग्रहत्व' हेतु पक्ष चक्षुमें भी रहता है और विपक्ष चुंबक पत्थरमें भी रहता है, अप्राप्यकारी होनेसे चुंबक पत्थर विपक्षी है ही।

इसलिये संशयजनक होनेसे वह चक्षुमें प्राप्यकारित्व सिद्ध नहीं करसकता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—जिस प्रकार अग्नि भौतिक है तेज आदि भूतोंका विकार है और प्राप्यकारी है—पदार्थों पर उसका प्रकाश पडता है वह उसकी किरण पास जाकर पदार्थोंका प्रकाश करानेवाली है उसीतरह चक्षु भी तेज आदि भूतोंका विकार है और पदार्थोंपर उसका प्रकाश पडता है वह उसकी किरणें पास जाकर पदार्थोंके ज्ञानमें कारण होनेसे वह प्राप्यकारी है उसके प्राप्यकारीपनेका निषेध नहीं किया जा सकता? सो ठीक नहीं। यदि भौतिक होनेसे ही पदार्थ प्राप्यकारी माना जायगा तो चुंबक पत्थर भी पृथ्वी आदि भूतोंका विकार है उसे भी प्राप्यकारी मानना पडेगा परंतु ऐसा है नहीं क्योंकि वह पदार्थ के पास प्राप्त होकर ग्रहण नहीं करता इसलिये अप्राप्यकारी है इसलिये पृथिवी आदि भूतोंका विकार होनेसे चक्षु प्राप्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जायगा कि स्पर्शन आदि इंद्रियां वाह्य इंद्रिय होनेसे जिसतरह प्राप्यकारी हैं उसीतरह चक्षु भी वाह्य इंद्रिय होनेसे प्राप्यकारी है? सो भी ठीक नहीं। पुद्गलका परिणाम स्वरूप द्रव्येंद्रियको सहायक माना है प्रधान तो वाह्य इंद्रियाकारस्वरूप परिणत आत्म-प्रदेश स्वरूप भावेंद्रिय ही है इसलिये चक्षुको वाह्य इंद्रिय नहीं कह सकते। यदि यहांपर यह शंका उठाई जाय कि जब चक्षुको अप्राप्यकारी माना जायगा तब पदार्थके पास जानेकी तो उसे आवश्यकता होगी नहीं फिर जो पदार्थ व्यवहित भित्ति आदिसे ढके हुए हैं और विप्रकृष्ट अत्यंत दूर हैं उनका चक्षुसे ग्रहण होना चाहिये हमारे (नैयायिक आदिके) मतमें तो यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि हम तो यह मानते हैं कि जहां तक चक्षुका प्रकाश पहुंचेगा उसका उससे ग्रहण होगा। जहां नहीं पहुंचेगा उसका उससे ग्रहण नहीं हो सकता। व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों तक उसका प्रकाश नहीं पहुंच सकता इसलिये

उनका उससे ग्रहण नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। चुबंक पत्थरसे यह बात खंडित हो जाती है क्योंकि चुंबक पत्थर पास न जा कर लोहेको ग्रहण करता है परंतु व्यवहित और अत्यंत दूर रक्खे हुए लोहेको नहीं खीचता अर्थात् चुंबक पत्थर भी अप्राप्यकारी है उससे भी व्यवहित और अत्यंत दूर रक्खे पदार्थका ग्रहण होना चाहिये परंतु सो होता नहीं इसलिये चक्षुको अप्राप्यकारी माननेपर भी व्यवहित और अतिविप्रकृष्ट पदार्थके ग्रहणका दोष नहीं लागू हो सकता। क्योंकि वादी यह दोष दे रहा है—चक्षुको अप्राप्यकारी माननेसे व्यवहित और अत्यंत दूरमें स्थित पदार्थका भी उससे ग्रहण होना चाहिये परंतु चुंबक पत्थररूप दृष्टांतसे यह बात सिद्ध होती है कि अप्राप्यकारी होनेपर भी चुबंक पत्थरसे व्यवहित और विप्रकृष्ट लोहेका उससे ग्रहण नहीं होता इसलिये यह संशय ही हो जाता है कि अप्राप्यकारी पदार्थसे व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थका ग्रहण होता है या नहीं ? इसरीतिसे चक्षुके अप्राप्यकारी माने जाने पर उससे व्यवहित और अत्यंत दूरमें स्थित पदार्थोंका ग्रहण ही होता है यह निश्चय नहीं किया जा सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि जब चक्षुको अप्राप्यकारी माना है तब संशय और विपरीत नामक जो मिथ्या ज्ञान होते हैं वे न होने चाहिये क्योंकि चक्षुका पदार्थके पास जाना तो माना नहीं गया इसलिये जब उससे ज्ञान होगा तब यथार्थ ही ज्ञान होगा ? सो भी अयुक्त है। यह दोष तो चक्षुको प्राप्यकारी माननेमें भी तदवस्थ है क्योंकि जब चक्षु पदार्थके साथ जाकर संबंध करेगा तो यथार्थ पदार्थके साथ ही करेगा अयथार्थके साथ नहीं इसलिये उसे प्राप्यकारी माननेमें भी संशय और विपर्ययका अभाव है। चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिये अन्यतरहसे शंका—

जिसतरह अग्नि पदार्थ तैजस है इसलिये उसमें किरणें हैं एवं वे किरणें पदार्थोंपर जाकर पडती हैं

इसलिये पास जाकर पदार्थोंका प्रकाशक होनेसे उसे प्राप्यकारी माना है उसीतरह चक्षु भी तैजस पदार्थ है इसलिये उसमें भी किरणें हैं और वे किरणें पदार्थोंपर जाकर पडती हैं इसलिये पास जाकर पदार्थोंको जाननेके कारण वह प्राप्यकारी है इसरीतिसे चक्षुको प्राप्यकारी माननेमें कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। चक्षु तैजस है यह हमें (जैनोंको) स्वीकार नहीं। यदि हठात् चक्षुको तैजस माना जायगा तो तेजका लक्षण उष्ण माना है जहां उष्णपना मालूम पडता है वह तेज पदार्थ गिना जाता है और जहां पर तेज रहता है वह स्थान गरम रहता है चक्षुरिंद्रियके रहनेका स्थान स्पर्शन इंद्रिय है। वह गरम होना चाहिये परंतु वह गरम नहीं है इसलिये कभी चक्षुको तैजस नहीं माना जा सकता और भी यह बात है कि-जो पदार्थ तैजस होता है वह भासुर-प्रकाशमान रहता है यदि चक्षुको तैजस माना जायगा तो वह भी प्रकाशमान दीख पडना चाहिये परंतु वह भासुर दीखता नहीं इसलिये चक्षु कभी तैजस नहीं कहा जा सकता। यदि यहां पर यह समाधान दिया जाय कि चक्षु है तो तैजस ही पदार्थ, परंतु अदृष्टकी कृपासे वह उष्णता और दीप्तिसे रहित है ? सो भी ठीक नहीं। अदृष्टको नैयायिक आदिने गुण विशेष माना है और गुणोंको 'निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः' इस वचनसे क्रियारहित माना है। जो पदार्थ निष्क्रिय होता है वह किसी भी पदार्थके स्वभावका विपरिणाम नहीं कर सकता इसलिये अदृष्टकी कृपासे चक्षुमें उष्णता और दीप्ति दोनों पदार्थोंका नाश नहीं हो सकता और उनके अभावमें चक्षु तैजस पदार्थ नहीं सिद्ध हो सकता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि रात्रिमें जहां तहां घूमनेवाले बिल्ली आदि जीवोंके नेत्रोंमें किरणें दीख पडती हैं। यदि चक्षुमें किरणोंका सर्वथा अभाव ही हो तो उनके नेत्रोंमें किरणें न दीखनी चाहिये तथा जो किरणोंवाला पदार्थ होता है वह तैजस ही माना जाता

है जब बिल्ली आदिके चक्षुमें किरणें प्रत्यक्ष सिद्ध हैं तब हरएक चक्षुको क्रिरणवाला और तैजस, माना जा सकता है कोई दोष नहीं? सो भी ठीक नहीं। रत्न कांच आदिक पदार्थ तैजस नहीं हैं तो भी उनके अंदर किरणें दीख पडती हैं इसलिये किरणवाला पदार्थ तैजस ही होता है यह बात प्रमाणीक नहीं मानी जा सकती इससे सिद्ध होता है कि जो पुद्गल तैजस नहीं है उसमें भी भासुर परिणाम पाया जाता है। और भी यह बात है कि—

जो गतिमान् पदार्थ होता है वह सबसे पहिले समीप पदार्थके पास जाता है पीछे दूर पदार्थके पास पहुंचता है। यह बात नहीं कि वह समीप और दूरवर्ती दोनों पदार्थोंके पास एकसाथ पहुंच सके। रश्मिरूप चक्षुको परवादी गतिमान मानता है इसलिये उसकी गति भी पाहिले समीप पदार्थोंके साथ और पीछे दूरवर्ती पदार्थोंके साथ होनी चाहिये परंतु यह स्पष्टरूपसे दीख पडता है कि जिससमय किसी वृक्षके नीचे खडा रहनेवाला ऊपरको देखता है तो उसे एक ही समयमें शाखा और चंद्रमाका ज्ञान होता है वहांपर थोडा भी कालका भेद नहीं जान पडता यदि चक्षु गतिमान पदार्थ होता तो उसे समीपमें रहनेवाली शाखा और इतनी दूरी पर रहनेवाला चंद्रमा दोनोंका ज्ञान एक साथ नहीं होता क्योंकि चक्षु दोनोंके पास एक साथ नहीं पहुंच सकता इसलिये गतिका वैधर्म्य होनेसे भी चक्षुको प्राप्यकारी नहीं माना जा सकता। तथा यदि चक्षुको प्राप्यकारी ही माना जायगा तो अत्यंत अंधकारमयी रात्रिमें जहां पर दूर प्रदेशमें अग्नि जल रही है वहां उसके पासके पदार्थ तो चक्षुसे दीख पडते हैं किंतु जहां पर

१ नैयायिक आदि रत्नोंको भी तैजस ही मानते हैं और वे कहते हैं कि रत्नमें पार्थिव भाग अधिक है इसलिये उसकी उष्णता नहीं जान पडती परन्तु उष्ण अनुष्ण पदार्थका एक जगह मानना उन्हींके सिद्धांतसे बाधित है।

खडा होकर पुरुष अग्निके पासके पदार्थोंको देख रहा है उस प्रदेशसे लेकर बीचके पदार्थ नहीं दीख पडते यदि चक्षु प्राप्यकारी ही है तो उससे बीचके पदार्थ भी दीख पडने चाहिये क्योंकि अग्निके पास में रहनेवाले पदार्थोंके पास वह एकदम कूदकर नहीं पहुंच सकता क्रम क्रमसे ही जायगा परन्तु बीचके पदार्थ नहीं दीख पडते इसलिये चक्षु कभी प्राप्यकारी नहीं हो सकता—उसे अप्राप्यकारी ही मानना होगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जहांपर अग्नि जल रही है वहांपर प्रकाश है इसलिये आग्निके आसपासके पदार्थ चक्षुसे दीख पडते हैं किंतु बीचमें जो पदार्थ पडे हैं वहांपर प्रकाश नहीं है इसलिये वे नहीं दीख पडते। सो भी कहना ठीक नहीं। जो पदार्थ तैजस होता है उसे दूसरे प्रकाशकी सहायता-की आवश्यकता नहीं होती। अग्नि तैजस पदार्थ है इसलिये जिस समय वह पदार्थोंका प्रकाश करता है उस समय उनके प्रकाश करनेमें वह दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखता उसीप्रकार चक्षु भी तैजस पदार्थ है जिस समय उससे पदार्थ देखे जांय उस समय उसे भी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये परन्तु बीचके पदार्थोंके न देख सकनेके कारण यह मालूम पडता है कि चक्षुको प्रकाशकी अ-पेक्षा रहती है इसलिये वह कभी तैजस नहीं कहा जा सकता। और भी यह वात है कि—

नासिका आदि इंद्रियां जिस समय अपने गंध आदि विषयोंको ग्रहण करती हैं उस समय अव्यवहित और जितना होता है उतना ही ग्रहण करती हैं किंतु यह वात नहीं कि किसी पदार्थसे ढके हुए गंधको वे ग्रहण कर सकें वा जितना गंध आदि पदार्थ है उससे अधिक वा कम ग्रहण कर सकें। यदि चक्षुको प्राप्यकारी माना जायगा तो जो पदार्थ कांच आदिके भीतर रक्खा है उसका चक्षुसे ग्रहण न हो सकेगा क्योंकि चक्षुका संबंध कांच आदि सामने रक्खे हुए पदार्थके साथ ही है किंतु उसके भीतर

रक्खे हुए पदार्थके पास वह नहीं पहुंच सकता तथा घटका एक ओरका भाग देखते ही समस्त घटका ग्रहण हो जाता है यदि चक्षुको प्राप्यकारी माना जायगा तो जितने भागके पास वह पहुंचा है उतने ही भागका ग्रहण होना चाहिये परन्तु सो नहीं होता, समस्त घटका वहां ग्रहण होता है दूसरे जो पदार्थ छोटा है वह चक्षुद्वारा बडा भी देखनेमें आता है जो बडा है वह छोटा दीख पडता है इस प्रकारकी हीनाधिक ग्राहकता अन्य प्राप्यकारी इंद्रियोंमें नहीं पाई जाती है क्योंकि प्राप्यकारितामें जो जितना विषय है वह उतने हीको ग्रहण कर सकता है इसलिये चक्षु प्राप्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

यदि यह कहा जाय कि इंद्रियोंका अधिष्ठान—रहनेका स्थान बाह्य है इसलिये वे ढके हुए पदार्थको वा अधिक पदार्थको ग्रहण कर सकतीं हैं इस रीतिसे चक्षु भी ढके पदार्थका और अधिकका ग्रहण कर सकता है। सो भी ठीक नहीं। जिसको इंद्रियोंके रहनेका स्थान कहा जाता है वह द्रव्येंद्रिय है यदि उसे इंद्रियोंके रहनेका स्थानमात्र कहा जायगा और इंद्रियोंको उससे सर्वथा भिन्न माना जायगा तो किसी कारणसे विकार हो जानेपर उसका इलाज करनेसे इंद्रियोंको लाभ नहीं पहुंचेगा क्योंकि वह रहनेमात्रका स्थान है दूसरे उस स्थानके बंद हो जानेपर भी इंद्रियोंसे पदार्थोंका ग्रहण हो सकेगा क्योंकि स्थान उनको विषय ग्रहण करनेमें प्रतिबंधक नहीं हो सकता तथा यदि बाह्य अधिष्ठानके रहनेसे ही इंद्रियां पदार्थोंके ग्रहण करनेमें समर्थ मानी जांयगी तो मनसे अधिष्ठित इंद्रियां अपने अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं यह आपका सिद्धांत है परन्तु मनके रहनेका कोई बाह्य स्थान है नहीं इसलिये उससे अधिष्ठित हो इंद्रियां पदार्थोंको ग्रहण न कर सकेंगी और न मनसे ही किसी पदार्थका ग्रहण होगा तथा 'मनसे अधिष्ठित हो इंद्रियां अपने अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं' ऐसा कहनेसे इंद्रियोंका अधिष्ठान मनके

अनुकूल होना चाहिये परन्तु मनके अनुकूल इंद्रियोंका अधिष्ठान माना नहीं जा सकता क्योंकि तुमने मनको अणु पदार्थ माना है और चक्षुका किरण समूह सर्वत्र फैला हुआ माना है इसलिये इतने विशाल किरण समूहरूप चक्षुका अणुकी बराबर मन कभी अधिष्ठान नहीं बन सकता। इस रीतिसे इंद्रियोंका बाह्य अधिष्ठान होनेसे वे सांतर और अधिकका ग्रहण कर सकती हैं यह नहीं कहा जा सकता। अब यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

कर्ण इंद्रियसे दूरवर्ती शब्दका ग्रहण होता है। उस शब्द तक कर्ण इंद्रिय पहुंच नहीं सकती इसलिये कर्णइंद्रिय भी अप्राप्यकारी है—शब्दके पास न जाकर ही उसे ग्रहण करनेवाली है? सो ठीक नहीं। कर्णइंद्रिय प्राप्यकारी है वा अप्राप्यकारी है यह वात तो पीछे निश्चित होगी पहिले ये विकल्प उठते हैं कि वह दूरवर्ती शब्दको ग्रहण करती है कि नासिका इंद्रियके समान भिडकर अपने विषयरूप परिणत शब्दको ग्रहण करती है? यदि यह कहा जायगा कि दूरवर्ती शब्दको ग्रहण करती है तब किसी कारण से जब कानके भीतर मच्छर घुस जाता है और वह जब बिल बिलाकर शब्द करता है तब कानसे सुन पडता है परन्तु अब नहीं सुना जाना चाहिये क्योंकि ऐसी कोई भी इंद्रिय नहीं जो दूरवर्ती पदार्थको भी ग्रहण करै और समीपवर्तीको भी ग्रहण करै। कानके भीतर रहनेवाला मच्छरका शब्द तो विलकुल कानसे स्पृष्ट है। यदि कदाचित यहां यह कहा जाय कि—शब्द आकाशका गुण है और आकाश अमूर्तिक पदार्थ है इसलिये शब्दमें स्पर्श गुण न रहनेके कारण वह स्पृष्ट नहीं कहा जा सकता? सो भी ठीक नहीं। यदि शब्दको अमूर्तिक आकाशका गुण माना जायगा तो जिस तरह अमूर्तिक आत्माके गुणों

१ 'शब्दगुणकमाकाशं' अन्नंभट्ट।

का इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता उसी तरह अमूर्तिक आकाशके गुण शब्दका भी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष न होना चाहिये परन्तु कर्णइंद्रियसे शब्दका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह आकाशका गुण नहीं कहा जा सकता और न उसमें स्पर्श गुणका निषेध किया जा सकता है। इस रीतिसे दूरवर्ती शब्दके पास जाकर कर्ण-इंद्रिय उसे ग्रहण करती है यह बात नहीं कही जा सकती किंतु कर्णइंद्रियके पास आकर जब शब्द कर्णके साथ संबंध करता है उस समय उससे शब्दका ग्रहण होता है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जब श्रोत्र इंद्रियके पास आकर शब्द प्राप्त होगा तब कर्णइंद्रिय उसे ग्रहण करेगी वह उसके पास नहीं जा सकती तब पूर्व दिशामें हुआ वा पश्चिम दिशामें हुआ इस प्रकार दिशा और मृदंगका वा मंजीराका, इसप्रकार देशके भेदसे शब्दोंका ग्रहण होता है अब दिशा और देशके भेदसे शब्दोंका ग्रहण न हो सकेगा क्योंकि सब शब्द जब कर्णमें ही आकर प्राप्त हो जांयगे तब उनमें दिशा और देशका भेद कैसा? सो ठीक नहीं। शब्दस्वरूप परिणत हो फैलनेवाले पुद्गलमें वेगशक्ति मानी है उसकी विशेषतासे जिस क्षणमें जिस दिशा वा देशमें शब्द हुआ कि तत्काल फैलकर उसके परमाणु कान तक पहुंच जाते हैं कुछ भी वहां कालका विलंब नहीं होता इसलिये वह जिस दिशा वा जिस देशमें होता है उसी देशका कर्णइंद्रियसे जान लिया जाता है तथा शब्दको सूक्ष्म होनेसे और अप्रतिघाती होनेसे अर्थात् किसीसे नहीं रुकनेवाला होनेसे चारों ओरसे कर्णमें उसका प्रवेश हो जाता है इस रीतिसे उपर्युक्त तर्क वितर्कसे यह अच्छीतरह निश्चित हो चुका कि चक्षु और मनको छोडकर शेष इंद्रियोंसे व्यंजनावग्रह होता है और चक्षु एवं मनसहित समस्त इंद्रियोंसे अर्थावग्रह होता है। शंका—

मनसोऽनिंद्रियव्यपदेशाभावः स्वविषयग्रहणे करणांतरानपेक्षत्वाच्चक्षुर्वत् ॥ ४ ॥ न वाऽप्रत्यक्षत्वात् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नेत्रइंद्रिय जिस समय रूपका ग्रहण करती है उस समय वह रूपके ग्रहण करनेमें दूसरी इंद्रियकी अपेक्षा नहीं करती इसलिये उसे इंद्रिय कहा जाता है उसीप्रकार मन भी जिस समय गुण और दोषोंका विचार करता है उस समय उस विचारमें वह किसी भी अन्य इंद्रियकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये उसे भी इंद्रिय कहना चाहिये अनिंद्रिय नहीं ? सो ठीक नहीं। जिस प्रकार नेत्र आदि इंद्रिय आपसमें एक दूसरेको प्रत्यक्ष दीख पडतीं हैं उसप्रकार मन, प्रत्यक्षसे नहीं दीख पडता किंतु वह सूक्ष्म द्रव्यका परिणमनस्वरूप है इसलिये वह चक्षु आदि इंद्रियोंके समान इंद्रिय नहीं कहा जा सकता किंतु अनिंद्रिय ही है। जब मन अनिंद्रिय पदार्थ है तब उसके अस्तित्वका ज्ञान कैसे हो सकता है? इस वातका समाधान वार्तिककार देते हैं—

अनुमानात्तस्याधिगमः ॥ ६ ॥ युगपज्ज्ञानक्रियानुत्पत्तिर्मनसो हेतुः ॥ ७ ॥

अनुस्मरणदर्शनाच्च ॥ ८ ॥

यद्यपि सूर्यका गमन प्रत्यक्षसे नहीं दीखता तो भी वह पूर्व दिशामें उदित हो कर पश्चिम दिशामें जाकर अस्त होता है यह बात गमन किए बिना नहीं बन सकती, इस अनुमानसे उसका गमन निश्चित कर लिया जाता है। आम्र वृक्ष आदि वनस्पतियोंका बढना घटना प्रत्यक्षसे नहीं दीख पडता तो भी उत्पत्ति कालमें वृक्ष बहुत छोटा होता है पीछे बहुत बडा हो जाता है। वृक्षोंमें वृद्धि और ह्रास बिना माने उनमें घटना बढना नहीं हो सकता इस अनुमानसे वनस्पतिमें वृद्धि ह्रासका निश्चय कर लिया जाता है उसी तरह यद्यपि प्रत्यक्षसे मन नहीं दीख पडता तो भी जब नेत्र आदि पांचों इंद्रियां अपने अपने विषयके ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। उनके विषयभूत रूप आदि पदार्थ भी संसारमें मौजूद

हैं। इंद्रियोंके अपने अपने विषयोंके जाननेमें अनेक प्रकारके प्रयोजन भी विद्यमान हैं फिर क्या बात है कि पांचों इंद्रियोंसे एक साथ ज्ञान नहीं होता। यह शंका होने पर कहना होगा कि पांचों इंद्रियोंके विषय भूत पदार्थोंके साथ युगपत् मन संबंध नहीं करता किंतु क्रम क्रमसे संबंध करता है इसलिए एक साथ पांचों इंद्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, क्रम क्रमसे ही होती है। इसलिए एक साथ ज्ञानोंकी अनुत्पत्ति रूप हेतुसे मन पदार्थका निश्चय हो जाता है। तथा जो पदार्थ एक बार देख लिया जाता है वा सुन लिया जाता है कालांतरमें उसका स्मरण होता है यह बात सिवाय मनके दूसरेसे नहीं हो सकती और होती हुई अनुभवमें आती ही है इसलिए कभी मनका अभाव नहीं माना जा सकता इसरीतिसे प्रत्यक्षके विषय न भी होने वाले पदार्थोंकी सत्ताका जब अनुमानसे निश्चय हो जाता है तब यद्यपि मन पदार्थ परोक्ष है तो भी उसका अभाव नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि आत्मा एक है उसके अनेक करण कैसे हो सकते हैं? उसका समाधान इस प्रकार है—

ज्ञस्वभावस्यापि करणभेदोऽनेककलाकुशल-देवदत्तवत् ॥ ९ ॥

एक ही देवदत्त जिस समय चित्र क्रियामें प्रवृत्त होता है उससमय उसे चित्रके कारण सलाई कलम और कुची आदि उपकरणोंकी अपेक्षा करनी पडती है। जिस समय वह किसी काठके कार्यमें प्रवृत्त होता है उस समय उसे बसूला हथौडा और आरेकी अपेक्षा करनी पडती है इसलिए एक ही देवदत्तको जिस प्रकार अनेक करणोंकी अपेक्षा रहती है उसी प्रकार एक भी आत्माको क्षयोपशमके भेदसे ज्ञान करानेमें शक्तिमान चक्षु आदि अनेक करणोंकी अपेक्षा करनी पडती है अर्थात्-जिस समय आत्मा रूप आदिको

१ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं प्रथ० अ० प्र० आ० पृ० २३ न्यायदर्शन।

देखना चाहता है उस समय उसे चक्षु इंद्रिय रूप करणकी अपेक्षा करनी पडती है। जिस समय वह शब्द सुनना चाहता है उस समय उसे श्रोत्रेंद्रियरूप करणकी अपेक्षा करनी पडती है इसी तरह आगे भी जिस जिस इंद्रियके विषयके ग्रहण करनेकी अपेक्षा करता है उसे उस उस इंद्रिय स्वरूप करणकी अपेक्षा करनी पडती है इसलिए कोई दोष नहीं। तथा—

स नामकर्मसामर्थ्यात् ॥ १० ॥

करणोंके जो चक्षु श्रोत्र आदि भेद हैं वे नाम कर्मकी अपेक्षासे हैं और वे इस प्रकार हैं–शरीर नामक नाम कर्मके उदय आदिसे उत्पन्न होनेवाली और जो कि नलीके समान आकारकी धारक श्रोत्र इंद्रिय है वही शब्दोंके ज्ञान करनेमें समर्थ है अन्य किसी इंद्रियसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता। तथा पूर्वोक्त कर्मके उदय आदिसे उत्पन्न होनेवाली अतिमुक्तक चंद्रकके[1] समान आकारकी धारक नासिका इंद्रियसे गंधका ज्ञान नहीं हो सकता। पूर्वोक्त कर्मके उदय आदिसे निर्मित खुरपाके समान आकारकी धारक जिह्वा इंद्रिय है उसीसे इसका ज्ञान हो सकता है अन्य इंद्रिय रसके ज्ञान करानेमें समर्थ नहीं। पूर्वोक्त कर्मके उदय आदिसे निर्मित अनेक प्रकारके आकारोंको धारण करनेवाली स्पर्शन इंद्रिय है। स्पर्शके ग्रहण करनेमें इसीकी सामर्थ्य है और किसीका स्पर्शन इंद्रियसे ग्रहण नहीं हो सकता। एवं पूर्वोक्त कर्मके उदय आदिसे निर्मित मसूरके आकार और कृष्ण तारा मंडलसे अधिष्ठित नेत्र इंद्रिय है। रूपके ग्रहण करनेमें इसी इंद्रियकी सामर्थ्य है और किसी इंद्रियसे रूपका ग्रहण नहीं हो सकता इस प्रकार यह मतिज्ञानके पांचों करणोंकी हेतुपूर्वक सिद्धि कह दी गई। इस मतिज्ञानका स्वरूप द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा भी समझ लेना चाहिए और वह इस प्रकार है——

१ तिलका पुष्प।

मतिज्ञानी पुरुषको यदि उपदेश द्वारा समझाया जाय तो वह मतिज्ञानसे समस्त द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायोंको जान सकता है समस्त पर्यायोंको नहीं। यदि उसे क्षेत्र संबंधी उपदेश दिया जाय तो वह उपदेशसे समस्त क्षेत्रोंको जान सकता है। यहांपर क्षेत्रका अर्थ विषय भी है इसलिये जिससे इंद्रियोंकी अपेक्षा विचार किया जायगा उससमय चक्षुका क्षेत्र सैंतालिस हजार दोसौ त्रेसठि योजन और एक योजनके साठि भागोंमेंसे इकीस भाग प्रमाण है अर्थात् अधिकसे अधिक चक्षु इतनी दूर तक देख सकता है उससे अधिक नहीं। कर्ण इंद्रियका क्षेत्र बारह योजन है एवं नासिका जिह्वा और स्पर्शन इंद्रियका नौ नौ योजन है। यदि मतिज्ञानीको काल संबंधी उपदेश दिया जाय तो वह समस्त कालको जान सकता है और यदि भावसंबंधी उपदेश दिया जाय तो वह जीव अजीव आदिके औदयिक आदि भावोंको जान सकता है।

सामान्य रूपसे तो मतिज्ञान एक प्रकारका है। इंद्रिय और अनिंद्रियके भेदसे दो प्रकारका है। अवग्रह ईहा अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारका है। अवग्रह आदि चारो भेदोंका यदि इंद्रियोंके साथ गुणा किया जाय तो वह चौबीस प्रकारका है। व्यंजनावग्रह चार इंद्रियोंसे होता है यदि चौबीस भेदोंमें चार प्रकारका व्यंजनावग्रह मिला दिया जाय तो उसके अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। इन्हीं अट्ठाईस भेदोंमें यदि अवग्रह आदि चार मूल भेद वा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव ये चार मिला दिये जांय तो मतिज्ञानके बत्तीस भेद हो जाते हैं। मतिज्ञानके चौबीस भेदोंका यदि बहु आदि छैके साथ गुणा किया जाय तो एकसौ चालिस उसके भेद हो जाते हैं। यदि अट्ठाईस भेदोंका बहु आदि छैके साथ गुणा किया जाय तो एकसौ अडसठि और बत्तीस भेदोंका बहु आदि छैके साथ गुणा किया जाय तो एकसौ

बानबे भेद हो जाते हैं। यदि उन्हीं चौबीस भेदोंका बहु आदि बारहके साथ गुणा किया जाय तो दो सौ अठासी, यदि अट्ठाईस भेदोंका बहु आदि बारहके साथ गुणा किया जाय तो तीनसौ छत्तीस और यदि बत्तीस भेदोंका बहु आदि बारहके साथ गुणा किया जाय तो तीनसौ चौरासी भेद हो जाते है। शंका—

व्यंजनावग्रहमें अव्यक्त पदार्थका अवग्रह माना है। बहु आदि पदार्थ व्यक्त हैं इसलिये उनका व्यंजनावग्रह नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। जब अव्यक्तका ग्रहण व्यंजनावग्रह माना गया है तब बहु आदि भेद भी अव्यक्त हो सकते हैं इसलिये उनका व्यंजनावग्रह होना असंभव नहीं। यदि यह कदाचित् और भी शंका की जाय कि अनिःसृतमें व्यंजनावग्रह कैसे होगा? क्योंकि वहांपर जो पदार्थके अवयव बाहर निकले हुए हैं वे व्यक्त ही हैं अव्यक्त नहीं। यहांपर यह नहीं कहा जा सकता कि बाहर निकले हुए भी जो पुद्गल सूक्ष्म हैं और सूक्ष्मतासे दीख नहीं पडते वहां व्यंजनावग्रह हो सकता है? क्योंकि वहां जो निकले हुए पुद्गलके अवयव हरएकको नहीं दीख पडते हैं उनके न दीखनेमें सूक्ष्मता कारण है—सूक्ष्म होनेसे वे दृष्टिगोचर नहीं हो सकते परंतु उनको अव्यक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे देखे जा सकते हैं इसलिये अनिःसृतका व्यंजनावग्रह बाधित है। सो ठीक नहीं हम भी उनका व्यंजनावग्रह नहीं मानते किंतु जो वाहर निकले हुए पदार्थ इंद्रियोंके स्थानमें आकर अवगाहन करते हैं ठहरते हैं और व्यक्त नहीं होते उनका व्यंजनावग्रह होता है। यद्यपि चक्षु और मनके स्थानपर पदार्थों का अवगाहन होना बाधित है क्योंकि वहां अवगाहन हो नहीं सकता उनसे व्यंजनावग्रह माना ही नहीं गया किंतु उनके सिवाय चार इंद्रियोंसे व्यंजनावग्रह माना है और उनके स्थानमें पदार्थोंका अवगाहन

मतिपूर्वकत्वे श्रुतस्य तदात्मकत्वप्रसंगो घटवत्, अतदात्मकत्वे वा तत्पूर्वकत्वाभावः ॥ ३ ॥

न वा निमित्तमात्रत्वाद्दंडिवत् ॥ ४ ॥

जो गुण कारणमें होते हैं वे कार्यमें आते हैं जिसतरह जो घट मिट्टीसे बनाया जाता है वह अपने घट कार्यकालमें भी मिट्टीस्वरूप ही रहता है । यदि मतिज्ञानको श्रुतज्ञानका कारण माना जायगा तो उसे मतिज्ञानस्वरूप ही कहना पडेगा । यदि श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें उसे कारण नहीं माना जायगा तो 'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' यह बात ही न बन सकेगी । इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण नहीं हो सकता। सो ठीक नहीं। जिसतरह घटकी उत्पत्तिमें दंड आदि निमित्त कारण हैं और "निमित्त कारणके गुण कार्यमें आते नहीं" यह प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिये दंड आदि निमित्त कारणोंके गुण घटमें आते नहीं दीख पडते उसीप्रकार श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें मतिज्ञान निमित्त कारण है और निमित्त कारण होनेसे मतिज्ञानके गुण श्रुतज्ञानमें नहीं आ सकते। इसका खुलासा इसप्रकार है—

मिट्टी जिससमय घटस्वरूप परिणामके अभिमुख होती है । घटस्वरूप उसका परिणाम होता है उससमय उसके उस रूपमें परिणत होनेमें दंड चाक और पुरुषका प्रयत्न आदि निमित्त कारण होते हैं क्योंकि बालू आदिके ढेरस्वरूप मिट्टीके पिंडको यदि घटस्वरूप परिणत न किया जाय तो दंड आदि निमित्तोंके विद्यमान रहते भी घट नहीं उत्पन्न हो सकता इसलिये जिसप्रकार स्वयं मिट्टी ही अंतरंगमें घट रूप पर्यायके अभिमुख होने पर बाह्य दंड आदि निमित्त कारणोंकी सहायतासे घट बन जाती है। दंड आदि घट नहीं बनते इसलिये वे घटकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण माने जाते हैं उसीप्रकार पर्यायी आत्मा और पर्याय ज्ञानादिकी कथंचित् भेद विवक्षा रहने पर जिससमय आत्मा स्वयं अंतरंगमें श्रुत-

ज्ञानस्वरूप परिणत होना चाहता है उससमय उसके उसप्रकारके परिणमनमें मतिज्ञान निमित्त कारण होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्णेंद्रियका अवलंबन रहनेपर तथा वाह्यमें आचार्यों द्वारा पदार्थोंका उपदेश मिलने आदि निमित्तोंके समीपमें रहने पर भी जब ज्ञानावरणकर्मके उदयसे अंतरंगमें श्रुतज्ञान स्वरूप परिणत होना नहीं चाहता तब श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिये अंतरंगमें श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे श्रुतज्ञानस्वरूप पर्यायके आभिमुख आत्मा ही वाह्यमें मतिज्ञान आदि निमित्तोंकी अपेक्षा रखता हुआ स्वयं श्रुतज्ञानी कहा जाता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता किंतु मतिज्ञान उसकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण है । निमित्त कारणके गुण कार्यमें आ नहीं सकते इसलिये जब श्रुतज्ञानका मतिज्ञान कारण है तब मतिज्ञानके गुण श्रुतज्ञानमें आने चाहिये और गुणोंके आनेसे उसे मतिज्ञान ही कहना चाहिये यह कहना व्यर्थ है। और भी यह बात है—

अनेकांताच्च ॥ ५ ॥

कारणके समान ही कार्य होते हैं यह एकांत नहीं है किंतु वहां भी सप्तभंगी घटित होती है कथंचित सदृश है और कथंचित् सदृश नहीं भी है यह सिद्धांत माना है । जिसतरह अजीवपना और ज्ञानादि उपयोगरहितपना जैसा मिट्टीमें है वैसा ही घटमें है इसलिये अजीवपना और उपयोगसे रहितपनाकी अपेक्षा तो मिट्टीके सदृश घट है और जैसा मिट्टीका पिंड है वैसा घटका नहीं एवं जैसा मिट्टीका आकार है वैसा घटका नहीं इसप्रकार पिंड और आकारकी विषमताकी अपेक्षा मिट्टीके समान घट नहीं भी है। यह यहांपर सात भंगोंमें आदिके दो भंगोंकी अपेक्षा कथन है इसीतरह कथंचित् सदृश है भी और नहीं भी है। कथंचित् अवक्तव्य है इत्यादि वाकीके भंग समझ लेने चाहिये। यदि सर्वथा मिट्टीके

सामान्यरूपसे श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक कहना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। यह ऊपर कहा जा चुका है कि श्रुतशब्द रूढ है। जो शब्द रूढ होते हैं वे अपने व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थकी अपेक्षा नहीं करते। यद्यपि 'सुनकर जो निश्चय होना वह श्रुत है' श्रुतशब्दके इस अर्थसे श्रोत्रेंद्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वकता ही श्रुतज्ञानके सिद्ध होती है तो भी रूढिबलसे समस्त इंद्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वकता उसके मानी है श्रुत का लक्षण यही है कि अर्थसे अर्थांतरका बोध होना, वह लक्षण जहां प्रत्येक इंद्रियसे पदार्थ ग्रहण होकर अर्थसे अर्थांतरका बोध होगा वहां सर्वत्र घटित होगा इसलिये सामान्यसे मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है इस अर्थके माननेमें कोई आपत्ति नहीं। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

आदिमतोऽन्तवत्त्वाच्छ्रुतस्यानादिनिधनत्वानुपपत्तिरिति चेन्न द्रव्यादिसामान्यापेक्षया तत्सिद्धेः ॥ ७ ॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है इस अर्थसे श्रुतज्ञानको सादिपना सिद्ध होता है। जिस पदार्थकी आदि है उसका अंत भी नियमसे है इसरीतिसे जब श्रुतज्ञानके आदि अंत दोनों सिद्ध हैं तब 'अनादिनिधनं श्रुतं' श्रुतज्ञान आदि अंत रहित है, यह कथन बाधित हो जाता है तथा जो पदार्थ पुरुषके प्रयत्नसाध्य होता है वह प्रमाणिक नहीं गिना जाता यदि श्रुतको सादि और सांत माना जायगा तो वह भी पुरुषकृत ही होनेके कारण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता इसलिए श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक माननेमें अनेक दोष आते हैं? सो ठीक नहीं। जिस प्रकार बीजसे अंकुरा, अंकुरासे बीज यहांपर जब संतानकी अपेक्षा की जाती है तब बीज और अंकुर अनादि निधन कहे जाते हैं क्योंकि बीज और अंकुरकी संततिमें ऐसा कोई भी निश्चयरूपसे नहीं कह सकता कि पहिले बीज है कि पहिले अंकुर है किंतु विशेष रूपसे जहांपर किसी बीजसे अंकुर हुआ है वहांपर बीज और अंकुर सादि सांत हैं क्योंकि वहां

पर पहिले बीज पीछे अंकुर हुआ है इसलिए बीज और अंकुरमें जिस प्रकार संतानकी अपेक्षा अनादि निधनपना है और व्यक्ति विशेषकी अपेक्षा सादि सांतपना है उसी प्रकार जहां पर द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी भिन्न भिन्न विवक्षा न कर सामान्य रूपसे विवक्षा है वहांपर तो श्रुतज्ञान अनादि निधन है क्योंकि किसी पुरुषने कभी किसी कालमें किसी प्रकारसे श्रुतका निर्माण नहीं किया किंतु जिस समय अमुक द्रव्यसे अमुक क्षेत्रमें अमुक कालमें अमुक भावसे श्रुतका निर्माण किया गया है, इस तरहकी जहांपर द्रव्य क्षेत्र आदिकी विशेष विवक्षा है वहां श्रुत सादि सांत है इस रीतिसे कथंचित् सामान्यकी अपेक्षा श्रुत अनादि अनंत है और कथंचित्-विशेषकी अपेक्षा सादि सांत है इसलिए 'अनादिनिधनं श्रुतं' यह वचन अनेकांत वादकी अपेक्षा कभी बाधित वा मिथ्या नहीं कहा जा सकता। तथा सादि सांत पक्षमें पुरुषकृत होनेसे जो श्रुतको अप्रमाणिक ठहराया है वह भी ठीक नहीं। क्योंकि चोरीके उपदेशके कर्ताका किसीको स्मरण नहीं है अर्थात् चोरीका उपदेश किसने दिया इसका कोई निश्चय नहीं जिससे वह पुरुषकृत माना जाय वहां उस चोरी आदिके उपदेशको भी प्रामाणिक मानना पडेगा क्योंकि वहांपर भी पुरुषकी कृति का निश्चय नहीं है। तथा यह भी बात है कि सादि सांत कहनेसे श्रुतको अनित्यपना सिद्ध होता है इसीसे उसे अप्रमाणिक सिद्ध करनेके लिये यत्न किया जाता है परंतु अनित्य पदार्थ सब अप्रमाणिक ही होते हैं, यह बात नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष आदि भी अनित्य पदार्थ हैं। यदि अनित्य पदार्थोंको अप्रामाणिक माना जायगा तो प्रत्यक्ष अनुमान आदिको भी अप्रामाणिक मानना पडेगा परंतु उन्हें अप्रामाणिक नहीं माना गया अन्यथा संसारके पदार्थोंकी व्यवस्था ही न हो सकेगी इसलिए सादि सांत होनेसे श्रुतको अप्रामाणिकपना नहीं हो सकता। इस रीतिसे

कथंचित् अनादि निधन और कथंचित् सादि सांत श्रुत है और वही प्रमाण है यह बात निश्चित हो चुकी। शंका—

सम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपन्मतिश्रुतोत्पत्तेर्मतिपूर्वकत्वाभाव इति चेन्न सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् ॥ ८ ॥

जबतक आत्मामें सम्यग्दर्शन गुणका प्रादुर्भाव नहीं होता तबतक उसमें मति और श्रुतकी स्थिति अज्ञानरूपसे रहती है किंतु जिस समय प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है उस समय दोनों ही एक साथ सम्यग्ज्ञान हो जाते हैं इस रीतिसे जब दोनोंका सम्यग्ज्ञानपना एक साथ सिद्ध है तब मतिज्ञान-पूर्वक श्रुतज्ञान होता है यह कहना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानोंकी उत्पत्ति तो क्रमसे ही होती है किंतु सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होनेपर दोनों ज्ञानोंमें सम्यक्पना साथ २ आता है इसलिये उसीकी अपेक्षासे युगपत् उत्पत्ति कही गई है। आत्मामें प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रगट हो जानेपर दोनों ज्ञानों का सम्यग्ज्ञानपना एक साथ होता है परन्तु जिस तरह पितासे पुत्र उत्पन्न होता है उसतरह श्रुतज्ञान-की उत्पत्ति मतिज्ञानसे ही होती है इसलिये श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक मानना युक्त ही है—अयुक्त नहीं ॥ ८ ॥ यदि कदाचित् यह और भी शंका की जाय कि—

मतिपूर्वकत्वाविशेषाच्छ्रुताविशेष इति चेन्न, कारणभेदात्तद्भेदासिद्धेः ॥ ९ ॥

जब श्रुतज्ञानको मतिपूर्वक माना है तब सब जीवोंका श्रुतज्ञान एकसा होना चाहिये क्योंकि सब के श्रुतज्ञानमें मतिज्ञानरूप कारण समान है। सो ठीक नहीं। यद्यपि श्रुतज्ञानमात्रकी उत्पत्तिमें मति-ज्ञानको कारण माना है परन्तु मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम अनेक प्रकारका है और श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम भी अनेक प्रकारका माना है इसलिये हर एक पुरुषकी अपेक्षा जैसा २ मतिज्ञानावरण

कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा मतिज्ञान होगा उसीके अनुसार श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे श्रुतज्ञान माना जायगा इसलिये कारण—मतिज्ञानके भेदसे कार्य श्रुतज्ञानका भेद है। इस रीतिसे सबमें एकसा श्रुतज्ञान न होकर हीनाधिकभावसे है यह बात सिद्ध हो चुकी।

श्रुताच्छ्रुतप्रतिपत्तेर्लक्षणाव्याप्तिरिति चेन्न तस्योपचारतो मतित्वसिद्धेः ॥ १० ॥

जिस पुरुषको घट पदार्थका संकेत मालूम है उसको पहिले शब्दस्वरूप परिणत पुद्गलस्कंधोंसे वर्ण पद वाक्य आदि स्वरूप जो घटका ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और उसके बाद 'घट मिट्टीका होता है, उसका ऐसा आकार होता है' इत्यादि नेत्र आदि इंद्रियोंके विषयका अविनाभावी जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञानके विषयभूत घटसे उसको जलधारण आदिका जो ज्ञान होता है वह भी श्रुतज्ञान है। इसी तरह जिस पुरुषको धूम पदार्थका संकेत मालूम है उसका धूम शब्दका सुनना मतिज्ञान है और उसके बाद 'धूम अग्निसे उत्पन्न होता है और वह काला काला होता है' इत्यादि रूप जो नेत्रादि इंद्रियोंके विषयका अविनाभावी विशिष्ट ज्ञान है वह श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञानके विषयभूत धूमसे जो अग्निका ज्ञान होता है वह भी श्रुतज्ञान है इस रीतिसे जब श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति दीख पडती है तब मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात अयुक्त है? सो ठीक नहीं। जहांपर मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होनेके बाद जो उस श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान होता है वहांपर पहिले श्रुतज्ञानको उपचारसे मतिज्ञान ही माना है इसलिये श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक कहना अयुक्त नहीं। अथवा 'मतिपूर्व' यहांपर पूर्व शब्दका व्यवहित अर्थ है इसलिये जिस तरह मथुरासे पटना पूर्व दिशामें है वहांपर अनेक शहर गांव आदिके व्यवधान रहते भी पटनाको पूर्व ही दिशामें माना जाता है उसी तरह श्रुत-

ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है वहांपर श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान होनेपर भले ही श्रुतज्ञानका व्यवधान होवे तो भी वह मतिज्ञानपूर्वक ही माना जाता है, कोई दोष नहीं।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ ११ ॥

'देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्त भोजन करें' यहांपर भोजन क्रियाका जिस प्रकार हरएकके साथ संबंध है अर्थात् देवदत्त भोजन करै जिनदत्त भी भोजन करै और गुरुदत्त भी भोजन करै वहां यह अर्थ लिया जाता है उसी प्रकार यहां भी भेद शब्दका संबंध दो अनेक और द्वादशके साथ है अर्थात् श्रुतज्ञानके दो अनेक और बारह भेद हैं।

तत्रांगप्रविष्टमंगवाह्यं चेति द्विविधमंगप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्त-
गणधरानुस्मृतग्रंथरचनं ॥ १२ ॥

भगवान अर्हंत सर्वज्ञरूपी हिमवान पर्वतसे निकली हुई वचनरूपी गंगाके अर्थरूपी निर्मल जलसे जिनके अंतःकरण धोये गये हैं ऐसे बुद्धिके अतिशय एवं ऋद्धियुक्त गणधरदेवने उन्हीं सर्वज्ञकी वाणीका स्मरण रखते हुए उसी अभिप्रायके अनुसार ग्रंथोंकी रचना की, वही द्वादशांगरूप रचना अंगप्रविष्टके नामसे प्रख्यात हुई है—अंगप्रविष्ट और अंगवाह्यके भेदसे श्रुतज्ञान दो प्रकारका है उसमें अंगप्रविष्टके आचार १ सूत्रकृत २ स्थान ३ समवाय ४ व्याख्या प्रज्ञप्ति ५ ज्ञातृधर्मकथा ६ उपासकाध्ययन ७ अंतकृद्दश ८ अनुत्तरौपपादिकदश ९ प्रश्नव्याकरण १० विपाकसूत्र ११ और दृष्टिवाद १२ ये बारह भेद हैं और वह बुद्धिका अतिशयरूप ऋद्धिसंयुक्त गणधरोंसे अच्छीतरह विचारे गये ग्रंथोंकी रचनास्वरूप है। आचार आदि अंगोंका विशेष व्याख्यान इसप्रकार है—

आचारांगमें चारित्रका विधान है आठ प्रकारकी शुद्धि ईर्या भाषा आदि पांच समिति मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति इसप्रकार मुनियोंके आचारका वर्णन है इसकी पद संख्या अठारह हजार है। सूत्रकृतांग में ज्ञानका विनय प्रज्ञापना कल्प्य अकल्प्य छेदोपस्थापना व्यवहार धर्म क्रियाओंका निरूपण है। इसमें स्वसमय और पर समयका भी निरूपण है और इसकी पद संख्या छत्तीस हजार है। स्थानांगमें अनेक धर्मोंके आश्रय जो पदार्थ हैं उनका वर्णन है। अर्थात् संपूर्ण द्रव्योंके एकसे लेकर जितने विकल्प हो सकते हैं उन विकल्पोंका वर्णन है जैसे—सामान्यकी अपेक्षा जीव द्रव्यका एकही भेद है। संसारी और मुक्तकी अपेक्षा दो भेद हैं। उत्पाद व्यय और ध्रौव्यकी अपेक्षा तीन भेद हैं। चार गतियोंकी अपेक्षा चार भेद हैं इत्यादि। इसीतरह पुद्गल आदि द्रव्योंके भी समझलेना चाहिये।[1] अथवा स्थानांगमें एकको आदि लेकर दश पर्यंत गणितका वर्णन है जिसतरह एक केवलज्ञान एक मोक्ष एक आकाश एक धर्मद्रव्य एक अधर्म द्रव्य इत्यादि। दो दर्शन दो ज्ञान दो राग द्वेष इत्यादि। तीन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चरित्र स्वरूप रत्न, माया मिथ्या निदान तीन शल्य, जन्म जरा मरण तीन दोष इत्यादि। चार गति, चार अनंत चतुष्टय चार कषाय इत्यादि। पांच महाव्रत पांच अस्तिकाय पांच ज्ञान इत्यादि। षट् द्रव्य, षट् लेश्या, षट् आवश्यक इत्यादि। सात तत्त्व सात व्यसन सात नरक इत्यादि। आठ कर्म आठ गुण आठ ऋद्धियां इत्यादि। नौ पदार्थ नौ नय नौ प्रकारका शील इत्यादि। दश धर्म दश परिग्रह दश दिशा इत्यादि। इसकी पद संख्या वियालिस हजार है। समवाय अंगमें समस्त द्रव्योंमें द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा समवाय—समानता बतलाई गई है। अर्थात् किसी कोटी अथवा प्रमाणसे अनेक तत्त्वों

---

१ भाषा हरिवंशपुराण पृष्ठ १४४। राजवार्तिककारके कथनानुसार दोनों अर्थ अविरुद्ध हैं।

का एकरूप में संग्रह किया जा सके उसे समवाय समझना चाहिये जिसतरह धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य लोका-काश और एक जीव इन सबके प्रदेश बराबर असंख्यात लोक प्रमाण हैं इसलिये प्रदेशोंके बराबर होने से यह द्रव्यकी अपेक्षा समानता है अर्थात् एक रूप है। जंबूद्वीप सर्वार्थसिद्धि विमान अप्रातिष्ठान[1] नरक और नंदीश्वर द्वीपकी एक वावडी इनसबके क्षेत्रकी चौडाई एक एक लाख योजनकी है इसलिये क्षेत्रके बराबर होनेसे यह क्षेत्रकी अपेक्षा समानता है एकरूप है। अथवा मुक्तिशिला पहले नरकका पहिला सीमंतक पाथडा, पहिले स्वर्गका ऋजुविमान और नरलोक (ढाई द्वीप) इन सबका क्षेत्र पैंतालीस पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है इसलिये यह भी क्षेत्रकी अपेक्षा समानता है। जितना दश कोडाकोडी सागर प्रमाण काल उत्सर्पिणीका है उतना ही अवसर्पिणीका है यह कालकी अपेक्षा समानता है। क्षायिक सम्यक्त्वकेवलज्ञान केवल दर्शन और यथाख्यातचारित्र इन चारोंका स्वरूप अनंत २ माना है यह भाव की अपेक्षा समानता है। इसमें पदोंका प्रमाण एक लाख चौसठ हजार है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगमें जीव है या नहीं ? वक्तव्य है कि अवक्तव्य है ? नित्य है कि अनित्य है ? एक है कि अनेक है ? नित्य है कि अनित्य है ? इत्यादि साठि हजार प्रश्नों का वर्णन है। इसमें पद संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है। ज्ञातृधर्मकथा अंगमें आख्यान—तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनि और उपाख्यान गणधर आदिकी उपकथाओंका वर्णन है अर्थात् जीवादि पदार्थोंका स्वभाव तीर्थंकरोंका माहात्म्य, तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिका समय और माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय धर्मका स्वरूप वतलाया है एवं गणधर इंद्र चक्रवर्ति आदिकी उपकथाओंका वर्णन है। इसकी पद संख्या पांच लाख छप्पन हजार है।

१ सातवें नरकका पाथडा।

उपासकाध्ययन अंगमें श्रावकोंकी सम्यग्दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमासंबंधी व्रत गुण शील आचार तथा दूसरे क्रियाकांड और उनके मंत्रादिकोंका सविस्तर वर्णन किया है । इसकी पदसंख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है अंतकृद्दश अंगमें प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें जिन दश दश मुनियोंने दारुण उपसर्ग[1] सह समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्ष लाभ किया है उनका वर्णन है । उनमें भगवान वर्धमानके समयमें तो नमि १ मतंग २ सोमिल ३ रामपुत्र ४ सुदर्शन ५ यम ६ वाल्मीक ७ वलीक ८ निष्कंबल ९ पालांबष्ठ १० इन दश मुनियोंने घोर उपसर्ग सह समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्षलाभ किया है इसीतरह ऋषभ आदि तेईस तीर्थंकरोंमें हर एकके तीर्थमें दश दश मुनियोंको घोर उपसर्ग सहकर समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्ष लाभ करनेवाला समझ लेना चाहिये । अथवा संसारका अंत करनेवाले महापुरुषोंकी व्यवस्था का जिसमें वर्णन हो वह अंतकृद्दश है । वे संसारका अंत करनेवाले अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और मुनि पांचो परमेष्ठी हैं इसलिये अंतकृद्दशमें अर्हंत आदि पांचो परमेष्ठियोंका भी वर्णन है । इसके पदोंका प्रमाण तेईस लाख अट्ठाईस हजार है । अनुत्तरौपपादिकदशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें होनेवाले उन दश दश प्रकारके मुनियोंका वर्णन है जिन्होंने दश प्रकारका घोर उपसर्ग सहकर विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामके पांचो अनुत्तर विमानोंमें जाकर जन्म लिया है। भगवान वर्धमान स्वामीके तीर्थमें ऋषिदास १ धन्य २ सुनक्षत्र ३ कार्तिक ४ नंद ५ नंदन ६ शालिभद्र ७ अभय ८ वारिषेण ९ और चिलातपुत्र १० इन दश प्रकारके मुनियोंने घोर उपसर्ग सहकर विजय वैज-

---

१ पुरुष स्त्री नपुंसक ये तीन प्रकारके मनुष्यकृत , पुरुष स्त्री नपुंसक तीन प्रकारके तिर्यंचकृत, पुरुष स्त्री दो प्रकारके देवकृत शरीरका उपसर्ग १ और भीत पत्थर आदिका पडजाना उपसर्ग १ ये दश उपसर्ग हैं । हरिवंशपुराण भाषा पृष्ठ १४५ ।

यंत आदि अनुत्तर विमानोंमें जन्म धारण किया है इसीतरह ऋषभ आदि तेईस तीर्थंकरोंके तीर्थोंमें भी दश दश मुनियोंको भी दश प्रकारके घोर उपसर्ग सहकर विजय आदि विमानोंमें जन्म धारण करनेवाला समझ लेना चाहिये। अथवा विजयादि अनुत्तर विमानोंमें उपपाद जन्मके धारक जीवोंकी व्यवस्थाका जिसमें वर्णन हो वह भी अनुत्तरौपादिक दश कहा जाता है इसीलिये इस अनुत्तरौपपादिक दशांगमें अनुत्तरवासी देवोंके आयुविक्रिया आदिका वर्णन है। जिनका जन्म उपपाद है वे औपपादिक कहे जाते हैं। अनुत्तर शब्दसे विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच विमानोंका ग्रहण है जो जीव इन अनुत्तर विमानोंमें उपपाद जन्मसे उत्पन्न होनेवाले हैं वे अनुत्तरौपपादिक कहे जाते हैं यह अनुत्तरौपपादिक शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है। इस अंगमें पदोंका प्रमाण बानवे लाख चवालीस हजार है। प्रश्न व्याकरण अंगमें हेतु और नयोंके आश्रित प्रश्नोंका खंडन मंडन द्वारा विचार करनेका वर्णन है तथा लौकिक और शास्त्रसंबंधी दोनों प्रकारके पदार्थोंका भी वर्णन है अर्थात्–दूतवचन नष्ट मुष्टि चिंता आदि अनेक प्रकारके प्रश्नोंके अनुसार तीन कालसंबंधी धन धान्य आदिका लाभालाभ सुख दुःख जीवन मरण जय पराजय आदि फलका वर्णन है और प्रश्नके अनुसार आक्षेपिणी (जिस कथामें पक्षका स्थापन है) विक्षेपिणी (जिसमें खंडन हो) संवेदिनी (जिसमें यथावत् पक्ष आदिका ज्ञान हो) और निर्वेदिनी (जिसमें संसारसे भय हो) ऐसी चार कथाओंका वर्णन है। इसके पदोंका प्रमाण तिरानवे लाख सोलह हजार है। विपाकसूत्र अंगमें द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार शुभ और अशुभ कर्मोंकी तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक प्रकारकी अनुभाग–फल देनेकी शक्तिरूप विपाकका वर्णन है। इसमें पदोंका प्रमाण एक करोड चौरासी लाख है। बारहवां अंग दृष्टिवाद है इसमें तीनसौ त्रेसठि मिथ्यादृष्टि-

योंका वर्णन और निराकरण है। मिथ्यादृष्टियोंके सामान्यतया तीनसौ त्रेसठि भेद हैं परंतु मूलभेद क्रियावादी अक्रियावादी अज्ञानवादी और विनयवादी ये चार हैं। उनमें कौत्कल १ कांठेविद्धि २ कौशिक ३ हरिश्मश्रु ४ मांघपिक ५ रोमश ६ हारीत ७ मुंड ८ आश्वलायन ९ आदि एकसौ अस्सी भेद क्रियावादियोंके हैं। मारीचकुमार १ कपिल २ उलूक ३ गार्ग्य ४ व्याघ्रभूति ५ वाड्वल ६ माठर ७ मौद्गलायन ८ आदि चौरासी ८४ भेद अक्रियावादियोंके हैं। शाकल्य १ वाल्कल २ कुथुमि ३ सात्यमुग्रि ४ नारायण ५ कठ ६ माध्यंदिन ७ मौद ८ पैप्पलाद ९ वादरायण १० आंबुष्टीकृत् ११ दैत्यकायन १२ वसु १३ जैमिनि आदि सडसडि भेद अज्ञानवादियोंके हैं। एवं वशिष्ठ १ पारासर २ जतुकर्ण ३ वाल्मीकि ४ रोमर्षि ५ सत्यदत्त ६ व्यास ७ एलापुत्र ८ उपमन्यव ९ इंद्रदत्त १० अयस्थूण ११ आदि बत्तीस भेद वैनयिक मिथ्यादृष्टियोंके हैं। इन सबको आपसमें जोडने पर तीनसौ त्रेसठि भेद होते हैं दृष्टिवाद अंगमें विस्तारसे इनके स्वरूपका निरूपण किया गया है और खंडन भी किया गया है इस अंगके पदोंका प्रमाण एकसौ आठ करोड अडसठि लाख छप्पन हजार पांच है। विशेष—

जिन क्रियावादी आदिके कुछ नामोंका उल्लेख किया है वे सब उन उन मतोंके प्रवर्तक हैं परंतु कैसा माननेसे क्रियावादी आदिके उतने उतने भेद हो जाते हैं? वह इस प्रकार है—नियति १ स्वभाव २ काल ३ दैव ४ और पौरुष ५ इन पांचका स्वतः परतः नित्य और अनित्य इन चारसे गुणा करने पर बीस भेद हो जाते हैं। उन बीस भेदोंके नौ पदार्थोंके साथ गुणा करने पर एक सौ अस्सी भेद हो जाते हैं। वहां पर कोई क्रियावादी तो नियतिसे (नियमानुकूल) कोई परतः मानता है। कोई नित्य मानता है कोई अनित्य। कोई जीवको स्वभावसे स्वतः मानता है किसीका सिद्धांत है, कि जीव स्वभावसे परतः है।

कोई उसे स्वभावसे नित्य और कोई उसे अनित्य मानता है। कोई जीवको कालसे स्वतः मानता है कोई परतः मानता है। कोई अनित्य और कोई नित्य। कोई दैवसे जीवको स्वतः मानता है कोई परतः कोई नित्य मानता है और कोई अनित्य। किसीका सिद्धांत है जीव पौरुषसे स्वतः है कोई कहता है परतः है, अनेक कहते हैं पौरुषसे जीव नित्य है और बहुतसे उसे अनित्य मानते हैं उसी प्रकार अजीव आदि पदार्थोंमें घटानेसे क्रियावादियोंके एक सौ अस्सी सिद्धांत भेद हो जाते हैं।

जीव आदि सात तत्वोंका स्वतः और परतः से गुणा करने पर चौदह भेद होते हैं। इन चौदह भेदोंका नियति स्वभाव आदि पांचोंसे गुणा करने पर सत्तर और उन्हीं जीव आदि सात तत्वोंका पुनः नियति और कालसे गुणा करनेपर चौदह इस प्रकार सब मिलाकर ये चौरासी प्रकारके सिद्धांत भेद अक्रियावादियोंके हैं। कोई मानते हैं कि जीवादि पदार्थ नियति स्वभाव आदिसे स्वतः हैं कोई मानते हैं परतः इत्यादि ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना चाहिए।

जीव अजीव आदि नौ पदार्थोंको सात भंगोंसे गुणा करने पर त्रेसठि भेद हो जाते हैं। कोई मानता है जीव अस्तित्व स्वरूप है। कोई नास्तित्व स्वरूप, कोई अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप, कोई अवक्तव्य स्वरूप कोई अस्तित्व विशिष्ट अवक्तव्यस्वरूप, कोई नास्तित्व विशिष्ट अवक्तव्य स्वरूप, और कोई अस्तित्व नास्तित्व विशिष्ट अवक्तव्यस्वरूप स्वीकार करता है। इसीप्रकार अजीव आदि पदार्थोंमें समझ लेना चाहिए इसतरह त्रेसठि भेद तो ये और कोई पदार्थकी उत्पत्ति सत्स्वरूप मानता है १ कोई असत्स्वरूप २ कोई उभय स्वरूप ३ कोई अवक्तव्य स्वरूप स्वीकार करता है ४ चार भेद ये इसप्रकार दोनोंके जोडनेसे सडसठि भेद सिद्धांत अज्ञानवादियोंके हैं।

माता १ पिता २ देव ३ नृप ४ जाति ५ बालक ६ वृद्ध ७ तपस्वी ८ इन आठोंका मन वचन काय और दान इन चारसे गुणा करने पर वैनयिक मिथ्यादृष्टिके बत्तीस सिद्धांत भेद हो जाते हैं। विनय-वादियोंका सदा यह अभिप्राय रहता है कि माता पिता आदि आठोंका मन वचन कायसे आदर सत्कार करना चाहिए और उन्हें दान देकर संतुष्ट करना चाहिए। इस प्रकार ये तीनसै त्रेसठि मतोंका वर्णन और खंडन दृष्टिवादमें पाया जाता है। इन मतोंके तीनसै त्रेसठि भेद होनेके कारण उनके माननेवाले भी तीनसै त्रेसठि हैं।

दृष्टिवादके परिकर्म १ सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत ४ और चूलिका ५ ये पांच भेद हैं। उनमें भी पूर्वगत—उत्पाद पूर्व १ अग्रायणी पूर्व २ वीर्यप्रवाद पूर्व ३ आस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व ४ ज्ञानप्रवाद पूर्व ५ सत्यप्रवाद पूर्व ६ आत्मप्रवाद पूर्व ७ कर्मप्रवाद पूर्व ८ प्रत्याख्यान नामधेय पूर्व ९ विद्यानुवाद पूर्व १० कल्याणनामधेय पूर्व ११ प्रणवाय पूर्व १२ क्रियाविशाल पूर्व १३ लोकविंदुसार पूर्व १४ ये चौदह भेद हैं।

काल पुद्गल जीव आदिके जहां जैसे पर्याय उत्पन्न हों उनका उसी रूपसे वर्णन करना उत्पाद पूर्व है जिन क्रियावाद आदिका उल्लेख किया गया है उनमें किसरूपसे कौन कौन क्रियावाद आदि होते हैं ऐसी प्रक्रियाका नाम अग्रायणी है। जिसमें आचार आदि बारह अंगोंका समवाय—समानता और विषयका वर्णन हो वह अग्रायणीपूर्व है। छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) और केवलियोंकी शक्ति, सुरेंद्र दैत्येंद्र नरेंद्र चक्रवर्ती और बलदेवोंकी ऋद्धिका जहांपर वर्णन हो एवं सम्यक्त्वके लक्षणका जहांपर कथन हो वह वीर्यप्रवाद है। पांचों अस्तिकायोंके विषय पदार्थ और नयोंके विषय पदार्थोंका जहांपर अनेक पर्यायों के द्वारा यह है, यह नहीं है, इत्यादिरूपसे वर्णन हो वह आस्तिनास्तिप्रवाद है। अथवा पर्यायार्थिक नय

की अपेक्षा वा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी अपेक्षा मुख्य और गौणरूपसे जहांपर छहों द्रव्यों के स्व और पर पर्यायोंके भाव और अभावका निरूपण हो वह अस्ति नास्ति प्रवाद है। जहां मतिज्ञान आदि पांचों ज्ञानोंकी उत्पत्ति, उनके विषय तथा उनके आधारभूत ज्ञानी, अज्ञानी और पांचों इंद्रियोंके विभागका विस्तारसे निरूपण हो वह ज्ञानप्रवादपूर्व है। जहांपर वचनोंकी गुप्ति, वचनोंके संस्कारके कारण, वचनोंके प्रयोग, बारह प्रकारकी भाषा, उनके बोलनेवाले, अनेक प्रकारके असत्योंका उल्लेख और दश प्रकारके सत्योंका स्वरूप वर्णन हो वह सत्यप्रवाद है। मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिके भेदसे गुप्ति तीन प्रकार है उसका स्वरूप आगे विस्तारसे कहा जायगा। वचनके संस्कारके कारण शिर कंठ तालु आदि आठ स्थान हैं। शुभ और अशुभके भेदसे वचन प्रयोग दो प्रकारका है उसके स्वरूप का निरूपण आगे किया जायगा। अभ्याख्यानवचन १ कलहवचन २ पैशून्यवचन ३ असंबद्धप्रलाप-वचन ४ रत्युत्पादकवचन ५ अरत्युत्पादक वचन ६ उपधिवचन ७ निकृतिवचन ८ अप्रणतिवचन ९ मोषवचन १० सम्यग्दर्शनवचन ११ मिथ्यादर्शनवचन १२ इसप्रकार भाषाके बारह भेद हैं। जो पुरुष हिंसाका करनेवाला है वा जो उससे विरत-रहित है अथवा जो विरताविरत कुछ अंशका त्यागी और कुछ अंशका त्यागी नहीं है उनके विषयमें यह कहना कि यह अमुक हिंसाजनक कार्यका कर्ता है यह हिंसाजनक कार्यका कर्ता नहीं है वह अभ्याख्यान वचन है। लडाई झगडा करनेवाला वचन कहना कलहवचन है। दूसरेके दोषोंको पीठ पीछे कहना पैशून्य वचन है। जो वचन धर्म अर्थ काम और मोक्ष का उपदेशक न हो केवल प्रलाप ही प्रलाप हो वह असंबद्ध प्रलापवचन है। शब्दरूप आदि विषयोंमें वा देश आदिमें जो वचन रतिका उत्पन्न करनेवाला हो वह रत्युत्पादक वचन है और उन्हींमें जो अरति

का उत्पन्न करनेवाला वचन हो वह अरत्युत्पादक वचन है। जिस वचनके सुननेसे मनुष्यका चित्त परिग्रहोंके उपार्जन और रक्षण आदिमें आसक्त हो वह उपधिवचन है। जिस वचनको सुनकर वाणिज्य आदि व्यवहारोंमें मनुष्य ठगाई आदिमें प्रवृत्त हो वह निकृतिवचन है। जिस वचनके सुननेसे आत्मा तपस्वी और विशेष ज्ञानियोंमें भी नम्रीभूत नहीं होता वह अप्रणति वचन है। जिस वचनके सुननेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति चोरीमें हो वह मोषवचन है। जो सम्यक् मार्गका उपदेशक वचन है वह सम्यग्दर्शन वचन है और जिससे मिथ्यामार्गका उपदेश मिले वह मिथ्यादर्शन वचन है। दो इंद्रिय आदि जीव वक्ता हैं—बोलनेवाले हैं। क्योंकि उनके भाषा पर्याप्तिकी प्रकटता है। द्रव्य क्षेत्र काल और भावके आधीन झूठ अनेक प्रकारका कहा गया है।

सत्य दश प्रकारका है नामसत्य १ रूपसत्य २ स्थापनासत्य ३ प्रतीत्यसत्य ४ संवृतिसत्य ५ संयोजनासत्य ६ जनपदसत्य ७ देशसत्य ८ भावसत्य ९ और समयसत्य १० वैसे गुणवाला पदार्थ न भी हो तो भी लोक व्यवहारकेलिये चेतन अचेतन द्रव्यका जो वैसा नाम रख देना है वह नाम सत्य है जिस प्रकार किसी पुरुषका इंद्र आदि नाम रख देना १। असली पदार्थ तो न हो किंतु उसका रूप देख कर उसे वैसा ही मान लेना रूपसत्य है जिसतरह पुरुषकी अचेतन भी तस्वीरको पुरुष मान लेना।२। चाहे उसका आकार हो वा न हो तो भी व्यवहारकेलिये किसी प्रसिद्ध वस्तुकी दूसरी वस्तु में स्थापना कर लेना स्थापनासत्य है जिसतरह सतरंज आदिमें गोटोंको हाथी घोडा आदि मान लेना ३। औपशमिक आदि भावोंका शास्त्रानुसार व्याख्यान करना प्रतीत्यसत्य है।४। जो कार्य अनेक कारणोंसे उत्पन्न हो उन कारणोंमेंसे लोक व्यवहारकी अपेक्षा एक किसी कारणका उल्लेख करना संवृतिसत्य है जिसतरह

पृथ्वी आदि अनेक कारणोंसे कमलकी उत्पत्ति होती है तो भी 'पंके जातं पंकजं' कीचडमें जो उत्पन्न हो वह कमल है यहांपर कीचड़का उल्लेख किया है। ५। धूप चूर्ण वास अनुलेपन और प्रघर्षण आदिमें तथा पद्म मकर हंस सर्वतोभद्र चक्रव्यूह आदिमें चेतन और अचेतन द्रव्योंके विभागके अनुसार रचनाका प्रगट करनेवाला जो वचन है वह संयोजना सत्य है अर्थात् अनेक पदार्थोंके मिलनेसे धूप बनती है उसे धूपके नामसे कहना तथा सेनामें चेतन अचेतन दोनों प्रकारके समुदायस्वरूप चक्रव्यूह आदि रचना मानी है तो भी उसे चक्रव्यूहके नामसे पुकारना यह सब संयोजना सत्य है। आर्य और अनार्योंके निवास स्थान बत्तीस हजार देशोंमें धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारो पुरुषार्थोंको प्राप्त करानेवाला वचन कहना जनपदसत्य है। जो वचन गांव नगर राजा गण—मुनियोंका समूह पाखंड जाति और कुल आदिकी रीति रिवाज का वतलानेवाला हो वह देशसत्य है। यद्यपि छद्मस्थ—अल्प ज्ञानीको पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका ज्ञान नहीं होता तो भी संयमी और संयतासंयत व्रती अपनी क्रियाओंका भले प्रकार पालन करसके इसकारण उनकी क्रियाओंकी रक्षार्थ जो यह कह देना है कि यह द्रव्य प्रासुक है और यह अप्रासुक है वह भावसत्य है। और आगमगम्य जीव आदि छहो द्रव्योंकी जुदी जुदी पर्यायोंका जो यथार्थस्वरूप प्रतिपादन करना है वह समयसत्य है।

जहांपर आत्माके अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि गुणोंका युक्तिपूर्वक वर्णन हो और षट् जीव निकायके भेदोंका भी युक्तिपूर्वक वर्णन हो वह आत्मप्रवाद पूर्व है। कर्मोंका बंध, उदय, उपशम, निर्जराके पर्याय अनुभाग—विपाक, प्रदेश, आधार, जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिका जहां विस्तारसे वर्णन है वह कर्मप्रवाद पूर्व है। जिस पूर्वमें व्रत नियम प्रतिक्रमण प्रतिलेखन तप कल्प

उपसर्ग आचार प्रतिमा विराधना आराधना विशुद्धिका क्रम मुनिलिंगका कारण परिमित और अपरिमित द्रव्य और भावोंका प्रत्याख्यान—त्याग, वर्णन किया गया है वह प्रत्याख्यान पूर्व है। जहांपर समस्त प्रकारकी विद्या आठ महानिमित्त उनका विषय राजू और राशिकी विधि क्षेत्र श्रेणी लोकका आधार संस्थान—आकार, और समुद्घातका निरूपण हो वह विद्यानुवादपूर्व है। अंगुष्ठ प्रसेना आदि सात सौ तो कल्प विद्या हैं और रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्या हैं अंतरिक्ष १ भौम २ अंग ३ स्वर ४ स्वप्न ५ लक्षण ६ व्यंजन ७ और छिन्न ८ ये आठ महानिमित्त हैं। इनका विषय लोक है। क्षेत्रका अर्थ आकाश है। पटके सूतोंके समान वा चामके अवयवोंके समान आनुपूर्वी क्रमसे ऊपर नीचे और तिर्यक् रूपसे स्थित असंख्याते आकाशके प्रदेशोंका नाम श्रेणी है। अनंत प्रदेशी अलोकाकाशके बहुमध्यभागमें सुप्रतिष्ठक[1] (ठौणा) के समान आकारवाला लोक है। वह ऊर्ध्व मध्य और अधोलोकके भेदसे तीन प्रकारका है। उसमें ऊर्ध्वलोक मृदंगसरीखे आकारका है। मध्यलोक वेत्रासन मूढेके आकारका है और अधोलोक झालर सरीखा है। ऊपर नीचे और तिर्यग् तीनों जगह यह लोक चारों ओरसे तनुवातवलयसे वेष्टित है। चौदह राजू लंबा है और मेरु १ प्रतिष्ठ २ वज्र ३ वैडूर्य ४ पटल ५ अंतर ६ रुचक ७ और संस्थित ८ ये आठ लोकके मध्यप्रदेश हैं।

लोकके मध्य भागसे रज्जुआक द्वारा जब ऊर्ध्व लोककी लंबाईका प्रमाण किया जाता है तब लोकके मध्य भागसे ऊपर ऐशान स्वर्ग पर्यन्त यह लोक डेढ राजू है। माहेंद्र स्वर्ग पर्यंत तीन राजू है।

१ पूजा करते समय जिसमें स्थापना की जाती है उस पात्रको ठौणा बोलते हैं ठौणा शब्द स्थापना का ही अपभ्रंश है। वह पात्र लोकके आकार होता है।

मारणांतिक ४ तैजस ५ आहारक ६ और केवलीके ७ भेदसे सात प्रकारका है। वात पित्त आदि रोग और विष आदि द्रव्यके संबंधसे उत्पन्न होनेवाले संतापसे जायमान वेदना—तकलीफसे जो आत्मप्रदेशोंका वाहिर निकलना है वह वेदना समुद्घात है। वाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले तीव्र कषायसे जो आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना है वह कषायसमुद्घात है। समयपर वा असमयमें आयुकर्मके नाशसे होनेवाले मरणसे जो आत्माके प्रदेशोंका वाहिर निकलना है वह मारणांतिक समुद्घात है। जीवोंका उपकार हो इस बुद्धिसे वा उनका नाश हो इस बुद्धिसे तैजस शरीरकी रचनाकेलिये जो आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना वह तैजस समुद्घात है। मिल जाना, जुदा होना, नानाप्रकारकी चेष्टा करना, अनेक प्रकारके शरीर धारण करना, अनेक प्रकारसे वाणीका प्रवर्ताना शस्त्र आदि बनाना इत्यादि जो नानाप्रकारकी विक्रियाका होना है और उन विक्रियाओंके अनुकूल आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना है वह वैक्रियिक समुद्घात है। जिसका समाधान केवलीके साक्षात्कार किये विना नहीं हो सकता ऐसी किसी सूक्ष्म पदार्थविषयक शंकाके उत्पन्न होने पर थोडा पाप लगे इस आशासे जो केवलीके निकट जाननेकेलिए आहारक शरीरकी रचना करना है और उसके अनुकूल आत्मप्रदेशोंका बाहर निकलना है वह आहारक समुद्घात है। जिससमय वेदनी कर्मकी स्थिति तो अधिक रहै और आयु कर्मकी स्थिति कम रहै उससमय विना ही भोग किये उन दोनोंकी स्थिति समान करनेकेलिये द्रव्यस्वभावसे जिसप्रकार शरावके फेन वेग बबूले उठा करते हैं और फिर उसीमें जाकर

१ मारणांतिक समुद्घात मरणसे किंचित् समय पहले होता है, जहां मर कर जीव जाता है उस योनिका पहले स्पर्श कर आता है।

घनोदधिवातका सात योजन, घनवातका पांच योजन और तनुवातका चार योजन विस्तार हो गया है फिर उत्तरोत्तर घटवारी होनेके कारण लोकके अग्र भाग तक आठो ही दिशा, विदिशा और पसवाडोंमें घनोदधिका दंडाकार पांच योजन, घनवातका चार योजन और तनुवातका तीन योजन विस्तार रह गया है। तथा लोकके अग्र भागमें घनोदधिवातका विस्तार दो कोशका है घनवातका एक कोश और तनुवातका कुछ कम एक कोशका है। तथा ऊपर लोकके मूलसे कलंकल पृथ्वी तक तीनों वातवलयोंका विस्तार बीस बीस हजार योजनका कहा है परंतु कलंकल पृथ्वीसे ऊपर घनोदधिका सात योजन घनवातका पांच योजन और तनुवातका चार योजनका विस्तार है।

अधोलोकके मूलमें दिशा और विदिशाओंमें सब जगह लोककी चौडाई सात राजू है। घटती घटती तिर्यग्लोकमें एक राजू रह गई है फिर बढकर ब्रह्मस्वर्गमें पांच राजू हो गई है और घटती घटती लोकके अग्र भागमें फिर एक राजू रह गई है। लोकके मध्य भागसे एक राजू नीचे जा कर दूसरी शर्करा पृथ्वीके अंतमें आठों दिशा विदिशाओंमें सब जगह लोककी चौडाई एक राजू और एक राजूके सात भागोंमें छह भाग है। शर्करा पृथ्वीके अंतसे एक राजू नीचे जाकर वालुका पृथ्वीके अंतमें सर्वत्र लोककी चौडाई दो राजू और एक राजूके सात भागोंमें पांच भाग है। वहांसे आगे एक राजू नीचे जा कर पंकप्रभाके अंतमें तीन राजू और एक राजूके सात भागोंमें चार भाग है वहांसे आगे एक राजू नीचे जाकर धूम्रप्रभाके अंतमें चार राजू और एक राजूके सात भागोंमें तीन भाग है। वहांसे आगे एक राजू नीचे जाकर तमःप्रभाके अंतमें पांच राजू और एक राजूके सात भागोंमें दो भाग है। उसके आगे एक राजू नीचे जाकर तमस्तमःप्रभा सातवीं पृथ्वीके अंतमें सर्वत्र चौडाई छह राजू और एक राजूके

सात भागोंमें एक भाग है। और सातवीं पृथिवीके अंतसे एक राजू नीचे जा कर कलंकल पृथिवीके नीचे लोकके अंत तक चौडाई सात राजू है।

वज्रतल–लोकके मध्य भागसे, एक राजू ऊपर जाने पर लोककी चौडाई दो राजू और एक राजूके सात भागोंमें एक भाग है। वहांसे आगे एक राजू ऊपर जाने पर तीन राजू और एक राजूके सात भागोंमें दो भाग है। उसके एक राजू ऊपर जाने पर चार राजू और एक राजूके सात भागोंमें तीन भाग है। वहांसे आगे आधा राजू ऊपर जाने पर पांच राजू वहांसे आगे आधा राजू और ऊपर जाने पर चार राजू और एक राजूके सात भागोंमें तीन भाग है। वहांसे आगे फिर एक राजू ऊपर जाने पर तीन राजू और एक राजूके सात भागोंमें दो भाग हैं। उसके आगे एक राजू ऊपर जाने पर दो राजू और एक राजूके सात भागोंमें एक भाग चौडाई है और वहांसे आगे फिर एक राजू ऊपर जाने पर लोकके अंतमें लोककी चौडाई केवल एक राजू है। यह अलोकाकाशकी अपेक्षा राजुओंका विधान है।

सम् और उत् उपसर्गपूर्वक हन धातुसे भाव अर्थमें घञ् प्रत्यय करने पर समुद्घात शब्द बना है। हन् धातुका अर्थ यहां गमन करना लिया गया है इसलिये 'मिलकर आत्माके प्रदेशोंका जो बाहिर निकलना है वह समुद्घात है' यह समुद्घात शब्दका अर्थ है। और वह वेदना[1] कषाय २ वैक्रियिक ३

१। वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतिओ समुग्घादो। तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥
मूलशरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६७ ॥ जीवकांड।
वेदना कषाय आदि सात प्रकारका समुद्घात है। मूल शरीरको न छोडकर तैजस कार्माण रूप उत्तर देहके साथ साथ जीव प्रदेशोंके शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं।

मारणांतिक ४ तैजस ५ आहारक ६ और केवलीके ७ भेदसे सात प्रकारका है। वात पित्त आदि रोग और विष आदि द्रव्यके संबंधसे उत्पन्न होनेवाले संतापसे जायमान वेदना—तकलीफसे जो आत्मप्रदेशोंका वाहिर निकलना है वह वेदना समुद्घात है। वाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले तीव्र कषायसे जो आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना है वह कषायसमुद्घात है। समयपर वा असमयमें आयुकर्मके नाशसे होनेवाले मरणसे जो आत्माके प्रदेशोंका वाहिर निकलना है वह मारणांतिक समुद्घात है। जीवोंका उपकार हो इस बुद्धिसे वा उनका नाश हो इस बुद्धिसे तैजस शरीरकी रचनाकेलिये जो आत्माके प्रदेशोंका वाहर निकलना वह तैजस समुद्घात है। मिल जाना, जुदा होना, नानाप्रकारकी चेष्टा करना, अनेक प्रकारके शरीर धारण करना, अनेक प्रकारसे वाणीका प्रवर्ताना शस्त्र आदि बनाना इत्यादि जो नानाप्रकारकी विक्रियाका होना है और उन विक्रियाओंके अनुकूल आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना है वह वैक्रियिक समुद्घात है। जिसका समाधान केवलीके साक्षात्कार किये विना नहीं हो सकता ऐसी किसी सूक्ष्म पदार्थविषयक शंकाके उत्पन्न होने पर थोडा पाप लगे इस आशासे जो केवलीके निकट जाननेकेलिए आहारक शरीरकी रचना करना है और उसके अनुकूल आत्मप्रदेशोंका बाहर निकलना है वह आहारक समुद्घात है। जिससमय वेदनी कर्मकी स्थिति तो अधिक रहै और आयु कर्मकी स्थिति कम रहै उससमय विना ही भोग किये उन दोनोंकी स्थिति समान करनेकेलिये द्रव्यस्वभावसे जिसप्रकार शरावके फेन वेग बबूले उठा करते हैं और फिर उसीमें जाकर

१ मारणांतिक समुद्घात मरणसे किंचित् समय पहले होता है, जहां मर कर जीव जाता है उस योनिका पहले स्पर्श कर आता है।

मिल जाते हैं उसीके समान द्रव्यस्वभावसे देहमें स्थित आत्मप्रदेशोंका जो बाहर निकलना और आकर फिर मिल जाना है उसका नाम केवलिसमुद्घात है।

आहारक शरीर श्रेणि—दिशामें ही गमन करता है विदिशामें नहीं तथा जिस क्षेत्रमें केवली विराजमान रहते हैं उसी क्षेत्रमें जाता है अन्य क्षेत्रमें नहीं इसलिये जिससमय आत्मा आहारक शरीरकी रचनामें प्रवृत्त होता है उससमय एक ही दिशामें असंख्याते आत्माके प्रदेशोंको बाहर निकाल वह एक हाथ प्रमाण आहारक शरीरकी रचना करता है। अन्य क्षेत्रमें जानेकेलिये आहारक समुद्घातकी रचनाकी कोई आवश्यकता नहीं इसलिये जिस दिशामें केवली विराजमान रहते हैं उसी दिशामें जानेके कारण उसका गमन एक ही दिशामें होता है तथा मरणके अंतमें जो जीवका गमन होता है वह भी दिशामें ही होता है इसलिये मरणके अंत समयमें नरक आदि गतियोंमें जहां जीवको जन्म लेना होता है उसी क्षेत्रमें मारणांतिक समुद्धात द्वारा आत्माके प्रदेश उसी दिशा और क्षेत्रमें गमन करते हैं विदिशा वा अन्य क्षेत्रमें गमन नहीं करते इसलिये जहांपर जन्म लेना निर्धारित हो चुका है उसी दिशा वा क्षेत्र में मारणांतिक समुद्धातका गमन भी एक ही दिशामें होता है इसरीतिसे आहारक और मारणांतिक इन दोनों समुद्धातोंका तो एक ही दिशामें गमन होता है इसलिये ये दोनों समुद्धात एकदिक हैं और बाकीके पांच समुद्धातोंका छहो दिशाओंमें गमन होता है क्योंकि वेदना कषाय आदि समुद्धातोंके

१। आहारमारणंतिय दुगं पि णियमेण एगदिसिगं तु। दसदिसिगदा हु सेसा पंचसमुग्घादया होंति ॥ ६६८॥

उक्त सात प्रकारके समुद्घातोंमेंसे आहार और मारणांतिक ये दो समुद्घात तो एक ही दिशामें गमन करते हैं किंतु बाकीके पांच समुद्घात दशों दिशाओंमें गमन करते हैं।

द्वारा वाहर निकले हुए आत्माके प्रदेशोंका गमन पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण ऊर्ध्व और अधः इन छहों दिशाओंमें माना गया है इसलिये वेदना कषाय आदिक पांच षड्दिक हैं तथा इन पांच समुद्घातोंके द्वारा जो आत्माके प्रदेश वाहर निकलते हैं उन सबका भी श्रेणी—दिशाओंमें, ही गमन माना है विदिशाओंमें नहीं होता।

वेदना कषाय मारणांतिक तैजस वैक्रियिक और आहारक इन छह समुद्घातोंका काल तो संख्यात समय है और केवलिसमुद्घातका काल आठ समय है क्योंकि चार समयोंमें दंड कपाट प्रतर और लोक पूरण ये चार अवस्था होती हैं और चार समयोंमें प्रतर कपाट दंड और फिरसे शरीरमें प्रवेश करना ये चार अवस्था होती हैं इस प्रकार केवलि समुद्घातमें आठ समयका काल लगता है।

सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र और तारागणके संचार उपपाद गति और जो विपरीत—उलटे गमनफलोंका जहांपर वर्णन है, शकुनोंका निरूपण है और अर्हंत वलदेव वासुदेव चक्रवर्ती आदिके गर्भ जन्म तप आदि महा कल्याणोंका जहांपर वर्णन है वह कल्याणनामधेयपूर्व है। जिस पूर्वमें कायाचिकित्सादि अष्टांग आयुर्वेद, पृथ्वी, जल आदि भूतोंका कार्य सर्प आदि जंगम जीवोंके गति आदिका वर्णन और श्वासोच्छ्वासका विभाग विस्तारसे वर्णित है वह प्राणावाय पूर्व है। जहांपर वहत्तर प्रकारकी लेखन आदि कला, चौसठि प्रकारके स्त्रियोंके गुण, शिल्प, काव्यके गुण दोष, छन्दोंकी रचना एवं क्रिया तथा उन क्रियाओंके फलोंके उपभोग करनेवालोंका निरूपण है वह क्रियाविशाल पूर्व है और आठ प्रकारके व्यवहार, चार प्रकारके बीज, परिकर्मराशिका विभाग और समस्त श्रुतकी संपत्तिका जहांपर निरूपण है वह लोकविंदुसार है। विशेष—

उत्पाद पूर्वमें एक करोड पद हैं। दूसरे अग्रायणी पूर्वमें छ्यानवे लाख पद हैं। तीसरे वीर्यप्रावदमें सत्तर लाख पद हैं। चौथे आस्तिनास्तिप्रवाद पूर्वमें साठ लाख पद हैं। पांचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वमें एक कम एक करोड पद हैं। छठे सत्य प्रवाद पूर्वमें एक करोड छेह पद हैं। सातवे आत्म प्रवाद पूर्वमें छव्वीस करोड पद हैं। आठवें कर्म प्रवाद पूर्वमें एक करोड अस्सी लाख पद हैं। नौवें प्रत्याख्यान पूर्वमें चौरासी लाख पद हैं। दशवें विद्यानुवाद पूर्वमें एक करोड दशलाख पद हैं। ग्यारहवें कल्याण वाद पूर्वमें छव्वीस करोड पद हैं। वारहवें प्राणावाय पूर्वमें तेरह करोड पद हैं। तेरहवें क्रिया विशाल पूर्वमें नौ करोड पद हैं और चौदहवें त्रिलोकविंदुसारपूर्वमें बारह करोड पचास लाख पद हैं। श्रुतज्ञानका विशेष स्वरूप श्रीगोम्मटसार और बृहद् हरिवंशपुराणमें निरूपण किया है।

आरातीयाचार्यकृतांगार्थ-प्रत्यासन्नरूपमंगवाह्यं ॥ १३ ॥

तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात् ॥ १४ ॥

कालके दोषसे अल्प बुद्धि अल्प आयु और अल्प बलके धारक जीवोंके उपकारकी इच्छासे, शास्त्रके रहस्यके जानकार और गणधरोंके शिष्य प्रशिष्य कहे जाने वाले ऐसे आरातीय (पीछे होने वाले)-

---

१। गाथा—पण्णट्ठदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं। णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयाइं ॥ ३६५ ॥
छस्सय पण्णासाइं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा। विहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥ ३६६ ॥
छाया—पंचाशदष्टचत्वारिंशत् पंचत्रिंशत् त्रिंशत् पंचाशत् पंचाशत् त्रयोदशशतं।
नवतिः द्वाचत्वारिंशत् पूर्वे पंचपंचाशत् त्रयोदशशतानि ॥ ३६५ ॥
षट्छतपंचाशानि चतुःशतपंचाशत् षट्छतपंचविंशतिः।
द्वाभ्यां लक्षाभ्यां तु गुणितानि पंचमं रूपोनं षट्युतानि षष्ठे ॥ ३६६ ॥ गोमट्टसार जीवकांड।

आचार्यों द्वारा जो संक्षेपसे अंगोंके अर्थ और वचनोंकी रचना है वह अंग वाह्य है। इस अंगवाह्यके कालिक उत्कालिक आदि अनेक भेद हैं। स्वाध्यायके समयमें ही जिसका समय निश्चित है अर्थात् जो समय शास्त्रोंमें स्वाध्यायकेलिए निश्चित है उसी समय जो पढा पढाया जाता है—अन्य समय पढा पढाया नहीं जाता वह कालिक नामका अंग वाह्य है और जिसका कोई समय निश्चित नहीं हर समय जो पढा पढाया जा सकता है वह उत्कालिक है उसके भेद उत्तराध्ययन आदि अनेक हैं। विशेष—

सामायिक १ चतुर्विंशतिस्तव २ वंदना ३ प्रतिक्रमण ४ वैनायिक ५ कृतिकर्म ६ दशवैकालिक ७ उत्तराध्ययन ८ कल्प व्यवहार ९ कल्पाकल्प्य १० महाकल्प ११ पुंडरीक १२ महा पुंडरीक १३ और निषिद्धिका १४। ये चौदह भेद अंग वाह्यके हैं। इनको प्रकीर्णक भी कहा जाता है। सामायिकमें शत्रु मित्र सुख दुःख आदिमें राग द्वेषकी निवृत्तिपूर्वक समभावका वर्णन है। दूसरे चतुर्विंशति स्तवमें तीर्थंकरोंकी स्तुतिका निरूपण है। तीसरे वंदना प्रकीर्णकमें वंदनाके योग्य पंच परमेष्ठी भगवानकी प्रतिमा मंदिर तीर्थ और शास्त्रोंका प्रतिपादन है और वंद्य वंदनाकी विधि बतलाई है। चौथे प्रतिक्रमण प्रकीर्णकमें द्रव्य क्षेत्र काल आदिके द्वारा किए गए पापोंका शोधन-प्रायश्चित्त आदिका वर्णन है पांचवें वैनायिक प्रकीर्णकमें दर्शनविनय ज्ञानविनय चारित्रविनय तपविनय और उपचार विनयका सविस्तर वर्णन है। कृतिकर्म

१। गाथा—सामाइय चउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं। वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं ॥ ३६७ ॥
कप्पववहारकप्पाकप्पिय महकप्पियं च पुंडरियं। महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोदस मंगवाहिरयं ॥ ३६८ ॥
छाया—सामायिकं चतुर्विंशस्तवं ततो वंदना प्रतिक्रमणं। वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं च उत्तराध्ययनं ॥ ३६७ ॥
कल्प—व्यवहार-कल्प्याकल्प्यक-महाकल्प्यं च पुंडरीकं। महापुंडरीकंनिषिद्धिका इति चतुर्दशांगवाह्यं ॥ ३६८ ॥ गो० जीवकांड।

प्रकीर्णकमें चार बार मस्तक नवाना, तीन बार नमस्कार करना, हर एक नमस्कारमें तीन तीन आवर्त इसप्रकार बारह आवर्त करना आदि सामयिककी विधि बतलाई हैं। सातवें दशवैकालिक प्रकीर्णकमें चंद्र सूर्यके ग्रहण आदिका वर्णन है। आठवें उत्तराध्ययन प्रकीर्णकमें महावीर भगवानके निर्वाण गमनका कथन है। नवमें कल्पव्यवहार प्रकीर्णकमें तपस्वियोंके योग्य आचरणकी विधि बतलाई है और अयोग्य आचरणोंका प्रायश्चित्त निरूपण किया गया है। दशवें कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णकमें विषय कषाय आदि हेय और वैराग्य आदि उपादेयका वर्णन है। ग्यारहवें महाकल्प्य प्रकीर्णकमें मुनियोंके लिए उचित द्रव्य उचित क्षेत्र उचित काल सेवनका निरूपण है। बारहवें पुंडरीक प्रकीर्णकमें देवोंकी उत्पत्तिका निरूपण है। तेरहवें महापुंडरीकमें देवियोंकी उत्पत्तिका निरूपण है। और चौदहवें निषिद्धिका प्रकीर्णकमें प्रायश्चित्त विधिका सविस्तर वर्णन है। शंका—जिसतरह मतिज्ञान आदिका जुदे जुदे रूपसे उल्लेख किया गया है उस तरह अनुमान आदिका भी करना चाहिए? उत्तर—

अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात् ॥ १५ ॥

अनुमान आदि ज्ञानोंका अंतर्भाव श्रुतज्ञानमें ही हो जाता है इसलिये उनका पृथक् रूपसे उल्लेख नहीं किया गया और वह इसप्रकार है—अनुमान ज्ञान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है और पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन उसके भेद हैं। पहिलेके समान जहां पदार्थका ग्रहण हो वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है जिसतरह—पहिले कई जगह किसी पुरुषने अग्निसे निकलता हुआ धूवां देखा उससे उसके आत्मामें यह संस्कार जम गया कि विना अग्निके धूवां नहीं हो सकता इसीका नाम अविनाभाव संबंध है फिर जहां कहीं पर्वत आदिमें वह धूवां देखता है उससमय उसे अविनाभाव संबंधका स्मरण होता है

और उससे वह धूवां देखकर. 'यहां अग्नि है' ऐसा पहिलेके समान अग्निका निश्चय कर लेता है यह पूर्ववत् अनुमान है। शेष—अवशिष्ट भागका जान लेना शेषवत् अनुमान है। जिसतरह किसी पुरुषने पहिले सींग और सींगवालेका संबंध निश्चित कर रक्खा है, वह जहां सींगोंको देखता है वहां उस सींगवालेका निश्चय कर लेता है । यह शेषवत अनुमान है । तथा सामान्यसे जहां पर प्रतिपत्ति हो जाती है वह सामान्यतो दृष्ट है जिसतरह—एक जगहसे दूसरी जगहपर पहुंचना देवदत्तका विना चले नहीं हो सकता इसलिये जिसप्रकार देवदत्तका दूसरी जगह पर पहुंचना गतिपूर्वक है उसीप्रकार यद्यपि सूर्यकी गमन-क्रिया प्रत्यक्षमें नहीं दीख पडती तो भी वह जो पूर्व दिशामें उदित होकर पश्चिम दिशामें जाकर अस्त होता है, 'यह एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाना' विना गमन क्रियाके नहीं हो सकता इसलिये देवदत्त की गमनक्रियासे सूर्यकी गमनक्रियाका निश्चय कर लिया जाता है यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान है। श्रुतज्ञानके अनक्षरश्रुत और अक्षरश्रुत दो भेद माने हैं जिससमय उक्त तीनों प्रकारके अनुमानोंसे स्वयं ज्ञान करना होगा वहां उनका अनक्षर श्रुतमें अंतर्भाव है और जहां पर दूसरेको ज्ञान कराया जायगा वहां पर अक्षर श्रुतमें अंतर्भाव है इसरीतिसे श्रुतज्ञानके ही अंतर्गत हो जानेसे अनुमानका मतिज्ञान आदिके समान पृथक् उल्लेख नहीं किया जा सकता। तथा जैसी गऊ होती है वैसा ही गवय (रोज) होता है केवल सास्ना (गलेमें लटकता हुआ मांसपिंड) का भेद है। इसका दूसरे दूसरे सिद्धांतकारोंने उपमान प्रमाण माना है परंतु यह भी श्रुतज्ञान ही है क्योंकि 'जैसी गऊ होती है वैसी ही गवय होता है केवल सास्नाका भेद रहता है' जिससमय इसप्रकारका ज्ञान स्वयं होता है उससमय उसका अनक्षर श्रुतमें अंतर्भाव है और जिससमय दूसरेको ज्ञान कराया जाता है उससमय अक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें अंतर्भाव

है । तथा घट आदि शब्दोंसे जो उनके अर्थका ज्ञान होता है उसे अन्य सिद्धांतकारोंने शब्द प्रमाण मान रक्खा है परंतु वह स्पष्ट श्रुतज्ञान है । 'इसप्रकार इस भरतक्षेत्रमें भगवान ऋषभदेव हुए' इसतरह के ज्ञानको किसी किसीने ऐतिह्य प्रमाण मान रक्खा है परंतु यह बात परंपरासे पुरुषोंके शास्त्र-वचनोंसे जानी जाती है इसलिये वह श्रुतज्ञानसे भिन्न नहीं । तथा "अमुक पुरुष दिनमें तो खाता नहीं परंतु जीता जागता हृष्ट पुष्ट है वहां पर यह सुलभरूपसे निश्चय कर लिया जाता है कि वह रातको जरूर खाता होगा नहीं तो विना भोजनके उसका जीना आदि असंभव है" ऐसे ज्ञानको लोगोंने अर्थापत्ति प्रमाण माना है । तथा-चार प्रस्थ (पायली) का एक आढक (परिमाण विशेष) होता है ऐसा ज्ञान हो जानेपर कहीं कोदों नाजको देखकर यह जान लेना कि यह आधे आढक प्रमाण है इस ज्ञानको लोगोंने प्रतिपत्ति प्रमाण मान लिया है । तथा तृण गुल्म वृक्ष आदिमें हरापन, पत्ते और फल आदि न देख कर यह जान लेना कि यहां पर निश्चयसे मेघ नहीं वर्षा है, इस ज्ञानको अन्य सिद्धांतकारोंने अभाव प्रमाण माना है परंतु अर्थापत्ति प्रतिपत्ति और अभाव ये सब ज्ञान अनुमान प्रमाणके अंतर्भूत हैं और अनुमानको ऊपर श्रुतज्ञान सिद्ध कर आये हैं इसलिये इन सबका श्रुतज्ञानमें ही अंतर्भाव है श्रुतज्ञानसे भिन्न नहीं है इसरीतिसे श्रुतज्ञानके कहनेसे ही अनुमान आदिका ग्रहण हो जानेसे उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया ॥ २० ॥

प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद कहे थे । उनमें परोक्ष प्रमाणका स्वरूप वतला दिया गया । अब प्रत्यक्ष प्रमाणपर विचार किया जाता है । प्रत्यक्षके दो भेद हैं एक देश प्रत्यक्ष दूसरा सकल प्रत्यक्ष ।

१ उपमान अर्थापत्ति आदिका प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंमें अन्तर्भाव प्रमेयकमलमार्तंड पत्र संख्या ५० में खुलासा रूपसे है ।

अवधि और मनःपर्ययज्ञान ये दो देश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। 'क्षयोपशमात्मक विशुद्धिरूप आत्माके प्रसादको विशेषतासे जिसके द्वारा मर्यादितरूपसे पदार्थ जाने जांय वह अवधिज्ञान है' यह अवधिज्ञानका स्वरूप पहिले कह दिया जा चुका है। वह अवधिज्ञान भव प्रत्यय और गुण प्रत्ययके भेदसे दो प्रकारका है अथवा देशावधि और सर्वावधि ये भी उसके दो भेद हैं। (यदि यहांपर यह कहा जाय कि दूसरी जगह देशावधि परमावधि और सर्वावधिके भेदसे अवधिज्ञान तीन प्रकारका माना है। यहां उसके देशावधि और सर्वावधि दो ही भेद किये हैं इसलिये आपसमें विरोध है? सो नहीं। सर्वशब्दका अर्थ संपूर्ण है। संपूर्णमें परम शब्दका भी अंतर्भाव हो जाता है इसलिये परमावधि भी देशावधि ही है इसरीतिसे परमावधिको देशावधि सिद्ध होनेसे अवधिज्ञानके देशावधि और सर्वावधि दो भेद माननेमें कोई आपत्ति नहीं) अब भवप्रत्यय अवधिज्ञानके विषयमें सूत्रकार कहते हैं—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां ॥ २१ ॥

देव और नारकियोंके जो अवधिज्ञान होता है वह भवप्रत्यय है अर्थात् देव और नरकगतिमें जाते ही उनके अवधिज्ञान प्रगट हो जाता है। वार्तिककार भवशब्दका अर्थ बतलाते हैं—

आयुर्नामकर्मोदयविशेषापादितपर्यायो भवः ॥ १ ॥

अन्य अविनाभावी कारणोंके साथ आयु और नाम कर्मके उदयसे आत्माके जिस पर्यायकी प्राप्ति हो वह भव कहा जाता है। यह भवका सामान्य लक्षण है।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातो निमित्तार्थगतिः ॥ २ ॥

प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' पदार्थ शब्द और ज्ञान यहांपर प्रत्ययशब्दका

अर्थ ज्ञान है। 'परद्रव्यहरणादिषु सत्युपालंभे प्रत्ययोऽनेन कृतः' परद्रव्यके चोरी आदि हो जानेपर जब इस पुरुषको उलाहना दिया गया तब इसने शपथ की, यहां पर प्रत्यय शब्दका अर्थ शपथ है। 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' संस्कार अविद्याकारणक हैं, यहां पर प्रत्यय शब्दका अर्थ कारण है परंतु इस स्थान पर प्रत्यय शब्दका 'निमित्त' अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट है इसलिये निमित्त अर्थ ही लिया गया है। 'भवप्रत्ययः' अर्थात् भवकारणक है। शंका—

क्षयोपशमाभाव इति चेन्न तस्मिन् सति सद्भावात् खे पतत्रिगतिवत् ॥ २ ॥

अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें अवधिज्ञानावरण और वीर्यांतरायका क्षयोपशम आदि कारण माने हैं यदि उसे भवनिमित्तक माना जायगा तो कर्मोंका क्षयोपशम मानना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार आकाशके होते पक्षियोंकी गति होती है यहांपर गति नामकर्मका क्षयोपशम अंतरंग कारण माना है और आकाशको वाह्य कारण माना है उसीप्रकार अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके होने पर ही अवधिज्ञान होता है विना उसके ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम अवधिज्ञानमें अंतरंग कारण है और भव पक्षियोंकोलिये आकाशके समान वाह्य कारण है। और भी यह बात है कि—

इतरथा ह्यविशेषप्रसंगः ॥ ४ ॥

यदि अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें भव ही कारण माना जायगा कर्मोंका क्षयोपशम कारण न माना जायगा तो सब ही देव और नारकियोंके भव कारण समान हैं, इसलिये सबके एक समान अवधिज्ञान होना चाहिये, परंतु वह किसीके कम होता है और किसीके अधिक होता है, इसलिये भवकारणक

अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें भी अंतरंग कारण क्षयोपशम है। वह जैसा जैसा तीव्र मंदभावसे रहता है वैसा वैसा कम अधिक अवधिज्ञान होता है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जब भवनिमित्तक अवधिज्ञानमें भी कर्मोंका क्षयोपशम ही कारण है तब उसकी उत्पत्तिमें भवको कारण मानना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिसतरह तिर्यंच और मनुष्योंके अवधिज्ञानमें अहिंसादिक व्रत नियम कारण हैं उसीप्रकार देव और नारकियोंके अवधिज्ञानमें अहिंसादिक व्रत नियम कारण नहीं किंतु देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न होनेके साथ ही आपसे आप वहां अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके अनुकूल कर्मोंका क्षयोपशम हो जाता है इसलिये वहां पर जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसमें वाह्य कारण भव ही है। शंका—

अविशेषात् सर्वप्रसंग इति चेन्न सम्यगधिकारात् ॥ ५ ॥

भवकारणक अवधि देव और नारकियोंके होता है यह सामान्य कथन है। देवगति और नरकगतिमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकारके नारकी रहते हैं इसलिए मिथ्यादृष्टियोंके भी अवधिज्ञानका विधान सिद्ध होनेसे उनके भी अवधिज्ञान कहना होगा? क्योंकि भव दोनोंके समान कारण उपस्थित है। सो नहीं। भवप्रत्ययोवधिरित्यादि सूत्रके लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अधिकार है क्योंकि पांचों सम्यग्ज्ञानोंका ही विवेचन क्रमसे किया जा रहा है वह भी मोक्ष मार्ग प्रकरण होनेसे सिद्ध है इसलिए सम्यग्दृष्टी देव नारकियोंके ही अवधिज्ञान हो सकता है मिथ्यादृष्टिके नहीं, उनके विभंग होता है। अथवा इसी अध्यायमें आगे "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" मति श्रुत और अवधिज्ञान ये विपरीत ज्ञान भी होते हैं, यह कहा गया है उस संबंधसे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टी देवों के ही अवधिज्ञान होता है मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञान नहीं होता किंतु विभंगावधिज्ञान ही होता है। अथवा

'व्याख्यानाद्विशेषप्रतिपत्तिः' शास्त्रोंमें जैसा वर्णन रहता है उसीके अनुकूल पदार्थ विशेषोंका ज्ञान होता है। शास्त्रोंमें अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टियोंके ही कहा है। मिथ्यादृष्टियोंके नहीं इसलिए मिथ्यादृष्टि देव और नारकियोंके अवधिज्ञानका विधान नहीं माना जा सकता। शंका—

आगमे प्रसिद्धेर्नारकशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्नोभयलक्षणप्राप्तत्वाद्देवशब्दस्य ॥ ६ ॥

जीव आदिके निरूपण करते समय, सत् संख्या आदिके निरूपण करते समय वा अनुयोगके कथन करने पर देवोंकी अपेक्षा नारकियोंका पहिले वर्णन किया है इसलिए 'भवप्रत्ययोवधिः' इत्यादि सूत्रमें भी नारकियोंका ही देवोंसे पहिले उल्लेख करना उचित है? सो नहीं। जिस शब्दमें थोड़े स्वर होते हैं और जो उत्तम होत है उसका पहिले उल्लेख किया जाता है यह व्याकरणका सर्वमान्य सिद्धांत है। नारककी अपेक्षा देव शब्दमें थोड़े स्वर हैं और उसकी अपेक्षा देव शब्द उत्तम भी है इसलिए नारक और देव शब्दोंमें देवका ही पहिले उलेख होगा नारक शब्दका नहीं हो सकता। तथा शास्त्रमें जीव स्थान आदि प्ररूपणाओंमें नारकियोंका पहिले वर्णन है और देवोंका पीछे है इसलिए सूत्रमें देव शब्दका पहिले उलेख न कर नारक शब्दका ही करना चाहिए यह युक्ति भी अनियमित है क्योंकि जिसका शास्त्रमें पहिले वर्णन है उसका जहां कहीं भी उलेख किया जाय वहां सबसे पहिले उलेख करना चाहिए यह कोई नियम नहीं। बहुतसे शब्दोंका शास्त्रोंमें पहिले वर्णन है और उनका पीछे प्रयोग होता दीख पडता है इसलिए पूर्वोक्त व्याकरणके नियमानुसार नारक और देव शब्दोंमें देव शब्दका ही पूर्व उलेख न्यायप्राप्त है।

तीव्र और मंद रूपसे जैसा जैसा क्षयोपशम होता है उसीकी अपेक्षा अवधिज्ञान भी हीन और

अधिक रूपसे वा उत्कृष्ट और जघन्य रूपसे होता है यह ऊपर कहा जा चुका है उसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है--भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक ये देवोंके चार भेद हैं उनमें दश[1]प्रकारके भवनवासियोंके जघन्य अवधि ज्ञानका विषय पच्चीस योजन प्रमाण है अर्थात् जघन्य अवधि ज्ञानके धारक दशों प्रकारके भवनवासी अवधिज्ञानसे पच्चीस योजनसे अधिक नहीं जान सकते। भवनवासी निकायके भेद असुरकुमार देवोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय नीचेकी ओर असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है और ऊपरकी ओर ऋजु[2]विमानकी चोटी तक है। नागकुमार आदि नौ प्रकारके भवनवासियोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय नीचेकी ओर असंख्यात हजार योजन प्रमाण है। ऊपरकी ओर मेरु पर्वतकी चोटी तक है और तिरछा असंख्यात हजार योजन प्रमाण है।

किंनर किंपुरुष महोरग गंधर्व यक्ष राक्षस भूत और पिशाचके भेदसे व्यंतर आठ प्रकारके हैं। आठों ही प्रकारके व्यंतरोंका जघन्य अवधिका विषय पच्चीस योजन प्रमाण है। तथा उत्कृष्ट नीचेकी ओर असंख्यात हजार योजन है ऊपरकी ओर अपने अपने विमानोंकी चोटी तक है और तिरछा असंख्यात कोडा कोडी योजन है। ज्योतिषी देवोंका जघन्य अवधिज्ञान नीचे संख्यात योजन प्रमाण है उत्कृष्ट--असंख्यात हजार योजन प्रमाण है। ऊपर अपने विमानकी चोटी तक है। तिरछा असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है।

१--भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः। असुरकुमार १ नागकुमार २ विद्युत्कुमार ३ सुपर्णकुमार ४ अग्निकुमार ५ वातकुमार ६ स्तनितकुमार ७ उदधिकुमार ८ द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार १० ये दश प्रकारके भवनवासी देव हैं तत्त्वार्थ सूत्र अ० ४ सू० १०। २--प्रथम सौधर्मस्वर्गका विमान।

सौधर्म आदि ऊर्ध्व लोकके निवास स्थानोंका नाम विमान है उन विमानोंमें रहने वाले देव वैमानिक कहे जाते हैं। उनमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय ज्योतिषियोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका जितना विषय है उतना है उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय रत्नप्रभाके अंतपर्यंत है। सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय रत्नप्रभाके अंततक है और उत्कृष्ट शर्कराप्रभाके अंतपर्यंत है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय शर्कराप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट वालुकाप्रभाके अंतपर्यंत है। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय वालुकाप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट पंकप्रभाके अंतपर्यंत है। आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय पंकप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट धूमप्रभाके अंतपर्यंत है। नौ ग्रैवेयकोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय धूमप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट तमःप्रभाके अंतपर्यंत है और नव अनुदिश एवं पांच अनुत्तरविमानवासी देवोंके अवधिज्ञानका विषय लोकनाडी पर्यंत है। तथा सौधर्मस्वर्गवासी देवोंको आदि लेकर अनुत्तरपर्यंत रहनेवाले देवोंके ऊपरका अवधिज्ञानका विषय अपने अपने विमानकी चोटी पर्यंत है और तिरछा असंख्यात कोडाकोडी योजन है। अर्थात् ऊपर नीचे और तिरछा जो भी जघन्य और उत्कृष्ट भेद विशिष्ट अवधिज्ञानका विषय बतलाया गया है वहीं तक अवधिज्ञानसे पदार्थ जाने जा सकते हैं उससे आगेके नहीं। यह क्षेत्रकी अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय विभाग कहा गया है अब काल द्रव्य और भावकी अपेक्षा इस प्रकार है—

अवधिज्ञान जितने क्षेत्रको विषय करता है और उसमें जितने आकाशके प्रदेशोंका प्रमाण रहता है

उतने ही संख्या प्रमाण भूत भविष्यत् वर्तमान त्रिकालवर्ती समयोंको अवधिज्ञान विषय करता है। क्षेत्रके प्रदेशोंकी संख्या प्रमाण ही असंख्यात भेदवाले अनंत प्रदेशोंके धारक पुद्गल स्कंधोंको विषय करता है और उतनी ही संख्या प्रमाण कर्म सहित जीवोंको विषय करता है। यह काल और द्रव्य की अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयका निरूपण है तथा भावकी अपेक्षा अपने विषयभूत पुद्गल स्कंधोंके रूप आदि भेदोंको एवं जावके पारिणाम स्वरूप औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिकको भी विषय करता है। यहांपर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि अवधिज्ञानका विषय मूर्तिक पदार्थ है वह अमूर्तिक जीव वा उसके परिणामोंको कैसे जान सकता है? क्योंकि कर्म सहित जीवको वा कर्मके विकारस्वरूप उसके परिणामोंको संसारावस्थामें पानी आर दूधके समान एकम एक होनेसे पौद्गलिक—मूर्तिक ही माना है। मूर्तिकको अवधिज्ञान विषय करता ही है इसलिये कोई दोष नहीं। ऊपर लिखे अनुसार नीचेकी ओर ऊपरकी ओर तिरछा इसप्रकार तीनों ओर द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा देवोंमें अवधिज्ञानके विषयका निरूपण कर दिया गया। अब नारकियोंमें तीनों भागोंकी अपेक्षा अवधिज्ञानके विषय का निरूपण किया जाता है—

नारकियोंमें योजन प्रमाण अवधिज्ञान सातवें नरकमें है आधा कोश घटते घटते पहले नरकमें एक कोश प्रमाण रह जाता है। रत्नप्रभा पहिली पृथिवीमें नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय एक योजन प्रमाण है—एक योजनसे आगेके पदार्थोंको अवधिज्ञान नहीं जान सकता। दूसरी शर्करा पृथिवी

१। 'पणुवीस जोइणाइं' इस ४२५ की गाथासे लेकर अवधिज्ञान प्ररूपणाके अंततक अच्छीतरह गोम्मटसारजीमें इस विषयका वर्णन है।

में नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय साढे तीन (गंव्यूति) कोस है । तीसरी बालुका प्रभा पृथिवीमें तीन कोस है । चौथी पंकप्रभामें ढाई कोस, पांचवीं धूमप्रभामें दो कोस, छठी तमः प्रभामें डेढ कोस और सातवीं महातमःप्रभामें अवधिज्ञानका विषय नीचेकी ओर एक कोस है । तथा रत्नप्रभा आदि सब पृथिवियोंके नारकियोंका ऊपरकी ओर अवधिज्ञानका विषय अपने अपने रहनेके बिलोंकी चोटी तक है उससे ऊपरके पदार्थोंको वह विषय नहीं करता और नारकियोंके अवधिज्ञानका तिरछी ओर विषय असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है यह क्षेत्रकी अपेक्षा नारकियोंके अवधिज्ञानका विषय कहा गया है । काल द्रव्य और भावकी अपेक्षा पाहिलेके समान समझ लेना चाहिये अर्थात् नारकियोंका अवधिज्ञान जितने क्षेत्रको विषय करता है और उस क्षेत्रमें जितनी संख्याप्रमाण आकाशके प्रदेश रहते हैं उतनी ही संख्याप्रमाण काल द्रव्य भूत भविष्यत् वर्तमान कालके समय अवधिज्ञानके विषय होते हैं तथा उतनी ही संख्याप्रमाण संख्यात भेद अनंत प्रदेशोंके धारक पुद्गलस्कंध उसके विषय होते हैं और उतनी ही संख्याप्रमाण कर्मविशिष्ट जीव उनके अवधिज्ञानके विषय होते हैं तथा भावकी अपेक्षा अपने

---

१ । अमरकोष आदिमें गव्यूति शब्दका अर्थ दो कोस ग्रहण किया है परन्तु यहां पर उसका एक कोस ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये । गोम्मटसारजीमें भी कोसके हिसाबसे ही नारकियोंके नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय बतलाया है । यथा—

सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव ।
जावय पढमे निरये जोयणमेकं हवे पुराणं ॥ ४२३ ॥

सातमी भूमिमें अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण एक कोस है इसके ऊपर आध आध कोसकी वृद्धि तब तक होती है जब तक कि प्रथम नरकमें अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण पूर्ण एक योजन हो जाता है ।

विषय भूत पुद्गलस्कंधोंके रूप आदि भेदोंको और जीवोंके परिणामस्वरूप औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिक भावोंको नारकियोंका अवधिज्ञान विषय करता है। इसप्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञानका निरूपण हो चुका ॥ २१ ॥

यदि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है तो क्षयोपशमकारणक अवधिज्ञान किनके होता है ? इस विषयमें सूत्रकार कहते हैं—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां ॥ २२ ॥

देव और नारकियोंसे अवशिष्ट मनुष्य और तिर्यंचोंके जो अवधिज्ञान होता है वह कर्मोंके क्षयोपशमसे होता है और उसके अनुगामी अननुगामी आदि छह भेद हैं । सूत्रमें जो क्षयोपशम शब्द है उसका अर्थ इसप्रकार है—

अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदय सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी[1] क्षय और आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम ऐसी कर्मकी अवस्थाका नाम क्षयोपशम है । इस कर्मोंके क्षयोपशमसे जायमान अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है। विशेष—

शक्तिके जिस अंशका विभाग न हो सके उस अविभागी अंशका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्मपरमाणुका नाम वर्ग है। वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं

१—जो कर्म विना फल दिये खिर जाय उसे उदयाभावी क्षय कहते हैं।

और वर्गणाओंका समूह स्पर्धक कहा जाता है। वह स्पर्धक दो प्रकारका है एक देशघाती स्पर्धक दूसरा सर्वघाती स्पर्धक। जो गुणके एक देशको घाते वह देशघाती स्पर्धक है और जो सर्वदेशको घाते वह सर्वघाती स्पर्धक कहा जाता है तथा स्थितिको पूरीकर फल देना उदय है। विना ही फल दिये आत्मासे कर्मके संबंधका छूट जाना उदयाभावी क्षय है और वर्तमान समयको छोडकर आगामी कालमें उदय आनेवाले कर्मोंका जो सत्तामें रहना है वह सदवस्थारूप उपशम कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया और लोभ ये चार प्रकृतियां चारित्र मोहनीयकी एवं सम्यक् प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन प्रकृतियां दर्शनमोहनीयकी इसतरह ये सात प्रकृतियां सम्यक्त्व गुणकी विरोधी हैं। इन सातोंमें क्रोधादिका अर्थ स्पष्ट है। तथा जिस कर्मके उदयसे सम्यक्त्व गुणका मूल घात तो हो नहीं किंतु चल मल अगाढ आदि दोष उत्पन्न हो जांय वह सम्यक्त्व प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे जीवके अतत्त्व श्रद्धान हो वह मिथ्यात्व प्रकृति है और जिस कर्मके उदयसे ऐसे मिले हुए परिणाम हों जिन्हें न सम्यक्त्वरूप कह सकें और न मिथ्यात्वरूप कह सकें वह सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति है। उपर्युक्त सात प्रकृतियोंमें अनंतानुबंधी–क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वघाती हैं क्योंकि इनसे गुणके सर्वदेशका घात होता है और सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है क्योंकि वह गुणके अंशको घातती है अर्थात् उसके उदय रहनेपर गुणका घात नहीं होता किंतु वह कुछ दोष-युक्त बन जाता है। इस रीतिसे जहांपर अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धक सम्यक् प्रकृतिका तो उदय–स्थिति पूरी हो जानेपर फल देकर खिर जाना रहे, उक्त क्रोध आदि छह प्रकृतियोंके स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय–विना ही फल दिए खिर जाना, रहे और आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघाती

स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम—सत्तामें रहना हो वह क्षयोपशम है। यह क्षयोपशम शब्दका स्पष्ट अर्थ हुआ। शंका—

शेषग्रहणादविशेषप्रसंग इति चेन्न तत्सामर्थ्यविरहात् ॥ १ ॥

यथोक्तनिमित्तसंनिधाने सति शांतक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धेः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो शेष शब्द है उसका 'देव और नारकियोंसे जो अन्य हैं वे शेष हैं' यह अर्थ लिया गया है। देव और नारकियोंसे तो सब तिर्यंच और मनुष्य भिन्न हैं इसलिये सभी तिर्यंच और मनुष्योंके अवधिज्ञान होना चाहिये परन्तु सबके होता नहीं इसलिये शेष शब्दका ग्रहण व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिनके (तिर्यंच और मनुष्योंमें) अवधिज्ञानके होनेकी सामर्थ्य है उन्हींके अवधिज्ञान होता है सबके नहीं जो जीव असंज्ञी—मनरहित और अपर्याप्त—पर्याप्तियोंकी परिपूर्णतारहित हैं उनके अवधिज्ञानके प्राप्त करनेकी सामर्थ्य नहीं। तथा संज्ञी—मनसहित और पर्याप्त जीवोंमें भी हर एकके अवधिज्ञानकी प्राप्ति की योग्यता नहीं किंतु सम्यग्दर्शन आदि पूर्वोक्त कारणोंके विद्यमान रहते जिनके अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम है उन्हींके अवधिज्ञान होता है। प्रत्येक तिर्यंच वा मनुष्यके अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता नहीं इसलिये सबके अवधिज्ञान नहीं हो सकता। शंका—ऊपर भवकारणक अवधिज्ञानमें भी क्षयोपशमको कारण कह आए हैं इसलिये जब सर्वत्र अवधिज्ञान क्षयोपशमकारणक ही है—विना क्षयोपशमके नहीं हो सकता तब देव नारकियोंसे भिन्न शेषोंके अवधिज्ञान क्षयोपशमसे होता है यह कहना व्यर्थ है? उत्तर—

सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे तद्वचनं नियमार्थमब्भक्षवत् ॥ ३ ॥

जिस तरह जलके पीनेवाले सभी व्यक्ति हैं परन्तु जिसके लिये खासरूपसे यह कहा जाता है कि यह जलका पीनेवाला है वहांपर अनायास ही यह नियम बन जाता है कि 'यह केवल जल ही पीता है' और कोई चीज नहीं खाता पीता अन्यथा उसके लिये 'यह जलका पीनेवाला है' यह प्रयोग व्यर्थ ही है। उसीप्रकार जब सब जीवोंके क्षयोपशमकारणक अवधिज्ञानकी प्राप्ति संभव है तब देव नारकियोंसे अन्य शेषोंके वह क्षयोपशम निमित्तसे होता है यहांपर भी वह अनायास ही नियमसिद्ध हो जाता है कि शेषोंके क्षयोपशमनिमित्तक ही अवधिज्ञान होता है भवनिमित्तक अवधिज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये शेषोंके क्षयोपशमजनित ही अवधिज्ञान होता है इस नियमके लिये उनके क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानका उल्लेख करना व्यर्थ नहीं।

अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात्षड्विधः ॥ ४ ॥

अनुगामी १ अननुगामी २ वर्धमान ३ हीयमान ४ अवस्थित ५ और अनवस्थितके ६ भेदसे अवधिज्ञान छे प्रकारका है। जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश सूर्यके पीछे पीछे चलता है उसतिरह जो अवधिज्ञान जहां आत्मा जाय उसके साथ जाय वह अनुगामी है। सामने खडे हुए प्रश्नकर्ताको उत्तर देनेवाले पुरुषके वचनोंके समान जो अवधिज्ञान वहांका वहीं रह जाय—आत्माके साथ न जाय, वह अननुगामी नामका अवधिज्ञानका भेद है। जिसतरह आपसमें बांसोंके घिस जानेसे उत्पन्न सूखे पत्तोंके ढेरमें लग जानेवाली अग्नि उत्तरोत्तर वढती ही चली जाती है उसीप्रकार जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी विशुद्धता रहने पर जितना उत्पन्न हुआ है उससे उत्तरोत्तर असंख्यात लोक प्रमाण वढता ही चला जाय वह वर्धमान

नामका अवधिज्ञानका भेद है। जिसतरह इंधन ज्यों ज्यों समाप्त होता जाता है अग्निकी शिखा भी त्यों त्यों कम होती चली जाती है उसी तरह जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन गुणकी हीनता और संक्लेश परिणामोंकी वढवारीसे जितना उत्पन्न हुआ था उससे अंगुलके असंख्यातवे भाग पर्यंत कमता चला जाता है वह हीयमान नामका अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी समीपतासे जितने परिमाणसे उत्पन्न हुआ है उतना ही संसारका नाश वा केवलज्ञानकी उत्पत्ति पर्यंत रहता है लिंगके समान—जिसप्रकार शरीरमें तिल वगैरह चिन्ह न्यूनाधिकतारहित तदवस्थ रहते हैं उसीप्रकार जो अवधिज्ञान घटता वढता नहीं, वह अवस्थित नामका अवधिज्ञान है। और जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी वृद्धिसे जितना वह वढ सके उतना वढता चला जाता है और उन गुणोंकी हानिसे जितना घट सके उतना घटता चला जाता है वह अनवस्थित नामका अवधिज्ञान है। इस प्रकार यह छह प्रकारका अवधिज्ञान है।

पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति ॥ ५ ॥

देशावधि परमावधि और सर्वावधि ये भी तीन भेद अवधिज्ञानके हैं। जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे देशावधि तीनप्रकारका है। परमावधिके भी जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट ये तीन भेद है। सर्वावधिका कोई भेद हो नहीं सकता इसलिये वह एकही प्रकारका है। जघन्य देशावधि उत्सेध अंगुलके असंख्यातवे भाग क्षेत्रको विषय करता है। उत्कृष्ट देशावधि समस्त लोकके क्षेत्रको विषय करता है और जो जघन्य देशावधि और उत्कृष्ट देशावधिके क्षेत्रको विषय न कर वीचके क्षेत्रको विषय करनेवाला है वह अजघन्योत्कृष्ट अवधि है और उसके संख्याते भेद हैं। जघन्य परमावधि

का विषय एक प्रदेश अधिक लोकका क्षेत्र है। उत्कृष्ट परमावधिका विषय असंख्यातलोक क्षेत्र प्रमाण है और जघन्य परमावधि और उत्कृष्ट परमावधिसे भिन्न बीचके क्षेत्रको विषय करनेवाला अजघन्योत्कृष्ट परमावधि है इसके भी संख्याते भेद हैं। तथा उत्कृष्ट परमावधिके विषयभूत क्षेत्रसे बाहिर असंख्यात क्षेत्र प्रमाण सर्वावधिका विषय है।

वर्धमान १ हीयमान २ अवस्थित ३ अनवस्थित ४ अनुगामी ५ अननुगामी ६ प्रतिपाती ७ अप्रतिपाती ८ ये आठ भेद देशवधि अवधिज्ञानके है। वर्धमान १ अवस्थित २ अनवस्थित ३ अनुगामी ४ अननुगामी ५ और अप्रतिपाति ये छह भेद परमावधिके हैं एवं अवस्थित १ अनुगामी २ अननुगामी ३ और अप्रतिपाति ४ ये चार भेद सर्वावधि नामके अवधिज्ञानके हैं। यहांपर आदिके वर्धमान आदिका अर्थ तो जो उपर कहा है वही समझना चाहिये और विजलीके प्रकाशके समान जो विनाशीक हो वह प्रतिपाती है एवं जो इससे विपरीत हो वह अप्रतिपाति है। देशावधि आदिके द्रव्य क्षेत्र काल भावका निरूपण इसप्रकार है—

सर्वजघन्य देशावधिका क्षेत्र उत्सेध अंगुलका असंख्यातवां भाग है, काल आवलीका असंख्यातवां भाग है, अंगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें जितने प्रदेश हैं उतने प्रदेश प्रमाण उसका द्रव्य है।

---

१ पहिले अनुगामी अननुगामी आदि छह भेद कहे हैं और यहां प्रतिपाती और अप्रतिपाती मिला कर आठ भेद माने हैं इसलिये पूर्वापर विरोध आता है परंतु प्रतिपाती और अप्रतिपातीका अनुगामी अननुगामीमें ही अंतर्भाव होनेसे कोई दोष नहीं है क्योंकि अनुगामीका अर्थ 'साथ जाना है' वही अप्रतिपातीका है। अननुगामीका अर्थ 'साथ नहीं जाना है' वही प्रतिपातीका हैं। प्रतिपाती छूटनेको और अप्रतिपाती नहीं छूटनेको कहते हैं। २ असंख्यात समयकी एक आवली होती है।

उस द्रव्य प्रमाण अनंत प्रदेशोंके धारक असंख्यात स्कंधोंको सर्व जघन्य देशावधिज्ञान जानता है तथा जितने प्रमाण स्कंधोंको देशावधि विषय करता है उन स्कंधोंमें रहनेवाले अनंते रूप रस गंध आदि उसका भाव विषय है। इतने प्रमाण भावमें सर्व जघन्य देशावधि ज्ञानकी प्रवृत्ति है। देशावधि ज्ञानकी प्रवृत्तिका वर्णन इस प्रकार है—

देशावधिके एक प्रदेश अधिक क्षेत्रकी वृद्धि एक जीवकी अपेक्षा नहीं है किंतु नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वलोकपर्यंत एक प्रदेश अधिक क्षेत्रकी वृद्धि है। एक जीवकी अपेक्षा तो विशुद्धता होने पर मंडूकप्लुति[1] न्यायसे सर्व लोकपर्यंत अंगुलके असंख्यातवें भागसे ऊपर एक दम अंगुलके असंख्यात भाग क्षेत्र वृद्धि मानी है तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा जो एक प्रदेश अधिक क्षेत्र वृद्धि मानी है वह वहीं तक ही होती है जब तक कि अंगुलका असंख्यातवां भाग समाप्त नहीं होता। उसके आगे नहीं होती। एक जीव वा नाना जीवोंकी अपेक्षा देशावधिकी काल वृद्धि भी जब तक आवलीका असंख्यातवां भाग पूरा न हो तब तक मूल आवलीके असंख्यातवें भागसे कहीं एक समय अधिक, कहीं दो समय अधिक, कहीं संख्यात समय अधिक, और कहीं असंख्यात समय अधिक मानी है। किंतु आवलीके असंख्यातवें भागसे ऊपर देशावधिकी काल वृद्धि नहीं मानी तो इसप्रकारकी क्षेत्र वृद्धि और काल वृद्धि किस प्रकारकी वृद्धिसे होती है? उत्तर—चार प्रकारकी वृद्धिसे—संख्यातभाग वृद्धि १ असंख्यातभाग वृद्धि २ संख्यातगुण वृद्धि ३ असंख्यातगुण वृद्धि ४ इन चार प्रकारकी वृद्धियोंसे ली गई है तथा

१—जिसतरह मेंडक कूद कर चलता है क्रम क्रमसे नहीं जाता उसी प्रकार एक जीवकी अपेक्षा जो क्षेत्र वृद्धि मानी है वह एक दम अंगुलके असंख्यातवें भागसे अंगुलके असंख्यातवें भाग मानी है एक प्रदेश दो प्रदेश आदि क्रमसे नहीं मानी।

द्रव्यकी वृद्धि भी इन चार वृद्धियोंसे ली गई है किंतु भाववृद्धिका अनंतभाग वृद्धि असंख्यातभाग वृद्धि संख्यातभाग वृद्धि संख्यातगुण वृद्धि असंख्यातगुण वृद्धि और अनंतगुण वृद्धि छहों प्रकारकी वृद्धिसे ग्रहण है इस प्रकार यह तो द्रव्य क्षेत्र काल भावकी वृद्धि बतलाई गई है उसीसे सर्व लोक पर्यंत वृद्धि समझ लेनी चाहिए। तथा अनंत भाग हानि १ असंख्यात भाग हानि २ संख्यात भाग हानि ३ संख्यात गुण हानि ४ असंख्यात गुण हानि ५ अनंत गुण हानि ६ इस प्रकार हानिके भी छह भेद माने गये हैं। इन छह प्रकारकी हानियोंसे द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी सर्व लोक पर्यंत हानि भी समझ लेनी चाहिये। यहां द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा जघन्य देशावधिका निरूपण है। अजघन्योत्कृष्ट देशावधिका द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा निरूपण इस प्रकार है—

जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुलके संख्यातवें भाग है उसका काल आवलिके संख्यातवां भाग है। अंगुलके संख्यातवें भाग क्षेत्रके आकाशके जितनी संख्या प्रमाण प्रदेश हैं उतनी द्रव्य है और पहिले जो भाव शब्दका प्रमाण बताया है उससे अनंतगुणा, असंख्यातगुणा, वा संख्यातगुणा भाव है। जहांपर अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुलप्रमाण मात्र है वहांपर अवधिज्ञानका काल कुछ कम आवली प्रमाण है। द्रव्य और भाव पहिलेके समान हैं अर्थात् अंगुल प्रमाण क्षेत्रके जितनी संख्याप्रमाण प्रदेश हैं उतनी संख्याप्रमाण उसका द्रव्य है और अजघन्योत्कृष्ट अवधिज्ञानके विषयभूत जितने अनंत प्रदेशोंके धारक स्कंध हैं उनके रूप रस आदि भाव हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुल पृथक्त्व[1] प्रमाण है उसका काल आवलि प्रमाण है। और द्रव्य एवं भाव पहिले समान समझ लेना चाहिए। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक हाथ

१—तीनसे ऊपर और नौ के भीतरकी संख्याका नाम पृथक्त्व है।

प्रमाण है उसका काल आवलि पृथक्त्व प्रमाण है। यहांपर भी द्रव्य और भाव पहिलेके समान हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक कोश प्रमाण है उसके कालका प्रमाण कुछ अधिक एक उच्छ्वास है और द्रव्य भाव पहिलेके समान हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक योजन प्रमाण है उसके कालका प्रमाण भिन्न-मुहूर्त है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र पच्चीस योजन प्रमाण है उसके कालका प्रमाण कुछ कम एक दिन है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण भरतक्षेत्रके बराबर है उसके कालका प्रमाण आधा मास है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण जम्बूद्वीपके बराबर है उसके काल का प्रमाण कुछ अधिक एक मास है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञान के क्षेत्रका प्रमाण मनुष्यलोकके समान है उसके कालका प्रमाण एक वर्ष है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण रुचक नामक तेरहवें द्वीपके अन्तके समान है उसके कालका प्रमाण एक वर्ष पृथक्त्व है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधि-ज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण संख्याते द्वीप समुद्र है उस अवधिज्ञानके कालका प्रमाण संख्याते वर्ष है द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है जिसका असंख्यातद्वीपसमुद्र क्षेत्र है उस अवधिका काल भी असं-ख्यात वर्ष प्रमाण है। द्रव्य भावका प्रमाण पहलेके समान है। तिर्यंच और मनुष्योंके अजघन्योत्कृष्ट देशावधिका प्रमाण प्रतिपादन कर दिया गया। तिर्यंचोंके द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा उत्कृष्ट देशावधि का प्रमाण इसप्रकार है—

१ यहांपर प्राचीन भाषाकार पं० पन्नालालजी दूनीवालोंने "ऐसैं जघन्य तथा उत्कृष्ट तिर्यग्क्षेत्र संबंधी मनुष्यनिकौं देशावधि कह्यो। ऐसा लिखा है।" यह अर्थ असंगत है। क्योंकि पूर्वापर संबंध नहीं बैठता।

तिर्यंचोंके उत्कृष्ट देशावधिके क्षेत्रका प्रमाण असंख्याते द्वीप और समुद्र है। काल असंख्यात वर्षप्रमाण है। द्रव्य तैजसशरीर प्रमाण है और उसकी उत्पत्ति असंख्याते द्वीप समुद्रोंके आकाशके प्रदेशोंके प्रमाण असंख्याती तैजसशरीर वर्गणाओंसे होती है इसलिये उन वर्गणाओंके प्रमाण अनंतप्रदेशों के धारक असंख्याते स्कंध द्रव्योंको तिर्यंचोंका उत्कृष्ट देशावधि विषय करता है। भावका प्रमाण पहिलेके समान है। तिर्यंच और मनुष्य दोनोंके जघन्य देशावधि होता है। वह ऊपर कहे अनुसार समझ लेना चाहिये। तिर्यंचोंके देशावधि ही होता है परमावधि और सर्वावधि नहिं होते यह नियम है। मनुष्योंका द्रव्यक्षेत्र आदिकी अपेक्षा उत्कृष्ट देशावधि इसप्रकार है—

मनुष्योंके उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असंख्याते द्वीप समुद्र है। कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है। असंख्याते द्वीप और समुद्रोंके आकाशके प्रदेशोंकी बराबर असंख्याती ज्ञानावरण आदि कार्माण वर्गणाओंसे कार्माण शरीरकी उत्पत्ति होती है। उस कार्माण शरीरका जितना प्रमाण है उतना मनुष्यों के उत्कृष्ट देशावधिका द्रव्य है और भाव प्रमाण जैसा पहिले कह आए हैं उसीप्रकार है। यह उत्कृष्ट देशावधि मनुष्योंमें संयमी मनुष्योंके ही होता है साधारण मनुष्योंके नहीं यह नियम है। द्रव्य क्षेत्र आदि की अपेक्षा परमावधिका प्रमाण इसप्रकार है—

जघन्य परमावधिका एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण क्षेत्र है। एक प्रदेश अधिक लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर एवं जिनका विभाग न हो सके ऐसे समय, काल है। वे समय असंख्याते वर्ष प्रमाण हैं। एक प्रदेश अधिक लोकाकाशके प्रदेशोंकी जितनी संख्या है उस संख्या प्रमाण स्कंध, द्रव्य है और भावका प्रमाण पहिले कहे अनुसार है। विशुद्धताकी विशेषतासे नाना जीव और एक जीव दोनोंकी

अपेक्षा अजघन्योत्कृष्ट परमावधिकी सामान्यरूपसे क्षेत्रकी वृद्धि असंख्यात लोक प्रमाण है और यह असंख्यातलोक पर्यंत क्षेत्रवृद्धि उत्कृष्ट परमावधिके क्षेत्रसे पहिले पहिलेकी समझ लेनी चाहिये तथा असंख्यात लोकमें जो असंख्यात संख्या है वह आवलिके असंख्यातभागप्रमाण है। यहांपर काल द्रव्य और भावका प्रमाण पूर्ववत्—जघन्य परमावधिके काल और भावके निरूपणमें जो रीति वतलाई है उसी के समान, समझना चाहिये। (यह अजघन्योत्कृष्ट परमावधिके क्षेत्र आदिका प्रमाण है) तथा उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र लोकअलोकका जितना प्रमाण है उतने प्रमाणवाले असंख्यात लोक है और वे असंख्यातलोक अग्निकायके जीवोंकी संख्याकी वरावर हैं। यहांपर भी काल द्रव्य और भावका प्रमाण पहिले कहे अनुसार हैं। इस प्रकार जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट यह तीनों प्रकारका परमावधि उत्कृष्ट चारित्रके धारक संयमीके ही होता है अन्यके नहीं। वर्धमान ही होता है, हीयमान नहीं। अप्रतिपाती—सदा रहनेवाला ही होता है प्रतिपाती नहीं होता, छूटता नहीं। लोकप्रमाण असंख्यात लोक क्षेत्रमें तीनों प्रकारका परमावधि जिसके जितने क्षेत्रको लेकर उत्पन्न होता है उसके उतने ही क्षेत्रको लेकर वहांपर निश्चल रूपसे रहता है इसलिये अवस्थित है तथा अनवास्थित भी है परंतु वृद्धिकी अपेक्षा ही अनवास्थित है हानिकी अपेक्षा नहीं। अर्थात् वढता तो रहता है परंतु कम नहीं होता इसलोक संबंधी दूसरे दूसरे प्रदेशोंमें जानेसे अनुगामी है और परलोकमें साथ नहीं जाता इसलिये अननुगामी है। द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा सर्वावधिका वर्णन इस प्रकार है —

असंख्यातके असंख्याते ही भेद माने हैं इसलिए उत्कृष्ट परमावधिका जो क्षेत्र कहा है उससे असं-

१ यह सर्वावधिज्ञान निर्विकल्प है इसके देशावधि आदिके समान जघन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं।

ख्यातगुणा सर्वावधिका क्षेत्र है। काल द्रव्य और भावका प्रमाण परमावधिके समान समझ लेना चाहिए। वह सर्वावधि नामका अवधिज्ञान न वर्धमान है, न हीयमान है, न अनवस्थित है और न प्रतिपाती है किंतु जब तक संयमी पुरुषकी मनुष्य पर्यायका नाश नहीं होता वहांतक सदैव रहता है अतः अवस्थित है। संयमीकी मनुष्यत्व पर्यायके पहिले छूटता नहीं—इसलिए अप्रतिपाती है। दूसरे भवमें साथ साथ जाता नहीं इसलिए अननुगामी है और एक देशसे दूसरे देशमें जाता है इसलिए देशांतरकी अपेक्षा अनुगामी है। सर्वावधि शब्दमें सर्व शब्द समस्त अर्थका वाचक है इसलिए सर्वावधिके द्रव्य क्षेत्र काल और भावके प्रमाणमें परमावधिके द्रव्य क्षेत्र काल और भावका प्रमाण गर्भित हो जाता है इस कारण सर्वावधिके भीतर ही परमावधिके गर्भित हो जानेसे परमावधि भी देशावधि ही है इस रीतिसे वास्तवमें अवधिज्ञानके सर्वावधि और देशावधि ये दो ही भेद युक्तियुक्त हैं।

काल आदिकी वृद्धिका जो ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें जिस समय काल वृद्धि होती है उस समय द्रव्य क्षेत्र आदि चारोंकी भी नियमसे वृद्धि होती है। जब क्षेत्रवृद्धि होती है तब काल वृद्धिका कोई नियम नहीं वह होती भी है और नहीं भी होती है किंतु द्रव्य वृद्धि और भावकी वृद्धि तो नियमसे होती है। जिस समय द्रव्यकी वृद्धि होती है उस समय भाव वृद्धि भी नियमसे होती है परंतु क्षेत्र और काल वृद्धिका नियम नहीं—वह होती भी है और नहीं भी होती है। तथा जिस समय भाव वृद्धि होती है उस समय द्रव्य वृद्धि नियमसे होती है परंतु क्षेत्र और कालकी वृद्धिका वहांपर नियम नहीं—वह होती भी है और नहीं भी होती है।

यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानोपयोग कहीं एक क्षेत्र रूपसे और कहीं अधिक क्षेत्र रूपसे

इस तरह दो प्रकारसे होता है । जहांपर क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके बाह्य उपकरणस्वरूप श्रीवृषभ स्वस्तिक नंद्यावर्त आदि चिह्नोंमें किसी एक चिह्नकी प्रकटता रहती है वहांपर उसी एक चिह्न-स्वरूप उपयोगस्वरूप उपकरणमें रहनेके कारण अवधिज्ञान क्षेत्रमें रहनेवाला समझा जाता है और जहां श्रीवृषभ स्वस्तिक आदि अनेक शुभ चिह्नोंकी प्रकटता रहती है वहांपर अनेक क्षेत्रमें रहनेवाला कहा जाता है । शंका—

यदि गुणप्रत्यय अवधिज्ञानको शंख स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नोंकी अपेक्षा करनेवाला माना जायगा तो उसे पराधीन होनेसे परोक्ष कहना पडेगा परंतु उसे माना स्वाधीन प्रत्यक्ष है इसलिए यहां विरोध आता है ? सो ठीक नहीं । परपना इंद्रियोंमें ही रूढि है अर्थात् जो ज्ञान इंद्रियोंके आधीन है—अपनी उत्पत्तिमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है वही पराधीन ज्ञान माना जाता है किंतु शंख स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नोंकी अपेक्षा करनेवाला पराधीन नहीं कहा जा सकता । अवधिज्ञान अपनी उत्पत्तिमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिए उसके विषयमें पराधीनपनेकी शंका नहीं की जा सकती—यहां यह प्रमाण वचन भी है—

१—भवपच्चयगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्व अंगुत्थो । गुणपच्चयगो णरतिरियाणं संखादिचिन्हभवो ॥ ३७० ॥

भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेपि सर्वांगोत्थं । गुणप्रत्ययकं नरतिरश्चां शंखादिचिन्हभवं ॥ ३७० ॥

भव प्रत्ययं अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरोंके होता है और यह ज्ञान समस्त अंगसे होता है । गुणप्रत्यय अवधिज्ञान संज्ञी पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पर्याप्त तिर्यंचोंके भी होता है और यह ज्ञान शंखादि चिन्होंसे होता है । भावार्थ—नाभिके ऊपर शंख पद्म वज्र स्वस्तिक कलश आदि जो शुभ चिन्ह होते हैं उस जगहके आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है किंतु भवप्रत्यय अवधि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंसे होता है । गोम्मटसार जीवकांड ।

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतरो हि सः ॥ १ ॥

अर्थात् पर इंद्रियां हैं। इंद्रियोंसे पर मन है। मनसे पर बुद्धि है और बुद्धिसे परतर आत्मा है। अवधिज्ञान अपनी उत्पत्तिमें आत्माकी अपेक्षा रखता है इसलिए वह स्वाधीन प्रत्यक्ष है, पराधीन परोक्ष नहीं। इस अवधिज्ञानका गोम्मटसार जीवकांडकी अवधिज्ञान प्ररूपणामें विस्तारसे वर्णन है। वहांसे विशेष जान लेना चाहिये ॥ २२ ॥

अवधिज्ञानका वर्णन कर दिया गया। अब क्रमप्राप्त मनःपर्ययज्ञान है उसका भेदपूर्वक लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

जो ज्ञान परके मनमें तिष्ठते हुए रूपी पदार्थोंको जाने वह मनःपर्ययज्ञान है और उसके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं।

ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च ॥ १ ॥ अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला ॥ २ ॥

मन वचन कायकी सरलता लिए हुए दूसरेके मनमें तिष्ठे हुए पदार्थको जो जाने वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहा जाता है और परके मनमें तिष्ठनेवाले वचन काय और मनके द्वारा किये गये सरल और कुटिल दोनों प्रकारके रूपी पदार्थोंका जान लेना विपुलमति नामका मनःपर्ययज्ञान है। जिसकी मति—(जानना) ऋज्वी—सरल है, वह ऋजुमति नामका मनःपर्ययज्ञान है और जिसकी मति विपुल—

सरल और कुटिल दोनों प्रकारकी है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है। 'ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती' यह वहांपर द्वंद्वसमास है। यद्यपि मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति ऐसे दो भेद हैं इसलिये 'ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः' इस सूत्रमें 'ऋजुमतिविपुलमती' इसप्रकार दो मति शब्दोंका उल्लेख करना चाहिये परन्तु एक ही मति शब्दके उल्लेखसे दोनों मति शब्दोंका अर्थ निकल आता है इसलिये एक ही मति शब्दका उल्लेख किया है। इसप्रकार यह मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेदसे दो प्रकार कह दिया। अब वार्तिककार उसका लक्षण बतलाते हैं—

मनःसंबंधेन लब्धवृत्तिर्मनःपर्ययः ॥ ३ ॥

जिस ज्ञानकी उत्पत्ति वीर्यांतराय और मनःपर्यय ज्ञानावरणका क्षयोपशम एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके लाभरूप कारणोंके विद्यमान रहते अपने और पराये मनके संबंधसे होती है उसका नाम मनःपर्ययज्ञान है। शंका—

मतिज्ञानप्रसंग इति चेन्नाऽन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वादभ्रे चंद्रव्यपदेशवत् ॥ ४ ॥

जिसप्रकार मन और चक्षु आदि इंद्रियोंके द्वारा चाक्षुष आदि ज्ञान होते हैं और वे मतिज्ञान कहे जाते हैं उसीप्रकार मनःपर्ययज्ञान भी दूसरेके मनकी अपेक्षासे होता है इसलिये वह भी मतिज्ञान ही है मनःपर्ययज्ञान कोई भिन्न ज्ञान नहीं? सो ठीक नहीं। 'अभ्रे चंद्रमसं पश्य' आकाशमें चंद्रमा देखो, जिस प्रकार यहां आकाश शब्दका प्रयोग आपेक्षिक कारण है किंतु जिस तरह चक्षु आदि इंद्रियां चाक्षुष आदि ज्ञानोंकी उत्पादक कारण हैं उस तरह आकाश चंद्रज्ञानका उत्पादक कारण नहीं। उसी प्रकार 'परके मनमें तिष्ठनेवाले रूपी पदार्थको मनःपर्ययज्ञानवाला जानता है' एतावन्मात्र अर्थके द्योतन

करनेके लिये मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिमें परका मन आपेक्षिक कारण है अर्थात् दूसरेका मन ज्ञातव्य पदार्थका अवलम्बनमात्र है किंतु जिस तरह चक्षु आदि इंद्रियोंसे मतिज्ञान वा केवल मनसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उस तरह परके मनसे मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिये मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता। अथवा और भी यह बात है कि—

स्वमनोदेशे वा तदावरणकर्मक्षयोपशमव्यपदेशाच्चक्षुष्यवधिज्ञाननिर्देशवत् ॥ ५ ॥

चक्षुके स्थानमें अर्थात् जो चक्षुका स्थान है उसमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम हो जानेसे जिस प्रकार नेत्रमें अवधिज्ञान मान लिया जाता है किंतु उस अवधिज्ञानको मतिज्ञान नहीं कहा जाता उसीप्रकार जिस स्थानपर मन रहता है उस स्थानके आत्मप्रदेशोंमें मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम रहनेपर उन्हें भी मनःपर्ययज्ञान ही कहा जायगा मतिज्ञान नहीं कहा जा सक्ता। शंका—

मनःप्रतिबंधज्ञानादनुमानप्रसंग इति चेन्न प्रत्यक्षलक्षणाविरोधात् ॥ ६ ॥

जिसतरह धूम और अग्निका अविनाभाव संबंध निश्चित है इसलिये उस संबंधके ज्ञानसे पर्वत आदि स्थलोंमें जहांपर अग्निसे धूम निकल रहा है वहांपर उस धूमसे अग्निका जान लेना अनुमान ज्ञान माना जाता है उसीप्रकार दूसरेका मन और उसमें रहनेवाले पदार्थका आपसमें अविनाभाव संबंध है इसलिये उस संबंधके ज्ञानसे जो मनमें तिष्ठते हुए पदार्थका जान लेना है और जिसे मनःपर्यय कहा जाता है वह अनुमान ज्ञान ही है—अनुमानज्ञानसे भिन्न नहीं। इसरीतिसे जब अनुमानज्ञानमें ही मनःपर्ययका अंतर्भाव है तब मनःपर्ययज्ञानको जुदा मानना निरर्थक है ? सो ठीक नहीं। 'इंद्रियानिंद्रियनिर-

पेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षमिति' जिस ज्ञानमें इंद्रिय और मनकी अपेक्षा नहीं। व्यभिचार की भी संभावना नहीं और जो साकार पदार्थका ग्रहण करनेवाला है वह प्रत्यक्ष है। पहिले यह प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है। मनःपर्ययज्ञानमें यह प्रत्यक्षका लक्षण निरापद रूपसे घट जाता है इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान ही है, परोक्ष अनुमानज्ञान नहीं हो सकता किंतु अनुमान ज्ञानमें प्रत्यक्षका लक्षण घट नहीं सकता इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि—

उपदेशपूर्वकत्वाच्चक्षुरादिकरणनिमित्तत्वाद्वानुमानस्य ॥ ७ ॥

यह अग्नि है और यह धुवां है इस प्रकार किसी मनुष्यके उपदेश—वतानेसे, जानकर, पीछे नेत्र आदि इंद्रियोंके द्वारा धूमके देखनेसे जो अग्नि ज्ञान होता है वह अनुमान कहा जाता है इसलिये अनुमान ज्ञानमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रहनेके कारण जब प्रत्यक्षका लक्षण नहीं घटता तब वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहा जाता। मनःपर्ययज्ञानमें उपदेश इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं रहती। उसमें अखंडरूपसे प्रत्यक्षका लक्षण घट जाता है इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान है।

स द्वेधा सूत्रोक्तविकल्पात् ॥ ८ ॥ आद्यस्त्रेधार्जुमनोवाक्कायविषयभेदात् ॥ ९ ॥

"ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः" इस सूत्रमें मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद कहे हैं इसलिये ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है। उनमें आदिके ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानके तीन भेद हैं, वे इसप्रकार हैं—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ—सरल मन द्वारा किये गए अर्थका जाननेवाला १, ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ—सरल वचनद्वारा किए गए अर्थका जाननेवाला २ और ऋजुकायकृतार्थज्ञ—सरल कायद्वारा किये गए अर्थका जाननेवाला ३ इन तीनों भेदोंका खुलासा इसप्रकार है—

किसी मनुष्यने मनसे व्यक्त-खुलासारूप पदार्थका चिंतवन किया। धार्मिक वा लौकिक वचनोंको भी भिन्न भिन्न रूपसे उच्चारण किया एवं दोनों लोकके फलकी प्राप्तिके लिये अंग और उपांगोंका पटकना सकोडना और फैलानारूप कायकी चेष्टा भी की किंतु उसके थोडे ही दिन बाद वा बहुत काल बाद उस मनसे विचारे हुए वा वचनसे कहे हुए अथवा शरीरसे किए गये कार्यको भूल जानेके कारण मैंने मन वचन कायसे क्या किया था इस बातके विचारनेके लिए वह असमर्थ हो गया उसके उस प्रकारके मन वचन काय द्वारा किये गये कार्यको चाहैं ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानवालेसे पूछो चाहैं मत पूछो वह अपने ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानसे स्पष्ट जान लेता है कि तूने मनसे वह पदार्थ इस रूपसे विचारा था। वचनसे इस प्रकार कहा था और शरीरसे इसप्रकार किया था। यहां पर यह शंका न करना चाहिए कि परके मनमें तिष्ठते हुये पदार्थोंका ऐसा ज्ञान कैसे हो जाता है? क्योंकि आगमका यह वचन है कि—"मनसा मनः परिछिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति इति मनसाऽऽत्मनेत्यर्थः" अर्थात् अपनी आत्मासे चारो ओरसे दूसरेका मन जान कर उसमें तिष्ठने वाले रूपी पदार्थोंको मनःपर्यय ज्ञानवाला जान लेता है, इसलिए मनःपर्ययज्ञान द्वारा परके मनमें तिष्ठनेवाले पदार्थका जान लेना आगमसे अविरोधी होनेके कारण प्रामाणिक है। तथा जिस प्रकार मंच पर बैठनेवाले पुरुषोंको मंच कह दिया जाता है उसी प्रकार आगममें जो यह लिखा है कि 'मनसा मनः परिच्छिद्य' यहांपर भी मन शब्दसे 'पर मनसे विचारे गये मनमें तिष्ठनेवाले चेतन अचेतन सब प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण है' अर्थात् मनको जानता है इसका अर्थ यह है कि परके मनमें तिष्ठते हुये समस्त पदार्थोंको जानता है। तथा अपने आत्मासे आत्माको जानकर अपना और परका चिंतवन जीवित मरण सुख दुःख लाभ और अलाभ आदिको भी ऋजु-

मति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। किंतु यह नियम है कि जो मनुष्य व्यक्तमना है—अच्छी तरह चिंतवन कर जिन्होंने खुलासा रूपसे मनसे पदार्थोंका निश्चय कर लिया है उन्हीके द्वारा विचारे गए पदार्थोंको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है किंतु जो अव्यक्तमना है—अच्छी तरह चिंतवन कर जिन्होंने खुलासा रूपसे पदार्थोंका निश्चय नहीं किया है उनके द्वारा मनसे विचारे हुए पदार्थोंको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी नहीं जानता। यह द्रव्य और भावकी अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानका विषय है। कालकी अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जघन्य रूपसे अपने वा अन्य जीवोंके दो तीन भवोंका जाना आना जानता है और उत्कृष्ट रूपसे अपने वा अन्यके आठ सात भवोंका जाना आना जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य रूपसे गव्यूतिपृथक्त्व—तीन कोशसे ऊपर और आठ कोशके भीतरके पदार्थोंको जानता है उससे बाहिरके पदार्थोंको नहीं और उत्कृष्ट रूपसे योजन पृथक्त्व—तीन कोशसे ऊपर और नव कोशके नीचेके पदार्थोंको जानता है उससे बाहिरके पदार्थोंको नहीं।

द्वितीयः षोढा ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् ॥ १० ॥

ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ १ ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ २ ऋजुकायकृतार्थज्ञ ३ वक्रमनस्कृतार्थज्ञ ४ वक्रवाक्कृतार्थज्ञ ५ और वक्रकायकृतार्थज्ञ ६ इस प्रकार विपुलमति मनःपर्ययज्ञान छह प्रकारका है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञानसे परके मनमें रहनेवाले ऋजुवक्र—सीधे टेडे, सब प्रकारके रूपी पदार्थोंका ज्ञान होता है। अपने और परके जीवित मरण सुख दुःख लाभ और अलाभ आदिका भी ज्ञान होता है तथा जिस

१—'त्रिसंख्यातोऽधिका नवसंख्यातो न्यूना संख्या पृथक्त्वं' सर्वार्थसिद्धिकी टिप्पणी पृष्ठ सं० ७२। २—इन शब्दोंके अर्थ ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना चाहिये।

पदार्थका व्यक्त मन करि चिंतवन किया गया है वा अव्यक्त मन करि चिंतवन किया गया है अथवा नहीं चिंतवन किया गया है आगे जाकर चिंतवन होगा उन सब प्रकारके पदार्थोंको विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। यह द्रव्य और भावकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञानके विषयका निरूपण है। कालकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जघन्य रूपसे सात आठ भवोंके गमन आगमनको जानता है और उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात भवोंके गमन आगमनको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य रूपसे योजनपृथक्त्व—तीन योजनसे ऊपर और आठ योजनके भीतरके पदार्थोंको जानता है और उत्कृष्ट रूपसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतरके पदार्थोंको जानता है वाहिरके पदार्थोंको नहीं ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारके मनःपर्यय ज्ञानका वर्णन कर दिया गया। अब उन दोनों प्रकारके भेदोंमें आपसमें क्या विशेषता है? सूत्रकार इसवातको वतलाते हैं—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

परिणामोंकी विशुद्धता और अप्रतिपात इन दो कारणोंसे ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है अर्थात्—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा विपुलमति मनः पर्ययज्ञानमें अधिक विशुद्धता है तथा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान बीचमें छूट भी जाता है परंतु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञानके होने तक रहता है—बीचमें नहीं छूटता।

मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो आत्माकी उज्ज्वलताका होना है उसका नाम विशुद्धि है। प्रतिपातका अर्थ गिरना है। उपशांतकषायी मनुष्य चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्कटतासे संयमरूपी शिखरसे गिरजाता है इसलिये उसके प्रतिपात माना है। क्षीणकषायी मनुष्यके गिरनेका

कोई कारण है नहीं इसलिये उसके अप्रतिपात है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी संयमशिखरसे नहीं गिरता इसलिये वह अप्रतिपात है। 'विशुद्धिश्च अप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातौ ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तयोर्विशेषस्तद्विशेषः' यह सूत्रमें रहनेवाले समस्त पदोंकी व्युत्पत्ति है। शंका—'ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः' इसी सूत्रसे ही ऋजुमति और विपुलमतिका विशेष स्पष्ट है फिर विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यामित्यादि सूत्रका क्यों आरंभ किया गया ? उत्तर—

विशेषांतरप्रतिपत्त्यर्थं पुनर्वचनं ॥ १ ॥

पहिले सूत्रमें जो ऋजुमति और विपुलमतिका विशेष बतलाया गया है वह साधारण है। सर्वसाधारणको उससे संतोष नहीं हो सकता इसलिये खास विशेषता बतलानेकेलिये विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यामित्यादि सूत्रका आरंभ किया गया है। शंका—

च शब्दप्रसंग इति चेन्न प्राथमकाल्पिकभेदाभावात् ॥ २ ॥

जिसप्रकार मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेद हैं उसीप्रकार उसके ही विशुद्धि और अप्रतिपात भी भेद हैं यदि यही अभिप्राय है तब तो इससूत्रमें च शब्दका उल्लेख करना चाहिये? सो ठीक नहीं। जिसतरह मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेद हैं उसीप्रकार यदि विशुद्धि और अप्रतिपात भी मनः पर्ययज्ञानके भेद होते तबतो सूत्रमें चशब्द कहना अयुक्त होता। सो तो है नहीं किंतु वे तो ऋजुमति और विपुलमतिके भेद नहीं हैं किंतु स्वरूप विशेष है इसलिये सूत्रमें चशब्दके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। विशुद्धिमें ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अधिक विशुद्ध है। और वह इसप्रकार है—

अनंतके अनंते भेद माने हैं इसलिये कार्माण द्रव्यके जिस अंतिम अनंतवें भागको सर्वावधिज्ञानने विषय कर रक्खा है उस अनंतवें भागका भी अनंतवां भाग ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानका विषय है और जिस अनंतवें भागको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानने विषय किया है उसका भी अनंतवां भाग जोकि दूर व्यवहित और सूक्ष्म है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञानका विषय है। इसतरह द्रव्य क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विशुद्धि समझ लेनी चाहिये एवं विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अत्यंत सूक्ष्म द्रव्यको विषय करता है इसलिये उसका अत्यंत सूक्षम पदार्थका विषय करना ही भावकी अपेक्षा विशुद्धि है। जो पुरुष विपुलमति मनःपर्ययज्ञानके स्वामी हैं कषायकी उत्तरोत्तर मंदतासे निरंतर उनका चारित्र प्रवर्धमान–बढा हुआ, रहता है एवं कर्मोंके प्रकृष्ट क्षयोपशमकी विशुद्धता रहती है इसलिये वह अप्रतिपाती–छूटता नहीं, है और ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानके स्वामियोंके कषायोंका उद्रेक रहनेके कारण दिनों दिन चारित्र हीयमान–कम होता चला जाता है, इसलिये वह प्रतिपाती है बीचमें छूट जाता है इसरीतीसे द्रव्य क्षेत्र आदिकी विशुद्धता और प्रतिपाति अप्रतिपातीपनेसे ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है ॥ २४ ॥

मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेदोंकी अपेक्षा विशेषता हमने जान ली परन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें आपसमें क्या विशेष है? इस बातको सूत्रकार बतलाते हैं–

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

विशुद्धि क्षेत्र स्वामी और विषयकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता है। अर्थात् अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान विशुद्ध थोड़े क्षेत्रवाला, थोड़े स्वामीवाला और सूक्ष्म विषयवाला है अवधिज्ञान कम विशुद्धिवाला बहुत क्षेत्रवाला बहुत स्वामीवाला और स्थूलविषयवाला है।

सूत्रमें जो विशुद्धि शब्द है उसका अर्थ उज्ज्वलता है। जहांतकके विद्यमान पदार्थोंको जाने वह क्षेत्र है। ज्ञानोंका प्रयोग करनेवाला स्वामी है और विषय नाम ज्ञेयका है। शंका—

अवधिज्ञानान्मनःपर्ययस्य विशुद्ध्यभावोऽल्पद्रव्यविषयत्वादिति चेन्न भूयःपर्यायज्ञानात् ॥ १ ॥

शास्त्रोंमें मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय अधिक द्रव्य बतलाया गया है और मनःपर्ययज्ञानका विषय अल्प द्रव्य बतलाया है क्योंकि सर्वावधि ज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यका अनंतवां भाग मनःपर्ययका द्रव्य बतलाया है तथा यह प्रसिद्ध बात है कि जिसका विषय अधिक द्रव्य होता है वह अधिक विशुद्ध और जिसका विषय कम द्रव्य होता है वह अल्प विशुद्ध कहा जाता है इसलिये अधिक द्रव्यको विषय करनेके कारण मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा अवधिज्ञान अधिक विशुद्ध है और अल्प द्रव्यको विषय करनेके कारण मनःपर्ययज्ञान अल्प विशुद्ध है। सो ठीक नहीं। संसारमें एक मनुष्य तो ऐसा है जो समस्त शास्त्रोंका व्याख्यान तो कर रहा है परंतु उनका एक देशरूपसे ही व्याख्यान करता है, कहां क्या लिखा है, किसरूपसे लिखा है इसतरह समस्तरूपसे उनके अर्थका व्याख्यान नहीं कर सकता—वैसा करनेमें असमर्थ है। दूसरा मनुष्य ऐसा है कि शास्त्रका तो एकका ही व्याख्यान कर रहा है परंतु प्रत्येक अर्थको जुदा जुदा दर्शा कर समस्तरूपसे अर्थके कहनेमें समर्थ है। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें पीछेका मनुष्य विशेष विशुद्धज्ञानका धारक समझा जाता है उसीप्रकार यद्यपि मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय अधिक द्रव्य है परंतु वह उसे एकदेश स्थूलरूपसे जानता है और मनःपर्ययज्ञानका विषय अवधिज्ञानके विषयका अनंतवां भाग है तो भी वह बहुतसी रूप आदि पर्यायोंके साथ समस्त रूपसे जानता है इसलिये अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान ही अधिक विशुद्ध है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके क्षेत्रका पाहिले वर्णन किया जा चुका है। इसलिये विषय आगे कहेंगे। अब स्वामीके विषयमें विचार करते हैं—

विशिष्टसंयमगुणैकार्थसमवायी मनःपर्ययः ॥ २ ॥

मनःपर्ययज्ञानका अविनाभाव विशिष्ट संयम गुणके साथ है । जहां पर विशिष्ट संयम होगा वहीं मनःपर्ययज्ञान होगा अन्यत्र नहीं। अन्यत्र उसका खुलासा इस रूपसे कहा गया है—

मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति मनुष्योंके ही होती है देवें नारकी और तिर्यंचोंमें नहीं होती। मनुष्योंमें भी गर्भज मनुष्योंमें ही होती है संमूर्छनज मनुष्योंमें नहीं होती। गर्भज मनुष्योंमें भी कर्मभूमिके मनुष्योंके ही होती है भोगभूमिके मनुष्योंमें नहीं हो सकती । कर्मभूमिके मनुष्योंमें भी छहों पर्याप्ति पूर्ण होनेसे जो पर्याप्तक हैं उन्हींके होती है, अपर्याप्तकोंके नहीं। पर्याप्तकोंमें भी सम्यग्दृष्टियोंके ही वह उत्पन्न होता है मिथ्यादृष्टि सासदन सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्तियोंके नहीं। सम्यग्दृष्टिओंमें भी जो मनुष्य संयमी हैं उन्हींके होता है असंयत सम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थान और संयतासंयत पांचवें गुणस्थानवर्तियों के नहीं । संयमियोंमें भी छठे गुणस्थान प्रमत्तसे बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यंत संयमियोंके ही होता है। बारहवें गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोंमें रहनेवाले संयमियोंके नहीं। छठे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक होने पर भी जिनका चारित्र कषायोंकी दिनोंदिन मंदतासे दिनोंदिन वर्धमान है—बढनेवाला है उन्हींके होता है किंतु कषायोंकी उत्कटतासे जिनका चारित्र हीयमान है—मंद होता चला जाता है, उनके नहीं होता । प्रवर्धमान चारित्रवालोंमें भी सात प्रकारकी ऋद्धियोंमें जिनके कोई एक ऋद्धि होगी उन्हींके होता है किंतु जिनके कोई प्रकारकी ऋद्धि नहीं है उनके नहीं होता है । तथा ऋद्धि

धारक पुरुषोंमें भी किन्हीं किन्हींके होता है सबोंके नहीं होता इसप्रकार मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिमें विशिष्ट संयमका ग्रहण प्रधान कारण बतलाया है । परंतु अवधिज्ञान देव मनुष्य तिर्यंच और नारकी चारों गतियोंके जीवोंके होता है इस रूपसे अवधि और मनःपर्ययके स्वामियोंका भेद होनेसे भी दोनों ज्ञानोंमें भेद है ॥ २५ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि ज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इस प्रकार चारों प्रकारके ज्ञानोंका वर्णन हो चुका अब क्रमप्राप्त केवल ज्ञान है आर उसका वर्णन होना चाहिए परंतु उसका वर्णन 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलं' इस सूत्रसे दशवें अध्यायमें किया है। यहांपर किस किस ज्ञानका कितना कितना विषय है? यह बतलानेकी बडी आवश्यकता है इसलिए यहां क्रमप्राप्त केवलज्ञानका वर्णन न कर सब ज्ञानोंके विषयका वर्णन किया जाता है। उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय इस प्रकार है—

मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका जाननेका संबंध द्रव्योंकी असर्व—कुछ पर्यायोंमें है । अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवादि छहों द्रव्योंको तो जानते हैं परंतु उनकी समस्त पर्यायोंको नहीं जानते—थोडी थोडी पर्यायोंको ही जान सकते हैं ।

सूत्रमें जो निबंध शब्द है उसका अर्थ संबंध है और 'निबंधनं निबंधः' यह उसकी व्युत्पत्ति है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका संबंध द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंमें है, यह निबंध शब्दके प्रयोगसे स्पष्ट

अर्थ है। शंका—सूत्रमें विषय शब्दका उल्लेख नहीं है इसलिये 'मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका' यह अर्थ नहीं हो सकता। यदि यह अर्थ करना ही अभीष्ट है तो सूत्रमें विषय शब्दका उल्लेख करना चाहिये। उत्तर—

प्रत्यासत्तेः प्रकृतविषयग्रहणाभि संबंधः ॥ १ ॥

किसी सूत्रमें कोई शब्द न हो किंतु उसके पहिलेके सूत्रमें उस शब्दका उल्लेख किया गया हो तो योग्यता रहनेपर आगेके सूत्रमें उसकी अनुवृत्ति आ जाती है। 'मतिश्रुतयोरित्यादि' सूत्रमें यद्यपि 'विषय' शब्दका उल्लेख नहीं किया गया है तो भी 'विशुद्धि क्षेत्र स्वामीत्यादि' पास हीके सूत्रमें उसका उल्लेख है इसलिए समीपतासे विषय शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें आजाती है इस रीतिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका संबंध' इत्यादि अर्थके होनेमें कोई आपत्ति नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि विशुद्धि क्षेत्रेत्यादि सूत्रमें जो विषय शब्द है वह पंचम्यंत है इसलिए मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें पंचम्यंत विषय शब्दकी ही अनुवृत्ति आ सकती है षष्ठ्यंत विषय शब्दकी अनुवृत्ति नहीं परंतु इस सूत्रमें 'मतिश्रुत विषयस्य' यह षष्ठ्यंत विषय शब्द माना है इसलिए यह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। जहां जैसा अर्थ लिया जाता है वहां वैसी ही विभक्तिका विपरिणाम हो जाता है जिस तरह—'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमंत्रयस्वैनं देवदत्तमिति' देवदत्तके घर ऊंचे हैं उस देवदत्तको पुकार लो यहांपर पहिले 'देवदत्तस्य' यह षष्ठ्यंत देवदत्तका प्रयोग है फिर अर्थके अनुसार विभक्तिका परिवर्तन कर 'देवदत्तं' यह द्वितीयांत रक्खा है। इसी तरह 'देवदत्तस्य गावोऽश्वाहिरण्यमाढ्यो वैधवेयो देवदत्तः' देवदत्तके गाय घोडा और सोना चांदी है इसलिए वह धनवान होकर भी विधवाका पुत्र है। यहांपर भी प्रारंभमें 'देवदत्तस्य'

यह षष्ठ्यंत देवदत्त शब्दका प्रयोग है परंतु अर्थके अनुसार विभक्तिका परिवर्तन कर पीछे 'देवदत्तः' यह प्रथमांतका प्रयोग रक्खा है। मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें भी अर्थके अनुसार षष्ठ्यंत विषय शब्दका ही प्रयोग इष्ट है इसलिए पंचम्यंत विषय शब्दका परिवर्तन कर षष्ठ्यंत विषय शब्दके माननेमें कोई दोष नहीं। शंका—मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें जो 'द्रव्येषु' पद दिया है वहांपर एक वचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख ही पर्याप्त था बहुवचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख क्यों किया गया? उत्तर—

द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः सर्वद्रव्यपर्याय संग्रहार्थः ॥ २ ॥ तद्विशेषणार्थमसर्वपर्यायगृहणं ॥ ३ ॥

जीव धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गलके भेदसे द्रव्य छह प्रकारके माने हैं। सूत्रमें कहे गये द्रव्य-शब्दसे उन छहों प्रकारके द्रव्योंका ग्रहण हो इसलिए 'द्रव्येषु' यह बहुवचनांत द्रव्य शब्दका प्रयोग किया गया है। तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयभूत द्रव्यके कुछ ही पर्याय हैं सर्वपर्याय वा अनंत पर्याय नहीं यह बतलानेके लिए द्रव्यका असर्वपर्याय यह विशेषण किया है यदि 'द्रव्येषु' इतना मात्र ही कहा जाता और 'असर्वपर्यायेषु' यह उसका विशेषण न दिया जाता तो सब ही द्रव्य सामान्य रूपसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय हो जाते। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि द्रव्योंकी कुछ ही पर्यायोंको क्यों मतिज्ञान और श्रुतज्ञान विषय करते हैं, सर्व पर्याय वा अनंत पर्यायोंको क्यों नहीं? उसका समाधान यह है कि रूप आदि पदार्थोंके जाननेमें मतिज्ञान चक्षु आदि इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है। मतिज्ञान जिस द्रव्यको विषय करता है उसके जिन रूप आदि पर्यायोंके जाननेकी चक्षु आदि इंद्रियोंमें शक्ति है उन्हीं रूप आदि पर्यायोंको मतिज्ञान जानता है। उस द्रव्यमें रहने वाले सर्व पर्याय वा अनंत पर्यायोंके जाननेकी चक्षु आदि इंद्रियोंमें शक्ति नहीं इसलिए अपने विषयभूत द्रव्यकी सर्व पर्याय वा

अनंत पर्यायोंको अवधिज्ञान विषय नहीं कर सकता। तथा श्रुतज्ञान भी शब्दकारणक है जितने शब्द होंगे उन्हीको श्रुतज्ञान जान सकता है। शास्त्रोंमें शब्दोंका परिमाण संख्यात माना है और द्रव्यके पर्याय असंख्याते और अनंते माने हैं इसलिए खुलासा रूपसे पृथक् पृथक् सब वा अनंत पर्यायोंको श्रुतज्ञान भी विषय नहीं कर सकता। गोम्मटसार जीवकांडमें यह कहा भी है—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं

पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिवद्धो ॥ ३३३ ॥

प्रज्ञापनीया भावा अनंतभागस्तु अनभिलाप्यानां।

प्रज्ञापनीयानां पुनः अनंतभागःश्रुतनिवद्धः ॥ ३३३ ॥

[1]अनभिलाप्य पदार्थोंके अनंतवें भाग प्रमाण [2]प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थोंके अनंतवें भाग प्रमाण श्रुतमें निबद्ध हैं। भावार्थ—जो एकमात्र केवलज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं, किंतु जिनका वचनके द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता ऐसे पदार्थ अनंतानंत हैं। इसतरहके पदार्थोंमें अनंतवें भागप्रमाण वे पदार्थ हैं जिनका वचनके द्वारा निरूपण हो सकता है उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनंतवां भाग श्रुतमें निरूपित है। इसरीतिसे यह वात अच्छीतरह सिद्ध हो गई कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय द्रव्यके कुछ पर्याय हैं, सब वा अनंत पर्याय नहीं। शंका—

१ अनभिलाप्य उन्हें कहते हैं जो संकेत आदिके द्वारा भी नहीं जाने जा सकें ऐसेभाव केवलज्ञानद्वारा ही गम्य हैं। २ प्रज्ञापनीय भाव वे पदार्थ हैं जो दिव्यध्वनि द्वारा तो कहे जा सकते हैं परंतु श्रुत निवद्ध नहीं हैं।

अतींद्रियेषु मतेरभावात्सर्वद्रव्यासंप्रत्यय इति चेन्न नोइंद्रियविषयत्वात् ॥ ४ ॥

मतिश्रुतयोरित्यादिसूत्रमें मतिज्ञानके विषय समस्त द्रव्योंके कुछ पर्याय बतलाये हैं। यदि मतिज्ञान पदार्थोंके जाननेमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रक्खेगा तो धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय पदार्थोंके जाननेमें इंद्रियां तो समर्थ होगी नहीं फिर मतिज्ञान सब द्रव्योंको विषय करनेवाला है यह कथन अयुक्त है ? सो ठीक नहीं । मतिज्ञान पदार्थोंके जाननेमें इंद्रिय और मन दोनोंकी अपेक्षा रखता है यद्यपि स्पर्शन आदि इंद्रियां धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय द्रव्योंको विषय नहीं कर सकतीं परंतु नो इंद्रियावरण रूप कर्मकी क्षयोपशम रूप विशुद्धि विशिष्ट मनके धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय द्रव्य भी विषय हो सकते हैं। इसलिये मनका अवलंबन रखनेवाला मतिज्ञान जब धर्म अधर्म आदिको विषय कर सकता है तब उपर्युक्त शंकाको स्थान नहीं मिल सकता । यदि मतिज्ञानकी प्रवृत्ति धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय पदार्थोंमें नहीं होती, रूपी पदार्थोंमें ही होती तो श्रुतज्ञानके साथ मतिज्ञानका उल्लेख न कर एक मात्र रूपी द्रव्यको विषय करनेवाले अवधिज्ञानके साथ उल्लेख करते परंतु वैसा नहीं किया इसलिये स्पष्ट सिद्ध है कि मतिज्ञान ऐंद्रिय और अतींद्रिय दोनों प्रकारके पदार्थोंको विषय करता है और उनमें अतींद्रिय पदार्थोंको जानना उसका मन इंद्रियकी अपेक्षा है। सर्वार्थसिद्धिकार भगवान पूज्यपादने भी यह लिखा है—

"धर्मास्तिकायादीन्यतींद्रियाणि तेषु मतिज्ञानं न प्रवर्तते, अतः सर्व द्रव्येषु मतिज्ञानं वर्तते इत्य-युक्तं। नैष दोषः। अनिंद्रियाख्यं करणमस्ति तदालंबनो नो इंद्रियावरणक्षयोपशम लब्धिपूर्वक उपयोगोऽवग्रहादि रूपः प्रागेवोपजायते ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते"। अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थ हैं । इंद्रियोंकी अपेक्षा रखनेवाले मतिज्ञानकी उनके जाननेमें

प्रवृत्ति हो नहीं सकती इसलिये सब द्रव्योंको मतिज्ञान जानता है यह कहना ठीक नहीं ? उत्तर—धर्मास्तिकाय आदि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण मन है श्रुतज्ञानावरण कर्मकी क्षयोपशम लब्धिरूप विशुद्धिके रहने पर उससे धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थोंका अवग्रह ईहा आदि स्वरूप उपयोग पहिले हो लेता है उसके वाद अपने योग्य धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय विषयोंमें श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थोंका ज्ञान; जब मनसे होता है तब यह मतिज्ञान ही है क्योंकि मनसे भी मतिज्ञान माना है ॥ २६ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका निरूपण कर दिया गया उनके अनंतर नामधारी अवधिज्ञान के विषयका निरूपण सूत्रकार करते हैं—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अवधिज्ञानके विषयका नियम रूपी पदार्थोंमें है अर्थात् वह पुद्गल द्रव्यकी पर्यायोंको ही जानता है।

रूपशब्दस्यानेकार्थत्वे सामर्थ्याच्छुक्लादिग्रहणं ॥ १ ॥

रूप शब्दके वाच्य अर्थ अनेक हैं। 'रूपरसगंधस्पर्शा इति' रूप रस गंध और स्पर्श, यहांपर रूप शब्द सफेद आदि रंगका वाचक है। 'अनंतरूपमनंतस्वभावमिति' अनंत रूपका धारक है अर्थात् अनंत स्वभाववाला है, यहांपर रूपका अर्थ स्वभाव है परन्तु यहांपर नेत्र इंद्रियके विषयभूत शुक्ल आदि का ही ग्रहण है। किंतु यहांपर उसका स्वभाव अर्थ नहीं लिया जा सकता क्योंकि स्वभाववाले धर्मास्तिकाय आदि भी पदार्थ हैं, कोई भी पदार्थ स्वभावसे विहीन नहीं। इसलिये धर्मास्तिकाय आदि अरूपी पदार्थोंका भी ज्ञान अवधिज्ञानसे कहना पडेगा। परन्तु अवधिज्ञानसे सिवा पुद्गल द्रव्यके अन्य अमू-

तिक पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता है। इसलिये रूपसे शुक्ल आदि अर्थके माननेमें किसी प्रकारका दोष नहीं।

भूमाद्यनेकार्थसंभवे नित्ययोगोऽभिधानवशात् ॥ २ ॥

रूप जिसके हो वह रूपी कहा जाता है यहांपर व्याकरणसे मत्वर्थी 'इन्' प्रत्यय करनेपर 'रूपिन्' शब्द बना है। मत्वर्थीय इन् प्रत्ययके 'बहुत' आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु यहां प्रकरणवश उसका नित्ययोग अर्थ लिया गया है इसलिये 'क्षीरिणो वृक्षाः' जिस तरह यहांपर क्षीर शब्दसे होनेवाली मत्वर्थीय 'इन्' प्रत्ययका अर्थ नित्ययोग है और यहां नित्ययोग अर्थ माननेसे जो वृक्ष हमेशा दूधवाले हों वे ही क्षीरी वृक्ष कहे जा सकते हैं अन्य नहीं। उसीप्रकार रूपी यहांपर भी मत्वर्थीय 'इन्' प्रत्ययका नित्ययोग अर्थ है एवं वैसा अर्थ माननेपर जो पुद्‌गल सदा रूपयुक्त हों—कभी भी जिनसे रूप जुदा न हो सके उनका रूपी शब्दसे ग्रहण है। पुद्‌गल द्रव्यसे कभी रूप जुदा हो नहीं सकता इसलिये अवधिज्ञान पुद्‌गल द्रव्यके पर्यायोंको ही विषय करता है यह स्पष्टार्थ है। शंका—यदि रूप शब्दका शुक्ल आदि ही अर्थ किया जायगा तो पुद्‌गलके पर्याय रूपद्वारसे ही अवधिज्ञानके विषय होंगे, रसादि द्वारसे न हो सकेंगे और शास्त्रमें रस आदिके द्वारा भी पुद्‌गल-पर्याय अवधिज्ञानके विषय माने हैं इसलिये यहां पर शास्त्रविरोध होता है? उत्तर—

तदुपलक्षणार्थत्वात्तदविनाभाविरसादिग्रहणं ॥ ३ ॥

१=रूपके कहनेसे रूप रस गंध स्पर्श इन चारोंका ग्रहण समझना चाहिए। चारों ही अविनाभावी हैं इसलिये एकके ग्रहणसे सबोंका ग्रहण हो जाता है।

'रूपिष्ववधेः' इस सूत्रमें रूप शब्द उपलक्षण है इसलिये रूप शब्दके कहनेसे उसके अविनाभावी रस गंध आदिका भी वहां ग्रहण है। इस रीतिसे जब रूप शब्दसे रूप रस आदि समस्त अविनाभावी गुणों का ग्रहण है तब जिस तरह रूपद्वारसे पुद्गलके पर्याय अवधिज्ञानके विषय हैं उसीप्रकार रस आदि द्वारसे भी वे उसके विषय हैं कोई दोष नहीं। शंका—यदि रूप रस आदि द्वारोंसे पुद्गलके पर्यायोंको अवधिज्ञान विषय करता है तब पुद्गलोंके तो सब पर्याय अनंते हैं वे सब अवधिज्ञानके विषय कहने पड़ेंगे। उत्तर—

असर्वपर्यायगृहणानुवृत्तेर्न सर्वगतिः ॥ ४ ॥

जिसतरह "देवदत्ताय गौ दीयतां, जिनदत्ताय कंबलः, इति दीयतामित्यभिसंबध्यते" देवदत्तको गाय दो और जिनदत्तको कंबल दो, यहां पर 'देवदत्ताय गौर्दीयतां' इस वाक्यमें उल्लेख किये गये 'दीयतां' शब्दका संबंध उत्तर वाक्यमें भी माना जाता है उसीप्रकार 'मतिश्रुतयो' रित्यादि सूत्रमें 'असर्वपर्याय' शब्दका उल्लेख है उसका 'रूपिष्ववधेः' इस सूत्रमें भी संबंध है इसलिये पुद्गलके अनंते पर्याय अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं किंतु पुद्गलकी कतिपय पर्यायोंको और जीवके औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक परिणामोंको ही अवधिज्ञान विषय करता है। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि

---

१ अजहत्स्वार्थलक्षणयाऽन्यग्राहकं, उपलक्षणं। अजहत्स्वार्थलक्षणा [अपने अर्थको न छोडकर] से जो दूसरे पदार्थोंका ग्रहण करना है उसका नाम उपलक्षण है जिस तरह 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां' कौओंसे दहीकी रक्षा करो। यहांपर काक शब्द उपलक्षण है इसलिये जितने भी जीव दहीके विघातक है उन सबका काक शब्दसे ग्रहण है उसीप्रकार प्रकृतमें रूप शब्दको भी उपलक्षण माननेसे जितने उस रूपके अविनाभावी रस गंध आदि गुण हैं उन सबका रूप शब्दसे ग्रहण है।

जीवके क्षायिक और पारिणामिक भावोंको तथा धर्मास्तिकाय आदिको क्यों अवधिज्ञान विषय नहीं करता ? क्योंकि रूप रस आदि विशिष्ट ही पदार्थ अवधिज्ञानके विषय होते हैं । क्षायिक और पारिणामिक भाव तथा धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ अरूपी हैं इसलिये वे अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

अब मनःपर्ययज्ञानका विषय सूत्रकार बतलाते हैं—

तदनंतभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

जो रूपी पदार्थ सर्वावधिका विषय है उसके अनंतवें भागको मनःपर्ययज्ञान विषय करता है ॥२८॥

अब सब ज्ञानोंके अंतमें कहे जानेवाले केवलज्ञानके विषयका वर्णन सूत्रकार करते हैं—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

केवलज्ञानके विषयका नियम समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंमें है अर्थात् एक एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्याय हैं सो छहों द्रव्योंकी समस्त अवस्थाओंको केवलज्ञान युगपत्—एक साथ जानता है । यहां पर द्रव्य पदार्थका विवेचन किया जाता है—

स्वपर्यायान् द्रवति द्रूयते वा तैरिति द्रव्यं ॥ १ ॥

जो अपने पर्यायोंको प्राप्त करैं अथवा जिसके द्वारा अपने पर्याय प्राप्त किये जांय उसका नाम द्रव्य है । द्रू धातुसे यत् प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्दकी सिद्धि हुई है । यद्यपि यहां यह शंका हो सकती है कि कर्ममें 'यत्' प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्द सिद्ध हो सकता है, कर्तामें यत् प्रत्यय कैसे होगा परंतु

वह ठीक नहीं। जिन प्रत्ययोंकी कृत्य संज्ञा है वे बहुलतासे होते हैं। कर्ममें ही होते हैं यह नियम नहीं इसलिये बहुलताकी अपेक्षा कर्ता अर्थमें भी द्रव्य शब्द साधु है।

कथंचिद्भेदसिद्धौ तत्कर्तृकर्मव्यपदेशसिद्धिः ॥ २ ॥ इतरथा हि तदप्रसिद्धेरत्यंताव्यतिरेकात् ॥ ३ ॥

द्रव्य और पर्यायोंमें कथंचित् भेद माननेसे ही कर्ता और कर्मकी व्यवस्था है। यदि उनमें सर्वथा अभेद ही माना जायगा तो सर्वथा अभिन्न द्रव्य पर्यायोंमें कर्ता कर्मकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी क्योंकि सर्वथा विशेषरहित अभिन्न ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो विना किसी अन्य शक्तिका अवलंबन किये कर्ता और कर्म कहाया जा सके। द्रव्य और पर्यायोंमें कर्ता कर्मकी व्यवस्था इष्ट है इसलिये उस व्यवस्थाकी सिद्धिके लिए उनमें पर्यायार्थिक नयरूप शक्तिकी अपेक्षा कथंचित् भेद मानना ही होगा। अब पर्यायशब्दका विवेचन किया जाता है—

मिथोभवनं प्रतिविरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दांतरात्मलाभनिमित्तत्वा-
दर्पितव्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः ॥ ४ ॥

कुछ धर्म आपसमें एक जगह पर रहनेके विरोधी हैं और कुछ अविरोधी हैं तथा कुछ उपात्त हेतुक हैं और कुछ अनुपात्त हेतुक हैं एवं जिनका आत्मलाभ—व्यवहार दूसरे दूसरे शब्दोंके आधीन है इस रीतिसे अपने आत्मलाभमें दूसरे दूसरे शब्दोंकी अपेक्षा रखनेके ही कारण जिनका संसारमें व्यवहार है ऐसे द्रव्यके अवस्था विशेष-धर्मोंका नाम पर्याय है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

कुछ धर्म एक साथ नहीं रहते इसलिये वे आपसमें विरोधी हैं। अनेक एक साथ रहते हैं इसलिये

वे अविरोधी हैं। उनमें जीवके अनादि पारिणामिक चैतन्य जीवत्व, द्रव्यत्व, भव्यत्व, अथवा अभव्यत्व ऊर्ध्वगति स्वभाव और अस्तित्व आदिके साथ औदयिक आदिभाव यथासंभव एक साथ होते हैं इसलिये वे आपसमें अविरोधी हैं। तथा नारक तिर्यंच देव मनुष्य स्त्री पुंलिंग नपुंसकलिंग एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय पंचेंद्रिय बाल्य कौमार क्रोध और हर्ष आदि गुण आपसमें एक साथ एक जगहपर नहीं होते इसलिये विरोधी हैं। पुद्गलके अनादि पारिणामिक रूप रस गंध स्पर्श शब्द सामान्य अस्तित्व आदि धर्म, सफेद १ काला २ नीला ३ पीला ४ और लाल ५ ये पांच रंग, तीखा १ आम्ल २ कडवा ३ मीठा ४ और कषेला ५ ये पांच रस, सुगंधि १ दुर्गंधि २ ये दो गंध, कोमल १ कठिन २ भारी ३ हलका ४ ठंडा ५ गरम ६ चिकना ७ और रूखा ८ ये आठ स्पर्श तथा तत वितत आदि छे प्रकारका शब्द इसप्रकार इन पर्यायोंके साथ हरएक दोरूप आदिका एक तीन चार पांच संख्यात अनंतगुणस्वरूप परिणमन हुआ करता है इसलिए इन पर्यायोंके एक साथ एक जगह होनेके कारण वे आपसमें विरोधरहित हैं और सफेद काला नीला तीखा कडवा सुगंध और दुर्गंध आदि पर्यायें परमाणुओंमें स्वभावजनित हैं, प्रयोगजनित नहीं हैं और स्कंधोंमें प्रयत्नजनित भी हैं। स्वभावजनित भी हैं एक साथ परमाणु वा स्कंधोंमें नहीं रहतीं इसलिए वे आपसमें एक दूसरेके विरोधी हैं। इसप्रकार जीव और पुद्गलकी अपेक्षा विरोधी और अविरोधी धर्मोंका स्वरूप वर्णन किया गया है इसी तरह धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंके भी अमूर्तत्व अचेतनत्व असंख्येय प्रदेशत्व गति कारण स्वभाव और अस्तित्व आदि धर्म अगुरु लघु गुणके

१—भव्यत्व तथा अभव्यत्व दोनों एक साथ नहीं रह सकते इसलिए जीवत्व आदिके साथ इन दोनोंमें एक किसीका अविरोध समझना चाहिये।

हानि वृद्धि रूप अनंत विकारोंके साथ तथा स्वप्रत्यय—अपनेसे ही होने वाले और परप्रत्यय-दूसरे निमित्तोंसे होनेवाले, गतिकारणत्व विशेष आदि धर्मोंके साथ आपसमें एक जगह रहनेके कारण विरोधरहित हैं और एक जगह न रहनेके कारण विरोधसहित भी हैं । उपर्युक्त धर्मोंमें बहुतसे औदयिक आदि धर्म द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप कारणोंसे उत्पन्न होते हैं इसलिए उपात्त हेतुक—सकारणक है, और जिनका कभी भी विकार नहीं हो सकता—चेतनसे अचेतनरूप नहीं परिणत हो सकते, ऐसे पारिणामिक चैतन्य आदि भावोंका कोई भी उत्पादक कारण नहीं इसलिए वे अनुपात्तहेतुक—अकारणक हैं इसप्रकार उन उपात्तहेतुक और अनुपात्तहेतुक विरोधी अविरोधी धर्मोंके आत्मलाभ—व्यवहारमें निमित्त कारण दूसरे दूसरे शब्द हैं इसीलिए यह चेतन है यह नारकी वा बालक है यह व्यवहार होता है इस रीतिसे जो द्रव्यके अवस्थाविशेष—धर्म द्रव्यार्थिक नयके विषय न होकर पर्यायार्थिक नयके विषय हैं और व्यवहार ऋजुसूत्र और शब्द नयसे जिनका संसारमें व्यवहार होता है उन धर्मोंका ही नाम पर्याय है।

तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वंद्वः ॥ ५ ॥

सूत्रमें जो 'द्रव्यपर्याय' शब्द है उसका 'द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः' यह इतरेतरयोग नामका द्वंद्व समास है । शंका—

द्वंद्वेऽन्यत्वं प्लक्षन्यग्रोधवदिति चेन्न तस्य कथंचिद्भेदेपि दर्शनात् गोत्वगोपिंडवत् ॥ ६ ॥

जो पदार्थ आपसमें भिन्न होते हैं उनका इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है जिसतरह 'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ' यहांपर प्लक्ष और न्यग्रोध दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं इसलिए इनका आपसमें इतरेतर योग द्वंद्व समास है। द्रव्य पर्याय शब्दमें भी इतरेतर योग द्वंद्व माना है इसलिए द्रव्य और

पर्याय शब्द भी आपसमें सर्वथा भिन्न होने चाहिए। सो ठीक नहीं। गोपिंडसे गोत्व पदार्थ सर्वथा भिन्न नहीं कथंचित् भिन्न है, तो भी गोत्वं च गोपिंडश्च 'गोत्वगोपिंडौ' यह वहां पर इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है उसीतरह पर्याय भी द्रव्यसे कथंचित् भिन्न है इसलिए वहांपर इतरेतर योग नामका द्वंद्व समास बाधित नहीं। इस प्रकार कथंचित् भेद पक्षमें भी इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है तब उपर्युक्त शंकाके आधार पर द्रव्य और पर्यायोंको सर्वथा भिन्न मानना निर्हेतुक है।

नैयायिक और वैशेषिकोंने सामान्य और विशेष पदार्थोंको सर्वथा भिन्न माना है इसलिए यदि उनकी ओरसे यहां यह शंका हो कि गोत्व सामान्य और गोपिंड विशेष इन दोनोंका इतरेतर योग द्वंद्व समास साध्यसम है अर्थात् सर्वथा आपस में भिन्न भिन्नोंका है इसलिए गोत्व और गोपिंडमें कथंचित भेद मान कर जो कथंचित् भेद पक्षमें इतरेतर योग द्वंद्वका संभव निर्दोष कहा है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। सामान्य और विशेष दोनों पदार्थ आपसमें अभिन्न हैं यह पहिले कहा जा चुका है। इसलिए उनको आपसमें सर्वथा भिन्न मानना बाधित है। इस रीतिसे कथंचित् भिन्न पदार्थोंमें भी जब इतरेतर योग द्वंद्व होता है तब द्रव्य पर्याय शब्दमें इतरेतर योग द्वंद्व मानना बाधित नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

द्रव्यग्रहणं पर्यायविशेषणं चेन्नानर्थक्यात् ॥ ७ ॥ द्रव्याज्ञानप्रसंगाच्च ॥ ८ ॥

'द्रव्यपर्याय' शब्दमें 'द्रव्याणां पर्यायाः द्रव्यपर्यायाः' द्रव्योंकी पर्याय, यह षष्ठी तत्पुरुष समास कर द्रव्य; पर्यायका विशेषण है? सो ठीक नहीं। पर्याय सिवा द्रव्यके अन्य पदार्थके नहीं हो सकते। यदि द्रव्यको पर्यायका विशेषण माना जायगा तो फिर पर्याय शब्दका उल्लेख ही उपयुक्त है, द्रव्य शब्द

का उल्लेख करना व्यर्थ है। इसलिये 'द्रव्याणां पर्यायाः द्रव्यपर्यायाः ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास न मानकर द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः यह इतरेतरयोग द्वंद्व मानना ही ठीक है तथा षष्ठी तत्पुरुष समास उत्तर पदार्थ ही प्रधान होता है इसलिये षष्ठी तत्पुरुष माननेसे पर्यायोंको ही मुख्यता आवेगी द्रव्यकी मुख्यता नहीं रहेगी इसलिये इतरेतर द्वंद्व ही उपयुक्त है। यदि यहांपर भी यह शंका की जाय कि—जैन सिद्धांतमें पर्यायोंके समुदायको द्रव्य माना है। पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं इसलिये केवलज्ञानसे जब समस्त पर्याय जान ली जायगी तब उनसे भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ तो बाकी बचेगा नहीं फिर पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य शब्दका ग्रहण निरर्थक है? सो ठीक नहीं। यदि वादी द्रव्य और पर्यायोंका भेद मानता है तब तो पर्यायसे भिन्न द्रव्य शब्दका उल्लेख कार्यकारी है और यदि उसे पर्याय स्वरूप ही मानता है तब पर्यायोंके जाननेसे उसका भी ज्ञान हो सकता है कोई दोष नहीं। यह विषय ऊपर विस्तारसे निरूपण भी कर दिया है इसलिये द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् भेद मान 'द्रव्य पर्याय शब्दका इतरेतरयोग द्वंद्व माना है वह सार्थक है। यदि यहांपर भी यह शंका की जाय कि पर्यायसे भिन्न जब द्रव्य पदार्थ कोई चीज नहीं तब 'द्रव्यपर्याय' शब्दका द्वंद समास माननेपर भी द्रव्य ग्रहण व्यर्थ ही है? सो भी ठीक नहीं। यदि सर्वथा द्रव्य और पर्यायोंका अभेद संबंध सिद्ध हो, तब तो अवश्य ही द्रव्य शब्दका उल्लेख व्यर्थ है किंतु नाम संख्या और लक्षणोंके भेदसे द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् भेद माना है इसलिये कथंचित् भेद होनेसे द्रव्य शब्दका उल्लेख निरर्थक नहीं। अन्यथा संसारमें जो यह 'द्रव्य, द्रव्य' व्यवहार होता है वह द्रव्यके न कहने पर न होगा इसरीतिसे जब द्रव्य पर्यायोंका कथंचित् भेद है तब सर्वथा पर्यायस्वरूप द्रव्य मानकर द्रव्य शब्दका उल्लेख व्यर्थ नहीं हो सकता और

न सर्वथा अभेदपक्षमें 'द्रव्यपर्याय' शब्दका द्वंद्व समास ही हो सकता इसलिये कथंचित् भेद पक्षमें 'द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः' यह इतरेतर योग द्वंद्वसमास निर्दोष है शंका—'सर्वद्रव्यपर्यायेषु यहां पर बहुवचनांत शब्दका उल्लेख किया है इसलिये बहुवचनके उल्लेखसे ही जब बहुत से द्रव्य और पर्यायोंका ग्रहण हो जायगा तब वहांपर सर्व शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही है ? उत्तर—

सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ९ ॥

लोकाकाश और अलोकाकाशमें रहनेवाले भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंके विषयभूत द्रव्यों के पर्याय अनंत हैं वे समस्त केवलज्ञानके विषय हैं यह बतलानेकेलिये सर्वद्रव्येत्यादि सूत्रमें सर्व शब्द का ग्रहण किया गया है खास तात्पर्य यहांपर यह है कि लोकाकाश और अलोकाकाशका स्वभाव अनंत है उससे भी पदार्थ अनंतानंत हैं उन सबको स्पष्ट रूपसे केवलज्ञान जानता है यह अपरिमित माहात्म्य केवलज्ञान ही का है यह समझलेना चाहिये। यदि सूत्रमें सर्व शब्दका उल्लेख नहीं होता तो यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि बहुवचनके अंदर यह सामर्थ्य है कि उससे बहुतसे पदार्थोंका ग्रहण हो सकता है किंतु यावन्मात्र पदार्थोंको केवलज्ञान विषय करता है यह अर्थ बहुवचनसे नहीं लिया जा सकत ॥ २९ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदिके विषयका संबंध अच्छीतरह जान लिया गया परंतु यह बात अभीतक नहीं जानी कि अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान आदि ज्ञान एक आत्मामें एक साथ कितने रह सक्ते हैं ? इस बातको सूत्रकार बतलाते हैं—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

एक जीवके एक साथ एकसे लेकर चार पर्यंत ज्ञान रह सकते हैं अर्थात् यदि किसी जीवके एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है। दो ज्ञान हों तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। तीन ज्ञान हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं एवं चार हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार होते हैं। सूत्रमें जो एक शब्द है उसका वार्तिककार अर्थ बतलाते हैं—

अनेकार्थसंभवे विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दः ॥ १ ॥

एक शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'एकं द्वौ बहवः' यहांपर एक शब्दका अर्थ एक संख्या है। एके 'आचार्याः—अन्ये आचार्याः' यहांपर एक शब्दका अर्थ 'अन्य' माना है। 'एकाकिनस्ते विचरंति वीराः' वे वीर पुरुष विना किसीके सहायताके अकेले ही विहार करते हैं। यहांपर एक शब्दका अर्थ 'असहाय' है। 'एकमागमनं—प्रथममागमनं' पहिला आना हुआ, यहांपर एक शब्दका अर्थ पहिला है। 'एकहतां सेनां करोमि—प्रधानहतां सेनां करोमीत्यर्थः' मैं प्रधान द्वारा सेनाको नष्ट कराता हूं, यहांपर एक शब्दका अर्थ 'प्रधान' है। सूत्रमें जो एक शब्द कहा गया है उसका यहां प्रधान अर्थ विवक्षित है। अर्थात् मतिज्ञान आदि लेकर एक आत्मामें एक साथ चार ज्ञान विवक्षित हैं।

आदिशब्दश्चावयववचनः ॥ २ ॥ सामीप्यवचनो वा ॥ ३ ॥

आदि शब्दके भी अनेक अर्थ होते हैं। ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णाः—ब्राह्मणव्यवस्थाः, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, इत्यर्थः। अर्थात्—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंकी ब्राह्मण वर्णके आधीन

व्यवस्था है। यहांपर आदि शब्दका अर्थ व्यवस्था है। 'भुजंगादयः परिहर्तव्याः भुजंगप्रकारा विषवंत इत्यर्थः' सर्प आदि विषवाले जीवोंको दूरसे ही छोड देना चाहिये। यहांपर आदि शब्दका अर्थ प्रकार–भेद है। 'नद्यादीनि क्षेत्राणि–नदीसमीपानीत्यर्थः' नदीके समीप क्षेत्र हैं, यहांपर आदि शब्दका अर्थ समीप है। ऋगादिमधीते–ऋगवयवमधीते इत्यर्थः ऋग्वेदके कुछ भागको पढता है, यहांपर आदि शब्दका अर्थ अवयव है। सूत्रमें जो आदि शब्द दिया है उसका भी अर्थ यहां 'अवयव' विवक्षित है। अर्थात् 'एककी प्रथम–परोक्षज्ञानकी आदि–अवयव–मतिज्ञानको आदि लेकर' यह एकादि शब्दका अर्थ है। अथवा आदि शब्दका अर्थ समीप भी है। मतिज्ञानके समीप श्रुतज्ञान है इसलिये एक शब्दके उल्लेखसे मतिज्ञान और आदिके शब्दके उल्लेखसे श्रुतज्ञानको ग्रहण कर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको आदि लेकर एक आत्मामें एक साथ चार तक ज्ञान होते हैं यह सूत्रका स्पष्ट अर्थ है। शंका–

मतेर्बहिर्भावप्रसंग इति चेन्मानयोः सदाऽव्यभिचारात् ॥ ४ ॥

आदि शब्दका अर्थ समीप मानकर 'एकस्य आदि एकादिः' ऐसी व्युत्पत्तिसे प्रथम निर्दिष्टके समीपको आदि लेकर यदि यह अर्थ किया जायगा तो प्रथम निर्दिष्ट–मतिज्ञानके समीप श्रुतज्ञान है। इसलिये श्रुतज्ञानको आदि लेकर (एक आत्मामें एक साथ चार ज्ञान होते हैं) यह अर्थ होगा। मतिज्ञानको आदि लेकर यह अर्थ न हो सकेगा। इसरीतिसे मतिज्ञान छूट जायगा। सो ठीक नहीं। जिस तरह नारद और पर्वतका आपसमें सहचर सम्बंध है–अव्यभिचारितरूपसे नारद और पर्वत एक साथ रहते हैं, इसलिये नारदका नाम लेनेसे पर्वतका ग्रहण और पर्वतका नाम लेनेसे नारदका ग्रहण हो जाता है उसी तरह मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको भी आपसमें अव्यभिचारितरूपसे सहचारीपना है। ऐसा कोई

भी आत्मा नहीं जहांपर दोनों एक साथ न रहें इसलिये जहांपर मतिज्ञानका उल्लेख होगा वहांपर श्रुतज्ञानका भी ग्रहण होगा और जहांपर श्रुतज्ञानका ग्रहण होगा वहांपर मतिज्ञानका भी ग्रहण समझा जायगा। यद्यपि आदि शब्दका समीप अर्थकर 'मतिज्ञानके समीपमें रहनेवाले श्रुतज्ञानको आदि लेकर' ऐसा अर्थ करनेपर मतिज्ञानका ग्रहण नहीं होता तथापि श्रुतज्ञानके ग्रहणसे मतिज्ञानका भी साहचर्य सम्बंधसे वहांपर ग्रहण है इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको आदि लेकर एक साथ एक आत्मामें चार ज्ञान तक रह सकते हैं ऐसे अर्थके माननेमें कोई आपत्ति नहीं। शंका—

ततोऽन्यपदार्थे वृत्तावेकस्यादिशब्दस्य निवृत्तिरुष्ट्रमुखवत् ॥ ५ ॥

'एकादिरादिर्येषां तानीमान्येकादीनि' एकादिको आदि लेकर जो ज्ञान हैं वे एकादि कहे जाते हैं, यह यहां पर जो बहुव्रीहि समास है उसमें दो आदि शब्दोंका उल्लेख है इसलिये समस्त पदमें भी दो आदि शब्द रहने चाहिये अर्थात् 'एकाद्यादीनि' ऐसा समस्त पद होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। उष्ट्रस्य मुखं उष्ट्रमुखं, उष्ट्रवन्मुखं यस्येति उष्ट्रमुखं अर्थात् जिसका मुख ऊंट सरीखा हो वह उष्ट्रमुख पुरुष कहा जाता है और जिसका मुख ऊंटके मुखवाले पुरुष सरीखा हो वह भी उष्ट्रमुख ही कहा जाता है, यहां पर जिसतरह उष्ट्रमुख शब्दका बहुव्रीहि समास करते समय दो मुख शब्दोंका उल्लेख रहता है और समस्त पदमें एक ही मुख शब्द रह जाता है एक मुख शब्दकी निवृत्ति हो जाती है उसीतरह 'एकादीनि' यहां पर भी दो आदि शब्दोंमें एक ही आदि शब्द रह जाता है एक आदि शब्दकी निवृत्ति हो जाती है।

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः ॥ ६ ॥

जिस पदका समास किया जाता है उसका विग्रह तो अवयवोंके साथ होता है और समासका अर्थ समुदायगत माना जाता है। 'एकादीनि' यह समस्त पद है यहां पर विग्रह तो एक, आदि रूप उस पदके अवयवोंके साथ है परंतु मतिज्ञान और 'श्रुतज्ञानको लेकर ज्ञान' (भाज्य हैं) यह समासका अर्थ 'एकादीनि' इस समुदायगत है। सूत्रमें जो 'आचतुर्भ्यः' पद है वह इस नियमकेलिए है कि एक साथ एक आत्मामें चार पर्यंत ही ज्ञान होते हैं सब-पांचों नहीं होते। यदि 'आचतुर्भ्यः' पद सूत्रमें न होता तो एक साथ एक जगह पर पांचो ज्ञानोंका विधान हो जाता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि पांचों ज्ञानोंका क्यों एक साथ संभव नहीं होता? उसका समाधान इसप्रकार है—

केवलस्यासहायत्वादितरेषां च क्षयोपशमनिमित्तत्वाद्यौगपद्याभावः ॥ ७ ॥

पांचों ज्ञानोंमें केवलज्ञान असहाय ज्ञान है उसे कर्मोंके क्षयोपशमकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती शेष मतिज्ञान आदि चारों ज्ञानोंको कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रहती है इसलिये वे असहाय नहीं इस रीतिसे ज्ञानोंमें आपसमें विरोध रहनेके कारण वे एक साथ नहीं हो सकते इसलिये सूत्रमें जो 'आच-तुर्भ्यः' पद है, वह नियामक और सार्थक है। शंका—

नाभावोऽभिभूतत्वादहानि नक्षत्रवदिति चेन्न क्षायिकत्वात् ॥ ८ ॥

जिससमय सूर्यका प्रकाश पृथ्वीमंडल पर पडता है उससमय नक्षत्रोंका प्रकाश दब जाता है किंतु वहां यह नहीं कहा जाता कि नक्षत्रोंकी नास्ति ही हो गई है। उसीतरह जिससमय आत्मामें अत्यंत जाज्वल्यमान केवलज्ञानका उदय होगा उससमय क्षायोपशमिक मतिज्ञान आदिका प्रभाव दब जायगा क्योंकि केवलज्ञान सर्वथा निरावरण ज्ञान है किंतु केवलज्ञानके साथ उनका आस्तित्व ही नहीं है यह

नहीं कहा जा सकता। इसरीतिसे जब केवलज्ञानके साथ साथ क्षायोपशमिक ज्ञान—मतिज्ञान आदिका भी होना युक्ति सिद्ध है तब सूत्रमें 'आचतुर्भ्यः' इस पदसे एक साथ एक आत्मामें मतिज्ञान श्रुतज्ञानको लेकर चार ही ज्ञान होते हैं यह नियमस्वरूप कथन विरुद्ध है ? सो ठीक नहीं। जो स्थान सब जगह शुद्ध हो चुका है वहां पर कोई भाग अशुद्ध नहीं कहा जा सकता उसीप्रकार जब समस्त ज्ञानावरण कर्मका निर्मूल नाश हो चुका है—जरा भी अंश नाशकेलिए वाकी नहीं है तब वहां पर उसका क्षायोपशम कहना बाधित है। ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा नाश करने पर केवलज्ञान होता है इसलिये जिस आत्मामें उसका उदय है उसमें मतिज्ञान आदि क्षयोपशमिक ज्ञानोंका रहना नहीं हो सकता। इसलिये एक साथ एक आत्मामें मतिज्ञानको आदि लेकर चारतक ज्ञानोंका जो नियम है वह निर्बाध और निर्दोष है। यदि फिर यहांपर यह शंका की जाय कि—

इंद्रियत्वादिति चेन्नार्षार्थानवबोधात् ॥ ९ ॥

'पंचेंद्रिया असंज्ञिपंचेंद्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन इति, अर्थात् असंज्ञी पंचेंद्रियसे लेकर अयोग केवलीपर्यंत सव जीव पंचेंद्रिय हैं। यह शास्त्रका वचन है। जिनके केवलज्ञान हैं वे भी जब पंचेंद्रिय हैं और उनके पांचों इंद्रियां मौजूद हैं तब इंद्रियोंके कार्य मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान होने चाहिये क्योंकि समर्थ कारण इंद्रियोंके रहते कार्य ज्ञान अवश्यंभावी हैं। इसलिये केवलज्ञानके अस्तित्वकालमें मतिज्ञान आदि नहीं हो सकते यह कहना निर्मूल है? सो ठीक नहीं। तुमने आर्ष रहस्यको नहीं समझा है आर्षमें बतलाया है कि—सयोगकेवली और अयोगकेवलीको जो पंचेंद्रिय बतलाया है वह द्रव्येंद्रिय की अपेक्षा है, भावेंद्रियकी अपेक्षा नहीं क्योंकि जहांपर भावेंद्रियका अस्तित्व है वहांपर समस्त ज्ञाना-

वरण कर्मका क्षय नहीं हो सकता एवं ज्ञानावरणकर्मके निर्मूल क्षयके विना सर्वज्ञपना भी असंभव है। यदि सयोगकेवली और अयोगकेवलीके भावेंद्रियकी सत्ता मानी जायगी तो उनके ज्ञानावरण कर्मका निर्मूल क्षय न हो सकेगा एवं ज्ञानावरण कर्मके निर्मूल क्षयके विना वे सर्वज्ञ भी नहीं कहे जा सकेंगे तथा जहांपर भावेंद्रियकी सत्ता है वहीं पर मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानोंका आविर्भाव होता है, केवल द्रव्येंद्रिय के अस्तित्व कालमें नहीं क्योंकि द्रव्येंद्रियकी सत्ताको निःशक्तिक माना है, वह ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें कारण नहीं वन सकती इसलिये जब केवलज्ञानके उदय रहने पर भावेंद्रियका अस्तित्व नहीं रहता तब केवलज्ञानके साथ कारण भावेंद्रियके अभावमें कार्य मतिज्ञानादि नहीं हो सकते अतः 'एक आत्मा में एक साथ मतिज्ञान आदि चार ही ज्ञान हो सकते हैं सब नहीं' यह वात निर्बाध है। इसप्रकार उपर्युक्त युक्तिपूर्ण कथनसे यह वात सिद्ध हो चुकी कि यदि एक आत्मामें एकसाथ दो ज्ञान होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान ही होंगे। तीन होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान मनःपर्ययज्ञान होंगे और चार होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होंगे किंतु पांचों ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते।

संख्यावचनो वैकशब्दः ॥ १० ॥

अथवा एकादीनि यहांपर जो एक शब्द है उसका अर्थ एकत्व संख्या है। जिन ज्ञानोंकी आदिमें एक हो वे एकादि हैं यह एकादि पदका अर्थ है। वह इसप्रकार है। श्रुतज्ञान दो प्रकारका है एक अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान दो, अनेक और बारह प्रकारका है एवं उपदेशपूर्वक होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान भाज्य है—किन्हीं जीवोंके होता है किन्हींके

नहीं, इसलिए अक्षरात्मक श्रुतज्ञानकी अपेक्षा एक आत्मामें अकेला मतिज्ञान भी हो सकता है। दो ज्ञान मतिज्ञान श्रुतज्ञान होते हैं। शेष सब प्रक्रिया पहिलेके समान है। दूसरे दूसरे आचार्योंका कहना है कि एक शब्द असंख्या असहाय और प्रधान अर्थका वाचक है इसलिये एकका अर्थ केवलज्ञान है क्योंकि मतिज्ञान आदि अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान असहाय और प्रधान नहीं हो सकते इसरीतिसे एक आत्मामें एक साथ केवलज्ञानको आदि लेकर चार पर्यंत ज्ञान हो सकते हैं यह अर्थ है। यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान ही होगा दो ज्ञान होंगे तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होंगे। तीन होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान मनःपर्ययज्ञान होंगे और यदि चार होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होंगे यह सब प्रक्रिया पूर्ववत् ही है ॥ ३० ॥

जिन मति आदिका ऊपर निरूपण किया गया है उनकी ज्ञान ही संज्ञा है वा और भी कोई संज्ञा है? इस वातको सूत्रकार कहते हैं—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपरीत भी होते हैं अर्थात् मति आदि पांचों ज्ञानोंको जो सम्यग्ज्ञान कह आये हैं उनमें आदिके तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी हो जाते हैं। इस सूत्रमें सम्यक् शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये सूत्रमें जो विपर्यय शब्द है उसका अर्थ मिथ्या है। च शब्दके अर्थ बहुतसे हैं उनमें यहां समुच्चय अर्थ है इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान भी होते हैं और मिथ्याज्ञान भी होते हैं। मतिज्ञान आदि विपरीत ज्ञान क्यों हैं? वार्तिककार इस बातका समाधान करते हैं—

रहनेवाले मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं और जिस समय सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है एवं मिथ्यादर्शनका अभाव हो जाता है उस समय मतिज्ञान आदि सम्यग्ज्ञान कहे जाते हैं इस रीतिसे सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके भेदसे मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंके इसप्रकार दो दो भेद हो जाते हैं—मतिज्ञान मत्यज्ञान श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान अवधिज्ञान और विभंगज्ञान। विशेष—

मत्यादयः समाख्यातास्त एवेत्यवधारणात्।
संगृह्येते कदाचिन्न मनःपर्ययकेवले ॥ ३ ॥
नियमेन तयोःसम्यग्भावनिर्णयतः सदा।
मिथ्यात्वकारणाभावाद्विशुद्धात्मनि संभवात् ॥ ४ ॥
दृष्टचारित्रमोहस्य क्षये वोपशमेऽपि वा।
मनःपर्ययविज्ञानं भवन्मिथ्या न युज्यते ॥ ५ ॥
सर्वघातिक्षयेऽत्यंतं केवलं प्रभवत्कथं।
मिथ्या संभाव्यते जातु विशुद्धिं परमां दधत् ॥ ६ ॥
मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयं तु स्यात्कदाचन।
मिथ्येति ते च निर्दिष्टा विपर्यय इहांगिनां ॥ ७ ॥
स च सामान्यतो मिथ्याज्ञानमत्रोपवर्ण्यते।
संशयादि—विकल्पानां त्रयाणां संगृहीयते ॥ ८ ॥
समुच्चिनोति चस्तेषां सम्यक्त्वं व्यावहारिकं।

मुख्यं च तदनुक्तौ तु तेषां मिथ्यात्वमेव हि ॥ ९ ॥
ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते ।
चशब्दमंतरेणापि सदा सम्यक्त्वमत्त्वतः ॥ १० ॥
मिथ्याज्ञानं विशेषः स्यादस्मिन्पक्षे विपर्ययं ।
संशयाज्ञानभेदस्य चशब्देन समुच्चयः ॥ ११ ॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५५।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान ही विपरीत ज्ञान हैं अन्य नहीं, ऐसा 'मतिश्रुताऽवधयः' इत्यादि सूत्रमें निर्धारण है इसलिये विपरीत ज्ञानोंमें मनःपर्यय और केवलज्ञानका ग्रहण नहीं क्योंकि मिथ्यादर्शनके कारणोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर सम्यक्त्व गुणकी प्रकटतासे जिस समय आत्मा विशुद्ध हो जाता है उससमय मनःपर्यय और केवलज्ञानका आत्मामें उदय होता है—विना सम्यक्त्व गुणके उदय नहीं हो सकता इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे सर्वथा दूर रहनेके कारण मनःपर्यय और केवलज्ञान कभी मिथ्या नहीं हो सकते। उन दोनों ज्ञानोंमें जिस समय दर्शन मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो जाता है और चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम हो जाता है उस समय आत्मामें मनःपर्ययज्ञानका उदय होता है इसलिये मिथ्यात्वके साथ संबंध न रहनेके कारण वह मिथ्याज्ञान नहीं हो सक्ता तथा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर आत्मामें केवलज्ञानका उदय होता है। उससमय परिपूर्ण विशुद्धता केवलज्ञानमें प्रगट हो जाती है इसलिये वह भी मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता। परंतु मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान जिससमय मिथ्यात्वके साथ आत्मा

१—मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थानमें भी हो जाता है इसलिये यह प्रत्याख्यानादि कषायोंके उपशमकी अपेक्षासे कथन है।

तस्येंद्रियमनोहेतुसमुद्भूतिनियामतः ।
इंद्रियानिंद्रियाजन्यस्वभावश्चावधिः स्मृतः ॥ १२ ॥

मतौ श्रुते च त्रिविधं मिथ्यात्वं बोद्धव्यं, मतेरिंद्रियानींद्रियानीमित्तकत्वनियमात्। श्रुतस्यानिंद्रियनिमित्तकत्वनियमात्। द्विविधमवधौ संशयाद्विना विपर्ययानध्यवसायावित्यर्थः । कुतः ? असंशयादिंद्रियानिंद्रियाजन्यस्वभावः प्रोक्तः संशयो हि चलिताप्रतिपत्तिः किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इति । स च सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मरणात् प्रजायते । दूरस्थे च वस्तुनि इंद्रियेण सामान्यतश्च सन्निकृष्टसामान्यप्रत्यक्षत्वं विशेषाप्रत्यक्षत्वं च दृष्टं, मनसा च पूर्वानुभूततदुभयविशेषस्मरणेन । न चावव्युत्पत्तौ क्वचिदिंद्रियव्यापारोऽस्ति मनोव्यापारो वा स्वावरणक्षयोपशमविशेषात्मना सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः स्वविषयस्य तेन ग्रहणात् । ततो न संशयात्मावधिः । विपर्ययात्मा तु मिथ्यात्वोदयाद्विपरीतवस्तुस्वभावश्रद्धानसहभावात् संबोध्यते । तथानध्यवसायात्माप्याशु उपयोगसंहरणाद्विज्ञानांतरोपयोगाद्गच्छत्तृणस्पर्शवदुत्पाद्यते । दृढोपयोगावस्थायां तु नावधिरध्यवसायात्मापि ।

(श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५६)

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंमें मतिज्ञान इंद्रिय और मनसे होता है इसलिए उसके विपरिणाम संशय विपर्यय और अनध्यवसाय तीनों मिथ्याज्ञान हैं एवं श्रुतज्ञान मन इंद्रियकी सहायतासे होता है इसलिए उसके भी विपरिणाम संशय आदि तीनों मिथ्याज्ञान हैं किंतु अवधिज्ञानके विपरिणाम विपर्यय और अनध्यवसाय ही हैं, संशय नहीं क्योंकि यह 'स्थाणु है वा पुरुष है ?' ऐसी अनेक कोटियोंको स्पर्श करनेवाले ज्ञानका नाम संशय है और जहांपर अंधकार रहनेसे दूरमें स्थित

में रहते हैं उससमय मिथ्याज्ञान हो जाते हैं इसलिये उन्हें सूत्रमें मिथ्याज्ञान कहा गया है। सामान्य रूपसे विपर्ययका अर्थ मिथ्याज्ञान है तो भी संशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों प्रकारके ज्ञानोंका यहां ग्रहण है। सूत्रमें जो 'च' अव्ययका पाठ है उसका अर्थ समुच्चय है और उससे सूत्रमें मुख्य और व्यवहार दोनों प्रकारके सम्यक्त्वोंका ग्रहण है । यदि 'च' शब्दका उल्लेख सूत्रमें न होता तो मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान, मिथ्याज्ञान ही हैं यही अर्थ होता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि 'मतिज्ञान आदि विपरीत ही ज्ञान हैं' यदि यह निर्धारण सूत्रके अंदर होता तब तो 'च' शब्दका उल्लेख सार्थक समझा जाता क्योंकि उससे सम्यक्त्वके ग्रहण होनेपर 'मतिज्ञान आदि मिथ्याज्ञान ही होते हैं' इस सिद्धांतविरुद्ध नियमकी जगह वे मिथ्या भी होते हैं और सम्यक् भी होते हैं यह वास्तविक अर्थ होता परंतु 'मतिज्ञान आदि विपरीत ही होते हैं' ऐसा नियम सूत्रमें है नहीं, इसलिये 'च' शब्दके उल्लेखके विना भी जब यह अर्थ हो सकता है कि मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी हैं और सम्यग्ज्ञान भी है तब 'च' शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ ही है? सो ठीक नहीं। यदि च शब्दके विना भी 'मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्यज्ञान भी हैं और सम्यग्ज्ञान भी हैं' सूत्रका यह अर्थ हो जाता है तब सूत्रमें जो 'विपर्यय' शब्द है उसका मिथ्याज्ञान अर्थ है और 'च' शब्दसे संशय और अनध्यवसायका ग्रहण है अर्थात् मतिज्ञान आदिक संशयादि स्वरूप भी हैं इस अर्थके करनेमें 'च' शब्दका उल्लेख ही प्रधान कारण है इसलिये 'च' शब्दका उल्लेख व्यर्थ नहीं। तथा—

तत्र त्रिधापि मिथ्यात्वं मतिज्ञाने प्रतीयते।
श्रुते च द्विविधं बोध्यमवधौ संशयाद्विना ॥ १२ ॥

मुख्यं च तदनुक्तौ तु तेषां मिथ्यात्वमेव हि ॥ ९ ॥
ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते ।
चशब्दमंतरेणापि सदा सम्यक्त्वमत्त्वतः ॥ १० ॥
मिथ्याज्ञानं विशेषः स्यादस्मिन्पक्षे विपर्ययं ।
संशयाज्ञानभेदस्य चशब्देन समुच्चयः ॥ ११ ॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५५।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान ही विपरीत ज्ञान हैं अन्य नहीं, ऐसा 'मतिश्रुतावधयः' इत्यादि सूत्रमें निर्धारण है इसलिये विपरीत ज्ञानोंमें मनःपर्यय और केवलज्ञानका ग्रहण नहीं क्योंकि मिथ्यादर्शनके कारणोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर सम्यक्त्व गुणकी प्रकटतासे जिस समय आत्मा विशुद्ध हो जाता है उससमय मनःपर्यय और केवलज्ञानका आत्मामें उदय होता है—विना सम्यक्त्व गुणके उदय नहीं हो सकता इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे सर्वथा दूर रहनेके कारण मनःपर्यय और केवलज्ञान कभी मिथ्या नहीं हो सकते। उन दोनों ज्ञानोंमें जिस समय दर्शन मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो जाता है और चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम[1] हो जाता है उस समय आत्मामें मनःपर्ययज्ञानका उदय होता है इसलिये मिथ्यात्वके साथ संबंध न रहनेके कारण वह मिथ्याज्ञान नहीं हो सक्ता तथा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर आत्मामें केवलज्ञानका उदय होता है। उससमय परिपूर्ण विशुद्धता केवलज्ञानमें प्रगट हो जाती है इसलिये वह भी मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता। परंतु मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान जिससमय मिथ्यात्वके साथ आत्मा

१—मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थानमें भी हो जाता है इसलिये यह प्रत्याख्यानादि कषायोंके उपशमकी अपेक्षासे कथन है।

निश्चय होता है और पर मनुष्योंको उपदेश दिया जाता है एवं जिसतरह अवधिज्ञानसे रूपी पदार्थोंका निश्चय होता है उसी प्रकार विभंगज्ञानसे भी होता है इस प्रकार मतिज्ञान आदि तीनों सम्यग्ज्ञान एवं मत्यज्ञानादि तीनों मिथ्याज्ञानोंकी पदार्थोंके ग्रहण करनेमें जब अव्यभिचारीरूपसे समानता है तब मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं हो सकते इसलिए 'मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च' इस सूत्रसे जो उन्हें मिथ्याज्ञान बतलाया है वह ठीक नहीं। इस बातका समाधान सूत्रकार देते हैं—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

उन्मत्त पुरुषके समान सत् असत्‌रूप पदार्थोंके विशेषका ज्ञान न होनेके कारण स्वेच्छारूप यद्वा तद्वा जाननेके कारण मति आदि तीन मिथ्याज्ञान हैं। अर्थात्—जिसप्रकार शराबी पुरुष भार्याको माता और माताको भार्या समझता है यह उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है परन्तु किसी समय वह भार्याको भार्या और माताको माता कहता है तो भी उसका वह जानना सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता क्योंकि उसे भार्या और माताके भेदका यथार्थ ज्ञान नहीं उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे सत और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण कुमति कुश्रुत और कुअवधिज्ञान भी मिथ्याज्ञान हैं।

सच्छब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातः प्रशंसार्थग्रहणं ॥ १ ॥

ऊपर 'सत्' शब्दके अनेक अर्थ बतला आए हैं उनमें यहांपर प्रशंसार्थक सत् शब्दका ग्रहण है अर्थात् सत् शब्दका अर्थ प्रशस्त ज्ञान है और असत्‌का अप्रशस्त ज्ञान है। जिस तरह उन्माद दोषसे इंद्रिय और बुद्धिके विक्षिप्त हो जानेसे उन्मत्त पुरुषको विपरीत रूपसे पदार्थ भासमान होने लगते हैं इसलिए गाय और घोडाके भेदका वा लोहा और सोनाके भेदका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण स्वेच्छा-

मुख्यं च तदनुक्तौ तु तेषां मिथ्यात्वमेव हि ॥ ९ ॥
ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते ।
चशब्दमंतरेणापि सदा सम्यक्त्वमत्त्वतः ॥ १० ॥
मिथ्याज्ञानं विशेषः स्यादस्मिन्पक्षे विपर्ययं ।
संशयाज्ञानभेदस्य चशब्देन समुच्चयः ॥ ११ ॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५५।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान ही विपरीत ज्ञान हैं अन्य नहीं, ऐसा 'मतिश्रुतावधयः' इत्यादि सूत्रमें निर्धारण है इसलिये विपरीत ज्ञानोंमें मनःपर्यय और केवलज्ञानका ग्रहण नहीं क्योंकि मिथ्यादर्शनके कारणोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर सम्यक्त्व गुणकी प्रकटतासे जिस समय आत्मा विशुद्ध हो जाता है उससमय मनःपर्यय और केवलज्ञानका आत्मामें उदय होता है—विना सम्यक्त्व गुणके उदय नहीं हो सकता इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे सर्वथा दूर रहनेके कारण मनःपर्यय और केवलज्ञान कभी मिथ्या नहीं हो सकते। उन दोनों ज्ञानोंमें जिस समय दर्शन मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो जाता है और चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम[१] हो जाता है उस समय आत्मामें मनःपर्ययज्ञानका उदय होता है इसलिये मिथ्यात्वके साथ संबंध न रहनेके कारण वह मिथ्याज्ञान नहीं हो सक्ता तथा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर आत्मामें केवलज्ञानका उदय होता है। उससमय परिपूर्ण विशुद्धता केवलज्ञानमें प्रगट हो जाती है इसलिये वह भी मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता। परंतु मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान जिससमय मिथ्यात्वके साथ आत्मा

१—मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थानमें भी हो जाता है इसलिये यह प्रत्याख्यानादि कषायोंके उपशमकी अपेक्षासे कथन है।

मानी जा सकती इसलिए 'एकमात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप आदि पदार्थ नहीं 'यह सिद्धांतबाधित है इस रीतिसे जो वादी एकमात्र द्रव्यहीको पदार्थ मानता है उसका वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

कोई वादी मानते हैं कि रूप आदि गुण ही पदार्थ हैं, द्रव्य नामका कोई भी संसारमें पदार्थ नहीं। सो भी ठीक नहीं क्योंकि गुण पदार्थ किसी अन्य पदार्थके आश्रय रहता है यह नियम है। रूप आदि गुणोंका आधार द्रव्य माना है। यदि रूप आदिको ही पदार्थ माना जायगा और द्रव्य पदार्थ न माना जायगा तो आधारके अभावमें रूप आदिका भी अभाव हो जायगा और भी यह बात है कि केवल रूप आदि पदार्थोंको ही मानने वाला वादी उन्हें आपसमें भिन्न भिन्न मानता है यदि उन सबका समुदाय माना जायगा तो वह द्रव्य ही होगा क्योंकि समुदाय पदार्थ एक–द्रव्य पदार्थसे जुदा नहीं परंतु वे जुदे जुदे रूप आदि पदार्थ और समुदाय भी आपसमें भिन्न भिन्न पदार्थ हैं इसलिए सबका ही अभाव हो जायगा क्योंकि रूप आदिसे भिन्न समुदाय पदार्थ और समुदाय पदार्थसे भिन्न रूप आदि पदार्थ कभी भी जुदे जुदे देखे सुने नहीं गए। इसलिए 'एकमात्र रूप आदि ही संसारमें पदार्थ हैं' यह बात बाधित है इसरीतिसे जो वादी द्रव्यको पदार्थ न मानकर केवल रूप आदिको ही पदार्थ मानता है उसका भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

नैयायिक आदि वादी द्रव्य और रूप आदि दोनों प्रकारके पदार्थोंका मानते हैं और उनका सिद्धांत है कि द्रव्य पदार्थ भिन्न है और रूप आदि पदार्थ भिन्न हैं उनका मानना भी ठीक नहीं क्योंकि रूप आदि गुणोंको द्रव्यका लक्षण माना है और लक्षण, लक्ष्यका स्वरूप होता है। यदि द्रव्य और रूप आदिको आपसमें सर्वथा भिन्न माना जायगा तो द्रव्य और रूप आदिका आपसमें लक्ष्य लक्षण

आदि ही पदार्थ हैं द्रव्य कोई जुदा पदार्थ नहीं। अनेक वादियोंका सिद्धांत है कि द्रव्य पदार्थ भिन्न है और रूप आदि पदार्थ भिन्न हैं। जो द्रव्य पदार्थको ही मानते हैं रूप आदिको स्वीकार नहीं करते उनके मतमें विपरीत रूपसे ग्रहण इस प्रकार है—

जिन वादियोंका यह सिद्धांत है कि संसारमें एकमात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप रस आदि कोई भी भिन्न पदार्थ नहीं उनके मतमें द्रव्य पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि गुणवान पदार्थको द्रव्य माना है और वे गुण रूप आदिक हैं। यदि रूप आदि गुणोंका ही अभाव माना जायगा तब लक्षण-गुणोंके अभावसे लक्ष्य द्रव्यकी सिद्धि न हो सकेगी। तथा द्रव्यमें रूप आदि गुणोंका सद्भाव माननेसे भिन्न भिन्न इंद्रियोंसे उस द्रव्यका भिन्न भिन्न रूप आदिके साथ सन्निकर्ष होता है किसी एक इंद्रियसे सब ओरसे द्रव्यका सन्निकर्ष नहीं होता अब वादीके मतानुसार रूप आदि कोई भी पदार्थ न होनेसे द्रव्यमें रूप आदि गुणोंका सद्भाव तो माना नहीं जायगा तब जिस किसी इंद्रियसे द्रव्यका सन्निकर्ष होगा वह सब ओरसे होने लगेगा फिर एक ही इंद्रिय सकल रूपसे द्रव्यकी ग्राहक कहनी पडेगी। इतना ही नहीं जब एक ही इंद्रिय सकल रूपसे द्रव्यकी ग्राहक हो जायगी तब जुदीं जुदीं पांच इंद्रियां मानना व्यर्थ है क्योंकि जब रूप रस आदि जुदे जुदे पदार्थोंका द्रव्यमें सद्भाव माना जाय तब तो जुदे जुदे रूप रस आदिका ग्रहण करनेके लिए पांच प्रकारकी इंद्रियां मानी जांय किंतु वादी सिवाय द्रव्यके रूप आदि पदार्थोंको मानता नहीं इसलिए उसके मतानुसार एक ही इंद्रियसे द्रव्यका सर्वात्मना—सकल रूपसे ज्ञान हो जायगा पांच इंद्रियोंका मानना निरर्थक है। परंतु इंद्रियोंके पांच भेद नहीं हैं वा एक ही इंद्रियसे सर्वात्मना द्रव्यका ज्ञान हो सकता है यह बात देखी नहीं गई और विरुद्ध होनेसे इष्ट भी नहीं

रूप यद्वा तद्वा जानकर वह गायको घोडा वा घोडाको गाय समझ लेता है अथवा लोहेको सोना और और सोनेको लोहा समझ लेता है तथा कभी कभी गायको गाय और घोडेको घोडा भी कह देता है इसी तरह लोहेको लोहा और सोने को सोना भी कह देता है परंतु कौन गाय है कौन घोडा है? कौन लोहा है कौन सोना है इसप्रकारका विशेष ज्ञान न होनेके कारण उसका अज्ञान ही समझा जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे इंद्रियज्ञानके विपरीत हो जानेके कारण मति श्रुत और अवधिसे भी विपरीतरूपसे पदार्थ भासने लगते हैं उससमय भी सत असत्का कुछ भी विवेक नहीं रहता इसलिये मति आदि तीनों ज्ञान कुमति आदि स्वरूप परिणत हो जाते हैं।

भवत्यर्थग्रहणं वा ॥ २ ॥

अथवा सत् शब्दका अर्थ विद्यमान भी होता है इसलिये सूत्रमें जो सत् असत् शब्द हैं उनमें सतका अर्थ विद्यमान और असत्का अर्थ अविद्यमान है इसरीतिसे उन्मत्त पुरुषके समान स्वेच्छापूर्वक यद्वा तद्वा जाननेसे विद्यमान रूप आदिको अविद्यमान, आविद्यमान रूपादिको विद्यमान एवं कभी कभी विद्यमान रूपादिको विद्यमान और अविद्यमानोंको आविद्यमान रूपसे जहांपर मति आदिके द्वारा ज्ञान होता है वहां विद्यमान अविद्यमानपनेका कुछ भी भेदज्ञान न होनेसे मति आदि मिथ्याज्ञान हैं। पदार्थोंका विपरीतरूपसे ग्रहण कैसे होता है? इसवातको वार्तिककार वतलाते हैं—

प्रवादिपरिकल्पनाभेदाद् विपर्ययगृहः ॥ ३ ॥

प्रवादियोंकी कल्पनाओंके भेदसे पदार्थोंका विपरीत रूपसे ग्रहण होता है क्योंकि किन्ही वादियोंका मत है कि एक मात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप आदि कोई पदार्थ नहीं। दूसरे मानते हैं—संसारमें रूप रस

निश्चय होता है और पर मनुष्योंको उपदेश दिया जाता है एवं जिसतरह अवधिज्ञानसे रूपी पदार्थोंका निश्चय होता है उसी प्रकार विभंगज्ञानसे भी होता है इस प्रकार मतिज्ञान आदि तीनों सम्यग्ज्ञान एवं मत्यज्ञानादि तीनों मिथ्याज्ञानोंकी पदार्थोंके ग्रहण करनेमें जब अव्यभिचारीरूपसे समानता है तब मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं हो सकते इसलिए 'मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च' इस सूत्रसे जो उन्हें मिथ्याज्ञान बतलाया है वह ठीक नहीं। इस बातका समाधान सूत्रकार देते हैं—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

उन्मत्त पुरुषके समान सत् असत्रूप पदार्थोंके विशेषका ज्ञान न होनेके कारण स्वेच्छारूप यद्वा तद्वा जाननेके कारण मति आदि तीन मिथ्याज्ञान हैं। अर्थात्—जिसप्रकार शराबी पुरुष भार्याको माता और माताको भार्या समझता है यह उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है परन्तु किसी समय वह भार्याको भार्या और माताको माता कहता है तो भी उसका वह जानना सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता क्योंकि उसे भार्या और माताके भेदका यथार्थ ज्ञान नहीं उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे सत और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण कुमति कुश्रुत और कुअवधिज्ञान भी मिथ्याज्ञान हैं।

सच्छब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातः प्रशंसार्थग्रहणं ॥ १ ॥

ऊपर 'सत' शब्दके अनेक अर्थ बतला आए हैं उनमें यहांपर प्रशंसार्थक सत् शब्दका ग्रहण है अर्थात् सत् शब्दका अर्थ प्रशस्त ज्ञान है और असत्का अप्रशस्त ज्ञान है। जिस तरह उन्माद दोषसे इंद्रिय और बुद्धिके विक्षिप्त हो जानेसे उन्मत्त पुरुषको विपरीत रूपसे पदार्थ भासमान होने लगते हैं इसलिए गाय और घोडाके भेदका वा लोहा और सोनाके भेदका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण स्वेच्छा-

भाव न बन सकेगा। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि दंड और दंडी पुरुष आपसमें सर्वथा भिन्न हैं तो भी उनका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव है—दंड लक्षणसे तत्काल दंडीका ज्ञान हो जाता है उसीप्रकार द्रव्य और रूप आदिका आपसमें भेद रहने पर भी रूप आदि द्रव्यके लक्षण हो सकते हैं कोई दोष नहीं ? सो ठीक नहीं जो पदार्थ भिन्न भिन्न सिद्ध हों उनका लक्ष्य लक्षणभाव तो भिन्न भिन्न सिद्ध हो सकता है किंतु जो पदार्थ ही नहीं उनका कभी लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता। दंड और दंडी दोनों पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध हैं इसालिये उन दोनोंका लक्ष्य लक्षण भाव ठीक है द्रव्य और रूप आदि पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध नहीं इसलिये सर्वथा भेद मानने पर उन दोनोंका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं बन सकता। इसालिये दंड एवं दंडी द्रव्य एवं रूप आदिमें विषमता होनेसे दंड दंडीके समान द्रव्य और रूपादिमें आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता और भी यह बात है कि जो वादी द्रव्य और गुणोंका सर्वथा भेद मानता है उसने रूप आदि गुणोंको अमूर्त माना है यदि रूप आदिको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न ही माना जायगा तो अमूर्त होनेके कारण इंद्रियां उन्हें विषय न कर सकेंगी फिर उनका ज्ञान ही न हो सकेगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि यद्यपि रूप आदिसे द्रव्य पदार्थ सर्वथा भिन्न है तो भी रूप आदिके ज्ञान करानेमें वह कारण हो जायगा इसलिए इंद्रियोंसे रूप आदि पदार्थोंका ज्ञान हो सकेगा। सो भी ठीक नहीं, जो पदार्थ सर्वथा भिन्न है वह कारण नहीं हो सकता। नैयायिक आदि वादी रूप आदि पदार्थोंसे द्रव्य पदार्थको सर्वथा भिन्न मानते हैं इसलिए वह रूप आदिके ज्ञान करानेमें कारण नहीं हो सकता। इस रीतिसे जो वादी द्रव्य और गुणोंका सर्वथा आपसमें भेद मानता है उसका भी वैसा मानना वस्तु-स्वरूपसे विपरीत है। और भी यह बात है—

है यदि यहांपर यह कहा जाय कि पुरुषक द्वारा प्रेरित हुई प्रकृति महत्तत्व आदि कार्योंके करनेमें समर्थ है इसलिए प्रकृतिसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो सकती है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है जो पदार्थ क्रियारहित-निष्क्रिय होता है वह अन्य पदार्थको प्रेरणा नहीं कर सकता। पुरुषको सांख्यमतमें निष्क्रिय माना गया है इसलिए महत्तत्व आदि कार्योंकी सृष्टिकेलिए वह प्रकृतिको प्रेरणा नहीं कर सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि प्रकृति ही महत्तत्व आदिकी सृष्टिकेलिए अपनेको प्रेरणा करलेगी इसलिए प्रकृतिसे महत्तत्व घट पट आदिकी उत्पत्ति निर्बाध रूपसे हो सकती है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। प्रकृति पदार्थको भी निष्क्रिय माना है इसलिए गमन करनेमें असमर्थ लंगडा पुरुष जिसप्रकार अपनेको ही पकडकर उठकर चलता हुआ नहीं देखा जाता उसीप्रकार स्वयं प्रेरणा आदि क्रियारहित प्रकृति स्वयं अपनेको महत्तत्व आदिकी सिद्धिकेलिए प्रेरणा नहीं कर सकती इसलिए प्रकृतिसे महत्तत्व आदिकी सृष्टि बाधित है। और भी यह बात है कि—

विना प्रयोजन कोई भी किसी कार्यको नहीं करता यह संसार प्रसिद्ध बात है। प्रकृति पदार्थको महदादि पदार्थोंकी सृष्टिसे कोई प्रयोजन नहीं इसलिये उसके द्वारा महदादि सृष्टिका होना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। यदि यहां पर यह कहा जाय कि महदादि वा घट पट आदि सृष्टिका भोगनेवाला पुरुष है इसलिये पुरुषका भोगरूप प्रयोजनका लक्ष्यकर प्रकृतिके द्वारा महदादि सृष्टिका होना निष्प्रयोजन नहीं। सो भी ठीक नहीं? जो भी कार्य किया जाता है अपने प्रयोजनकेलिये किया जाता है। पुरुषका भोगरूप प्रयोजन प्रकृतिका निज प्रयोजन नहीं इसलिये पुरुषके भोगरूप परप्रयोजनके लिए प्रकृति, महदादि सृष्टिका निर्माण नहीं कर सकती। तथा सृष्टिका भोग पुरुष करता है यह बात

मूलकारणविप्रतिपत्तेः ॥ ४ ॥

बहुतसे वादियोंका घट और रूप आदिके मूल कारणोंमें विवाद है घट आदि पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारणोंकी वे भिन्न भिन्न रूपसे कल्पना करते हैं। उनमें सांख्यसिद्धांतकारोंका यह कहना है—

प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। महत्तत्वसे अहंकारकी, उससे अहंकार रूप आदि पंच तन्मात्राओंकी, पंच तन्मात्राओंसे ग्यारह[1] प्रकारके इंद्रियोंकी, इंद्रियोंसे पृथ्वी आदि महाभूतोंकी और महाभूतोंसे मृत्पिंड आदिकी इत्यादि क्रमसे घट पट आदि विश्वरूप संसारकी उत्पत्ति होती है परंतु उनका वैसा कहना ठीक नहीं क्योंकि सांख्य सिद्धांतकारोंने प्रकृति पदार्थको अमूर्तिक निरवयव क्रिया-रहित अतींद्रिय अनंत और अपरप्रयोज्य—स्वाधीन माना है एवं घट पदार्थ मूर्तिक सावयव क्रियासहित इंद्रियोंका विषय सांत आदि है। इसलिए प्रकृतिके स्वभावसे अत्यंत विलक्षण रहनेके कारण घट, प्रकृतिका कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि अमूर्तिक आदि स्वभावके धारक कारणसे अत्यंत विलक्षण मूर्तिक स्वभाववाले कार्यकी कभी भी उत्पत्ति नहीं देखी गई। तथा जो पदार्थ किसी कार्यके करनेके लिए परसे प्रेरित रहता है वही अभिप्रायपूर्वक कार्योंको उत्पन्न कर सकता है किंतु जो परसे प्रेरित नहीं है वह वैसा नहीं कर सकता। प्रकृति पदार्थ किसी भी पर पदार्थसे प्रेरित होकर कार्य नहीं करता इसलिए अभिप्रायरहित होनेके कारण वह अभिप्राय पूर्वक घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं कर सकता इस रीतिसे अमूर्तिक आदि विशेषण विशिष्ट प्रकृतिसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति बाधित

१—स्पर्शन रसना आदि बुद्धींद्रिय और पाणिपाद आदि ५ कर्मेंद्रिय और मन मिलाकर ग्यारह इंद्रियां सांख्य मतमें मानी गई हैं।

भाव न बन सकेगा। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि दंड और दंडी पुरुष आपसमें सर्वथा भिन्न हैं तो भी उनका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव है—दंड लक्षणसे तत्काल दंडीका ज्ञान हो जाता है उसीप्रकार द्रव्य और रूप आदिका आपसमें भेद रहने पर भी रूप आदि द्रव्यके लक्षण हो सकते हैं कोई दोष नहीं ? सो ठीक नहीं जो पदार्थ भिन्न भिन्न सिद्ध हों उनका लक्ष्य लक्षणभाव तो भिन्न भिन्न सिद्ध हो सकता है किंतु जो पदार्थ ही नहीं उनका कभी लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता। दंड और दंडी दोनों पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध हैं इसलिये उन दोनोंका लक्ष्य लक्षण भाव ठीक है द्रव्य और रूप आदि पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध नहीं इसलिये सर्वथा भेद मानने पर उन दोनोंका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं बन सकता। इसलिये दंड एवं दंडी द्रव्य एवं रूप आदिमें विषमता होनेसे दंड दंडीके समान द्रव्य और रूपादिमें आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता और भी यह बात है कि जो वादी द्रव्य और गुणोंका सर्वथा भेद मानता है उसने रूप आदि गुणोंको अमूर्त माना है यदि रूप आदिको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न ही माना जायगा तो अमूर्त होनेके कारण इंद्रियां उन्हें विषय न कर सकेंगी फिर उनका ज्ञान ही न हो सकेगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि यद्यपि रूप आदिसे द्रव्य पदार्थ सर्वथा भिन्न है तो भी रूप आदिके ज्ञान करानेमें वह कारण हो जायगा इसलिए इंद्रियोंसे रूप आदि पदार्थोंका ज्ञान हो सकेगा। सो भी ठीक नहीं, जो पदार्थ सर्वथा भिन्न है वह कारण नहीं हो सकता। नैयायिक आदि वादी रूप आदि पदार्थोंसे द्रव्य पदार्थको सर्वथा भिन्न मानते हैं इसलिए वह रूप आदिके ज्ञान करानेमें कारण नहीं हो सकता। इस रीतिसे जो वादी द्रव्य और गुणोंका सर्वथा आपसमें भेद मानता है उसका भी वैसा मानना वस्तुस्वरूपसे विपरीत है। और भी यह बात है—

परमतके अनुसार आकाश आदि कार्य सर्वथा नित्य माने गये हैं इसलिये उनसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं मानी। परमाणु पदार्थको भी वादी नित्य मानता है इसलिए घट पट आदि पदार्थोंकी उससे उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हठात् परमाणुओंसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति मानी जायगी तो उन्हें नित्य न मानना होगा क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थ कार्यका उत्पादक नहीं हो सकता। तथा 'प्रतिनियत पृथिवी आदि परमाणुओंसे सर्वथा भिन्न घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है' यह बात भी युक्तिबाधित है क्योंकि कारणसे सर्वथा भिन्न कार्यकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती किंतु कारणसे कथंचित् भिन्न ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि कारणसे सर्वथा भिन्न ही कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो किसी किसी परमाणुके समूह रूप कारणमें सूक्ष्मता रहती है वही कार्यमें भी आती है इसलिये वहां पर इंद्रियोंसे प्रत्यक्षता नहीं होती परंतु अब जबकि कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न माना जायगा तब परमाणुके समूह रूप कारणमें जो सूक्ष्मता है वह तो कार्यमें आवेगी नहीं फिर उस कार्यकी इंद्रियोंसे प्रत्यक्षता होनी चाहिये इसरीतिसे कार्माण जातिकी वर्गणाओंका नेत्रसे ज्ञान होना चाहिये। इसीतरह परमाणुओंके समूह रूप कारणमें जो महत्त्व (स्थूलत्व) है वह कार्य में आता है तब उसका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है। अब जबकि कारणसे सर्वथा भिन्न कार्य है तब कारणका धर्म—महत्त्व, कार्यमें आवेगा नहीं फिर परमाणुओंके समूहसे उत्पन्न होनेवाले घटादि कार्योंका प्रत्यक्ष न हो सकेगा। परंतु जहांपर कारणका धर्म सूक्ष्मता कार्यमें रहता है वहांपर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता, एवं जहां कारणका धर्म—महत्व कार्यमें रहता है वहां पर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है यह बात वादीको इष्ट और अनुभव सिद्ध है इसलिये कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न ही होता है यह कहना बाधित है किंतु कथंचित् भिन्नता ही मानना युक्त है।

हार होगा इसलिये उपर्युक्त दोषोंको यहां स्थान नहीं मिल सकता ? सो भी ठीक नहीं। फिर सत्ताके संबंधसे 'सत्' व्यवहार होता है, इस संसर्गवादको छोड देना होगा क्योंकि सत्तामें विना ही अन्य सत्ता के संसर्ग—संबंधके यहां वादी सत् व्यवहार स्वीकार कर रहा है। इससे वादीको यह भी मानना पडेगा कि जिसप्रकार सत्ताका व्यवहार, विना पर सत्ताके संबंधके स्वयं होता है उसीप्रकार सत्, द्रव्य, घट इनका भी स्वयं व्यवहार हो जायगा। उनके लिये भिन्न जातियोंका संबंध मानना व्यर्थ क्यों नहीं है ? तथा जहां जैसा दोष देखा वहां वैसी ही मनगढंत कल्पना करलेना इच्छामात्र कल्पना कही जाती है यहां पर सत्ताके 'सत्' व्यवहारके लिये अनवस्था प्रतिज्ञाभंग आदि दोष दीख पडे तो उनको दूर करने के लिये द्रव्यादि पदार्थोंमें शक्तिके संबंधसे 'सत्' व्यवहार मान लिया और सत्तामें स्वयं मान लिया यह कल्पना करली परंतु वास्तविक बात क्या है ? यह नहीं विचारा इसलिये अनवस्था आदि दोषोंके दूर करनेके लिये जो द्रव्य आदि पदार्थोंमें भिन्न भिन्न शक्तियोंके संबंधसे सत् व्यवहार माना है और सत्ता में स्वयं 'सत्' व्यवहार की कल्पना की है यह मन गढंत कल्पना कही जायगी जो कि अप्रामाणिक है। तथा और भी यह वात है कि—

भिन्न पदार्थ स्वरूप सत्ताका जो द्रव्य आदिमें रहना माना है 'सोऽस्येति' वह जिसका हो अर्थात् सत्ता जिस पदार्थकी हो इस वहुव्रीहि समासके आधीन माना है वा 'सोऽयं' वह यह है अर्थात् सत्ता स्वरूप है इस कर्मधारय समासके आधीन माना है ? यदि बहुव्रीहि समासके आधीन मानी जायगी तो सत् शब्दसे मत्वर्थीय 'मतु' प्रत्ययका विधान होनेसे गोमान् धवमान् जिसप्रकार इन शब्दोंका सिद्ध स्वरूप है उसीप्रकार सत्की जगह पर 'सत्तावान्' यह सिद्धस्वरूप होना चाहिये किंतु 'सद्द्रव्यं' यह जो

कही जा चुकी है इसलिये उपर्युक्त प्रतीति और नामका व्यवहार समवाय संबंधके आधीन नहीं हो सकता। तथा—

सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्यादिका 'सत्' व्यवहार हो जाय परन्तु सत्ताका 'सत्' व्यवहार कैसे होगा? यदि यह कहा जायगा कि किसी दूसरी सत्ताके संबंधसे होगा तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि वहांपर भी यह प्रश्न उठेगा कि उस दूसरी सत्ताका कैसे सत् व्यवहार होगा तो वहांपर अन्य तीसरी सत्ताके संबंधसे कहना होगा। यहांपर भी यह प्रश्न उठेगा कि उस तीसरी सत्ताका 'सत्' व्यवहार कैसे होगा तो वहां भी कहना पडेगा कि अन्य चौथी सत्ताके संबंधसे होगा इसप्रकार उत्तरोत्तर सत्ताकी कल्पनाओंके होनेसे अनवस्था दोष होगा। यदि कदाचित् यह कहा जायगा कि द्रव्य आदि पदार्थोंका जो सत् व्यवहार है वह सत्ताके संबंधसे होता है परन्तु सत्ताका जो 'सत्' व्यवहार है सत्ताके सम्बंधके विना ही हो जाता है। वहांपर दूसरी किसी सत्ताके सम्बंधकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिये अनवस्था दोष नहीं हो सकता। सो भी ठीक नहीं। इसरूपसे अनवस्था दोषका भले ही परिहार हो जाय परन्तु सत्ताके सत् व्यवहारको यदि स्वयं माना जायगा तो प्रतिज्ञाभंग दोष तयार है। क्योंकि 'सत्' व्यवहार सत्ताके संबंधसे होता है, वादी यह प्रतिज्ञा कर चुका है अब यदि सत्ताके 'सत्' व्यवहारको सत्तासंबंधके विना स्वयं ही मानलेगा तो उपर्युक्त प्रतिज्ञा भंग हो जायगी। इसलिये सत्ताका जो संसारमें 'सत्' व्यवहार है वह परसे वा स्वयं दोनों तरहसे बाधित है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

प्रत्येक पदार्थमें भिन्न २ शक्तियां होती हैं इसलिये द्रव्य आदिमें तो भिन्न भिन्न निमित्तस्वरूप उन शक्तियोंके संबंधसे 'सत्' व्यवहार होगा और सत्तामें विना किसी अन्य निमित्तके स्वयं सत् व्यव-

है वह वहिरंग सत्ता कहनी पडेगी इसरीतिसे यदि सत्ताके पहिले ही द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम माना जाता है तो अंतरंग और बाह्यके भेदसे दो प्रकारकी सत्ता माननी पडती है। यदि यहां पर यह कहा जाय दो सत्ता मान ली जांय तो भी कोई हानि नहीं? सो अयुक्त है "सल्लिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः" अर्थात् सबमें 'सत् चिन्ह समान है—सभी पदार्थोंकी 'सत् सत्' रूपसे प्रतीति होती है और उनका आपसमें भेद करनेवाला कोई विशेष लिंग है नहीं इसलिये संसारमें एक ही सत् पदार्थ है, इस (आपके) सिद्धान्त वचनका व्याघात हो जायगा क्योंकि यहां इस वचनसे एक ही सत्ता मानी गई है और ऊपर दो प्रकारकी सत्ता सिद्ध होती है इसलिये पूर्वापर विरोध है इस रीतिसे सत्तासंबंधसे पहिले द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम नहीं सिद्ध हो सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि सत्तासंबंधसे पहिले उनमें 'सत् सत्' यह प्रतीति वा उनका 'सत्' नाम नहीं है किंतु सत्ता संबंधके बाद है तो जबतक उनके साथ सत्ताका संबंध न होगा तब तक द्रव्य आदिकी 'सत् सत्' यह प्रतीति और 'सत्' यह नाम भी न होगा फिर जिसप्रकार गदहे का सींग संसारमें असत् पदार्थ है उस प्रकार सत्तासंबंधसे पहिले द्रव्य आदि पदार्थोंको भी असत् मानना पडेगा। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

हमारे मतमें गुण गुणी जाति द्रव्य आदिका समवाय सम्बंध माना है और वह नित्य है इसलिये उससे द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम निर्बाधरूपसे व्यवहार-गोचर हो सकते हैं द्रव्य आदि पदार्थोंके साथ सत्त्व द्रव्यत्व आदिका अभेद संबंध मानना निरर्थक है? सो ठीक नहीं। समवायसंबंध किसी प्रकार सिद्ध ही नहीं हो सकता यह बात पहिले विस्तृतरूपसे

आते हैं और न सत्व द्रव्यत्व आदि धर्मोंसे भिन्न द्रव्य आदि पदार्थ देखनेमें आते हैं। इसलिये ये द्रव्य आदि पदार्थोंसे सत्व आदि धर्म सर्वथा भिन्न नहीं। और भी यह बात है कि—

यदि सत्ताको द्रव्य आदिसे सर्वथा भिन्न मानोगे और सत्ताके संबंधसे उनमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम माना जायगा तो वहांपर यह प्रश्न है कि द्रव्य आदि पदार्थोंमें जो सत् सत् यह प्रतीति है वा उनका सत् यह नाम है वह सत्ता संबंधसे पहिले है कि पीछे है? यदि यह कहा जायगा कि वह सत्ता संबंधसे पहिले है तब जिसतरह जो पदार्थ स्वयं प्रकाशमान है उसका फिर प्रकाशन करना व्यर्थ है उसीतरह सत्ता संबंधसे पहिले ही द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत्' 'सत्' यह प्रतीति और उनका सत् नाम प्रसिद्ध है तब उनके साथ सत्ताका संबंध मानना व्यर्थ है क्योंकि द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत् सत्' प्रतीति और उनके 'सत्' नामकी प्रसिद्धिके लिये ही सत्ता संबंधकी आवश्यकता पडती है सो वह सत्ताके विना संबंधके ही हो जाता है इसलिये पीछे से सत्ताका संबंध मानना व्यर्थ है। तथा यह भी बात है कि यदि सत्ता संबंधके पहिले ही द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और सत् नाम माना जायगा तो एक अंतरंग और दूसरी बाह्य सत्ता इस प्रकार सत्ताके दो भेद मानने पडेंगे क्योंकि यह बात निश्चित है कि विना सत्ताके रहे द्रव्य आदिमें 'सत्, सत्' यह प्रतीति और उनका सत् नाम नहीं कहा जा सकता। सत्ता संबंधके पहिले भी द्रव्य आदिमें सत् सत् यह प्रतीति और सत् नाम माना गया है इसलिये जिसके द्वारा द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' प्रतीति और उनका सत् नाम अनुभवमें आता है वह अंतरंग सत्ताका कार्य है अतः जिस सत्ताका पीछेसे संबंध होनेवाला है उससे पहिले ही 'सत् सत्' इस प्रतीति और सत् इस नामकी नियामक अंतरंग सत्ता माननी होगी एवं जिसका पीछेसे संबंध हुआ

भिन्न नहीं इसलिये एक द्रव्यत्व धर्मसे सबका ग्रहण हो जाता है। 'घट' ऐसा उच्चारण करने पर नाम स्थापना आदिके भेदसे, मिट्टी सोना आदि कारणोंके भेदसे और वर्ण आकार आदिके भेदसे भिन्न भिन्न भी जितने घट शब्दके वाच्य अर्थ हैं उन सबमें घटत्व धर्म अभेदरूपसे रहता है—ऐसा कोई भी घट नहीं जिसमें घटत्व धर्म न रहता हो इसलिये एक घटत्व धर्मसे जितने भी संसारमें घट हैं उन सबका ग्रहण हो जाता है। इसीतरह पट मठ आदि पदार्थोंका भी संग्रहनयसे ग्रहण समझ लेना चाहिये। संग्रह नय द्रव्यार्थिक नयका ही भेद है और इस नयका विषय भी अभेद है इसलिये यहां पर सत् द्रव्य और घट आदिक शब्द और उसकी प्रतीति समान रूपसे है अर्थात् सत् कहनेसे समस्त सत्तावाले, द्रव्य कहनेसे समस्त द्रव्य और घट कहनेसे समस्त घटोंका समान रूपमे ज्ञान हो जाता है विशेष रूपसे नहीं अर्थात् जिनकी संज्ञा और प्रतीति समान हो वे सब संग्रहनयके विषय पडते हैं। इसरीतिसे सत् शब्दके उल्लेखसे समस्त सत्तावाले, द्रव्य शब्दके उल्लेखसे समस्त द्रव्य और घट आदि शब्दोंके उल्लेखसे समस्त घट आदिका ग्रहण होना जो संग्रहनयका अर्थ कहा गया है वह निर्दोष है। शंका—

संग्रहनयके जो सत् द्रव्य और घट आदि उदाहरण दिये हैं उनमें सत्त्व द्रव्यत्व और घटत्व आदि धर्मोंको द्रव्य आदि स्वरूप माना गया है परंतु सत्व आदि धर्म द्रव्य आदिसे भिन्न हैं और सत्त्वके संबंध से सत्, द्रव्यत्वके संबंधसे द्रव्य, घटत्व आदिके संबंधसे घट आदिकी प्रतीति होती है इसलिये सत्व आदि धर्मोंको द्रव्य आदि स्वरूप मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। यदि सत्व द्रव्यत्व आदि धर्म और सत् द्रव्य आदि पदार्थोंको सर्वथा भिन्न माना जायगा तो सत्त्व आदि धर्म और द्रव्य आदि पदार्थ दोनों ही सिद्ध न हो सकेंगे क्योंकि द्रव्य आदि पदार्थोंसे भिन्न न तो सत्व द्रव्यत्व आदि धर्म देखनेमें

बुद्धि, नाम, अनुकूल प्रवृत्ति इन चिन्होंकी समानता रखनेवाला जो सादृश्य है वही जाति है अर्थात् जिन पदार्थोंकी प्रतीति समान होगी, नाम भी समान होगा, अनुकूल प्रवृत्ति भी समान होगी ऐसे पदार्थोंके समूहका नाम जाति है। अथवा जहां स्वरूपका अनुगम है जिसप्रकार गोत्व स्वरूप समस्त संसारकी गौओंमें रहता है इसलिये वह जाति है। वह जाति चेतन अचेतन आदि पदार्थ स्वरूप है चेतन आदि पदार्थोंसे भिन्न नहीं। तथा उसकी प्रवृत्तिमें कारण गोत्व घटत्व द्रव्यत्व सत्व आदि अनेक शब्द हैं इसलिये जहां जो शब्द होगा उसीके अनुसार उसका नाम भी भिन्न होगा तथा प्रवृत्ति भी उसी नियत शब्दके अनुसार होगी। वार्तिकमें जो अविरोध शब्द है उसका अर्थ स्वरूपसे न चिगना है। 'स्वा जातिः स्वजातिः स्वजात्या अविरोधः, स्वजात्यविरोधः, तेन' यह संग्रहके लक्षणमें जो स्वजात्यविरोध शब्द है उसका समास है। एकत्वोपनयका अर्थ एकत्वका उपचार है। इसरीतिसे अपनी जातिके अविरोध होनेपर एकत्व रूपसे जो समस्त भेदोंका ग्रहण कर लेना है उसका नाम संग्रह नय है। यह संग्रहनयके लक्षणका स्पष्ट अर्थ है। संग्रहके सत् द्रव्य घट आदि उदाहरण हैं। 'सत्' ऐसा उच्चारण करने पर द्रव्य पर्याय और उसके भेद प्रभेद सब सत्तासे अभिन्न हैं इसलिये एक सत्त्व धर्मसे उन सबका ग्रहण हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा उच्चारण करने पर जीव अजीव और उनके भेद प्रभेद जितने भी द्रव्य कहे जानेवाले हैं उन सबमें द्रव्यत्व धर्म अभेद रूपसे रहता है—जीव आदि कोई भी द्रव्यत्वसे

१ नैयायिक वैशेषिक दार्शनिकोंने गोत्व आदि जातियां स्वतंत्र मानी हैं वे व्यक्तियोंसे भिन्न सदा व्यापकरूपसे रहती हैं परंतु ऐसी जातियोंकी सिद्धि नहीं बनती अनेक दूषण आते हैं; इसलिये जो गौका आकार है वही गोत्व जाति है मनुष्यका आकार है वही मनुष्यत्व जाति है, उसीसे समान आकारवाले सब एक जातिवाले समझे जाते हैं।

व्यवहार है इसरीतिसे जहांपर भूतकालके पदार्थका संबंध है वहीं पर भावि संज्ञा व्यवहारकी प्रवृत्ति है किंतु जहांपर भूत कालके पदार्थके साथ संबंध नहीं वहां पर भावि संज्ञाव्यवहार नहीं होता। नैगम नयका जो विषय बतलाया है उसमें भूत पदार्थके साथ संबंधकी कोई अपेक्षा नहीं है किंतु वहां तो आगे होनेवाले कार्यको देखकर संकल्प मात्रका ग्रहण है इसलिये नैगम नयका विषय भावि संज्ञा व्यवहार नहीं कहा जा सकता। इसका खुलासा यह है कि भावि संज्ञा व्यवहारमें तो कुमारको यह कहते हैं कि यह राजा होनेवाला है परंतु नैगम नयमें—ऐसा नहीं कहते हैं किंतु यह राजा है ऐसा वर्तमानमें भविष्यत्‌का संकल्प कर उसीका प्रयोग करते हैं। शंका—

उपकारानुपलंभात्संव्यवहारानुपपत्तिरिति चेन्नाप्रतिज्ञानात् ॥ ४ ॥

जहांपर उपकार दीख पडे वहीं कार्य करना ठीक है। भाविसंज्ञाके विषय राजा आदिमें उपकारकी उपलब्धि है क्योंकि कुमार आदिको राजा आदि कहना उपकारस्वरूप है किंतु नैगमनयके विषयमें कोई उपकार जान नहीं पडता इसलिये उसका कोई पदार्थ विषय मानना निरर्थक है। सो ठीक नहीं। हमने यह प्रतिज्ञा कहां की है कि उपकार रहते ही नैगमनयका विषय हो सकता है। किंतु यहां नैगम नयके विषयका दिग्दर्शन कराया गया है परंतु हां! यह भी बात नहीं कि नैगमनयका विषय उपकार रहित ही है किंतु जहां वह विषय उपकारयुक्त होगा वहां नैगम नयका विषय उपकारसहित भी हो सकता है इसलिये नैगम नयका विषय उपकारशून्य है यह कहना निर्मूल है।

स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तग्रहणं संग्रहः ॥ ५ ॥

१ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रांतभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

की अपेक्षासे हैं परंतु भूत और वर्तमान कालकी अपेक्षा भी समझ लेने चाहिये । जिसतरह "अद्य दीपोत्सवदिने श्रीवर्धमानस्वामी मोक्षं गतः" आज दिवालीके दिन श्रीवर्धमान भगवान मोक्ष पधारे । यहां पर यद्यपि भगवानको मोक्ष गये हजारों वर्ष हो चुके परंतु संसारमें वैसा व्यवहार होता है इसलिये नैगम नयकी अपेक्षा वैसा वचन बाधित नहीं किंतु नैगम नयकी अपेक्षा ठीक समझा जाता है । इसी तरह जो कार्य वर्तमानमें हाथमें करनेकेलिये ले लिया है उसे पूर्ण न होने पर भी पूर्ण कह देना यद्यपि विरुद्ध जान पडता है तथापि संसारमें वैसा व्यवहार है इसलिये नैगम नयकी अपेक्षा वैसा कथन बाधित नहीं । इसलिये नैगम नयके भूत नैगम, भावी नैगम, और वर्तमान नैगम ये तीन भेद माने हैं । जो विषय ऊपर नैगम नयका बताया है यदि वह वर्तमानमें पूर्णतया उपस्थित हो तो वह उसका (नैगम नयका) विषय नहीं हो सकता । शंका—

भाविसंज्ञाव्यवहार इति चेन्न भूतद्रव्यासन्निधानात् ॥ ३ ॥

जो पदार्थ पहिले हो चुका उसको वर्तमानमें मानना भूत संज्ञा व्यवहार कहा जाता है । जो आगे जाकर होनेवाला है उसे वर्तमानमें मानना भावी संज्ञाका व्यवहार है और वर्तमान कालका ही पदार्थ जो अभी पूरा नहीं हुआ है—हो रहा है उसको पूरा कहना वर्तमान संज्ञा व्यवहार है । नैगम नयके जितने भी ऊपर दृष्टांत दिये हैं वे सब भावी संज्ञा व्यवहार हैं क्योंकि प्रस्थ आदि आगे होनेवाले पदार्थों को वर्तमानमें माना गया है इसलिये वे भावी संज्ञा व्यवहार हैं नैगमके विषय नहीं हो सकते ? सो ठीक नहीं । जो पुरुष वर्तमानमें राजकुमार है वह आगे जाकर राजा होगा इसलिये वहांपर भावि संज्ञा व्यवहार होता है । जो वर्तमानमें कच्चे चावल हैं वे आगे जाकर भात कहे जाते हैं इसलिये वहां भाविसंज्ञा

इंद्र बना रहा हूं' यह वचन नैगम नयकी अपेक्षा बाधित नहीं। इसी प्रकार एक मनुष्य ईंट चूना काठ आदि घरके तयार करनेकी सामग्रीको एकत्र करनेमें संलग्न है यदि उससे पूछा जाता है कि भाई! तुम क्या कर रहे हो? उत्तर मिलता है, घर बना रहा हूं। यद्यपि घर पर्याय अभी निष्पन्न नहीं तथापि उसके बनानेका संकल्प होनेसे 'मैं घर बना रहा हूं' यह वचन नैगम नयकी अपेक्षा बाधित नहीं। इसी प्रकार बहुतसे मनुष्य एक जगह खडे हैं। उनमें किसीने पूछा—भाई! अमुक स्थानपर कौन मनुष्य जा रहा है। उनमेंसे एक मनुष्य जो अभी तक खडा है उत्तर देता है—'मैं जा रहा हूं वहां पर यद्यपि गमन क्रियामें प्रवृत्त नहीं है तथापि नैगम नयकी अपेक्षा उसका 'मै जारहा हूं' यह वचन बाधित नहीं। क्योंकि संसारमें वैसा व्यवहार होता है। समझानेके लिये यहां कुछ इन दृष्टांतोंका उलेख किया गया है और भी अनेक दृष्टांत नैगम नयके विषय हैं।

विशेष—एक पुरुष जल लकडी आदि ओदनकी सामग्रीको एकत्र करनेमें लगा हुआ है। जिससमय उससे पूछा जाता है कि भाई क्या कर रहे हो? उत्तर मिलता है—भात पकाता हूं, यद्यपि भात पर्याय अभी निष्पन्न नहीं है किंतु उसके लिये व्यापार किया जारहा है तो भी वैसा संसारमें व्यवहार होनेसे नैगम नयकी अपेक्षा मैं भात पकाता हूं। यह बचन बाधित नहीं। इस दृष्टांतका सर्वार्थसिद्धिमें विशेष रूपसे उल्लेख है।

वार्तिकालंकारकारने जितने भी यहां नैगम नयके विषय दृष्टांत दिये हैं वे सब भविष्यत् काल

१ तथा एधोदकाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कंचित् पृच्छति किं करोति भवानिति? स आह—ओदनम् पचामीति तदौदनपर्यायः संनिहितः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

वा भव अर्थमें अण् प्रत्यय करने पर नैगम शब्दकी सिद्धि हुई है। "निगच्छंत्यास्मान्नीति निगमनमात्रं वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः" पदार्थ जिसमें आकर प्राप्त हों वा जो प्राप्त होनामात्र हो उसका नाम निगम है और निगममें जो कुशल हो वा होनेवाला हो वह नैगम है। यहां पर निगम शब्दका अर्थ संकल्प है। इसलिए जो संकल्पमें कुशल होनेवाला हो वह नैगम शब्दका अर्थ है तथा जो पदार्थ वर्तमानमें तयार नहीं है तो भी उसके विषयमें यह संकल्प कर लेना कि वह वर्तमानमें मौजूद है ऐसे संकल्पित अर्थका ग्रहण करनेवाला नैगम नय है प्रस्थ इंद्र गृह गमी आदि स्थलों पर अर्थके संकल्प मात्रका ग्रहण करना ही उस नैगम नयका व्यापार है और वह इस प्रकार है—

हाथेमें फरसा लिये किसी पुरुषको पूछा—भाई कहां जाते हो? उत्तरमें उसने कहा कि—मैं प्रस्थ (एक सेर वजनवाला काष्ठपात्र) लेने जा रहा हूं। यद्यपि काष्ठकी सेर पर्याय अभी तैयार नहीं किंतु जब काष्ठ लावेगा तब उसका सेर बनेगा तथापि लाये जानेवाले काष्ठसे सेर बनानेका संकल्प है इसलिये नैगम नय की अपेक्षा मैं प्रस्थ—काठका बना सेर, लेने जा रहा हूं यह वचन बाधित नहीं। इसी प्रकार एक मनुष्य काष्ठसे इंद्रकी प्रतिमा बनाना चाहता है अभी वह केवल इंद्रकी प्रतिमा बनानेकी योजना कर रहा है यदि उससे पूछा जाता है कि भाई! क्या कर रहे हो? तो उत्तर मिलता है कि मैं इंद्र बना रहा हूं। यद्यपि अभी इंद्रकी प्रतिमा तयारी नहीं है किंतु इंद्रके बनानेका संकल्प है तो भी मैं

१ संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयं तत्प्रयोजनः। तथा प्रस्थादिसंकल्पस्तदभिप्राय इष्यते ॥ १८ ॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ २६९।

२ कंचित्पुरुषं परिगृहीतपरशुं गच्छंतमवलोक्य कश्चित् पृच्छतीति किमर्थं भवान् गच्छतीति? स आह प्रस्थमानेतुमिति नासौ तदा प्रस्थपर्यायः सन्निहितः, तदभिनिर्वृत्तये संकल्पमात्रे प्रस्थव्यवहारः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

हो चुका और आगामी कालका द्रव्य अभी उत्पन्न नहीं अतः उसका व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये कारण और कार्य दोनों नामोंको धारण करनेवाले उस वर्तमान कालीन पर्याय हीको पर्यायार्थिक नय विषय कर सकता है। द्रव्यको नहीं। अथवा 'अर्थनं; अर्थः—प्रयोजनं' अर्थ शब्दका अर्थ प्रयोजन है जिस नयका प्रयोजन द्रव्य ही हो वह द्रव्यार्थिक नय है क्योंकि संसारमें जो द्रव्यकी प्रतीति होती है, जो नाम है एवं द्रव्यके अनुकूल प्रवृत्ति रूप चिह्न हैं उनका लोप नहीं हो सकता। अर्थात् द्रव्यका ज्ञान, द्रव्य संज्ञा और द्रव्यमें प्रवृत्ति इन चिन्होंसे देखे जानेवाले द्रव्यका अपलाप—अभाव नहीं कहा जा सक्ता। तथा जिस नयका प्रयोजन पर्याय ही हो वह पर्यायार्थिक नय है क्योंकि केवल पर्यायको विषय करनेके कारण शब्द और ज्ञानकी निवृत्ति और प्रवृत्तिके आधीन जो व्यवहार है उसकी प्रसिद्धि है अर्थात् मृत पिंडसे घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है इसलिये मृत पिंड रूप शब्द और उसके ज्ञानकी निवृत्ति एवं घट शब्द और उसके ज्ञानकी प्रवृत्तिरूप जो व्यवहार है वह होता है। यदि पर्यायको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय न हो तो संसारसे घट पट मठ पुत्र पिता आदि व्यवहारोंका लोप ही हो जाय। इस प्रकार यह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे जो दो नयोंके मूल भेद कहे थे उनका विवेचन हो चुका। नैगम आदि जो सात प्रकारके नय ऊपर कहे गये हैं वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके ही भेद हैं। अब नैगम आदिके विशष लक्षणोंका वर्णन किया जाता है—

अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः[1] ॥ २ ॥

नि उपसर्गपूर्वक गम् धातुसे अच् प्रत्यय करने पर निगम शब्द बना है और निगम शब्दसे कुशल

१ अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

शब्दका उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि प्रमाणप्रकाशित अनंतधर्मस्वरूप पदार्थोंकी पर्यायोंका जो नयोंसे प्ररूपण है वह निर्दोषरूपसे है अर्थात् नयोंके द्वारा निरूपण किये गये पदार्थमें किसी प्रकारके संशय आदि दोषकी संभावना नहीं रहती। इस रूपसे यह नयका सामान्य लक्षण निर्दोष है।

नयोंके द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक ये दो मूल भेद हैं। जहां पर द्रव्य है ऐसी बुद्धि है वह द्रव्यास्तिक है। यह नय केवल द्रव्यका ही विषय करता है। पदार्थोंके विकार—पर्याय, और अभावको विषय नहीं करता क्योंकि द्रव्यसे अन्य पर्याय और अभाव कोई पदार्थ नहीं। तथा पर्याय है यह जहां पर बुद्धि है वह पर्यायास्तिक है। यह नय केवल जन्म मरण आदि पर्यायोंको ही विषय करता है द्रव्यको नहीं क्योंकि पर्यायोंसे भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ नहीं। अथवा जिस नयका अर्थ द्रव्य ही हो, द्रव्यस्वरूप ही होनेके कारण गुण कर्म न हो वह द्रव्यार्थिक है और जिस नयका रूप आदि गुण और उत्क्षेपण आदि कर्म ही अर्थ हो 'पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं इसलिये द्रव्य अर्थ न हो' वह पर्यायार्थिक है। अथवा 'अर्यते गम्यते निष्पाद्यते' जो बनाया जाय, वह अर्थ है इसलिये वह कार्य है और जो 'द्रवति गच्छति इति द्रव्यं' जो प्राप्त करै वह द्रव्य है, यह कारण है। जहां पर द्रव्य ही अर्थ हो अर्थात् कारण ही कार्य हो—कारण और कार्य दोनों एक ही हों भिन्न न हों वह द्रव्यार्थिक है। "यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि कारण और कार्यके आकारमें भेद है इसलिये वे एक नहीं हो सकते क्योंकि जिसप्रकार अंगुलि और उसके पर्व—गांठ दोनों अंगुलिस्वरूप ही हैं अंगुलिसे भिन्न नहीं उसीप्रकार कारण और कार्य दोनों एक स्वरूप हैं, भिन्न नहीं।" तथा जिसकी चारो ओरसे उत्पत्ति हो वह पर्याय है। जिसका अर्थ पर्याय ही हो द्रव्य न हो वह पर्यायार्थिक नय है क्योंकि अतीतकालका द्रव्य विनष्ट

नयोंके सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके लक्षण बतलाना परमावश्यक है। उनमें सामान्य लक्षण इसप्रकार है—

प्रमाणप्रकाशितोऽर्थविशेषप्ररूपको नयः ॥ १ ॥

प्रकृष्ट, मान—ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। वह एक धर्मके द्वारा पदार्थके समस्त धर्मोंको जान लेता है इसलिये सकलको जाननेके कारण उसका अर्थ सकलादेश है। प्रमाणके द्वारा प्रकाशित, अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि अनंत धर्मस्वरूप जीव अजीव आदि पदार्थोंके पर्यायोंका जो विशेष रूपसे निरूपण करनेवाला है उसको नय कहते हैं। प्रमाणप्रकाशितोऽर्थेत्यादि नयके लक्षणमें जो 'प्रमाणप्रकाशित' पदका उल्लेख है उसका यह तात्पर्य है कि जो पदार्थ प्रमाणके द्वारा प्रकाशित हैं उन्हींके पर्यायोंका विशेषरूपसे प्ररूपण करनेवाला नय है किंतु जिन पदार्थोंका प्रकाश प्रमाणाभाससे है उनके पर्यायोंका विशेषरूपसे प्रकाशक नय नहीं। तथा उक्त नयके लक्षणमें रूपक शब्दकी जगह जो प्ररूपक

---

१ एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशः। वस्तुके किसी एक धर्मके जान लेनेसे उसके द्वारा शेष अनेक धर्मस्वरूप वस्तुको सकलतासे जान लेना सकलादेश है। सप्तभंगीतरंगिणी पृष्ठ १६। अन्यत्र भी सकलादेशका यह लक्षण किया गया है—'एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात्सकलादेशः' अर्थात् वस्तुके एक धर्मके द्वारा उस वस्तुमें रहनेवाले शेष समस्त धर्मोंका ग्रहण—जान लेना सकलादेश है। एक धर्मके उल्लेखसे वस्तुके समस्त धर्मोंका जो ज्ञान होता है उसमें अभेदवृत्ति और अभेदोपचार कारण है वहां पर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभेदवृत्ति है क्योंकि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कोई धर्म जुदा नहीं सब द्रव्यस्वरूप हैं और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अभेदोपचार है क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा परस्पर धर्मोंका भेद रहने पर भी वहां एकत्वका आरोप है।

और उसके कारणोंका उल्लेख है वहीं पर चारित्रका वर्णन उपयुक्त है। यदि यहां पर भी चारित्रका वर्णन किया जायगा और जहां पर मोक्ष और ज्ञानके कारणोंका वर्णन है वहां पर भी आवश्यक समझ चारित्रका वर्णन किया जायगा तब दो जगह उसके वर्णनमें ग्रंथ व्यर्थ वढ जायगा इसलिये यहां पर उसका वर्णन अधिक उपयोगी न होनेके कारण वहीं पर उसका वर्णन करना ठीक है। यदि यहांपर भी उसका वर्णन किया जायगा तो जीवादि पदार्थ भी विवेचनीय ठहरेंगे उनका विवेचन भी करना पडेगा।

मतिज्ञान आदिके भेदसे प्रमाणोंका वर्णन कर दिया गया। प्रमाणके एक देशको ग्रहण करनेवाले नय हैं अब उनके वर्णन करनेका क्रम प्राप्त है क्योंकि 'प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्रकारके इस वचनसे प्रमाणके वर्णनके वाद नयोंके वर्णनका ही क्रम है इसलिये अब नयोंका वर्णन किया जाता है। सूत्रकार मुख्य मुख्य नयोंके नाम गिनाते हैं—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं।

वृत्ति—ऊपर कह दिया गया है कि शब्द संख्याते हैं इसलिये शब्दोंकी अपेक्षा नयोंके एक आदि संख्याते भेद हैं। यदि अत्यंत सूक्ष्मरूपसे नयोंका भेद बतलाया जाय तो उनके स्वरूपका अच्छीतरह ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अत्यंत विस्तारसे उनके भेदोंका निरूपण किया जाय तो अल्पज्ञानी मनुष्य उलझनमें पड जांयगे इसलिये उनका उपकार नहीं हो सकता इसलिये हर एक मनुष्य सुलभतासे नयोंका स्वरूप समझ ले इस कारण सामान्यरूपसे सात भेद बतलाकर उनके स्वरूपका वर्णन किया गया है। यहां पर

है इसलिए उसका वर्णन करना चाहिए परंतु जहां मोक्ष और उसके कारणोंका वर्णन किया गया है वहां चारित्रका भी वर्णन किया गया है अतः चारित्रके वर्णनका क्रम उलंघनकर आवश्यक समझ नयोंका वर्णन किया जाता है। चारित्रका यहांपर वर्णन न कर मोक्षप्रकरणमें क्यों किया गया है इसका समाधान यह है कि समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश चारित्रसे होता है और समस्त कर्मोंका सर्वथा नाशस्वरूप ही मोक्ष है इसलिए मोक्ष प्राप्तिमें चारित्र प्रधान कारण है क्योंकि व्युपरतक्रिया नामके शुक्लध्यान द्वारा आत्मा जिससमय अनुपम अचिंत्य बल प्राप्त कर लेता है उससमय वह समस्त कर्मोंको मूलसे नष्ट कर डालता है इसलिये जहांपर मोक्षके कारण और मोक्षके स्वरूपका उल्लेख है वहीं पर चारित्रका वर्णन किया गया है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जिससमय आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व और केवल ज्ञानका धारक बन जाता है उससमय क्षायिक ज्ञान—केवलज्ञानके वाद ही समस्त कर्मोंका नाश होता है इसलिये क्षायिकज्ञान केवल ज्ञान भी जब समस्त कर्मोंके नाशमें कारण है तब चारित्रसे समस्त कर्मोंका नाश होता है यह कहना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। समस्त कर्मोंका नाश चारित्र से ही होता है क्योंकि यदि क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक ज्ञान समस्त कर्मोंके नाशमें कारण माने जायेंगे तो केवलज्ञानकी उत्पत्तिके वाद ही समस्त कर्मोंका नाश होना चाहिये किंतु वैसा न होकर उन कर्मोंका सर्वथा नाश व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान के वाद ही होता है और उसे ही उत्तम चारित्र माना गया है क्योंकि "कर्मादानहेतुक्रियाव्युपरतिश्चारित्रामिति" जो क्रियायें कर्मोंके लानेमें कारण हैं उनका सर्वथा नष्ट हो जाना चारित्र है, अर्थात् व्युपरतक्रियानिवृत्ति चारित्रसे ही समस्त कर्मोंका नाश होता है इसरीतिसे क्षायिक सम्यक्त्व और ज्ञान कारण न होकर जब समस्त कर्मोंके सर्वथा नाशमें साक्षात् कारण चारित्र ही है तब जहां पर मोक्ष

आपसमें भिन्न भिन्न होती है उनसे किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। बौद्ध लोग रूप परमाणुओंको सर्वथा भिन्न भिन्न मानते हैं। जो पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं, उनकी सामर्थ्य भी भिन्न ही रहती है इसलिए आपसमें रूपपरमाणुओंका संबंध न होनेके कारण उनमें घट पट आदि कार्योंके उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि रूपपरमाणुओंमें घट पट आदिकी उत्पत्तिकेलिए संबंध आत्मा उत्पन्न कर देगा इसलिए रूपपरमाणुओंसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो सकती है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। क्योंकि क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें आत्मा पदार्थ सिद्ध हो ही नहीं सकता। जब आत्मा कोई पदार्थ नहीं तब रूपपरमाणुओंमें संबंध भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस रीतिसे बौद्धोंका मानना भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत है। यह प्रचलित और मुख्य मुख्य सिद्धांतोंकी अपेक्षा मूलकारणोंमें विपरीतता बतलाई है परंतु जिसतरह पित्तदोषके तीव्र उदयसे जिस पुरुषकी जीभका स्वाद बिगड गया है उसको मीठा भी कडवा लगता है उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे बहुतसे अन्य वादियोंने भी सत् पदार्थको असत् और असत्को सत् मान रक्खा है इसलिए वस्तुस्वरूपसे सर्वथा विरुद्ध होनेके कारण उनका भी उसप्रकारसे मानना विपरीत है। इसरीतिसे जब प्रवादियोंकी कल्पनाओंके भेदसे वा कार्योंके मूलकारणोंमें विवादसे जब विपर्ययपना सिद्ध है तब वादीने जो यह शंका की थी कि "जिसप्रकार मतिज्ञान आदि रूप आदि पदार्थोंको विषय करते हैं उसीप्रकार कुमति आदि भी विषय करते हैं फिर मिथ्यादृष्टिके मति आदि तीन ज्ञानोंको जो विपरीतज्ञान बतलाया है वह ठीक नहीं—उनमें विपरीतता किसी भी कारणसे नहीं हो सकती" उसका अच्छी तरह खंडन हो गया ॥ ३२ ॥

सम्यग्ज्ञानके लक्षण भेद और विषय आदिका वर्णन कर दिया गया उसके बाद क्रमप्राप्त चारित्र

बौद्धोंका सिद्धांत है कि वर्ण आदि परमाणुओंके समुदायस्वरूप रूप परमाणु यद्यपि अतींद्रिय हैं परंतु जिससमय एकत्र होकर उनका समुदाय हो जाता है उससमय वह समुदाय इंद्रियोंका विषय बन जाता है इसलिये इंद्रियोंके विषयरूप समुदायसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है । सो ठीक नहीं । जब हरएक परमाणु अतींद्रिय है—इंद्रियजन्य प्रत्यक्षका विषय नहीं तब उससे अभिन्न घट पट आदि कार्य अतींद्रिय होंगे इसलिये उनका भी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । तथा—जिन पदार्थोंका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष है उनका जहांपर यथार्थ रूपसे ज्ञान होता है वहां पर प्रमाण और विपरीत रूपसे ज्ञान होता है वहां प्रमाणाभास इसप्रकार प्रमाण प्रमाणाभासका भेद माना गया है । यदि अतींद्रिय परमाणुओंसे घट पट आदिकी उत्पत्ति मानी जायगी तो उन घट आदिका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष तो होगा नहीं फिर वादीने जो प्रमाण और प्रमाणाभासका भेद मान रक्खा है वह निरर्थक है । अर्थात् जब पदार्थोंमें इंद्रिय प्रत्यक्ष योग्यता ही नहीं है तब प्रमाण और प्रमाणाभास भेद भी ज्ञानके नहीं बन सकते तथा परमाणु समूहके इंद्रिय प्रत्यक्ष होनेसे जो घट पटादि कार्य अनुभवमें आते थे वे प्रत्यक्ष न होनेसे अनुभवमें नहीं आवेंगे वैसी अवस्थामें कार्यका अभाव होनेसे उनके कारण रूपसे संकल्पित किये गये परमाणु समुदायका भी अभाव समझा जायगा इसलिये घट पट आदिके अभावमें रूप परमाणुओंका भी अभाव कहना होगा और भी यह बात है कि—

बौद्ध लोग रूप परमाणुओंको क्षणिक—क्षणविनाशीक और निष्क्रिय मानते हैं । जो पदार्थ क्षण भरमें नष्ट हो जानेवाला और निष्क्रिय है उससे किसी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिए रूप परमाणुओंसे कभी घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । तथा जिन पदार्थोंकी सामर्थ्य

'प्रतिनियत पृथिवी आदिके परमाणुओंके समूहसे अर्थांतर भूत घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है' यहां पर जो परमाणुओंकी जातिका नियम वतलाकर उनके समूहसे घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति मानी है वह भी ठीक नहीं क्योंकि भिन्न भिन्न जातिके परमाणुओंसे भी घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है इसलिये कार्योंकी उत्पत्तिमें परमाणुओंकी जातिका नियम नहीं। यदि यहां पर यह कहा जाय कि जहां परमाणुओंकी जाति भिन्न भिन्न रहती है वहां पर उनसे केवल समुदायकी ही उत्पत्ति होती है किसी कार्यका आरंभ नहीं होता तो वहां पर यह समाधान है कि जिन तुल्य जातीय परमाणुओंसे वादी घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति इष्ट मानता है उनसे भी केवल समुदाय की उत्पत्ति होती है कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती इसरीतिसे अदृष्ट आदि कारणोंके रहते प्रतिनियत पृथिवी आदिके परमाणुओंके समूहसे अर्थांतरभूत घट पट आदिकी उत्पत्ति होती है यह मानना युक्तियुक्त नहीं। यदि यहां पर यह कहा जायगा कि घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति आत्मासे हो जायगी ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि ऊपर कह दिया गया है कि जो पदार्थ सर्वथा क्रियारहित और नित्य होता है वह किसी भी कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता परमतमें आत्मा पदार्थ सर्वथा निष्क्रिय और नित्य है इसलिये उससे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि अदृष्ट गुणसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होगी ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि अदृष्ट गुणको भी निष्क्रिय माना है निष्क्रिय पदार्थसे किसी कार्यकी उत्पत्ति हो नहीं सकती इसलिये अदृष्ट गुण भी घट पट आदिको उत्पन्न नहीं कर सकता। इसरीतिसे जो वादी अदृष्ट आदि गुणोंके सन्निधान रहने पर प्रतिनियत पृथिवी आदि के परमाणुसमूहसे वा आत्मा अथवा अदृष्टसे घट पट आदिकी उत्पत्ति मानता है उसका भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

परमतके अनुसार आकाश आदि कार्य सर्वथा नित्य माने गये हैं इसलिये उनसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं मानी। परमाणु पदार्थको भी वादी नित्य मानता है इसलिए घट पट आदि पदार्थोंकी उससे उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हठात् परमाणुओंसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति मानी जायगी तो उन्हें नित्य न मानना होगा क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थ कार्यका उत्पादक नहीं हो सकता। तथा 'प्रतिनियत् पृथिवी आदि परमाणुओंसे सर्वथा भिन्न घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है' यह बात भी युक्तिबाधित है क्योंकि कारणसे सर्वथा भिन्न कार्यकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती किंतु कारणसे कथंचित् भिन्न ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि कारणसे सर्वथा भिन्न ही कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो किसी किसी परमाणुके समूह रूप कारणमें सूक्ष्मता रहती है वही कार्यमें भी आती है इसलिये वहां पर इंद्रियोंसे प्रत्यक्षता नहीं होती परंतु अब जबकि कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न माना जायगा तब परमाणुके समूह रूप कारणमें जो सूक्ष्मता है वह तो कार्यमें आवेगी नहीं फिर उस कार्यकी इंद्रियोंसे प्रत्यक्षता होनी चाहिये इसरीतिसे कार्माण जातिकी वर्गणाओंका नेत्रसे ज्ञान होना चाहिये। इसीतरह परमाणुओंके समूह रूप कारणमें जो महत्त्व (स्थूलत्व) है वह कार्य में आता है तब उसका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है। अब जबकि कारणसे सर्वथा भिन्न कार्य है तब कारणका धर्म—महत्त्व, कार्यमें आवेगा नहीं फिर परमाणुओंके समूहसे उत्पन्न होनेवाले घटादि कार्योंका प्रत्यक्ष न हो सकेगा। परंतु जहांपर कारणका धर्म सूक्ष्मता कार्यमें रहता है वहांपर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता, एवं जहां कारणका धर्म—महत्व कार्यमें रहता है वहां पर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है यह बात वादीको इष्ट और अनुभव सिद्ध है इसलिये कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न ही होता है यह कहना बाधित है किंतु कथंचित् भिन्नता ही मानना युक्त है।

वह तो अनेक हैं क्योंकि नीलरंगके परमाणु जुदे २ अनेक हैं इसलिये उनका उदाहरण देकर एक सत्ता अनेक पदार्थोंके साथ संबंध करनेवाली नहीं सिद्ध हो सकती। यदि यहांपर भी यह कहा जाय कि नीली द्रव्य अनेक हैं इसलिये उसका उदाहरण माननेपर न भी एक सत्ता अनेक पदार्थोंसे संबंध करनेवाली सिद्ध हो परंतु नीली द्रव्यमें जो नीलत्व जाति है वह तो एक है और एक ही वह अनेक नीली द्रव्य पदार्थोंसे संबंध करनेवाली है इसलिये नीलत्व धर्मको उदाहरण मान एक भी सत्ता अनेक पदार्थोंसे संबंध करनेवाली सिद्ध हो सकती है। सो भी ठीक नहीं। नीलत्व जाति ही संसारमें सिद्ध नहीं जिसे उदाहरण माना जाय जो दोष सत्ता जातिमें दिये गये हैं वे सब नीलत्व जातिमें भी आते हैं। इसरीतिसे सत्ता एक अखंड पदार्थ है और वह द्रव्यादि पदार्थोंसे भिन्न है, ऐसा मानना बाधित है।

अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ॥ ६ ॥

जिस पदार्थको संग्रह नयने विषय कर लिया है उसका जो विधिपूर्वक ग्रहण करना है उसका नाम व्यवहार है। संग्रहके लक्षणमें जो विधि शब्द है उसका अर्थ–जिस पदार्थको संग्रह नयने विषय किया है उसीके अनुकूल व्यवहारका होना है। उसका खुलासा इसप्रकार है–संग्रहनय विशेषरूपकी अपेक्षा न कर सामान्य रूपसे पदार्थोंको विषय करता है परंतु विशेषका विना अवलंबन किए व्यवहार हो नहीं सकता इसलिये सामान्यरूपसे जिस पदार्थको संग्रहनयने विषय किया है उससे संसारका व्यवहार न हो सकनेके कारण व्यवहार नय माना गया है। जिस तरह–संग्रहनयका विषय सत् पदार्थ है किंतु सत् शब्दसे संसारका व्यवहार हो नहीं सकता इसलिये जो सत् है वह द्रव्य और गुण है यह व्यवहार नयसे मानना पडता है। तथा संग्रहनयका विषय द्रव्य है उसके जीव और अजीव भेद माने बिना

संसारका व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये वह द्रव्य जीव और अजीव है यह व्यवहारसे कहना पडता है। तथा संग्रह नयका विषय जीव और अजीव है। वहां पर जीवके देव नारक आदि भेद माने विना संसारका व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये लोक व्यवहारकी सिद्धिके लिये जीव द्रव्यके देव नारक आदि भेद व्यवहारसे मानने पडते हैं। अजीवके घट पट आदि भेद माने विना भी संसारका व्यवहार नहीं चल सकता इसलिये उसके घट पट आदि भेद व्यवहारनयसे मानने पडते हैं। तथा क्वाथ—काढा दवा है यहां पर क्वाथ पदार्थ संग्रहनयका विषय है परंतु सामान्य पदार्थ व्यवहारका विषय नहीं हो सकता एवं सामान्य विशेषस्वरूप ही होता है इसलिये व्यवहारनयसे क्वाथ पदार्थके न्यग्रोधके फल आदि भेद मानने पडते हैं। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि क्वाथ पदार्थके न्यग्रोधके फल आदि अनंत भेद हैं, इकट्ठे नहीं किये जा सकते इसलिये वे व्यवहारके विषय कैसे हो सकते हैं? क्योंकि उनका इकट्ठा करना तो प्रभू चक्रवर्तीकी भी सामर्थ्यसे बाह्य है—वह भी नहीं कर सकता परंतु संग्रहनयके विषयभूत क्वाथ पदार्थके भेद होनेकी उन सबमें सामर्थ्य है—न्यग्रोधके फल आदि सभी क्वाथ पदार्थके भेद हो सकते हैं इसलिये वे सब व्यवहारनयके विषय हैं। तथा नाम स्थापना द्रव्य ये तीन निक्षेप संग्रहात्मक हैं उनसे संग्रहात्मक वस्तुका ग्रहण होता है उनसे भिन्न भिन्न व्यवहार नहीं हो सक्ता क्योंकि वे तीनों ही जातिवाचक हैं व्यक्ति वाचक नहीं हैं इसलिये व्यवहारकेलिये वर्तमान पर्याय भाव निक्षेप ही समर्थ है उसीका यहां ग्रहण है। इसरीतिसे इस व्यवहारनयका वहांतक विषय समझना चाहिये जहांतक फिर किसीप्रकारका विभाग न हो सके।

सूत्रपातवदृजुसूत्रः ॥ ७ ॥

जिसप्रकार सूतका गिरना सरल होता है उसीप्रकार जो सरल विषयको सूचित करता है उसका नाम ऋजुसूत्र है। यह नय त्रिकालसंबंधी विषयोंको छोडकर वर्तमानकालीन विषयोंको ग्रहण करता है क्योंकि जो पर्याय बीत चुकी अथवा जो पर्याय अभी तयार नहीं—आगे जाकर तयार होगी उन दोनों पर्यायोंसे व्यवहार चल नहीं सकता इसलिये शुद्ध एक समयमात्र ही ऋजुसूत्र नयका विषय माना गया है।

'कषायो भैषज्यं' 'काढा दवा है' यहांपर जिन पदार्थोंका काढा है उन पदार्थोंका अर्क निकलकर जिससमय साक्षात् औषधस्वरूप काढा बन जाता है वही शुद्ध वर्तमानकालीन एक समयवर्ती ऋजुसूत्र नयका विषय है किंतु पाहिले ही पाहिले जिसका रस अभीतक प्रगट नहीं हुआ—आगे जाकर प्रगट होनेवाला है इसीलिये जो साक्षात् औषध नहीं है वह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं। क्योंकि वह वर्तमान एक समयवर्ती नहीं—भविष्यत् कालकी अपेक्षा रखता है। तथा—

पच्यमान—जो पक रहा है और पक्क—जो पक चुका है यह ऋजुसूत्र नयका विषय है। यहां पच्यमान और पक्कका अर्थ कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्क यह समझ लेना चाहिये यदि यहां पर यह शंका की जाय कि पच्यमान यह वर्तमान पर्याय और पक्क यह अतीत पर्याय है, दोनोंका एक जगह कैसे समावेश होगा ? सो ठीक नहीं। क्योंकि यहां पर उत्तर देते समय यह कहा जा सकता है कि पहिले ही पाहिले जबकि समयका कोई विभाग नहीं है उससमय भातका कुछ अंश पका—सीझा है या नहीं ! यदि नहीं सीझा है तब द्वितीयादि समयोंमें भी वह नहीं सीझ सकता इसलिये पाकका अभाव ही कहना होगा। परंतु प्रतिक्षण वह सीझता अवश्य है इसलिये वटलोईमें रक्खे हुए चावलोंमें सीझ

और वेसीझेकी अपेक्षा ऋजुसूत्रनयका कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्व यह विषय बाधित नहीं। यदि यहां पर यह अपेक्षा न मानी जायगी और पच्यमान अवस्था और पक्व अवस्थाका सर्वथा विरोध माना जायगा तो पच्यमान (मिश्रित) कथंचित् पच्यमान और पक्व इसतरह विषयोंके तीन भेद हो जानेसे समय भी तीन प्रकारका मानना होगा परंतु तीनभेदोंको सर्वथा विरुद्ध माननेसे एक समयमें वे तीनों भेद नहीं रह सकते इसलिये कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्वमें सर्वथा विरोध नहीं माना जा सकता इसलिये यहां यह वात समझ लेनी चाहिये कि किसी पकानेवालेका यह अभिप्राय हो कि जो चावल अच्छी तरह सीझ गये हैं कोई भी कच्चा बाकी नहीं है उसकी अपेक्षा तो अच्छीतरह पक्के हुए चावल ही पक्व हैं। और जिस पकानेवालेका यह अभिप्राय हो कि वह कुछ सीझे और कुछ वेसीझे कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्व ऐसे पच्यमान चावलोंको ही पक्व कहना चाहता है उसकी अपेक्षा पच्यमान ही पक्व है। क्योंकि वह पच्यमानोंको ही पक्व मानना सुखप्रद समझता है इसलिये यह वात निश्चित हो चुकी कि ऋजुसूत्र नयका पच्यमान अर्थात् कथंचित् पच्यमान कथंचित् पक्व उदाहरण निर्दोष है तथा पक-पक चुकनेके बाद एक समयवर्ती पदार्थ भी ऋजुसूत्र नयका विषय है इसीतरह क्रियमाण कृत (कथंचित् क्रियमाण कथंचित् कृत), भुज्यमान भुक्त (कथंचित् भुज्यमान कथंचित् भुक्त) बध्यमान बद्ध (कथंचित् बध्यमान कथंचित् बद्ध) और सिध्यत् सिद्ध (कथंचित् सिध्यत् कथंचित् सिद्ध) आदि भी ऋजुसूत्रनयके उदाहरण समझ लेने चाहिये। अर्थात् जो किया जा रहा है और जो किया जा चुका है और जो भोगा जा रहा है और जो भोगा जा चुका है जो सिद्ध किया जा रहा है जो सिद्ध किया जा चुका है, ये सब भी ऋजुसूत्रनयके विषय पडते हैं, क्योंकि इन सबोंमें भी कुछ अंशोंमें

वर्तमान पर्यायका ग्रहण होता है, जितने अंशोंमें वर्तमान पर्यायका ग्रहण है उतने ही अंशोंमें ऋजुसूत्रनय की विषयता है इसीलिये कथंचित् पदसे कहा गया है। यहां पर विरोधादि बातोंका खुलाशा पच्यमान पक्कके समान है। तथा—

ऋजुसूत्रनयका विषय प्रस्थ भी है परंतु जिससमय अन्न आदि पदार्थ, सेर—माप द्वारा तुल रहा है उसीसमय प्रस्थ; ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है परंतु जिससे धान्य तुल चुका अथवा आगे जाकर तुलेगा वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता क्योंकि जो तुल चुका वह भूतकालका विषय है। जो आगे तुलेगा वह भविष्यत् कालका विषय है। भूतकालकी पर्याय और भविष्यत्कालकी पर्याय ऋजुसूत्रनयका विषय है नहीं, किंतु वर्तमानकालकी एक समयवर्ती पर्याय ही उसका विषय है इसलिये भूतकाल वा भविष्यत् कालकी अपेक्षा होनेवाला प्रस्थरूप ऋजुसूत्रनयका विषय होना असंभव है। तथा—

कुंभकारका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि कुंभको करनेवाला कुंभकार कहा जाता है। जिससमय कुंभकार पुरुष कुंभ—घडा, न बनाकर उसकी शिविक छत्रक आदि पर्याय बना रहा है उस समय वह ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा घडाका बनानेवाला नहीं कहा जा सकता क्योंकि शिविक छत्रक आदि पर्यायोंके आगे जाकर घट पर्याय बननेवाली है इसलिये भविष्यतकालका विषय है; वर्तमान कालका नहीं एवं जिससमय वह घडा बना रहा है उससमय घटकी उत्पत्ति उसके खास अवयवोंसे हो रही है और वही शुद्ध वर्तमानकाल ऋजुसूत्रनयका विषय है किंतु उससमय कुंभकार कुछ नहीं कर रहा है इसलिये ऋजुसूत्रनयका विषय कुंभकार नहीं हो सकता किंतु कुंभकारका अभाव उसका विषय है। तथा—

कोई पुरुष कहींसे आकर बैठा है किसी दूसरेने पूछा—कहो भाई कहांसे आरहे हो ? उससमय उसका यह कहना कि कहींसे नहीं आरहा हूं क्योंकि उससमय सर्वथा गमन क्रियाका अभाव है इसलिये शुद्ध वर्तमानकी अपेक्षा 'इससमय कहींसे नहीं आरहा हूं' यह ऋजुसूत्रनयका विषय है। तथा—

किसी बैठे आदमीको देखकर यह पूछना कि भाई ! इससमय तुम किस स्थान पर हो ? उससमय वर्तमानमें वह जितने आकाशके प्रदेशोंमें मोजूद है उतने ही प्रदेशोंका नाम लेकर कहे कि मैं यहां पर हूं, किसी शहर गांव घर आदिका नाम नहीं ले, वह शुद्ध वर्तमान कालकी अपेक्षा कथन होनेसे ऋजुसूत्रनयका विषय है । अथवा उससमय जितने आत्मप्रदेशोंके आकारमें उसका रहना हो उतने ही प्रमाण आत्म प्रदेशोंका उल्लेखकर वह यह कहे कि मैं यहांपर हूं वह ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि उसकी स्थितिका शुद्ध वर्तमान समयमें वही आकार है, अन्य नहीं। तथा—

काक काला है यह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं है किंतु 'काक काला नहीं है' यह ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि यहांपर काक अपने काकस्वरूपका धारक है और कालापन अपने कालेपन स्वरूपका धारक है किंतु कालापन काकस्वरूप (काकका स्वरूप) नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि कालापन काकका स्वरूपही है तब कालापन तो भ्रमर आदिके अंदर भी दीख पडता है इसलिये भ्रमर आदिको भी काक कहना पडेगा। फिर भ्रमर आदि जीवोंको काकके नामसे ही पुकारा जायगा—भ्रमर आदिके नामसे नहीं। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि हम कालेपनको काकस्वरूप नहीं मानते किंतु काले ही काकका नाम काक है अन्यवर्णका काक नहीं, यह कहते हैं। यह भी ठीक नहीं। यदि काले वर्णके काकको ही काक माना जायगा तो जो काक सफेद नीले आदि वर्णके धारक हैं उन्हें फिर काक न

कहा जायगा क्योंकि काक पांचों वर्णोंके होते हैं। तथा पित्त हड्डी रक्त आदि सात धातुओंका पिंड स्वरूप काकका शरीर है इनसे भिन्न कोई काक पदार्थ नहीं किंतु पित्तका रंग पीला, हड्डीका रंग सफेद और रक्तका लाल वर्ण माना है। यदि कृष्णवर्ण स्वरूप ही काक माना जायगा तो पीले आदि वर्णोंके धारक पित्त आदिको भी कृष्ण वर्णात्मक ही कहना पडेगा परंतु उसप्रकारका कहना प्रत्यक्ष बाधित है इसलिये काले वर्णका ही काक, काक है यह कहना बाधित है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

काकका शरीर एक अखंड द्रव्य पदार्थ है उसमें समानाधिकरण संबंधसे पित्त आदि रहते हैं उनके पीले सफेद आदि वर्ण हैं काकसे उनका तादात्म्य संबंध नहीं इसलिये वह कृष्णात्मक ही है? सो भी ठीक नहीं। पित्त हड्डी आदि काक शरीरके पर्याय हैं। पर्याय कभी द्रव्यसे भिन्न हो नहीं सकते वास्तवमें तो पर्याय ही विभिन्न शक्तियोंके धारक द्रव्य पदार्थ हैं उनसे भिन्न द्रव्य कोई चीज नहीं, इसलिये काकके शरीरको एक विभिन्न द्रव्य मानकर पित्त हड्डी आदि द्रव्योंका उसमें समानाधिकरण संबंध मानना बाधित है। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि—

सफेद लाल पीले आदि सब तरहके काक हों परंतु सबमें प्रधान गुण कृष्ण वर्ण ही है इसलिये कृष्ण गुणकी प्रधानतासे कृष्ण ही काकको काक मानना उचित है। सो ठीक नहीं। यदि कृष्णगुणकी ही प्रधानता मानी जायगी तो पित्त हड्डी आदि पदार्थ पीले सफेद आदि होने पर भी वे भी प्रधानगुण हैं ही तथा और भी यह बात है कि सब गुणोंमें जब केवल कृष्णगुण ही प्रधान है मीठा खट्टा आदि अनेक गुणोंमें कोई प्रधान नहीं तब मधु (शहद) यद्यपि कुछ कषेलापन लिये मीठा होता है परंतु अब उसके मीठे रस गुणका भान न होगा, प्रधानता होनेसे केवल कृष्ण ही कृष्णगुणका भान होगा परंतु

वहां पर कृष्णगुणका भान न होकर मीठापन प्रत्यक्षरूपसे जाना जाता है इसलिये सब गुणोंमें कृष्ण गुण प्रधान नहीं माना जा सकता। तथा और भी यह बात है कि—

जहां पर परोक्षमें कृष्ण काक कहा जाता है वहां पर संशय हो जाता है क्योंकि एक पुरुष कृष्ण काकके विशेषका जाननेवाला है वह किसी दूसरे द्वीपमें पहुंचा और वहांके किसी ऐसे पुरुषके सामने कृष्णकाकके स्वरूपका वर्णन किया जो पुरुष कृष्णकाकको जानता ही नहीं। वस! कृष्णकाकका स्वरूप सुनते ही उसे यह संदेह हो जाता है कि यह मनुष्य जो 'काला काक' कह रहा है वह सब गुणोंमें कृष्ण गुणकी प्रधानता समझ वैसा कह रहा है अथवा कृष्णपना द्रव्यकी पर्याय है यह समझ 'काला काक' कह रहा है? यह निश्चय है कि जहां पर संशय रहता है वहां पर पदार्थका निर्णय नहीं होता इसलिये 'काला काक' ही काक होता है यह कहना बाधित है। ऋजुसूत्रनय शुद्ध वर्तमानकालीन एक समय-वर्ती पर्यायको विषय करता है उस एक समयमें काक सामान्य संसारभरके सब काक काले नहीं इस-लिये काक सामान्यरूपसे कृष्णात्मक नहीं कहा जा सकता किंतु कृष्ण कृष्णात्मक और काक काका-त्मक है इसलिये 'कृष्णकाक' यह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं हो सकता। तथा—

पलाल (पूला) आदिके दाहका अभाव यह भी ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि ऋजुसूत्रनयका विषय शुद्ध वर्तमान एक समयमात्र है और पलाल आदि चीजोंके साथ अग्निका संबंध होना उसका सुलगना, स्वयं जलना, जलाना कार्य असंख्याते समयोंका है इसलिये कालका भेद होजानेके कारण पलाल आदिका दाह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता और भी यह बात है कि जिससमय दाह हो रहा है उससमय पलाल नहीं किंतु उसकी भस्म पर्याय है और जिससमय पलाल अपने रूपसे पलाल

है उससमय दाह नहीं इसलिये ऋजुसूत्रनयके विषयभूत शुद्ध वर्तमान एक समयमें पलालका दाह बन ही नहीं सकता इसलिये पलालका दाह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं किंतु उसका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि 'पलालका दाह होता है' यह कहना इष्ट नहीं किंतु पलाल ही जलता है यह कहा जाता है इसरीतिसे पलाल और दाहका समान समय होनेसे वह ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। क्योंकि समस्त पलाल जले तब तो पलाल और दाहका एक समय हो सकता है किंतु पलालका कुछ अंश जलता है कुछ वाकी रहता है, सबका जलना असंख्याते समयका कार्य है इसलिये पलाल और दाहका शुद्ध वर्तमानकाल एक समयमात्र न होनेसे वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता। यदि यहां पर भी यह शंका की जाय कि—

जो शब्द समुदायस्वरूप समूहवाचक होते हैं उनके कुछ अवयवोंमें कार्य होना समुदायमें होना मान लिया जाता है। यद्यपि पलालके एक देशमें दाह है तब भी वह पलाल समुदायमें मान लिया जायगा इसलिये पलाल और दाहका समान समय होनेसे पलाल दाह ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है। सो भी अयुक्त है क्योंकि अवयवोंका कार्य, समुदायमें होनेवाला कार्य मान भी लिया जाय तब भी पलालका एक देश तो बिना जला ही अवस्थित है यह ऊपर बतला दिया जा चुका है एवं उस एक देशका जलना असंख्याते समयोंका कार्य है इसलिये अवयवोंका कार्य; समुदायका कार्य मानने पर भी वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता। यदि यहांपर भी यह कहा जाय कि—

जो पदार्थ जलेगा वह क्रम क्रम कर जलेगा एक साथ संपूर्ण पदार्थका जलना नहीं हो सकता इसलिये पलालका एक देश जलने पर संपूर्ण पलालका जलना कहा जा सकता है और उसे शुद्ध वर्त-

मानकालका विषय मानकर ऋजुसूत्रनयका विषय कह सकते हैं। सो भी ठीक नहीं। ऐसा कहनेसे वचनविरोध और तदवस्थ दोष 'जो कि ऊपर बता दिया गया है' दो दोष होते हैं। उनमें वचनविरोध दोष इसप्रकार है—

ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा संपूर्ण पलालका जलना असंभव है इसलिये यदि पलालके एक देशके जलनेसे ही संपूर्ण पलालका जलना माना जायगा तो वादीका वचन प्रतिवादी (जैन) के पक्षका संपूर्ण रूपसे दूषक नहीं हो सकता क्योंकि ऋजुसूत्रनयके विषयभूत शुद्ध वर्तमानकालमें संपूर्ण पलालका यदि जलना सिद्ध हो सके तो 'पलालका जलनारूप' संपूर्ण पक्ष दूषित हो सकता है किंतु उस एक समयमें तो एक देशका जलना ही हो सकता है इसलिये एक पक्षका ही दूषक हो सकता है परंतु वादी संपूर्ण पक्षको दूषित करना चहता है और यहांपर एक पक्ष ही दूषित होता है इसलिये वचनविरोध है। यहां पर यह न कहना चाहिये कि एक देशके दूषित होनेसे समुदाय दूषित माना जायगा इसलिये वचन-विरोध नहीं हो सकता ? क्योंकि एक देशके दूषित होनपर समुदाय दूषित हो जाता है ऐसा सर्वथा सिद्ध करना सामर्थ्यके बाहिर है अतः इस वचनविरोधरूप दोषसे संपूर्ण पदार्थका जलना असंभव होनेसे एक देशके दाहसे संपूर्ण पदार्थका दाह माना जा सकता है यह कहना अयुक्त है। तथा पलालका जो एक देश जल रहा है उससे बाकीका बचा एक देश तदवस्थ है—विना जला हुआ है, और उसका जलना असंख्याते समयोंका कार्य है जो कि शुद्ध वर्तमानकालके एक समयमात्र ऋजुसूत्रनयका विषय हो ही नहीं सकता इसलिये तदवस्थ दोषसे भी पलालका जलना वर्तमानकालीन एक समयवर्ती नहीं कहा जा सकता क्योंकि पलालके अवयव अनेक हैं उनमें यदि कुछ अवयवोंके जलनेसे संपूर्ण पलालका

जलना माना जायगा तो उसीके कुछ अवयवोंके न जलनेसे संपूर्ण पलालका नहीं भी जलना (अदाह) माना जा सकता है। यदि यह कहा जायगा कि कुछ अवयवोंके जलनेसे संपूर्ण पलालमें दाह ही मानेंगे अदाह नहीं मान सकते तो वहां पर यही समानरूपसे उत्तर है कि कुछ अवयवोंमें अदाह—न जलना देखकर संपूर्ण पलालमें अदाह ही क्यों नहीं माना जायगा ? इसरीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि ऋजुसूत्रनयके विषयभूत एक समयमें संपूर्ण पलालका जलना नहीं हो सकता इसलिये पलालका जलना ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं कहा जा सकता किंतु उसका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है। इसीप्रकार पानी पीना भोजन करना आदि भी असंख्याते समयोंके कार्य हैं और ऋजुसूत्रनयका विषय एक समयवर्ती पर्याय है इसलिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा उनका व्यवहार नहीं हो सकता।

तथा सफेद रंग काला होता है यह भी ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं क्योंकि ऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती पर्यायको विषय करता है सफेद रंगका काला होना अनेक समयसाध्य बात है इसलिये 'सफेद काला नहीं होता है' यही ऋजुसूत्रनयका विषय मानना चाहिये। शंका—

यदि ऋजुसूत्रनयका विषय वर्तमानकालीन एक समयवर्ती पर्याय ही मानी जायगी तो खाना पीना आदि पर्याय अनेक समयसाध्य हैं इसलिये इस नयकी अपेक्षा जब वे सिद्ध न हो सकेंगे तब संसारसे उनका नाम ही उठ जायगा। सो ठीक नहीं। यहांपर ऋजुसूत्रनयका विषयमात्र दिखाया गया है। खान पान आदि व्यवहारोंकी सिद्धि नैगम आदि जो पहिले नय कह आये हैं उनसे निर्बाधरूपसे होती है। इसलिये कोई दोष नहीं। इसप्रकार यह ऋजुसूत्रनयका व्याख्यान किया गया है।

शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः ॥ ८ ॥ स च लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः ॥ ९ ॥

घट पट आदि शब्दोंके उच्चारण करते ही उन पदार्थोंके जानकार पुरुषको जिसके द्वारा अपने वाच्य पदार्थका ज्ञान हो वह शब्दनय है और लिंग संख्या साधन आदिमें जो व्यवहारनयसे माना हुआ अन्याय है-व्यभिचार है उसके दूर करनेकेलिये है। पुलिंग स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंगके भेदसे लिंगके तीन भेद हैं। एकवचन द्विवचन और बहुवचनके भेदसे संख्या तीन प्रकार है। प्रथम पुरुष मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष साधन है अथवा युष्मद् और अस्मद् शब्द साधन है। साधनादि यहां पर जो आदि शब्द है उससे काल आदिका ग्रहण है । इन लिंग—काल आदि संबंधी व्यभिचारोंकी निवृत्ति करना ही शब्दनयका विषय है।

स्त्रीलिंगके स्थानपर पुलिंगका कहना और पुलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कहना आदि लिंग-व्यभिचार है। जिसतरह—'तारका स्वातिः' स्वाति नक्षत्र तारे हैं। यहांपर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुंल्लिंग है इसलिये स्त्रीलिंगकी जगह पुल्लिग व्यभिचार है । 'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है। यहां पर अवगम शब्द पुंल्लिग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है। यहां पर पुल्लिगकी जगह स्त्रीलिंग कहनेसे लिंगव्यभिचार है। 'वीणा आतोद्यं' वीनबाजा आतोद्य कहा जाता है । इस स्थानपर वीणा स्त्रीलिंग और आतोद्य नपुंसकलिंग है इसलिये स्त्रीलिंगकी जगह नपुंसकलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। 'आयुधं शक्तिः' शक्ति आयुध है। यहां पर आयुध नपुंसकलिंग और शक्ति स्त्रीलिंग है। यहां पर नपुंसकलिंगकी जगह स्त्रीलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है । 'पटो वस्त्रं' कपडा वस्त्र है यहां पर पट, पुल्लिग और वस्त्रः नपुंसकलिंग है । पुल्लिगकी जगह नपुंसकलिंग कहनेसे व्यभिचार है । 'द्रव्यं

१ यह दूसरा पक्ष श्लोकवार्तिक और तत्त्वार्थराजवार्तिककी प्राचीन भाषाके अनुसार लिखा गया है।

परशुः" फरसा द्रव्य है। यहां पर द्रव्य शब्द नपुंसकलिंग और परशु पुंल्लिंग है। नपुंसकलिंगकी जगह पुंलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है।

एक वचनकी जगह द्विवचन, एक वचनकी जगह बहु वचन आदिका कहना संख्याव्यभिचार है जिसतरह—'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है, यहांपर नक्षत्र शब्द एकवचनांत और पुनर्वसू शब्द द्विवचनांत है। यहांपर एकवचनकी जगह द्विवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'नक्षत्रं शतभिषजः' शतभिषजा नक्षत्र हैं, यहां पर नक्षत्र शब्द एकवचनांत और शतभिषग् शब्द बहुवचनांत है इसजगह एक वचनके स्थानपर बहुवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'गोदौ ग्रामः' गौओंको देनेवाले गाव हैं। यहां पर गोद शब्द द्विवचनांत और ग्राम शब्द एक वचनांत है। इसजगह द्विवचनके स्थानपर एकवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'पुनर्वसू पंच तारकाः' पांच तारे पुनर्वसू हैं। यहां पुनर्वसू शब्द द्विवचनांत और पंचतारका शब्द बहुवचनांत है इसस्थानपर द्विवचनके स्थानपर बहुवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है 'आम्रा वनं' आमके वृक्ष वन हैं, यहांपर आम्र शब्द बहुवचनांत और वन शब्द एक वचनांत है इस जगह बहुवचनके स्थानपर एकवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है तथा 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं। यहां पर देव मनुष्य शब्द बहुवचनांत और राशि शब्द द्विवचनांत है। इस जगह बहुवचनकी जगह द्विवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है इसकी निवृत्ति शब्दनयसे होती है अर्थात् पुंलिंगके साथ स्त्रीलिंगका प्रयोग करना अथवा एकवचनके साथ बहुवचनका प्रयोगकरना आदि शब्द नयकी अपेक्षा व्यभिचार है।

इसीप्रकार युस्मद् शब्दकी जगह अस्मद् शब्दके प्रयोगको वा अस्मद् शब्दकी जगह युस्मद् शब्द

के प्रयोग अथवा उत्तमें पुरुषकी जगह मध्यम पुरुष आदि मानना साधन व्यभिचार है और उसकी निवृत्ति शब्दनयसे है। जिसतरह—'एहि मन्ये रथेन यास्यासि यातस्ते पिता'। अर्थात् जाओ मैं ऐसा समझता हूं कि तुम रथसे जाओगे परंतु अब न जाओगे तुम्हारा पिता चला गया। इस वाक्यके शब्दों का अर्थ तो यह होता है परंतु यहां हास्य होनेसे व्याकरणके नियमानुसार युष्मद्‌की क्रियामें अस्मद्, और अस्मद्‌की क्रियामें युष्मद् हो गया है एवं अर्थ होता है कि तू जो रथसे जाना चाहता था सो उस पर तो तेरा बाप चढकर चला गया यहांपर 'एमि' इस उत्तम पुरुषकी जगह एहि' यह मध्यम पुरुष, 'मन्यसे' इस मध्यम पुरुषकी जगह 'मन्ये' यह उत्तम पुरुष और 'यास्यामि' इस उत्तमकी जगह 'यास्यासि' यह मध्यम पुरुष किया गया है अथवा 'मैं' की जगह 'तू' और 'तू' की जगहपर 'मैं' इसप्रकार युष्मद् अस्मद् शब्दोंके प्रयोगका विपरिवर्तन किया गया है इसलिये यहांपर साधन व्यभिचार है।

इसीप्रकार काल आदिका भी व्यभिचार है और उसकी शब्दनयसे निवृत्ति मानी गई है। वह इसप्रकार है—

भविष्यत् आदि कालोंमें होनेवाले कार्यका भूतकालमें होना मान लेना काल व्यभिचार है। जिस तरह "विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता" जिसने समस्त ब्रह्मांडको देख लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा। यहां पर समस्त ब्रह्मांडका देखना भविष्यत् कालका कार्य है उसका भूतकालमें होना मान लिया गया है

१ सर्वार्थसिद्धिमें साधनव्यभिचारः (कारकव्यभिचारः) सेना पर्वतमधिवसति। पुरुषव्यभिचारः एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता, अर्थात् साधनका अर्थ कारक माना है और साधन व्यभिचारका सेना पर्वतमें रहती है यह उदाहरण दिया है। पुरुष व्यभिचार एक जुदा व्यभिचार माना है और उसका एहि मन्ये रथेनेत्यादि उदाहरण दिया है।

इसलिये यहांपर भिन्नकाल—भविष्यत्कालका कार्य, भिन्नकाल—भूतकालमें, कहनेसे कालव्यभिचार है। इसीतरह 'भाविकृत्यमासीत्' आगे होनेवाला कार्य हो चुका यहांपर भी भिन्न कालके कार्यका भिन्न कालमें होना माननेसे काल व्यभिचार है।

उपग्रहका अर्थ परस्मैपद वा आत्मनेपद है। परस्मैपदकी जगह आत्मनेपद कह देना और आत्मनेपदकी जगह परस्मैपद कह देना उपग्रह व्यभिचार है। स्था धातु परस्मैपदी है परंतु उपसर्गके बलसे उसे आत्मनेपदी मान लिया जाता है जैसे 'तिष्ठति' के स्थानपर संतिष्ठते[1] प्रतिष्ठते आदि प्रयोग किये जाते हैं। यहांपर परस्मैपदकी जगह आत्मनेपद कहनेसे उपग्रह व्यभिचार है। इसीतरह 'रमु क्रीडायां' धातु आत्मनेपदी है। वहांपर उपसर्गके बलसे उसे परस्मैपदी मानलिया जाता है जैसे 'रमते' के स्थानपर विरमति[2] उपरमति प्रयोग किये जाते हैं। यहांपर आत्मनेपदको परस्मैपद कहनेसे उपग्रह व्यभिचार है। यह उपग्रह व्यभिचारका कथन सर्वार्थसिद्धिकी[3] टिप्पणी और अर्थप्रकाशिका[4] टीकाके आधारपर है।

---

१ संव्यवप्रात्। १। २। २१। सम् वि अव और प्र उपसर्गसे परे रहनेपर स्था धातुसे आत्मनेपद होता है। जैनेन्द्रव्याकरण।

२ व्याङ्श्च रमः। १। २। १५ उपात्। १। २। ९६। वि आङ् परि और उप उपसर्गसे आगे रमु धातु रहने पर परस्मैपद होता है। जैनेन्द्रव्याकरण।

३ अत्र परस्मैपदोपग्रहः अत्र सूत्रं समवप्रविभ्यः। रमु क्रीडायामित्यत्रात्मनेपदोपग्रहः। व्याङ्परिभ्यो रमः इति व्यभिचारसूत्रं। अर्थात् संतिष्ठते प्रतिष्ठते यहां पर परस्मैपद उपग्रह है और परस्मैपदी स्था धातुसे 'समवप्रविभ्यः' इस सूत्रमें वहां उपग्रहका व्यभिचार आत्मनेपद हुआ है। 'रमु क्रीडायां' यहां पर आत्मनेपद उपग्रह है और 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इस सूत्रसे व्यभिचारस्वरूप परस्मैपद हुआ है। सर्वार्थसिद्धि टिप्पणी पृष्ठ ८०।

४ बहुरि आत्मनेपदकूं परस्मैपद भया ऐसे ही उपसर्ग व्यभिचारकूं व्यवहारनय अन्याय माने हैं इस शब्दनयसे समस्त विरोध मिटै है। अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ६२।

पं० पन्नालालजी दूनीवालोंकी टीकामें भिन्न रूपसे लिखा है। इसीप्रकार और भी व्यभिचार समझ लेने चाहिये और उनकी शब्दनयसे व्यावृत्ति जाननी चाहिये। इसका खुलासा यह है कि एकवचनके साथ बहुवचन का पुंलिंगके साथ स्त्रीलिंग या नपुंसक लिंगका इत्यादि प्रकारसे जो संबंध है एवं व्यवहार है उसे व्यवहारनय तो ठीक समझता है उसनयकी अपेक्षा वैसे प्रयोग किये जा सकते हैं व्याकरण भी उन्हीं प्रयोगों के अनुसार सिद्धि करता है परंतु शब्दनयकी प्रधानतासे वे प्रयोग ठीक नहीं हैं। कारण जितने भी शब्द भेद हैं, लिंग भेद हैं, कारकादि भेद हैं वे सब इस नयकी अपेक्षा भिन्न भिन्न अर्थके द्योतक हैं, इसलिये भिन्न अर्थोंका परस्पर संबंध मानना ठीक नहीं है अतएव शब्दनय उस व्यवहारको दूषित—व्यभिचारित समझता है। व्यवहारनयसे भले वे ही ठीक हों।

जितने भर भी लिंग आदि व्यभिचार दोष ऊपर कहे गये हैं वे सभी अयुक्त हैं। वस्तु स्वरूपसे विपरीत वातको सिद्ध करनेवाले हैं क्योंकि भिन्न अर्थका भिन्न अर्थके साथ संबंध हो नहीं सकता। यदि हठात् लिंग व्यभिचार आदिको युक्त माना जायगा तो भिन्न पदार्थका भिन्न पदार्थके साथ संबंध होना युक्त होगा फिर घटको पट और पटको घट भी कह देना पडेगा परंतु वैसा होता नहीं इसलिये समान लिंग समान संख्या और समान साधन आदि शब्दोंका ही आपसमें संबंध होता है इसबातका ज्ञापक शब्दनय है यदि मूलशब्दके लिंग आदि भिन्न होंगे और पर्याय शब्दके भिन्न होंगे तो इसरीति

१ अर संतिष्ठतेकी एवज प्रतिष्ठते कहै अर 'विरमति' की जगह 'उपरमते' कहै सो उपग्रह कहिये उपसर्ग व्यभिचार है। श्लोकवार्तिककार भी 'प्रतिष्ठते, स्थानपर 'अवतिष्ठते, कहना और 'विरमति' जगह पर उपरमते, कहना उपग्रह व्यभिचार मानते हैं। भिन्न भिन्न नयोंसे दोनों ही प्रकारके अर्थ प्रामाणीक हैं।

से 'तारका स्वातिः' यहांपर स्त्रीलिंग तारका शब्दके पुंलिंग स्वातिशब्द और नक्षत्रं पुनर्वसू यहां एक-वचनांत नक्षत्र शब्दके द्विवचनांत पुनर्वसू आदि जितने अपर विभिन्नलिंगक आदि पर्याय कहे गये हैं वे लिंग आदि व्यभिचार स्वरूप हैं आपसमें उनका संबंध नहीं हो सकता इसलिये वे शब्दनयके विषय नहीं कहे जा सकते। शंका—

यदि तारका शब्दकी स्वाति पर्याय और नक्षत्र आदि शब्दोंकी पुनर्वसू आदि पर्यायें न मानी जायगीं तो लोक और शास्त्र दोनोंका विरोध होगा क्योंकि संसारमें वैसा व्यवहार दीख पडता है और शास्त्रोंमें व्यवहारनय वैसे प्रयोगोंको ठीक मानता है इसलिये शास्त्रविरोध आता है। इसका उत्तर यह है कि यहांपर शब्दनयका वास्तविक विषय क्या है ? इस तत्त्वपर विचार किया गया है। यदि इस तत्त्व विचारसे किसी प्रकारका विरोध जान पडे तो हो, उसकी कोई चिंता नहीं। क्योंकि जो पुरुष ज्ञानवान हैं वे व्यवहारका स्वरूप अच्छीतरह जानते हैं। किस नयका विषय क्या है ? वे अच्छीतरह व्यवहार कर सकते हैं इसलिये जिसनयका जो स्वरूप है वह उसी नयसे ठीक है।

विशेष—जिसप्रकार घट पट आदि पदार्थ भिन्न हैं उसीप्रकार जिन शब्दोंके लिंग संख्या आदि भिन्न हैं वे भी आपसमें भिन्न हैं इसलिये शब्दनयकी अपेक्षा जो शब्द भिन्नलिंगक आदि हैं उनका आपसमें संबंध नहीं हो सकता क्योंकि लिंग संख्या आदिके भेदसे वे पदार्थ भी भिन्न भिन्न हैं और अन्य पदार्थोंका अन्य पदार्थोंके साथ संबंध होता नहीं यह सिद्धांतसिद्ध बात है। यदि लिंग आदिके भेदसे भिन्न भी पदार्थोंका जबरन आपसमें संबंध मान लिया जायगा तब घट पट वा घट मठ आदिका भी संबंध युक्त कहना पडेगा फिर घट पट आदि भिन्न भिन्न पदार्थ भी एक मानने होंगे। इसलिये विभिन्न-

लिंगक वा विभिन्नसंख्यक आदि शब्दोंका लिंग आदिके भेदसे भेद होनेके कारण आपसमें संबंध सिद्ध नहीं हो सकता किंतु जो शब्द समानलिंगक जिसतरह 'घटः कुटः' और समानसंख्याक जिसतरह 'नक्षत्रं-ऋक्षं' आदि होंगे उन्हीका आपसमें संबंध हो सकता है यह शब्दनय वतलाता है। इसरीतिसे 'तारका स्वातिः' यहांपर लिंग भेद और नक्षत्रं पुनर्वसू इत्यादि स्थलोंपर वचन आदिके भेदोंसे परस्पर भिन्न होनेके कारण आपसमें संबंध नहीं हो सकता क्योंकि वहां लिंग आदिका व्यभिचार है इसीलिये उनका वैसा व्यवहृत होना शब्दनयकी अपेक्षा वास्तविक नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

तारका शब्दकी पर्याय स्वातिः और नक्षत्र शब्दकी पर्याय पुनर्वसू आदिका व्यवहार संसारमें मोजूद हैं फिर वहांपर शब्द नयकी अपेक्षा लिंग व्यभिचार आदि दोष नहीं माने जा सकते क्योंकि किसी भी सिद्धांतकारने वहांपर लिंग व्यभिचार आदि दोष स्वीकार कर उनका परिहार नहीं किया है इसलिये जबरन लिंग आदि व्यभिचार दोषोंको प्रकाशित करनेके लिये शब्दनयका मानना निरर्थक है ? सो नहीं। शब्द पदार्थपर व्याकरण शास्त्रकी सत्ता निर्भर है। यदि वैयाकरणोंको शब्दोपजीवी भी कह दिया जाय तो अयुक्त नहीं। जिन जिन व्यभिचार दोषोंका ऊपर उल्लेख किया गया है और उनका प्रकाश करनेवाला एवं रोकनेवाला शब्दनय वताया गया है, शब्दप्राण वैयाकरणोंने भी उन्हें व्यभिचार दोष मान उनका परिहार किया है परंतु वह उनका माना हुआ परिहार सदोष है। विना शब्दनयके माने लिंग व्यभिचार आदि दोषोंका परिहार हो नहीं सकता इसलिये शब्दनय मानना ही होगा। लिंग संख्या आदि संबंधी व्यभिचार दोषोंकी निवृत्तिके लिये वैयाकरणोंने क्या क्या परिहार दिये हैं और वे किसतरह सदोष हैं ? इसविषयमें हम श्लोकवार्तिकके वचन यहां उद्धृत करते हैं—

ये हि वैयाकरण(णाः) व्यवहारनयानुरोधेन "धातुसंबंधे प्रत्ययाः" इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेऽप्येकपदार्थमादृताः, यो विश्वं द्रक्ष्यति सोऽपि पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीतकालस्य भेदोऽभिमतः तथा व्यवहारदर्शनादिति। तत्र यः (तन्न श्रेयः) परीक्षाया मूलक्षतेः कालभेदेऽप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसंगात्। रावणशंखचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्तेः। आसीद्रावणो राजा शंखचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थतेति चेत् विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि माभूत्तत एव। नहि विश्वं दृष्टवानिति विश्वदृशित्वेतिशब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकालः, पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात्। अतीतकालस्याप्यनागतत्वा(त्व)व्यपरोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत् तर्हि न परमार्थतः कालभेदेऽप्यभिन्नार्थव्यवस्था।

तथा करोति क्रियते इतिकारकयोःकर्तृकर्मणोर्भेदेऽप्यभिन्नमर्थंत एवाद्रियते। स एव करोति किंचित् स एव क्रियते केनचिदिति प्रतीतेरिति तदपि न श्रेयः परीक्षायां। देवदत्तः कटं करोतीत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसंगात्।

तथा पुष्यं तारकेत्यव्यक्तिभेदेऽपि न कृतार्थमेकमाद्रियते। लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति। तदपि न श्रेयः। पटः कुटीत्यत्रापि पटकुट्योरेकत्वप्रसंगात्, तल्लिंगभेदाविशेषात्। तथापोऽम्भ इत्यत्र संख्याभेदेऽप्येकमर्थंजलाख्यमादृता संख्याभेदस्योद्भेदकत्वाद् गुर्वादिवादिति। तदपि न श्रेयः परीक्षायां घटस्तंतव इत्यत्रापि तथाभावानुषंगात् संख्याभेदाविशेषात्।

एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता इति साधनभेदेऽपि पदार्थमभिन्नमादृताः। 'प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च' इति वचनात्। तदपि न श्रेयः परीक्षायां। अहं पचामि त्वं पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेऽप्येकार्थत्वप्रसंगात्।

तथा संतिष्ठते अवतिष्ठते इत्यत्रोपसर्गभेदेऽप्यभिन्नमर्थमाहृता उपसर्गस्य धातुमात्रद्योतकत्वादिति। तदपि न श्रेयः। तिष्ठति प्रतिष्ठते इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसंगात् ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थोऽन्यथातिप्रसंगादिति शब्दनयः प्रकाशयति।

धात्वर्थसंबंधी प्रत्यय जिस कालमें कहे गए हैं उनसे भिन्न कालमें भी होते हैं ऐसे अर्थवाले सूत्रका निर्माणकर 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता, भाविकृत्यमासीत्' यहांपर जो भविष्यत कालके कार्यको भूतकाल में माननेसे कालका भेद रहनेपर भी भविष्यत् और अतीत कालको वैयाकरण एक मानते हैं और दोनों कालोंके अभेद माननेमें यह हेतु देते हैं कि संसारमें वैसा व्यवहार होता है। परंतु उनका व्यवहारके आधीन दोनों कालोंका अभेद मानना युक्त नहीं। क्योंकि यदि कालोंके स्पष्टरूपसे भेद रहनेपर भी पदार्थोंको एक मान लिया जायगा तो रावण तो भूतकालमें हो चुका, शंख चक्रवर्ती आगे होनेवाला है, यहांपर भी भविष्यत् और भूत दोनों कालोंका भेद है इसलिये यहां पर भी रावण और शंख दोनों पदार्थोंको एक मान लेना चाहिये। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'आसीद्रावणो राजा' रावण हो चुका, 'शंख-चक्रवर्ती भविष्यति' शंखचक्रवर्ती आगे होगा यहांपर रावण और शंख शब्द भिन्न भिन्न विषयवाले होनेसे एक नहीं हो सकते इसलिये रावण और शंखका एक मानना बाधित है। सो ठीक नहीं। 'विश्वदृश्वा' यहां पर दृश्वा शब्दका अर्थ अतीतकाल है और 'जनिता' शब्दका अर्थ भविष्यत्काल है। दोनों ही शब्दोंका आपसमें भिन्न भिन्न अर्थ है इसलिये भविष्यत्कालमें होनेवाला पुत्र अतीतकालमें 'हुआ' नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि अतीतकालमें भविष्यतकालका आरोपकर दोनोंको एक मानकर भविष्यत्कालमें होनेवाला पुत्ररूप कार्य अतीतकालमें हुआ माना जा सकता है

इसलिये दोनों कालोंके एक होनेपर उन दोनोंका कार्य भी एक हो सकता है तो उसका उत्तर यह है कि उपचारसे कालका अभेद मानकर भविष्यतकालके कार्यको भूतकालका कार्य मान भी लिया जाय तब भी वह वास्तविक रूपसे एक नहीं माना जा सकता, औपचारिक ही रहेगा इसरीतिसे वैयाकरण लोगोंने व्यवहाररूप हेतु प्रदर्शनकर जो 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनितेत्यादि' यहांपर भूत भविष्यत् दोनों कालोंको एक मानकर भविष्यतकालके कार्यका भूतकालमें होना वास्तविक बतलाया था और व्यभिचारका परिहार किया था वह असंगत सिद्ध हो गया इसलिये शब्द नयकी अपेक्षा कालभेदसे पदार्थोंका भी भेद होनेके कारण वहां आपसमें संबंध होना बाधित है। तथा—

'करोति' यह कर्तामें प्रत्यय है और 'क्रियते' यह कर्ममें प्रत्यय है यहांपर कर्ता और कर्म कारकका भेद है परंतु वैयाकरणोंका यह कहना है कि "स एव करोति किंचित्, स एव क्रियते केनाचित्" वही कुछ करता है और वही किसीके द्वारा किया जाता है ऐसी संसारमें प्रतीति होती है इसलिये कर्ता कर्म दोनों एक ही हैं। आपसमें एक दूसरेकी पर्याय हो सकते हैं एवं कारक व्यभिचार दोष नष्ट हो जाता है। वह भी अयुक्त है। यदि कर्ता और कर्मका अभेद मान लिया जायगा 'देवदत्तः कटं करोति' देवदत्त चटाई बनाता है यहांपर भी कर्ता देवदत्त और कर्म चटाईको एक मानना पडेगा इसलिये उपर्युक्त प्रतीतिसे कर्ता कर्मको एक मानकर कारक व्यभिचार दोषका परिहार करना वैयाकरणोंका बाधित और अयुक्त है। तथा—

'पुष्यं तारका' यहांपर यद्यपि पदार्थमें भेद नहीं क्योंकि पुष्य नक्षत्र तारकाओंसे जुदा नहीं परंतु पुष्य शब्द नपुंसकलिंग है और तारका शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये लिंगके भेदसे आपसमें दोनों शब्दों

को भी भिन्न होनेके कारण उनका आपसमें संबंध नहीं हो सकता इसलिये वहांपर लिंगव्यभिचार युक्त है। यदि इस लिंगव्यभिचारके परिहारकेलिये वैयाकरण यह कहैं कि लिंगके भेदसे दो अभिन्न पदार्थों का भेद मानना निरर्थक है क्योंकि लोकव्यवहारसे लिंगभेद पदार्थोंका भेदक नहीं होता इसलिये 'पुष्यं तारका' यहांपर दोनों शब्दोंका संबंध होनेसे लिंगव्यभिचार दूर हो जाता है। सो ठीक नहीं। यदि लिंगभेद होनेपर भी पदार्थ एक समझे जांयगे तो 'पटः कुटी' यहांपर पट और कुटीको भी एक कहना पडेगा क्योंकि पुष्य और तारकाके समान यहांपर भी लिंग भेद है एवं लिंग भेद रहते भी पुष्य और तारकाको जिसप्रकार एक माना जाता है उसीप्रकार पट और कुटीको भी एक मानना चाहिये। इसरीतिसे लिंग भेद रहते भी लोक व्यवहारसे दोनों पदार्थ एक हैं यह जो लिंगव्यभिचारकेलिये वैयाकरणोंका परिहार है वह ठीक नहीं। तथा—

'आपोऽम्भः' यहांपर अप् शब्द नित्य बहुवचनांत है और अंभः शब्द एक वचनांत है। वचनके भेदसे पदार्थोंका भी भेद हो जाता है इसलिये यहांपर संख्या व्यभिचार दोष है। परन्तु वैयाकरणोंका यहां मानना है कि जिसप्रकार गुरु आदि, पदार्थोंका भेद बतलानेवाले हैं, भेद करनेवाले नहीं उसीप्रकार संख्याभेद भी पदार्थोंके भेदका बतलानेवाला है करनेवाला नहीं इसलिये 'आपोऽम्भः' यहांपर संख्या-भेद रहते भी पदार्थोंका भेद न होनेसे आपसमें संबंध हो सकता है अतः अप् और जल दोनोंका अभेद होनेसे यहां संख्या व्यभिचार दोष दूर हो जाता है? सो भी ठीक नहीं। यदि संख्याके भेद रहते भी पदार्थ एक माने जांयगे तो घट संस्तव (?) (स्तवन) ये पदार्थ एक हो जांयगे क्योंकि 'आपोऽम्भः' के समान यहांपर भी संख्याभेद है एवं संख्याभेद रहते भी जिस तरह उन दोनों पदार्थोंको एक माना है ऐसा

इन्हें भी मानना पडेगा। इसलिये संख्या व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये दिया हुआ भी वैयाकरणोंका परिहार कार्यकारी नहीं। तथा—

'एहि मन्ये रथनेत्यादि' यहांपर ('मन्यसे' इस मध्यम पुरुषके स्थानपर 'मन्ये' यह उत्तमपुरुष अथवा) युष्मद् शब्दके (त्वं) प्रयोगके स्थानपर अस्मद् शब्दका (अहं) प्रयोग दिया है। तथा (उत्तम-पुरुष 'यास्यामि' 'एमि' की जगहपर मध्यमपुरुष 'यास्यसि' और एहि अथवा) अस्मद् शब्दके (अहं) प्रयोगकी जगह युष्मद् शब्दका (त्वं) प्रयोग किया है इसलिये यहां साधन व्यभिचार है क्योंकि एक पुरुषकी जगह दूसरा पुरुष कह देना वा युष्मद् शब्दके प्रयोगकी जगह अस्मद् शब्दका प्रयोग वा अस्मद् शब्दकी जगह युष्मद् शब्दका प्रयोग कर देना साधन व्यभिचार है यह ऊपर कह दिया गया है परन्तु वैयाकरण लोग 'प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च'[1] इस सूत्रानुसार युष्मद् और अस्मद् शब्दके प्रयोगोंको एक मानते हैं और इस तरह अभेद मानकर यहांपर साधन व्यभिचारका परिहार करते हैं। परन्तु उनका वैसा मानना ठीक नहीं क्योंकि साधनके भेद रहते भी यदि पदार्थोंको एक माना जायगा तो 'अहं पचामि त्वं पचासि' यहांपर भी युष्मद् अस्मद्रूप साधनोंका भेद है इसलिये यहांपर भी एक मानना पडेगा फिर भिन्न भिन्न रूपसे जो दो प्रयोग होते हैं वे न हो सकेंगे इसलिये साधन व्यभिचारके दूर करनेके लिये जो वैयाकरणोंने समाधान दिया है वह अयुक्त है। तथा संतिष्ठते की जगह पर अवतिष्ठते कहना उपग्रह व्यभिचार है परन्तु वैयाकरणोंका कहना है कि उपसर्ग केवल

१। प्रहासे मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ॥ १।४।१०७ ॥ जिस धातुका उपपद मन्य धातु हो और हंसी अर्थ गम्यमान हो तो उस प्रकृतिभूत धातुसे मध्यम और मन्य धातुसे उत्तम पुरुष होता है। पाणिनीय व्याकरण।

धातुके अर्थके द्योतन करनेवाले होते हैं भेद करनेवाले नहीं होते इसलिये उपसर्गोंके भेदके रहते भी अर्थ भिन्न नहीं होता, एक ही रहता है। परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं। क्योंकि यदि उपसर्ग पदार्थोंके अर्थका भेदक नहीं है—धातुका जो अर्थ है उसीका द्योतन करनेवाला है तो 'तिष्ठति' का अर्थ तो ठहरना होता है और 'प्रतिष्ठते' का अर्थ गमन करना होता है। यहांपर स्थिति और गति दोनों क्रियाओंका ऐक्य हो जाना चाहिये परन्तु वैसा हो नहीं सकता इसलिये उपग्रह व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये भी जो वैयाकरणोंने परिहार दिया है वह भी बाधित है। इस उपर्युक्त आलोचनासे यह वात सिद्ध हो चुकी कि लिंग आदिके भेदसे पदार्थ भिन्न हैं और उस भेदका प्रकाश करनेवाला शब्दनय है। इसप्रकार यह शब्दनयका वर्णन हो चुका। अब क्रमप्राप्त समभिरूढ नयका स्वरूप कहा जाता है—

नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः ॥ १० ॥

अनेक अर्थोंको छोडकर प्रधानतासे जो एक ही अर्थमें रूढ—प्रसिद्ध हो—उसी अर्थको विषय करने वाला हो वह समभिरूढ नय है। खुलासा तात्पर्य यह है कि—

जिसतरह तीसरा सूक्ष्मक्रिय नामका शुक्लध्यान अर्थ व्यंजन और योगोंकी पलटनके अभावसे अवीचार और अवीतर्क होनेसे सूक्ष्मकाय योगमें रहनेके कारण सूक्ष्मक्रिय है अर्थात् सूक्ष्मक्रिय ध्यान

१ उपसर्गेण धात्वर्थो वलादन्यः प्रतीयते। प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥ १ ॥

अर्थात् उपसर्गके बलसे जबरन धातुका अर्थ बदल जाता है जिस तरह एक ही हृ धातुका उपसर्ग बलसे प्रहार आहार आदि अनेक अर्थ हो जाते हैं। यदि उपसर्ग अर्थका भेदक न माना जायगा तो इस श्लोकसम्बन्धी सिद्धांतको मिथ्या कहना होगा।

का सूक्ष्मकाय योगमें रहना प्रसिद्ध है उसीप्रकार गोशब्दके यद्यपि वाणी पृथ्वी आदि अनेक अर्थ हैं तो भी दूसरे दूसरे अर्थोंका वाचक न होकर वह गाय शब्दमें ही रूढ है। समभिरूढ नय; रूढ पदार्थको ही विषय करता है इसालिये गो शब्दके केवल गाय ही अर्थको प्रकाशित करना यह समभिरूढ नयका विषय है। यहांपर यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि सोती उठती बैठती चलती किसी भी हालतमें-चाहे गाय हो वह सब अवस्थावाली गाय समभिरूढ नयका विषय है।

अथवा शब्दोंका जो प्रयोग किया जाता है वह अर्थ ज्ञानके लिये किया जाता है यदि वह अर्थ ज्ञान एक ही शब्दके प्रयोगसे सिद्ध हो जाय तो फिर दूसरे पर्याय शब्दका कहना व्यर्थ है। यदि यह कहा जाय कि एक अर्थके प्रतिपादन करनेवाले अनेक शब्द भी होते हैं इसलिये अर्थ एक ही रहता है परंतु शब्द भेद वहां रहत [illegible]उसका यह उत्तर है कि यदि शब्द भेद होगा तो अर्थभेद भी नियमसे होगा क्योंकि 'जितने शब्द भेद हैं उतने ही उनके अर्थ हैं' यह नियम है। जिसतरह यद्यपि इंद्र शक्र पुरंदर आदि शब्द एक ही शचीपति-इंद्र अर्थके कहनेवाले हैं तथापि परमैश्वर्यका भोक्ता होनेसे इंद्र, सामर्थ्यवान होनेसे शक्र और पुरविदारण करनेसे पुरंदर इसप्रकार उन भिन्न भिन्न शब्दोंके भिन्न भिन्न अर्थ हैं। इसरीतिसे पर्यायोंके अनुसार इंद्र शब्दके अनेक अर्थ रहते भी वह रूढ इंद्र (शचीपति) अर्थमें ही है और इस रूढ अर्थको ही समभिरूढ नय विषय करता है। यहांपर यह बात समझ लेनी चाहिये कि चाहें इंद्र परमैश्वर्यका भोग करे या न करे किसी भी हालतमें हो तब भी वह समभिरूढ नयका विषय है।

१ जित्तियमित्ता सद्दा त्तित्तियमित्ताणि होंति परमत्था:। यावन्मात्रा: शब्दा: तावन्मात्रा: परमार्था भवंति।

अथवा—जो पदार्थ जहां सर्वथा मौजूद है वहींपर प्रधानतासे रहनेके कारण समभिरूढ कहा जाता है। जिसतरह किसीने पूछा कि—भाई! तुम कहां रहते हो? उत्तर मिला—हम अपनी आत्मामें निवास करते हैं। क्योंकि प्रधानतासे आत्माका रहना आत्मामें ही है दूसरे पदार्थोंमें उसका रहना नहीं हो सकता यदि अन्य पदार्थका अन्य पदार्थमें भी रहना माना जायगा तो ज्ञान आदि वा रूप आदि गुणोंका रहना भी आकाशमें मानना पडेगा इसलिये अन्य पदार्थका अन्य पदार्थमें रहना नहीं हो सकता। अपना अपनेमें ही रहना हो सकता है। इसरीतिसे प्रधानतासे आत्माका रहना आत्मामें ही रूढ है इसलिये दूसरे दूसरे पदार्थोंको छोडकर प्रधानतासे एक पदार्थ—अपनेमें, ही रहनेके कारण आत्मा समभिरूढ नयका विषय है। एवंभूतनयका लक्षण—

येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीत्येवंभूतः॥ ११॥

जो पदार्थ जिस स्वरूप अर्थात् अर्थ क्रियासे जिससमय परिणत हो उसका उसीस्वरूप अर्थक्रिया परिणामसे निश्चय करना एवंभूत नयका विषय है। जिसतरह इंद्र शब्दका अर्थ परमेश्वर है जिससमय वह परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो उसीसमय उसको इंद्रकहना यह एवंभूतनयका विषय है किंतु जिसका केवल नाममात्र इंद्र है वा जहांपर किसी पदार्थमें इंद्रकी स्थापना है वा जो इससमय इंद्र नहीं आगे जाकर इंद्र होनेवाला है वह समभिरूढ नयका विषय नहीं क्योंकि उपर्युक्त तीनों अवस्थाओंमें परमैश्वर्य का भोग नहीं हो रहा है। इसीप्रकार अन्य शब्दोंमें भी जिस जिस क्षणमें उनकी जिस जिस अर्थ क्रिया का परिणमन हो रहा है उस उस क्षणके उस उस परिणमनकी अपेक्षा एवंभूतनयकी योजना कर लेनी चाहिये यदि अर्थक्रियाकी परिणतिका दूसरा दूसरा काल होगा तो वे एवंभूतनयके विषय नहीं हो सकते।

अथवा—आत्मशब्दका अर्थ स्वरूप भी है इसलिये जिस शब्दका अर्थ जिस स्वरूपसे हो उसका उसी रूपसे होनेका निश्चयकरना एवंभूतनयका विषय है। जिसतरह 'गच्छतीति गौः' जो गमन करै उसका नाम गाय है यह गोशब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है। यहांपर जिसतरह जिस मनुष्यके हाथमें दंड हो उसे ही दंडी कहना किंतु पूर्व और उत्तर कालमें उसके हाथमें दंड न रहनेसे दंडी न कहना उसीतरह जिससमय गाय गमन कर रही हो उसीसमय उसे गाय कहना और पूर्व और उत्तर कालमें जब कि वह खडी वा सो रही है उससमय गमन न करनेके कारण गाय न कहना एवंभूतनयका विषय है। इसी प्रकार और शब्दोंमें भी समझ लेना चाहिये।

अथवा—आत्मशब्दका अर्थ ज्ञान है इसलिये आत्मा जिस क्षणमें जिस पदार्थके ज्ञानसे युक्त हो उसे वही कहना एवंभूतनयका विषय है। जिसतरह जिसक्षणमें आत्मा इंद्र पदार्थके ज्ञानसे परिणत हो रहा है उसे इंद्र कहदेना अथवा जिससमय अग्नि पदार्थके ज्ञानसे परिणत हो रहा है उसे अग्नि कह देना यह एवंभूतनयका विषय है। यहांपर 'एवंभूयत इति' 'ऐसा होना' इस एवंभूतनयके अर्थकी प्रतीति शब्दसे होती है इसलिये शब्द ही एवंभूतनय माना है कारणमें कार्यका उपचार है अर्थात् एवंभूतनय के अर्थकी प्रतीतिमें कारण शब्द है और कार्य एवंभूतनय है। शंका—

१। समभिरूढ और एवंभूत नयके जो उदाहरण दिये गये हैं उन्हें बहुतसे लोग समान सरीखे जानकर यह शंका कर बैठते हैं कि इन दोनों नयोंमें क्या भेद है। इसलिये यहां उनका स्पष्टीकरण कर देते हैं—

व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ क्या है इस बातका कुछ भी विचार न कर प्रसिद्ध अर्थका जान लेना समभिरूढनयका विषय है जिस तरह गोशब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'जो गमन करे उसका नाम गाय है' यह है इसका तो विचार न करना किंतु उसके वाणी पृथ्वी आदि

दाहकत्वाद्यतिप्रसंग इति चेत्तदव्यतिरेकादतिप्रसंग इति ॥ १२ ॥

यदि अग्निज्ञानसे परिणत आत्माको एवंभूत नयकी अपेक्षा अग्नि कहा जायगा तो जलाना पकाना आदि जितने धर्म अग्निमें हैं वे सब आत्मामें भी मानने पडेंगे इसलिये आत्मा अग्नि नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं । नाम स्थापना आदि जिस स्वरूपसे कहे जाते हैं वे उससे अभिन्न रहते हैं और जिस पदार्थके जो जो धर्म होते हैं वे नियमितरूपसे उसीमें रहते हैं । आत्माका जो अग्नि नाम है उसका आत्माके साथ अभेद है परंतु अग्निके जो जलाना पकाना आदि धर्म हैं वे अग्निमें ही रहते हैं आत्मामें नहीं हो सकते इसलिये नोआगमभाव अर्थात् साक्षात् अग्निमें रहनेवाला दाहकपना आगमभाव अर्थात् औपचारिक अग्निमें नहीं हो सकता । इसरीतिसे यदि आत्माका नाम अग्नि माना जायगा तो अग्निके दाहकत्व आदि धर्म आत्मामें मानने पडेंगे यह जो ऊपर शंका की गई थी वह निर्मूल सिद्ध हो चुकी ।

अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध अर्थ 'गाय' लेना और सब अर्थोंको छोड देना तथा उस गायको सोती उठती वैठती चलती सभी अवस्थाओंमें गाय कहना यह समभिरूढ नयका विषय है । इसी तरह इन्द्र शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ परमैश्वर्यका भोगना है इसका तो विचार न करना किंतु शक्तिमान होना, पुरोंका विदारण करना आदि अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध अर्थ परमैश्वर्यका भोगना ही लेना और अर्थ छोड देना एवं उस इन्द्रको परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो, वा न कर रहा हो सभी अवस्थाओंमें इन्द्र कहना यह समभिरूढनयका विषय है इसी तरह और भी उदाहरण समझ लेना चाहिये । परंतु—

जहां पर केवल व्युत्पत्तिसिद्ध ही अर्थ विषय हो वह एवंभूत नय है जिस तरह गमन करनेवालीको ही गाय कहना खडी रहनेवाली वा सोनेवालीको न कहना वा जिस समय इन्द्र परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो उसी समय इन्द्र कहना अन्य समय इन्द्र न कहना यह एवंभूत नयका विषय है । २ आगम नो आगमका अर्थ नामस्थापनेत्यादि सूत्रमें लिख आये हैं ।

नैगमके बाद संग्रह, संग्रहके बाद व्यवहार इस रूपसे जो नयोंका क्रम है उस क्रमके होनेमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयता एवं पूर्व पूर्व नय कारण और उत्तर उत्तर नय कार्य इसप्रकार कार्य कारणभाव कारण है। इन दोनों कारणोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयतारूप कारण इसप्रकार है—

नैगमनयका जैसा सत्पदार्थमें संकल्प है वैसा ही असत्पदार्थमें संकल्प है इसलिये सत् असत् दोनों प्रकारके पदार्थोंमें संकल्पको विषय करनेके कारण सबसे अधिक विषय नैगमनयका है। संग्रहनयका अभेदस्वरूप सत्–द्रव्यत्व आदि ही विषय है असत् नहीं है इसलिये नैगमनयकी अपेक्षा संग्रह नयका विषय अल्प है। व्यवहार नय अभेदको विषय न कर सत् द्रव्य आदिके भेदोंको विषय करता है इसलिये संग्रह नयकी अपेक्षा व्यवहारनयका अल्प विषय है। भेदोंमें भी व्यवहार तो त्रिकालवर्ती भेदोंको विषय करता है परंतु ऋजुसूत्रनय शुद्ध वर्तमानकालीन भेदको ही विषय करता है इसलिये व्यवहारकी अपेक्षा ऋजुसूत्रनयका अल्पविषय है। ऋजुसूत्रनय लिंग संख्या आदिका भेद न कर वर्तमान पर्यायको विषय करता है परंतु शब्दनय उस एक पर्यायमें भी लिंग संख्या आदिके भेदसे अर्थका भेद प्रकाशन करता है इसलिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा शब्दनयका अल्पविषय है। अर्थात् ऋजुसूत्रनय अर्थ पर्याय और शब्द पर्याय सभीको विषय करता है परंतु शब्दनय केवल शब्द पर्यायको ही विषय करता है। इसलिये ऋजुसूत्र महाविषय और शब्दनय स्वल्पविषय है। शब्दनय लिंग संख्या आदिके भेदसे ही अर्थ भेद मानता है, पर्याय भेदसे अर्थभेद नहीं मानता परंतु समभिरूढ नय भिन्न भिन्न पर्यायोंके भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं यह द्योतन करता है इसलिये पर्यायके भेदसे अर्थका भेद मानना समभिरूढ नयका विषय होनेसे शब्दनयकी अपेक्षा समभिरूढ अल्पविषय है अर्थात् शब्दनय नाना शब्दोंके अर्थको ग्रहण करता है परंतु समभिरूढ

नय किसी नियत अर्थको ही द्योतन करता है। समभिरूढनय सोना उठना बैठना आदि अनेक क्रियायुक्त पदार्थको भी द्योतित करता है परंतु एवंभूतनय जिस कालमें जो अर्थ क्रिया हो रही है उसीकी अपेक्षा उस पदार्थको द्योतित करता है इसलिये समभिरूढनयकी अपेक्षा एवंभूतनय अल्पविषय है। तथा कार्य कारणता इसप्रकार है—

नैगमनयके विषयमें ही संग्रहनयकी प्रवृत्ति है इसलिये नैगमनय कारण और संग्रहनय कार्य है। संग्रहनयके विषयमें व्यवहारकी प्रवृत्ति है इसलिये संग्रहनय कारण और व्यवहारनय कार्य है इसीतरह आगे भी पहिला पहिला नय कारण और उत्तर उत्तर नय कार्य समझ लेना चाहिये इसप्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और आपसमें कार्य कारणता रहनेसे नैगमके बाद संग्रह, संग्रहके बाद व्यवहार इत्यादि क्रम माना गया है। ये सभी नय पूर्व पूर्व महाविरुद्धविषयवाले हैं और उत्तरोत्तर अनुकूल विषयवाले हैं क्योंकि पहिले नयने जितने पदार्थको विषय कर रक्खा है उसको आगेका नय विषय नहीं करता इसलिये पहिला नय विरुद्ध महा विषयवाला है तथा आगेके नयका जो विषय है वह पहिलेके नयमें गर्भित है इसलिये आगेका नय पहिले नयके अनुकूल अल्पविषयवाला है इसप्रकार पूर्व पूर्व महा विरुद्ध विषयवाले एवं

१ यहा पर यह दृष्टांत समझ लेना चाहिये कि किसी नगरमें पक्षी बोलता था उसका बोलना सुन एकने कहा इस नगरमें पक्षी बोलता है। दूसरेने कहा इस नगरमें एक वृक्ष है उस पर पक्षी बोलता है। तीसरेने कहा वृक्षकी बडी डालो पर पक्षी बोलता है। चौथेने कहा छोटी डाली पर बैठ कर बोलता है। पांचवेने कहा डालीके एक देश पर बैठ कर बोलता है। छठेने कहा पक्षी अपने शरीरमें बोलता है। सातवेंने कहा वह अपने कंठमें बोलता है इत्यादि यहां पर जिस प्रकार पक्षीके बोलनेका स्थान पहिले बहुत बडा बतला कर पीछे क्रम क्रमसे अल्प बतलाया गया है उसी प्रकार पहिले नैगम नयका विषय बहुत बतलाया है। फिर क्रम क्रमसे अल्प बतलाया गया है इसलिये नैगम आदि नयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयता है।

उत्तरोत्तर अनुकूल विषयके धारक नय अनंत शक्तिस्वरूप द्रव्यकी प्रतिशक्तिकी अपेक्षा भिन्न होते जाते हैं इसलिये नयोंके बहुतसे भेद हैं।

इसप्रकार जिसतरह आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा करनेवाले तंतू जिस समय बुन जाते हैं उस समय उनकी पट आदि संज्ञा हो जाती है और पुरुषोंके शीतनिवारण आदि प्रयोजनीय कार्योंके सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं किंतु वे ही जब जुदे जुदे रहते हैं उससमय किसी भी प्रयोजनीय कार्यको सिद्ध नहीं कर सकते उसीप्रकार परस्पर[1] सापेक्ष—आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले और कहीं गौण तो कहीं प्रधानरूपसे विवक्षित ही नय सम्यग्दर्शनके कारण हैं। यदि वे परस्पर सापेक्ष न होंगे तो कभी सम्यग्दर्शनके कारण नहीं हो सकते। शंका—

निरपेक्ष तंतू शीतानिवारण आदि किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करते यह कहना ठीक नहीं क्योंकि कोई कोई तंतू चर्मकी—शरीरके अंशकी रक्षा करनेवाला तथा, एक वक्कलका तंतू वजनके बांधनेमें समर्थ देखा गया है परन्तु नय जब निरपेक्ष होते हैं उस समय इनसे कोई भी अर्थक्रिया सिद्ध नहीं होती इस लिये ऊपर जो तंतुओंका दृष्टांत दिया गया है वह विषम है? सो ठीक नहीं। निरपेक्ष तंतू पट आदि कार्यरूप होनेमें समर्थ नहीं हो सकते हमारा यह कहना है किंतु वादीने जो चर्म रक्षा करना वा किसी किसी वक्कलके तंतुओंसे बजनका बांधा जाना कार्य बतलाया है वह पट आदिका कार्य नहीं। वह केवल तंतूमात्रका कार्य है इसलिये हमारे कथनका ठीक तात्पर्य न समझ विषम उदाहरण कहनेका वृथा वादी

१ निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ १०८ ॥ देवागम स्तोत्र अर्थात् परस्पर निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और परस्पर सापेक्ष कार्यकारी हैं। हे भगवन्! आपके मतमें—जिन मतमें सापेक्ष नय ही कार्यकारी वस्तु है।

ने उपालंभ दिया है। वास्तवमें तो जो वादीने केवल तंतुओंका कार्य बतलाया है वह अपने (तंतु) अवयवोंकी अपेक्षा न कर प्रत्येक तंतू भी उक्त कार्यके करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये परस्पर निरपेक्ष रहनेपर कोई भी कार्य नहीं हो सकता यह हमारा कहना कभी बाधित नहीं हो सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

निरपेक्ष तंतुओंमें शक्तिकी अपेक्षा पट आदि कार्य करनेकी सामर्थ्य है इसलिये निरपेक्ष तंतु पट आदि कार्यस्वरूप कहे जा सकते हैं ? इसका समाधान यह है कि निरपेक्ष नयोंका नाम और उनका भिन्न भिन्न ज्ञान भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें कारणरूप शक्ति रखता ही है। इसलिये निरपेक्ष भी नय सम्यग्दर्शनके कारण बन सकते हैं इस रीतिसे दृष्टांत और दार्ष्टांत दोनोंमें समानता रहनेसे तंतुओंको उदाहरणको विषम उदाहरण बतलाना असंगत है।

विशेष—सब नयोंके मूलभेद निश्चय और व्यवहार दो हैं निश्चयनयका अभेद विषय है और व्यवहारका भेद विषय है। इन दो ही भेदोंके और सब भेद हैं। निश्चयनयका अर्थ वास्तविक है वस्तुका वास्तविक स्वरूप है वह द्रव्य और पर्याय दो भेदोंमें विभक्त हैं इसलिये निश्चयनयकी सिद्धि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके आधीन मानी है अतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय सत्यार्थनय हैं। जो नय द्रव्यको विषय करती हैं वे द्रव्यार्थिक और जो पर्यायको विषय करती हैं वे पर्यायार्थिक हैं। नैगम संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्यको विषय करनेवाली हैं इसलिये द्रव्यार्थिक हैं और ऋजु सूत्र आदि चार नय पर्यायोंको विषय करती हैं इसलिये पर्यायार्थिक हैं इस रीतिसे ये सातों नय द्रव्या-

१। णिच्छयववहारणया मूलं भेया णयाण सव्वाणं। णिच्छयसाहणहेओ दव्वय पज्जच्छिया मुणह ॥ १ ॥

र्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके ही भेद हैं। इन्हीं सातोंमें आदिकी चार नय तो गुणोंको विषय करने से अर्थनय कहलाती हैं और अंतकी तीन नय शब्दको विषय करनेसे शब्दनय कहलाती हैं।

व्यवहार नय भेदोंको विषय करता है और उसके सद्भूत व्यवहार असद्भूत व्यवहार और उपचरितासद्भूत व्यवहारके भेदसे तीन भेद हैं जिस नयके द्वारा सत्–ठीक व्यवहार हो अर्थात् जिस वस्तुके जो गुण और पर्याय हैं वे उसीके कहे जांय परंतु भिन्नता से कहे जांय वह सद्भूत व्यवहार नय है। जिसके द्वारा असत् व्यवहार हो अर्थात् अन्यके गुण पर्याय अन्यके कहे जांय वह असद्भूत व्यवहारनय है और जिसके द्वारा औपचारिक असत् व्यवहार हो वह उपचरितासद्भूत व्यवहार नय है।

सद्भूत व्यवहारके–शुद्धसद्भूत व्यवहार और अशुद्धसद्भूत व्यवहारके भेदसे दो भेद हैं शुद्ध गुण और शुद्ध गुणीका भेद कहना जिसतरह जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं अथवा शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायीका भेद कहना जिसतरह सिद्धजीवकी सिद्धपर्याय है यह शुद्ध सद्भूत व्यवहार है एवं अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणीका भेद कहना जिसप्रकार जीवके मतिज्ञान आदि गुण हैं अथवा अशुद्धपर्याय और अशुद्ध पर्यायीका भेद कहना जिसतरह संसारी जीवकी देव आदि पर्याय हैं यह अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय है।

असद्भूतव्यवहार–स्वजात्यसद्भूतव्यवहार १ विजात्यसद्भूतव्यवहार २ और स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारके ३ भेदसे तीनप्रकारका है। जिसके द्वारा स्वजातिसंबंधी असत् व्यवहार होता हो वह स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय है जिसप्रकार परमाणु बहुप्रदेशी है। यहांपर बहुप्रदेशी पुद्गल द्रव्य परमाणु का सजातीय है परंतु परमाणु बहुप्रदेशी नहीं, वह एकप्रदेशी ही है इसलिये एकप्रदेशीकी जगह बहु-

प्रदेशी कहनेसे 'परमाणुको बहुप्रदेशी कहना' स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनयका विषय है। जिसनयके द्वारा विजातिसंबंधी असद्व्यवहार होता हो वह विजात्यसद्भूतव्यवहार है। जिसप्रकार मतिज्ञान मूर्तिक द्रव्यसे उत्पन्न हुआ है इसलिये मूर्तिक है। यहांपर विजातीय मूर्तिकके संबंधसे अमूर्तिक की जगह मूर्तिक कहनेसे मतिज्ञानको मूर्तिक बतलाना विजात्यसद्भूत व्यवहारनयका विषय है। एवं जिस नयके द्वारा स्वजाति विजाति संबंधी असत् व्यवहार हो वह स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहारनय है। जिस तरह ज्ञान ज्ञेयमें रहता है। यहांपर ज्ञेयसे जीव अजीव दोनों प्रकारके ज्ञेय पदार्थोंका ग्रहण है। उनमें जीव पदार्थ ज्ञानका सजातीय है और अजीव पदार्थ ज्ञानका विजातीय है दोनोंको ज्ञानका आधार कहना स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहारनयका विषय है।

उपचरितासद्भूतव्यवहारनयके भी स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार १ विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार २ और स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार ३ ये तीन भेद हैं। जिसनयके द्वारा स्वजातिसंबंधी आरोपित असत् व्यवहार हैं वह व्यवहार उपचरितासद्भूतव्यवहार है जिसप्रकार पुत्र स्त्री आदि मेरे हैं। यहांपर स्त्री पुत्र आत्माकी अपेक्षा स्वजातीय हो। उनको मेरा कहना स्वजातीय आरोपित असत् है इसलिये वह स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनयका विषय है। जिसके द्वारा विजातिसंबंधी आरोपित असत् व्यवहार हो वह विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय है जिसप्रकार वस्त्र आभरण आदि मेरे हैं। यहांपर वस्त्र आभरण आदि अचेतन पदार्थ आत्माके विजातीय हैं। उनको मेरा कहना विजातीय आरोपित असत् है इसलिये वह विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार नयका विषय है। एवं जिसनयके द्वारा स्वजाति विजाति दोनों संबंधी आरोपित असत् व्यवहार हो वह स्वजाति-

विजात्यसद्भूत व्यवहारनय है। जिसतरह देश राज्य किला आदि मेरे हैं। यहांपर देश आदिके कहने से उनमें रहनेवाले मनुष्य तिर्यंच आदि जीव और महल कुंवा आदि अजीव दोनों प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण है। उनमें मनुष्य आदि आत्माके स्वजातीय और महल कुवां आदि विजातीय हैं इसलिये देश आदि मेरे हैं इस स्थानपर स्वजातीय विजातीय दोनों प्रकारके पदार्थोंको मेरा कहना स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार निश्चय व्यवहार और उनके भेद द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक और नैगम आदि नयोंका संक्षेपरूपसे यहां कुछ वर्णन किया गया है विशेष श्लोकवार्तिक नयचक्र आलापपद्धति आदिसे समझ लेना चाहिये। निश्चयनयके कितने भेद हैं और वे क्यों हैं? तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके कितने भेद हैं। यह सब भी उपर्युक्त ग्रंथोंमें अच्छीतरह खुलासा किया गया है। नय सात ही क्यों हैं? श्लोकवार्तिककारने यह विषय बहुत ही स्पष्ट किया है और सप्तभंगीमार्गद्वारा नयोंके बहुतसे भेद बतलाये हैं विस्तारके भेदसे यहां नहीं लिखा गया है। असलमें किसी अभिप्राय विशेषको नय कहते हैं, जितने अभिप्राय हो सकते हैं उतने ही नय कहे जा सकते हैं इसलिये अभिप्रायोंके भेद अनंत होनेसे नयवाद भी अनंत हैं। वे स्थूलरूपसे परिणत किये जाते हैं इसलिये संख्याते नय हैं।

ज्ञान[1]दर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैवं लक्षणं। ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितं ॥ १ ॥

१। मुद्रित ग्रन्थोंमें 'ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणं' यह पाठ मिलता है परन्तु 'तत्त्वं' यह जुदा पद कहनेपर कुछ अर्थमें भी अपूर्वता नहीं आती दूसरे प्रथमाध्यायमें तत्त्व पदार्थका भी वर्णन किया गया है यदि यहांपर 'तत्त्वं' यह जुदा पद माना जाता है तो प्रथमाध्यायके वर्णनीय पदार्थोंके उल्लेखमें तत्त्व शब्दका उल्लेख छूट जाता है इसलिये 'तत्त्वनयानां' यह समस्त पाठ अच्छा

यहां पर पहिला अध्याय समाप्त होता है इसलिये उसमें वर्णन किए गये विषयोंका सामान्यरूपसे यहां स्मरण कराया गया है कि इस प्रथमाध्यायमें ज्ञान दर्शन तत्त्व और नयोंके स्वरूप वा लक्षणोंका वर्णन किया गया है और सन्निकर्ष आदिकी प्रमाणताके परिहारपूर्वक ज्ञानकी प्रमाणता बतलाई गई है।

जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुहव्(व्य)व्वनृपतिवरतनयः।
अनवद्यनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥ १ ॥

इसी ग्रंथके अन्य (श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक) भाषाटीकाकार पं० पन्नालालजी दूनीवालोंने इसपद्यकी संस्कृत टीका लिखी है उसे हम यहां उद्धृत किए देते हैं—

न कलंका अष्टादशदोषाविशेषा यस्य स अकलंकः, बृंहयति वर्धयति प्रजा इति ब्रह्मा। अकलंकश्चासौ ब्रह्मा च अकलंकब्रह्मा—श्रीऋषभदेवः। एतस्य ब्रह्मत्वं कर्मभूमिप्रयोगप्रदर्शकत्वेन बोध्यं, आदिब्रह्मा इति यावत्। स चिरं जीयात्। धर्मस्यानादिनिधनत्वेऽपि उपस्थितावसर्पिणीप्रारंभे प्रथमरत्नत्रयस्वरूपधारकत्वेन प्रवर्तकत्वेन च तदीयागतसंतानादस्माकं निजस्वरूपोपलब्धिदायकत्वेनासाधारणोपकारकर्तृत्वं विवक्षितं। अत एव चिरं जीयादिति पदस्य संगतिः। कथंभूतः स लघुहव्वनृपतिवरतनयः। अत्र हव्वशब्दः प्राकृतः स च कस्यचिन्नृपतिविशेषस्य वाची स तु द्वितीयार्थे ग्राह्यः। अत्र तु प्रकृतिभूतत्वात् हव्यशब्दग्रहः, तथा च लघुहव्यनृपतिवरतनय इति जातं। अस्यार्थः—हव्यशब्दस्य भोजनवाचकता। हु दानादानयोः इति धातुना निष्पन्नत्वात् "हव्यकव्ये दैवपैत्र्ये अन्ने" इति लिंगानु-

जान पडता है। यदि तत्त्वका अर्थ स्वरूप किया जाय तो जुदा पद रखनेसे भी कोई विरोध नहीं आता है। ज्ञान दर्शनके स्वरूपमें तत्त्वोंका स्वरूप गर्भित हो जाता है। इस दृष्टिसे 'तत्त्वं' भी ठीक हो सकता है।

शासनाच्च । तथा च लघु हव्यं यस्य स लघुहव्यः । अंतिमभोगभूमिजकल्पवृक्षोद्भवभोजनकर्तृत्वात् । भोजने लघुत्वं भवति अत्र लघुशब्दः सापेक्षः । कस्माल्लघुः ? इत्याकांक्षायां कर्मभूमिजमनुष्येभ्यः, स चासौ नृपतिः स च लघुहव्यनृपतिः, नाभिराजा इत्यर्थः । तस्य वरः पुत्रः, ऋषभः । पुनः कथंभूतः ? अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः, निखिलाश्च ते विद्वज्जनाश्च निखिलविद्वज्जना यद्वा विद्वांसो देवा विबुधपर्यायवाचकत्वात् । जनाः मनुष्याः, तैः, अनवरतं नुता प्रस्तुता विद्या केवलज्ञानं यस्य । यद्वा विद्वान् वित्-अवधिज्ञानं, विद्यते यस्य स विद्वान् सौधर्मेंद्रः, जनाः भरतादयः, तैः नुताः—आदरेण गृहीता विद्याः—हेयोपादेयोपदेशा यस्य सः । पुनः कथंभूतः ? प्रशस्तजनहृद्यः—प्रशस्ताः प्रशंसां प्राप्ताः सप्तविधर्धिप्राप्ताः गणेशा वृषभसेनादयो जनाः द्वादशसभानिवासिनः, तेषां हृदयार्थप्रकाशकत्वात् हृद्यः इत्यर्थः ।

द्वितीयार्थस्त्वयं—अकलंक एव ब्रह्मा, बृंहयति वर्धयति चारित्रं यद्वा बृंहयति सूत्रार्थमिति ब्रह्मा । अकलंकश्चासौ ब्रह्मा च अकलंकब्रह्मा, एतेन शास्त्रकर्ता स्वनाम प्रख्यापयति स चिरं जीयात् । पूर्ववदर्थः । कथंभूतः सः ? लघुहव्वनृपतिवरतनयः—हव्वनृपतेः कनिष्ठपुत्र इति (?) यावत् । पुनः कथंभूतः

१। आचार्यप्रवर अकलंकदेवके विषयमें जो भी कुछ इतिहास मिलता है उसकी बहुतसे बातें संदेहास्पद हैं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अकलंक निष्कलंक दो सहोदर भाई थे और उन दोनोंमें अकलंकदेव ज्येष्ठ थे इसलिये उक्त पद्यकी संस्कृतटीकासे जो अकलंकदेवको कनिष्ठ पुत्र बतलाया गया है वह सन्देहास्पद जान पडता है।

अकलंकदेवकी ऐतिहासिक सामग्रीमें उन्हें मन्त्रिपुत्र बतलाया गया है। किसी किसी प्रबल मन्त्रीको राजाकी पदवी रहती है इव्व भी कोई खास परिचय जान पडता है अन्यथा उसके पीछे लघु विशेषण व्यर्थ ही है। वर्तमानमें भी हुलकर महाराज, संधिया महाराज आदि प्रसिद्ध ही हैं इसलिये भगवान अकलंकदेवके मन्त्री भी पिताको 'लघुहव्वनृपति' कहनेमें कुछ आपत्ति नहीं जान पडती।

अनवद्यनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः—निखिलाः सकला विद्वज्जना निगमदर्शिनः, तैः, अनवरतं निरवच्छिन्नं नुता प्रस्तुता स्याद्वादविद्या यस्य सः; पुनः कथंभूतः प्रशस्तजनहृद्यः—प्रशस्ता जनाः सम्यग्दर्शनोपेता भव्याः, तेषां मनोहारी स्ववचनपीयूषेण संदेहादिहालाहलस्य निराकृतत्वात्।

इस श्लोकसे आशीर्वादात्मक नमस्कार किया गया है। इसके दो अर्थ हैं। उसमें एक अर्थसे भगवान ऋषभदेवको आशीर्वाद दिया गया है और दूसरे अर्थसे वार्तिककार श्रीअकलंकदेवको आशीर्वादका विधान है। पहिला अर्थ इस प्रकार है—

श्रीनाभिराजाके उत्कृष्ट पुत्र, सदा ही इंद्र आदिसे स्तुत, अवधिज्ञान वा केवल ज्ञानके स्वामी, गौतम आदि गणधर और भरत आदि भव्योंके प्यारे, दोषरहित आदि ब्रह्मा, श्रीऋषभदेव भगवान सदा जयवंत रहो। दूसरा अर्थ—लघु राजाके कनिष्ठ किंतु उत्कृष्ट पुत्र, सदा बडे बडे विद्वानोंसे स्तुत, स्याद्वाद विद्याके निधान, सम्यग्दर्शनके धारक, भव्य जनोंके प्यारे एवं सूत्रोंके अर्थको वृद्धिंगत करनेके कारण ब्रह्मा श्रीअकलंकदेव चिरकाल जयवंते प्रवर्तो।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकामें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार

(प्रथम खंड समाप्त)

अथ द्वितीयाध्यायः।

मोक्षशास्त्र ग्रंथमें मोक्षमार्गका निरूपण है उसके कारण सम्यग्दर्शन आदि हैं इसलिये मोक्षमार्गके निकट संबंधी होनेसे उनका इस ग्रंथमें वर्णन किया गया है। प्रथमाध्यायमें सम्यग्दर्शनादिके लक्षण उत्पत्ति और विषय संबंधका वर्णन कर दिया गया है। वहांपर सम्यग्दर्शनका लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' यह कहा जा चुका है और तत्त्वार्थ शब्दसे वहांपर जीव अजीव आदि पदार्थोंका ग्रहण किया गया है। अर्थात जीव आदि पदार्थोंका वास्तविक रूपसे श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। वहांपर यह शंका होती है कि जीव आदि पदार्थोंमें जब सबका श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा गया है तब उनमें प्रथमोद्दिष्ट जीव पदार्थका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन बतलाया गया है जीवका श्रद्धान किस स्वरूपसे करना चाहिये जिसके निश्चय ज्ञान, उपासना-आराधना आदिसे वह सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाय। इसकेलिये ग्रंथकार जीवका स्वरूप बतलाते हैं अर्थात् आत्माका स्वभाव बतलाते हैं और वही श्रद्धान करने योग्य है क्योंकि स्वभाव और आत्माका अभेद है इसलिये स्वभावके श्रद्धानसे निर्बाधरूपसे जीवका श्रद्धान हो जाता है। फिर वहांपर शंका होती है कि वह तत्त्व-आत्माका स्वभाव चीज क्या है? उसका सूत्र-कार समाधान देते हैं-औपशमिकक्षायिकावित्यादि। अथवा इससूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है-

प्रमाण और नयका वर्णन पहिले अध्यायमें कर दिया गया है वे प्रमाण और नय आदि प्रमेयोंके ज्ञान स्वरूप हैं क्योंकि उनसे जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है तथा प्रमेय शब्दका अर्थ-जीव अजीव

आदि पदार्थ है। उनमें प्रमेयोंकी आदिमें कहे गये जीव पदार्थका तत्त्व—स्वरूप क्या है? ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्व अर्थात् निज-भाव हैं सिवाय जीवके अन्य किसी भी पदार्थमें ये नहीं रहते। वार्तिककार प्रत्येकका लक्षण वतलाते हैं—

कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपंकवत् ॥ १ ॥

गदले जलमें फिटकडी आदि पदार्थोंके डालनेपर जिसप्रकार कीचड नीचे बैठ जाती है और गदलेपनके अभावसे जल स्वच्छ हो जाता है उसीप्रकार वाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके कारणोंसे सत्तामें रहकर भी जिससमय कर्मकी शक्ति उदयमें नहीं आती उससमयमें जो आत्माके अंदर विशुद्धि रहती है उस विशुद्धिका ही नाम उपशम है।

क्षयो निवृत्तिरात्यंतिकी ॥ २ ॥

फिटकीरी आदि पदार्थोंके डालनेसे कीचडके नीचे बैठ जानेपर जिससमय उस नितरे हुए जलको किसी दूसरे स्वच्छ वासनमें ले लिया जाता है उससमय वह जिसप्रकार अत्यंत स्वच्छ कहा जाता है क्योंकि उसमें फिरसे गदले होनेकी संभावना नहीं रहती उसीप्रकार तप आदि वाह्य और अभ्यंतर कारणोंके द्वारा कर्मोंके सर्वथा नाश होजाने पर आत्माके अंदर जो अत्यंत विशुद्धता प्रकट हो जाती है उस अत्यंत विशुद्धिका ही नाम क्षय है। जिन कर्मोंके सर्वथा नाश हो जानेपर यह क्षयरूप विशुद्धता प्रकट होती है फिर वे कर्म किसी हालतमें आत्माके साथ संबंध नहीं कर सकते।

उभयात्मको मिश्रः क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् ॥ ३ ॥

कोदों एक जातिका धान्यविशेष है वह मादक पदार्थ है जिससमय उसे जलसे धो दिया जाता है उससमय धोनेसे कुछ मद शक्तिके क्षीण हो जाने पर और कुछके तदवस्थ रहने पर जिसप्रकार कोदों पदार्थ मिश्र मद शक्तिका धारक कहा जाता है उसीप्रकार कर्मोंके क्षय करनेवाले कारणोंके उपस्थित रहनेपर कर्मकी कुछ शक्तिके नष्ट हो जानेपर और कुछके सत्तामें मौजूद रहनेपर एवं कुछके उदय रहनेपर जो आत्माकी 'दही गुडके समान' मिली हुई अवस्था होती है उस अवस्थाका नाम मिश्र है।

द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः ॥ ४ ॥

द्रव्य क्षेत्र काल आदि कारणोंसे कर्मके पाक होने पर जो फलकी प्राप्ति होना है उसका नाम उदय है।

द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः ॥ ५ ॥

जो भावद्रव्यके स्वरूपकी प्राप्ति करानेमें कारण हो और जिसमें कोई दूसरा निमित्त कारण न हो वह परिणाम कहा जाता है।

तत्प्रयोजनत्वाद् वृत्तिवचनं ॥ ६ ॥

औपशमिक आदि शब्दोंमें प्रयोजन अर्थमें ठञ् प्रत्ययका विधान है। इसलिये जहां पर कर्मोंका उपशम प्रयोजन हो वह औपशमिक भाव है। जहांपर क्षय प्रयोजन हो वह क्षायिक भाव है। जहां पर उदय प्रयोजन हो वह औदयिक और जहांपर परिणाम प्रयोजन हो वह पारिणामिक भाव है। यह औपशमिक आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति है। स्वतत्त्वं इस शब्दका अर्थ यह है—औपशमिक आदिक भाव जीवके असाधारण धर्म हैं। सिवाय जीवके अन्य किसीमें नहीं रहते। और स्वं तत्व स्वतत्त्वं यह उसका समास है। शंका—

व्यासेरौदयिकपारिणामिकगृहणमादाविति चेन्न भव्यजीवधर्मविशेष-
ख्यापनार्थत्वादादावौपशमिकादिभाववचनं ॥ ७ ॥

उक्त पांचो भावोंमें औदायिक और पारिणामिक भाव सर्वजीव–साधारण हैं–सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं इसलिये जहां जहां संसारी जीवत्व है वहां वहां औदायिक पारिणामिक भाव हैं इस व्याप्ति से जब सभी संसारी जीवोंके औदायिक और पारिणामिक भाव सदा मौजूद रहते हैं तब औपशमिक क्षायिकावित्यादि सूत्रमें पहिले इन्हीं दोनों भावोंके नामका उल्लेख करना चाहिये औपशमिक आदिका नहीं ? सो ठीक नहीं। मोक्षशास्त्रका बनाना आदि जो भी प्रयत्न हैं वह भव्य जीवोंको मोक्ष तत्वके प्रतिपादनके लिये हैं। औपशमिक आदि तीन भाव भव्यके सिवाय अभव्यके नहीं होते इसलिये औपशमिक आदि तीनों भाव 'भव्योंके ही होते हैं अभव्योंके नहीं यह प्रकट करनेके लिये सूत्रमें पहिले औपशमिकादिकका उल्लेख किया गया है।

तत्र चादावौपशमिकवचनं तदादित्वात्सम्यग्दर्शनस्य ॥ ८ ॥ अल्पत्वाच्च ॥ ९ ॥

सम्यग्दर्शन रूप पहिले औपशमिक भाव होता है पीछे क्षायोपशमिक और उसके वाद क्षायिक भाव होता है अर्थात् जो कर्म सम्यग्दर्शनके विरोधी हैं अनादि मिथ्यादृष्टिके पहिले उनकी उपशम अवस्था होती है पीछे क्षयोपशम और क्षय अवस्था होती है इसी क्रमकी अपेक्षा सूत्रमें औपशमिक भावका सबसे पहिले उल्लेख किया गया है। और भी यह वात है कि–

उपशम सम्यग्दर्शनका काल अंतर्मुहूर्त है। अंतर्मुहूर्तके समय असंख्यात हैं यदि हर एक समय निरवच्छिन्नरूपसे उपशम सम्यग्दृष्टि इकट्ठे किये जायं तो वे अंतर्मुहूर्त समयमें पल्यके असंख्यात भाग

प्रमाण ही हो सकते हैं अधिक नहीं परंतु क्षायिक और क्षायोपशामिक सम्यग्दृष्टि इनसे बहुत अधिक हैं इसलिये संचयकालकी अपेक्षा क्षायिक और क्षायोपशामिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा उपशम सम्यग्दृष्टि थोडे हैं तथा जो अल्प होता है उसका पहिले निपात होता है इसलिये औपशमिक आदिमें पहिले औपशमिक भावका उल्लेख किया गया है। तथा—

ततो विशुद्धिप्रकर्षयुक्तत्वात् क्षायिकः ॥ १० ॥ बहुत्वाच्च ॥ ११ ॥

मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वरूप सम्यग्दर्शनकी विरोधी इन तीनों प्रकृतियोंके सर्वथा नाशसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है इसलिये औपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्वकी विशुद्धता अधिक होनेसे औपशमिक सम्यक्त्वके वाद सूत्रमें क्षायिक सम्यक्त्वका उल्लेख रक्खा है और भी यह वात है कि—

औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि अधिक हैं क्योंकि यहां आवलीका असंख्यातवां भाग गुणकार माना है और असंख्यातवें भागके समय असंख्याते ही होते हैं इस नियमानुसार उस गुणकारके असंख्याते समय माने हैं। इस गुणकारसे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि गुणित हैं इसलिये आवलीके असंख्यातवे भाग गुणे होनेसे वे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंसे अधिक हैं। तथा क्षायिक सम्यक्त्वका संचयकाल तेतीससागर प्रमाण माना है और उसमें पहिले समयसे लेकर हर एक समयमें इकट्ठे होनेवाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि वहुतसे होते हैं इसलिये उस आवलीके असंख्यातवेंभाग गुणकार प्रमाण उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं इसरीतिसे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि अधिक होनेसे सूत्रमें औपशमिकके बाद क्षायिक शब्दका उल्लेख किया गया है।

तदसंख्येयगुणत्वात्तदनंतरं मिश्रवचनं ॥ १२ ॥

क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि भी असंख्येय गुणे माने हैं। यहांपर इतनी विशेषता है कि—क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंसे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि द्रव्यकी अपेक्षा असंख्येय गुणे हैं भावकी अपेक्षा नहीं क्योंकि विशुद्धिकी अधिकतासे क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व अनंतगुणा माना है इसलिये भावकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्येयगुणे नहीं माने जा सकते। तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका संचयकाल कुछ अधिक छ्यासठि सागर प्रमाण है और उसमें प्रथम समयसे आदि लेकर समय समय कालकी समाप्ति-पर्यंत इकट्ठे होनेवाले बहुतसे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होते रहते हैं इसलिये यहांपर भी आवलीके असंख्यातवे भागप्रमाण गुणकार माननेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि उस गुणकार प्रमाण हैं। इसप्रकार क्षायिककी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंके अधिक होनेसे सूत्रमें क्षायिकके बाद मिश्र शब्दका उल्लेख है।

विशेष—सार यह है कि सम्यग्दृष्टियोंमें सबसे थोडे औपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि उपशम सम्य-क्त्वका काल बहुत कम अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। उससे आवलीके असंख्याते भाग गुणे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वका काल कुछ अधिक तेतीससागर प्रमाण है। उससे भी अधिक क्षायोपश-मिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका काल कुछ अधिक छ्यासठि सागर प्रमाण है। जिसका विषय अल्प होता है उसका पहिले प्रयोग किया जाता है इस नियमानुसार औपशमिकका अल्प विषय होनेसे सबसे पहिले सूत्रमें उसका ग्रहण है उससे कुछ अधिक किंतु क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी

की अपेक्षा अल्पविषय क्षायिकसम्यक्त्व है इसलिये औपशमिकके बाद सूत्रमें क्षायिक शब्दका पाठ है। उसके बाद अधिक विषय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका पाठ रक्खा गया है।

तदनंतगुणत्वादंते द्व्यवचनं ॥ १३ ॥ तैरेव चात्मनः समधिगमात् ॥ १४ ॥ सर्वजीवतुल्यत्वाच्च ॥ १५ ॥

औदयिक और पारिणामिक भाव सर्व जीवोंके पाये जाते हैं इसलिये औपशमिक आदिकी अपेक्षा औदयिक और पारिणामिक अनंत गुणे होनेके कारण सबके अंतमें इन दोनोंका उल्लेख किया गया है। और भी यह बात है कि—

आत्मा पदार्थ अतींद्रिय है उसका ज्ञान मनुष्य तिर्यंच आदि औदयिक भावोंके द्वारा और चैतन्य जीवत्व आदि पारिणामिक भावोंके द्वारा होता है। यदि मनुष्य तिर्यंच वा चैतन्य जीवत्व आदि न हों तो आत्माका ज्ञान ही न हो सकेगा इसलिये सामान्यरूपसे आत्माके ज्ञापक होनेके कारण औदयिक और पारिणामिक भावोंका सबसे अंतमें उल्लेख किया गया है। तथा—

औदयिक और पारिणामिक दोनों भाव समस्त संसारी जीवोंके समान हैं इसलिये भव्य अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंके होनेके कारण सामान्य भाव होनेसे सब भावोंके अंतमें उनका उल्लेख किया गया है। शंका—

तत्त्वमिति वहुवचनप्रसंग इति चेन्न भावस्यैकत्वात् ॥ १६ ॥

औपशमिक क्षायिक आदि पांच भाव तत्व हैं यहांपर तत्व शब्द विशेष्य और औपशमिक आदि विशेषण हैं। यह प्रायः नियम है कि विशेषण और विशेष्य दोनोंके लिंग और वचन समान रहते हैं। यहांपर औपशमिक आदि विशेषण बहुत हैं इसलिये तत्व शब्द वहुवचनांत कहना चाहिये 'तत्त्वं' यह

एक वचनांत क्यों कहा गया? सो ठीक नहीं। औपशमिक आदि भले ही अनेक रहें परंतु जीव स्वभाव एक ही है तत्वका अर्थ भी स्वभाव ही है इसलिये 'तत्त्वं' यह एक वचनांत प्रयोग अयुक्त नहीं। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

फलभेदान्नानात्वमिति चेन्न स्वात्मभावभेदस्याविवक्षितत्वात्; गावो धनमिति यथा ॥ १७ ॥

प्रत्येकमभिसंबंधाच्च ॥ १८ ॥

जब कि औपशमिक आदि स्वभावके ही भेद हैं तब भेदोंके नानापनेसे स्वभाव भी नाना कहने पडेंगे इसलिये स्वभावपदार्थ एक नहीं कहा जा सकता और स्वभाव पदार्थके एक न होनेपर 'तत्त्वं' यह एक वचनांत प्रयोग असाधु है। सो भी ठीक नहीं 'गावो धनं' 'बहुतसी गायें धन हैं' यहांपर धि धातुसे 'यु' प्रत्यय करनेपर धन शब्दकी सिद्धि हुई है। और यहांपर धनस्वरूप गायोंके अनेक रहते भी धन के भेदकी विवक्षा नहीं मानी गई है उसीप्रकार स्वभावके भले ही औपशमिक आदि भेद रहें तो भी उनके भेदसे यहां स्वभावभेदकी विवक्षा नहीं इसलिये 'तत्वं' यह एक वचनांत प्रयोग अयुक्त नहीं। अर्थात् स्वभावोंके नाना भेद होनेपर भी उन सबोंमें जीव स्वभावपना एक है। और भी यह बात है कि—

तत्व शब्दका प्रत्येक औपशमिक आदिके साथ संबंध है अर्थात् जीवका औपशमिक भाव निज-तत्व है। क्षायिक भाव निज तत्व है। क्षायोपशमिकभाव निज तत्व है इत्यादि इसरीतिसे तत्वशब्दका जब प्रत्येकके साथ भिन्न भिन्न संबंध है तब 'तत्व' यह एक वचनांत प्रयोग अनुचित नहीं। शंका—

द्वंद्वनिर्देशो युक्त इति चेन्नोभयधर्मव्यतिरेकेणान्यभावप्रसंगात् ॥ १९ ॥

सूत्रकारने 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्वमौदायिकपारिणामिकौ च' ऐसा पढा

है परंतु उतने लंबे चोडे सूत्रकी जगहपर 'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिकाः' ऐसा सूत्र बनाना ठीक था। ऐसे सूत्रके बनानेमें दो जगह जो दो शब्द कहने पडे हैं वे भी न कहने पडते बडा भारी लाघव होता जो कि सूत्रकारोंके मतमें महान लाभ माना गया है इसलिये वैसा लम्बा चौडा सूत्र नहीं बनाना चाहिये सो ठीक नहीं। औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्चेत्यादि जैसा सूत्रकारने सूत्र पढा है उसमें चशब्दसे पहले कहे गये औपशमिक और क्षायिक भावोंका अनुकर्षण होता है और उससे औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था मिश्रभाव लिया जाता है किंतु अब वैसा सूत्र न कर यदि औपशमिकक्षायिकमिश्रेत्यादि द्वंद्वगर्भित सूत्र किया जायगा तो चशब्दके अभावमें औपशमिक और क्षायिकका अनुकर्षण न होने पर औपशमिक और क्षायिककी मिली हुई अवस्था तो मिश्रभाव कही नहीं जायगी किंतु उनसे भिन्न अन्य ही दो भावोंकी मिली हुई अवस्था मिश्र कही जायगी जो कि विरुद्ध है इसलिये द्वंदगर्भित सूत्र न कह कर जैसा सूत्रकारने सूत्र बनाया है वही ठीक है और उसमें चशब्दसे औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था ही मिश्रभावका अर्थ लिया जा सकता है अन्यका नहीं। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

क्षायोपशमिकग्रहणमिति चेन्न गौरवात् ॥ २० ॥

औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था ही मिश्रभावका अर्थ लिया जाय इस बातकी रक्षार्थ ही औपशमिकक्षायिकमिश्रेत्यादि द्वंद्वगर्भित सूत्र कहनेका निषेध किया जाता है परंतु यदि मिश्रकी जगह क्षायोपशमिक कह दिया जायगा तो उपर्युक्त आपत्ति नहीं हो सकती इसलिये मिश्र शब्दके स्थानपर क्षायोपशमिक शब्दका उल्लेखकर द्वंद्वगर्भित ही लघुसूत्र करना ठीक है किंतु सूत्रका-

। जो कहा है वैसे गुरुसूत्रके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो भी अयुक्त है। द्वंद्वगर्भित सूत्रके इ जानेपर दो चकारका तो लाघव अवश्य है परंतु मिश्रकी जगह क्षायोपशमिक कहनेपर चार अक्षर ोर बढ जाते हैं जो कि महा गौरव है इसलिये यह बात निश्चित हो चुकी कि सूत्रकारने जो बनाया वही ठीक है उसके स्थानपर अन्य सूत्रके बनानेमें दोष आते हैं।

मध्ये मिश्रवचनं क्रियते पूर्वोत्तरापेक्षार्थं ॥ २१ ॥

औपशमिक और क्षायिक यह युग्म और औदयिक एवं पारिणामिक यह युगल, इन दोनों युग- ोंके बीचमें मिश्रभाव पाठ रक्खा है ऐसा करनेसे इतना ही प्रयोजन समझ लेना चाहिये कि भव्यके ौपशमिक आदि पांचों भाव होते हैं अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व औपशमिक चारित्र, क्षायिक सम्य- त्व और क्षायिक चारित्र, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—दर्शन और ज्ञान, एवं क्षायोपशमिक चारित्र, औद- येक और पारिणामिक ये पांचो भाव भव्योंके ही होते हैं और अभव्योंके क्षायोपशमिक औदयिक ौर पारिणामिक ये तीन ही भाव होते हैं औपशमिक और क्षायिक ये दो भाव नहीं होते। क्षायोप- ामिक भावोंमें भी ज्ञान और दर्शन दो ही भाव हो सकते हैं ज्ञान दर्शनसे मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन ामझना चाहिये क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान आदि नहीं होते।

जीवस्येति वचनमन्यद्रव्यनिवृत्त्यर्थं ॥ २२ ॥

सूत्रमें जो जीवस्य यह पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि औपशमिक आदि सब भाव जीवके ही निज तत्व हैं। जीवसे भिन्न अन्य किसी पदार्थके नहीं। यदि जीवस्य यह पद न होता तो अन्यके भी वे स्वभाव कहे जाते। शंका—

स्वभावपरित्यागात्यागयोः शून्यतानिर्मोक्षप्रसंग इति चेन्नादेशवचनात् ॥ २३ ॥

औपशमिक आदि जो आत्माके स्वभाव बतलाये हैं उन्हें आत्मा छोड सकता है या नहीं। यदि यह कहा जायगा कि वे आत्मासे जुदे हो सकते हैं तब जिसप्रकार उष्णता अग्निका स्वभाव है यदि वह अग्निसे जुदा हो जायगा तो अग्निका अभाव होगा उसीप्रकार औपशमिक आदि भी जीवके निज भाव हैं यदि वे जीवसे जुदे हो जांयगे तो जीवका भी अभाव हो जायगा। जीवका ही क्यों यदि सब पदार्थोंके स्वभाव उनसे भिन्न हो जांयगे तो जगत् ही शून्य हो जायगा। कदाचित् यह कहा जायगा कि वे जीवसे जुदे नहीं होते तो फिर औपशमिक आदि भावोंके अंतर्गत क्रोध आदि भी भाव हैं इसलिये क्रोधादिस्वरूप भी सदा आत्मा मानना पडेगा फिर इसकी मोक्ष न हो सकेगी क्योंकि क्रोध आदि समस्त कर्मोंके नाशको मोक्ष माना है। सो ठीक नहीं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जीव अनादि पारिणामिक चैतन्य स्वरूप है इसलिये उस नयकी अपेक्षा तो औपशमिक आदि भाव उससे भिन्न हो नहीं सकते और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वह आदिमान–विनाशीक औदयिक आदि पर्यायस्वरूप है इसलिये इस नयकी अपेक्षा औपशमिक आदि भाव उससे जुदे हो सकते हैं। इसरीतिसे जीव कथंचित् (द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा) स्वस्वभावका अपरित्यागी है। कथंचित (पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा) त्यागी है। क्रमसे दोनों नयोंकी अपेक्षा करनेपर कथंचित् अत्यागी और त्यागी है। एक साथ दोनों नयोंकी अपेक्षा करनेपर कथंचित् अवक्तव्य है इत्यादि सातो भंग समझ लेना चाहिये। जो यह एकांत मानता है कि पदार्थका स्वभाव उससे सर्वथा जुदा हो जाता है अथवा वह उससे कभी भी जुदा नहीं होता उसके मतमें उपर्युक्त दोष लागू हो सकते हैं परंतु जैनसिद्धांत तो अनेकांत वादकी

प्रक्रिया पर निर्भर है—सर्वथा एकांतरूपसे कोई भी तत्त्व उनके अंदर नहीं माना गया इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। तथा—

अप्रतिज्ञानात् ॥ २४ ॥

यह हमने प्रतिज्ञा ही कहां की है कि स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागसे मोक्ष होती है किन्तु हमारा तो यह कहना है कि द्रव्य क्षेत्र आदि मोक्षके वाह्य कारण और प्रकर्षताको प्राप्त सम्यग्दर्शन आदि अंतरंग कारणोंकी मोजूदगीमें ज्ञानावरण दर्शनावरण आठ कर्मोंके परतंत्र आत्मासे जिस समय समस्त कर्मोंका सर्वथा वियोग हो जाता है उस समय उसकी मोक्ष होती है इसलिये स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागजन्य जो ऊपर दोष दिया गया है वह यहां लागू नहीं होता। तथा यह जो कहा गया है कि अग्निके उष्ण स्वभावके नष्ट हो जाने पर अग्निका अभाव हो जायगा शून्यता होगी सो भी कहना ठीक नहीं क्योंकि—उष्णता पुद्गलकी ही एक पर्याय है यदि उसका अभाव भी हो जाय तो भी सतरूपसे वा अचेतन रूपसे भस्मी रूप उसकी दूसरी पर्याय प्रगट हो जानेसे पुद्गलकी नास्ति नहीं हो सकती उसका तो अवस्थान रहेगा ही इस कारण शून्यता नहीं कहा जा सकती। तथा और भी यह बात है—

कर्मसंनिधाने तदभावे चोभयभावाविशेषोपलब्धेर्नेत्रवत् ॥ २५ ॥

नेत्रका स्वभाव रूपगुणका प्रत्यक्ष करना है जिस समय वह रूप गुणका साक्षात्कार नहीं करता उससमय उसका रूपोपलब्धि स्वभाव नहीं रहता परंतु स्वभावके परित्याग रहने पर भी नेत्रका अभाव नहीं कहा जा सकता तथा रूपका जानना नेत्रका स्वभाव है और वह रूपोपलब्धिरूप स्वभाव क्षायोपशमिक भाव है। जिससमय ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर केवली भगवानके केवलज्ञान

प्रगट हो जाता है उससमय मतिज्ञानके होनेकी योग्यता न रहनेसे भाव नेत्र स्वरूप रूपोपलब्धि स्वभावका अभाव हो जाता है किंतु वहां नेत्रके रूपोपलब्धि स्वभावके नष्ट हो जाने पर भी द्रव्य नेत्रका अवस्थान ही रहता है अभाव नहीं होता इस रीतिसे इन दोनों स्थानों पर जिसप्रकार रूपोपलब्धि रूप स्वभावके नष्ट हो जाने पर भी नेत्र इंद्रियका अभाव नहीं होता उसीप्रकार जिन औदयिक आदि भावोंकी उत्पत्ति कर्मजनित है उनका भले ही नाश हो जाय परंतु क्षायिक भावोंका कभी भी नाश नहीं होता किंतु उनकी प्रगटतासे और भी आत्मामें विशेषता उत्पन्न हो जाती है इस रीतिसे आत्माके क्षायिक भावोंके विद्यमान रहते जब उसका नाश बाधित है तब स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागसे आत्माके नाशकी शंका निर्मूल है ॥ १ ॥

जिन औपशमिक आदि भावोंका ऊपर नामोल्लेख किया गया है वे अखण्ड अखण्ड पदार्थ हैं कि उनके भेद भी हैं ? यदि कहा जायगा उनके भेद हैं तब बतलाना चाहिये किसके कितने भेद हैं ? इस-लिये सूत्रकार क्रमसे उनके भेदोंका उल्लेख करते हैं । सबसे पहिले औपशमिक आदि भावोंके भेदोंकी संख्या बतलाते हैं—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमं ॥ २ ॥

अर्थ—दो नौ अठारह इकीस और तीन ये उन पांचों भावोंके क्रमसे भेद हैं । अर्थात् औपशमिकके दो भेद हैं, क्षायिकके नौ, मिश्रके अठारह, औदायिकके इकीस और पारिणामिकके तीन भेद हैं । सूत्रके समास आदि पर वार्तिककार विचार करते हैं—

द्व्यादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ॥ १ ॥

सूत्रमें जो 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यह समस्त पद है वहां पर द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च, 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः' इस इतरेतर द्वंद्वके करनेके बाद, ते भेदा येषां ते 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यह बहुव्रीहि समास समझ लेना चाहिये। शंका—

जहांपर तुल्ययोग—समान योग होता है वहींपर इतरेतर योग नामका द्वंद्वसमास होता है भिन्न योग रहनेपर वह नहीं हो सकता। द्वौ च नव च इत्यादि जो ऊपर इतरेतरयोग द्वंद्व माना है वहां पर तुल्ययोग नहीं क्योंकि उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व समासांत पदमें द्वि आदि शब्द संख्येयप्रधान हैं और एकविंशति शब्द संख्यानप्रधान है अर्थात् द्वि आदि शब्द दो आदि संख्याविशिष्ट शब्दोंके कहनेवाले हैं और एकविंशति शब्द संख्यावाचक है इसलिये उपर्युक्त जो इतरेतर द्वंद्व माना है वह अयुक्त है ! सो ठीक नहीं। प्रधान भी कभी कभी किसी कारणसे गौण हो जाता है जिसतरह राजा प्रधान है परंतु किसी समय वह किसी अवश्यंभावी कारणसे मंत्री बन जाता है और मंत्रीके कार्यकी फल प्राप्ति होनेपर वह अपने को प्रधान मानता है इसी प्रकार यद्यपि द्वि आदि शब्द संख्येयप्रधान हैं तो भी किसी बलवान कारणके उपस्थित हो जानेपर वे भी संख्यानप्रधान अर्थात् संख्यावाचक मान लिये जाते हैं इसलिये जब कारण विशेषसे संख्याविशिष्ट शब्दोंके वाचक भी द्वि आदि शब्द संख्यावाचक मान लिये जाते हैं तब यहां पर सभी संख्यावाचक शब्द होनेसे तुल्ययोग हो गया फिर उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व समास अयुक्त नहीं कहा जा सकता। परंतु—

संख्येयप्रधान द्वि आदि शब्दोंका संख्यानप्रधान बतलाना यह सब तर्कके बलपर है व्याकरणका सिद्धांत ऐसा नहीं क्योंकि व्याकरणका यह वचन है कि—एकादयः प्राग्विंशतेः संख्येयप्रधाना विंशत्या-

दयस्तु कदाचित्संख्यानप्रधानाः कदाचित्संख्येयप्रधाना इति अर्थात् एक द्वि आदिको ले कर एकोनविंशति (उन्नीस) पर्यंत शब्द संख्येयप्रधान हैं और विंशति आदि शब्द कभी संख्यानप्रधान हो जाते हैं और कभी संख्येयप्रधान भी हो जाते हैं। इस वचनसे द्वि आदि शब्दोंको संख्यानप्रधान नहीं माना गया। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

द्वि आदि शब्दोंको यद्यपि व्याकरण शास्त्रके अनुसार संख्यानप्रधान नहीं माना जा सकता तथापि यदि युक्तिबलसे संख्यानप्रधान मान भी लीया जाय तो वे विंशति आदि शब्दोंके समान हो सकते हैं कोई दोष नहीं सो भी अयुक्त है। क्योंकि द्वि आदि और विंशति आदिको यदि समान मान लिया जायगा तो संबंधी शब्दोंके साथ विंशति आदि शब्दोंका प्रयोग करने पर जो विभक्ति होती है वही विभक्ति द्वि आदि शब्दोंके साथ प्रयोग करने पर भी होगी और द्वि संख्याको स्वतः एकपना माना है इसलिये संख्यानप्रधान ही आनेके कारण एक वचन ही आवेगा जिसतरह 'विंशतिर्गवां' अर्थात् वीस गाय हैं, यहांपर सख्यानवाचक विंशति शब्दसे एकवचन प्रथमा विभक्तिका विधान है और उसका संबंधी जो गो शब्द है उससे बहुवचन षष्ठी विभक्तिका विधान है। उसीप्रकार द्वि आदि शब्दोंसे मानना पडेगा तब 'विंशतिर्गवां' जैसा यह प्रयोग है उसी प्रकार 'षट् गवां' वा 'चत्वारी गवां' इत्यादि प्रयोग भी शुद्ध मानने पडेंगे इसलिये द्वि नव आदि शब्दोंको संख्यानप्रधान नहीं माना जा सकता इसरीतिसे जब द्वि आदि शब्द संख्यावाचक नहीं सिद्ध हो सकते तब तुल्य योगके अभावसे उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व अयुक्त है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

यद्यपि व्याकरण शास्त्रके अनुसार द्वि आदिको संख्यावाचक मानना ऊपर विरुद्ध वताया गया है

परंतु उसी व्याकरणशास्त्रमें 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' १।४।२२। इससूत्रमें 'द्व्येकयोः' यहांपर द्वि और एक शब्दका संख्या अर्थमें ही प्रयोग है इसलिये उन्नीसके पहिले पहिले एक दो नौ आदि शब्द संख्यावाचक भी हैं कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि जिसप्रकार 'बहुशक्ति कीटकं' कीडा बहुत शक्तिवाला है यहांपर बहु शब्द संख्यावाचक नहीं माना गया, नहीं तो बहुत संख्याका वाचक होनेसे 'बहुशक्तयः कीटकं' यह प्रयोग करना पडता किंतु बहुत्वविशिष्ट समुदायरूप है शक्ति जिसकी ऐसा कीडा है इसप्रकार विशिष्ट समुदायका वाचक होनेसे वह संख्येय ही माना है उसीप्रकार सूत्रमें जो द्वि और एक शब्द है उसका संख्या अर्थ नहीं है किंतु द्वि शब्दका अर्थ 'द्विसंख्याविशिष्ट पदार्थके गौण स्वरूप दो अवयव' यह है और एक शब्दका अर्थ 'एकसंख्याविशिष्ट पदार्थका गौण स्वरूप एक अवयव' यह है। यदि वहांपर दो और एक शब्द संख्यावाचक होते तो द्विशब्दका दो अर्थ और एक शब्दका एक अर्थ मिलकर बहुत होनेसे 'द्व्येकेषां' ऐसा सूत्रमें प्रयोग रहता परंतु वैसा नहीं इसलिये द्वि आदि शब्दोंको संख्यावाचक नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि 'द्व्येकयोः' यहांपर द्वि और एक शब्द यद्यपि संख्येयप्रधान हैं तथापि बलवान कारणसे उन्हें संख्या-प्रधान माना जा सकता है। तब फिर वहां पर यह शंका उठती है कि जब द्वि और एक शब्दको संख्यावाचक माना जायगा तब 'द्व्येकयोः' निर्देशकी जगह 'द्वित्वैकत्वयोः' ऐसा होना चाहिये अन्यथा द्विशब्दका अर्थ दो और एक शब्दका अर्थ एक मिलकर बहुत होनेसे 'द्व्येकेषां' ऐसा कहना पडेगा ? सो ठीक नहीं। भावप्रत्ययका त्व और तलके विना भी निर्देश गौण और प्रधान-

१ सिद्धांतकौमुदा पृष्ठ १६।

रूपसे मान लिया जाता है इसलिये भावप्रत्ययके विना भी 'द्व्येकयोः' इस निर्देशकी जगह 'द्वित्वैकत्वयोः' ऐसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। परंतु ऊपर कहा जा चुका है कि द्वि आदि शब्दों को संख्यावाचक कहना केवल तर्कके बलपर निर्भर है व्याकरणशास्त्र उन्हें संख्यावाचक माननेमें सहमत नहीं। इसरीतिसे जब 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' शंकाकारके मतानुसार द्वि और एक शब्दको संख्यावाचकपना सिद्ध नहीं हुआ तब तुल्ययोगके अभावसे उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्वसमास मानना ठीक नहीं। इस बलवान प्रश्नका वार्तिककार समाधान देते हैं—

द्विनवाष्टेत्यादि सूत्रमें जो द्वि आदि शब्द हैं वे संख्येयप्रधान ही हैं एकविंशति शब्द भी संख्येयप्रधान है क्योंकि विंशति आदि शब्द किसी समय 'संख्यानप्रधान भी होते हैं, किसी समय संख्येय प्रधान भी होते हैं' यह व्याकरणका सिद्धांत ऊपर कहा जा चुका है। इसरीतिसे जब द्वि आदि सभी शब्द संख्येय प्रधान हो गये तब तुल्ययोग होनेसे इतरेतर द्वंद्वसमासके माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

समास अनेक पदोंका होता है। किसी समासमें दो पदार्थोंमें पूर्वपदार्थ प्रधान रहता है जिस तरह अव्ययीभावमें, किसी समासमें उत्तरपदार्थ प्रधान रहता है जिसतरह तत्पुरुषमें, किसी समासमें जितने पदार्थोंका समास किया जाय सभी प्रधान रहते हैं जिसप्रकार द्वंद्वमें और किसी समासमें जिन पदार्थोंके साथ समास किया जाता है उनसे अन्य ही पदार्थ प्रधान रहते हैं जिसतरह बहुब्रीहि समासमें। यहांपर जो भेद शब्दके साथ द्विनव आदि पदोंका समास है वहां पर प्रश्न होता है कि वह स्वपदार्थ प्रधान

१। पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः। सर्वपदार्थप्रधानो द्वंद्वः। अन्यपदार्थप्रधानो बहुब्रीहिः। सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ९५।

अर्थात् उत्तरपदार्थ प्रधान कर्मधारय समास है कि अन्यपदार्थ प्रधान वहुव्रीहि समास है। यदि यह कहा जायगा कि 'विशेषणं विशेष्येणेति अर्थात् विशेष्यके साथ विशेषणका समास होता है, इस सूत्रसे वहां द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय एव भेदाः, द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा, यह कर्मधारय समास है तब 'विशेष्य और विशेषणोंमें विशेषणोंका पूर्वनिपात होता है' इस नियमके अनुसार भेद शब्दका पहिले प्रयोग होना चाहिये क्योंकि द्विनव आदि शब्द यहां विशेष्य और भेदशब्द विशेषण है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि द्वि आदि शब्द विशेष्य हो ही नहीं सकते क्योंकि 'द्वे यमुने समाहृते इति द्वियमुनं' अर्थात् जहां पर दो यमुना इकट्ठी हों वह द्वियमुन है' इत्यादि पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव समासके स्थलोंपर द्वि आदि शब्दोंको विशेष्य और यमुना आदि शब्दोंको विशेषण माना गया है इसलिये द्विनवाष्टादशैकेत्यादि सूत्रके स्थानपर भेदद्विनवाष्टेत्यादि होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जहांपर 'के द्वे ?' कौन दो हैं। इस सामान्य अर्थका प्रतिभास रहनेपर 'यमुने' 'यमुना नामकी दो नदी हैं' यह विशेष कथन है वहींपर द्वि शब्दको विशेष्य माना गया है किंतु जहांपर पहिलेसे ही 'यमुने' यह कहा जायगा वहांपर द्विवचनके प्रयोगसे 'दो यमुना नदी हैं' यह अर्थ निकल आवैगा फिर द्वि शब्दका प्रयोग व्यर्थ ही है इसरीतिसे जहांपर पहिले ही द्विशब्दका उल्लेख किया जायगा वहां तो विशेष अकांक्षा होनेपर यमुना शब्दके कहनेसे दोनों पद सार्थक हैं किंतु यदि पहिलेसे ही 'यमुने' यह कहा जायगा तब द्वि वचनसे द्वि शब्दका अर्थ निकल जायगा फिर द्वि शब्दका प्रयोग ही व्यर्थ है परंतु वैसी व्यवस्था 'द्विनवाष्टादशेत्यादि' स्थलपर नहीं। यहांपर यदि पहिले 'भेदाः' ऐसा कहाजायगा वहांपर यह

१। कर्मधारय समास तत्पुरुषका ही भेद है।

आकांक्षा होगी कि वे कितने हैं। तब 'द्विनवाष्टादशैकाविंशतित्रयः' अर्थात् वे भेद दो नव आदि हैं यह कहना पडेगा। तथा यदि पहिले 'द्विनवाष्टादशैकाविंशतित्रयः' यह कहा जायगा तो वे कौन हैं? यह संदेह होगा इसलिये उस संदेहकी निवृत्तिके लिये 'भेदाः' अर्थात् भेद हैं यह कहा जायगा इसरीतिसे 'द्वियमुनं' और 'द्विनवाष्टादशैकाविंशतित्रिभेदाः' दोनों दार्ष्टांत और दृष्टांतोंमें जब विषमता है तब भेद शब्दको विशेषण और द्वि आदि शब्दोंको विशेष्य नहीं माना जा सकता। यदि जबरन विशेषण विशेष्य भाव माना ही जायगा तो वह इच्छानुसार होगा इसलिये इच्छानुसार होनेसे भेद शब्दका द्वि नव आदिसे पहिले प्रयोग नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

विशेषण और विशेष्यमें विशेषणका पूर्व निपात होता है इस सिद्धांतके अनुसार द्वि आदि शब्दों का ही पहिले प्रयोग होगा क्योंकि यह नियम है कि जितने गुणवाचक शब्द होते हैं जातिवाचक शब्दोंके साथ उनका समास होनेपर वे सब विशेषण होते हैं। द्वि आदि शब्द गुणवाचक हैं इसलिये उन्हींका पूर्वनिपात होगा भेद शब्दका पूर्व निपात नहीं हो सकता है।

विशेष—यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि द्वि आदि शब्द गुणवाचक कैसे हैं? क्योंकि जहां पर गुणोंके भेद गिनाये हैं वहां पर संख्याको गुण माना है। द्वि आदिक सब संख्याके भेद हैं इसलिये द्वि नव आदिको गुणपना निर्बाध रूपसे सिद्ध है तथा गुणवाचक शब्द नियमसे विशेषण ही होते हैं क्योंकि व्याकरणका यह सिद्धांत है कि "जातिवाचकशब्दसमभिहारे गुणवाचकस्य शब्दस्य विशेषणत्वमेव नीलघटवत्" अर्थात् जातिवाची संज्ञावाची क्रियावाची और गुणवाचीके भेदसे शब्द चार प्रकारके हैं जहां पर जातिवाचक शब्दोंका गुणवाची शब्दोंके साथ समास होता है वहां पर गुणवाची शब्द

नियमसे विशेषण होते हैं जिसतरह—नीलघट इस समस्तपदमें नील शब्द नील रूपका वाचक है और घट शब्द पृथुबुध्नोदरादि आकारका वाचक है। यहां पर गुणवाचक नील शब्द विशेषण और घट विशेष्य है। इसीप्रकार द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यहांपर द्वि आदि शब्द विशेषण और भेद शब्द विशेष्य है। इसलिये भेद शब्दका पहिले प्रयोग नहीं हो सकता।

इसप्रकार यह कर्मधारय समासकी अपेक्षा कथन किया गया है परंतु 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयो-भेदा येषां त इमे द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यह यहांपर बहुव्रीहि समास भी है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि विशेष्य विशेषणोंमें विशेषणका प्रयोग पहिले होता है इसलिये इस बहुव्रीहि समासमें जब भेद शब्द विशेषण और द्वि आदि शब्द विशेष्य हैं तब भेद शब्दका पहिले प्रयोग क्यों नहीं किया गया? क्योंकि 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानं' अर्थात् सर्वनाम संज्ञावाचक और संख्या-वाचक जितने भी शब्द हैं (बहुव्रीहि समासमें) उनका प्रयोग पहिले ही होता है, यह व्याकरणका सिद्धांत है। इसलिये द्विनवाष्टादशेत्यादि स्थलपर द्वि आदि शब्द संख्यावाचक होनेसे उन्हींका पूर्व-निपात हो सकता है, भेद शब्दका नहीं।

यहांपर यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय एव भेदाः, द्विनवाष्टाद-शैकविंशतित्रिभेदाः, यह कर्मधारय समास कहा जाय तब प्रथमा विभक्तिकी जगह षष्ठीविभक्तिका विपरिणमन कर 'औपशमिकादीनां' ऐसी पूर्व सूत्रसे इस सूत्रमें अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये और औप-शमिक आदि भावोंके दो नव आदि भेद होते हैं यह अर्थ समझ लेना चाहिये। तथा जिससमय बहुव्रीहि समास माना जाय उससमय सूत्रमें जैसा निर्देश है वैसा ही उचित है और ऊपर जो बहुव्रीहि समासके आधीन अर्थ लिखा गया है वही ठीक है।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ २ ॥

जिसतरह 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यंतां' अर्थात् देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्त सभी भोजन करें, यहांपर भुजि क्रियाका सबके साथ सम्बन्ध है अर्थात् देवदत्त भोजन करो, जिनदत्त भोजन करो और गुरुदत्त भोजन करो यह अर्थ माना जाता है उसीप्रकार 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यहां पर भी भेद शब्दका संबंध प्रत्येकके साथ है अर्थात् वहां पर दो भेद नो भेद अठारह भेद इकीस भेद और तीन भेद यह अर्थ माना गया है।

यथानिर्दिष्टौपशमिकादिभावाभिसंबंधार्थं हृत्यादिक्रमवचनं ॥ ३ ॥

आनुपूर्व्य—नंबरवार जो क्रम है उसका नाम यथाक्रम है। 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ' इत्यादि सूत्रमें औपशमिक आदि भावोंका जिस आनुपूर्वी क्रमसे उलेख किया गया है उसी क्रमके अनुसार द्विनव आदिका संबंध है यह प्रकट करनेकेलिये द्विनवाष्टादशेत्यादि सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उलेख किया गया है। यदि यथाक्रम शब्दका सूत्रमें उलेख नहीं किया जाता तो द्विनव आदि भेदोंमें किस भावके कितने भेद हैं यह संदेह हो सकता था इसरीतिसे क्रमसे औपशमिक भावके दो भेद, क्षायिकके नो भेद, मिश्रके अठारह भेद, औदयिकके इकीस भेद और पारिणामिकके तीन भेद हैं यह संपूर्ण सूत्रका समुदित अर्थ है ॥ २ ॥

द्वि नव आदि संख्यावाचक शब्दोंका उल्लेख तो कर दिया गया परंतु उन द्वि आदिके वाच्य विशेष भेद कौन कौन हैं यह नहीं प्रतिपादन किया गया इसलिये सूत्रकार अब उनके भेदोंके नामका उल्लेख करते हैं। सब भावोंके भेदोंके नाम एक साथ कहे नहीं जा सकते इसलिये सब भावोंमें प्रथमोद्दिष्ट औपशमिक भावके भेदोंका उल्लेख किया जाता है—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र दो भेद औपशमिक भावके हैं।

सम्यक्त्व और चारित्रका अर्थ पहिले कहा जा चुका है। दोनों भावोंमें औपशमिकपना क्यों है? इस बातको वार्तिककार बतलाते हैं—

सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वं ॥ १ ॥

मोहनीय कर्मके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके भेदसे दो भेद हैं। चारित्र मोहनीयके कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय ये दो भेद हैं। उनमें कषायवेदनीयके अनंतानुबंधी क्रोध मान माया और लोभ ये चार भेद और दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व[1] मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है। शंका—

सादि और अनादि दोनों प्रकारके मिथ्यादृष्टि भव्यके औपशमिक सम्यक्त्वका होना बताया गया है परंतु सदा जिसकी आत्मा कर्मोंकी कालिमासे काली रहती है उस अनादि मिथ्यादृष्टिके उक्त प्रकृतियों का उपशम कैसे हो सकता है? इस वातका वार्तिककार समाधान देते हैं—

काललब्ध्याद्यपेक्षया तदुपशमः ॥ २ ॥

१। जिस कर्मके उदयसे सम्यक्त्व गुणका मूल घात तो हो नहीं परन्तु चल मल अगाढ ये दोष उत्पन्न हो जांय वह सम्यक् प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शनका सर्वथा घातस्वरूप जीवके अतत्त्व श्रद्धान हो वह मिथ्यात्व प्रकृति है और जिस कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शनके सर्वथा घातस्वरूप मिले हुए परिणाम हों जिनको कि न सम्यक्त्वरूप कह सकें और न मिथ्यात्वरूप कह सकें वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है। यह मिश्र परिणाम भी वैभाविक भाव ही हैं।

काललब्धि जातिस्मरण आदि कारणोंसे अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके भी उक्त प्रकृतियोंका उपशम होता है। उनका खुलासा स्वरूप इस प्रकार है—

काललब्धिके सामान्य काललब्धि कर्मस्थितिकी अपेक्षा काललब्धि आदि भेद हैं। मोक्ष होनेके लिये अर्धपुद्गलपरावर्तन मात्र काल बाकी रहै अधिक बाकी न रहै उस समय कर्मसे सदा मलीमस अनादि मिथ्यादृष्टि भी भव्य आत्माके प्रथम सम्यक्त्व (प्रथमोशम सम्यक्त्व)के ग्रहण करनेकी योग्यता प्रगट हो जाती है—उस समय वह अवश्य ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण कर सकता है यही पहिली सामान्यकाललब्धि कही जाती है। तथा उत्कृष्ट स्थितिवाले वा जघन्य स्थितिवाले कर्मोंके विद्यमान रहते प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणकी योग्यता नहीं होती किंतु आयु कर्मके विना 'घुणाक्षरन्यायसे' अंतः कोटाकोटि सागर प्रमाण कर्म उसी कालमें बंधे हों और पहिलेके सत्तामें विद्यमान समस्त कर्म, परिणामोंकी विशुद्धतासे—संख्यातहजार सागरोपम घाटि अंतःकोडाकोडि सागर प्रमाण हो गये हों उस समय प्रथम सम्यक्त्व की योग्यता होती है यह दूसरी कर्मस्थितिका नामकी काललब्धि है। एक भावकी अपेक्षा भी काललब्धि है उसका वर्णन आगे परिवर्तन प्रकरणमें किया जायगा।

काललब्धि यहांपर जो आदि शब्द दिया गया है उससे जातिस्मरण और जिनबिंब आदिके दर्शन आदिका ग्रहण किया गया है अर्थात् कर्ममलिन भी भव्य आत्माके जातिस्मरण वा जिनबिंब आदिके देखनेसे उक्त प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है यह नियम है। जो जीव भव्य पंचेंद्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त और सर्व विशुद्ध (अनिवृत्तिकरणचरमसमयवर्ती) होगा वही प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है जिससमय आत्मा सम्यग्दर्शन प्राप्तिके उन्मुख हो जाता है उससमय

करणत्रय रूप परिणाम वह प्राप्त करता है उनमें अनिवृत्त करणरूप परिणामके उत्पन्न होते ही नियमसे अंतर्मुहूर्तमें सम्यक्त्व प्राप्त होता है इसे ही करणलब्धि कहते हैं किंतु इससे भिन्न जीवमें प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्वका काल अंतर्मुहूर्त ही है इसलिये जिस जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है उसके अंतर्मुहूर्त ही वह ठहरता है उसीकालमें वह जीव सत्तामें बैठे हुए मिथ्यात्व कर्मके तीन टुकडे कर डालता है मिथ्यात्व, सम्यग‍मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इसके पहले अनादि मिथ्यादृष्टिके पांच प्रकृतियोंका ही उपशम होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम चारों गतियोंके अंदर होता है । नरकगतिमें पर्याप्तक नारकियोंके ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है अपर्याप्तकोंके नहीं तथा पर्याप्तक नारकियोंके भी अन्तर्मुहूर्तके बाद ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है अंतर्मुहूर्तके पहिले नहीं । यह नियम सातो नरकोंके नारकियोंके लिये है । रत्नप्रभा शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभा इन तीन नरकोंके निवासी नारकियोंमें किन्हीं नारकियोंके जातिस्मरणसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो जाता है और किन्हींके धर्मके श्रवण करनेसे वा तीव्र वेदनासे व्याकुल होनेपर होता है । बाकी पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इन चार नरकवासी नारकियोंमें किन्हींके जातिस्मरण तो किन्हींके वेदनासे अभिभूत रहने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है । नीचेके चार नरकोंमें धर्मश्रवणका अवसर नहीं मिलता ।

तिर्यंचोंमें भी पर्याप्तक तिर्यंच ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं तथा पर्याप्तक भी दिवस पृथक्त्व अर्थात् सात आठ दिनके बाद प्राप्त कर सकते हैं भीतर नहीं । यह नियम द्वीप समुद्रनिवासी जितने भी तिर्यंच हैं सबके लिये है । उनमें किन्ही तिर्यंचोंके पूर्वजन्मके स्मरणसे

प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है किन्हींकें धर्मके श्रवणसे वा भगवान जिनेंद्रकी शांतिरसमय मुद्रा देखनेसे वह प्राप्त होता है।

मनुष्योंमें भी पर्याप्तक मनुष्य ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं तथा पर्याप्तकोंमें आठ वर्षके वाद ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है पहिले नहीं होता। यह ढाई द्वीपनिवासी सभी मनुष्योंके लिये नियम है। उनमें बहुतसे मनुष्योंके पूर्वजन्मके स्मरणसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। बहुतोंके धर्मके श्रवणसे वा भगवान जिनेंद्रकी प्रतिमाके दर्शनसे उसकी प्राप्ति होती है।

देवोंमें भी पर्याप्तक ही देव प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं। पर्याप्तकोंमें भी अंतर्मुहूर्तके बाद ही कर सकते हैं पहिले नहीं। यह उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत जितने भी देव हैं सबके लिये नियम है। उनमें भवनवासी निकायके देवोंको आदि लेकर वारहवें स्वर्ग सहस्रार पर्यंतके देवोंके पूर्वजन्मका स्मरण धर्मका श्रवण जिनेंद्रकी महिमाका अवलोकन और देवोंकी ऋद्धियोंका निरीक्षण इन चार कारणोंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ हो सक्ता है। आनत प्राणत आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंके निवासी देवोंके देवोंकी ऋद्धियोंके निरीक्षणके सिवाय उक्त तीन कारणोंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ होता है। नव ग्रैवेयकोंमें पूर्वजन्मका स्मरण और धर्मश्रवण इन दो कारणोंसे सम्यग्दर्शन होता है। इनसे ऊपरके विमानोंके निवासी अर्थात् नव अनुदिश और पंच पचोत्तरविमानवासी देव नियमसे सम्यग्दृष्टी होते हैं। वहांपर सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके लिये किसी भी कारणकी आवश्यकता नहीं होती।

अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रं ॥ ३ ॥

अनंतानुबंधि क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इसप्रकार सोलह कषाय, हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय, एवं मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन भेद दर्शन मोहनीयके इसप्रकार इन अट्ठाईस प्रकारके मोहनीय कर्मोंके भेदके उपशम रहनेपर औपशमिक चारित्र होता है।

सम्यक्त्वस्यादौ वचनं तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ॥ ४ ॥

आत्मामें पहिले सम्यक्त्व पर्यायकी प्रकटता होती है पीछे चारित्र पर्यायका उदय होता है इसलिये सम्यक्त्वकी प्रकटता चारित्रसे पहिले होनेके कारण 'सम्यक्त्वचारित्रे' इस सूत्रमें सम्यक्त्व शब्दका प्रयोग पहिले किया गया है ॥ ३ ॥

क्षायिक भावको नौप्रकारका बतला आये हैं इसलिये सूत्रकार अब उन नौ भेदोंके नाम गिनाते हैं—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

केवलज्ञान केवलदर्शन क्षायिकदान क्षायिकलाभ क्षायिकभोग क्षायिकउपभोग क्षायिकवीर्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नव भेद क्षायिक ज्ञानके हैं। सूत्रमें जो च शब्दका ग्रहण किया गया है उससे यहां पूर्वसूत्रमें कहे गये सम्यक्त्व और चारित्रका ग्रहण है।

ज्ञानदर्शनावरणक्षयात्केवले क्षायिके ॥ १ ॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर जो केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्मा में प्रगट होते हैं उन्हींका नाम यहां क्षायिकज्ञान और क्षायिक दर्शन है।

अनंतप्राणिगणानुगृहकरं सकलदानांतरायक्षयादभयदानं ॥ २ ॥

दानांतराय लाभांतराय भोगांतराय उपभोगांतराय और वीर्यांतरायके भेदसे अंतरायकर्म पांच प्रकारका माना है। उनमें दानांतराय कर्मके सर्वथा नाश होजानेपर प्रगट होनेवाला और भूत भविष्यत वर्तमान समस्त प्राणियोंका उपकार करनेवाला अभयदान क्षायिकदान है।

विशेष—यद्यपि आहार औषध शास्त्र और अभयदानके भेदसे दान चार प्रकारका है परंतु अभयदानके सिवाय तीन दान क्षायोपशमिक हैं, क्षायिक नहीं। अभयदान ही क्षायिकदान है यही केवलियोंके हो सकता है इसलिये क्षायिक भावोंमें दान शब्दके उल्लेखसे अन्य प्रकारके दानोंका ग्रहण न कर अभयदानको ही क्षायिक दान कहा है।

अशेषलाभांतरायनिरासात् परमशुभपुद्गलानामादानं लाभः ॥ ३ ॥

लाभांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर क्षायिक लाभ प्रगट होता है और कवलाहारके त्यागी केवली भगवानके शरीरको ज्योंका त्यों शक्तिमान रखनेवाले, केवलीके सिवाय अन्य मनुष्योंमें न होनेके कारण असाधारण परमशुभ सूक्ष्म और अनंत पुद्गलोंका जो प्रति समय केवली भगवानके शरीरके साथ संबंध करना है उसीका नाम क्षायिक लाभ है।

औदारिक शरीरकी स्थिति, विना कवलाहारके किंचिन्न्यून पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण मानी है वह इसी क्षायिक लाभके आधीन है इसलिये जो मनुष्य यह शंका करते हैं कि केवलियोंके कवलहार माने विना किंचिन्न्यून पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण स्थिति कैसे रह सकती है? वह उनका कहना निर्मूल है।

कृत्स्नभोगांतरायतिरोभावात्परमप्रकृष्टो भोगः ॥ ४ ॥

समस्त भोगांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर जो अतिशयवान अनंतभोग आत्मामें प्रगट होता है यह क्षायिकभोग है और उसके प्रगट हो जाने पर पंचवर्णमयी सुगंधित पुष्पवृष्टि, अनेक प्रकारकी दिव्य गंधवृष्टि, जहांपर केवली चरण रक्खें वहांपर सात कमलोंकी पंक्तिका होना, सुगंधित धूपका महकना और सुखकारी शीतल पवनका चलना आदि वाह्य अतिशय केवलियोंके प्रगट हो जाते हैं।

निरवशेषोपभोगांतरायप्रलयादनंतोपभोगः क्षायिकः ॥ ५ ॥

उपभोगांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर जो आत्मामें अनंत उपभोग प्रगट होता है वह क्षायिक उपभोग है। आत्मामें उपभोग भावके प्रगट हो जानेपर सिंहासन चौंसठ चमर अशोकवृक्ष तीन छत्र भामंडल गंभीर और स्निग्ध (प्रिय) वचनोंका उच्चारण करनेवाली दिव्यध्वनि और देवदुंदुभि आदि अतिशय केवलियोंके होते हैं।

वीर्यांतरायात्यंतसंक्षयादनंतवीर्यं ॥ ६ ॥

आत्माकी वास्तविक-सामर्थ्यके विरोधी वीर्यांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर जो आत्मामें अनंतवीर्य प्रगट होता है उसका नाम क्षायिकवीर्य है। इस अनंतवीर्य भावके उदयसे केवलियोंके ज्ञानमें मूर्तिक अमूर्तिक समस्त पदार्थोंके जाननेकी शक्ति प्रगट हो जाती है।

पूर्वोक्तमोहप्रकृतिनिरवशेषक्षयात्सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ७ ॥

ऊपर कहे गये मिथ्यात्व आदि दर्शनमोहनीयके तीन भेदोंका और चारित्रमोहनीयके पच्चीस भेदों का जिससमय सर्वथा नाश हो जाता है उससमय सम्यक्त्व और चारित्र गुण आत्मामें प्रगट हो जाते

हैं। अर्थात् मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंमें सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षयसे सम्यक्त्व और पचीस भेदोंके सर्वथा नाशसे क्षायिक चारित्र होता है। ऊपर स्पष्टरूपसे सम्यक्त्व और चारित्र दोनों गुणोंकी प्रकटता वर्णन कर दी गयी है। शंका—

दानांतराय आदि कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर दान लाभ आदि पांचो लब्धियां जब अभय दान आदिके होनेमें कारण मानी गयी हैं तब सिद्धोंमें भी अभयदान आदि मानने चाहिये क्योंकि वहांपर भी दानांतराय आदिका सर्वथा अभाव है फिर जिसतरह अभयदान आदिका कार्य केवलियोंके दीख पडता है उसीप्रकार सिद्धोंके भी दीख पडना चाहिये? सो ठीक नहीं। अभयदान आदि भावोंके होनेमें शरीर नाम कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा है। जहांपर शरीर आदि होंगे वहींपर अभयदान आदि रहेंगे किंतु जहांपर शरीर आदिका अभाव रहेगा वहांपर वे नहीं रह सकेंगे। केवलियोंमें अभयदान आदिके होनेमें कारण शरीर है इसलिये उनके अभयदान क्षायिकलाभ आदि भाव होते हैं सिद्ध अशरीर हैं—उनके किसी प्रकारके शरीरका संबंध नहीं इसलिये उनके अभयदान आदि कार्य नहीं हो सकते।

जिसतरह अनंतवीर्यको केवलज्ञान स्वरूप माना है उसीप्रकार अनंत अव्याबाधरूप जो सिद्धोंमें गुण माना है उसी स्वरूप अभयदान आदिको स्वीकार किया गया है अर्थात् जिसप्रकार केवलज्ञानमें ही अनंतवीर्यकी वृत्ति—सत्ता सहयोगरूपसे समाई हुई है उसीप्रकार अव्याबाधरूपसे अभयदानादिकी वृत्ति सिद्धोंमें परिगणित है। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

आगममें सिद्धत्व गुणको क्षायिक माना गया है परंतु यहांपर जो क्षायिक भावके भेद गिनाये गये हैं उनमें सिद्धत्व भावको छोड दिया है इसलिये ज्ञान दर्शन आदिके साथ सिद्धत्व नामक क्षायिक

भावको भी गिनाना चाहिये ? सो ठीक नहीं। विशेषोंसे सामान्य भिन्न पदार्थ नहीं। किंतु विशेषके उल्लेखसे
सामान्यका ग्रहण सुतरां हो जाता है जिसतरह पर्व-पोटरा आदि विशेषोंसे अंगुलि पदार्थ भिन्न
नहीं किंतु वह पर्व आदि स्वरूप ही है इसलिये जिसप्रकार पर्व-पोटरा आदि स्वरूप ही अंगुलि
पदार्थ है पर्वादिसे भिन्न अंगुलि नहीं है उसीप्रकार केवलज्ञान केवलदर्शन आदि सब क्षायिक भाव
स्वरूप ही सिद्धत्व है इसरीतिसे क्षायिकभाव केवलज्ञान आदिका उल्लेख रहनेसे ही जब सिद्धत्व पर्याय
का उल्लेख हो जाता है तब क्षायिक भावोंमें सिद्धत्व पर्यायके भिन्न माननेकी कोई आवश्यक्ता नहीं।

क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद ऊपर कहे गये हैं सूत्रकार भिन्न भिन्न रूपसे उनका नाम
गिनाते हैं—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति कुश्रुत कुअवधि तीन अज्ञान (कुज्ञान)
चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिकदान क्षायोपशमिकलाभ क्षायोप-
शमिकभोग क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य ये पांच लब्धियां, वेदकसम्यक्त्व, सराग
चारित्र और संयमासंयम (देशव्रत) इसप्रकार अठारह प्रकारका क्षायोपशमिकभाव है। इन अठारह
भावोंकी प्रकटता आत्मामें कर्मोंके क्षायोपशमसे होती है

चतुरादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ॥ १ ॥

चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच च चतुस्त्रित्रिपंच, ते भेदा येषां ते चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः, यह यहांपर द्वंद्व-
पूर्वक बहुव्रीहि समास है। शंका—

व्याकरणशास्त्रमें द्वंद्वसमासकी अपवाद स्वरूप एक प्रकारकी 'एकशेष' समास मानी है। उसका तात्पर्य यह है कि समान पदार्थोंका समास करनेपर एकशेष—एक पदार्थ अविशिष्ट रह जाता है और सब पदार्थोंका लोप हो जाता है जिसतरह 'पुरुषाः' 'पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषाः' यह एकशेष समास है। यहां दो पुरुष शब्दोंका लोप हो जाता है एक पुरुष शब्द अवशेष रह जाता है और उससे प्रथमाके बहुवचनमें जस् विभक्ति लाकर 'पुरुषाः' यह रूप सिद्ध कर लिया जाता है। चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच च चतुस्त्रित्रिपंच यहांपर जो ऊपर द्वंद्व समासका उल्लेख किया गया है वहांपर उसका अपवादस्वरूप एकशेष समास मानलेना चाहिये और 'त्रयश्च त्रयश्च' यहांपर एक त्रि शब्दका लोपकर एकका ही उल्लेख करना चाहिये? सो ठीक नहीं। यदि त्रिशब्दका एक शेष मानलिया जायगा तो यह जो भिन्न भिन्न रूपसे संख्याविशिष्ट अर्थका बोध होता है कि—अज्ञान तीन प्रकारका है दर्शन तीन प्रकारका है, यह न हो सकेगा क्योंकि एकशेष किये जानेपर सूत्रमें एक ही त्रिशब्दका पाठ होगा वैसी अवस्थामें अर्थमें भ्रम होनेकी संभावना है दूसरे यदि इस स्थलपर प्रधानतासे एकशेष समास ही रहता और समास न होता तब तो कदाचित् उपर्युक्त अर्थकी संभावना कर ली जा सकती परंतु यहां तो प्रधान बहुव्रीहि समास है। एक शेष समास मानलेनेपर भी बहुव्रीहि समासके सामने वह गोण गिना जायगा इसलिये वहांपर त्रिशब्दका एकशेष समास मानलेने पर दो त्रिशब्दका अर्थ नहीं निकल सकता इसलिये वहां पर द्वंद्व समास ही मानी जा सकती है एक शेष समासका संभव नहीं हो सकता। तथा—

एकशेष न कर जो त्रि शब्दका पृथक् उल्लेख किया गया है उससे ज्ञान चार प्रकार, अज्ञान तीन प्रकार, दर्शन तीन प्रकार, लब्धि पांच प्रकार हैं, इस क्रमको सूचित करना भी प्रयोजन है। यदि

पृथक् रूपसे त्रि शब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो एक ही त्रि शब्दके रहनेसे उपर्युक्त क्रमबद्ध अर्थ स्पष्ट रूपसे सिद्ध नहीं होता इसलिये उक्त क्रमिक अर्थके प्रतिपादनके लिये त्रि शब्दका दो बार उल्लेख करना सार्थक है। शंका—

यथाक्रमवचनं ज्ञानादिभिरानुपूर्व्यसंबंधार्थं ॥ २ ॥

ज्ञान चार प्रकारका अज्ञान तीन प्रकारका दर्शन तीन प्रकारका लब्धि पांच प्रकारकी है इस रूपसे ज्ञान आदि और चार संख्याओंका ऊपर क्रमसे संबंध लगाया गया माना है परंतु सूत्रमें यथाक्रम शब्दके पाठ रहने पर ही वैसा अर्थ हो सकता है। वह यथाक्रम शब्द सूत्रमें पढा नहीं गया इसलिये उपर्युक्त क्रम ठीक नहीं माना जा सकता। सो ठीक नहीं। यदि कोई शब्द किसी सूत्रमें न हो तो पूर्व सूत्रसे उसकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। यद्यपि इस सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उल्लेख नहीं है तथापि द्विनवाष्टदशेत्यादि पूर्व सूत्रमें उसका पाठ है इसलिये उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति आ जाने पर उपर्युक्त क्रमिक अर्थमें बाधा नहीं पहुंच सकती। किस कर्मके क्षय और किस कर्मके उपशमसे क्षायोपशमिक भाव होता है वार्तिक-कार इसका खुलासा करते हैं——

सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावः ॥ ३ ॥

स्पर्धकोंके दो भेद माने हैं एक देशघाति स्पर्धक, दूसरा सर्वघातिस्पर्धक। जिस समय आत्मामें सर्वघाति स्पर्धकका उदय रहता है उससमय अंशमात्र भी आत्मिक गुणकी प्रकटता नहीं रहती इसलिये उसके उदयका सर्वथा अभाव हो जाना क्षय है और उसी सर्वघाती स्पर्धकोंकी शक्तिका अप्रकटतासे उदयमें न आकर जो सत्तामें स्थित रहना है उसका नाम उपशम है। इसप्रकार सर्वघाति स्पर्धकोंका

उदयाभाव क्षय और (उपशम) एवं देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर सर्व घातियोंके अभावसे जो भाव आत्माके अंदर प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। वार्तिककार स्पर्धकका खुलासा अर्थ बतलाते हैं—

अविभागपरिच्छिन्नकर्मप्रदेशरसभागप्रचयपंक्तिक्रमवृद्धिः क्रमहानिः स्पर्धकं ॥ ४ ॥

जो कर्म उदय प्राप्त है उसके प्रदेश अभव्योंसे अनंतगुणे और सिद्धोंके अनंतवें भाग प्रमाण हैं। उनमें सबसे जघन्य गुणवाला प्रदेश ग्रहण किया उसके अनुभाग—रसके वहांतक बुद्धिसे टुकडे कर डाले जिससे फिर उनका विभाग न हो सके उन टुकडोंका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है ऐसे अविभाग प्रति-च्छेद जीवराशिसे अतंतगुणे माने हैं उस जघन्य अविभाग प्रतिच्छेदवाले प्रदेशोंके परमाणुओंकी एक राशि बनाई उसीप्रकार फिर जघन्य गुणवाला दूसरा प्रदेश लिया मिलाकर फिर एक राशि करली। इसीप्रकार आगे भी इन्हीं देशोंके समान सर्वजघन्य गुणवाले जितने भी प्रदेश हैं उन सबके अनुभागोंके बुद्धिसे ऐसे टुकडे कर लिये गये जिनका फिर विभाग न हो सके उन सब अविभाग प्रतिच्छेदोंको अपने अपने प्रदेशोंके साथ मिलाकर राशियां कर लीं इसप्रकार उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्म प्रदेश (परमाणु) की वर्गसंज्ञा है और वर्गोंके समूहका नाम वर्गणा है।

पहिले जो सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशको ग्रहण किया था उससे अब एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक प्रदेशको ग्रहण किया। उसके पहिलेके ही समान बुद्धिसे टुकडे किये। उन जीव राशिसे अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेदोंके समान अंश धारण प्रदेशोंकी एक राशि की। उसीप्रकार एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक दूसरा प्रदेश ग्रहण किया और उसे भी वैसा ही किया इसप्रकार जितने भी एक अविभाग

प्रतिच्छेद अधिक प्रदेश थे उनको वैसे ही किया और राशियां करलीं। उन समान अविभाग प्रतिच्छेदों की धारक प्रत्येक कर्मके प्रदेशकी वर्ग संज्ञा है और वर्गोंका समूह वर्गणा है।

इसप्रकार ये पंक्तियां वहांतक करते चले जाना चाहिये जहांतक एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिकका लाभ होता चला जाय किंतु जहांपर वह अविभाग प्रतिच्छेदका अधिकपना समाप्त हो जाय बस वहींपर विशेषरहित (समान) क्रमवृद्धि और क्रमहानियुक्त जितनी भी वे सब पंक्तियां हैं उन समस्त पंक्तियोंका समुदाय एक स्पर्धक कहा जाता है।

यहांपर यह समझ लेना चाहिये कि जहां जाकर उस एक अंश अधिक अविभाग प्रतिच्छेदकी समाप्ति हो जाती है वहांसे आगे फिर दो तीन चार संख्याते असंख्याते अविभाग प्रतिच्छेद नहीं मिलते नियमसे अनंतगुणे ही मिलते हैं।

उन अनंतगुणे अधिक अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंमें भी सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशको ग्रहण किया उसके अनुभागके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद किए। उसीके समान दूसरा प्रदेश ग्रहण किया उसके अनुभागके भी वैसे ही अविभाग प्रतिच्छेद किये इसीप्रकार जितने भी उतने प्रमाणवाले प्रदेश हैं उन सबोंके अनुभागोंके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद किये और राशियां बना डालीं उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक प्रदेशका नाम वर्ग है और वर्गोंके समूहका नाम वर्गणा है। इसके वाद एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक प्रदेश ग्रहण किया और उसके अनुभागके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद कर राशि करली उसीप्रकार उसीके समान दूसरा प्रदेश भी ग्रहण किया और उसके अनुभागके वैसे ही अविभाग प्रतिच्छेद कर राशि कर ली इसप्रकार जितने भी प्रदेश उसी परि-

माणवाले हैं उन सबोंके अनुभागोंके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेदकर राशियां करलीं, उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक प्रदेशका नाम वर्ग और उनके समूहका नाम वर्गणा है। इसरीतिसे ये पंक्तियां वहांतक करते चले जाना चाहिये जहां पर एक अधिककी समाप्ति हो बस जहां पर उस एक अधिककी समाप्ति हो जाय वहींपर समान और क्रमवृद्धि एवं क्रम हानि युक्त जितनी भी पंक्तियां हों उन पंक्तियोंका नाम दूसरा स्पर्धक है।

इसीप्रकार एक अधिककी समाप्ति हो जाने पर अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेद विशिष्ट प्रदेश मिलेंगे वहांपर भी एक अधिकका क्रम जारी करने पर जब उसकी समाप्ति हो जायगी उससमय अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेदयुक्त प्रदेश मिलेंगे वहां पर भी पहिलेके समान सब व्यवस्था मानी जायगी इसरीतिसे जहां जहां एक अधिककी समाप्तिका अंतर पडता जाय वहीं वहीं पर स्पर्धक मानना चाहिये। ऐसे ही ऐसे प्रमाणवाले स्पर्धक अभव्योंसे अनंतगुणे और सिद्धोंके अनंतभाग प्रमाण हैं। इन समस्त स्पर्धकोंका समुदाय एक उदयस्थान कहलाता है। इसका खुलासा इतनेमें समझ लेना चाहिये कि जिन कर्म परमाणुओंमें सबसे जघन्य फलदान शक्ति है उसकी संज्ञा एक अविभाग प्रतिच्छेद मान लेना चाहिये, वैसे समान–एक अविभाग प्रतिच्छेद शक्तिवाले जितने कर्म परमाणु होंगे वे सब भिन्न भिन्न वर्गोंके नामसे कहे जाते हैं उन समान शक्ति धारक वर्गों (परमाणुओं) का समूह एक वर्गणा कहलाती हैं, इस एक वर्गणामें अनंते परमाणु होते हैं। अब एक अविभाग प्रतिच्छेदसे ऊपर एक अधिक और अर्थात् दो अविभाग प्रतिच्छेदरूप शक्तिवाले समान कर्म परमाणुओंका पिंड दूसरी वर्गणा कहलाती है इसीप्रकार तीन चार पांच एक एक अधिक शक्तिवाले परमाणु समूहोंकी भिन्न भिन्न वर्गणाएं होती जाती हैं वे सब

क्रमसे अधिक शक्तिधारक परमाणु वर्गणाऐं मिलकर स्पर्धक कही जाती हैं, फिर दूसरी वर्गणा तब बनेगी जब कि एक साथ अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेद अधिक शक्तिवाले समान परमाणुओंका पिंड होगा। फिर उससे एक एक अधिक शक्तिवाले परमाणुओंकी दूसरी तीसरी आदि वर्गणाऐं होंगी उनका पिंड दूसरा स्पर्धक होगा यही क्रम आगे जानना चाहिये।

तत्र ज्ञानं चतुर्विधं क्षायोपशमिकमाभिनिबोधकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति ॥ ५ ॥

वीर्यांतराय श्रुतज्ञानावरण और मतिज्ञानावरण कर्मोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होने पर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंके उदय रहनेपर क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। तथापि देशघाति स्पर्धकोंका अनुभाग अधिक और अल्परूपसे होता है इसलिये गुणोंके घातनेमें भी कहींपर अधिकता और कहींपर अल्पता हो जाती है जहांपर आत्माके ज्ञानगुणका अधिकतासे घात है वहांपर अधिकज्ञान और जहांपर कुछ अल्पतासे घात है वहांपर स्वल्पज्ञान होता है इसीतरह श्रुतज्ञानकी अपेक्षा जहां कुछ अधिकतासे घात है वहां अल्पश्रुतज्ञान जहां स्वल्पतासे घात है वहां अधिकश्रुतज्ञान होता है इसीप्रकार अवधि मनःपर्यय क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें भेद समझना चाहिये।

वीर्यांतराय और अवधिज्ञानावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर क्षायोपशमिक अवधिज्ञान होता है और वीर्यांतराय एवं मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर मनःपर्ययज्ञान होता है। इसप्रकार मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इसप्रकार क्षायोपशमिकज्ञानके चार भेद हैं।

अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगं चेति ॥ ६ ॥

मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञानके भेदसे अज्ञान तीन प्रकारका है। इनको क्षायोपशमिक-पना मतिज्ञान आदिके समान समझ लेना चाहिये। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि ज्ञानके ज्ञान और अज्ञान ये दो भेद कैसे होगये? क्योंकि जिससमय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय रहेगा उस समय उसके साथ एक जगह रहनेसे ज्ञान मिथ्या कहा जायगा और जिससमय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय न रहेगा उससमय ज्ञानका संबंध मिथ्यात्वके साथ न रहनेके कारण वह सम्यग्ज्ञान ही रहेगा इसका खुलासा वर्णन ऊपर कर दिया जा चुका है।

दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति ॥ ७ ॥

चक्षु दर्शन अचक्षु दर्शन अवधिदर्शनके भेदसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका है। वीर्यांतराय और चक्षुर्दर्शनावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय होनेपर चक्षुर्दर्शन होता है। वीर्यांतराय और अचक्षुर्दर्शना-वरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर अचक्षुर्दर्शन होता है। एवं वीर्यांतराय और अवधिदर्शनावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर वा सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर अवधिदर्शन होता है।

लब्धयः पंच क्षायोपशमिकाः दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति ॥ ८ ॥

दानलब्धि लाभलब्धि भोगलब्धि उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धिके भेदसे लब्धियां पांच हैं।

दानांतराय कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर और देश-घाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर दानलब्धि होती है। लाभांतरायकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर लाभलब्धि होती है। इसीतरह भोगांतराय आदि कर्मोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर भोग आदि लब्धियां होती हैं।

सूत्रमें जो सम्यक्त्व पद दिया है उससे यहां वेदक सम्यक्त्वका ग्रहण है वही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन सर्वघाती छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय रहनेपर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन बारह कषाय रूप सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती संज्वलन क्रोध मान माया लोभोंमेंसे किसी एकके उदय रहनेपर और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री-वेद पुंवेद और नपुंसकवेद इन नव नोकषायोंके यथासंभव उदय रहनेपर आत्माका जो निवृत्तिरूप परिणाम है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। यहांपर संज्वलन कषायादिकका जितने अंशोंमें उदय है उतने अंशोंमें चारित्रका घात ही समझना चाहिये परंतु क्षायोपशमिक चारित्र पूर्ण चारित्र नहीं है इसलिये उक्त कर्मोंका उदय रहता ही है परंतु जो चारित्रके बाधक कर्म हैं उनका उपशम रहना जरूरी है। तथा अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन आठ कषायरूप

सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर तथा सत्तामें उपशम रहनेपर, प्रत्याख्यानकषायके उदय रहनेपर देशघाती संज्वलन कषायरूप स्पर्धकोंके उदय रहनेपर एवं उक्त नव नोकषायोंके यथासंभव उदय रहनेपर आत्माका कुछ विरत कुछ अविरत मिश्ररूप जो परिणाम है वह संयमासंयम नामका क्षायोपशमिक भाव है। शंका—

संज्ञित्वसम्यग्मिथ्यात्वयोगोपसंख्यानमिति चेन्न ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिगृहणेन गृहीतत्वात्॥ १॥

उस उस कर्मके क्षय और उपशमसे जो भाव होते हैं वे क्षायोपशमिक भाव कहे जाते हैं। क्षायोपशमिक भावके मतिज्ञान आदि अठारह भेद सूत्रकारने वतलाये हैं परंतु कर्मोंके क्षय और उपशमसे संज्ञित्व सम्यग्मिथ्यात्व और योग भी होते हैं इसलिये क्षायोपशमिक भाव होनेसे इनका भी सूत्रमें उल्लेख करना चाहिये? सो ठीक नहीं। मतिज्ञान आदि जो क्षायोपशमिक भावके भेद कहे गये हैं उन्हींमें संज्ञित्व आदिका अंतर्भाव हो जाता है और वह इसप्रकार है—

संज्ञित्वका अर्थ मन विशिष्टपना है। जिस मतिज्ञानमें नोइंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रहेगी उस मतिज्ञानमें संज्ञित्व भावका समावेश है। पंचेंद्रिय सैनी जीवके जो मतिज्ञान होगा उसमें नोइंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा है इसलिये सैनी पंचेंद्रियके मतिज्ञानमें संज्ञित्वका अंतर्भाव है। संज्ञित्वभावके जुदे गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। सूत्रमें जो सम्यक्त्व नामका क्षायोपशमिक भाव गिनाया गया है उसमें सम्यग्मिथ्यात्व भावका समावेश है क्योंकि जिसप्रकार जलविशिष्ट भी दूधका संसारमें 'दूध' व्यवहार प्रसिद्ध है अर्थात् मिले हुए भी दोनों पदार्थोंमें दूधका ही ग्रहण होता है उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोंका मिश्ररूप पदार्थ सम्यग्मिथ्यात्व है इसका भी सम्यक्त्वके नामसे

ग्रहण हो सकता है इसरीतिसे सम्यक्त्वके ग्रहणसे जब सम्यग्मिथ्यात्वका ग्रहण युक्तिसिद्ध है तब उसे जुदा क्षायोपशमिक भाव गिनाना ठीक नहीं। योगको बल माना गया है। बल और वीर्य दोनों एक चीज है इसलिये क्षायोपशमिक भावोंमें ग्रंथकारने वीर्यलब्धि भाव गिनाया है उसमें ही योग भावका समावेश हो जाता है उसके जुदे गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

अथवा ज्ञानाज्ञानेत्यादि सूत्रमें 'च' शब्दका ग्रहण है। चशब्दका व्याकरणशास्त्रके अनुसार समुच्चय अर्थ भी होता है इसलिये जितने क्षायोपशमिक भावोंका सूत्रमें उल्लेख नहीं किया गया है चशब्दसे उनका समुच्चय कर लेना चाहिये। शंका—

संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे पंचेंद्रिय जीव दो प्रकारके माने हैं। जिन जीवोंके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम है वे संज्ञी कहे जाते हैं और जिनके उसका क्षयोपशम नहीं वे असंज्ञी कहे जाते हैं परंतु पंचेंद्रियपनेके, सबमें समानरूपसे रहने पर किसीके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होता है किसीके नहीं होता है यह भेद कैसे हो जाता है? उसका उत्तर यह है कि—एकेंद्रिय जाति आदिको नाम कर्म माना है इसलिये जिसप्रकार जहांपर एकेंद्रिय जातिका उदय रहता है वहांपर एकेंद्रिय जाति नामकर्मका क्षयोपशम रहता है और जहांपर दो इंद्रिय आदि जातियोंका सद्भाव रहता है वहां पर दो इंद्रिय जाति आदि नाम कर्मोंका क्षयोपशम रहता है उसीप्रकार संज्ञिजातिको भी नामकर्म माना है और जहांपर उसका सद्भाव रहता है वहीं पर नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम रहता है अन्यत्र नहीं संज्ञी पंचेंद्रिय जीवोंमें संज्ञि नामकर्मका क्षयोपशम है इसलिये उन्हींके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम है। असंज्ञी पंचेंद्रियोंके संज्ञि नाम कर्मका क्षयोपशम नहीं इसलिये उनके उसका क्षयोपशम नहीं ॥ ५ ॥

आत्माका नारकी होना नारक नामका औदयिकभाव है। तिर्यग्गति नामक नामकर्मके उदयसे आत्माका तिर्यंच होना तिर्यक् नामका औदयिक भाव है। मनुष्यगति नामक नामकर्मके उदयसे आत्माका मनुष्य होना मनुष्य नामका औदयिकभाव है और देवगति नामक नाम कर्मके उदयसे आत्माका देव हो जाना देव नामका औदयिकभाव है। इसप्रकार गतिसामान्य नामकर्मके उदयसे आत्माका भिन्न भिन्न देव आदि गतिस्वरूप परिणत होना सामान्यगति नामका औदयिकभाव कहा जाता है।

चारित्रमोहोदयात्कलुषभावः कषाय औदयिकः ॥ २ ॥

आत्माको जो कषे विपरिणमावे उसका नाम कषाय है। कषायवेदनीय नामक चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माका जो क्रोध आदि कलुषतारूप परिमन होता है वह कषाय नामका औदयिक भाव है। उसके क्रोध मान माया लोभ ये चार भेद हैं और उनके अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन ये भेद हैं।

वेदोदयापादितोऽभिलाषविशेषो लिंगं ॥ ३ ॥

स्त्री आदि वेदोंके उदयसे स्त्रीको पुरुषके साथ, पुरुषको स्त्रीके साथ और नपुंसकको स्त्री पुरुष दोनोंके साथ रमण करनेकी जो इच्छा हो जाना उसका नाम, लिंग है। वह लिंग दो प्रकारका है एक द्रव्यलिंग दूसरा भावलिंग। नामकर्मके उदयसे होनेवाले वाह्य रचना विशेषका नाम द्रव्यलिंग है। वह पुद्गल का परिणाम है और यहांपर आत्माके परिणामोंका प्रकरण चल रहा है इसलिये सूत्रमें जो लिंग शब्दका उल्लेख किया गया है उसका अर्थ द्रव्यलिंग नहीं लिया जा सकता किंतु आत्माका परिणाम स्वरूप भावलिंग है। वह भावलिंग स्त्री पुरुष और नपुंसक तीनोंकी आपसमें रमण करनेकी इच्छारूप है और

ऊपर औदयिक भावको इक्कीस प्रकार बतला आए हैं सूत्रकार अब उन भेदोंको गिनाते हैं—

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतु-स्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

मनुष्यगति देवगति नरकगति और तिर्यंचगति ये चार गति, क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद ये तीन लिंग, मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम असिद्धत्व एवं पीत पद्म शुक्ल कृष्ण नील और कापोत ये छह लेश्या ये सब मिला कर इक्कीस भेद औदयिक भावके हैं।

गतिश्च कषायश्च लिंगं च मिथ्यादर्शनं च अज्ञानं च असंयतश्च असिद्धश्च लेश्याश्च, गतिकषाय-लिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याः। यह यहांपर इतरेतरयोग द्वंद्वसमास है। चत्वारश्च चत्वारश्च त्रयश्च एकश्च एकश्च एकश्च एकश्च षट् च 'चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषट्' ते भेदा येषां ते चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। यह यहां पर द्वंद्वपूर्वक बहुव्रीहि समास है। इस समासमें यहां पर दो वार चतुर शब्दका प्रयोग और चार वार एक शब्दका प्रयोग करनेसे यह शंका हो सकती है कि यहांपर द्वंद्वसमासका अपवाद स्वरूप एक शेष समास होना चाहिये। परंतु इसका समाधान ज्ञानाज्ञानेत्यादि सूत्रमें विस्तारसे दे दिया गया है वही यहांपर समझ लेना चाहिये इसलिये यहां पर एक शेष समास नहीं किया गया। वार्तिककार गति आदि शब्दोंका अब खुलासा अर्थ लिखते हैं—

गतिनामकर्मोदयादात्मनस्तद्भावपरिणामाद्गतिरौदयिकी ॥ १ ॥

जिस कर्मके उदयसे आत्मा नारकी आदि हो वह गति नामका नामकर्म है और वह नरकगति तिर्यग्गति मनुष्यगति और देवगतिके भेदसे चार प्रकारका है। नरकगति नामक नामकर्मके उदयसे

नोकषायरूप चारित्र मोहनीयके उदयसे एवं स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे उसकी प्रकटता होती है इसलिये भावलिंग औदयिकभाव है।

दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनं ॥ ४ ॥

जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान करना आत्माका स्वभाव है और उस स्वभावका विघात करनेवाला दर्शन मोहनीयकर्म है । दर्शन मोहनीयकर्मके उदयसे प्रथमाध्यायमें कहे गये जीव अजीव आदिका वास्तविक रूपसे श्रद्धानका न होना मिथ्यादर्शन नामका औदयिक भाव है।

ज्ञानावरणोदयादज्ञानं ॥ ५ ॥

मेघपटलसे आच्छन्न हो जानेपर तेज स्वभाववाले भी सूर्यका तेज जिसप्रकार प्रगट नहीं होता उसीप्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदय रहने पर ज्ञानस्वरूपवाले भी आत्माके जो ज्ञानगुणका प्रगट न होना है अर्थात् अज्ञान बना रहना है वह अज्ञान औदयिक भाव है। इसका खुलासा इसप्रकार है—

जो जीव एकेंद्रिय हैं उनके रसनेंद्रियजन्य सर्वघातिस्पर्धक रूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे रसका, घ्राणेंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे गंधका, श्रोत्रेंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे शब्दका और चक्षुरिंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे रूपका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनके वह रस आदिका अज्ञान औदयिक भाव है। जो जीव दो इंद्रिय हैं उनके घ्राण आदि इन्द्रियजन्य भिन्न भिन्न सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे गंधादिका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनका वह गंध आदिका अज्ञान औदयिक भाव है। जो जीव तेइंद्रिय हैं उनके श्रोत्र आदि इंद्रिय सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप भिन्न भिन्न मतिज्ञानावरण कर्मके

उदयसे शब्द आदिका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनका वह शब्द आदिका अज्ञान औदयिकभाव है।

शुक और सारिका आदि पक्षी जो कि स्पष्ट रूपसे अक्षरोंका उच्चारण कर सकते हैं उन्हें छोडकर तिर्यंचोंमें तथा जो स्पष्टरूपसे अक्षरोंका उच्चारण नहीं कर सकते ऐसे कुछ मनुष्योंमें सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप अक्षर श्रुतावरण कर्मके उदयसे अक्षरात्मक श्रुतकी रचना नहीं होती इसलिये उनका अक्षर श्रुतका अज्ञान औदयिकभाव है।

तथा असंज्ञित्व भाव भी औदयिक भाव है। यद्यपि औदयिक भावके भेदोंकी गणना करते समय उसका उल्लेख नहीं किया गया है तथापि अज्ञानभावके अंदर ही उसका अंतर्भाव है क्योंकि सर्व-घाति स्पर्धकस्वरूप नो इंद्रियावरण कर्मके उदय रहनेपर कौन पदार्थ हितकारी है और कौन अहित-कारी है इसप्रकार परीक्षा करनेकी शक्तिका न रखना ही असंज्ञित्व है और वह अज्ञान स्वरूप ही है इसलिये यहां असंज्ञित्व नामक औदयिक भावकी पृथक् उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं।

इसीतरह सर्वघाति स्पर्धकस्वरूप अवधिज्ञानावरण कर्मके उदय रहनेपर जो अवधिज्ञानके विषय भूत पदार्थोंका न जानना रूप अज्ञान है वह औदायिक भाव है। सर्वघाति स्पर्धकरूप मनःपर्यय ज्ञाना-वरण कर्मके उदय रहनेपर मनःपर्ययज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका अज्ञान भी औदयिक भाव है। तथा सर्वघाती स्पर्धकस्वरूप केवल ज्ञानावरणकर्मके उदय रहनेपर केवलज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका अज्ञान भी औदयिक भाव है।

चारित्रमोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः ॥ ६ ॥

सर्वघाति स्पर्धकस्वरूप चारित्र मोहनीयकर्मके उदयसे असंयत नामका औदयिक भाव होता है

और उसका अर्थ जीवोंका मारना और स्पर्श रस आदि इंद्रियोंके विषयोंमें राग और द्वेषका रखना है। अर्थात् आत्मामें असंयत भावके उदयसे जीवोंके मारनेमें और स्पर्श रस आदि इंद्रियोंके विषयोंमें सदा राग और द्वेष बना रहता है। उसकी निवृत्ति नहीं होती।

कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः ॥ ७ ॥

अनादिकालसे कर्मोंके पराधीन आत्माके सामान्य रूपसे समस्त कर्मोंके उदय रहनेपर असिद्धत्व पर्याय होती है। उनमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानको आदि लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानपर्यंत जीवोंके आठो कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है। उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीवोंके मोह-नीय कर्मोंके सिवा सात कर्मोंके उदयसे असिद्धत्वभाव होता है और सयोग एवं अयोग केवलीके वेद-नीय आयु नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है इसप्रकार कर्म-सामान्यके उदय रहनेपर असिद्धत्वभावके होनेपर वह औदयिक भाव है।

कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ॥ ८ ॥

क्रोध आदि कषायोंके उदयसे रंगी हुई जो मन वचन और कायरूप योगोंकी प्रवृत्ति है उसका नाम लेश्या है। वह लेश्या द्रव्यलेश्या और भावलेश्याके भेदसे दो प्रकारकी है। यहांपर आत्माके भावों का प्रकरण चलरहा है इसलिये सूत्रमें जो लेश्या शब्द है उससे आत्माके भावस्वरूप भावलेश्याका ही ग्रहण है द्रव्यलेश्याका नहीं क्योंकि जिन कर्मोंका विपाक पुद्गलद्रव्यके अंदर होता—अर्थात् शरीर आदि पुद्गलद्रव्यको फल भोगना पडता है उन पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयसे द्रव्यलेश्याकी उत्पत्ति होती है इस-लिये द्रव्यलेश्या आदिक भाव न होनेके कारण उसका ग्रहण नहीं। शंका—

आत्माके प्रदेशोंकी हलन चलन रूप क्रियाका नाम योगप्रवृत्ति है वह वीर्यलब्धि स्वरूप ही है क्योंकि जिस योगके द्वारा आत्मामें हलन चलन होगा उस योगके योग्य वीर्यका रहना आत्मामें आवश्यक है और उस वीर्यलब्धिको ऊपर क्षायोपशमिक भाव बता दिया गया है तथा कषायको औदयिक भावोंमें गिनाया गया है। उस वीर्यलब्धि और कषायोंसे भिन्न लेश्या कोई पदार्थ नहीं फिर उसका सूत्रमें पृथक् उल्लेख करना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। कषायके उदयकी तीव्र और मंद अवस्थाकी अपेक्षा कषाय और लेश्याओंमें आपसमें भेद है इसरीतिसे जब कषाय और लेश्या भिन्न भिन्न पदार्थ सिद्ध हैं तब औदयिक भावोंमें लेश्याओंका पृथक्‌रूपसे गिनाना अयुक्त नहीं।

वह लेश्या कृष्ण नील कपोत पीत पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी है। यद्यपि लेश्या एक ही पदार्थ है तथापि आत्माके परिणामकी विशेष अशुद्धिकी अपेक्षा उसके कृष्णलेश्या आदि व्यावहारिक नाम हैं अर्थात् जहांपर आत्मपरिणामोंमें हद दर्जेकी कालिमा रहेगी वहांपर कृष्णलेश्या यह व्यवहार होगा। जहांपर उससे कुछ कम कालिमा रहेगी वहांपर नीललेश्या व्यवहार होगा। जहांपर उससे भी कम रहेगी वहांपर कपोतलेश्या, उससे भी कम रहनेपर पीतलेश्या उससे भी कम रहनेपर पद्मलेश्या और बहुत कम रहनेपर शुक्ललेश्या यह व्यवहार होगा[1]। शंका—

उपशांतकषाय गुणस्थानवर्ती क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती और सयोगकेवलियोंके शुक्ललेश्या होती

१। इसका चित्रमय दृष्टांत जगह जगह मंदिरोंमें वर्तमानमें दीख पडता है। चित्रमें छह लेश्याओंके स्थान पर छै मनुष्य रक्खे गये हैं और एक फलसंयुक्त वृक्ष बनाकर फलोंके खानेकेलिये उन छहो मनुष्योंके उत्तरोत्तर कालिमाकी कमीको लिये हुऐ जुदे जुदे भावोंका दिग्दर्शन कराया गया है।

है ऐसा आगमका वचन है। परंतु वहांपर कषायोंके उपशांत वा सर्वथा क्षीण हो जानेसे उसके द्वारा अनुरंजन हो नहीं सकता इसलिये लेश्या सामान्य औदायिक भाव नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं। नैगमनयका एक पूर्वभावप्रज्ञापन भेद माना है और जो बात पाहिले थी किंतु वर्तमानमें नहीं है उसका वर्तमानमें होना मान लेना यह उस नयका विषय है। यद्यपि उपर्युक्त तीनों गुणस्थानोंमें योगोंकी प्रवृत्ति कषायोंसे अनुरंजित नहीं है तथापि पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा जो पाहिले योगोंकी प्रवृत्ति कषायोंसे अनुरंजित थी वह अब भी है ऐसा उपचारसे मान लिया जाता है इसरीतिसे उपशांत कषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवलीगुणस्थानोंमें होनेवाली शुक्ललेश्यामें भी जब लेश्याका लक्षण घट जाता है तब कोई दोष नहीं। चौदहवें अयोगकेवलिगुणस्थानमें लेश्याका अभाव है क्योंकि वहांपर योग प्रवृत्ति नहीं है। इसलिये अयोग केवलियोंको अलेश्य माना है। शंका—

१। जोगपउत्तीलेस्सा कसाय उदयाणु रंजिया होई ॥ ४८९ ॥
अयदोत्ति छल्लेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥ ५३१ ॥
योगप्रवृत्तिर्लेश्या कषायोदयानुरंजिता भवति ॥ ४८९ ॥
असंयत इति षट् लेश्याः शुभत्रयलेश्या हि देशविरतत्रये।
ततः शुक्ला लेश्या अयोगिस्थानमलेश्यं तु ॥ ५३१ ॥

कषायोदयसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्तिका नाम लेश्या है। उसके छह भेद हैं। उनमें चतुर्थ गुणस्थानपर्यंत छहो लेश्या होती हैं। देशविरत प्रमत्तविरत अप्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानोंमें तीन शुभ लेश्या ही होती हैं। अपूर्व करणसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत एक शुक्ललेश्या ही होती है और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है। (गोम्मटसार जीवकांड)

जो भाव कर्मोंके उदयसे हों उन्हें औदायिक भाव माना है। सूत्रकारने उन औदयिक भावोंके केवल इक्कीस ही भेद गिनाये हैं परंतु उनके और भी भेद हैं और वे इसप्रकार हैं—जिसप्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला अज्ञान भाव औदायिक है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्मके उदयसे अदर्शन निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला आदि, वेदनीय कर्मके उदयसे सुख दुःख, नोकषाय वेदनीयके उदयसे हास्य रति अरति आदि छह भाव, आयु कर्मके उदयसे भव धारण करना भाव, उच्चगोत्रके उदयसे उच्चगोत्र परिणाम, नीचगोत्रके उदयसे नीचगोत्र परिणाम और नामकर्मके उदयसे जाति आदिक भाव होते हैं इसलिये ये भी सब औदायिक भाव हैं परंतु इनको सूत्रमें भिन्न भिन्न रूपसे गिनाया नहीं गया इसलिये सूत्रमें कमी कही जायगी। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि यहांपर आत्माके भावोंका प्रकरण चल रहा है इसलिये शरीर आदि कुछ भाव हों भी तो भी वे पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे जायमान हैं इसलिये यहां सूत्रमें उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता ? सो ठीक नहीं। क्योंकि बहुतसे जीवविपाकी होनेसे जाति आदिक आत्माके भी भाव हैं इसलिये उनका ग्रहण तो सूत्रमें होना चाहिये। बिना उन्हें ग्रहण किये सूत्रकी कमी पूरी नहीं हो सकती इसवातका वार्तिककार खुलासा रूपसे उत्तर देते हैं—

मिथ्यादर्शनेऽदर्शनावरोधः ॥ ९ ॥

सूत्रमें जो मिथ्यादर्शनका उल्लेख किया गया है उसमें अदर्शनका अंतर्भाव है तथा निद्रा निद्रानिद्रा आदिक भाव भी दर्शनावरण सामान्य कर्मके उदयसे होते हैं इसलिये उनका भी मिथ्यादर्शनके अंदर ग्रहण है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि जीव आदि पदार्थोंको याथात्म्यरूपसे श्रद्धानका न होना मिथ्यादर्शन कहा गया है और यहांपर जो अदर्शन है उसका अर्थ न दीखना है। एकदम

भिन्न अर्थ है इसलिये मिथ्यादर्शनमें अदर्शनका अंतर्भाव नहीं हो सकता तथा जब अदर्शनका ही अभाव नहीं हो सकता तब निद्रानिद्रा निद्रा आदिका अंतर्भाव हो ही नहीं सकता इसलिये मिथ्यादर्शनमें अदर्शन आदिका अंतर्भाव कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं। जहांपर सामान्यका निदर्शन किया जाता है वहांपर विशेषोंका ग्रहण हो जाता है। अदर्शन शब्द सामान्य अर्थका वाचक है उसका एक विशेष अर्थ–जीवादि पदार्थोंका यथार्थ रूपसे श्रद्धान न करना, यह भी है और दूसरा विशेष अर्थ–'नहीं देखना' यह भी है इसरीतिसे अप्रतिपत्ति–नहीं देखना और मिथ्यादर्शन इन दोनों ही विशेष अर्थोंका वाचक जब अदर्शन शब्द है तब मिथ्यादर्शनके कहनेसे अदर्शनका ग्रहण हो सकता तथा अदर्शनके समान निद्रा आदिका भी ग्रहण हो सकता है इसलिये औदयिक भावोंमें पृथक् रूपसे उनको गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

लिंगग्रहणे हास्यरत्याद्यंतर्भावः सहचारित्वात् ॥ १० ॥

जिसप्रकार पर्वतके उल्लेख करनेसे नारदका और नारदके उल्लेख करनेसे पर्वतका ग्रहण हो जाता है क्योंकि दोनोंका आपसमें सहचरित संबंध है कभी भी उनका जुदा जुदा रहना नहीं माना गया। उसीप्रकार नोकषाय वेदनीयके भेद हास्य रति आदि, लिंगके साथ ही प्रतिपादित हैं इसलिये साहचर्य संबन्धसे लिंगके उल्लेख रहने पर उनका भी ग्रहण किया जा सकता है। इसरीतिसे जब सूत्रमें लिंग शब्दका ग्रहण रहनेसे हास्य आदिका उसीमें अंतर्भाव हो जाता है तब उनके पृथक् रूपसे औदयिक भावमें नाम गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

गतिग्रहणमघात्युपलक्षणं ॥ ११ ॥

जिसतरह 'काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः' काकोंसे घीकी रक्षा करो यहांपर काक शब्द उपलक्षण माना है और उस उपलक्षण माननेसे जितने भी जीव घीके विनाशक हों उन सबसे घीकी रक्षा करो यह उस वाक्यका भाव है उसीप्रकार सूत्रमें जो गति शब्द है वह भी अघाति कर्मोंका उपलक्षण है। उसके उपलक्षण होनेसे अघातिया कर्मोंके उदयसे जो भी उत्पन्न होनेवाले भाव हैं उन सबका गति शब्दसे ग्रहण है इसलिये नाम कर्मके उदयसे होनेवाले जाति आदि औदयिकभाव वेदनीय कर्मके उदयसे होने-वाले सुख और दुःख रूप औदयिकभाव, आयुकर्मके उदयसे होनेवाला भवधारण रूप भाव और गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाले नीचगोत्र ऊंचगोत्ररूप भाव सबोंका गतिमें अंतर्भाव है। इसरीतिसे जब जीवविपाकी कर्मोंके उदयसे होनेवाले अदर्शन आदि आत्माके औदयिक भावोंका मिथ्यादर्शन आदिमें अंतर्भाव युक्तिसिद्ध है सब अदर्शन आदि औदयिक भावोंका सूत्रमें उल्लेख न रहने पर सूत्रके बनानेमें कमी समझी जायगी यह शंका निर्मूल हो गई।

यहांपर द्विनवाष्टादशेत्यादि सूत्रसे यथाक्रम शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है। उसके बलसे गति चार प्रकारकी है। कषाय चार प्रकारके हैं। लिंग तीन हैं इत्यादि आनुपूर्वी क्रमसे अर्थकी प्रतीति हो जाती है इसलिये गतिकषायेत्यादि सूत्रमें 'यथाक्रम' शब्दके कहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं ॥ ६ ॥

पारिणामिक भावको तीन प्रकारका कह आये हैं। सूत्रकार अब उसके तीनों भेदोंको भिन्न भिन्न रूपसे गिनाते हैं—

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भेद पारिणामिक भावके हैं।

अन्यद्रव्यासाधारणात्त्रयः पारिणामिकाः ॥ १ ॥

जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव आत्माके सिवाय अन्य किसी भी द्रव्यमें न रहनेके कारण आत्माके विशेष भाव हैं । ये तीनों भाव पारिणामिक क्यों हैं वार्तिककार इस बातको स्पष्ट करते हैं—

कर्मोदयक्षयोपशमक्षयोपशमानपेक्षत्वात् ॥ २ ॥

जिन भावोंकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय उपशम और क्षयोपशम कारण नहीं पडते वे पारिणामिक भाव कहे जाते हैं । जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्वरूप भावोंकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय उपशम क्षयोपशम कारण नहीं पडते किंतु ये जीव द्रव्यके स्वरूप हैं—अनादिकालसे उक्त भावोंका स्वरूप संबंध जीवके साथ बराबर चला आया है कितना भी बलवान आत्माके साथ कर्मोंका संबंध हो जाय इन भावोंका विपरिणाम नहीं हो सकता इसलिये जीवके गुण स्वरूप ही होनेके कारण, जीवत्व आदि पारिणामिक ही भाव हैं । शंका—

आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेन्न पुद्गलद्रव्यसंबंधे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् ॥ ३ ॥

सिद्धस्याजीवत्वप्रसंगात् ॥ ४ ॥

अनादि कालसे आत्माका परिणाम होनेसे जीवत्व भावको पारिणामिक भाव बताया है परंतु वह ठीक नहीं किंतु आयुकर्मके उदयसे जो जीवे उसका नाम जीव है इसरीतिसे आयुकर्मके उदयके आधीन जीवत्वकी उत्पत्ति होनेसे उसे औदायिक भाव ही मानना ठीक है पारिणामिक भाव नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं । पुद्गल द्रव्यके संबंधसे अन्य द्रव्यकी—जीव द्रव्यकी सामर्थ्य नहीं प्रगट हो सकती । जीवत्व

जीवकी सामर्थ्य विशेष है। उसका पुद्गलीक आयुकर्मके उदयसे जीवमें प्रगट होना असंभव है। यदि कदाचित् जबरन पुद्गलीक आयुकर्मके उदयसे जीवमें जीवत्व शक्तिकी प्रकटता मानी जायगी तो आयुकर्मका संबंध तो धर्म अधर्म आदि अचेतन द्रव्योंके साथ भी है। उसके संबंधसे उनमें भी जीवत्व शक्तिकी प्रकटता मान लेनी चाहिये और उन्हें चेतन कहना चाहिये परंतु उनमें वैसा नहीं हो सकता इसलिये आयुकर्मके उदयसे जीवत्व भावकी प्रकटता नहीं हो सकती किंतु वह पारिणामिक ही भाव है। और भी यह बात है कि—

यदि आयुकर्मके उदयसे ही जीवत्व भाव माना जायगा तो सिद्धोंमें जीवत्वकी नास्ति कहनी पडेगी क्योंकि उनके आयुकर्मका संबंध नहीं है इसलिये उन्हें अजीव कहना पडेगा परंतु सिद्धोंमें जीवत्व भावकी नास्ति नहीं इसलिये उसकी उत्पत्ति आयुकर्मके आधीन न मानकर वह पारिणामिक भाव ही मानना पडेगा। शंका—

जीवे त्रिकालविषयविग्रहदर्शनादिति चेन्न रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात् ॥ ५ ॥

जो जीता है पहिले जीया और आगे जीवेगा इसप्रकार जीव शब्दका तीनों कालसंबंधी विग्रह दीख पडता है तथा यहांपर जीव शब्दका अर्थ प्राण धारण करनेवाला है। प्राण धारण करनेमें कर्मकी अपेक्षा करनी पडती है इसरीतिसे जब जीवत्व भाव कर्मापेक्ष सिद्ध होता है तब वह पारिणामिक भाव नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। जितने भी रूढिशब्द हैं उनकी भूत भविष्यत् वर्तमान कालके आधीन जो भी क्रिया है, वे केवल उन्हें सिद्ध करनेकेलिये हैं उनसे जो अर्थ द्योतित होता है वह नहीं लिया जाता। जिसतरह गोशब्दका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ 'गच्छतीति गौः' अर्थात् जो जावे वह गाय है, यह है

परंतु यहां इस व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थका आदर न कर रूढिसिद्ध सास्नादिविशिष्ट गाय ही अर्थ लिया गया है। जीव शब्दकी भी सिद्धि करते समय तीनों कालसंबंधी उसकी व्युत्पत्ति की जाती है और उस व्युत्पत्तिसे जीव शब्दका अर्थ प्राण धारण करनेवाला होता है परंतु यहांपर जीव शब्दका यह व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ नहीं लिया गया किंतु रूढ अर्थ चैतन्य ही लिया गया है। उस चैतन्य भावकी प्रकटताके लिये किसी भी कर्मकी अपेक्षा नहीं पडती इसलिये जीवत्व पारिणामिक ही भाव है। अथवा—

चैतन्यमेव वा जीवशब्दस्यार्थः ॥ ६ ॥

जीव शब्दका अर्थ चैतन्य ही है और अनादिकालसे जीवद्रव्यका उसी रूप होना ही उसमें निमित्त कारण है और कोई कर्म निमित्त कारण नहीं इसलिये जीवत्व पारिणामिक ही भाव है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः ॥ ७ ॥

भविष्यतीति भव्यः जो आगे होनेवाला हो वह भव्य है इस व्युत्पत्तिके आधार पर भव्य और अभव्यका प्रायः भविष्यत काल ही विषय है उसीके अनुसार जो आत्मा आगामी कालमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणत होनेवाला है वह भव्य है ऐसे अर्थका द्योतन करनेवाली यहां भव्य संज्ञा मानी गई है।

तद्विपरीतोऽभव्यः ॥ ८ ॥

जो आत्मा कभी भी आगामी कालमें सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंसे परिणत होनेवाला न हो वह अभव्य है। यह जो भव्य और अभव्यका भेद है वह किसी कर्मके आधीन नहीं किंतु वैसी भेदव्यवस्था जीवके स्वभावके ही आधीन है इसलिये भव्य और अभव्य दोनों भाव पारिमाणिक हैं। शंका—

योऽनंतेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेन्न भव्यराश्यंतर्भावात् ॥ ९ ॥

भव्योंमें भी बहुतसे जीव ऐसे माने गये हैं जिन्हें अनंतकालके बाद भी मोक्ष नहीं मिल सकती। जो अभव्य है उनके लिये भी यह कहा गया है कि वे भी अनंतकालके बाद भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते इसरीतिसे भव्य और अभव्योंको जब मोक्षकी प्राप्तिमें कालकी तुल्यता है तब वे भव्य भी अभव्य ही हैं। यदि यह कहा जायगा कि भव्योंकी सिद्धि हो जाती है तब अभव्योंकी सिद्धि भी हो सकती है फिर अंतमें सबकी सिद्धि हो जाने पर एक दिन समस्त जगत जीवशून्य कहा जा सकता है इसलिये जो अनंतकालके बाद भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते उन्हें भी अभव्य ही कहना चाहिये? सो ठीक नहीं। कनकपाषाण एक प्रकारका पत्थर होता है जो कालांतरमें सुवर्णस्वरूप परिणत हो जाता है। यहांपर जो कनकपाषाण अनंतकालके बाद भी सुवर्णस्वरूप परिणत न होगा उसको भी जिसप्रकार कनकपाषाण ही माना जाता है क्योंकि उसमें सुवर्णस्वरूप परिणत होनेकी शक्ति है और कारण कलापके मिल जाने पर वह नियमसे एकदिन सुवर्णरूप परिणत होगा किंतु उस अन्धपाषाण अर्थात् वह कभी सुवर्णरूप परिणत होगा ही नहीं ऐसा पाषाण, नहीं माना जाता उसीप्रकार जिस भव्यको अनंतकालके बाद भी मोक्ष नहीं प्राप्त होगी वह भी भव्य ही है क्योंकि भले ही उसके मोक्षकी प्राप्ति न हो परंतु उसमें उसके प्राप्त करनेकी शक्ति विद्यमान है और कारण कलापके मिल जाने पर अवश्य ही उसे मोक्ष प्राप्त हो सकती है इसलिये वह अभव्य नहीं कहा जा सकता। अथवा और भी यह बात है कि जिस आगामीकालका समावेश अनंतकालमें न होगा वह आगामी काल ही न कहा जायगा यह बात नहीं किंतु अनंतकालके वाहिरका भी काल आगामीकाल है। इसरीतिसे जो भव्य अनंतकालके

भीतरके आगामीकालमें सिद्धि लाभ न कर सकेगा वह उसके वाहिरके आगामीकालमें करेगा आगामी कालपना नष्ट नहीं हो सकता। परंतु अभव्य कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता इसलिये कथंचित् कालकी तुल्यता समझ भव्यको अभव्यके समान बताना निर्मूल है। अर्थात् भव्यमें मोक्षप्राप्तिकी शक्ति है अभव्यमें शक्ति भी नहीं है। सारांश यहां यह है कि--

जो जीवात्मा अनंतकालके बाद भी सिद्धि न प्राप्त कर सके किंतु उसके अंदर मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य हो और योग्य कारण कलापसे उस सामर्थ्यके प्रगट हो जानेकी जिसमें योग्यता हो वह भव्य ही है किंतु जिसके अंदर मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य ही न हो मोक्ष प्राप्तिके योग्य कारण कलापके मिलने पर भी जो कभी गुण प्राकट्यकी योग्यता नहीं रखता हो वह अभव्य ही है। कालकी कथंचित् समानता मिल भी जाय तो भी भव्य, अभव्य नहीं कहा जा सकता।

भावस्यैकत्वनिर्देशो युक्त इति चेन्न द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धेः ॥ १० ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि' यहांपर जीवश्च भव्यश्च अभव्यश्च जीवभव्याभव्याः इस द्वंद्व समासके करने के बाद जीव आदिके भावकी विवक्षा रहने पर तेषां भावा जीवभव्याभव्यत्वानि ऐसी सिद्धि है। यहां पर यह शंका होती है कि उपर्युक्त द्वंद्वसमासके बाद भावकी विवक्षा रहने पर 'जीवभव्याभव्यानां भावः, जीवभव्याभव्यत्वं' यह एक वचन कहना चाहिये था जीवभव्याभव्यात्वानि यह बहुवचन क्यों किया गया? परंतु वह ठीक नहीं। जब जीव अभव्य आदि भिन्न भिन्न है तव उनके भाव भी भिन्न भिन्न ही होने चाहिये, तथा भावप्रत्यय रहने पर एक ही वचन होता है यह कोई नियम भी नहीं इसलिये जीव आदि द्रव्योंके भेदसे जब भावभेद होना अयुक्त नहीं भावमें एक वचनका कहना भी नियमरूप नहीं

तब 'जीवभव्याभव्यानां भावा, जीव भव्याभव्यत्वानि' यह निर्देश ठीक ही है। यहांपर त्व प्रत्ययका संबंध जीव आदि प्रत्ययके साथ है इसलिये जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व यह भिन्न भिन्न रूपसे समझ लेना चाहिये।

द्वितीयगुणग्रहणमार्षोक्तत्वादितिचेन्न तस्यनयापेक्षत्वात् ॥ ११ ॥

सासादन नामक द्वितीयगुणस्थानसंबंधी सासादनसम्यग्दृष्टिभावको आगममें पारिणामिक भाव बतलाया है उसीको लक्ष्यकर शंकाकार यह शंका करता है कि जब द्वितीयगुणस्थान संबंधी सासादनसम्यग्दृष्टि भावको आगममें पारिणामिकभाव बतलाया है तब जीव आदि पारिणामिक भावोंके साथ उसे भी कहना चाहिये क्योंकि जीव आदिकी तरह कर्मोंकी अपेक्षा रहित वह भी साधारण पारिणामिक भाव है? सो ठीक नहीं। सासादनसम्यग्दृष्टिभाव अपनी उत्पत्तिमें मिथ्यात्वकर्मके उदय क्षय और उपशमकी अपेक्षा नहीं करता इसलिये इस अपेक्षा तो उसे पारिणामिक भाव माना है परंतु अपनी उत्पत्ति में अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभके उदयकी अपेक्षा रखता है इसलिये वह औदयिकभाव भी माना गया है इसरीतिसे जब साध्य—किसी एक अपेक्षासे उसका पारिणामिकपना है सर्वथा पारिणामिकपना नहीं किंतु जीवत्व आदि जो पारिणामिक भावके भेद बताये हैं वे किसी भी अपेक्षा पारिणामिकके सिवाय अन्यभावके भेद नहीं हो सकते इसलिये सासादनसम्यग्दृष्टिभावकी जीवत्व आदिके साथ गणना नहीं हो सकती। सूत्रमें जो च शब्द है उसका प्रयोजन वार्तिककार बतलाते हैं—

अस्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वपर्यायवत्वासर्वगतत्वानादिसंततिबधंनबद्धत्व
प्रदेशवत्वारूपत्वनित्यत्वादिसमुच्चयार्थश्चशब्दः ॥ १२ ॥

आस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायवत्व असर्वगतत्व अनादिसंततिबंधनबद्धत्व प्रदेशवत्व अरूपत्व नित्यत्व आदि भाव भी पारिणामिक भाव हैं उनके संग्रह करनेके लिये सूत्रमें च शब्दका उल्लेख किया गया है। शंका—जब आस्तित्व आदि पारिणामिक भाव हैं तब जीवत्व आदिके समान सूत्रमें उनका उल्लेख करना चाहिये ? उत्तर——

अन्यद्रव्यसाधारणत्वादसूत्रिताः ॥ १३ ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें जो पारिणामिकभाव आत्माके ही असाधारण भाव हैं उनका उल्लेख है किंतु जो भाव आत्मा और उससे भिन्न भी द्रव्योंमें रहनेवाले हैं उनका ग्रहण नहीं। अस्तित्व आदि जो भाव हैं वे आत्मा और उससे भिन्न भी द्रव्योंमें रहनेवाले हैं इसलिये वे साधारण हैं इसलिये सूत्रमें उनका उल्लेख न कर च शब्दमें उनका संग्रह किया गया है अस्तित्व आदि धर्म किसप्रकार साधारण और पारिणामिक हैं उनका खुलासा इसप्रकार है—

अस्तित्व भाव जीव आदि छहों द्रव्योंमें रहनेवाला है इसलिये वह साधारण है तथा अपनी उत्पत्तिमें वह कर्मोंके उदय क्षय उपशम और क्षयोपशमकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। प्रत्येक द्रव्य आपसमें भिन्न भिन्न है इसलिये अन्यत्व धर्म छहों द्रव्योंमें रहनेके कारण साधारण है तथा अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। सब ही अपनी अपनी क्रियाओंके करनेमें स्वतंत्र हैं कर्ता स्वतंत्र ही होता है इसरीतिसे कर्तृत्व धर्म सब द्रव्योंमें रहनेके कारण साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। शंका—

एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाना क्रिया है । यह क्रिया जीव और पुद्गलमें बन सकती है क्योंकि समस्त द्रव्योंमें जीव और पुद्गलको ही जैनसिद्धांतमें क्रियावान माना गया है । इसलिये उन दोनोंमें तो क्रियाका कर्तृत्व रह सकता है धर्म अधर्म आदिमें कोई क्रिया हो नहीं सकती इसलिये उनमें क्रियाका कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता इसरीतिसे कर्तृत्व धर्म सब द्रव्योंमें रहनेवाला साधारण नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं । धर्म आदि द्रव्योंमें गमन क्रिया विषयक कर्तृत्व न भी हो तथापि अस्ति आदि विशेष क्रियाविषयक कर्तृत्व है ही इसरीतिसे सामान्यरूप अपनी अपनी योग्य क्रियाओंका कर्तृत्व जब सब द्रव्योंमें है तब कर्तृत्व धर्म साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह पारिणामिक भाव है । पुनः शंका—

आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होना योग कहा गया है । उसका कर्तृत्व साधारण धर्म नहीं क्योंकि सिवाय आत्माके वह किसी भी अन्य द्रव्यमें नहीं रहता तथा अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा न करनेके कारण वह पारिणामिक भाव है इसलिये असाधारण और पारिणामिक होनेसे जीवत्व आदिके साथ उसका सूत्रमें उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं यह ऊपर कहा जा चुका है कि जिसकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं वह पारिणामिक भाव है । योगोंके कर्तृत्वमें क्षयोपशमकी अपेक्षा है इसलिये असाधारण होने पर भी योगोंका कर्तृत्व क्षायोपशमिक ही

१ वीर्यांतरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालंबनापेक्षया आत्मप्रदेशपरिस्पंदः काययोगः । शरीर नामकर्मोदयापादित वाग्वर्गणालंबने सति वीर्यांतरायमत्यक्षराद्यावरण क्षयोपशमापादिताभ्यंतरवाग्लब्धिसांनिध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनःप्रदेशपरिस्पदो वाग्योगः । अभ्यंतरवीर्यांतरायनोइंद्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालंबने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पंदो मनोयोगः ।

भाव है पारिणामिक भाव नहीं। यद्यपि पुण्य और पापका कर्तृत्व सिवाय जीवके और किसी भी द्रव्यमें नहीं इसलिये असाधारण होनेसे उनके विषयमें यह कहा जा सकता है कि जीवत्व आदि जीवके असाधारण भावोंमें उसकी गणना करनी चाहिये परंतु उसके पुण्य और पापकी उत्पत्ति कर्मोंके उदय और क्षायोपशमके आधीन है इसलिये पारिणामिक भाव न होनेके कारण उसकी जीवत्व आदि जीवके पारिणामिक भावोंके साथ गणना नहीं हो सकती। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय योग पुण्य और पापको बंधका कारण बताया गया है। उनमें मिथ्यादर्शनभावकी उत्पत्ति दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होती है इसलिये अपनी उत्पत्तिमें कर्मके उदय की अपेक्षा रखनेके कारण वह पारिणामिकभाव नहीं हो सकता। अविरति प्रमाद और कषायोंकी

अर्थात्—वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम रहनेपर औदारिक औदारिककायमिश्र, वैक्रियिक वैक्रयिकमिश्र, आहारक आहारकमिश्र और कार्माण इन सात काय वर्गणाओंमें अन्यतम किसो वर्गणाकी अपेक्षासे जो आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होना है उसका नाम काय योग है। शरीर नाम कर्मके उदयसे होनेवाली वचन वर्गणाके आलंबन रहनेपर वीर्यांतरायकर्म और मत्यक्षरादि आवरणोंकी क्षायोपशम रूप वाग्लब्धिके सन्निधानमें वचन परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंका जो हलन चलन होना है वह वाग्योग है। तथा जहांपर वीर्यांतराय और नो इन्द्रियावरण कर्मका क्षायोपशमरूप मनोलब्धिका सन्निधान तो अंतरंग कारण हो और मनोवर्गणाका आलंबन वाह्य कारण हो वहां पर मनरूप परिणामके अभिमुख आत्माका जो हलन चलन होना है वह मनोयोग है। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ संख्या १८३।

१ सतावेदनीय तिर्यग् मनुष्य देव आयु, उच्चगोत्र आदि अडसठि प्रकृति पुण्यप्रकृति हैं। और चार घातिया कर्मोंकी सैंतालिस प्रकृति, असातावेदनीय नरकायु नीचगोत्र और नामकर्मकी पचास प्रकृति इसप्रकार ये सौ पाप प्रकृति हैं। ये पुण्य और पाप दोनों प्रकारकी प्रकृतियां अपने अपने कर्मोंके उदय और क्षयोपशमसे होती हैं।

उत्पत्तिमें चारित्रमोहनीयकर्मका उदय कारण है इसलिये वे भी अपनी उत्पत्तिमें कर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेके कारण पारिणामिक भाव नहीं हो सकते। योग अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखते हैं यह बात ऊपर कही जा चुकी है इसलिये वे भी पारिणामिकभाव नहीं कहे जा सकते परंतु पुण्य और पापका कर्तृत्व आत्मा सिवाय किसी भी अन्य द्रव्योंमें नहीं रहता एवं अनादिकालीन पारिणामिक चैतन्य भावके सन्निधानमें इसकी उत्पत्ति होती है इसलिये अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा न रखनेके कारण पुण्य और पाप कर्तृत्व पारिणामिक भाव है और असाधारण भी है इसलिये इसकी गणना जीवत्व आदि भावोंके साथ पृथक् रूपसे होनी चाहिये ? सो ठीक नहीं। यदि अनादि कालीन पारिणामिक चैतन्य भावको पुण्य पापकी उत्पत्तिमें कारण माना जायगा तो सदाकाल आत्मामें पुण्य पापकी उत्पत्ति होती रहेगी फिर सिद्धोंके भी पुण्य पापकी उत्पत्ति कहनी पडेगी क्योंकि उनकी उत्पत्तिका कारण चैतन्य सिद्धोंके अंदर भी विराजमान है। तथा पुण्य पापकी उत्पत्तिका कारण चैतन्य सब संसारी जीवोंके समान है इसलिये सामान्यरूपसे सबोंके एकसमान पुण्य पापका कर्तृत्व होना चाहिये। परंतु ऐसा होता नहीं इसलिये असाधारण होनेपर भी पुण्य और पापको कर्तृत्व पारिणामिक भाव नहीं माना जा सकता किंतु कर्मोंके उदय और क्षयोपशमके आधीन उसकी उत्पत्ति है इसलिये उसे औदयिक और क्षायोपशमिक भाव मानना ही युक्त है।

भोक्तृत्व और भोग दोनों एक हैं और शक्तिकी अधिकतासे परपदार्थोंकी शक्तिको ग्रहण करनेका सामर्थ्य रखना भोक्तृत्व शब्दका अर्थ है। जिसतरह—आत्मा अपनी शक्तिकी आधिकतासे पर द्रव्य स्वरूप घी दूध आदि आहारकी शक्ति ग्रहण कर लेता है इसलिये वह भोक्ता है और उसके अन्दर

भोक्तृत्व धर्म है । अचेतन भी विष पदार्थ अपनी विशिष्ट शक्तिसे कोदों आदि द्रव्योंकी सामर्थ्यको हरण कर अपने स्वरूप परिणमा लेता है इसलिये वह भोक्ता है और उसके अन्दर भोक्तृत्व धर्म है। तथा लवण आदि द्रव्य अपनी सामर्थ्यकी अधिकतासे काष्ठ पत्थर आदि पदार्थोंको लवण स्वरूप परिणमा देते हैं इसलिये वे भोक्ता हैं और उनके अंदर भोक्तृत्व धर्म है इसीप्रकार सब पदार्थोंमें अपनी अपनी योग्यताके अनुसार भोक्तृत्व धर्म समझ लेना चाहिये इसरीतिसे हरएक पदार्थमें रहनेके कारण भोक्तृत्व (भोग) साधारण भाव है और अपने होनेमें वह किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता—अनादिकालसे हरएक पदार्थका वैसा स्वभाव चला आया है इसलिये वह पारिणामिकभाव है। यहांपर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि हरएक पदार्थमें रहनेवाला भोगसामान्य पारिणामिकभाव है किंतु आत्माका जो विशेष भोक्तृत्व धर्म है वह पारिणामिक नहीं किंतु वह भोगांतराय कर्मके क्षयोप शमसे होता है इसलिये क्षायोपशमिकभाव है आत्माके सिवाय अन्य पदार्थके साथ कर्मोंका संबंध हो नहीं सकता इसलिये सामान्यसे भोक्तृत्व धर्म पारिणामिक है।

वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम और अंगोपांग नामक नाम कर्मके बलसे आत्मा शुभ अशुभ कर्मोंके फलोंके उपभोगनेमें समर्थ होता है। शुभ और अशुभ कर्मोंके फलोंका उपभोगना ही आत्माका उपभोक्तृत्व (उपभोग) धर्म है । यह उपभोक्तृत्व धर्म साधारण नहीं क्योंकि सिवाय आत्माके किसी भी अन्य पदार्थके अंदर यह धर्म नहीं रहता । तथा अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखता है इसलिये पारिणामिक भाव भी नहीं। शंका—

ऊपर भोक्तृत्व सामान्यको साधारण और पारिणामिक बतलाया है और शक्तिकी अधिकतासे

पर पदार्थकी सामर्थ्यको हरण कर लेना भोक्तृत्व शब्दका अर्थ प्रतिपादन किया गया है परंतु आत्माके अंदर तो भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशम रूप विशिष्ट शक्ति मौजूद है। उसके द्वारा वह घी दूध आहार आदिकी शक्तिको खींच सकता है। तथा वीर्यांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप शक्तिके द्वारा घी दूधको पचा सकता है इसलिये उसके अंदर तो भोक्तृत्व धर्म कहा जा सकता है परंतु विष लवण आदि पदार्थोंमें तो भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति सिद्ध हो नहीं सकती इसलिये उनमें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये सिवाय आत्माके जब किसी पदार्थमें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध नहीं हो सकता तथा आत्मामें जो भोक्तृत्व धर्म है वह भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमसे जायमान होनेके कारण पारिणामिक नहीं कहा जा सकता तब सब पदार्थोंमें भोक्तृत्व धर्म मानकर उसे पारिणामिक कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं। जिसतरह सूर्यका प्रताप प्रतिनियत है उसकी उत्पत्तिमें किसी भी अन्य पदार्थकी अंश मात्र भी अपेक्षा नहीं रहती उसीप्रकार संसारमें जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी शक्ति प्रतिनियत है और वह अपनी उत्पत्तिमें किसीकी अपेक्षा न रखनेके कारण स्वाभाविक हैं। विष लवण आदि पदार्थोंमें भी पर पदार्थ—कोदों अन्न काष्ठ आदिकी सामर्थ्यको ग्रहण करनेकी विशिष्ट शक्ति प्रतिनियत और स्वाभाविक है इसलिये उनका परपदार्थोंकी शक्तिको ग्रहण कर उन्हें अपने स्वरूप परिणमावना निर्बाध है। इसरीतिसे जब विष लवण आदिमें भी भोक्तृत्व धर्मका होना सिद्ध है और विष आदिके अंदर रहनेवाला भोक्तृत्व अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक भी है तब उसे आत्माका ही धर्म बताना वा उसे पारिणामिक भाव न मानना अयुक्त है।

विशेष—वास्तवमें तो आत्मामें भी घी दूध आहार आदिकी सामर्थ्यका ग्रहण करना रूप भोक्तृत्व

आत्माकी प्रतिनियत शक्तिका ही कार्य है परंतु भोगांतराय कर्मका संबंध आत्माके साथ सिद्ध है और उसके क्षयोपशमसे भोक्तृत्व हो सकता है इसलिये उसे भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमका कार्य मान लिया है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि प्रतिनियत शक्तिके द्वारा ही जब आत्मामें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध है तब भोगांतराय कर्मके माननेकी क्या आवश्यकता है ? वह ठीक नहीं । भोगजन्य सुखका अनुभव करना ही वहां भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमका कार्य है । जिस आत्माके अंदर भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप लब्धि है वह भोगजन्य सुखका अनुभव करता है । जिसके अंदर नहीं है वह नहीं इसलिये भोगांतराय कर्म व्यर्थ नहीं माना जा सकता ।

पर्यायवत्त्व और पर्याय दोनों एकार्थवाचक हैं। जीव अजीव आदि सब द्रव्योंमें समय समय प्रतिनियत रूपसे पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये सब द्रव्योंमें रहनेके कारण पर्यायवत्त्व धर्म साधारण है तथा पर्यायवत्त्वकी उत्पत्तिमें सामान्यरूपसे किसी भी कर्मके उदय क्षय आदिकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिये वह पारिणामिक है ।

सर्वगतत्त्वका अर्थ सर्वव्यापीपना है। जो पदार्थ सर्वव्यापी नहीं वह असर्वगत है। परमाणु स्कंध आदि पुद्गल द्रव्य असर्वगत हैं। धर्म अधर्म आत्मा आदि द्रव्य परिमित असंख्यात प्रदेशी है इसलिये सब द्रव्योंमें रहनेके कारण असर्वगतत्त्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक भाव है ।

विशेष—यद्यपि आकाशद्रव्य सब जगह रहनेके कारण सर्वव्यापी है इसलिये उसमें न रहनेके कारण असर्वगतत्व धर्म साधारण नहीं कहा जा सकता परंतु आकाशके लोकाकाश और अलोकाकाश

रूप ये दो भेद माने हैं वे दोनों ही असर्वगत हैं और दोनोंके अंदर असर्वगतत्व धर्म रहता है इसलिये आकाशद्रव्यकी भेदविवक्षाके आधीन यहां असर्वगतत्व धर्मको साधारण माना गया है। धर्म अधर्म आदि द्रव्योंको परिमित असंख्यात प्रदेशी कहा गया है वहांपर यह शंका हो सकती है कि असंख्यात प्रदेशों को परिमित अर्थात् परिमाण किये बिना कैसे रहा जा सकता है। परंतु हम छद्मस्थ–अल्पज्ञानी भले ही उनका परिमाण न कर सकें परंतु केवलज्ञानी कर सकते हैं इसलिये उनके परिमितपनेका कथन यहां केवलज्ञानकी अपेक्षा समझ लेना चाहिये।

कर्मके आधीन जैसा हाथी वा चिउंटी आदिका शरीर मिले उसीके अनुकूल आत्माके प्रदेशोंका होना कर्मोपात्तशरीर प्रमाणानुविधायित्व है। यह धर्म यद्यपि जीव द्रव्यके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं रहता इसलिये असाधारण है तथापि अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा रखता है इसलिये पारिणामिक नहीं।

अनादिकालसे अपने अपने संतानरूपी बंधनोंसे जो बद्धपना है वह अनादिसंततिबंधनबद्धत्व धर्म कहा जाता हे। जीव द्रव्य अनादिकालसे अपने पारिणामिकचैतन्योपयोग स्वरूप परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। धर्म द्रव्य गति परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। अधर्म द्रव्य स्थिति परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। आकाशद्रव्य सबद्रव्योंको अवकाशदान देनेरूप परिणामसंतानके बंधन से बद्ध है। काल द्रव्य वर्तना परिणामिक संतानरूप बंधनसे बद्ध है एवं पुद्गल द्रव्य वर्ण गंध रस स्पर्श आदि परिणामोंके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है इसरीतिसे समस्त ही द्रव्य अपने अपने संतानरूपी बंधनों से बद्ध हैं इसलिये अनादिसंततिबंधनबद्धत्वधर्म सब द्रव्योंमें रहनेवाला होनेसे साधारण है और वह

अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। परंतु—

जीवका जो अनादि कर्मसंतति बंधनबद्धत्व धर्म है वह साधारण नहीं क्योंकि अनादिकालीन कर्मसंतति बंधनबद्धपना सिवाय जीवके और किसी पदार्थमें नहीं तथा वह अपनी उत्पत्तिमें कर्मकी निमित्तता रखता है इसलिये वह पारिणामिक नहीं है। यह बात द्वितीय अध्यायके 'अनादिसंबंधे च' ॥ ४१ ॥ और 'सर्वस्य' ॥ ४२ ॥ इन सूत्रोंमें खुलासारूपसे बतलाई गई है।

पुद्गल जीव आदि द्रव्योंमें कोई द्रव्य संख्यातप्रदेशी है कोई असंख्यातप्रदेशी है कोई अनंतप्रदेशी है किंतु ऐसी कोई द्रव्य नहीं जो प्रदेशरहित हो इसरीतिसे समस्त द्रव्योंमें रहनेके कारण प्रदेशवत्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिकभाव है।

रूपका अर्थ स्पर्श रस गंध आदिक है जिन द्रव्योंमें स्पर्श आदिक नहीं रहते वे सब अरूप कहे जाते हैं। जीव धर्म अधर्म आकाश काल इन द्रव्योंमें रूपका संबंध नहीं। सब अरूप हैं इसलिये पुद्गलके सिवाय सबमें रहनेके कारण अरूपत्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब द्रव्य नित्य हैं किसीका भी उत्पाद और विनाश नहीं माना गया इसलिये जीव आदि समस्त द्रव्योंमें रहनेके कारण नित्यत्व धर्म साधारण है तथा अपनी उत्पत्तिमें वह कर्मोंके उदय आदिकी कोई अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह पारिणामिकभाव है।

अग्नि आत्मा आदि समस्त पदार्थोंका ऊर्ध्वगमन रूप परिणाम स्वभावसे ही माना है इसलिये

सबमें रहनेके कारण वह साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक भाव है । यहांपर कुछ साधारण पारिणामिक भावोंका उल्लेख कर दिया गया है किंतु आत्माके और भी बहुतसे साधारण और पारिणामिकभाव हैं उन सबकी इसीप्रकार योजना कर लेनी चाहिये । शंका—

अनंतरसूत्रनिर्दिष्टोपसंग्रहार्थश्चशब्द इति चेन्नानिष्टत्वात् ॥ १४ ॥

त्रिभेदपारिणामिकभावप्रतिज्ञानाच्च ॥ १५ ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें जो च शब्दका उल्लेख किया है उसे अस्तित्व आदि धर्मोंका ग्राहक न मानकर 'गतिजाति शरीरेत्यादि' पहिले सूत्रमें जो गति आदिका उल्लेख किया है उनका ग्राहक मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं । पारिणामिकभावका जो लक्षण कहा गया है वह गति आदिमें नहीं घट सकता इसलिये गति आदिको पारिणामिकभाव नहीं माना जा सकता । और भी यह बात है कि—

भावोंकी संख्या प्रतिपादन करनेवाले 'औपशमिक क्षायिकाभावौ' इत्यादि सूत्रमें पारिणामिक भावको तीन ही प्रकारका माना गया है इसलिये च शब्दसे गति जाति आदिका समुच्चय नहीं किया जा सकता । शंका—

गत्यादीनामुभयवत्त्वं क्षायोपशमिकभाववदिति चेन्नान्वर्थसंज्ञाकरणात् ॥ १६ ॥

तथानभिधानात् ॥ १७ ॥ अनिर्मोक्षप्रसंगात् ॥ १८ ॥

जिसतरह क्षायोपशमिक भाव क्षय और उपशमस्वरूप दोनों प्रकारके हैं उसीप्रकार गति जाति

आदि भी औदयिक और पारिणामिक दोनों स्वरूप है तथा जिसतरह केवल क्षायिकभावके भेद जुदे माने हैं और औपशमिक भावके जुदे माने हैं उसीप्रकार केवल औदयिक भावके इकीस भेद और पारिणामिक भावके तीन भेद हैं यह कहा जा सकता है। इसरीतिसे गति आदि भी पारिणामिकभाव कहे जा सकते हैं? सो ठीक नहीं। पारिणामिक यहांपर परिणामका अर्थ स्वभाव है। जो भाव वस्तुका स्वभाव स्वरूप हो वह पारिणामिकभाव है। इसरीतिसे पारिणामिक यह अन्वर्थ संज्ञा है गति आदि भाव; जीवके स्वभाव स्वरूप नहीं क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें नाम आदि कर्मोंका उदय कारण है इसलिये वे पारिणामिक भाव नहीं हो सकते। जीवत्व आदिकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी कोई अपेक्षा नहीं इसलिये वे पारिणामिक भाव हैं। तथा—

जिसतरह ज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव हैं इसलिये उनका क्षायोपशमिक नामसे उल्लेख किया गया है उसीप्रकार यदि गति जाति आदि भी मिले हुए औदयिक पारिणामिक स्वरूप होते तो उनका भी औदयिक पारिणामिक नामसे उल्लेख किया जाता परंतु वैसा किया नहीं गया इसलिये मिले हुए क्षायोपशमिक भाव ज्ञान आदिके समान मिले हुए औदयिक पारिणामिक स्वरूप गति जाति आदि भाव नहीं कहे जा सकते। तथा और भी यह सर्वोच्च उत्तर है कि—

पारिणामिक; स्वभाव भाव होनेसे कभी नष्ट नहीं हो सकता। यदि गति आदि भावोंको पारिणामिक भाव मान लिया जायगा तो फिर मोक्ष ही न प्राप्त हो सकेगी क्योंकि जहां गति जाति आदिका संबंध है वह संसार कहा जाता है। पारिणामिक भाव मानने पर गति आदिका संबंध आत्मासे जुदा हो नहीं सकता इसलिये सदा जीवका संसार ही बना रहेगा इसरीतिसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी

कि सूत्रमें जो च शब्द है वह अस्तित्व आदिका समुच्चायक है, गति आदिका नहीं हो सकता। शंका—

आदिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चेन्न त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः ॥ १९ ॥

जब अस्तित्व आदिको भी पारिणामिक भाव माना गया है तब 'जीव भव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख करना चाहिये अर्थात् 'जीव भव्याभव्यत्वादीनि' ऐसा सूत्र पढना चाहिये? सो ठीक नहीं। पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है यह ऊपर प्रतिज्ञा की जाचुकी है। यदि सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख किया जायगा तो जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व अस्तित्व कर्तृत्व आदि तीनसे अधिक धर्म पारिणामिक भाव माने जांयगे फिर 'पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है' यह प्रतिज्ञाभंग हो जायगी इसलिये सूत्रमें आदि शब्दका ग्रहण नहीं किया जा सकता यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

समुच्चयार्थेपि चशब्दे तुल्यमिति चेन्न प्रधानापेक्षत्वात् ॥ २० ॥

'जीव भव्याभव्यत्वानि च' इससूत्रमें आदि शब्दके उल्लेख करनेपर और उससे अस्तित्व आदि भावोंका भी ग्रहण होनेपर 'पारिणामिक भाव तीन प्रकारके हैं' यह प्रतिज्ञा भंग हो जायगी, यह दोष दिया गया था परंतु यह प्रतिज्ञा तो चशब्दके उल्लेखसे भी भंग हो जाती है क्योंकि चशब्दका अर्थ समुच्चय माना है और उससे भी आस्तित्व आदिका ग्रहण होता है इसलिये चशब्दका उल्लेख न कर आदि शब्दका ही सूत्रमें उल्लेख करना युक्त है? सो ठीक नहीं। सूत्रकारने अपने कंठसे जीवत्व आदि तीन ही पारिणामिक भावोंका उल्लेख किया है इसलिये प्रधानतासे तीन ही पारिणामिक भाव हैं तथा च शब्दसे अस्तित्व आदि साधारण भावोंका ग्रहण है इसलिये वे गौण हैं। पारिणामिक भाव तीन

प्रकारके हैं यह जो प्रतिज्ञा है वह प्रधानताकी अपेक्षा है इसलिये उपर्युक्त प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती। यदि सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख किया जायगा तो आदिशब्दसे गृहीत अस्तित्व आदि प्रधान माने जायंगे और उपलक्षण[1] होनेसे जीवत्व आदि अप्रधान माने जांयगे। अथवा तद्गुणसंविज्ञान[2] बहुव्रीहि करनेपर दोनों ही प्रधान होंगे इसलिये उपर्युक्त प्रतिज्ञाकी रक्षा न हो सकेगी। शंका—

सान्निपातिकभावोपसंख्यानमिति चेन्नाभावात् ॥ २१ ॥ मिश्रशब्देनाक्षिप्तत्वाच्च ॥ २२ ॥ च शब्दवचनात् ॥ २३ ॥

आगममें औपशमिक आदि भावोंके सिवाय एक सान्निपातिक और भी भाव माना है इसलिये उसका भी 'औपशमिक क्षायिकौ भावौ' इत्यादि सूत्रमें उल्लेख करना चाहिये तथा जिसतरह औपशमिक आदि भावोंके भेदसूचक सूत्र कहे गए हैं उसीप्रकार उसका भी भेदसूचक सूत्र कहना चाहिये ? सो ठीक नहीं। औपशमिक आदि भावोंके अतिरिक्त छठा कोई भी सान्निपातिक भाव नहीं इसलिये प्रधानतासे उसका उल्लेख नहीं किया गया। तथा—

---

१ अपना और दूसरे पदार्थोंका ग्रहण करना उपलक्षण है। यह पहिले कहा जा चुका है उपलक्षण गौणस्वरूप होता है। २ बहुव्रीहि समासके दो भेद हैं एक तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि दूसरी अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि। जिन पदार्थोंका आपसमें समास हो उन सब पदार्थोंका जहां पर ग्रहण हो वह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है और जहां पर सबका ग्रहण न हो वह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है जिसतरह 'लंबकर्णमानय' लंबे कानवाले पुरुषको लाओ यहांपर कानविशिष्ट पुरुष लाया जाता है इसलिये यह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास है और यहांपर लंब और कर्ण दोनों शब्दोंकी प्रधानता है तथा 'सागरदृष्टमानय' जिसको सागर देखा हो वा जिसने सागर देखा हो ऐसे पुरुषको लाओ यह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है क्योंकि यहां पर सागरविशिष्ट पुरुषका आना नहीं होता। यदि सूत्रमें आदि शब्द माना जायगा और 'जीवभव्याभव्यत्वादीनि' यहांपर तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि मानी जायगी तो सब ही प्रधान होंगे।

यदि यह बात कही जायगी कि सान्निपातिक भाव है उसका अपलाप नहीं किया जा सकता तब सूत्रमें जो मिश्रभावका उल्लेख किया गया है उसमें उसका अंतर्भाव है पृथक् रूपसे उसके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि मिश्र शब्द तो क्षायोपशमिक भावके ग्रहणार्थ है उससे सान्निपातिक भावका ग्रहण नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं।

'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रो जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' ऐसा ही सूत्र उपयुक्त था फिर 'मिश्रश्च' यहांपर जो अधिक च शब्दका उल्लेख है वह 'क्षायोपशमिक और सान्निपातिक दोनोंका मिश्र शब्दसे ग्रहण है, यह द्योतित करता है इसलिये जब मिश्र शब्दसे सान्निपातिक भावका प्रतिपादन हो जाता है तब पृथक्रूपसे उसके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शंका—

यदि संसारमें सान्निपातिक भाव है तब ऊपर जो यह कहा गया है कि 'सान्निपातिक भावका अभाव है यह कहना अयुक्त है। यदि कहा जायगा कि सान्निपातिक भाव नहीं है तब आगममें उसका प्रतिपादन क्यों किया गया अथवा मिश्र शब्दसे उसका ग्रहण क्यों माना गया। इसलिये उसकी सत्ता भी मानना और अभाव भी कहना दोनों बातें विरुद्ध हैं ? सो ठीक नहीं। वास्तवमें सान्निपातिक कोई छठा भाव नहीं है इसलिये तो उसका अभाव कहा गया है औपशमिक आदि भावोंका आपसमें संयोग होने पर कुछ भावके भेद माने हैं एवं उन्हें सान्निपातिक भाव मान लिया है इसलिये संयोगजनित भंगोंकी अपेक्षा वह है इसलिये उसका आगममें उल्लेख अथवा मिश्र शब्दसे ग्रहण माना है। इन दोनों पक्षोंमें जिससमय सान्निपातिक भावका अभाव है यह पक्ष है उससमय तो सूत्रमें 'मिश्रश्च' यह जो चकार है उससे मिश्र शब्दका अर्थ क्षय उपशम स्वरूप अर्थात् क्षायोपशमिक भाव द्योतित होता है और

जब 'सान्निपातिक भावकी सत्ता है' यह पक्ष है तब सान्निपातिक भाव और क्षायोपशमिक भाव दोनों भावोंका मिश्र शब्दसे ग्रहण है यह चकार द्योतन करता है इसलिये कोई विरोध नहीं। यद्यपि स्वतंत्र रूपसे सान्निपातिक कोई भाव न हो, तथापि आगममें उसके नामका उल्लेख है इसलिये वार्तिककार यहां कुछ उसके भेद बतलाते हैं–

षड्विंशतिविधः षट्त्रिंशद्विधः एकचत्वारिंशद्विध इत्येवमादिरागमे उक्तः ॥ २४ ॥

सान्निपातिक भावके छब्बीस छत्तीस और इकतालीस भेद भाव आगममें कहे गये हैं। वह आगम वचन इसप्रकार है––

दुग तिग चदु पंचे वय संजोगा होंति सन्निवादेसु। दस दस पंचय एक्कय भावो छब्बीस पिंडेण ॥ १ ॥
द्वौ त्रयः चत्वारः पंचैव च संयोगा भवंति सन्निपातेषु। दश दश पंच च एकश्च भावाः षड्विंशाः पिंडेन ॥१॥

अर्थात्–दो भावोंके आपसमें संयोग रहने पर दश सान्निपातिक भाव होते हैं। तीनके संयोग रहने पर भी दश, चारके संयोग रहने पर पांच और पांचों भावोंका एक साथ संयोग रहने पर एक इसप्रकार मिलकर सान्निपातिक भावके छब्बीस भेद हैं। इस सान्निपातिक भावके भेदोंका खुलासा इस प्रकार है––

दो भावोंका आपसमें संयोग रहने पर दश सान्निपातिक भाव होते हैं जहां पर औदयिक भाव प्रत्येक संयोगमें प्रधान रूपसे रहता है और शेष औपशमिक आदिमें एक एक छूटता चला जाता है वह पहिला द्विभाव संयोगी भेद होता है। उसके चार भंग माने हैं। उनमें औदयिकोपशमिक सान्निपातिक जीव भाव नामका पहिला भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतक्रोधी यहांपर उपशांतक्रोध होनेसे तो

औपशमिक भाव और मनुष्य कहनेसे—मनुष्य गतिकर्मके उदयसे औदयिक भाव घटित होता है। इसी प्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिये।

औदयिक क्षायिक सान्निपातिक नामका दूसरा भंग है जिसतरह जीव क्षीणकषाई है। औदयिक-क्षायोपशमिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह मनुष्य पंचेंद्रिय और औदयिकपारिणामिक-सान्निपातिकभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह मनुष्य जीव।

यहांपर सान्निपातिक जीव भावका अर्थ संयोग स्वरूप जीवका परिणाम है वह कहीं दो भावोंका संयोग स्वरूप होता है कहीं तीन आदि भावोंका संयोग स्वरूप परिणाम रहता है। उपर्युक्त द्विसंयोगी भेदमें उपशांतक्रोध मनुष्य यह औदयिक और औपशमिकका संयोग स्वरूप परिणाम है। क्षीणकषाय मनुष्य औदयिक और क्षायिकका संयोग स्वरूप परिणाम है इसीप्रकार आगे भी सब जगह समझ लेना चाहिये।

जहांपर औदयिक भावको छोड दिया जाता है। प्रत्येक भंगमें औपशमिक भावका प्रधानतासे संयोग रहता है और शेष क्षायिक आदि तीन भावोंमें एक एक छूटता जाता है वह दूसरा द्विभाव संयोगी भेद है और उसके तीन भंग हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशांत लोभी दर्शनमोहके क्षीण हो जानेसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि। औपशमिक-क्षायोपशमिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांत मानी आभिनिबोधिकज्ञानी। और औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार उपशांतमायाकषाय-वाला भव्य।

जहांपर औपशमिक भाव भी छोड दिया जाता है । प्रत्येक संयोगमें क्षायिकभावका प्रधानतासे ग्रहण रहता है और क्षायोपशमिक और पारिणामिकभावोंमें एक एक छूटता जाता है वहांपर तीसरा द्विभाव संयोगी भेद होता है और उसके दो भंग माने हैं उनमें क्षायिकक्षायोपशमिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी। क्षायिक पारिणामिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह क्षीणकषायी भव्य ।

तथा जहांपर क्षायिक भावका भी परित्याग हो जाता है केवल क्षायोपशमिक पारिणामिक रूप संयोग रह जाता है वहांपर एक ही क्षायोपशमिक पारिणामिक सान्निपातिक जीवभाव नामका भंग होता है जिसतरह अवधिज्ञानी जीव है यहांपर अवधिज्ञानी जीवका क्षायोपशमिक और पारिणामिक सान्निपातिक पारिणाम है। इसप्रकार ये द्विभाव संयोगी भंग मिलकर दश हैं।

तीन भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर भी सान्निपातिक भावके दश भेद माने हैं। जहांपर औदयिक और औपशमिक दोनों भावोंका प्रत्येक संयोगमें प्रधानरूपसे ग्रहण रहता है और क्षायिक आदि तीन भावोंमें एक एक भाव ग्रहण किया जाता है वहांपर पहिला त्रिभाव संयोगी भेद माना जाता है और उसके तीन भंग हैं उनमें औदयिकौपशमिक क्षायिक सान्निपातिक जीव भाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशांत मोह मनुष्य क्षायिक सम्यग्दृष्टि। औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिक जीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांतक्रोधी मनुष्य वाग्योगी है और औदयिकौपशमिक-पारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह उपशांत मानवाला मनुष्य जीव। जहांपर औपशमिक भावका परित्यागकर औदयिक और क्षायिक भावका ग्रहण हो तथा क्षायोपश-

मिक एवं पारिणामिक भावोंमें एक एकका ग्रहण हो वह दूसरा त्रिभावसंयोगी भेद है और उसके दो भंग माने हैं। उनमें औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावनामका पहिला भंग है जिसतरह क्षीणकषायी मनुष्य श्रुतज्ञानी है। और औदयिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसप्रकार जिसका दर्शनमोहकर्म क्षीण हो गया है वह मनुष्य जीव।

जहां पर केवल औदयिक भावका ग्रहण है और औपशमिक एवं क्षायिकका परित्याग है वह तीसरा त्रिभाव संयोगी भेद है और उसका औदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामका एक भंग है जिसतरह मनोयोगी मनुष्य जीव।

जहांपर औदयिक भावको छोडकर शेष औपशमिकादि चार भावोंमें एक एकका परित्याग रहे वह चौथा त्रिभाव संयोगी भेद है और उसके चार भंग माने हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-सान्निपातिक जीव भाव नामका पाहिला भंग है जिसतरह जिसका मानकषाय उपशांत हो गया है और दर्शन मोहक्षीण हो गया है ऐसा काय योगी। औपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामक दूसरा भंग है जिसतरह जिसका भेद उपशांत है वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि भव्य। औपशमिक-क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह उपाशांत मान-वाला मतिज्ञानी जीव। और क्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्षीण मोह पंचेंद्रियभव्य। इसप्रकार ये त्रिभाव संयोगी भंग भी मिलकर दश हैं।

जहांपर औदयिक आदि पांचोमें एक एकका परित्याग रहे वह चतुर्भाव संयोगी भेद है और उसके पांच भंग हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका

पहिला भंग है जिसप्रकार उपशांतलोभ क्षीणदर्शनमोह पंचेंद्रिय जीव । औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह मनुष्य क्षीणकषायी मतिज्ञानी भव्य । औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार मनुष्य उपशांत वेद श्रुतज्ञानी जीव । औदयिकौपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसप्रकार मनुष्य उपशांतरागक्षीणदर्शनमोह जीव । और पांचवां औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी ।

जहांपर पांचों भावोंका संयोग है वह पंचभाव संयोगी भेद है और उसका औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिक यह एक भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेंद्रिय जीव । इसप्रकार यह छब्बीस प्रकारका सान्निपातिक भाव समाप्त हुआ । छत्तीस प्रकारका सान्निपातिक भाव इसप्रकार है——

दो औदयिक भावोंका आपसमें सन्निपात रहनेपर तथा औदयिक भावका औपशमिक आदि चारोंमेंसे एक एकके साथ संयोग रहनेपर पांच भंग होते हैं। उनमें औदयिकौदयिकसान्निपातकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह मनुष्य क्रोधी है । औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांत क्रोधी । औदायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह मनुष्य क्षीणकषायी । औदायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्रोधी मतिज्ञानी । औदयिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह मनुष्य भव्य ।

दो औपशमिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा औपशमिक भावका औदयिक आदि चारोंमेंसे एक एकके साथ संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं । उनमें औपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशमसम्यग्दृष्टि उपशांतकषाय । औपशमिकौदयिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांतकषायी मनुष्य । औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार उपशांत क्रोधवाला क्षायिकसम्यग्दृष्टि । औपशमिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक जीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह उपशांत कषायवाला अवधिज्ञानी । और औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह उपशांत दर्शनमोहवाला जीव ।

दो क्षायिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा क्षायिक भावका औदयिक आदि चारों भावों में एक एकके साथ संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं । उनमें क्षायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह क्षायिकसम्यग्दृष्टि क्षीणकषायवाला । क्षायिकौदयिकसान्निपातिक जीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह क्षीणकषायवाला मनुष्य । क्षायिकौपशमिकसान्निपातिक जीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह क्षायिकसम्यग्दृष्टि उपशांतवेदवाला । क्षायिकक्षायोपशमिक सान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्षीणकषायवाला मतिज्ञानी । और क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसप्रकार क्षीणमोहवाला भव्य ।

दो क्षायोपशमिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा क्षायोपशमिक भावके साथ औदयिक आदि चारों भावोंमेंसे एक एकके रहनेपर भी पांच भंग होते हैं । उनमें क्षायोपशमिकक्षायोपशमिकजीव

भाव नामका पहिला भंग है जिसप्रकार संयमी अवधिज्ञानी । क्षायोपशमिकौदयिकसान्निपातिकजीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह संयमी मनुष्य। क्षायोपशमिकौपशमिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह संयमी उपशांतकषायवाला । क्षायोपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसप्रकार संयतासंयत क्षायिकसम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिकपारिणामिक सान्निपातिक जीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह अप्रमत्तसंयमी जीव।

दो पारिणामिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा पारिणामिक भावके साथ औदयिक आदि चारों भावोंमेंसे एक एकका संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें पारिणामिकपारिणामिकसन्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसप्रकार जीव भव्य । पारिणामिकौदयिकसान्निपातिक जीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह जीवक्रोधी। पारिणामिकौपशमिक सान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार भव्य उपशांतकषायवाला । पारिणामिकक्षायिकसान्निपातिकजीव भाव नामका चौथा भंग है जिसतरह भव्य क्षीणकषायवाला। और पारिणामिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसप्रकार संयमी भव्य। इसप्रकार ये पचीस द्वि भाव संयोगी भंग पहिले कहे हुए दश त्रिभावसंयोगी भंग और एक पंच भावसंयोगी भंग मिलकर छत्तीस भंग हैं।

तथा पहिले चतुर्भावसंयोगी पांच भंग बतलाये हैं। इन छत्तीस भंगोंमें उन पांच भंगोंके जोड देने पर सान्निपातिक भावके इकतालीस भंग हो जाते हैं इसीप्रकार और भी बहुतसे भेद सान्निपातिकभावके हैं वे आगमके अनुसार समझ लेने चाहिये शंका—

औपशमिकाद्यात्मतत्त्वानुपपत्तिरतद्भावादितिचेन्न तत्परिणामात् ॥ २५ ॥

औपशमिक आदि जिन भावोंका ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब भाव अपनी उत्पत्तिमें कर्मों के बंध उदय और निर्जराकी अपेक्षा रखते हैं इसलिये वे सब पुद्गल द्रव्योंकी पर्याय हैं जो कि आत्मतत्त्वसे सर्वथा वीपरीत हैं अतः औपशमिक आदि भाव जीवके तत्व नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक नहीं। जिससमय आत्मा पुद्‌लद्रव्यकी कर्मरूप विशेष शक्तिके आधिन हो जाता है उससमय वह पुद्गलके रंगमें रंग जानेके कारण जिस जिस पुद्गलके निमित्तसे वह जिस परिणाम स्वरूप परिणत होता है उससमय वह उसी परिणाम स्वरूप हो जाता है। यद्यपि औपशमिक आदि भाव कर्मोंके बंध आदि जनित हैं परंतु आत्मा औपशमिक आदि रूप परिणत होता है इसलिये वे आत्माके ही भाव हैं। कहा भी है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं। तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ १ ॥
परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तं। तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो ज्ञातव्यः ॥ १ ॥

अर्थात् जिसकालमें जो द्रव्य जिस परिणामसे परिणत होता है उस कालमें वह द्रव्य उसी परिणाम स्वरूप होता है यह माना गया है इसलिये आत्मा जिस परिणामसे परिणत होता है उसी परिणाम-स्वरूप, वह कहा जाता है।

वह आत्माका परिणाम अन्यद्रव्यसे असाधारण है–सिवाय आत्माके अन्य किसी भी पदार्थका वैसा परिणाम नहीं होता इसलिये वह आत्मस्वरूप कहा जाता है। औपशमिक आदि भाव सिवाय आत्माके अन्य द्रव्यके परिणाम नहीं, इसलिये उन्हें आत्मतत्व मानना निरापद है। शंका—

अमूर्तत्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेन्न तद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत् ॥ २६ ॥

आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है और कर्म पौद्गलिक हैं जो कि आत्मास्वरूपसे सर्वथा वहिर्भूत हैं इसलिये आत्माका पुद्गल स्वरूप कर्मोंसे अभिभव नहीं हो सकता और जब अभिभव ही नहीं सिद्ध होता तब औपशमिक आदि कभी आत्माके परिणाम नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार जो आत्मा अनादि पारिणामिक चैतन्यभावके आधीन है और इसलिये जो चैतन्यवान भी है उस चैतन्यवान आत्माकी नारकी और मतिज्ञान आदि विशेष पर्याय चैतन्यस्वरूप ही माने जाते हैं उसीप्रकार यह आत्मा अनादिसे कार्माण शरीरके आधीन होनेके कारण कर्मवान और कर्मवान होनेसे मूर्तिमान भी है उस मूर्तिमान आत्माकी गति आदि विशेष सामर्थ्य भी मूर्तिक है इसप्रकार जब अनादि कर्मबंध संतानवान आत्मा मूर्तिक है तथा मूर्तिक पुद्गलीक कर्मोंसे मूर्तिक आत्माका अभिभव हो सकता है तब अमूर्तिक आत्माका पुद्गलस्वरूप कर्मोंसे अभिभव नहीं हो सकता यह कहना व्यर्थ है। तथा—

अनेकांतात् ॥ २८ ॥ सुराभिभवदर्शनात् ॥ २९ ॥

अनादिकालीन बंधसंतानके पराधीन भी यह आत्मा कर्मबंधके साथ एकम एक होनेसे इस अपेक्षासे कथंचित् मूर्तिक है और अपने ज्ञान दर्शनस्वरूपसे कभी भिन्न नहीं होता इसलिये इस अपेक्षा अमूर्तिक भी है। दोनोंकी एक कालमें क्रमसे विवक्षा करने पर कथंचित् मूर्तामूर्त भी और दोनोंकी एक साथ विवक्षा करने पर अवक्तव्य भी है इत्यादि सप्तभंगीमें कथंचित् आत्मा मूर्तिक भी है इसलिये मूर्तिक कर्मपुद्गलोंसे मूर्तिक ही आत्माका अभिभव है अमूर्तिकका नहीं। जो एकांतसे आत्माको सर्वथा मूर्तिक मानता है उसीके मतमें वह दोष है कथंचित् मूर्त और अमूर्त माननेवाले आर्हत मतमें उक्त दोष स्थान नहीं पा सकता तथा और भी यह बात है कि—

जिसतरह मद मोह और भ्रांतिकी करनेवाली शराबके पीनेसे मनुष्यकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह काठके समान निस्तब्ध हो जाता है उसीप्रकार कर्मेंद्रिय हाथ पांव आदिक निस्तब्ध हो जाने पर ज्ञानादि आत्मिक स्वरूपकी प्रकटता न होनेके कारण आत्मा मूर्त बन जाता है इसलिये जब आत्मा मूर्तिक भी है तब पुद्गल कर्मोंसे उसका अभिभव युक्ति सिद्ध है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

करणमोहकरं मद्यमिति चेन्न तद्विविधकल्पनायां दोषोपपत्तेः ॥ ३० ॥

नेत्र आदि इंद्रियां पृथिवी आदि मूर्तिक पदार्थोंकी विकारस्वरूप हैं इसलिये मूर्तिक होनेसे उन्हींका शराबसे अभिभव होता है आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है इसलिये उसके गुणोंका अभिभव नहीं हो सकता अतः शराबके दृष्टांतसे जो ऊपर आत्माका अभिभव माना है वह व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। विकल्पोंके आधारसे यह दोष यहां ठीक लागू नहीं होता वे विकल्प इसप्रकार हैं—

चक्षु आदि इंद्रियां चेतन पदार्थ हैं कि अचेतन हैं? यदि उन्हें अचेतन माना जायगा तो शराब अचेतन इंद्रियोंकी व्यामोह करनेवाली नहीं कही जा सकती क्योंकि यदि वह अचेतन पदार्थके व्यामोह करनेवाली भी मानी जायगी तो जिस प्याले आदि पात्रमें वह शराब मौजूद है पहिले उसका व्यामोह होना चाहिये परंतु सो होता दीख नहीं पडता इसलिये इंद्रियोंको अचेतन मानने पर उनका अभिभव सिद्ध नहीं होता। यदि यह कहा जायगा कि वे चेतन हैं तब पृथिवी आदिमें तो चैतन्य स्वभावकी पृथक् रूपसे उपलब्धि है नहीं जिसके संबंधसे इंद्रियोंको चेतन कहा जाय किंतु चेतना (आत्म) द्रव्यके संबंधसे ही इंद्रियोंको चैतन्यस्वरूप माना जाता है वह चैतन्य आत्माका ही गुण होनेसे आत्माका ही

व्यामोह सिद्ध हुआ इसरीतिसे अमूर्तिक होनेसे 'आत्मगुणका शरावसे व्यामोह नहीं हो सकता यह कहना वाधित है।'

यदि यहांपर चार्वाक नास्तिककी ओरसे यह कहा जाय कि अन्न जल हई आदि पदार्थोंके एक विलक्षण संयोग हो जानेपर जिसप्रकार मदशक्तिकी प्रकटता हो जाती है उसीप्रकार पृथिवी जल वायु आदिके विलक्षण संबंधसे सुख दुःख आदि आत्मिक गुणोंकी भी अभिव्यक्ति हो जाती है आत्मा कोई पदार्थ भिन्न नहीं ? सो ठीक नहीं । यदि सुख दुःख आदिको पृथिवी आदिके गुण माने जायंगे तो जिसतरह उनके रूप आदि गुण हैं उसीप्रकार सुख दुःख आदि भी होने चाहिये परंतु सो बात नहीं क्योंकि पृथिवी आदिके अवयव आपसमें मिले हों चाहैं भिन्न हों उनके गुण रूप आदिकी क्रमसे हानि दीख पडती है—ऐसा कभी नहीं होता जो सर्वथा उनकी नास्ति हो जाय, परंतु शरीरके अवयव चाहे आपसमें मिले हुए हों चाहैं भिन्न हों सुख दुःख आदि गुणोंकी उनमें क्रमसे हानि नहीं होती, एक साथ ही नास्ति हो जाती है अर्थात् मृतशरीरमें सुख दुःखकी जरा भी सत्ता नहीं रहती इसलिये रूप आदि गुणोंके साथ वैषम्य होनेसे सुख आदि पृथिवी आदिके गुण नहीं माने जा सकते। और भी यह बात है कि सुख दुःख आदि पृथिवी आदिके गुण माने जायगे तो मृतशरीरमें जिसतरह रूप आदि गुण दीख पडते हैं उसतरह तत्काल मृतशरीरमें सुख दुःख आदि भी दीख पडने चाहिये क्योंकि जीवित शरीरके समान मृतशरीरमें भी पृथिवी आदिका संयोग है । यदि यहांपर यह कहा जाय कि जीवित शरीरमें एक सूक्ष्म भूतस्वरूप पदार्थ था और उसके रहते ही सुख दुःख आदिकी सत्ता थी मृतशरीरमें वह नहीं रहा इसलिये उसमें सुख दुःख आदि नहीं ? सो भी ठीक नहीं। सूक्ष्म स्थूलका

कोई विभाग न कर सामान्यरूपसे सुख दुःख आदिको पृथिवी आदिका गुण माना है मृतशरीरमें सूक्ष्मभूत मत हो स्थूलभूत मौजूद है इसलिये सुख दुःख आदिकी उपलब्धि होनी चाहिये परंतु वह नहीं होती इसलिये सुख दुःख आदि पृथिवी आदिके गुण नहीं माने जा सकते। तथा यह भी बात है कि—

यदि सूक्ष्मभूतके नाश हो जानेपर सुख दुःख आदिकी भी उपलब्धि न होगी यह कहा जायगा तब सुख दुःख आदि पृथ्वी आदिके व्यक्ति संबंधी धर्म ही माने जायगे समुदायके तो धर्म न माने जायंगे इसरीतिसे सुख दुःख आदिको समुदायका धर्मपना न होनेके कारण उसकी सिद्धिके लिये जो गुड अन्न आदिके समुदायके धर्म स्वरूप शराबका दृष्टांत दिया गया है वह अयुक्त है अर्थात् समुदायजन्य धर्मका दृष्टांत समुदाय जनित धर्मकी ही सिद्धि कर सकता पृथ्वी आदि व्यक्ति जनितधर्मकी नहीं इस॰ लिये यहां शराबका दृष्टांत विषम दृष्टांत है। तथा और भी यह वात है—

जब सुख दुःख आदि पृथ्वी आदिके गुण हैं तब मृत शरीरमें उनकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? इस दोषके परिहारमें नास्तिकने यह कहा है कि सूक्ष्मभूतके रहते ही सुख दुःख आदिकी उपलब्धि होती है। जीवित शरीरमें सूक्ष्मभूत था इसलिये वहांपर सुख दुःख आदिकी उपलब्धि थी, मृतशरीरमें वह नहीं रहा इसलिये वहांपर सुख दुःख आदिकी उपलब्धि नहीं। वहांपर हमारा (जैन सिद्धांतकारका) कहना है कि जिसप्रकार उपर्युक्त दोषकी निवृत्तिकेलिए सूक्ष्मभूतकी सिद्धि की गई है उसप्रकार आत्माकी भी सिद्धि क्यों नहीं मानी जाती अर्थात् उस सूक्ष्मभूतको आत्माके ही नामसे क्यों नहीं कह दिया जाता? इसलिये यह वात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी कि सुख दुःख आदि पृथ्वी जल आदिके धर्म नहीं आत्माके ही धर्म हैं और वह आत्मा पदार्थ सर्वसिद्धांत प्रसिद्ध है। तथा—

ऊपर जो यह कहा गया है कि पृथिवी आदिसे जन्य मूर्तिक इंद्रियोंका ही शराबसे व्यामोह होता है अमूर्तिक आत्मगुणोंका नहीं वहांपर यह पूछना है कि वे नेत्र आदि इंद्रियां बाह्य इंद्रियां हैं कि अंतरंग इंद्रियां हैं। यदि यह कहा जायगा कि वे बाह्य हैं तब तो वे अचेतन हुईं और अचेतन पदार्थका व्यामोह होता नहीं यह ऊपर कह दिया जा चुका है। यदि यह कहा जायगा कि वे अंतरंग इंद्रियां हैं तब वहांपर भी यह प्रश्न उठता है कि वे चेतन हैं वा अचेतन हैं। यदि अचेतन माना जायगा तब अचेतन पदार्थका व्यामोह नहीं हो सकता यह पहिले सिद्ध किया जा चुका है। यदि उन्हें चेतन माना जायगा तब उन्हें विज्ञानस्वरूप ही मानना होगा फिर चेतनका ही व्यामोह होना युक्ति सिद्ध हो गया इसरीतिसे "आत्मा अमूर्त है इसलिये कर्मपुद्गलोंसे उसका व्यामोह नहीं हो सकता" यह कहना युक्ति बाधित है। शंका——

यदि आत्माको कर्मोंके उदयके आधीन वा शराबके आवेशके आधीन माना जायगा तो असली स्वरूपके प्रगट न होनेसे उसका आस्तित्व ही कठिन साध्य हो जायगा? सो ठीक नहीं। भले ही कर्मोंके उदय वा शराबके आवेशसे आत्मा अज्ञानी हो जाय परंतु उसके ज्ञानदर्शनरूप स्वरूपकी नास्ति नहीं हो सकती इसलिये उसके निजस्वरूपकी उपलब्धि रहनेके कारण उसकी नास्ति मानना अज्ञान है। इसी विषयका पोषक यह आगमका वचन भी है——

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं, तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स ॥ १ ॥

बंध प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्वं तस्मादमूर्तिभावो नैकांतो भवति जीवस्य ॥ १ ॥

अर्थात् कर्मप्रदेश और आत्मप्रदेशोंके आपसमें एकम एक होनेसे भले ही उन दोनोंको एक मान

लिया जाय परंतु लक्षणोंके भिन्न होनेमे दोनों भिन्न भिन्न स्वरूप हैं इसलिये जीवका अमूर्तिकपना एकांतसे नहीं किंतु अनेकांतसे है अर्थात् आत्मा कथंचित् मूर्तिक है कथंचित् अमूर्तिक है सर्वथा न मूर्तिक ही है और न अमूर्तिक ही है।

विशेष–भगवान धर्मनाथके पूर्वभवके जीव राजा दशरथको जिससमय वैराग्य हुआ उससमय वह देगंबरी दीक्षा धारण करनेके लिये बन जाने लगा। उसका एक सुमंत्र नामका मंत्री चार्वाक मतका अनुयायी था जिससमय उसने अपने मतका तत्त्व बतला कर राजाको बनसे रोकना चाहा उससमय राजाने उसके मतका अच्छी तरह खण्डन किया और दिगंबर दीक्षा धारण करली। यह विषय धर्म शर्माभ्युदयमें इसप्रकार है——

तं प्रेक्ष्य भूपं परलोक सिद्ध्यै साम्राज्यलक्ष्मीं तृणवत्त्यजंतं।
मंत्री सुमंत्रोऽथ विचित्रतत्त्व चित्रीयमाणामिव वाचमूचे ॥ ६२ ॥
देव त्वदारब्धमिदं विभाति नभःप्रसूनाभरणोपमानं।
जीवाख्यया तत्त्वमपीह नास्ति कुतस्तनी तत्परलोकवार्ता ॥ ६३ ॥
न जन्मनः प्राङ् न च पंचतायाः परोविभिन्नेऽवयेव न चांत।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्भिन्नो न देहादिव कश्चिदात्मा ॥ ६४ ॥
किं त्वत्र भूवह्निजलानिलानां संयोगतः कश्चन यंत्रवाहः।
गुडान्नपिष्टोदकधातकीनामुन्मादिनी शक्तिरिवाभ्युदेति ॥ ६५ ॥
विहाय तद्दृष्टमदृष्टहेतोर्वृथा कृथाः पार्थिव माप्रयत्नं।

को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनो र्दुग्धं विदग्धो नतु दोधि शृंगं ॥ ६६ ॥

अर्थात् मंत्री सुमंत्रने राजा दशरथको परलोकके सुभीतेके लिये जिससमय विशाल राज्य लक्ष्मीको जीर्ण तृणके समान छोडते देखा वह विनयपूर्वक सामने आया और आश्चर्यकारी तत्त्वसे भरा हुआ इसप्रकार वचन कहने लगा–प्रभो ! आपने जो यह कार्य करना प्रारम्भ किया है मुझे तो यह आकाशके फूलसे बनाया गया हार सरीखा जान पडता है क्योंकि जब संसारमें जीव नामका ही कोई पदार्थ नहीं तब उसके आधीन परलोकका अस्तित्व तो सर्वथा विरुद्ध है। महाराज ! न तो जीव पदार्थ शरीरके पहिले देखा गया। न वादमें देखा गया। न शरीरके खण्ड खण्ड कर देनेपर बीचमें देखा गया। प्रवेश करता और निकलता हुआ भी नहीं देखा गया इसलिये मेरा तो यह निश्चय है कि शरीरसे भिन्न कोई भी आत्मा पदार्थ नहीं किंतु जिसप्रकार गुड अन्न आटा जल हई आदिके विलक्षण संबंधसे मद शक्ति व्यक्त हो जाती है उसीप्रकार पृथिवी अग्नि जल और पवनके संबंधसे उत्पन्न एक विलक्षण शक्ति जान पडती है उसीको लोगोंने आत्मा मान रक्खा है। इसलिये हे कृपानाथ ! इस इष्ट विशाल साम्राज्य विभूतियोंमें लात मार कर अदृष्ट नेत्रोंसे नहीं दीख पडनेवाले परलोककेलिये जो आपका प्रयत्न है वह विकल्प है क्योंकि संसारमें ऐसा कोई भी विद्वान पुरुष नहीं देखा जो दूधकी आशासे गायके स्तनोंको न दुहकर उसके सींग दुहे। आपका विशाल विभूतिको छोडकर परलोकके लिये उद्योग करना स्तनोंको छोड कर गायके सींगोंको दुहना है इसलिये आप बनमें न जाकर इसी साम्राज्य विभूतिका उपभोग करें। राजा रशरथको यह सिद्धांत कब सह्य था वस–

श्रुत्वेत्यवादीनृपतिर्विधुन्वन्भानुस्तमांसीव च तद्वचांसि ।

अपार्थमर्थं वदतः सुमंत्र नामापि ते नूनमभूदपार्थं ॥ ६७ ॥
जीवः स्वसंवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात ।
काये परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टेः स्व इवानुमेयः ॥ ६८ ॥
तत्कालजातस्य शिशोरपास्य प्राग्जन्मसंस्कारमुरोजपाने ।
नान्योऽस्ति शास्ता तदपूर्वजन्मा जीवोऽयमित्यात्मविदा न वाच्यं ॥ ६९ ॥
ज्ञानैक संवेद्य ममूर्तमेनं मूर्ता परिच्छेत्तुमलं न दृष्टिः ।
व्यापार्यमाणापि कृताभियोगैर्भिनत्ति न व्योम शितासियष्टिः ॥ ७० ॥
संयोगतो भूतचतुष्टयस्य यज्जायते चेतन इत्यवादि ।
मरुज्वलत्पावकतापिताम्भः स्थाल्यांमनेकांत इहास्तु तस्य ॥ ७१ ॥
उन्मादिका शक्तिरचेतना या गुडादिसंबंधभवान्यदर्शि ।
सा चेतने ब्रूहि कथं विशिष्ट दृष्टांतकक्षामधिरोहतीह ॥ ७२ ॥
तस्मादमूर्तश्च निरत्ययश्च कर्ता च भोक्ता च सचेतनश्च ।
एकः कथंचिद्विपरीतरूपादवेहि देहात्पृथगेव जीवः ॥ ७३ ॥
निसर्गतोऽप्यूर्ध्वगतिः प्रसह्य प्राकर्मणा हंत गतीर्विचित्राः ।
स नीयते दुर्धरमारुतेन हुताशनस्येव शिखाकलापः ॥ ७४ ॥
तदात्मनः कर्मकलंकमूल मून्मूलयिष्ये सहसा तपोभिः ।
मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्नं को वा न पंकं परिमार्ष्टि तोयैः ॥ ७५ ॥

अर्थात्–जिसतरह सूर्यकी किरणें अंधकारको तितर वितर कर देती हैं उसीप्रकार मंत्रि सुमंत्रके वचनोंको तितर वितर करनेवाले राजा दशरथने उत्तर दिया। भाई सुमंत्र! तेरे नामका अर्थ तो अच्छी तरह विचार करनेवाला है परंतु तूने जो इससमय मिथ्या वात कही है उससे तेरे नामका अर्थ भी मुझे मिथ्या जान पडता है। भाई! 'जिसप्रकार' अहं सुखी अहं दुःखी' इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें सुख दुःख का भान विना किसी वाधक प्रमाणके होता है उसीप्रकार अपने शरीरमें 'अहं अहं' इस आकारसे आत्माका भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है कोई भी इसका वाधक प्रमाण नहीं इसरीतिसे अपनेको स्वयं अपने शरीरमें आत्माका अस्तित्व जान पडता है और दूसरेके शरीरमें बुद्धि पूर्वक क्रियाओंके देखनेसे अर्थात् 'विना आत्माके रहते शरीरसे ऐसी क्रियायें नहीं हो सकतीं' इस अनुमान प्रमाणसे उसे जान लिया जाता है। देखो उत्पन्न होते ही मनुष्य गाय भैंस आदिका बच्चा दूध पीने लग जाता है उससमय सिवाय पूर्वजन्मके संस्कारके उसे दूध पीनेकी रीति बतलानेवाला कोई नहीं। यदि उसकी आत्मा इस जन्मके पहिले न होती तो वह एकदम नये कामको कभी नहीं कर सकता था इसलिये विद्वान मनुष्य को यह कभी न कहना चाहिये कि जीव अपूर्व जन्मा है पहिले इसका अस्तित्व ही न था। जिसप्रकार पैनी तलवार मूर्तिक पदार्थ है चाहे कितने भी प्रयत्नसे घुमाई जाय अमूर्तिक आकाशके खंड वह नहीं कर सकती उसीप्रकार यह जीव एक ज्ञानके ही द्वारा जाना जाता है और अमूर्त है इसलिये मूर्तिक नेत्र इंद्रिय कभी इसे नहीं देख सकती। पृथ्वी आदि भूतोंके विलक्षण संयोगसे आत्माकी उत्पत्ति होती है यह कहना व्यभिचारदोष ग्रस्त है क्योंकि जिस बटलोईमें पवनसे जलती हुई अग्निसे तपा हुआ जल भरा है वहांपर भी चारों भूतोंका समुदाय है इसलिये वहां भी चेतनकी उत्पत्ति होनी

चाहिये परंतु दीख नहीं पडती इसलिये पृथ्वी आदि भूत चेतनकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकते। भाई! तुमने जो गुड अन्न आदिके संबंधसे होनेवाली अचेतन मद शक्तिका दृष्टांत चेतनकी उत्पत्तिमें दिया है उसे तुम्हीं विचारो कि क्या वह दृष्टांत विषम होनेसे यहां उपयुक्त है? कभी नहीं। इसलिये अब यह अवश्य मानना होगा कि यह आत्मा अमूर्तिक अविनाशी कर्ता भोक्ता सचेतन और एक पदार्थ है। तथा अपने स्वरूपसे सर्वथा विपरीत शरीरसे सर्वथा पृथक् है। इस आत्माका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है परंतु स्वभावसे ऊपरको जानेवाली अग्निकी शिखा जिसप्रकार प्रचंड पवनके वेगसे इधर उधर झुकरा जाती है उसीप्रकार कर्मके प्रबलवेगसे यह जीव भी खेदकारी अनेक प्रकारका गमन करता है। इस लिये जिसप्रकार अमूल्य मणिपर लगेहुए कीचडको हरएक व्यक्ति जलसे धोकर साफ करदेता है उसीप्रकार मेरी आत्मापर जो कर्मोंकी कालिमा लगी हुई है उसे अवश्य ही अब मैं प्रचंड तपोंसे सर्वथा भिन्न करूंगा। सर्ग ४ पृष्ठ २९।

अनादिकालसे कर्मबंधके कारण कर्म और आत्माका एकम एक रहनेपर भी लक्षणके भेदसे भेद माना गया है परंतु अभीतक आत्माका क्या लक्षण है? यह नहीं प्रतिपादन किया गया इसलिये सूत्रकार अब अत्माका लक्षण बतलाते हैं—

उपयोगोलक्षणं ॥ ८ ॥

अर्थ—चैतन्यके साथ रहनेवाले आत्माके परिणामका नाम उपयोग है वह उपयोग ही जीवका लक्षण है। वार्तिककार उपयोग शब्दका स्पष्ट अर्थ करते हैं—

वाह्याभ्यंतरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ॥ १ ॥

वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके कारणोंका यथासंभव सान्निधान रहनेपर चैतन्य गुणके साथ साथ रहनेवाला जो कोई आत्माका परिणाम है उसका नाम उपयोग है। यहांपर दो जिसके अवयव हों वह द्वय कहा जाता है। वाह्य और अभ्यंतरके भेदसे कारण दो प्रकारका है। शंका—

वाह्य और अभ्यंतर इन दो नामोंके उल्लेखसे ही कारणको द्विविधपना सिद्ध था फिर द्वित्व अर्थ को प्रतिपादन करनेवाले 'द्वय' शब्दका उल्लेख व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। वाह्य कारण भी दो प्रकारका है। अभ्यंतर कारण भी दो प्रकार है इसप्रकार वाह्य अभ्यंतर दोनोंमें प्रत्येक कारणके दो दो भेद हैं यह प्रतिपादन करनेके लिये द्वय शब्दका उल्लेख किया गया है और वह इसप्रकार है—

वाह्य कारण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारका है। जिन नेत्र आदि इंद्रियोंका आत्माके साथ संबंध है और जिनके स्थानका परिमाण विशिष्ट नामकर्मके उदयसे परिमित है वे नेत्र आदि इंद्रियां आत्मभूत नामका वाह्य कारण है तथा अनात्मभूत वाह्य कारण प्रदीप आदि है। अंतरंग कारण भी आत्मभूत अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारका है वहांपर चिंता विचार आदिका आलंबन रूप मनोवर्गणा वचनवर्गणा और कायवर्गणा स्वरूप अंतरंग रचना विशेष रूप जो द्रव्य योग है वह आत्मस्वरूपसे भिन्न होनेके कारण अनात्मभूत अभ्यंतर कारण है और उस द्रव्य योगसे होनेवाला वीर्यांतराय और ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे जायमान जो आत्माका प्रसादस्वरूप परिणाम भाव योग है वह आत्मस्वरूप होनेके कारण आत्मभूत अभ्यंतर कारण है। वाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकारके कारणोंका सान्निधान उपलब्धिके कर्ता आत्माके होना ही चाहिये यह नियम नहीं किंतु यथासंभव उनकी उपलब्धि मानी है और वह इसप्रकार है।

विना दीपक आदिकी सहायताके बहुतसे जीवोंको नेत्र आदि इंद्रियोंके द्वारा घट पट आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनके ज्ञानमें दीपक आदि कारणोंका सन्निधान उपयुक्त है परंतु बाघ बिल्ली आदि बहुतसे जीवोंको पदार्थोंके जाननेमें दीपक आदिकी सहायता नहीं लेनी पडती इसलिये उनके ज्ञानमें दीपक आदिका सन्निधान उपयुक्त नहीं। पदार्थोंके ज्ञानमें चक्षु आदि इंद्रियोंके भी कारणपनेका नियम नहीं क्योंकि जो जीव पंचेंद्रिय है उनकी पांचों इंद्रियां पदार्थोंके ज्ञानमें कारण होती हैं। जो विकलेंद्रिय हैं उनकी चार तीन वा दो इंद्रियां कारण पडती हैं और जो एकेंद्रिय हैं उनकी एक ही स्पर्शन इंद्रिय कारण पडती है। ज्ञानकी उत्पत्तिमें मन वचन कायरूप योग भी नियमितरूपसे कारण नहीं क्योंकि जो जीव असैनी पंचेंद्रिय हैं उनके मनोयोग नहीं होता। सैनी पंचेंद्रियोके तीनों योग कारण होते हैं। एकेंद्रिय जीव, विग्रहगतिवाले जीव, तथा समुद्धात दशाको प्राप्त भगवान सयोगकेवली एक काययोग ही कारण पडता है। तथा इसीतरह द्रव्ययोगसे जायमान भाव मन वचन कायस्वरूप भावयोग भी नियमित रूपसे ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण नहीं क्योंकि उपर्युक्त द्रव्ययोगके समान असेनी जीवोंके भाव मनोयोग कारण नहीं एकेंद्रिय आदि जीवोंके केवल भावकाययोग ही कारण है शेष भावयोग नहीं संज्ञी पंचेंद्रियोंके तीनों प्रकारके भावयोग ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। तथा क्षीणकषाय गुणस्थानसे पहिले पहिले क्षायोपशमरूप भाव है और उसके बाद क्षायिकभाव है। इसप्रकार बाह्य और अभ्यंतर कारणोंके यथासम्भव सन्निधान रहते जिसप्रकार सुवर्णमयी कडे बाजूबंध और कुण्डल आदि विकार सुवर्णका अनुविधान करनेवाले हैं—सुवर्णसे भिन्न नहीं उसीप्रकार जो परिणाम अनादिकालीन आत्माके चैतन्य स्वभावका अनुविधान करनेवाला अर्थात् चैतन्य स्वरूप है उसका नाम उपयोग है। शंका—

चैतन्यको सुख दुःख मोहस्वरूप माना गया है। उसके अनुविधान करनेवाले सुख दुःख क्रोध आदि ही परिणाम होंगे इसलिये यहांपर इन्हीं परिणामोंको उपयोग मानना पडेगा परंतु उपयोगके भेद आगे ज्ञान और दर्शन माने हैं इसलिये यहांपर पूर्वापर विरोध जान पडता है ? सो ठीक नहीं। चैतन्य आत्मा का एक सामान्य धर्म है। पुद्गल आदि द्रव्योंमें चैतन्यका अभाव है इसलिये वे जीव नहीं कहे जाते तथा उस चैतन्यके ज्ञान दर्शन आदि भेद हैं इसरीतिसे चैतन्य शब्द ज्ञान दर्शन आदिके समुदायका वाचक है। सुख आदि उसी समुदायके अवयव हैं इसलिये कहीं कहीं पर उन्हें भी चैतन्य कहनेमें कोई हानि नहीं क्योंकि यह नियम है कि जो शब्द समुदायरूप अर्थका वाचक है वह अवयव स्वरूप अर्थ को भी कहता है। यहांपर चैतन्य शब्द ज्ञान दर्शन आदि समुदायको कहता है वही अवयव स्वरूप सुख आदिका भी वाचक है। इसरीतिसे जब सुख आदि तथा ज्ञान दर्शन सब ही चैतन्यके भेद हैं तब सुख दुःख क्रोध आदि स्वरूप ही उपयोग पदार्थ है ज्ञान दर्शनस्वरूप नहीं, यह कहना बाधित है। उपयोगके ज्ञान और दर्शन भेद आगे कहे जांयगे। सूत्रमें जो लक्षण शब्द है उसका अर्थ वार्तिककार बतलाते हैं—

परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं ॥ २ ॥

बंध स्वरूप परिणामके द्वारा आपसमें एक दूसरेके अनुप्रविष्ट हो जानेसे एकम एक रहनेपर भी जिसके द्वारा भिन्नता जानी जाय वह लक्षण कहा जाता है जिसतरह बंधरूप परिणामके द्वारा सोना

१। 'व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणं' यथाग्नेरौष्ण्यं। परस्पर मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एक वस्तुको भिन्न करनेमें जो कारण हो उसका नाम लक्षण है जिसप्रकार अग्नि उष्ण है यहांपर पदार्थसमूहसे अग्निको जुदा करनेवाला उष्णत्व है इसलिये वह लक्षण है।

चांदी भले ही एकम एक हो जांय तथापि उनके असाधारण धर्म—पीला सफेद स्वरूप वर्ण और प्रमाण आदि उनकी जुदाईमें कारण हैं इसलिये वे लक्षण हैं। शंका—

अलक्षणमुपयोगो गुणगुणिनोरन्यत्वमिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ३ ॥

जिसप्रकार उष्णता गुण है और अग्नि गुणी है उसीप्रकार ज्ञान आदि गुण और आत्मा गुणी है। गुणका लक्षण जुदा माना गया है और गुणीका लक्षण जुदा माना गया है इसलिये लक्षणके भेदसे आत्मा और ज्ञान आदि गुणोंको आपसमें भिन्न मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार उष्णता को अग्निका स्वभाव माने विना अग्निका निश्चय नहीं किया जा सकता उसी प्रकार यदि ज्ञान आदि गुणोंको आत्माका स्वभाव न माना जायगा—आत्मासे भिन्न माना जायगा तो आत्मापदार्थका भी निश्चय न हो सकेगा यह वात खुलासारूपसे ऊपर बता दी गयी है इसलिये आत्मा और ज्ञान आदि गुणोंका सर्वथा भेद सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

लक्ष्यलक्षणभेदादिति चेन्नानवस्थानात् ॥ ४ ॥

गुणीको लक्ष्य माना गया है और गुणको लक्षण माना गया है। लक्ष्यसे लक्षणको भिन्न होनाही चाहिए इसलिए लक्ष्य लक्षणके भेदसे आत्मा और गुणका आपसमें भेद मानना आवश्यक है। सो ठीक नहीं। क्योंकि वहांपर यह प्रश्न उठता है कि जिस लक्षणसे लक्ष्य जाना जाता है उस लक्षणका कोई अन्य लक्षण है कि नहीं है। यदि यह कहा जायगा कि उसका कोई लक्षण नहीं है वह लक्षण—स्वरूप रहित है तो जिसप्रकार मैंढककी चोटी वा गधेके सींग असंभव पदार्थ हैं इसलिए इनका अभाव है उसीप्रकार लक्षणका भी अभाव कहना पड़ेगा और जब लक्षण पदार्थ ही संसारमें न रहेगा तब किसी

लक्ष्यका भी निश्चय न हो सकेगा। यदि यह कहा जायगा कि उसका दूसरा लक्षण है तब वह भी अपने लक्ष्यसे अन्य कहना पडेगा उसका भी दूसरा लक्षण होगा वह भी अपने लक्ष्यसे अन्य कहना पडेगा इसप्रकार अप्रामाणिक अनेक पदार्थोंकी कल्पनासे अनवस्था दोष होगा। इसरीतिसे अनवस्थाके भयसे लक्ष्य लक्षणका सर्वथा भेद नहीं माना जा सकता एवं जब लक्ष्य लक्षणका सर्वथा भेद सिद्ध नहीं तब ज्ञान आदि गुण भी आत्मासे सर्वथा भिन्न सिद्ध नहीं हो सकते। और भी यह बात है कि—

आदेशवचनात् ॥ ५ ॥

लक्ष्य और लक्षणके कथंचित् अभेदसे आत्मा और ज्ञान आदि गुण एक हैं और दोनोंके नाम भेद आदि जुदे जुदे हैं इसलिए वे दोनों आपसमें भिन्न भी हैं यह अनेकांत सिद्धांतकी आज्ञा है इसलिए लक्ष्य और लक्षणके भेद रहनेसे आत्मा और ज्ञान सर्वथा भिन्न भिन्न पदार्थ हैं यह यहांपर सर्वथा एकांती दोष लागू नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कोई शंका करे कि—

नोपयोगलक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात् ॥ ६ ॥ विपर्यय प्रसंगात् ॥ ७ ॥ नातस्तत्सिद्धेः ॥ ८ ॥

संसारमें यह एक सामान्य नियम प्रचलित है कि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है वह उसी स्वरूपसे उपयुक्त नहीं होता, किंतु अपनेसे भिन्न स्वरूपसे उपयुक्त होता है जिसप्रकार दूधका स्वरूप दूध है वह कभी अपने स्वरूपसे उपयुक्त नहीं देखा गया। आत्माको भी ज्ञान आदि गुणस्वरूप माना गया है इसलिए वह भी ज्ञान आदिसे उपयुक्त नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे ज्ञान आदिको जो जीवका उपयोग माना गया है वह बाधित है। और भी यह बात है कि—

ज्ञानसे अभिन्न जीव ही ज्ञानस्वरूपसे उपयुक्त होता है दूध आदि अपने दूध आदि स्वरूपसे नहीं

यदि यही माना जायगा तो यह भी विपरीत और परको अनिष्ट कल्पना की जा सकती है कि दूध आदि पदार्थ ही दूध आदि पदार्थोंके साथ उपयुक्त होते हैं, जीव अपने ज्ञानस्वरूपसे उपयुक्त नहीं होता इसरीतिसे अभिन्न रहनेपर भी यदि एक जगह उपयोगकी कल्पना इष्ट और निर्दोष मानी जायगी तो दूसरी जगह अनिष्ट और सदोष भी उसकी कल्पना जवरन इष्ट और ठीक माननी होगी तथा बलवान युक्तिके अभावमें क्षीर आदिमें उपयोगकी कल्पना हो जानेसे और जीवमें उसका प्रतिषेध हो जानेसे अनिष्ट पदार्थ सिद्ध होगा। सारार्थ—यह है कि उपयोग शब्दका अर्थ संबंधित होनेका है। जो पदार्थ आपसमें सर्वथा भिन्न होते हैं उन्हींके अंदर उपयोगका व्यवहार हो सकता है सर्वथा अभिन्न पदार्थोंमें नहीं। आत्मा और ज्ञान आदि पदार्थ सर्वथा अभिन्न हैं इसलिए उनमें उपयोगका व्यवहार नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। जहांपर सर्वथा भेद है वहांपर उपयोगका व्यवहार नहीं हो सकता जिसतरह आकाश रूप आदि गुणोंसे सर्वथा भिन्न है इसलिए 'आकाश रूप आदि गुणोंसे उपयुक्त है' यह व्यवहार नहीं होता किंतु जहांपर कथंचित् अभेद है वहींपर उपयोगका व्यवहार होता है। आत्मा और ज्ञानका आपसमें अभेद संबंध है इसलिए 'आत्मा ज्ञान आदिसे उपयुक्त है' यह व्यवहार निरापद है। तथा दूध दूधस्वरूप है इसलिए अपने स्वरूपसे वह उपयुक्त नहीं हो सकता' यह जो कहा गया था वह भी ठीक नहीं क्योंकि अभेद संबंध रहनेसे वहांपर भी उपयोगका व्यवहार है और वह इसप्रकार है—

गाय भैंस आदि दूधवाले जीवों द्वारा खाए गए तृण जल आदि पदार्थ दूधस्वरूप परिणत हो जाते हैं यह सर्व सम्मत बात है। वहांपर तृण जल आदि कारणोंके द्वारा जिससमय दूध अपने दूध-स्वरूप परिणामके सन्मुख होता है उसीसमयसे उसका दूध नाम पड जाता है एवं दूधस्वरूप परिणमन

होनेकी जो उसके अंदर शक्ति है वह उससे अभिन्न है उस अभिन्न शक्तिसे वह दूधस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिये दूधका अपने ही स्वरूपसे परिणत होना जिसप्रकार यहां युक्त माना जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अपनी ज्ञानादि स्वभावरूप शक्तिसे अभिन्न है उसी शक्तिके आधीन होकर वह घट पट आदि पदार्थोंके अवग्रहज्ञान स्वरूप परिणामसे परिणत होता है इसलिये उसका भी अवग्रहज्ञान स्वरूप परिणामसे परिणत होना ठीक है। उस अवग्रह आदिका ही नाम उपयोग है। यदि ज्ञान आदि उपयोगका परिणमन न माना जायगा तो आत्माका स्वस्वरूप न सिद्ध होनेसे उसका अभाव ही हो जायगा और आत्माके अभावमें उपयोग पदार्थ भी सिद्ध न हो सकेगा इसलिये आत्माका उपयोग लक्षण मानना अयुक्त नहीं तथा—

उभयथापि त्वद्वचना सिद्धेः ॥ ९ ॥

अनकांतवाद समन्वित भगवान अर्हंतके सिद्धांतको न समझकर शंकाकारने जो यह कहा था कि 'जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उसस्वरूपसे परिणाम नहीं होता' वह भी अयुक्त है क्योंकि जहांपर किसी वातका खंडन किया जाता है वहांपर अपने पक्षकी सिद्धि की जाती है और परपक्षमें दूषण दिखाये जाते हैं परंतु शंकाकार जो पदार्थ जिस स्वरूपसे है उसी स्वरूपसे तो उसका परिणाम मानता नहीं इसलिये उसके मतमें ये दोनों ही बातें असिद्ध हैं और उनकी असिद्धि इसप्रकार है—

जिसप्रकार ज्ञान गुणका 'जानपना' यह परिणाम माना जाता है उसीप्रकार जो अपना वचन स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण स्वरूप है उसका भी 'अपने पक्षको सिद्धकरना' और 'दूसरेके पक्षको दूषितकरना' यह परिणाम है। जो वादी उपयोगको आत्मस्वरूप नहीं मानता उससे भिन्न

स्वीकार करता है उसके स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषणस्वरूप वचनका अपनेपक्षका सिद्धकरना और परपक्षको दूषितकरना रूप परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उस स्वरूपसे परिणाम नहीं होता 'स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषणस्वरूप अपने वचनका स्वपक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषित करना रूप परिणाम है इसलिये वह भी नहीं बन सकता परंतु जिस-प्रकार वादीको दूधका दही परिणाम इष्ट है क्योंकि वह दूधसे भिन्न है किंतु दूधका दूधस्वरूपसे परिण-मन होना इष्ट नहीं क्योंकि वहांपर अभेद है उसी प्रकार वादीका जो स्वपक्षसाधन रूप वचन है उसका स्वपक्षका सिद्ध करना यह तो परिणाम होगा नहीं क्योंकि वह स्वपक्षसाधनस्वरूप वचनसे अभिन्न है किंतु परपक्षका दूषित करना यही परिणाम होगा क्योंकि वह स्वपक्षसाधनरूप वचनसे भिन्न है इसलिये 'उपयोग आत्मासे भिन्न होता है' इस स्वपक्ष सिद्धिमें जो साधक कारण कहे गये हैं वे स्वपक्षको सिद्ध करनारूप स्वस्वरूपसे परिणत न होनेके कारण ठीक नहीं। तथा इसी प्रकार वादीका जो परपक्ष दूषण रूप वचन है उसका भी 'परपक्षको दूषितकरना' यह तो परिणाम होगा नहीं क्योंकि वह परपक्षदूषण स्वरूप वचनसे अभिन्न है किंतु स्वपक्षका सिद्धकरना यहीं परिणाम होगा क्योंकि वह परपक्षदूषण स्वरूप वचनसे भिन्न है इसलिये 'उपयोग' आत्मासे अभिन्न होता है' इस परपक्षमें जो दूषण दिये गये हैं वे स्वरूपसे परिणत न होनेके कारण अयुक्त हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि——

स्वपक्षका साधक और परपक्षका दूषक भी वचन 'अपने पक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषित करना रूप अपनी पर्यायोंसे परिणत होता है ऐसा हम मानते हैं तब यह जो तुमने कहा है कि उपयोग, आत्मस्वरूप नहीं होता भिन्नही होता है। यदि उसे आत्मस्वरूप माना जायगा तो उसका उपयोग

स्वरूपसे परिणाम नहीं हो सकता इसलिये आत्माका ज्ञानादिस्वरूपसे परिणमन मानना ठीक नहीं यह कहना बाधित है किंतु स्वपक्षसाधक परपक्षदूषक स्वरूप वचनका अपने पक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषितकरना रूप अभिन्न भी परिणामको जिसप्रकार वादी मानता है उसीप्रकार आत्माका भी उपयोग परिणाम मानना चाहिये। तथा—

स्वसमयविरोधात् ॥ १० ॥

'जो पदार्थ जिस रूपसे है उस रूपसे उसका परिणाम नहीं होता' यदि नास्तिक वादीको यह इष्ट है तब उसने रूप रस आदि गुणस्वरूप पृथिवी जल तेज और वायु इन चार महाभूतोंको जो माना है उनका रूप आदि स्वरूपसे परिणाम न होगा क्योंकि रूप आदि पृथिवी आदिके ही परिणाम हैं उनसे भिन्न नहीं। किंतु नास्तिक मतमें सफेद काला आदि रूप, खट्टा मीठा चरपरा आदि रसादिस्वरूप विशेष परिणाम उनका माना है इसलिये यह माननेसे कि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उसरूपसे परिणाम नहीं होता पृथिवी आदिका विशिष्ट रूप आदि परिणाम जो उनके शास्त्रमें स्वीकार किया है वह नहीं बनता यह उनके आगमका विरोध है। तथा यह भी बात है कि—

केनचिद्विज्ञानात्मकत्वात् ॥ ११ ॥

विज्ञानाद्वैतवादी; आत्माको सर्वथा विज्ञानस्वरूप मानता है अन्य पर्याय स्वरूप नहीं इसलिये 'जो पदार्थ जिस स्वरूपसे है उस रूपसे उसका परिणाम नहीं होता' यह सिद्धांत उसीके मतमें लागू हो सकता है क्योंकि आत्माका एक ही विज्ञान स्वरूप होनेसे यदि वह अन्य किसी पर्यायस्वरूप परिणत माना जायगा तो उसका केवल विज्ञानस्वरूप ही नष्ट हो जायगा। यदि यहां यह कहा जायगा कि

ज्ञानस्वरूप आत्मा तो आर्हत सिद्धांतमें भी माना गया है इसलिये वहांपर भी आत्माका ज्ञानस्वरूपसे परिणमन नहीं बन सकता, विज्ञानवादीके ही मतमें यह दोष क्यों दिया गया ? सो ठीक नहीं। जैन-सिद्धांतमें आत्माकी अकेली विज्ञान ही पर्याय नहीं मानी गई दर्शन सुख आदि भी पर्यायें स्वीकार की गईं हैं। जिससमय विज्ञान पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय आत्मा विज्ञानस्वरूप है और जिस समय उससे भिन्न किसी पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय उस पर्यायस्वरूप है इसरीतिसे कथंचित् तत्स्वरूप और कथंचित् अतत्स्वरूप आत्मा पदार्थके माननेसे उसका परिणमन होना अबाधित है क्योंकि अनेक पर्यायस्वरूप आत्माको माननेपर कुछ न कुछ उसकी पर्याय सदा पलटती माननी ही होगी अन्यथा वह अनेक पर्यायस्वरूप नहीं कहा जा सकता किंतु जिनके मतमें सर्वथा एक विज्ञानस्वरूप ही आत्मा है अथवा अन्य किसी एक ही स्वरूप है उनके मतमें आत्माका परिणमन नहीं बन सकता क्योंकि दूसरे किसी पर्यायस्वरूप परिणत होनेपर उसका विज्ञान वा अन्य कोई निश्चित स्वरूप कायम नहीं रह सकता तथा इसरीतिसे जब आत्माका परिणमन ही सिद्ध नहीं हो सकता तब उसके अंदर द्रव्यका लक्षण न घटनेसे आत्मा पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरवत् ॥ १२ ॥

दूधका पतलापन मीठा सफेद आदि स्वभाव है उस स्वभावको न छोडकर जिससमय उसका गुड चीनी आदि पदार्थोंके साथ संबंध होता है उससमय उसके गुड मिश्रित दूध चीनी मिश्रित दूध आदि नाम हो जाते हैं। तथा जिससमय वह गौके थनसे निकलता है उससमय गरम और थोडी देरी वाद ठंडा हो जाता है। पुनः अग्निके संबंधसे वह गरम और गाढा हो जाता है फिर थोडी देर वाद ठंडा

हो जाता है इसरीतिसे उसका गरम दूध ठंडा दूध मीठा दूध आदि नामोंसे संसारमें व्यवहार होता है और वह अपने दूधस्वभावको न छोडकर अपने दूधस्वरूपसे ही परिणत होता रहता है। यदि वह अपने दूधस्वरूपसे न परिणमे तो गरम दूध ठंडा दूध आदि व्यवहारोंमें जो दूध नाम सुन पडता है वह न सुन पडे उसीप्रकार इस आत्माका भी ज्ञान आदि उपयोग स्वरूप है। अपने उपयोग स्वरूपको न छोडकर सदा इसका ज्ञानस्वरूपसे परिणमन होता रहता है इसरीतिसे जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है जब उसका उसी रूपसे परिणाम होता दीख पडता है तब ज्ञान भी आत्माका स्वरूप है इसलिए ज्ञान-स्वरूपसे उसका परिणमन होना बाधित नहीं। तथा सर्वोपरि बात यह है कि—

अतश्चैतदेवं यदि हि न स्यान्निष्परिणामत्वप्रसंगोऽर्थस्वभावसंकरो वा ॥ १३ ॥

जो पदार्थ जिस रूपसे है यदि उस रूपसे उसका परिणाम न माना जायगा तो सब पदार्थ अप-रिणामी ठहरेंगे। अपरिणामी कहने पर उन्हें सर्वथा नित्य माना जायगा, जो पदार्थ सर्वथा नित्य होता है उसमें क्रिया कारकका व्यवहार नहीं होता इसरीतिसे जीव जानता है देखता जीता है, पुद्गल उत्पन्न होता है इत्यादि सभी संसारका व्यवहार लुप्त हो जायगा। यदि सब पदार्थोंका स्वरूपसे परिणाम न मानकर पररूपसे परिणाम माना जायगा तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थस्वरूप मानना होगा इसरीतिसे समस्त पदार्थोंके स्वभावोंका सांकर्य होनेसे किसी भी पदार्थका कोई भी प्रतिनियत स्वभाव न ठहरेगा। यदि यहांपर दोनों पक्ष ही स्वीकार किए जांय कि स्वस्वरूपसे भी परिणमन होता है और पररूपसे भी परिणमन होता है तो उनका स्वस्वरूपसे परिणाम होता है यह बात सिद्ध हो गई। इसरीतिसे स्वस्वरूप उपयोगरूपसे, जब आत्माका परिणाम युक्ति सिद्ध है तब उपयोग लक्षण उसका बाधित नहीं। यदि यहांपर बौद्ध यह शंका करे कि—

उपयोगलक्षणानुपपत्तिर्लक्ष्याभावात् ॥ १४ ॥

मिली हुई बस्तुओंमें किसी खास पदार्थको जुदा करनेवाला लक्षण होता है और जिसका वह लक्षण किया जाता है वह लक्ष्य माना जाता है यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है। यह नियम है जो लक्ष्य संसारमें विद्यमान होता है उसीका लक्षण किया जाता है अविद्यमानका नहीं। जिसतरह 'दंडी देवदत्तः' यहांपर लक्ष्य देवदत्त नामका पुरुष विद्यमान है इसलिये उसका दंड लक्षण उपयुक्त है किंतु शशविषाण वांझका पुत्र आकाश पुष्प आदि पदार्थ संसारमें विद्यमान नहीं इसलिये उनका लक्षण नहीं किया जा सकता। यहांपर आत्मा लक्ष्य और उपयोग लक्षण माना गया है जब आत्मा ही पदार्थ संसारमें सिद्ध नहीं तब उसका उपयोग लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता। आत्माका अभाव क्यों है इसकी पूर्ति नीचेकी वार्तिकसे होती है—

तदभावश्चाकारणत्वादिभिः ॥ १५ ॥ सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात् ॥ १६ ॥

संसारमें जितने भी पदार्थ देखे गये हैं सब ही कारणवान देखे गये हैं। आत्मा भी पदार्थ है परंतु उसका कारण कोई भी निश्चित नहीं इसलिये जिसप्रकार मैंढककी चोटीका उत्पादक कोई भी कारण न सिद्ध रहनेसे उसका अभाव है उसीप्रकार आत्मपदार्थका भी उत्पादक कोई कारण नहीं इसलिये उसका भी अभाव है। अथवा आत्मा पदार्थ हो तो भी उसका जो उपयोग लक्षण माना है वह नहीं बन सकता क्योंकि जो पदार्थ अनवस्थित है वह लक्षण नहीं कहा जाता है। उपयोगको ज्ञान दर्शनस्वरूप माना है और वह क्षणिक है इसलिये अवस्थित न रहनेके कारण वह लक्षण नहीं कहा जा सकता इस-रीतिसे 'देवदत्तका घर कौन है ऐसे पूछनेपर उत्तर मिलता है कि जिसके नीचे काक बैठा है वही देव-

दत्तका घर है' यहांपर जिसप्रकार जबतक काक बैठा है तबतक देवदत्तका घर है और काकके उडजाने पर देवदत्तका घर नष्ट हो जाता है उसीप्रकार क्षणविनाशीक ज्ञान और दर्शनस्वरूप आत्माके मानने पर जबतक ज्ञान और दर्शन है तबतक आत्मा है और जब उनका नाश होगा उससमय आत्माका भी नाश होगा क्योंकि स्वस्वरूप उपयोगके अभावमें आत्माका भी अभाव हो जाता है इसरीतिसे आत्मा का उपयोग लक्षण नहीं बन सकता ? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

आत्मनिन्हवो न युक्तः साधनदोषदर्शनात् ॥ १७ ॥ हेतुरयमसिद्धो विरुद्धोऽनैकांतिकश्च ॥ १८ ॥

'नास्त्यात्मा अकारणत्वान्मंडूकशिखंडवत्' अर्थात् आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि उसका कोई कारण सिद्ध नहीं जिसतरह मैढककी चोटी । इस अनुमानसे आत्माका अभाव किया जाता है परंतु वह ठीक नहीं क्योंकि यहांपर जो 'अकारणत्वात्' यह हेतु है वह असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिक रूप जो हेतुके दोष माने गये हैं उनसे दुष्ट है । और वह इसप्रकार है—

नरक देव आदि पर्यायें आत्मद्रव्यसे भिन्न नहीं, आत्मद्रव्यस्वरूप ही हैं और नरक आदि पर्यायों- के उत्पादक कारण मिथ्यादर्शन अविरति आदि शास्त्रमें वर्णित हैं इसरीतिसे जब आत्माका उत्पादक कारण सिद्ध है तब अकारणत्वरूप हेतु आत्मारूप पक्षमें न रहनेके कारण स्वरूपासिद्ध है । तथा जो

१—'असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥ अध्याय ६ । जिसकी सत्ताका पक्षमें अभाव हो वा निश्चय न हो उसे असिद्ध कहते हैं अर्थात् जिस हेतुका स्वरूपही नहीं बन सके उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं और जिसकी सत्ताका पक्षमें निश्चय न हो वह संदिग्धासिद्ध है । जिसतरह शब्द परिणामी है क्योंकि वह चाक्षुष नेत्रका विषय है यहांपर शब्दरूप पक्षमें न रहनेके कारण चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपा- सिद्ध है । क्योंकि शब्दका चाक्षुषस्वरूप ही नहीं वनता तथा जिसको धूमका यथार्थरूपसे ज्ञान नहीं उससे यह कहना कि यहां

वादी सभी पदार्थ सकारणक हैं यह मानकर और आत्मद्रव्यका कोई भी उत्पादक कारण न जानकर उसे नहीं मानता उसके मतमें आत्मद्रव्य तो प्रसिद्ध है नहीं पर्याय पदार्थ ही प्रसिद्ध हैं एवं एक पर्यायके आश्रय दूसरी पर्याय नहीं रहती यह नियम उसे इष्ट है तब 'अकारणपना' भी पदार्थकी पर्याय है इस-लिए उसकी आश्रय कोई भी पर्याय न होनेके कारण अकारणत्व हेतु आश्रयासिद्ध है। तथा—

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा घट पट आदि द्रव्य अकारण भी हैं और विद्यमान भी हैं। जो विद्यमान है वह सदा रहनेवाला है उसका कभी भी नाश और उत्पाद नहीं होता इसलिये उसकेलिये कारणोंकी आवश्यकता नहीं पडती किंतु जो पदार्थ अविद्यमान रहता है उसीकेलिए कारणोंकी आवश्यकता पडती है क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिकेलिये योग्य कारणोंका रहना नियमित है तथा ऐसा कोई द्रव्य देखा भी नहीं गया जो नित्य विद्यमान हो और कारणवान भी हो इसरीतिसे जब नित्य और विद्यमान पदार्थ ही नियमसे अकारणक होता है तब उपर्युक्त अनुमानमें नास्तित्वसे विरुद्ध आस्तित्वके साथ व्याप्ति होनेसे अकारणत्व विरुद्ध हेत्वाभास है। तथा—

अग्नि है क्योंकि धूवां है यह संदिग्धासिद्ध है क्योंकि मूर्ख मनुष्य बटलोईमें भाप देखकर यह संदेह कर बैठता है कि यहांपर धूवां है या नहीं। इसलिए पक्षमें हेतुका निश्चय न रहनेसे मुग्धबुद्धि पुरुषकी अपेक्षा धूम हेतु यहांपर संदिग्धासिद्ध है। परीक्षामुख।

१—जैनसिद्धांतमें असिद्धहेत्वाभासके स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध ये दो ही भेद माने हैं परंतु परसिद्धांतमें—

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ। व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥ ७६ ॥ मुक्तावली।

इस कारिकाके अनुसार आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि ये तीन भेद हैं। जिस हेतुका आश्रय सिद्ध न हो वह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है।

२—विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २९ ॥ अध्याय ६। जिस हेतुका अविनाभाव संबंध (व्याप्ति)

मैढककी शिखा वा आकाशपुष्प आदि पदार्थ संसारमें असिद्ध हैं तथापि असत् प्रतीतिमें कारण होनेसे काल्पनिक सत्ता उनकी संसारके अंदर मानी गई है परंतु उनके उत्पादक कारण कोई नहीं इसलिये वे अकारणक हैं इसरीतिसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सत् पदार्थ घट पट आदि रूप पक्ष और असत् स्वरूप मैढककी शिखा आदि विपक्ष दोनोंमें रहनेके कारण अकारणत्व हेतु अनैकांतिक—व्यभिचारी है। तथा—

साध्यसे विपरीतके साथ निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं जिसतरह शब्द परिणामी नहीं है क्योंकि वह कृतक है। यहांपर कृतकत्वहेतुकी व्याप्ति अपरिणामित्वसे विपरीत परिणामित्वके साथ है क्योंकि जो कृतक होता है वह नियमसे परिणामी (अनित्य) ही हो सकता है अपरिणामी [नित्य] नहीं इसलिये साध्यसे विपरीतके साथ व्याप्ति रहनेसे यहां कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

१—विपक्षेऽप्यविरुद्ध वृत्तिरनैकांतिकः ॥ ३० ॥ अध्याय ६। जो हेतु पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनोंमें रहे वह अनैकांतिक हेत्वाभास है। उसके दो भेद हैं एक निश्चितवृत्ति दूसरा शंकितवृत्ति। उनमें "निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्। आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ॥ ३१ ॥ जो हेतु विपक्षमें निश्चयरूपसे रहै उसे निश्चितवृत्ति अनैकांतिक कहते हैं जिसप्रकार शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है जैसे घडा। यहांपर प्रमेयत्व हेतु निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकांतिक है क्योंकि वह नित्य पदार्थ आकाश आदिमें निश्चित रूपसे रहता है "शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्। सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात्। जो हेतु विपक्षमें संशयरूपसे रहे उसे शंकितवृत्ति अनैकांतिक कहते हैं जिसप्रकार सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि बोलनेवाला है यहांपर वक्तृत्व हेतु शंकितविपक्षवृत्ति अनैकांतिक है क्योंकि एक जगह सर्वज्ञ और वक्तृत्व रह सकते हैं आपसमें दोनोंका विरोध नहीं। प्रकृतमें आत्माके अभावका साधक अकारणत्व हेतु निश्चितविपक्षवृत्ति अनैकांतिक है पर मतमें—

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणको पर. । तथैवानुपसंहारी त्रिधानैकांतिको भवेत् ॥ २७–२८ ॥ मुक्तावली।

साधारणानैकांतिक असाधारणानैकांतिक अनुपसंहारीअनैकांतिक ये तीन भेद अनैकांतिकहेत्वाभासके माने हैं। उपर्युक्त अकारणत्व हेतु इस मतानुसार साधारणानैकांतिक है।

'मेढककी शिखाके समान' यह जो आत्माकी नास्तित्वसिद्धिमें दृष्टांत दिया गया है उसमें साध्य-नास्तित्व और साधन—अकारणत्व, ये दोनों नहीं रहते इसलिये उपर्युक्त दृष्टांत साध्य साधनसे रहित है और वह इस प्रकार है—

अनेक प्रकारके कर्मोंके बंधके आधीन होकर नाना योनियोंमें भ्रमणकर जिससमय यह नित्य अविनाशी जीव मेढक पर्याय धारण करता है उससमय मेढक कहा जाता है फिर वही जीव अपने कर्मानुसार युवतिस्त्रीकी पर्याय जब धारण करता है उससमय युवति कहा जाता है, यहांपर मेढक और युवतिस्त्री दोनों पर्यायोंका धारण करनेवाला एक ही जीव है इसलिये एक जीवके संबंधसे वहां जो मेढक था वही यह शिखंडक (लंबी चोटीको धारण करनेवाला युवतिके शरीरका धारक जीव) है ऐसा प्रत्यभिज्ञान (सादृश्य ज्ञान होता है इसरीतिसे एक जीवके संबंधके आधीन प्रत्यभिज्ञानबलसे मंडूक-शिखंडकी सिद्धि हो जानेपर उसका अस्तित्व संसारके अंदर है। तथा पुद्‌गलको अनादि अनंत परिणाम स्वरूप मानना है इसलिये युवतिके द्वारा खाया गया आहार जिससमय केशस्वरूप परिणत हो जाता है उससमय उससे युवतिकी चोटीकी उत्पत्ति होती है इसरीतिसे मंडूकशिखंडकी उत्पत्तिमें युवति द्वारा खाया गया आहार आदि कारण होनेसे वह सकारणक भी है। इसप्रकार मंडूक शिखंडका अस्तित्व और सकारणत्व सिद्ध हो जानेसे उसमें नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधन धर्मोंका अभाव हो गया अतः आत्माके नास्तित्व सिद्ध करनेमें मंडूक शिखंड दृष्टांत नहीं हो सकता इसीप्रकार वंध्यापुत्र और शशविषाण आदिमें भी अस्तित्व और सकारणत्वकी सिद्धि होनेसे आत्माके नास्तित्व सिद्ध करनेमें वे भी दृष्टांत नहीं हो सकते। उनका अस्तित्व और सकारणत्व इसप्रकार समझ लेना चाहिये—

कर्मोंके जालमें फंसकर संसारमें भ्रमण करनेवाला यह जीव जिससमय बंध्यास्त्रीकी पर्याय धारण करता है उससमय यह बंध्या कहा जाता है। फिर अपने कर्मानुसार जिससमय यह पुत्रवतीस्त्रीकी पर्याय धारण करता है उससमय वही पुत्रवतीस्त्री कहा जाता है। यहांपर बंध्या और पुत्रवतीस्त्री दोनों पर्यायोंको धारण करनेवाला एक ही जीव है इसलिये एक ही जीवके संबंधसे जो बंध्यास्त्री थी वही यह पुत्रवती स्त्री है यह यहां प्रत्यभिज्ञान होता है। दोनों पर्यायोंमें जीव एक ही है इसलिये पुत्रवतीस्त्रीका पुत्र भी बंध्याका पुत्र कहा जा सकता है इसलिये बंध्याके पुत्रका आस्तित्व संसारके अंदर मौजूद है। तथा वह रज वीर्य आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है इसलिये वह सकारणक भी है इसरीतिसे जब बंध्याके पुत्रका आस्तित्व और सकारणत्व सिद्ध है तब नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनरूप धर्मके अभावसे वह आत्माकी नास्तित्व सिद्धिमें दृष्टांत नहीं हो सकता। इसीप्रकार—

कर्मोंके जालमें फसकर अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेपर जिससमय यह जीव शशाकी पर्याय धारण करता है उससमय शशा कहा जाता है। फिर अपने कर्मानुसार जिससमय वह गौकी पर्याय धारण करता है उससमय वही गौ कहा जाता है। यहांपर शशा और गौ दोनों पर्यायोंका धारण करनेवाला एक ही जीव है। इसलिये एक जीवके संबंधसे जो शशा था वही गौ है यह प्रत्यज्ञान यहां होता है। दोनों पर्यायोंका धारकजीव एकही है इसलिये गौके सींग भी शशाके सींग कहे जा सकते हैं इसप्रकार शशविषाणका अस्तित्व संसारके अंदर मोजूद है तथा उसकी उत्पत्ति गायके द्वारा खाये-गये आहारआदिसे होती है इसलिये वह सकारणक भी है। इसरीतिसे जब शशविषाणका आस्तित्व और सकारणत्व संसारमें सिद्ध है तब नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनके अभावसे आत्मा

की नास्तित्व सिद्धिमें वह दृष्टांत नहीं बन सकता। इसीतरह नरविषाण तुरंगविषाण आदि भी समझ लेने चाहिये। शंका—

मंडूक शिखंड बंध्यापुत्र शशविषाण आदिमें उपर्युक्त रीतिसे अस्तित्व और सकारणत्वकी सिद्धि होजाने पर नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनके अभावसे वे आत्माकी नास्तित्वसिद्धिमें दृष्टांत नहीं हो सकते यह बात मानी परंतु आकाश कुसुममें तो उसरीतिसे अस्तित्व और सकारणत्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती इसलिए 'नास्यात्मा अकारणत्वात्' इस अनुमानमें आकाशकुसुम दृष्टांत हो सकता है सो ठीक नहीं। वनस्पति नाम कर्मके उदयसे जीव और पुद्गलके समुदायस्वरूप वृक्षकी उत्पत्ति होती है वहांपर जो पुद्गल द्रव्य पुष्पस्वरूप परिणत है वह यद्यपि वृक्षकी अपेक्षा भिन्न है तो भी वृक्षसे व्याप्त होनेसे जिसप्रकार वहां वृक्षका पुष्प यह व्यवहार होता है उसीप्रकार वह पुष्प आकाशसे

---

१ यथा—वनस्पतिनामकर्मोदयापादितविशेषस्य वृक्षस्य पुष्पमिति व्यपदिश्यते, पुष्पभावेनपरिणतपुद्गलद्रव्यस्य तादृशवृक्षापेक्षया भिन्नत्वेऽपि तेन व्याप्तत्वात्। तथा—आकाशेनापि पुष्पस्य व्याप्तत्वं समानमित्याकाशकुसुममिति व्यपदेशो युक्तः। अथ मल्लिकाकृतोपकारापेक्षया मल्लिकाकुसुममितिव्यपदिश्यते नत्वाकाशकुसुममिति कुसुमस्याकाशेनोपकाराभावात्। इति चेन्न। आकाशकृतावगाहनरूपोपकारमादायाकाशकुसुममिति व्यपदेशस्य दुर्वारत्वात्। किं च वृक्षात्प्रच्युतमपि कुसुममाकाशान्न प्रच्यवत इति नित्यमेवाकाशसंबंधो वर्तते। यदि च मल्लिकालताजन्यत्वात् मल्लिका कुसुममित्युच्यते तदाकाशस्यापि सर्वकार्येष्ववकाश प्रदत्वेन कारणत्वादाकाशकुसुममिति व्यवहारो दुर्वारः। अथाकाशापेक्षया पुष्पस्य भिन्नत्वान्नाकाशकुसुममिति व्यवहारः। इति चेत् भिन्नत्वं किं कथंचित् सर्वथा वा। आद्ये मल्लिकाकुसुममित्यपि व्यवहारो माभूत्, मल्लिकापेक्षया कथंचिद्भिन्नत्वात्पुष्पस्य। अन्त्ये त्वाकाशापेक्षया पुष्पस्य सर्वथा भिन्नत्वमसिद्धं, द्रव्यत्वादिना कथंचिदभेदस्यापि सद्भावात्। तस्मात् मल्लिकाकुसुमाकाशकुसुममित्यनयोर्न कोऽपि विशेषः। सप्तभंगी तरंगिणी पृष्ठ संख्या ५७।

भी व्याप्त है इसलिए वहांपर आकाशका पुष्प यह भी व्यवहार हो सकता है इसरीतिसे आकाशके पुष्प का अस्तित्व सिद्ध ही है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

पुष्प पर वृक्षका उपकार है इसलिए वृक्षका पुष्प यह व्यवहार उपयुक्त है। आकाशका तो पुष्पपर कोई उपकार नहीं इसलिए आकाशका पुष्प यह व्यवहार नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। सब द्रव्योंको अवकाश दान देना आकाशद्रव्यका उपकार है। पुष्पको वह अवकाश दान देता है इसलिए अवकाश दानस्वरूप आकाश कृत उपकारकी अपेक्षा 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार भी निरापद है। तथा यह भी बात है कि प्रत्युत वृक्षकी अपेक्षा आकाशके साथ ही पुष्पका नित्य संबंध है क्योंकि वृक्षसे पुष्प जब नीचे गिर जाता है उससमय उससे संबंध छूट जाता है परंतु आकाश सर्वत्र व्यापक है इसलिए आकाशसे कभी पुष्पके संबंधका विच्छेद नहीं होता इसलिए आकाशका पुष्प यही व्यवहार बलवान् है। "यदि यहांपर ऊपरसे यह शंका की जाय कि पुष्प वृक्षसे जन्य है इसलिए कार्य होनेसे वृक्षका पुष्प यही व्यवहार हो सकता है। आकाशसे वह जन्य नहीं इसलिए उसका कार्य न होनेसे आकाशका पुष्प यह व्यवहार नहीं हो सकता? सो भी अयुक्त है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थको अवकाश प्रदान करनेसे आकाश सब पदार्थोंका कारण है इसलिए आकाशका पुष्प यह व्यवहार मिथ्या नहीं कहा जा सकता।" यदि यहांपर यह शंका फिर उठाई जाय कि—

आकाशसे पुष्प भिन्न पदार्थ है इसलिए 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार नहीं हो सकता किंतु 'वृक्षका पुष्प' यही व्यवहार ठीक है। यह कथन भी युक्त नहीं। नाम संख्या स्वलक्षण आदिकी अपेक्षा सब जगह शब्दोंकी योजना मानी है। यदि नाम आदिके भेदसे पुष्पका आकाशसे भेद माना जायगा

तो वैसा भेद तो वृक्षसे भी पुष्पका है इसलिए यदि आकाशका पुष्प यह व्यवहार अयुक्त कहा जायगा तो वृक्षका पुष्प यह व्यवहार भी अयुक्त मानना पडेगा। सार यह है कि—

यदि पुष्प सर्वथा आकाशसे भिन्न होता तब तो 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार नहीं हो सकता था परंतु द्रव्यत्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि धर्मोंसे पुष्पके साथ आकाशका साधर्म्य है इसलिए 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार कभी बाधित नहीं कहा जा सकता। यदि नाम आदि जन्य भेदकी अपेक्षा 'आकाशका पुष्प' इस व्यवहारमें बाधा डाली जायगी तो वह भेद तो पुष्पका वृक्षके साथ भी है इसलिए 'वृक्षका पुष्प यह व्यवहार भी बाधित मानना पडेगा। इसरूपसे जब आकाशकुसुमका अस्तित्व सिद्ध है और उसके उत्पादक कारण भी जल पवन वृक्ष आदि मौजूद हैं तब अस्तित्व और सकारणत्व दोनोंके रहते नास्तित्व और अकारणत्व रूप साध्य साधन उसमें नहीं रह सकते इसलिए आत्माके नास्तित्व सिद्ध करने पर गगनकुसुम भी दृष्टांत नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मंडूकशिखंडवत्' इस अनुमानमें जो मंडूक शिखंड दृष्टांत दिया है उसके बलसे विज्ञानाद्वैतवादीको आत्माका प्रतिषेध इष्ट है परंतु बाह्य पदार्थोंके आकार परिणत जो विज्ञान है उसके विषय मंडूक शिखंड शशविषाण गगनकुसुम आदि भी हैं इसरूपसे जब विज्ञानाद्वैतवादीके मतकी ही अपेक्षा बाह्य अर्थाकार परिणतविज्ञानके विषयभूत मंडूक शिखंड आदि पदार्थोंका अस्तित्व सिद्ध है और कारण भी उनके निश्चित हैं तब उपर्युक्त अनुमानमें कहे गये नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनरूप धर्मोंका मंडूकशिखंड आदिमें अभाव रहनेसे वे आत्माकी नास्तिता सिद्ध करनेमें दृष्टांत नहीं हो सकते। इसरीतिसे विज्ञानाद्वैतवादीके मतानुसार ही जब मंडूकशिखंड

आदिका दृष्टांतपना सदोष है तब आत्माका अभाव नहीं कहा जा सकता अतः 'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मंडूकशिखंडवत्' यह अनुमान नहीं अनुमानाभास है। शंका—

उक्त अनुमान दुष्ट होनेसे न आत्माकी नास्तिताका साधक हो परंतु 'नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वात् शशशृंगवत्' अर्थात् आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि वह प्रत्यक्षके अगोचर है जिसप्रकार शशाके सींग' यह अनुमान दुष्ट नहीं इसलिये यह आत्माकी नास्तिता सिद्ध करनेमें समर्थ है? सो भी ठीक नहीं। यहांपर जो 'अप्रत्यक्षत्वात्' यह हेतु है वह भी असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिकरूप हेतुके दोषोंसे दुष्ट है और वह इसप्रकार है—

पांचों ज्ञानोंमें केवलज्ञान समस्त द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला माना है। वह शुद्ध आत्माको विषय करता है इसलिये केवलज्ञानकी अपेक्षा शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष है। तथा कर्म नोकर्मोंके बंधके पराधीन संसारी आत्माका ज्ञान अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा भी होता है इसलिये इन दो ज्ञानोंकी अपेक्षा संसारी आत्मा भी प्रत्यक्ष है। इसरीतिसे जब केवलज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन तीन ज्ञानोंके प्रत्यक्ष आत्मा है तब उपर्युक्त अनुमानमें अप्रत्यक्षत्व हेतु आत्मारूप पक्षमें न रहनेके कारण असिद्ध है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'अप्रत्यक्षत्वात्' इस हेतुमें जो प्रत्यक्ष शब्द है उसका अर्थ इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष है, केवलज्ञानादिजन्य प्रत्यक्ष नहीं। तथा इंद्रियोंसे आत्माका प्रत्यक्ष होता नहीं इसलिये अप्रत्यक्षत्वरूप हेतु आत्मामें रहनेके कारण असिद्ध नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। इंद्रियजन्य ज्ञानको परोक्ष माना गया है प्रत्यक्ष नहीं और वह इसप्रकार है—

'अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वात् धूमाद्यनुमिताग्निवत्' घट पट आदि पदार्थ प्रत्यक्ष-

ज्ञानके विषय नहीं क्योंकि अग्राहक जो इंद्रियांरूप कारण उनसे घटपट आदिका ग्रहण होता है जिस तरह धूम आदिसे अनुमित अग्नि। अर्थात् जिसतरह धूम आदिसे अनुमित अग्नि परोक्ष है उसीप्रकार इंद्रियोंसे ग्रहण किये गये घट पट आदि भी परोक्ष हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'अग्राहकनिमित्त ग्राह्यत्वात्' इस हेतुमें अग्राहकपना इंद्रियोंका असिद्ध है एवं उसकी असिद्धता होनेसे वह असद्धेतु होने के कारण उससे घट पट आदिकी अप्रत्यक्षसिद्धि बाधित है? सो ठीक नहीं। क्योंकि 'अग्राहकमिंद्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतस्मरणाद्गवाक्षवत्' इंद्रियां अग्राहक हैं क्योंकि उनके नष्ट हो जानेपर भी जिस पदार्थका ग्रहण हो चुका है उसका स्मरण होता है जिसतरह गवाक्षका। अर्थात् नेत्र आदि इंद्रियोंके नष्ट होजाने पर भी पहिले देखे हुए गवाक्ष आदिका स्मरण होता है यदि इंद्रियां ही घट पट आदिकी ग्राहक होतीं तो स्मरणके द्वारा पहिले देखे हुए घट पट आदिका ग्रहण नहीं होता किंतु इंद्रियोंके साथ ही वह स्मरण नष्ट हो जाता परंतु नष्ट नहीं होता इसलिये इंद्रियोंको ग्राहक न मानकर आत्माको ही ग्राहक मानना पडेगा इसरीतिसे जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि इंद्रियोंके अग्राहक होनेसे उनसे जायमान ज्ञानप्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष है जब अप्रत्यक्षत्वरूप हेतुकी आत्मामें सत्ता सिद्ध न होनेसे जो ऊपर असिद्ध दोष दिया गया था उसका परिहार नहीं हो सकता एवं असिद्ध दोषसे दूषित हेतु साध्यकी सिद्धिमें समर्थ नहीं माना जाता इसलिये अप्रत्यक्षत्व हेतुसे आत्माका नास्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

'न प्रत्यक्ष इति अप्रत्यक्षः' इसप्रकार यहां नञ् समास है। पर्युदास और प्रसज्यके भेदसे वह नञ् समास दो प्रकारकी मानी गई है। उनमें अपने सदृशका ग्रहण करनेवाला पर्युदास नञ् है

१ द्वौ नञौ च समाख्यातौ पर्युदास प्रसज्यकौ। पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥ १ ॥

और सर्वथा निषेधरूप अर्थ प्रसज्यका है। 'अप्रत्यक्ष' यहांपर प्रत्यक्षादन्यः अप्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्षभिन्न प्रत्यक्ष सदृश यह पर्युदास अर्थ है कि 'प्रत्यक्षो न भवति इत्यप्रत्यक्षः' अर्थात् सर्वथा प्रत्यक्ष है ही नहीं, यह प्रसज्य प्रतिषेधरूप अर्थ है। यदि 'प्रत्यक्षादन्यः, अप्रत्यक्षः' यह पर्युदास प्रतिषेध माना जायगा तो अन्यत्व दो पदार्थोंके अंदर रहनेवाला धर्म है अर्थात् जहांपर दो पदार्थ रहते हैं वहींपर 'यह इससे अन्य है' ऐसा व्यवहार होता है और उससे प्रत्यक्षसे भिन्न दूसरी वस्तु (आत्मा) का अस्तित्व जाना जाता है इसरीतिसे 'अप्रत्यक्षत्व' हेतु यहां अस्तित्वका ही साधक होनेसे जब उसकी व्याप्ति साध्यरूप नास्तित्वसे विपरीत आस्तित्वके साथ है तब वह विरुद्धहेत्वाभास रहनेके कारण आत्माकी नास्तिता सिद्ध नहीं कर सकता। यदि प्रसज्य प्रतिषेध माना जायगा तो जिस पदार्थका निषेध किया जाता है उस पदार्थके रहते ही उसका निषेध हो सकता है सर्वथा असत् पदार्थका निषेध नहीं हो सकता। जब आत्माके प्रत्यक्षका निषेध किया जायगा तब उसका किसी न किसी रूपसे प्रत्यक्ष भी मानना पडेगा। इस रूपसे प्रतिषेध्य पदार्थके रहनेपर ही उसका निषेध हो सकता है इस नियमके अनुसार जब आत्मा अस्तिका विषय है तब कथंचित् उसके प्रत्यक्ष रहनेपर अप्रत्यक्षत्व हेतु उसमें नहीं रह सकता इसलिये इस प्रसज्य प्रतिषेधमें भी वह फिर असिद्धहेत्वाभास है। तथा—

जो हेतु विपक्षमें भी रहता है वह अनैकांतिक हेत्वाभास माना जाता है। अप्रत्यक्षत्व हेतु असत् स्वरूप शशशृंग आदि विपक्षमें भी विद्यमान है क्योंकि उनका प्रत्यक्ष न होनेसे उन्हें अप्रत्यक्ष माना गया है

अर्थात्—पर्युदास और प्रसज्यके भेदसे नञ् समास दो प्रकारका है जहांपर अपने समान वस्तुका ग्रहण होता है वहां पर्युदास नय मानी जाती है और जहांपर सर्वथा प्रतिषेध अर्थ होता है वहां प्रसज्य नय मानी जाती है।

एवं सत्स्वरूप विज्ञान आदिमें भी वह विद्यमान है क्योंकि वादी विज्ञान आदिको अप्रत्यक्ष मानाता है इसरीतिसे सत्स्वरूप विज्ञानादि पक्ष और असत्स्वरूप शशविषाण आदि विपक्षमें रहनेके कारण अप्रत्यक्षत्व हेतु अनैकांतिकहेत्वाभास है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि——

विज्ञान आदिका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है और योगियोंका प्रत्यक्ष भी उसे विषय करता है इसलिये विज्ञान आदिके रहनेपर अप्रत्यक्षत्व हेतुका वहांपर अभाव है। तब आत्माका भी वैसा माननेमें क्या आपत्ति है। क्योंकि आत्मा भी 'अहं अहं' इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षके गोचर है और योगी केवली आदिके ज्ञान का विषय है। इसरीतिसे जब अप्रत्यक्षत्व हेतु असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिकरूप दोषों से दुष्ट है तब उससे आत्माका नास्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तथा——

उपर्युक्त अनुमानमें शशशृंग दृष्टांत दिया गया है उसमें पूर्वोक्त रीतिसे प्रत्यक्षत्व और अस्तित्व ही सिद्ध है इसलिये नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वरूप साध्यसाधनरूप धर्मोंके अभावसे वह आत्माकी नास्तित्व सिद्धिमें कारण नहीं बन सकता इसलिये उसके बलसे आत्माकी नास्तिताकी सिद्धि बाधित है। और भी यह बात है कि——

संसारमें जितने भी वाक्यार्थ हैं सब ही विधि और प्रतिषेध स्वरूप हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो सर्वथा निषेधका ही विषय हो किंतु जो भी पदार्थ होगा वह विधि और निषेध दोनों स्वरूप ही होगा। जिसतरह 'कुरवका अरक्तश्वेताः' कुरवक जातिके वृक्ष रक्तवर्ण और श्वेतवर्णसे रहित हैं। यहां पर रक्तवर्ण और श्वेतवर्णका निषेध किया गया है इसलिये वे रक्त ही हैं वा श्वेत ही हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। साथमें वे अवर्ण हैं—उनमें कोई वर्ण नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे

जिसप्रकार रक्त और श्वेत वर्णोंकी अपेक्षा कुरवक जातिके वृक्षोंकी नास्ति रहते भी वर्ण सामान्यकी अपेक्षा उनकी नास्ति नहीं है अर्थात् रक्त और श्वेत वर्णोंसे भिन्न वर्ण वाले कुरवक जातिके वृक्ष हैं। उसीप्रकार वस्तु परस्वरूपसे नहीं है ऐसा निषेध रहनेपर भी वह स्वस्वरूपसे भी नहीं है यह बात असिद्ध है किंतु स्वस्वरूपसे उसका होना ही निश्चित है। कहा भी है—

अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथंचिदसतः स्मृतेः। नास्तितानुपलब्धिश्च कथंचित्सत एव ते ॥ १ ॥

सर्वथैव सतो नेमौ धर्मौ सर्वात्मदोषतः। सर्वथैवासतो नेमौ वाचां गोचरतात्ययात् ॥ २ ॥

कथंचित् असत् पदार्थका भी स्मरण होता है इसलिये अस्तित्व और उपलब्धि धर्म कथंचित् असत् पदार्थके माने हैं। कथंचित् सत् पदार्थकी ही नास्ति और अनुपलब्धि होती है असत्की नहीं इसलिये नास्तिता और अनुपलब्धि कथंचित् सत् पदार्थकी ही मानी है। अस्तित्व और उपलब्धि जो ये दो धर्म सत् पदार्थके माने हैं वे कथंचित् रूपसे माने गये हैं सर्वथा रूपसे नहीं क्योंकि यदि सर्वथा रूपसे उन्हें माना जायगा तो सर्वात्म दोष होगा अर्थात् सत्पदार्थका कभी विनाश और उत्पत्ति न होगी और न कभी उसका अप्रत्यक्ष होगा किंतु उसे हमेशा विद्यमान और प्रत्यक्ष ही मानना पडेगा जो कि बाधित है। तथा कथंचित् असत् पदार्थके जो नास्तित्व और अनुपलब्धि धर्म माने हैं वे भी कथंचित् रूपसे ही हैं सर्वथा रूपसे नहीं क्योंकि यदि उन्हें सर्वथा रूपसे मान लिया जायगा तो असत् पदार्थ भी वचनका विषय होता है इसलिये वचनविषयत्वेन उसका अस्तित्व और उपलब्धि मानी है परंतु अब सर्वथा रूपसे जब उसकी नास्तिता और अनुपलब्धि (अप्रत्यक्ष) माना जायगा तो असत् पदार्थ वचनका विषय नहीं हो सकेगा। इसरीतिसे 'नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वात्' इस अनुमानमें आत्मामें जो

नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व बताया गया है वह कथंचित् रूपसे ही है सर्वथारूपसे नहीं इसलिये कथंचित् रूपसे आत्माका आस्तित्व और प्रत्यक्षत्व सिद्ध होनेसे उपर्युक्त अनुमान अनुमानाभास ही है। तथा—

जिसतरह अस्तित्व और प्रत्यक्षत्वके विना वस्तु अवस्तु मानी जाती है उसीप्रकार नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वके विना भी वह अवस्तु है। क्योंकि जिसप्रकार आस्तित्व और प्रत्यक्षत्व वस्तुके धर्म हैं उस-प्रकार नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व भी वस्तुके ही धर्म हैं इसलिये नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व इन दो धर्मों के विना माने भी धर्मी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती किंतु आस्तित्व और प्रत्यक्षत्वके समान प्रत्येक वस्तुमें नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व धर्म भी मानने पडेंगे इसरीतिसे उपर्युक्त अनुमानके पक्षस्वरूप आत्मा-में नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वके विना माने भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये आत्माको कथं-चित् आस्तित्वस्वरूप कथंचित नास्तित्वस्वरूप कथंचित् प्रत्यक्षत्वस्वरूप कथंचित् अप्रत्यक्षत्वस्वरूप ही मानना ठीक है इसरीतिसे आत्माका सर्वथा नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व नहीं वन सकनेसे उसकी सर्वथा नास्ति नहीं मानी जाती। इसीप्रकार एकांतवादियोंके अकारणत्व और अप्रत्यक्षत्वके समान और भी अनेक हेतु आत्माकी अस्तित्व सिद्धिमें मान रक्खे हैं उन्हें भी इन्हीं हेतुओंके समान सदोष समझ लेना चाहिये। क्योंकि आत्माका अभाव कोई भी हेतु सिद्ध नहीं कर सकता। आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि इसप्रकार है—

ग्रहणविज्ञानासंभविफलदर्शनाद्‌ग्रहीतृसिद्धिः ॥ १९॥

ग्रहण—इंद्रियां और ज्ञानमें नहीं होनेवाला फल (कार्य) दीख पडता है उस फलका कारण सिवाय

आत्माके और कोई पदार्थ नहीं हो सकता इसलिये उस फलसे आत्माका अस्तित्व अबाधित है। वार्तिकमें जो ग्रहण शब्द है उसका अर्थ—जिनकी उत्पत्ति पूर्वकालमें संचय किये गये कर्मोंके आधीन है। भिन्न भिन्न स्वभावोंकी सामर्थ्यके अनुसार जिनका भेद है और जो क्रमसे रूप रस गंध स्पर्श और शब्दको ग्रहण करनेवाली हैं ऐसी चक्षु रसना घ्राण स्पर्शन और श्रोत्र ये पांच इंद्रियां हैं। इन इंद्रियोंके संबंधसे जायमान ज्ञानका नाम विज्ञान है तथा आत्माके स्वभावस्थानोंका जानना और विषयोंका ग्रहण करना यह यहां असंभावि फल लिया गया है। यह असंभवि फल चैतन्यस्वरूप है इसका कारण चेतन और नित्य पदार्थ ही हो सकता है अचेतन और क्षणिक पदार्थ नहीं। इंद्रियां अचेतन और क्षणिक पदार्थ मानी गई हैं इसलिये वे उस फलकी कारण नहीं हो सकतीं। विज्ञान भी उस फलका कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसको एक ही पदार्थका ग्रहण करनेवाला माना है तथा उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जानेके कारण वह क्षणिक भी है। तथा वह फल विना ही किसी कारणके अकस्मात् उत्पन्न हो यह भी नहीं। इसलिये आत्माके स्वभावस्थानोंके ज्ञान और विषयोंकी प्रतिपत्तिमें कारण इंद्रिय और ज्ञानसे भिन्न कोई पदार्थ है, वस वही आत्मा है। इस रूपसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि निर्बाध है। और भी यह बात है कि—

अस्मदात्मास्तित्वप्रत्ययस्य सर्वविकल्पेष्विष्टसिद्धेः ॥ २० ॥

'आत्मा है' यह जो हमारी प्रतीति है वह चाहे संशयस्वरूप हो चाहे अनध्यवसायस्वरूप हो चाहे विपर्ययस्वरूप हो वा सम्यक्स्वरूप हो किसी भी विकल्पस्वरूप हो सब विकल्पोंमें हमारे इष्ट आत्माकी सिद्धि निर्बाध है और वह इसप्रकार है—

'आत्मा है' यह प्रतीति संशयस्वरूप नहीं कही जा सकती क्योंकि आत्माके अस्तित्वका सबको निश्चय है इसलिये वह निर्णयस्वरूप ही है। यदि कदाचित् उसे संशयरूप मान भी लिया जाय तो विना किसी वस्तुको आलंबन किये संशयज्ञान नहीं हो सकता यह नियम है। जब उक्त प्रतीतिको संशयात्मक माना जायगा तब आत्माको आलम्बन मानना ही होगा इसरीतिसे उक्त प्रतीतिके संशयात्मक होनेपर भी आत्माकी अस्तित्व सिद्धि निरापद है। तथा उक्त प्रतीति अनध्यवसाय स्वरूप नहीं मानी जा सकती क्योंकि जिसप्रकार जात्यंध पुरुषको रूपका अनध्यवसाय होता है और वधिरको शब्दका अनध्यवसाय होता है उसप्रकार आत्माका किसीको अनध्यवसाय नहीं होता किंतु 'आत्मा है' यह अनादिकालीन निश्चय अवाधित है। यदि 'आत्मा है' इस प्रतीतिको विपरीत माना जायगा तो 'पुरुषमें यह स्थाणु है' ऐसी विपरीत प्रतीतिमें स्थाणु पदार्थ जिसप्रकार संसारमें प्रसिद्ध है इसीलिये उसका पुरुषमें आरोप किया जाता है अन्यथा असिद्ध होनेसे उसका आरोप नहीं हो सकता था उसीप्रकार किसी पदार्थमें 'यह आत्मा है' ऐसी विपरीत प्रतीतिमें भी आत्मा पदार्थको सिद्ध मानना पडेगा क्योंकि अन्यत्र सिद्ध ही पदार्थका किसीमें आरोप हो सकता है असिद्धका नहीं इसरीतिसे 'आत्मा है' इस प्रतीतिको विपरीत प्रतीति माननेपर भी आत्माकी सिद्धि निर्बाध है। यदि उस प्रतीतिको सम्यक्प्रतीति माना जायगा तो 'आत्मा है' यह सिद्धांत अविवाद है इसरीतिसे 'आत्मा है' इस प्रतीतिको संशय आदि विकल्प-

१-किंच-अस्मदादेरात्मास्तीति संप्रत्ययः संशयो विपर्ययो यथार्थनिश्चयो वा स्यात्? संशयश्चेति सिद्धः प्रागात्मा अन्यथा तत्संशयायोगात्। कदाचिदप्रसिद्धस्थाणुपुरुषस्य प्रतिपत्तुस्तत्संशयायोगात्। विपर्ययश्चेत्तथाप्यात्मसिद्धिः कदाचिदात्मनि विपर्ययस्य तन्निर्णयपूर्वकत्वात्। ततो यथार्थनिर्णय एवायमात्मसिद्धिः। श्लोकवार्तिक पृष्ठ संख्या ३२१।

स्वरूप मानने पर भी किसीप्रकार आत्माकी नास्ति नहीं कही जा सकती तब 'आत्मा तत्त्व है' यह हमारा पक्ष निश्शंक रूपसे सिद्ध है। यदि यहांपर विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध शंका करे कि—

संतानादिति चेन्न तस्य संवृतिसत्त्वाद् द्रव्यसत्त्वे वा संज्ञाभेद मात्रं ॥ २१ ॥

संतान नामका एक पदार्थ है। उसे एक और अनेकक्षणपर्यंत ठहरनेवाला माना है वही इंद्रिय तज्जनित ज्ञान आत्म स्वभावके स्थानोंका ज्ञान और घट पट आदि वा रूप रस आदिकी प्रतिपत्तिका आधार मान लिया जायगा आत्मा पदार्थके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं? सो ठीक नहीं। जो पदार्थ वास्तविक न होकर कल्पित होता है उससे विशेषकी प्रतीति नहीं होती। संतान पदार्थको वास्तविक न मान विज्ञानाद्वैतवादियोंने काल्पितमाना है इसलिये वह आत्मस्वभावोंके स्थानज्ञान आदि विशेष प्रतीतियोंका आधार नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

हम संतानको काल्पित पदार्थ न मानकर वास्तविक और द्रव्यस्वरूप पदार्थ मानेंगे। ऐसा माननेंसे वह विशेष प्रतीतियोंका आश्रय बन सकता है कोई दोष नहीं? इसका उत्तर यह है कि जब उसे वास्तविक और द्रव्यस्वरूप ही मान लिया तब संतान कहो तो और आत्मा कहो तो नाममात्रका ही भेद हुआ अर्थमें कोई भेद नहीं हुआ इसलिये फिर उसे आत्मा ही कहना ठीक है। इसरीतिसे आत्माकी सिद्धि निराबाध है। इसप्रकार विज्ञानाद्वैतवादीने अकारण और अप्रत्यक्षत्व हेतुओंके बलपर जो आत्माका नास्तित्व सिद्ध करना चाहा था दोनों हेतुओंको सदोष बताकर उसका अच्छीतरह खंडन कर दिया गया तथा आत्माका अस्तित्व भी खुलासा रूपसे सिद्ध कर दिया गया। अब ऊपर जो यह कहा गया था कि 'आत्माके रहते भी उपयोग उसका लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि वह 'अनवस्थान क्षणिक है उसपर कुछ विचार किया जाता है—

उपयोग पदार्थ अनवस्थित है क्षण भरमें विनष्ट हो जानेवाला है इसलिये वह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उपयोग पदार्थका न तो सर्वथा नाश हो सकता है और न अवस्थान ही हो सकता है किंतु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा विद्यमान रहनेपर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती इसलिये उसका कथंचित् विनाश माना है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सदा उसका सद्भाव रहता है इसलिये कथंचित् उसका अवस्थान माना है इसरूपसे जब उपयोगका कथंचित् अवस्थान सिद्ध है तब उसे आत्माका लक्षण माननेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं हो सकती। तथा—

तदुपरमाभावाच्च ॥ २२ ॥ सर्वथाविनाशे पुनरनुस्मरणाभावः ॥ २३ ॥

उपयोगको ज्ञानदर्शन स्वरूप माना है। यह नियम है प्रतिक्षण कोई ज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है और कोई नष्ट होती है। उपयोगकी परंपराका कभी भी नाश नहीं होता इसलिये आत्माका उपयोग लक्षण बाधित नहीं कहा जासकता।

यदि उपयोग पदार्थका सर्वथा नाश माना जायगा तो जिस पदार्थका पहिले प्रत्यक्ष हो चुका है उसका स्मरण होता है अब वह नहीं हो सकेगा क्योंकि स्मरण भी उपयोग स्वरूप ही है तथा यह नियम है कि जो पदार्थ पहिले प्रत्यक्षका विषय हो चुका है उसीका स्मरण होता है किंतु जिस पदार्थका पहिले प्रत्यक्ष नहीं हुआ है अथवा किसी अन्य आत्माने प्रत्यक्ष किया है उसका स्मरण नहीं होता तथा जब स्मरणका ही नाश हो जायगा तब जितना भी लोकका व्यवहार है वह समस्त स्मरण ज्ञानके आधीन है, स्मरणके नाशके साथ फिर उसका भी नाश हो जायगा परंतु वैसा होता नहीं इसलिये उपयोगका सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता किंतु कथंचित् उसका अवस्थान है इसरीतिसे उसे आत्माका लक्षण माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

उपयोगसंबंधो लक्षणमिति चेन्नान्यत्वे संबंधाभावात् ॥ २४ ॥

जिसतरह दंड देवदत्तसे जुदा है इसलिये उसे लक्षण न मान, उसके संयोगको लक्षण माना गया है। यदि दंडको ही लक्षण माना जायगा तो जिसकालमें दंड देवदत्तसे जुदा पडा हुआ है उससमय भी वह लक्षण मानना पडेगा जो कि बाधित है। उसीप्रकार उपयोग भी आत्मासे भिन्न पदार्थ है इसलिये उसे लक्षण न मानकर उसके संबंधको लक्षण मानना चाहिये इसरीतिसे क्रियावान गुणवान और समवायिकारण हो वह द्रव्य है यह द्रव्यका लक्षण कहा गया है वह ठीक है क्योंकि संयोगस्वरूप गुणवान होनेसे आत्मामें द्रव्यका लक्षण निर्बाध है? सो ठीक नहीं। यदि उपयोगरूप गुणको द्रव्यसे भिन्न माना जायगा तो बिना किसी संबंधके 'उपयोग आत्माका गुण है' यह नहीं कहा जा सकता। संबंध कोई सिद्ध है नहीं यह बात ऊपर अच्छीतरह कही जा चुकी है इसलिये उपयोगको आत्मभूत मानकर ही उसे लक्षण मानना निर्दोष है। भिन्न होकर वह आत्माका लक्षण नहीं कहा जा सकता ॥ ८॥

'उपयोगो लक्षणं' इससूत्रमें जो उपयोग पदार्थका उल्लेख किया गया है सूत्रकार उसके भेद बतलाते हैं—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे वह उपयोग दो प्रकारका है। उनमें मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल कुमति कुश्रुत और कुअवधिके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है एवं चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शनके भेदसे दर्शनोपयोग चार प्रकारका है। उपयोग दो प्रकारका किसरूपसे है? इस बातको वार्तिककार बतलाते हैं—

साकारानाकारभेदाद्द्विविधः ॥ १ ॥

साकार और अनाकारके भेदसे वह उपयोग दो प्रकारका है। जिस उपयोगमें कुछ आकार-भेद, विषय हो वह साकार उपयोग है और उसका अर्थ ज्ञान है एवं जिसमें कोई भी आकार विषय न हो वह अनाकार उपयोग है और उसका अर्थ दर्शन है।

अभ्यर्हितत्वाज्ज्ञानग्रहणमादौ ॥ २ ॥ संख्याविशेषनिर्देशात्तन्निश्चयः ॥ ३ ॥

यद्यपि दर्शन ज्ञानसे पूर्वकालमें होनेवाला है इसलिए स द्विविधोऽष्टेत्यादि सूत्रमें दर्शनका पहिले प्रयोग होना न्यायप्राप्त है तथापि ज्ञान पदार्थोंका निश्चायक है और दर्शनका अर्थ केवल देखना है इस रीतिसे दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान पूज्य होनेसे उसीका पहिले प्रयोग किया गया है जिसमें थोडे स्वर होते हैं और जो पूज्य होता है उसीका पहिले प्रयोग होता है यह व्याकरणका सिद्धांत है। दर्शनकी अपेक्षा ज्ञानमें थोडे स्वर हैं और उपर्युक्त रीतिसे पूज्य भी है इसलिए उसीका पहिले प्रयोग उपयुक्त है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि ज्ञान और दर्शनका सूत्रमें तो उलेख है नहीं फिर "ज्ञानका पहिले ग्रहण करना चाहिए" यह कैसे कहा जा सकता है। सो ठीक नहीं। सूत्रमें अष्टभेद और चतुर्भेद यह संख्याविशेषका उलेख किया गया है वहांपर अष्टसंख्याका पहिले उलेख है और ज्ञानदर्शनमें आठ भेद ज्ञानके ही माने हैं इसलिए सूत्रमें ज्ञानका आदिमें ग्रहण निर्बाध सिद्ध है शंका—

'संख्याया अल्पीयस्याः' जो शब्द अल्प संख्याका वाचक होता है उसका प्रयोग पहिले होता है यह व्याकरणका नियम है। जिसतरह 'चतुर्दश' यहांपर दशकी अपेक्षा चार संख्या अल्प है इसलिए चतुरशब्दका पहिले प्रयोग किया गया है। आठ और चारमें भी चार संख्या अल्प है इसलिए वहांपर

चतुरशब्दका ही पहिले प्रयोग करना ठीक है इसरीतिसे 'अष्टचतुर्भेदः' इसकी जगह पर 'चतुरष्टभेदः' ऐसा पाठ पढना चाहिए ? सो ठीक नहीं। जो पूज्य होता है उसका पहिले निपात होता है यह बात ऊपर कह दी जा चुकी है। दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान पूज्य है और सूत्रमें अष्टशब्दसे उसीका संबंध है इसलिए कोई दोष नहीं।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान कुअवधिज्ञान ये आठ भेद ज्ञानोपयोगके हैं। तथा चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद दर्शनोपयोगके हैं। मतिज्ञान आदिके लक्षणोंका पहिले विस्तारसे वर्णन कर दिया गया है। तथा 'अवग्रह ज्ञानसे दर्शनपदार्थ भिन्न नहीं' इस शंकाका खंडनकर उसकी भिन्नता अच्छी तरह ऊपर सिद्ध कर दी गई। जो पुरुष छद्मस्थ-अल्पज्ञानी हैं उनके पहिले दर्शन पीछे ज्ञान इसप्रकार ज्ञान और दर्शनका होना क्रमसे माना गया है और भगवान केवलीके उन दोनोंका एक साथ होना स्वीकार किया गया है॥ ९॥

आत्माके परिणामस्वरूप और समस्त आत्माओंमें सामान्यरूपसे रहनेवाले उपयोगगुणसे युक्त उपयोगी जीवोंके दो भेद हैं, इस बातको सूत्रकार बतलाते हैं—

१—दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा। जुगवं जह्मा केवलि णाहे जुगवं तु ते दोवि॥ ४४॥

छद्मस्थ जीवोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक समयमें नहीं होते तथा जो केवली भगवान हैं उनके ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक समयमें होते हैं। इसका भी कारण यह है कि जो ज्ञान मन पूर्वक होता है वह क्रमसे ही होता है। अतींद्रिय ज्ञान युगपत् होता है। इसलिये संसारी जीवोंका ज्ञान क्रमसे होता है। केवलीके युगपत् होता है। द्रव्यसंग्रह।

संसारिणोमुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ—संसारी और मुक्तोंके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। जो जीव कर्मसहित हैं। कर्मोंकी पराधीनताके कारण अनेक जन्म मरणोंको करते हुए संसारमें भ्रमण करते रहते हैं वे संसारी कहे जाते हैं और जो समस्त कर्मोंको काटकर मुक्त हो गये हैं उनको मुक्तजीव या सिद्धजीव कहते हैं। वार्तिककार संसारका लक्षण बतलाते हैं—

आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः ॥ १ ॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनी आयु नाम गोत्र और अंतरायके भेदसे कर्म आठ प्रकारका है तथा प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश रूप बंधोंके भेदसे और भी उसके अनेक भेद माने हैं। इन आठों कर्मोंका आत्मा संचय करता रहता है उन कर्मोंके द्वारा आत्माका जो एक भवसे दूसरे भवमें जाना है उसका नाम संसार है । वार्तिकमें जो दो वार आत्मा शब्दका ग्रहण है उसका तात्पर्य यह है कि कर्मोंका कर्ता आत्मा है और उन कर्मोंसे जायमान फलका भोक्ता भी आत्मा ही है । अन्य कोई भोक्ता नहीं ।

साख्योंका सिद्धांत है कि सत्त्व रज और तम स्वरूप प्रकृति कर्मोंकी करनेवाली है और पुरुष आत्मा उनके फलोंका भोक्ता है ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार घट पट आदि अचेतन हैं इसलिये वे पुण्य पाप रूप कर्मोंके कर्ता नहीं उसीप्रकार प्रकृति भी अचेतन पदार्थ है इसलिये वह भी कर्मोंके करनेवाली नहीं मानी जा सकती। तथा पुरुषको जो प्रकृति द्वारा उपार्जित कर्मोंके फलका भोक्ता माना है वह भी ठीक नहीं क्योंकि परपदार्थ प्रकृति आदि सदा रहने वाले हैं यदि उनके द्वारा उपार्जित कर्मोंके फलका

भोक्ता आत्मा माना जायगा तो हमेशा आत्मा सुख दुःख ही भोगता रहेगा कभी भी उसकी मोक्ष न होगी एवं अपने द्वारा जो कार्य किया गया है उसका नाश हो जायगा क्योंकि स्वयं उसका फल नहीं भोगा जा सकता इसलिये जो कर्ता है वही भोक्ता है–कर्तासे अन्य कोई भोक्ता नहीं यही सिद्धांत निर्दोष है ।

द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावके भेदसे संसार पांच प्रकारका है । इन्हींको पंच परावर्तन कहते हैं इनका स्वरूप सर्वार्थसिद्धि संस्कृत टीकामें विस्तारसे वर्णित है तथापि थोडासा खुलासा स्वरूप हम यहां लिखे देते हैं–

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्मपुग्गला विविहा ।
णोकम्मपुग्गलावि य मिच्छत्तकसायसंजुत्तो ॥ ६७ ॥ स्वा० का० अ० ।

मिथ्यात्व और कषाय भावोंसे संयुक्त यह जीव प्रतिसमय कर्म और नोकर्म पुद्गलोंका बांधता और छोडता हैं इसीका नाम द्रव्यसंसार वा द्रव्यपरिवर्तन है । सारार्थ–द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं । एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन दूसरा कर्मद्रव्यपरिवर्तन । नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन इसप्रकार है–

किसी जीवने स्निग्ध रूक्ष वर्ण गंधादिकके तीव्र मंद मध्यम भावोंमेंसे यथासंभव भावोंसे युक्त औदारिकादि तीन शरीरोंमेंसे किसी शरीर संबंधी छह पर्याप्तिरूप परिणमनके योग्य पुद्गलोंका एक समयमें ग्रहण किया । पीछे द्वितीयादि समयोंमें उस कर्मकी निर्जरा कर दी । पीछे अनंतवार अगृहीत पुद्गलोंको ग्रहण कर छोड दिया । अनंतवार मिश्रद्रव्यको ग्रहण कर छोड दिया । अनंतवार गृहीतको ग्रहण कर छोड दिया जब वही जीव उनही स्निग्ध रूप आदि भावोंसे युक्त उनही पुद्गलोंको जितने समयमें ग्रहण करे उतने काल समुदायको एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं ।

पूर्वमें ग्रहण किये हुए परमाणु जिस समयप्रबद्धरूप स्कंधमें हों उसे गृहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें ऐसे परमाणु हों कि जिनका जीवने पहिले कभी ग्रहण न किया हो उसे अग्रहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें दोनों प्रकारके परमाणु हों उसे मिश्र कहते हैं। यहांपर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि जब अनादिकालसे कर्मपुद्‌गलोंको जीव ग्रहण करता चला आरहा है तब उसके द्वारा अगृहीत परमाणुओंका लोकमें होना असंभव है। क्योंकि अगृहीत परमाणुओंको भी लोकमें अनंतानंत माना गया है। संपूर्ण जीवराशीका समयप्रबद्धके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उसका अतीतकालके समस्त समयप्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उससे भी अनंतगुणा पुद्‌गलद्रव्य है।

अगृहीतग्रहण गृहीतग्रहण और मिश्रग्रहणके भेदसे नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल तीन प्रकारका माना गया है। गोम्मटसारजीकी दोनों संस्कृत टीका वा सम्यग्ज्ञानचंद्रिका नामकी भाषा टीकामें इस विषयको अच्छीतरह स्पष्ट किया है। थोडासा यंत्रपूर्वक खुलासा उसका इसप्रकार है—

द्रव्यपरिवर्तनका यंत्र।

०	०	×	०	०	×	०	०	१	०	०	×	०	०	×	०	०	१
×	×	०	×	×	०	×	×	१	×	×	०	×	×	०	×	×	१
×	×	१	×	×	१	×	×	०	×	×	१	×	×	१	×	×	०
१	१	×	१	१	×	१	१	०	१	१	×	१	१	×	१	१	०

इस यंत्रमें शून्यसे अगृहीत (×) इस हंसपदके चिह्नसे मिश्र और एकके अंकसे गृहीत समझना चाहिए तथा दो बार लिखनेसे अनंतबार समझ लेना चाहिए। इस यंत्रसे यह बात आसानीसे जान ली जाती

है कि निरंतर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण हो चुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। मिश्रग्रहण के बाद फिर निरंतर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसही क्रमसे अनंतबार मिश्रका ग्रहण हो चुकनेपर अगृहीत ग्रहणके अनंतर एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। इसके बाद फिर उसीतरह अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण और मिश्रग्रहणके बाद फिर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होकर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। तथा मिश्रका ग्रहण अनंतबार होचुकनेपर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण करके एकबार फिर गृहीतका ग्रहण होता है। इसही क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होता है। यह अभिप्राय सूचित करनेकेलिए ही प्रथम पंक्तिमें पहिले तीन कोठोंके समान दूसरे भी तीन कोठे किए हैं अर्थात् इस क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होचुकनेपर नोकर्म पुद्‌गल परिवर्तनके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद समाप्त होता है इसके बाद दूसरे भेदका प्रारंभ होता है–

यहांपर अनंतबार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकबार अगृहीतका ग्रहण, फिर अनंतबार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकबार अगृहीतका ग्रहण इसही क्रमसे अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होकर अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। जिस क्रमसे एकबार गृहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण हो चुकनेपर नोकर्म पुद्‌गल परिवर्तनका दूसरा भेद समाप्त होता है।

इसके बाद तीसरे भेदमें अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। फिर अनंतवार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण इस क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होचुकने पर अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार अगृहीतका ग्रहण होता है। जिसतरह एकबार अगृहीतका

ग्रहण किया उसही तरह अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनका तीसरा भेद समाप्त होता है।

इसके बाद चौथे भेदका प्रारंभ होता है। इसमें प्रथमही अनंतबार गृहीतका ग्रहणकर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसके बाद फिर अनंतबार गृहीतका ग्रहण होनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसतरह अनंतबार मिश्रका ग्रहण होकर पीछे अनंतबार गृहीतका ग्रहणकर एकबार अगृहीत का ग्रहण होता है। जिसतरह एकबार अगृहीतका ग्रहण किया उसही क्रमसे अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर नोकर्मपुद्गल परिवर्तनका चौथा भेद समाप्त होता है।

इस चतुर्थ भेदके समाप्त होचुकनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके प्रारंभके प्रथम समयमें वर्ण गंध आदिके जिस भावसे युक्त जिस पुद्गलद्रव्यको ग्रहण किया था उसही भावसे युक्त उस शुद्ध गृहीतरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण करता है। इस सबके समुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं और इसमें जितना काल लगे उसका नाम नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनकाल है।

इसही तरह दूसरा कर्मपुद्गलपरिवर्तन भी होता है। विशेषता इतनीही है कि जिसतरह नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमें नोकर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है उसीतरह यहांपर कर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है, क्रममें अंशमात्र भी विशेषता नहीं। जिसतरहके चार भेद नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनके होते हैं उसीतरह कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें चार भेद होते हैं। इन चार भेदोंमें अग्रहीतग्रहणका काल सबसे अल्प है। उससे अनंतगुणा काल मिश्रग्रहणका है। उससे भी अनंतगुणा गृहीतग्रहणका जघन्य काल है। उससे अनंतगुणा गृहीतग्रहणका उत्कृष्ट काल है।

क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद हैं एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन दूसरा परक्षेत्रपरिवर्तन । एक जीव सर्वजघन्य अवगाहनाको जितने उसके प्रदेश हों उतनी बार धारणकर पीछे एक एक प्रदेश अधिक अधिककी अवगाहनाओंको धारण करते करते महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यंत अवगाहनाओंको जितने समयमें धारण कर सके उतने कालसमुदायको एक स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

कोई जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोकके अष्ट मध्य प्रदेशों को अपने शरीरके अष्ट मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उसी रूपसे उसीस्थानमें दूसरी तीसरीबार भी उत्पन्न हुआ । इसीतरह घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहनाके जितने प्रदेश हैं उतनीबार उसीस्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ और श्वासके अठारहवें भागप्रमाण क्षुद्र आयुको भोगकर मरणको प्राप्त हुआ । पीछे एक एक प्रदेशके अधिक क्रमसे जितने कालमें संपूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र बना ले उतने काल समुदायको एक परक्षेत्र परिवर्तन काल कहते हैं।

कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें पहिलीबार उत्पन्न हुआ उसीतरह दूसरीबार दूसरी उत्सर्पिणी-के दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ, एवं तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें तीसरीबार उत्पन्न हुआ । इसी क्रमसे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके बीस कोडाकोडी सागरके जितने समय हैं उनमें उत्पन्न हुआ एवं इसी क्रमसे मरणको प्राप्त हुआ इसमें जितना काल लगे उतने कालसमुदायको एक काल परिवर्तन कहते हैं।

कोई जीव दश हजारवर्षके जीतने समय हैं उतनीबार जघन्य दश हजारवर्षकी आयुसे प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ, पीछे एक एक समयके अधिकक्रमसे नरकसंबंधी तेतीससागरकी उत्कृष्ट आयुको क्रमसे पूर्णकर अंतर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनीबार जघन्य अंतर्मुहूर्तकी आयुसे तिर्यंच गतिमें उत्पन्न होकर

वहांपर भी नरकगतिके समान एक एक समयके अधिक क्रमसे तिर्यंच गति संबंधी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया। पीछे तिर्यंग्गतिके समान मनुष्य गतिकी भी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया उसके बाद दश हजार वर्षके जितने समय हैं उतनीबार जघन्य दश हजारवर्षकी आयुसे देव-गतिमें उत्पन्न होकर पीछे एकएक समयके अधिक क्रमसे इकतीससागरकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया। विशेष—यद्यपि देवगतिमें उत्कृष्ट आयु तेतीससागरकी है तथापि यहां इकतीस सागरकी आयुका ही ग्रहण किया गया है क्योंकि मिथ्यादृष्टि देवकी उत्कृष्ट आयु इकतीससागर तक ही होती है और इन परिवर्तनोंका निरूपण मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा ही है सम्यग्दृष्टि तो अर्धपुद्गलपरावर्तनका जितना काल है उससे अधिक संसारमें नहीं रहता। इसक्रमसे चारों गतियोंमें भ्रमणकरनेमें जितनाकाल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते हैं। तथा इतने कालमें जितना भ्रमण किया जाय उसका नाम भव परिवर्तन है।

योगस्थान अनुभागबंधाध्यवसायस्थान कषायाध्यवसायस्थान स्थिति—स्थान इन चारके निमित्तसे भाव परिवर्तन होता है। प्रकृति और प्रदेश बंधको कारण भूत आत्माके प्रदेश परिस्पंदरूप योगके तरतम रूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं। जिनकषायके तरतमरूप स्थानोंसे अनुभाग बंध होता है उनको अनुभागबंधाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिबंधको कारणभूत कषायपरिणामोंको कषायाध्य-वषायस्थान वा स्थितिबंधाध्यवसायस्थान कहते हैं। बंधरूप कर्मकी जघन्य आदि स्थितिको स्थितिस्थान कहते हैं। इनका परिवर्तन दृष्टांत द्वारा इसप्रकार है—

श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण योग स्थानोंके होजानेपर एक अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता

है और असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबंधाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक कषायाध्यवसायस्थान होता है तथा असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक स्थिति स्थान होता है इसक्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूल प्रकृति वा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होने पर एक भाव परिवर्तन होता है। जैसे किसी पर्याप्त मिथ्यदृष्टि संज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अंतः-कोडाकोडी सागरप्रमाण जघन्य स्थितिका बंध होता है यही यहांपर जघन्यस्थितिस्थान है इसलिये इसके योग्य विवक्षित जीवके जघन्य ही अनुभागबंधाध्यवसायस्थान जघन्य ही कषायाध्यवसायस्थान और जघन्य ही योग स्थान होते हैं। यहां से ही भाव परिवर्तनका प्रारंभ होता है अर्थात् इसके आगे श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे हो जानेपर दूसरा अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता है। इसके बाद फिर श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे हो जानेपर तीसरा अनु-भाग बंधाध्यवसायस्थान होता है। इस ही क्रमसे असंख्यातलोकप्रमाण अनुभाग बंधाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। जिस क्रमसे दूसरा कषायाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर जघन्य स्थितिस्थान होता है। जो क्रम जघन्य स्थितिस्थानमें बताया वही क्रम एक एक समय अधिक द्वितियादि स्थिति स्थानोंमें समझ लेना चाहिये। तथा इसी क्रमसे ज्ञानावरणके जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक समस्त स्थितिस्थानोंके हो जानेपर और ज्ञानावरणके स्थितिस्थानोंकी तरह क्रमसे संपूर्ण मूल वा उत्तरप्रकृतियोंके समस्त स्थिति स्थानोंके पूर्ण हो जानेपर एक भावपरिवर्तन होता है। इस परिवर्तनमें जितनाकाल लगे उसका नाम भाव परिवर्तनकाल है। पांचो परिवर्तनोंके लिये यह नियम है कि जहांपर क्रम भंग होगा वहांपर वह गणना

में सामिल न किया जायगा। इसप्रकार यह संक्षेपसे द्रव्यादि पांचो परिवर्तनोंका स्वरूप है। इनकाकाल उत्तरोत्तर अनंत अनंत गुणा है।

स येषामस्ति ते संसारिणः ॥ २ ॥ निरस्तद्रव्यभावबंधा मुक्ताः ॥ ३ ॥

यह पंचपरावर्तनरूप संसार जिनके हो वे संसारी जीव कहे जाते हैं । द्रव्यबंध और भावबंधके भेदसे बंधतत्त्व दो प्रकारका है । ज्ञानावरण आदि कर्म स्वरूप और नोकर्मस्वरूप परिणत पुद्गल द्रव्यका नाम द्रव्यबंध है और क्रोध मान राग द्वेष आदि परिणत आत्मा भाव बंध है । जिन पवित्र आत्माओंने दोनों प्रकारके बंधोंका त्याग कर दिया है वे मुक्त हैं। शंका—

द्वंद्वनिर्देशो लघुत्वादिति चेन्नार्थांतरप्रतीतेः ॥ ४ ॥

'संसरिणौ मुक्ताश्च' यहांपर वाक्यरूपसे सूत्रका उल्लेख न कर संसारिणश्च मुक्ताश्च 'संसारिमुक्ताः' ऐसा द्वंद्वसमास मानना चाहिये लाभ यह है कि च शब्द न कहना पडेगा इसलिये लाघव होगा तथा सूत्रका जो अर्थ है उस अर्थमें किसीप्रकारकी बाधा भी न होगी ? सो ठीक नहीं। संसारी और मुक्त दोनों शब्दोंमें मुक्त शब्द पूज्य और अल्पाक्षर है इसलिये द्वंद्वसमास करनेपर मुक्त शब्दका ही पूर्वनिपात होनेसे मुक्त संसारिणः' ऐसा सूत्र करना पडेगा तथा "मुक्तः संसारो येन भावेन स मुक्तसंसारः, तद्वंतो मुक्तसंसारिणः" अर्थात् जिस स्वरूपसे संसारका छूटजाना हो वह मुक्तसंसार और उससे विशिष्ट मुक्तसंसारी है यह मुक्तसंसारी शब्दका अर्थ होगा एवं उससे ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगवान मुक्तसंसारी अर्थात् सिद्ध जीव ही कहे जांयगे संसारी जीव न कहे जांयगे इसरीतिसे द्वंद्व समास माननेपर इस दूसरे अर्थकी प्रतीतिसे विपरीत अर्थ होगा अतः द्वंद्व समास न मानकर 'संसारिणौ मुक्ताश्च' यह वाक्यार्थ ही उपयुक्त है। यदि यहां पर फिर यह शंका की जाय कि—

समुच्चयाभिव्यक्त्यर्थं चशब्दोऽनर्थक इति चेन्नोपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् ॥ ५ ॥

'संसारिणो मुक्ताश्च' यहां पर चशब्दका अर्थ समुच्चय माना है तथा "आपसमें विशेषण विशेष्य रूपकी अपेक्षा न कर अनेक शब्दोंका वाक्यमें भिन्न भिन्न रूपसे रहना" यह समुच्चय शब्दका अर्थ है यहांपर भी संसारी और मुक्त दोनों शब्द भिन्न भिन्न हैं यह बात बतलानेकेलिये सूत्रमें चशब्दका उल्लेख किया गया है परंतु जिसप्रकार 'पृथिव्यप्तेजोवायुः' इस वाक्यमें पृथिवी आदि शब्दोंका आपसमें विशेषण विशेष्य भाव नहीं है तथा अर्थ भी जुदा जुदा है इसलिये वे भिन्न भिन्न माने जाते हैं उसीप्रकार 'संसारिणो मुक्ताः' यहांपर भी आपसमें विशेषण विशेष्य भाव नहीं तथा अर्थ भी जुदा है इसलिये संसारी और मुक्त दोनों शब्द भिन्न भिन्न हैं अतः उनमें भेद प्रकट करनेकेलिए समुच्चयार्थक चशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। चशब्दके समुच्चय और अन्वाचय ये दोनों अर्थ हैं तथा एकको प्रधान और दूसरोंको गौण बतलाना यह अन्वाचय शब्दका अर्थ है। सूत्रमें जो चशब्द है उसका अर्थ यहां अन्वाचय है और एक जगह उपयोग गौणरूपसे रहता है और एक जगह मुख्यरूपसे रहता है यह वहां पर चशब्द द्योतन करता है इसरीतिसे 'भैक्ष्यं चर देवदत्तं चानय' अर्थात् भिक्षाका आचरण करो और देवदत्तको ले आओ इस अन्वाचयके प्रसिद्ध उदाहरणमें जिसप्रकार भिक्षाका आचरण करना प्रधान है और देवदत्तका लाना गौण है उसीप्रकार संसारी और मुक्त जीवोंमें संसारी जीव प्रधानतासे उपयोगवान है और मुक्तजीव गौणरूपसे उपयोगवान है यह चशब्दसे प्रदर्शित अर्थ है। यदि यहां पर यह शंका हो कि संसारी जीवोंमें उपयोगकी मुख्यता क्यों और मुक्त जीवोंमें क्यों नहीं ? उसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

परिणामांतरसंक्रमाभावात्, ध्यानवत् ॥ ६ ॥

एकाग्ररूपसे चिंताका निरोध होना ध्यान है। जहां पर चिंता है वहींपर उसका निरोध कहा जा सकता है। छद्मस्थ जीवोंमें चिंता और तज्जन्य विक्षेप होते हैं इसलिये मुख्यरूपसे उन्हींके उसका निरोध हो सकता है इसलिये ध्यान शब्दका अर्थ प्रधानतासे छद्मस्थोंमें है तथा केवलियोंमें चिंताका अभाव है इसलिये वास्तविकरूपसे उनके चिंताका निरोध भी नहीं कहा जा सकता किंतु छद्मस्थोंके समान कर्मों का झडना रूप ध्यानका फल उनके भी मौजूद है इसलिये ध्यान उनमें व्यवहारसे है उसीप्रकार एक परिणामसे दूसरे परिणामस्वरूप पलट जाना उपयोग शब्दका अर्थ है। यह पलटन संसारी जीवोंके प्रतिसमय होती रहती है इसलिये उनमें प्रधानतासे उपयोग है तथा मुक्त जीवोंमें जो उपयोग है वह उपलब्धिस्वरूप है संसारी जीवोंके समान उनके उपयोगमें पलटन नहीं होती इसलिये उनमें उपयोग गौणरूपसे माना है। इसरीतिसे संसारी जीवोंमें मुख्यरूपसे और मुक्त जीवोंमें गौणरूपसे जब उपयोग की सत्ता सिद्ध है तब अन्वाचयार्थक चशब्दका सूत्रमें उल्लेख निरर्थक नहीं।

संसारिग्रहणमादौ बहुविकल्पत्वात्तत्पूर्वकत्वाच्च स्वसंवेद्यत्वाच्च ॥ ७ ॥

मुक्त जीवोंकी अपेक्षा संसारी जीवोंके गति आदि बहुतसे भेद हैं तथा मुक्त जीवोंकी अपेक्षा संसारी जीव पहिले हैं क्योंकि पहिले संसारी हैं उसके बाद मुक्त हैं एवं संसारी जीवोंके गति आदि परिणामोंका अनुभव ज्ञान होता है मुक्त जीवोंकी किसी भी पर्यायका अनुभव नहीं होता क्योंकि वे अत्यंत परोक्ष हैं इसरीतिसे मुक्तजीवोंकी अपेक्षा संसारी जीव बहुत भेदवाले हैं मुक्तजीवोंसे पहिले हैं और स्वसंवेद्य अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय हैं इसलिये सूत्रमें पहिले मुक्तजीवोंका उल्लेख न कर संसारी जीवोंका उल्लेख किया गया है।

विशेष—सूत्रमें संसारीजीवोंको पहिले कहनेकेलिए वार्तिककारने वहुविकल्पत्व तत्पूर्वक और स्वसंवेद्यत्व ये तीन हेतु दिये हैं। वहांपर यह प्रश्न उठता है कि एकही हेतुका कहना उपयुक्त था तीन हेतुओं का क्यों उल्लेख किया गया ? उसका खुलासा इसप्रकार है—यदि 'वहुविकल्पत्व' यही हेतु दिया जाता तो उससे इष्टसिद्धि नहीं हो सकती थी क्योंकि सूचीकटाह न्यायके अनुसार जिसके थोडे भेद होते हैं उसका पहिले प्रयोग किया जाता है और जिसके बहुत भेद होते हैं उसका पीछे प्रयोग किया जाता है। संसारीकी अपेक्षा मुक्तजीवोंके अल्प भेद हैं इसलिए वहुविकल्पत्वहेतुके उल्लेख रहनेपर भी पहिले मुक्तजीवोंका ही सूत्रमें ग्रहण करना पडता। यदि तत्पूर्वकत्व यह हेतु दिया जाता तब भी संसारी जीवोंका प्रथम ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि यद्यपि मुक्तजीवोंकी अपेक्षा संसारीजीव पहिले हैं तथापि जो अभ्यर्हित और अल्पाक्षर होता है इसीका पहिले प्रयोग होता है यह नियम बलवान है। इसरीतिसे संसारीकी अपेक्षा मुक्तही अभ्यर्हित और अल्पाक्षर है इसलिए मुक्तशब्दहीका सूत्रमें पहिले ग्रहण करना पडता। किंतु स्वसंवेद्यत्वहेतुके कहनेसे कोई दोष नहीं क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष संसारी जीवोंका ही होता है मुक्तजीवोंका नहीं इसलिए स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषयभूत संसारीजीवोंके अस्तित्वके आधीन मुक्तजीवोंका अस्तित्व होनेसे सूत्रमें संसारीजीवोंका ही आदिमें ग्रहण उपयुक्त है ॥ १० ॥

जिनका स्वभाव अशुभकर्मोंसे जायमान फलोंके अनुभवन करनेका है। जिनका संसारका परिभ्रमण नहीं छूटा है और पूर्वोपार्जित नामकर्मके उदयसे जायमान जिनके बहुतसे भेद हैं वे जीव सैनी असैनीके भेदसे दो प्रकारके हैं इसबातको सूत्रकार बतलाते हैं—

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—समनस्क और अमनस्कके भेदसे संसारीजीव दो प्रकारके हैं। जिनके मन है वे समनस्क-सैनी हैं और जिनके मन नहीं वे अमनस्क-असैनी हैं।

मनके संबंध और असंबधसे संसारीजीव दो प्रकारके हैं। द्रव्यमन और भावमनके भेदसे मन भी दो प्रकारका है। उनमें जिस मनकी उत्पत्ति पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे होती है वह द्रव्यमन है और जो वीर्यांतराय और नो इंद्रियावरण कर्मके उदयसे होनेवाली आत्माकी विशुद्धि है वह भावमन है। जो जीव उस मनसे संयुक्त हैं वे समनस्क और उससे रहित हैं वे अमनस्क हैं। इसप्रकार समनस्क और अमनस्कके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके हैं शंका—

द्विविधजीवप्रकरणाद्यथासंख्यप्रसंगः ॥ १ ॥ इष्टमिति चेन्न सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसंगात् ॥ २ ॥

संसारी और मुक्तके भेदसे पहिले जीवोंके दो भेद कह आए हैं। उन दोनों भेदोंका इस सूत्रमें संबंध होनेपर संसारीजीव समनस्क हैं और मुक्तजीव अमनस्क हैं ऐसा यथासंख्य क्रमसे अर्थ होसकता है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि संसारीजीव सैनी और मुक्तजीव असैनी हैं यह अर्थ हमें इष्ट ही है ? सो ठीक नहीं। एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और असंज्ञिपंचेंद्रिय जीवोंके मनका संबंध नहीं माना गया है। यदि सामान्यरूपसे संसारीजीवोंको समनस्क कहा जायगा तो उक्त एकेंद्रिय आदि सबही जीवोंको भी समनस्क कहना पडेगा जिससे सिद्धांतमें जो उन्हें अमनस्क माना है उसका व्याघात हो जायगा इसलिए समस्त संसारीजीवोंको समनस्क नहीं कहा जा सकता। यथासंख्य क्रमका वार्तिककार उत्तर देते हैं—

पृथग्योगप्रक्रमे संसारिसंप्रत्ययः ॥ ३ ॥ उपरिष्टसंसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च ॥ ४ ॥

यदि 'समनस्कामनस्काः' इससूत्रमें संसारी और मुक्त दोनोंका संबंध रहता तो 'संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्काः' ऐसा एक ही सूत्र कहते परंतु दो सूत्र पृथक् पृथक् कहे गये हैं इसलिये जाना जाता है कि इस सूत्रमें संसारियोंका ही ग्रहण है मुक्तोंका ग्रहण नहीं इसलिये संसारी समनस्क और मुक्त अमनस्क हैं इस विपरीत अर्थकी यहां कल्पना नहीं की जा सकती। और भी यह बात है कि—

आगे 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें संसारी शब्दका ग्रहण किया गया है वह समीपमें भी है इसलिये 'समनस्काऽमनस्का' इस सूत्रमें उसका संबंध होनेपर समनस्क और अमनस्क ये दो भेद संसारी जीवोंके ही हैं यही अर्थ होगा मुक्त शब्दका इससूत्रमें संबंध नहीं हो सकता। शंका—

तदभिसंबंधेयथासंख्यप्रसंगः ॥ ५ ॥ इष्टमेवेतिचेन्न सर्वत्रसानां समनस्कत्वप्रसंगात् ॥ ६ ॥

यदि 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें कहे गये संसारि शब्दका 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध किया जायगा तो उस सूत्रमें तो त्रस और स्थावर शब्दका भी उल्लेख किया गया है इसलिये उनका संबंध भी इस सूत्रमें होगा तब यथासंख्य क्रमसे त्रस समनस्क हैं और स्थावर अमनस्क हैं यह इस सूत्रका अर्थ मानना पडेगा। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि त्रस समनस्क हैं और स्थावर अमनस्क हैं यह अर्थ इष्ट ही है? सो ठीक नहीं। यदि सब त्रसोंको समनस्क कहा जायगा तो द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय और असंज्ञिपंचेंद्रिय भी त्रस हैं उन्हें भी समनस्क कहना होगा परंतु आगममें उन्हें समनस्क नहीं माना है इसलिये सब ही त्रस जीवोंको समनस्क कहना अनिष्ट है। इस यथासंख्य क्रमका वार्तिककार समाधान देते हैं—

नानाभिसंबंधात् ॥ ७ ॥ इतरथान्यतरत्र संसारिग्रहणे सतीष्टार्थत्वादुपरि संसारिगृहणमनर्थकं ॥ ८ ॥

संबंधका करना इच्छाके आधीन है। यहांपर संसारि शब्दके संबंध ही की इच्छा है त्रस और स्थावरके संबंधकी नहीं इसलिये 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संसारीकाही संबंध है। यदि 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रके संसारी शब्दके संबंधके समान त्रस और स्थावर शब्दका भी 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध रहता तब "समनस्कामनस्काः संसारिणस्त्रसस्थावराः" ऐसा एक ही सूत्र बनाना ठीक था परंतु वैसा नहीं बनाया इसलिये जान पडता है कि यहांपर त्रस और स्थावर शब्दका संबंध इष्ट नहीं अथवा—

संसारिणो मुक्ताश्च, समनस्कामनस्काः, संसारिणस्त्रसस्थावराः, इन तीनों सूत्रोंका एक योग नहीं किया इसलिये जान पडता है कि पहिले सूत्रके संसारि और मुक्त शब्दोंका तथा आगे सूत्रके त्रस और स्थावर शब्दोंका 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध नहीं किंतु केवल संसारी शब्दका ही संबंध है। अन्यथा यदि संसारी और मुक्त एवं त्रस और स्थावर शब्दोंके साथ भी इसका संबंध माना जायगा तो "संसारिमुक्ताः समनस्कामनस्कास्त्रसस्थावराः" ऐसा एक योग करना ही ठीक होता ऐसा होनेसे समनस्कामनस्काः' इस सूत्रकी आदि वा अंतमें एक जगह संसारि शब्दके उल्लेखसे ही अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता फिर 'संसारिमुक्ताः' यहांपर कहे गये संसारि शब्दसे अभीष्ट सिद्धि होनेपर 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इससूत्रमें संसारि शब्दका ग्रहण अनर्थक ही था। परंतु वैसा अर्थ सिद्धांतानुकूल नहीं इसलिये जैसा सूत्रोंका निर्माण है वैसा ही ठीक है।

आदौ समनस्कग्रहणमभ्यर्हितत्वात् ॥ ९ ॥

समनस्क कहनेपर समस्त इंद्रियोंका ग्रहण होता है इसलिये अमनस्ककी अपेक्षा समनस्क अभ्य-हिंत होनेसे 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें समनस्क शब्दका पहिले प्रयोग किया गया है ॥ ११ ॥

अपने द्वारा उपार्जन किये गये कर्मोंके अनुसार पाई हुई पूर्ण इंद्रिय और अपूर्ण इंद्रियोंकी अपेक्षा जिनके त्रस स्थावर रूप दो भेद हैं और कार्मांण शरीरके आधीन जिनके अवस्था विशेष नियमित हैं उन संसारी जीवोंका अब सूत्रकार उल्लेख करते हैं—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थ—त्रस और स्थावरके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके हैं। उनमें द्वींद्रिय त्रींद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीवोंकी त्रस संज्ञा है और एकेंद्रियजीव स्थावर कहे जाते हैं। वार्तिककार त्रस और स्थावर शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः ॥ १ ॥

जीवविपाकी अर्थात् जिसका फल जीवको ही भोगना पडता है ऐसे त्रसनामकर्मके उदयसे जिस विशेष पर्यायकी प्रकटता होती है उस पर्यायका नाम त्रस है। शंका—

त्रसेरुद्वेजनाक्रियस्य त्रसाइति चेन्न गर्भादिषु तदभावादत्रसत्वप्रसंगात् ॥ २ ॥

त्रस शब्दकी सिद्धि त्रसी उद्वेग धातुसे है और उसका अर्थ उद्वेजन—भयभीत होकर भाग जाना, माना है इसलिये 'त्रस्यंतीति त्रसाः' जो जीव डर कर भागनेवाले हों वे त्रस हैं यही त्रस शब्दका अर्थ मानना चाहिये? सो ठीक नहीं। जो जीव गर्भके अंदर वा अंडेके भीतर रहनेवाले हैं अथवा मूर्छित और सोये हुए हैं वे भयके बाह्य कारणोंके उपस्थित होजानेपर भी भयभीत हो भागते नहीं और वे सब

त्रस जीव हैं। यदि भयसे भागनेवाले जीव त्रस कहे जांयगे तो जो भयसे भागनेवाले होंगे वे ही त्रस कहे जांयगे, गर्भस्थ आदि जीवोंको त्रस नहीं कहा जायगा इसलिये ये 'जो जीव त्रसनामकर्मके उदयके वशीभूत हैं वे त्रस हैं' यही त्रस शब्दका अर्थ निर्दोष है किंतु जो भयसे भाग जानेवाले हैं वे त्रस हैं' यह अर्थ ठीक नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि——

जब त्रस शब्दके व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थका ग्रहण न किया जायगा तब 'त्रस्यंतीति त्रसाः' इसरूपसे उसकी सिद्धि बाधित है। सो ठीक नहीं। जिसतरह 'गच्छतीति गौः' यहांपर जो चले वह गौ है, यह व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ स्वीकार न कर पशु विशेषरूप गौ अर्थ ही प्रधानतासे लिया जाता है और गोशब्द की सिद्धिके लिए 'गच्छतीति गौः' यह केवल व्युत्पत्ति मानी जाती है उसीतरह त्रसशब्दकी सिद्धिके लिए 'त्रस्यंतीति त्रसाः' यह केवल व्युत्पत्ति प्रदर्शन है इस व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थकी यहां प्रधानता नहीं इसलिए 'जो जीव त्रस नामकर्मके वशीभूत हों वे त्रस हैं' यही त्रस शब्दका अर्थ निर्दोष है।

स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः ॥ ३ ॥

जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे जो विशेष पर्याय प्रगट हो उस पर्यायका नाम स्थावर है। शंका—

स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न वाय्वादीनामस्थावरत्व प्रसंगात् ॥ ४ ॥

स्थावर शब्दकी सिद्धि स्था गातिनिवृत्तौ धातुसे है और स्था धातुका अर्थ ठहरना है इसलिए 'तिष्ठंतीति स्थावराः' अर्थात् जो ठहरें वे स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ समझना चाहिए। सो ठीक नहीं पवन अग्नि और जलकी एक देशसे दूसरे देशमें गमनक्रिया देखी जाती है। यदि जो ठहरनेवाले

हैं वे ही स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ माना जायगा तो जो पदार्थ ठहरने वाले हैं वे ही स्थावर कहे जांयगे, पवन आदि स्थावर न कहे जा सकेंगे। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जब स्थावर शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ न लिया जायगा तब 'तिष्ठंतीतिस्थावराः' इस रूपसे उसकी सिद्धि बाधित है? सो ठीक नहीं। यह केवल व्युत्पत्तिमात्र प्रदर्शन है। व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थकी यहां प्रधानता नहीं किंतु रूढिकी विशेषतासे जो अर्थ प्रसिद्ध है उसीकी यहां प्रधानता है। वह रूढि सिद्ध अर्थ 'जो जीव स्थावर नामकर्मके उदयसे हों वे स्थावर हैं' यही है इसलिए यहां इसी अर्थका ग्रहण है। यदि यहांपर वादी यह कहे कि—

इष्टमेवेति चेन्न समयार्थानवबोधात् ॥ ५ ॥

स्थावर शब्दका यदि स्थानशील अर्थ किया जायगा तो पवन आदि चलनक्रिया परिणत पदार्थ स्थावर न कहे जा सकेंगे यह ऊपर दोष दिया गया है परंतु उनको स्थावर न होना हमें इष्ट ही है इसलिए जो ठहरने वाले हों वे ही स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ ग्रहण करना चाहिए? सो ठीक नहीं। वादीको सिद्धांतके अभिप्रायका यथार्थज्ञान नहीं क्योंकि सिद्धांतमें सत्प्ररूपणाके कायानुवाद प्रकरणमें दो इंद्रियको आदि लेकर अयोग केवली पर्यंत जीवोंको त्रस माना है। एकेंद्रिय जीवोंको कहीं भी त्रस पनेका विधान नहीं। यदि पवन अग्नि आदि कायके जीवोंको त्रस माना जायगा तो आगमविरोध होगा क्योंकि ये एकेंद्रिय जीव हैं इसलिए जो जीव त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे हों वे ही त्रस और स्थावर हैं यही त्रस और स्थावर शब्दका निर्दोष अर्थ है किंतु भयसे भाग जाने वाले त्रस और ठहरने वाले स्थावर यह अर्थ नहीं स्थावर नामकर्मका उदय पवनकाय आदि जीवोंके है इसलिए वे स्थावर ही हैं। अन्यथा जो बैठे हुए मनुष्य पशु आदि हैं वे भी स्थावर सिद्ध होंगे—

त्रसग्रहणमादावल्पाचतरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च ॥ ६ ॥

त्रसकायके जीवोंमें मतिज्ञान आदि वा चक्षुदर्शन आदि आठों उपयोग होते हैं और स्थावरकायके जीवोंके मतिज्ञान श्रुतज्ञान और चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन ये चार ही उपयोग होते हैं इसलिए स्थावर जीवोंकी अपेक्षा त्रस जीव अभ्यर्हित हैं तथा स्थावर शब्दकी अपेक्षा त्रस शब्द अल्पअक्षरवाला भी है इसरीतिसे अल्पाक्षर और अभ्यर्हित होनेसे 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें स्थावर शब्दसे पहिले त्रसशब्दका उल्लेख किया गया है ॥ १२ ॥

संसारी जीवोंका सामान्य और विशेषरूपसे भेदज्ञान हो चुका परंतु उनके विशेष भेद जो त्रस और स्थावर हैं उनके विशेषका ज्ञान नहीं हुआ इसलिए उनका ज्ञान कराना चाहिए। उनमें एकेंद्रिय स्थावर जीवोंके विषयमें विशेष वक्तव्य न होनेसे आनुपूर्वी क्रमसे विभागकर अर्थात् आनुपूर्वी क्रमका उल्लंघन करके पहिले सूत्रकार स्थावर जीवोंके भेद प्रतिपादन करते हैं—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयःस्थावराः ॥ १३ ॥

पृथ्वीकायिक जलकायिक तेजःकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच भेद स्थावर जीवोंके हैं। स्थावर जीवोंके नियमसे एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है इसलिये पृथिवीकायिक आदि सब जीव एकेंद्रिय हैं।

नामकर्मोदयनिमित्ताः पृथिव्यादयः संज्ञाः ॥ १ ॥

पृथिवी काय आदि स्थावर नाम कर्मके भेद हैं। उनके उदयसे जीवोंके पृथिवी अप् आदि नाम हैं। यद्यपि 'प्रथते इति पृथिवी' अर्थात् जो फैलनेवाली हो वह पृथिवी है 'आप्नुवंतीति आपः' जो चारों ओरसे

भर जानेवाला है वह जल हो, इत्यादिरूपसे पृथिवी आदिका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ प्रथन आदि क्रियाओं से उपलक्षित है परंतु उस अर्थकी यहां अविवक्षा है किंतु रूढि सिद्ध जो उनका अर्थ है उसीका यहां ग्रहण है। आगममें पृथिवी आदिमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद माने हैं और वे इस प्रकार हैं—

पृथिवी पृथिवीकाय पृथिवीकायिक और पृथिवी जीव ये चार भेद पृथिवीके हैं। उनमें अचेतन स्वभावसिद्ध परिणामसे रचित और कठिनता आदि गुणस्वरूप पृथिवी कही जाती है। अचेतन होनेसे इसके पृथिवीकायिक नाम कर्मका उदय नहीं हो सकता इसलिये यह अपनी प्रथन—विस्तार रूप क्रियासे ही उपलक्षित है। अथवा पृथिवी शब्दका संबंध आगेके तीन भेदोंके साथ भी है इसलिये 'पृथिवी' यह एक सामान्य नाम ही है। कायका अर्थ शरीर है। पृथिवीकायिक जीवने जिस शरीरको छोड दिया है वह पृथिवीकाय कहा जाता है। यह मरे हुए मनुष्य आदिके कायके समान है। 'पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो जीव उस पृथिवीकायसे संबद्ध है वह पृथिवीकायिक है। तथा जिस जीवके पृथिवीकायिक नाम कर्मका उदय है परंतु पृथिवीको कायस्वरूपसे ग्रहण न कर वह कार्माण काय योगमें ही विद्यमान है वह पृथिवी जीव है।

इसीतरह अप् अप्काय अप्कायिक और अप् जीव ये चार भेद जलके, तेज तेजकाय तेजकायिक और तेज जीव ये चार भेद तेजके, वायु वायुकाय वायुकायिक और वायु जीव ये चार भेद वायुके एवं वनस्पति वनस्पतिकाय वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ये चार भेद वनस्पतिके समझ लेने चाहिये एवं जिसप्रकार पृथिवीके भेदोंमें अर्थकी योजना कर आये हैं उसीप्रकार शास्त्रानुसार इनके अर्थोंकी भी कल्पना कर लेनी चाहिये।

सुखग्रहणहेतुत्वात्स्थूलमूर्तित्वादुपकारभूयस्त्वाच्चादौ पृथिवीग्रहणं ॥ २ ॥

पृथिवी पदार्थके विद्यमान रहते घडे कलश आदिसे जलका सुख पूर्वक ग्रहण होता है । सरवा (मृतपात्र) आदिसे अग्निका और चर्मघट–मुसक आदिसे पवनका सुखपूर्वक ग्रहण होता है इसलिये घडे आदि पदार्थोंके द्वारा जल आदिके सुखपूर्वक ग्रहण करनेमें पृथिवी कारण है । विमान मकान प्रस्तार आदि स्थूल परिणाम भी पृथिवीके ही हैं इसलिये सब पदार्थोंमें पृथिवीकी ही मूर्ति स्थूल है तथा जलसे स्नान आदिका करना उपकार माना है अग्निसे पकाना सुखाना और प्रकाश करना आदि, पवनसे खेद पसीना आदिका दूर करना और वनस्पतिसे भोजन वस्त्र आदि उपकार माना है परंतु जल आदिसे होनेवाला यह समस्त उपकार पृथिवीके विद्यमान रहते ही हो सकता है क्योंकि विना पृथिवीके जल आदि किस जगह रह कर उपकार कर सकते हैं ? इसलिये जल आदिकी अपेक्षा पृथिवीका ही बहुत बडा उपकार है । इसप्रकार जल आदिके सुखपूर्वक ग्रहणमें कारण स्थूल मूर्तिवाली और अधिक उपकारवाली होनेके कारण सूत्रमें जल आदिकी अपेक्षा सबसे पहिले पृथिवी शब्दका ही उल्लेख किया गया है ।

तदनंतरमपां वचनं भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च ॥ ३ ॥

तेज, भूमिका नाशक है इसलिये भूमि और तेजके बीचमें जलका व्यवधान किया गया है इस प्रकार पृथिवी और तेजके विरोधके कारण तथा जलकी आधार पृथिवी है और आधेय जल है इसलिये जलके आधेय होनेके कारण पृथिवीके बाद जलका उल्लेख किया गया है ।

ततस्तेजोग्रहणं तत्परिपाकहेतुत्वात् ॥ ४ ॥

पृथिवी और जल दोनोंके परिपाकका कारण तेज है इसलिये जलके बाद सूत्रमें तेजका उल्लेख किया गया है।

तेजोऽनंतरं वायुगृहणं तदुपकारत्वात् ॥ ५ ॥

पवनका स्वभाव तिरछा चलना माना है। वह प्रेरणाकर तेजका उपकार करती है इसलिए तेजके बाद वायुका ग्रहण है।

अंते वनस्पतिगृहणं सर्वेषां तत्प्रादुर्भावे निमित्तत्वादनंतगुणत्वाच्च ॥ ६ ॥

वनस्पति–वृक्ष आदिकी उत्पत्तिमें पृथिवी जल आदि सभी कारण पडते हैं तथा पृथिवीकायिक आदिकी अपेक्षा वनस्पतिकायिक जीवोंको अनंतगुणा माना है इसलिए सूत्रमें सबके अंतमें वनस्पति शब्दका ग्रहण किया गया है। इसप्रकार पृथिवी जल तेज वायु और वनस्पतिके भेदसे स्थावरजीव पांच प्रकारके हैं और इन पांचों ही प्रकारके स्थावरोंके स्पर्शनइंद्रिय कायबल उच्छ्वासनिश्वास और आयु ये चार प्राण माने हैं ॥ १३ ॥

अब सूत्रकार त्रस जीवोंके विषयमें कहते हैं–

द्वींद्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ–दो इंद्रियको आदि लेकर पंचेंद्रियपर्यंत जीवोंकी त्रस संज्ञा है।

आदिशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्था ॥ १ ॥

प्रकार सामीप्य व्यवस्था आदि बहुतसे आदि शब्दके ऊपर अर्थ बतलाए गए हैं उनमें यहां व्यवस्था अर्थका ग्रहण है। दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव आगममें त्रस नामसे व्यव-

स्थित हैं 'द्वे इंद्रिये यस्य सोऽयं द्वींद्रियः, स आदिर्येषां ते द्वींद्रियादयः' अर्थात् जिनके दो इंद्रिय हों वे द्वींद्रिय और द्वींद्रिय जिनकी आदिमें हों वे द्वींद्रियादि हैं, यह सूत्रमें स्थित द्वींद्रियादि शब्दकी व्युत्पत्ति है। शंका—

अन्यपदार्थनिर्देशाद्द्वींद्रियाग्रहणं ॥ २ ॥ न वा तद्‌गुण संविज्ञानात् ॥ ३ ॥

द्वींद्रियादि यहांपर ऊपर बहुव्रीहि समास बतलाया गया है बहुव्रीहि समासमें अन्य पदार्थ प्रधान और वाक्यगत पदार्थ गौण माने जाते हैं। यहांपर भी अन्य पदार्थ प्रधान और द्वींद्रिय पदार्थ उपलक्षण हैं इसलिए जिसप्रकार 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' अर्थात् पर्वत आदि क्षेत्र हैं यहांपर क्षेत्रके ग्रहणसे पर्वतका ग्रहण नहीं होता उसीप्रकार 'द्वींद्रियादि' यहांपर भी द्वींद्रिय शब्दका ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए द्वींद्रिय जीव त्रस न कहे जा सकेंगे ? सो ठीक नहीं। बहुव्रीहि समासके तद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि और अतद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि ये दो भेद माने हैं यदि अतद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि मानी जायगी तब 'द्वींद्रियादि' यहांपर द्वींद्रियका ग्रहण नहीं किया जा सकता किंतु यहां तो तद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास मानी गई है इसलिए 'शुक्लवाससमानय' अर्थात् जिसके वस्त्र सफेद हों उसे ले आओ, यहांपर जिसप्रकार शुक्लवासस शब्दका भी ग्रहण किया जाता है उसीप्रकार द्वींद्रियादि यहांपर भी द्वींद्रिय शब्दके ग्रहणमें कोई आपत्ति नहीं। तथा और भी यह बात है कि—

अवयवेन विग्रहे सति समुदायस्य वृत्यर्थत्वाद्वा ॥ ४ ॥

विग्रह अवयवोंके साथ होता है और समासका अर्थ समुदायगत माना जाता है। इसलिए जिसतरह 'सर्वादि सर्वनाम' अर्थात् सर्व आदि शब्द सर्वनाम संज्ञक हैं यहांपर उपलक्षणभूत भी सर्वशब्दको

सर्वनामके अंतर्भूत माना है उसीप्रकार द्वींद्रियादि यहांपर उपलक्षणभूत भी द्वींद्रियका अंतर्भाव त्रसकायमें है इसलिए द्वींद्रिय जीवोंको त्रसकाय मानना बाधित नहीं कहा जासकता। यदि कदाचित् यहां पर यह शंका की जाय कि समासका अर्थ समुदायनिष्ठ माननेसे जब उपलक्षणस्वरूप भी द्वींद्रियोंका ग्रहण त्रसोंमें कर लिया है तब 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' यहांपर भी पर्वत शब्दका क्षेत्रोंमें अंतर्भाव करना चाहिए। यहां पर्वत पदार्थका परित्याग क्यों? सो ठीक नहीं। पर्वतका क्षेत्रोंमें अंतर्भाव हो ही नहीं सकता क्योंकि पर्वतको क्षेत्र नहीं माना गया इसलिए उसका क्षेत्रोंमें ग्रहण नहीं माना है। द्वींद्रियका तो त्रसोंमें अंतर्भाव आगमसिद्ध है इसलिए उसका त्रसोंमें अंतर्भाव करनेमें कोई आपत्ति नहीं। इसप्रकार द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय इन चारप्रकारके जीवोंकी त्रस संज्ञा है। द्वींद्रियादि जीवोंके प्राणोंकी संख्या इसप्रकार है–

स्पर्शन इंद्रिय रसना इंद्रिय वचनबल कायबल उच्छासनिश्वास और आयु ये छह प्राण इंद्रिय जीवों के होते हैं। इन छह प्राणोंमें घ्राण इंद्रियके अधिक जोडदेनेपर सात प्राण तेइंद्रिय जीवके होते हैं। इन्हीं सातोंमें चक्षु इंद्रिय अधिक जोडदेनेपर आठप्राण चौइंद्रिय जीवोंके होते हैं। इन्हीं आठोंमें श्रोत्र इंद्रिय अधिक जोड देनेपर नौ प्राण असंज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंचोंके होते हैं। तथा मनोबल अधिक दश प्राण संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच, मनुष्य देव और नारकियोंके माने हैं ॥ १४ ॥

'द्वींद्रियादयस्त्रसाः' इससूत्रमें आदि शब्दसे इंद्रियोंका निर्देश किया है परंतु वे कितनी हैं यह नहीं बतलाया गया इसलिये सूत्रकार अब उन इंद्रियोंकी इयत्ता बतलाते हैं–अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है —

बहुतसे पंडितमन्य वादियोंमें कोई पांच इंद्रिय मानते हैं कोई छह इंद्रिय मानते हैं और कोई (सांख्यमती)[1] ग्यारह इंद्रिय मानते हैं उन अनिष्ट मतोंके खंडनार्थ इंद्रियां पांच ही हैं अधिक नहीं यह नियम प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पंचेंद्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ—सब इंद्रियां पांच हैं। वार्तिककार इंद्रिय शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

इंद्रस्यात्मनोलिंगमिंद्रयं ॥ १ ॥ इंद्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा ॥ २ ॥

इंद्रका अर्थ परमैश्वर्यका भोगनेवाला परमेश्वर है। कर्म बंधनोंमें जिकडे रहनेके कारण यद्यपि संसारी आत्मा परमेश्वर नहीं है तथापि उसके होनेकी उसके अंदर शक्ति मौजूद है इसरीतिसे कर्मबंधनोंमें फसा रहनेपर भी इंद्रनामके धारक उपभोग करनेवाले एवं स्वयं पदार्थोंके ग्रहण करनेमें असमर्थ आत्माको पदार्थोंके देखने और जाननेरूप उपयोगमें सहायता पहुंचानेवाला जो लिंग हो उसे इंद्रिय कहते हैं। अथवा—

अपने द्वारा उपार्जन किये गये कर्मोंके द्वारा यह आत्मा देवेंद्र आदि पर्यायोंमें तथा तिर्यंच आदि पर्यायोंमें इष्ट अनिष्ट पदार्थोंका अनुभव करता है इसलिये कर्मका भी नाम इंद्र है। उस इंद्र—कर्म द्वारा

---

१ सांख्यसिद्धांतकारने बुद्धींद्रिय और कर्मेंद्रियके भेदसे मूलभेद इंद्रियोंके दो माने हैं। उनमें—

बुद्धींद्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेंद्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

इस कारिकाके अनुसार चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना और त्वक् ये पांच बुद्धींद्रिय, वचन हाथ पांव गुदा और लिंग ये पांच कर्मेंद्रिय एवं मन इसप्रकार ग्यारह इंद्रियां मानी हैं। सां० त० कौ०।

होनेवाली जो कोई विशेष पर्याय है उसका नाम इंद्रिय है । इंद्रियके स्पर्शन रसना आदि पांच भेद हैं उनका आगे उल्लेख किया जायगा। शंका—

मनोऽपींद्रियमिति चेन्नानवस्थानात् ॥ ३ ॥ इंद्रियपरिणामाच्च प्राक् तद्व्यापारात् ॥ ४ ॥

कर्मोंसे मलिन निस्सहाय आत्मा विना मनकी सहायताके पदार्थोंके विचार करनेमें असमर्थ है इसलिये पदार्थोंके चिंतवन करनेमें मन कारण पडता है तथा नो इंद्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे मनकी उत्पत्ति मानी है इसलिये वह कर्मजनित है इसरीतिसे इंद्रियके जो ऊपर लक्षण बतलाये हैं वे दोनों मनके अंदर घटजानेसे उसे भी इंद्रिय कहना चाहिये? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार चक्षु आदि इंद्रियोंके रहनेका स्थान प्रतिनियत है उसप्रकार मनके रहनेका कोई प्रतिनियतस्थान नहीं दीख पडता इसलिये प्रतिनियत स्थानके अभावसे वह अनिंद्रिय ही है इंद्रिय नहीं कहा जा सकता तथा—

संसारमें यह बात प्रतीति सिद्ध है कि जिस मनुष्यको सफेद रूप आदिके देखनेकी इच्छा होती है वा खट्टा मीठा आदि रस चाखनेकी अभिलाषा होती है वह पहिले मनसे यह विचार लेता है कि मैं ऐसा रूप देखूंगा वा ऐसा रस चाखूंगा उसी विचारके अनुसार चक्षु आदि इंद्रियां इष्ट रूप रस आदि विषयों में व्यावृत होती हैं इस रीतिसे नेत्र आदि इंद्रियों द्वारा होनेवाले रूप आदि ज्ञानसे पहिले ही जब मन का व्यापार है तब चक्षु आदि इंद्रियोंमें और मनमें विषमता रहनेसे चक्षु आदिके समान मन: इंद्रिय नहीं कहा जा सकता किंतु वह अनिंद्रिय ही है। शंका—

कर्मेंद्रियोपसंख्यानमितिचेन्नोपयोगप्रकरणात् ॥ ५ ॥ अनिंद्रियत्वं वा तेषामनवस्थानात् ॥ ६ ॥

जिसतरह रूप रस आदि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण स्पर्शन आदि बुद्धींद्रियां मानी गई हैं उसीप्रकार

वचन कहना रखना बैठना आदि क्रियाओंमें कारण वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रिय भी मानी गयी हैं इसलिये स्पर्शन आदि इंद्रियोंके साथ वाक् पाणि आदि कर्मेंद्रियोंका भी उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं। यहांपर ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगका प्रकरण चल रहा है इसलिये जो इंद्रियां ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगमें कारण हैं उन्हींका यहां उल्लेख किया जा सकता है। स्पर्शन आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण हैं इसलिये उन्हींका यहां ग्रहण है वाक् पाणि आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण नहीं इसलिये उनका यहां ग्रहण नहीं है। इसलिये अप्रकृत होनेसे वाक् आदि इंद्रियोंका यहां उल्लेख नहीं किया गया। तथा और भी यह बात है कि—

जो पदार्थ ज्ञान और दर्शनस्वरूप उपयोगमें कारण हो उसीका नाम इंद्रिय माना है। स्पर्शन आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण हैं इसलिये उन्हें इंद्रिय मानना युक्त है। वाक पाणि आदि उपयोगमें कारण नहीं इसलिये उन्हें इंद्रिय नहीं कहा जा सकता यदि यहांपर 'जो क्रियाकी साधन हों वे इंद्रिय हैं' यह इंद्रिय सामान्यका लक्षण किया जायगा तो यद्यपि बोलना आदि क्रियाओंकी कारण होनेसे वाक् आदि इंद्रियां कहे जांयगे परंतु क्रियाके साधन तो मस्तक आदि सब ही अंग उपांग है। सबोंको इंद्रिय कहना पडेगा फिर किसको इंद्रिय कहना किसको न कहना अथवा वाक् पाणि आदि पांचको कर्मेंद्रिय कहना औरोंको न कहना यह अवस्था ही न बन सकेगी इसलिये 'जो क्रियाकी साधन हों वे इंद्रिय हैं यह इंद्रिय सामान्यका लक्षण न मानकर 'जो उपयोगमें कारण हो वे इंद्रिय हैं' यही इंद्रिय का लक्षण मानना चाहिये। उपयोगका कारण स्पर्शन आदि ही हैं इसलिये वे ही इंद्रिय कही जा सकती हैं वाक् पाणि आदि उसके साधन नहीं इसलिये उन्हें इंद्रिय नहीं कहा जा सकता तथा इस-

रीतिसे जब वाक् आदिमें इंद्रियपना सिद्ध नहीं तब यहां इंद्रियप्रकरणमें उनका ग्रहण भी नहीं किया जा सकता ॥ १५ ॥

भोक्ता आत्माको इष्ट अनिष्टरूप विषयोंकी उपलब्धि करानेवाली और उपर्युक्त सामर्थ्यविशेषसे निश्चित भेदवाली जो इंद्रियां हैं उनमें हरएकके कितने भेद हैं। सूत्रकार यह बतलाते हैं—

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ—पांचों इंद्रियोंमें प्रत्येक इंद्रियके द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रियके भेदसे दो दो भेद हैं।

विधिशब्दस्य प्रकारवाचिनो गृहणं ॥ १ ॥

विध-युक्त-गत और प्रकार ये चारों शब्द समान अर्थके वाचक हैं इसलिए यहांपर विध शब्दका अर्थ प्रकार है। द्वौविधौ येषां तानि द्विविधानि-द्विप्रकाराणि यह द्विविध शब्दका अर्थ पूर्ण विग्रह है। वे दोनों प्रकार द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रिय हैं ॥ १६ ॥

सूत्रकार द्रव्येंद्रियका स्वरूप निरूपण करते हैं—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियं ॥ १७ ॥

अर्थ—निर्वृत्ति और उपकरणके भेदसे द्रव्येंद्रिय दोप्रकारका है।

निर्वृत्त्यत इति निर्वृत्तिः ॥ १ ॥ द्वेधा वाह्याभ्यंतर भेदात् ॥ २ ॥

नामकर्मके उदयसे जो रचना विशेष हो उसे निर्वृत्ति कहते हैं और वह वाह्यनिर्वृत्ति और अंतरंग निर्वृत्तिके भेदसे दो प्रकारकी है।

तत्र विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यंतरा ॥ ३ ॥

उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशोंका जो भिन्न भिन्न रूपसे नेत्र आदि इंद्रियोंके मसूर आदि आकार और प्रमाणस्वरूप परिणत होना है वह अंतरंग निर्वृत्ति है। तथा—

तत्र नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या ॥ ४ ॥

उन्हीं आत्माके विशुद्ध प्रदेशोंमें इंद्रियोंके नामसे कहे जानेवाले भिन्न भिन्न आकारोंके धारक संस्थान नामकर्मके उदयसे होनेवाले अवस्थाविशेषसे युक्त जो पुद्गलपिंड है वह बाह्य निर्वृत्ति है।

विशेष—आत्माके प्रदेशोंका इंद्रियोंके आकार परिणत होना अभ्यंतरनिर्वृत्ति है और पुद्गल परमाणुओंका नासिका आदि इंद्रियोंके आकार परिणत हो जाना बाह्यनिर्वृत्ति है। जिसतरह—मसूरके समान आकारवाली नेत्र इंद्रियमें नेत्रेंद्रियके आकाररूप जितने आत्माके प्रदेश विद्यमान हैं वे अभ्यंतर निर्वृत्ति कहे जाते हैं और उस नेत्र इंद्रियके आकार जितने पुद्गलके परमाणु समूहरूपसे विद्यमान हैं उन्हें बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं।

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणं ॥ ५ ॥ तद्द्विविधं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

जो निर्वृत्तिका सहायक हो वह उपकरण है और वह बाह्य और अभ्यंतर उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है।

---

१ 'केवल आत्मप्रदेशोंका' यह अर्थ समझ लेना चाहिये।

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात्। श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थिति ॥ ५० ॥ त० सा० पृष्ठ ६९।

कानोंका यवकी मध्य नालीकासा आकार होता है, नेत्रका मसूरके समान, नाकका तिल पुष्पके समान, जीभका अर्धचंद्रके समान और स्पर्शन-इंद्रियका अनेक प्रकारका आकार होता है।

तत्राभ्यंतरं शुक्लकृष्णमंडलं वाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्व्यादि ॥ ७ ॥

मसूरके आकार नेत्रेंद्रियका जो भीतर सफेदभाग और काला गोलक है वह अभ्यंतर उपकरण है और पलक भापणी आदि वाह्य उपकरण हैं। यह नेत्रेंद्रिय संबंधी निर्वृत्ति और उपकरणका स्वरूप बतलाया है इसीप्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियोंके विषयमें भी योजना कर लेनी चाहिए।

सूत्रकार अब भावेंद्रियका स्वरूप बतलाते हैं—

लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियं ॥ १८ ॥

अर्थ—लब्धि और उपयोग ये दो भेद भावेंद्रियके हैं वार्तिककार सूत्रमें जो लब्धि शब्द है उसपर विचार करते हैं—

प्राप्त्यर्थक डुलभष् धातुसे क्ति प्रत्यय करनेपर लब्धि शब्द बना है। यहांपर यदि यह शंका हो कि—षिद्भिदादिभ्योऽङ्। २—३—१०१। जिन धातुओंका षकार अनुबंध गया है उनसे और भिद् आदि धातुओंसे कर्तामें न होकर भावमें स्त्रीलिंगमें अङ् प्रत्यय होता है, यह जैनेंद्र व्याकरणका सूत्र है। डुलभष् धातुका ष् अनुबंध गया है इसलिए उससे अङ् प्रत्यय ही होना चाहिए और जॄष धातुसे जिसतरह जरा बनता है और त्रपुषसे त्रपा बनता है उसीप्रकार लभष् धातुसे भी लभा ही बना चाहिए, क्ति प्रत्यय कर जो 'लब्धि' शब्द बनाया है वह अशुद्ध है? सो ठीक नहीं। 'अनुबंधकृतमनित्यं' अनुबंधके आधीन जो कार्य होता है वह अनित्य अर्थात् कहीं होता है कहीं नहीं होता। यह भी व्याकरणका ही नियम है अतः डुलभष् धातुसे अङ् प्रत्ययका जो विधान है वह भी ष् अनुबंधके आधीन है इसलिए वह होना चाहिए यह नियमरूपसे नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे जब लभ धातुसे अङ् प्रत्ययका कोई निय-

मित विधान नहीं तब उससे क्ति प्रत्ययका भी संभव होनेसे लब्धि शब्द भी शुद्ध ही है। तथा—'वर्णानुपलब्धौ वा तदर्थगतेः' इत्यादि स्थलोंपर व्याकरणशास्त्रमें लब्धि शब्दका उपयोग भी किया गया है। यदि लब्धि शब्द अशुद्ध होता तो उपर्युक्त स्थलपर लब्धि शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। अथवा—

स्त्रियां क्तिः। २—३—८०। कर्तासे रहित भावलकारमें वर्तमान धातुसे स्त्रीलिंगमें क्ति प्रत्यय होता है। तथा लभादिभ्यश्च। २—३—८१। लभ आदि धातुओंसे भी उपर्युक्त अवस्थामें क्ति प्रत्यय होता है। ये भी जैनेंद्र व्याकरणके ही सूत्र हैं इसलिए डुलभष् धातुसे क्ति प्रत्ययका विधान अयुक्त न होनेसे लब्धि शब्द कभी असाधु नहीं कहा जा सकता। 'लभादिभ्यश्च' यहांपर लभ आदि धातुओंका ग्रहण इच्छानुकूल है। इसरीतिसे सूत्रमें स्थित लब्धि शब्दके अशुद्ध न होनेपर लब्धिका लाभ अर्थ निर्दोष है। वार्तिककार लब्धि शब्दका खुलासा अर्थ बतलाते हैं—

इंद्रियानिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः ॥ १ ॥

जिसके बलसे आत्मा द्रव्येंद्रियकी रचनामें प्रवृत्त हो ऐसे ज्ञानावरण कर्मके विशेषक्षयोपशमका नाम लब्धि है। अर्थात् द्रव्येंद्रियकी रचनाका कारण आत्माका जो ज्ञानावरण कर्मका विशेषक्षयोपशमरूप परिणाम है उसका नाम लब्धि है।

तन्निमित्तः परिणामविशेष उपयोगः ॥ २ ॥

ज्ञानावरण कर्मके उस विशिष्ट क्षयोपशमसे जायमान जो आत्माका परिणाम विशेष है उसका नाम उपयोग है। इसप्रकार लब्धि और उपयोग दोनों स्वरूप भावेंद्रिय है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

उपयोगस्य फलत्वादिंद्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः ॥ ३ ॥

उपयोगको ज्ञानदर्शन स्वरूप माना है। वह इंद्रियोंका फल है क्योंकि उसकी उत्पत्ति इंद्रियोंसे होती है किंतु इंद्रियस्वरूप नहीं परंतु यहांपर उपयोगको भावेंद्रिय माना है इसलिए यह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। कार्य भी लोकमें कारण माना गया है जिसतरह घटाकार परिणतज्ञान घटसे जायमान होनेसे घटका कार्य है तथापि उस विज्ञानको घट कह दिया जाता है उसीप्रकार उपयोग यद्यपि इंद्रियों से जायमान होनेसे उनका फल है तथापि वह इंद्रिय, कहा जा सकता है इसलिए उपयोगको भावेंद्रिय माननेमें कोई आपत्ति नहीं। तथा—

शब्दार्थसंभवाच्च ॥ ४ ॥

ऊपर 'इंद्रियस्य लिंगं वा इंद्रेण सृष्टं' अर्थात् जो आत्माका लिंग हो और कर्मद्वारा रचा गया हो वह इंद्रिय है, यह जो इंद्रिय शब्दका अर्थ कह आए हैं वह प्रधानतासे उपयोगके अंदर ही घटता है क्योंकि ज्ञान दर्शनस्वरूप उपयोग आत्माका लिंग भी है और कर्मसे रचित भी है। इसलिए उपयोगको भावेंद्रिय मानना अयुक्त नहीं ॥ १८ ॥

'इंद्रियां पांच हैं' यह ऊपर संख्यामात्र इंद्रियोंकी बतलाई है परंतु उन पांचोंके नाम क्या क्या हैं? और उनका आनुपूर्वीक्रम क्या है? यह विशेष नहीं बतलाया सूत्रकार अब उसे बतलाते हैं—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ—स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इंद्रियां हैं। स्पर्शनका अर्थ त्वक्, रसनाका जीभ, घ्राणका नाक, चक्षुका नेत्र श्रोत्रका अर्थ कान है।

स्पर्शनादीनां करणसाधनत्वं पारतंत्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातंत्र्याद्बहुलवचनात् ॥ १ ॥

स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्यय करनेपर स्पर्शन आदि शब्दोंकी सिद्धि होती है। लोकमें इंद्रियोंकी स्वकार्यके करनेमें परतंत्रता अनुभवमें आती है इसलिये स्पर्शन आदि करण साधन हैं क्योंकि जिससमय इंद्रियोंकी परतंत्रत्वेन विवक्षा की जाती है और आत्माका स्वातंत्र्य माना जाता है उससमय 'अनेनाक्ष्णा अहं सुष्ठु पश्यामि' (इस आंखके द्वारा मैं अच्छी तरह देखता हूं) 'अनेनकर्णेनाहं सुष्ठु शृणोमि' (इस कानसे मैं अच्छीतरह सुनता हूं) ऐसा संसारमें व्यवहार होता है। यदि उन्हें करण साधन न माना जाय तो इसरूपसे संसारमें व्यवहार नहीं हो सकता इसरीतिसे वीर्यांतराय और स्पर्शन रसना आदि भिन्न भिन्न इंद्रियावरण कर्मोंके क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंका स्पर्श करै वह स्पर्शन इंद्रिय है। जिसके द्वारा स्वाद ले वह रसना, जिसके द्वारा सूंघे वह घ्राण, जिसके द्वारा देखे वह चक्षु और जिसके द्वारा सुने वह श्रोत्र यह स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी करण साधन व्युत्पत्ति है तथा—

लोकमें इंद्रियोंकी स्वकार्यके प्रति स्वतंत्रता रूपसे भी विवक्षा है इसलिये वे कर्तृसाधन भी हैं क्योंकि 'इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति' (यह मेरा नेत्र अच्छी तरह पदार्थोंको देखता है) और 'अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति' (यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है) यह संसारमें व्यवहार होता है। यदि उन्हें कर्तृ-साधन न माना जायगा तो इसरूपसे संसारमें व्यवहार नहीं हो सकता। इसरीतिसे उपर्युक्त वीर्यांतराय और स्पर्शन रसन आदि भिन्न भिन्न इंद्रियावरणकर्मोंके क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जो स्वयं पदार्थोंका स्पर्श करे वह स्पर्शन है। स्वयं रसोंको चखे वह रसना, स्वयं गंधवाले पदार्थोंको

सूंघे वह घ्राण, स्वयं पदार्थोंको देखे वह चक्षु और स्वयं शब्दोंको सुने वह श्रोत्र इंद्रिय है। इसप्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी यह कर्तृसाधन व्युत्पत्ति है।

यदि यहांपर यह शंका की जाय कि युट् प्रत्ययका विधान कर्तामें ही होता है करणमें नहीं इसलिये जहांपर स्पर्शन आदिकी कर्तृसाधन व्युत्पत्ति होगी वहींपर स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्यय करनेपर स्पर्शन आदि शुद्ध माने जा सकते हैं किंतु करणसाधन व्युत्पत्तिमें उनकी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये करण साधन अर्थमें जो स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्ययका विधान किय गया है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। कर्तामें जो युट् प्रत्ययका विधान माना है वह बहुलतासे है अर्थात् कहींपर कर्तामें होता है और कहीं पर करण साधन अर्थमें भी होता है इसलिये करणसाधन अर्थमें भी युट् प्रत्ययका विधान युक्त होनेपर स्पर्शन आदिकी कारण साधन व्युत्पत्ति अयुक्त नहीं।

श्वेतांबर ग्रंथोंमें 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणींद्रियाणि' ऐसा सूत्र पाठ है परंतु वह युक्त नहीं क्योंकि—

अधिकृतत्वादिंद्रियाणीत्यवचनं ॥ २ ॥

'पंचेंद्रियाणि' इस सूत्रमें इंद्रिय शब्दका उल्लेख किया गया है। 'जितने भर सूत्र हैं सोपस्कार हुआ ही करते हैं'। इसलिये उस सूत्रसे स्पर्शनरसनेत्यादि सूत्रमें इंद्रिय शब्दकी अनुवृत्ति होनेसे पुनः इंद्रिय शब्दका कथन करना व्यर्थ है। वार्तिककार स्पर्शन आदि इंद्रियोंके क्रमिक कथनपर विचार करते हैं—

स्पर्शनग्रहणमादौ शरीरव्यापित्वात् ॥ ३ ॥ सर्वसंसारिषूपलब्धेश्च ॥ ४ ॥

पांचो इंद्रियोंमें स्पर्शन इंद्रिय समस्त शरीरको व्याप्त कर रहती हैं इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले

स्पर्शन इंद्रियका ग्रहण है। तथा 'वनस्पत्यंतानामेकं' अर्थात् पृथिवीको लेकर वनस्पतिपर्यंत समस्त जीवोंके एक ही स्पर्शन इंद्रिय होती है, इससूत्रमें एक शब्दसे स्पर्शन इंद्रियका ही ग्रहण किया जाय इसलिये पांचो इंद्रियोंमें स्पर्शन इंद्रियका सबसे पहिले ग्रहण किया गया है। तथा यह भी बात है कि—

जितनेभर भी संसारमें जीव हैं सबके स्पर्शन इंद्रिय विद्यमान है इसलिये समस्त संसारी जीवोंमें विद्यमान रहनेसे नाना जीवोंकी अपेक्षा व्यापी रहनेके कारण सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियका पहिले उल्लेख किया गया है।

ततो रसनघ्राणचक्षुषां क्रमवचनमुत्तरोत्तराल्पत्वात् ॥ ५ ॥ श्रोत्रस्यांते वचनं बहूपकारित्वात् ॥ ६ ॥

स्पर्शन इंद्रियके वाद रसना घ्राण और चक्षुका जो कथन किया गया है उसमें उत्तरोत्तर अल्पता कारण है और वह इसप्रकार है—

सबसे थोडे चक्षु इंद्रियके प्रदेश हैं। उससे संख्यात गुणे श्रोत्र इंद्रियके प्रदेश हैं। उससे कुछ विशेष अधिक घ्राणेंद्रियके हैं। उससे असंख्यातगुणे रसना इंद्रियके हैं और उससे अनंतगुणे स्पर्शन इंद्रियके हैं। इसरीतिसे रसना इंद्रियके प्रदेशोंकी अपेक्षा घ्राण इंद्रियके और घ्राण इंद्रियके प्रदेशोंकी अपेक्षा चक्षु इंद्रियके प्रदेश कम होनेसे रसनाके वाद घ्राणका और घ्राणके वाद चक्षुका सूत्रमें उल्लेख किया गया है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

जब सब इंद्रियोंकी अपेक्षा चक्षु इंद्रियके प्रदेश कम हैं तब सब इंद्रियोंके अंतमें चक्षु इंद्रियका ही पाठ रखना ठीक है? श्रोत्रका सबके अंतमें पाठ क्यों रक्खा गया? सो ठीक नहीं। श्रोत्र इंद्रियके बलसे उपदेशको सुनकर मनुष्य हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें प्रवृत्त होते हैं इसलिये समस्त इंद्रियोंकी

अपेक्षा श्रोत्र इंद्रिय अधिक उपकारी होनेसे उसका सब इंद्रियोंके अंतमें पाठ रक्खा है। यदि यहां पर यह शंका हो कि—

रसनमपि वक्तृत्वेनेति चेन्नाभ्युपगमात् ॥ ७ ॥ श्रोत्रप्रणालिकापादितोपदेशात् ॥ ८ ॥

चक्रवर्ती आदिके अभ्युदय और मोक्ष रूप पदार्थोंके उच्चारणमें एवं पठन पाठन आदिमें रसना इंद्रिय भी प्रधान कारण है। विना जीभके अभ्युदय आदि पदार्थोंका उच्चारण एवं पठन पाठन आदि हितकारी बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं इसलिये इन बातोंमें श्रोत्रके समान रसना भी अधिक उपकारी होनेसे सब इंद्रियोंके अंतमें रसना इंद्रियका ही पाठ रखना आवश्यक है? सो ठीक नहीं। जब वादीने रसना इंद्रियको अधिक उपकारी बतलाते हुए श्रोत्रको भी अधिक उपकारी स्वीकार कर लिया है तब वादकी समाप्ति हो चुकी क्योंकि जब श्रोत्र और रसना दोनों ही बहूपकारी हैं तब श्रोत्रका अंतमें पाठ न रख रसनाका रखना चाहिये वा रसनाका अंतमें पाठ न रख श्रोत्रका रखना चाहिये यह विवाद ही नहीं उठ सकता। जिसका अंतमें पाठ रख दिया गया उसीका ठीक है इसलिये बहूपकारी होनेसे रसनाका अंतमें पाठ रखना चाहिये यह शंका निर्मूल है। अथवा—

रसनाकी अपेक्षा श्रोत्र ही बहूपकारी है क्योंकि श्रोत्ररूपी नालिका द्वारा उपदेश सुननेके वाद ही रसनाका बोलनेकेलिये व्यापार होता है इसरीतिसे रसनाकी अपेक्षा जब श्रोत्र ही बहूपकारी पदार्थ है तब सबके अंतमें उसीका पाठ न्याय प्राप्त है। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

सर्वज्ञे तदभाव इति चेन्नेंद्रियाधिकारात् ॥ ९ ॥

छद्मस्थ पुरुषके श्रोत्रेंद्रियके वलसे दूसरेसे उपदेश सुनकर भले ही बोलना हो परंतु सर्वज्ञ तो

श्रोत्रेंद्रियके बलसे परसे उपदेश ग्रहणकर बोलता नहीं किंतु वह तो केवलज्ञानावरणकर्मके सर्वथा नाश हो जानेपर जब अतींद्रिय केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है उससमय केवल रसना इंद्रियोंके सहायता मात्रसे वक्ता होकर समस्त शास्त्रीय पदार्थोंका वर्णन करता है इसरीतिसे रसनाके वक्तृत्वव्यापारमें जब श्रोत्र इंद्रिय कारण न पडी तब श्रोत्र इंद्रियकी अपेक्षा रसना ही बहुपकारी सिद्ध हुई इसलिये समस्त इंद्रियों के अंतमें रसना इंद्रियका ही ग्रहण युक्ति सिद्ध है ? सो ठीक नहीं। यहांपर इंद्रियोंका अधिकार चल रहा है। जहांपर सर्वथा इंद्रियोंके द्वारा किया जानेवाला हित अहितका उपदेश संभव है उन्हींकी अपेक्षा यह कहा गया है कि श्रोत्रके द्वारा उपदेश श्रवण कर रसना इंद्रियसे बोला जाता है किंतु जिनके इंद्रियों-का व्यापार आवश्यक ही नहीं उनके लिये यह नियम नहीं। छद्मस्थ जीवोंमें श्रोत्र इंद्रियके द्वारा उप-देश श्रवणके बाद ही रसना इंद्रियसे बोलना होता है इसलिये उनके लिये ही यह नियम है। सर्वज्ञको लक्ष्यकर यह कथन नहीं किया गया इसलिये उसकी अपेक्षा यह नियम न होनेसे कोई दोष नहीं। अथवा—

एकैकवृद्धिक्रमज्ञापनार्थं च स्पर्शनादि ग्रहणं ॥ १० ॥

आगे 'कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि' कीडा चिंउटी भौंरा और मनुष्य आदिके क्रमसे एक एक इंद्रिय अधिक है यह कहा गया है वहांपर इंद्रियोंकी क्रमसे वृद्धि बतलानेके लिये स्पर्शनके बाद रसना रसनाके बाद घ्राण इत्यादि क्रमसे सूत्रमें इंद्रियोंका उल्लेख किया गया है।

एषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकांतः ॥ ११ ॥

स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी आपसमें तथा इंद्रियवान् आत्मासे भिन्नता और अभिन्नता अनेकांत

रूपसे मानी गई है इसलिये इंद्रियां आपसमें अथवा इंद्रियवान्‌से कथंचित् अभिन्न भी हैं और कथंचित् भिन्न भी हैं और वह इसप्रकार हैं—

ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति पांचो इंद्रियोंकी उत्पत्तिमें समानतासे कारण है इसलिये जिससमय उस शक्तिके अभेदकी विवक्षा की जायगी उससमय शक्तिके एक होनेसे स्पर्शन आदि पांचो इंद्रियां एक हैं और वह ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूपशक्ति प्रतिनियत भिन्न भिन्न स्वरूप मानी जायगी अर्थात् स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्तिमें स्पर्शनेंद्रियावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति कारण है रसना इंद्रियकी उत्पत्तिमें रसनेंद्रियावरणकर्मकी क्षयोपशमशक्ति कारण है इत्यादिरूपसे प्रत्येक इंद्रियकी उत्पत्तिमें क्षयोपशम रूप शक्तिको भिन्न भिन्नरूपसे स्वीकार किया जायगा उससमय शक्तिके भेदसे स्पर्शन आदि इंद्रियां भी भिन्न भिन्न हैं। अथवा—

समुदायी—अवयव, समुदायसे भिन्न नहीं किंतु समुदाय स्वरूप ही माने जाते हैं और वह समुदाय एक पदार्थ माना गया है इसलिये स्पर्शन आदि समस्त इंद्रियांरूप अवयव, समुदायस्वरूप शरीर पदार्थसे भिन्न नहीं इसरीतिसे अवयवोंकी अभेद विवक्षा माननेपर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा स्पर्शन आदि इंद्रियां एक हैं और जब स्पर्शन इंद्रियके अवयव भिन्न हैं। रसनाके भिन्न हैं इसप्रकार अवयवोंकी भेद विवक्षा है उससमय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा स्पर्शन आदि इंद्रियां भिन्न भिन्न हैं। अथवा—

इंद्रियजन्य ज्ञान उनका नाम तथा प्रवृत्ति निवृत्तिकी जहांपर अभेदरूपसे विवक्षा है अर्थात् ज्ञान आदिको जुदा जुदा नहीं माना जाता वहांपर स्पर्शन आदि पांचो इंद्रियां एक हैं और जहांपर स्पर्शन इंद्रिय जन्य ज्ञान अथवा उनके नाम उनका ज्ञान और प्रवृत्ति निवृत्तिका भेद है उनसे जायमान ज्ञान

आदिको जुदा जुदा माना जाता है उससमय स्पर्शन आदि इंद्रियां भिन्न भिन्न हैं। इसप्रकार यह इंद्रियोंकी आपसमें भेद और अभेदकी व्यवस्था कही गयी है। इंद्रियवान पदार्थोंसे इंद्रियोंके भेद और अभेदकी व्यवस्था इसप्रकार है—

जिसतरह अग्निसे तप्तायमान लोहके पिंडस्वरूप ही अग्नि परिणामित हो जाती है—लोहेके पिंडसे भिन्न नहीं दीख पडती इसलिये वहां लोहेका पिंड और अग्नि दोनों एक माने जाते हैं उसीप्रकार बाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंसे आत्मा भी चैतन्यस्वरूप इंद्रिय पर्यायसे परिणामित है इसलिये आत्मा और इंद्रिय दोनों एक हैं। इस रूपसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा इंद्रियां इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित् अभिन्न हैं और किसी एक इंद्रियके नष्ट हो जानेपर वा न रहनेपर भी आत्मा विद्यमान रहता है—इंद्रियके अभावमें उसका अभाव नहीं रहता इस अपेक्षा इंद्रियवान आत्मासे कथंचित् इंद्रियोंका भेद भी है अथवा पर्यायीसे पर्याय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न माने हैं। यहां पर भी पर्यायी आत्मा और पर्याय इंद्रियां हैं इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथंचित् भेद रहनेसे भी इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित इंद्रियोंका भेद है। घट पदार्थके समान यदि इंद्रियोंको सर्वथा आत्मासे भिन्न माना जायगा तो आत्माको अनिंद्रिय कहना पडेगा इसीतरह यदि सर्वथा अभिन्न माना जायगा तो इंद्रिय रूपसे जो संसारमें इंद्रियोंका व्यवहार हो रहा है वह न होगा इसलिये इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित् भेद और अभेद ही मानना युक्तियुक्त है। अथवा—

जिससमय आत्मा और इंद्रिय इसप्रकार दोनों नामोंका अभेद माना जायगा उससमय इंद्रियवान् आत्मा पदार्थ और इंद्रिय दोनोंका अभेद है और जिससमय दोनों नामोंको भिन्न भिन्न माना जायगा उससमय

आत्मा और इंद्रिय दोनोंका भेद है। इसप्रकार आत्मा और इंद्रियोंका कथंचित भेदाभेद ही युक्तिसिद्ध व्यवस्थित है। इसरीतिसे उपर्युक्त हेतुओंके बलसे इंद्रियोंका वा आपसमें वा इंद्रियवानआत्मासे जिसप्रकार कथंचित् एकत्व और कथंचित् अनेकत्व व्यवस्थित है उसीप्रकार कथंचित् एकानेकत्व कथंचित् अवक्तव्यत्व आदि भंग भी समझ लेने चाहिये ॥ १९ ॥

सूत्रकार स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियोंका अब विषय प्रदर्शन करते हैं—

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ—स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पांच क्रमसे उन पांचों इंद्रियोंके विषय हैं। इनमें स्पर्शन इंद्रियका विषय स्पर्श अर्थात् छूना है। रसना इंद्रियका विषय रस अर्थात् स्वाद लेना है। घ्राणइंद्रियका विषय सुगंधि दुर्गंधि सूंघना है। नेत्रइंद्रियका विषय वर्ण अर्थात् रंग है और श्रोत्र इंद्रियका विषय शब्दोंका सुनना है।

स्पर्शादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः ॥ १ ॥

जिससमय द्रव्यकी विवक्षा की जायगी उससमय स्पर्श आदि कर्म साधन हैं और जिससमय पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय भाव साधन हैं। उसका खुलासा इसप्रकार है—

जहांपर प्रधानतासे द्रव्यकी विवक्षा है वहांपर स्पर्शन आदि द्रव्यसे भिन्न नहीं इसलिए इंद्रियोंसे वहांपर द्रव्यहीके साथ संबंध होता है अतः प्रधानतासे द्रव्यकी विवक्षा रहनेपर जिसके द्वारा स्पर्श (छूना) किया जाय वह स्पर्श, जिसके द्वारा चखा जाय वह रस, जिसके द्वारा सूंघा जाय वह गंध,

जिसके द्वारा वर्णन किया जाय वह वर्ण और जिसके द्वारा सुना जाय वह शब्द है । इसप्रकार स्पर्श आदिकी कर्म-साधन व्युत्पत्ति है । तथा—

जिससमय प्रधानरूपसे पर्यायकी विवक्षा है उससमय द्रव्य और पर्यायोंका आपसमें भेद रहनेसे जो उदासीन रूपसे मौजूद भाव है उसीका कथन किया जाता है इसलिए पर्यायोंकी प्रधानरूपसे विवक्षा रहनेपर जो स्पर्श स्वरूप हो वह स्पर्श, जो रसस्वरूप हो वह रस, जो गंधस्वरूप हो वह गंध, जो वर्ण-स्वरूप हो वह वर्ण और जो शब्दस्वरूप हो वह शब्द इसप्रकार स्पर्श आदिकी भावसाधन व्युत्पत्ति है । इसरीतिसे द्रव्य और पर्यायोंकी विवक्षामें स्पर्श आदिकी कर्म और भावसाधन दोनों प्रकारकी व्युत्पत्ति अविरुद्ध है । शंका—

परमाणु अत्यंत सूक्ष्म अतींद्रिय पदार्थ है । जिसका स्पर्श किया जाय वह स्पर्श जो चखा जाय वह रस, यदि इसप्रकार स्पर्श आदिकी व्युत्पत्ति मानी जायगी तो परमाणुके अंदर रहनेवाले स्पर्श आदिमें तो यह व्युत्पत्ति घट नहीं सकती इसलिए वहांपर स्पर्श आदि व्यवहार न हो सकेगा ? सो ठीक नहीं । जो गुण कारणमें होता है वह कार्यमें भी नियमसे रहता है । स्थूल स्कंध आदि परमाणुके कार्य हैं और परमाणु उनके उत्पादक कारण हैं । स्कंध आदिमें स्पर्श आदि साक्षात् अनुभवमें आते हैं वे पर-माणुओंमें स्पर्श आदिके माने बिना नहीं हो सकते इसलिए स्कंध आदिमें स्पर्श आदिके साक्षात्कारसे परमाणुओंमें भी अनुमानद्वारा उनकी सत्ता सिद्ध होनेसे परमाणुओंमें स्पर्श आदिका व्यवहार अबाधित है यहांपर यह न कहना चाहिए कि स्थूल स्कंधोंमें जो स्पर्श आदि हैं उनकी उत्पत्ति परमाणुगत स्पर्श

आदिसे नहीं है किंतु वहांपर वे स्वतः ही उत्पन्न हैं। क्योंकि जो पदार्थ[1] असत् है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि परमाणुओंमें स्पर्श आदि न मानकर स्थूलस्कंधोंमें स्वतः उनकी उत्पत्ति मानी जायगी तो वह बाधित किंवा असंभव कल्पना समझी जायगी। हां! यद्यपि परमाणुगत स्पर्श आदिको असमर्थतासे इंद्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं इसलिए वे इंद्रियोंके अग्राह्य हैं तथापि रूढिबलसे परमाणुगत स्पर्श आदिका व्यवहार बाधित नहीं। तदर्थाः, तेषामर्थाः तदर्थाः, यहांपर तत् शब्दसे इंद्रियोंका ग्रहण है अर्थात् स्पर्श आदि इंद्रियोंके विषय हैं। शंका—

तदर्था इति वृत्त्यनुपपत्तिरसमर्थत्वात् ॥ २ ॥ न वा गमकत्वान्नित्यसापेक्षेषु संबंधिशब्दवत् ॥ ३ ॥

वाक्यगत जो अवयव समर्थ होते हैं उन्हींका आपसमें समास होता है। असमर्थ अवयवोंका समास नहीं होता। तथा जो अवयव दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षा रखते हैं वे असमर्थ कहे जाते हैं। 'तदर्थाः' इस वाक्यमें रहनेवाला तत् शब्द इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है इसलिए असमर्थ है। इसरीतिसे 'तेषामर्थाः' तदर्थाः यह जो तदर्थ शब्दका षष्ठीतत्पुरुष समास ऊपर कहा गया है वह अनुचित है? सो ठीक नहीं।

जहांपर गमकता रहती है वहांपर भी समास हो जाता है तथा वह गमकपना जिसतरह सदा अपेक्षा रखनेवाले संबंधी शब्दोंमें माना जाता है उसीप्रकार जितने भी नित्यसापेक्ष-सदा अपेक्षा रखने वाले शब्द हैं उन सबमें माना जाता है इसरीतिसे देवदत्तका गुरुकुल वा देवदत्तका गुरुपुत्र, यहांपर

१—नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति। (२४) [बृहत्स्वयंभूस्तोत्र]
'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः' [अन्यत्र]
असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनंतत्वं। को वारयितुं शक्तः कुंभोत्पत्तिं मृदाद्यभावेऽपि ॥ १० ॥ [पंचाध्यायी]

संबंधी शब्दोंमें जिसतरह गुरुशब्द सदा शिष्यकी अपेक्षा रखनेके कारण नित्यसापेक्षी और नित्य-सापेक्षी होनेसे शिष्यका बोधक है इसलिये वहांपर निर्बाधरूपसे समास हो जाता है उसीतरह 'तदर्थाः' यहांपर यद्यपि सामान्य अर्थका वाचक और विशेषकी आकांक्षा रखनेवाला तत् शब्द इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है तथापि वह नित्यसापेक्षी है एवं नित्यसापेक्षी होनेसे वह गमक है इसलिये गमक होनेसे वहां पर 'तेषामर्थास्तदर्थाः' इस षष्ठी तत्पुरुष समासके होनेमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं हो सकती। इस-रीतिसे जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ होता है। असमर्थ अवयवोंका कभी समास हो नहीं सकता 'तदर्थाः' यहांपर भी तत् शब्द असमर्थ है उसका भी समास नहीं हो सकता यह जो ऊपर कहा गया था वह निर्मूल सिद्ध हो गया।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येण निर्देश इंद्रियक्रमाभिसंबंधार्थः ॥ ४ ॥

स्पर्शके बाद रस, रसके बाद गंध, गंधके बाद वर्ण और वर्णके बाद शब्द यह जो आनुपूर्वी क्रमसे सूत्रमें स्पर्श आदिका उल्लेख किया गया है वह 'इंद्रियोंके साथ स्पर्श आदिका क्रमसे संबंध है' यह द्योतन करता है अर्थात् स्पर्शन इंद्रिय स्पर्शको, रसना इंद्रिय रसको, घ्राण इंद्रिय गंधको, चक्षु इंद्रिय वर्णको और श्रोत्र इंद्रिय शब्दको क्रमसे ग्रहण करती है यह यहां तात्पर्य है। स्पर्श रसन आदि सामा-न्यरूपसे पुद्गल द्रव्यके गुण हैं परंतु नैयायिक और वैशैषिकमतावलंबियोंने इन गुणोंके विषयमें एक विशेषरूपसे कल्पना कर रक्खी है और वह इसप्रकार है—

पृथिवीमें रूप रस गंध और वर्ण ये चारों गुण रहते हैं। जलमें रूप रस और स्पर्श ये तीन ही गुण रहते हैं गंध गुण उसमें नहीं माना तथा उसे बहनेवाला और स्निग्ध भी माना है। तेजमें रूप और

स्पर्श ये दो ही गुण माने हैं गंध और रसका उसमें अभाव है और वायुमें केवल स्पर्श ही गुण माना है शेष गुणोंकी वहांपर योग्यता नहीं इसलिये उनका अभाव है। परंतु नैयायिक आदिका यह मानना ठीक नहीं क्योंकि इन चारों गुणोंका आपसमें साहचर्य संबंध है। जहांपर एक होगा वहां शेष गुणोंके अविभाग प्रतिच्छेद–गुणांश कम होनेके कारण वे व्यक्त भले ही न हों परंतु उनका अभाव नहीं कहा जा सकता। अनुमान प्रमाणसे स्पर्श आदि गुणोंमें किसी एक व्यक्त गुणके साथ शेष गुणोंकी भी सत्ता मानी है और वह इसप्रकार है–

'रूपादिमान् वायुः स्पर्शवत्त्वाद्घटवत्'। जिसतरह घटमें स्पर्श है इसलिये उसमें रूप आदि भी हैं उसीप्रकार वायुमें भी स्पर्श है अतः उसमें भी रूप आदि हैं। सदा सहचारी स्पर्श गुणके रहते वायुमें रूप आदिका अभाव नहीं कहा जा सकता। 'तेजोऽपि रसगंधवद् रूपत्त्वाद् गुडवत्' जिसतरह गुडमें रूप है इसलिये उसमें रस और गंध भी है उसीप्रकार तेजमें भी रूप है अतः उसमें भी रस और गंध है। रूपके रहते रस और गंधका उसमें अभाव नहीं कहा जा सकता। 'आपोऽपि गंधवत्यः रसवत्त्वादाम्रफलवत्' जिसप्रकार आम्रफलमें रस है इसलिये उसमें गंध भी है उसीप्रकार जलमें भी रस है इसलिये उसमें भी गंध है रसके मौजूद रहते जलमें गंधका अभाव नहीं कहा जा सकता। तथा जल आदिमें प्रत्यक्षरूपसे गंध आदि गुणोंकी प्रतीति होती है इसलिये गंध आदि गुणोंका उनमें अभाव नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

गंध आदि जल आदिके निजी गुण नहीं, वे पृथिवीके ही निजी गुण हैं किंतु पृथिवीके परमाणुओंका संयोग जल आदिके साथ रहता है इसलिये संयोगवश पृथिवीके गुण जलके जान पडते हैं? सो ठीक नहीं।

"गंध आदि पृथिवीके परमाणुओंके ही गुण हैं जल आदिके निजीगुण नहीं किंतु पृथिवीके संबंधसे वे जल आदिके भी जान पडते हैं" इसवातका साधक कोई भी विशेष हेतु नहीं इसलिये पार्थिव परमाणुओंके संबंधसे जल आदिमें गंध आदिकी प्रतीति होती है जल आदिके गंध आदि निजी गुण नहीं यह कहना भ्रमपूर्ण है।-वार्तिककार अपनी सम्मति प्रगट करते हैं कि-

हम तो यह कहते हैं कि जिस गुणकी जिस पदार्थमें उपलब्धि है वह गुण उसी पदार्थका है किसी अन्य पदार्थके संयोगसे उसमें उस गुणकी प्रतीति नहीं होती। यदि कोई विशेष हेतु न देकर पार्थिव परमाणुओंके संयोगसे ही जल आदिमें गंध आदिकी उपलब्धि जबरन मानी जायगी तब उनमें गंध आदिके समान रस आदिकी उपलब्धि भी जबरन मान लेनी चाहिये इसरीतिसे संयोगसे ही रस आदिकी भी प्रतीति जल आदिमें हो जायगी, रस आदिको उनके निजी गुण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये जल आदिके रस आदि जिसप्रकार निजी गुण हैं उसीप्रकार गंध आदि भी उनके निजी गुण हैं किंतु रस आदिके समान उनकी व्यक्ति न होनेसे उनकी उपलब्धि नहीं होती यही मानना युक्तियुक्त है।

नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंने पृथिवी जल आदिको भिन्न भिन्न जातीय पदार्थ मान रक्खा है परंतु वे पुद्‌गलस्वरूप होनेसे पुद्‌गल ही हैं क्योंकि जो पृथिवी है वह निमित्त कारणोंके बलसे द्रवित (वहता) दीख पडता है। बहने स्वरूप स्वभावका धारक जलकरका—आलेके पत्थर वा वरफके रूपमें कठिन दीख पडता है और वह करका भी द्रवित होती दीख पडती है। तेज भी मषी (राखी) आदि रूपमें दीख पडता है और पवनके अंदर भी रूप आदि गुण अनुभवसिद्ध हैं इसरीतिसे जब पृथिवी

आदि सब द्रव्योंके परमाणु और स्कंध अपनी पुद्गल जातिको न छोडकर निमित्त कारणके बलसे आपसमें सब रूप, अर्थात् पृथिवी जलरूप, जल पृथिवीरूप, तेज पृथिवीरूप आदि परिणमते दीख पडते हैं तब पृथिवी आदिको भिन्न भिन्न द्रव्य मानना अयुक्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

जब वायु आदिमें रूप आदिकी सत्ता मानी जायगी तो वहां पर रूप आदिका ज्ञान कैसे होगा? तो वहांपर प्रश्नके वद्लेमें यह प्रश्न है कि परणाणुओंमें भी रूप आदिकी सत्ता मानी है वहांपर रूप आदिका ज्ञान कैसे हो जाता है? यदि यहांपर यह उत्तर दिया जायगा कि परमाणुओंके कार्यस्वरूप स्थूल स्कंध आदिमें रूप आदि दीख पडते हैं। वे रूप आदि परमाणुओंमें रूप आदि बिना माने हो नहीं सकते इसलिये इस अनुमान प्रमाणके बलसे परमाणुओंमें रूप आदि स्वीकार कर लिये जाते हैं तब वहांपर भी परमाणुओंमें रूप आदिके रहने पर उसके कार्यस्वरूप वायुमें वे न हों यह बात असम्भव है इसलिये परमाणुओंमें अनुमानप्रमाणसे रूप आदिकी सत्ता मानने पर वायुमें भी अनुमानप्रमाणसे रूप आदिका होना निर्बाध है।

तेषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वं पृथक्त्वं प्रत्यनेकांतः ॥ ५ ॥

स्पर्श आदि गुणोंकी आपसमें वा स्पर्श आदि युक्त पदार्थोंसे अभिन्नता और भिन्नता अनेकांत रूपसे मानी गई है इसलिये वे आपसमें वा स्पर्शादिभाव पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न हैं। बहुतसे वादी स्पर्श आदिको सर्वथा एक ही मानते हैं। अन्य बहुतसे वादी उन्हें सर्वथा भिन्न ही मानते हैं परंतु वह ठीक नहीं क्योंकि यदि सर्वथा स्पर्श आदिको एक ही माना जायगा–उनका आपसमें

भेद न स्वीकार किया जायगा ; तो जिससमय ठंडे गरम आदि स्पर्शका ज्ञान हो रहा है उससमय खट्टे मीठे आदि रसका और गंध आदिका भी ज्ञान होना चाहिये क्योंकि स्पर्श आदि सब एक हैं स्पर्शादिको यदि स्पर्शादिमान्से अभिन्न माना जायगा तो स्पर्शादि ही रहेंगे या स्पर्शादिमान् ही रहेंगे यदि स्पर्शादिमान् वस्तु ही मानी जायगी तो स्पर्शादि लक्षणोंके अभाव हो जानेसे लक्ष्य वस्तु भी नहीं सिद्ध होगी। यदि स्पर्शादि ही माने जांयगे तो विना स्पर्शादिमान् पदार्थोंके निराधार स्पर्शादि कहां ठहरेंगे इसलिए उनका अभाव हो जायगा। यदि स्पर्श आदिको आपसमें सर्वथा भिन्न माना जायगा तो जिसतरह रूप गुणसे घटका आकार भिन्न है इसलिए जिससमय रूपका ज्ञान होता है उससमय घटके आकार का ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार जिससमय स्पर्शका ज्ञान होगा उससमय रूप आदिका ग्रहण होगा ही नहीं तब स्पर्श रस आदि अनेक गुणस्वरूप घट न होनेके कारण 'अयं घटः स्पृष्टः' मैंने इस घटका स्पर्श किया, यह व्यवहार न होगा इसलिए स्पर्श आदि गुणोंका सर्वथा भेद वा अभेद युक्तिसिद्ध नहीं।

तथा स्पर्शवान् आदि पदार्थोंसे यदि स्पर्श आदि गुणोंको सर्वथा अभिन्न माना जायगा तो वह अभेदस्वरूप स्पर्शादिमान् पदार्थ कहा जायगा वा स्पर्श आदि गुण कहे जांयगे। यदि स्पर्शादिमान् पदार्थ कहा जायगा तो यह नियम है कि लक्षणके अभावमें लक्ष्यका भी अभाव माना जाता है। स्पर्शादिमान् पदार्थके स्पर्श आदि लक्षण हैं यदि उन्हें न माना जायगा तो स्पर्शादिमान् पदार्थ भी सिद्ध न हो सकेगा। यदि वह अभेद स्पर्श रस आदि गुणस्वरूप ही माना जायगा, स्पर्शादिमान् पदार्थस्वरूप न माना जायगा तो स्पर्श आदि गुण; विना किसी आधारके रह नहीं सकते इसलिए निराधार होनेसे स्पर्श आदिका अभाव ही हो जायगा इसरीतिसे स्पर्शादिमान् पदार्थ और स्पर्श आदि गुणोंका आपसमें

सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् स्पर्शादिमान् पदार्थ और स्पर्श आदि गुणोंका सर्वथा भेद माना जायगा तब दोनों ही पदार्थोंका अभाव हो जायगा क्योंकि भिन्न भिन्नरूपसे दोनों पदार्थ कहीं भी देखे सुने नहीं गये। इसप्रकार स्पर्श आदि गुणोंका आपसमें वा स्पर्शादिमान् पदार्थसे सर्वथा भेद किंवा अभेद न मानकर कथंचित भेद और अभेद ही मानना युक्तिसिद्ध है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

स्पर्श रस आदि गुणोंका भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण होता है इसलिए वे भिन्न भिन्न ही हैं एक नहीं? सो भी ठीक नहीं। जिनका भिन्नरूपसे ग्रहण होता है वे भिन्न होते हैं यदि यह व्याप्ति निर्दोष हो तब तो यह माना जा सकता है कि 'स्पर्श आदि गुणोंका भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण है इसलिये वे भिन्न हैं' किंतु शुक्ल कृष्ण रक्त आदि पदार्थोंमें संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व कर्म सत्ता गुणत्व आदि हैं तो आपसमें भिन्न भिन्न धर्म, परंतु उन सबका रूपके साथ समवाय संबंध रहनेसे चक्षुसे ग्रहण अभिन्न रूपसे ही होता है इस रूपसे यहांपर अभिन्न रूपसे ग्रहण होनेपर भी जब संख्या परिमाण आदि भिन्न भिन्न हैं तब जिनका भिन्न रूपसे ग्रहण होता है वे भिन्न होते हैं यह व्याप्ति व्यभिचारित हो गई इसलिये स्पर्श आदिका भिन्न रूपसे ग्रहण होनेपर वे भिन्न भिन्न ही हैं यह कहना ठीक नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

पदार्थका नाम भी उसका निज तत्त्व (स्वरूप वा लक्षण) है जहां पर उसका भेद होगा वहां पर उसके भेदसे पदार्थोंका भी भेद माना जायगा। स्पर्श रस आदि गुणोंके स्पर्श रस आदि नाम भिन्न भिन्न हैं इसलिये नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुण भी भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, एक नहीं हो सकते? सो

भी ठीक नहीं । यदि पदार्थोंका भेद नामोंके भेदपर निर्भर हो तब तो स्पर्श आदि नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुणोंका भेद युक्तियुक्त माना जाय परंतु वैसा तो है नहीं क्योंकि द्रव्य गुण और कर्म यहां पर नामोंका अभेद रहते भी पदार्थोंका भेद माना गया है अर्थात् द्रव्य यह नाम एक है तथापि द्रव्योंके पृथिवी आदि अनेक भेद हैं । गुण यह नाम एक है तथापि रूप आदि उसके भेद अनेक हैं एवं कर्म यह नाम एक है तो भी उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि उसके भेद अनेक हैं । इसरीतिसे द्रव्य आदिमें नामके एक रहनेपर भी जब पदार्थोंका भेद है तब 'नामोंके भेदसे पदार्थ भिन्न भिन्न माने जाते हैं' यह व्याप्ति सिद्ध न हो सकी इसलिये स्पर्श रस आदि नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुणोंका भेद नहीं माना जा सकता । यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

द्रव्य गुण और कर्ममें प्रत्येकको जो अनेक अनेक बतलाया है वह युक्त नहीं किंतु वे एक ही एक हैं ? सो भी ठीक नहीं । महान अहंकार पंचतन्मात्रा आदि स्वरूप परिणत होनेवाले और पृथक् रूपसे अनुपलब्ध सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुणमें प्रत्येकको सांख्योंने अनेक अनेक प्रकारका माना है। यदि द्रव्य गुण कर्ममें प्रत्येकको एक एक माना जायगा तो सत्वगुण आदिमें भी प्रत्येकको एक एक मानना पडेगा । जिससे सत्त्वगुण आदिमें प्रत्येकको अनेक प्रकार माननेकी प्रतिज्ञा छिन्न भिन्न हो जायगी । यदि यहांपर यह कहा जायगा कि वे एक ही एक हैं तब उनमें व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपके भेदसे जो कल्पना की गई है वह व्यर्थ हो जायगी इसलिये स्पर्श आदि नामोंके भेदसे जो स्पर्श आदि गुणोंके सर्वथा भेदकी शंका की गई थी वह खंडित हो गई । वास्तवमें जहांपर द्रव्यकी विवक्षा है वहांपर स्पर्श आदि गुण स्पर्शादिमान् पदार्थसे भिन्न नहीं इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे कथंचित् एक

स्वरूप हैं और जहांपर पर्यायोंकी विवक्षा है वहांपर स्पर्श रस आदि पर्यायें भिन्न भिन्न हैं एवं पर्यायी स्पर्शादिमान् पदार्थ भिन्न हैं इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वे कथंचित् अनेक हैं। इसीतरह आगेके पांच भंगोंकी भी यहां योजना कर लेनी चाहिये ॥ २० ॥

स्पर्शन आदि इंद्रियोंके समान मनका कोई निश्चित स्थान नहीं इसलिये वह इंद्रिय नहीं कहा जा सकता इसरूपसे ऊपर मनको इंद्रियपनेका निषेध किया गया है। वहांपर यह शंका उठती है कि वह अनिंद्रियस्वरूप मन, ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगका उपकारक है या नहीं? यदि यह कहा जायगा कि मन का सहारा बिना लिये इंद्रियोंकी अपने अपने विषयोंमें प्रयोजनीय प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये मन; उपयोगमें अवश्य ही उपकारी है तब वहां यह कहना है कि—अपने अपने विषयोंमें इंद्रियोंकी सहायता मात्र करना ही मनका कार्य है अथवा और कुछ भी उसका कार्य है? उत्तरमें इंद्रियोंके उपकारके सिवाय अन्य भी मनका कार्य है ऐसा स्वीकार कर सूत्रकार उस अन्यकार्यको बतलाते हैं—

श्रुतमनिंद्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—मनका विषय श्रुतज्ञानका विषय पदार्थ है।

वृत्त्यर्थ—सूत्रमें जो श्रुतशब्द है उससे श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थका ग्रहण है। उसको मन विषय करता है क्योंकि जिसने श्रुतज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम प्राप्त कर लिया है ऐसे आत्माके, मनके आश्रयसे जायमान ज्ञानकी श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थमें प्रवृत्ति होती है अथवा श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है वह मनसे होता है इसलिये मन पूर्वक होनेसे वह श्रुतज्ञान ही मनका कार्य है। इसप्रकार

इंद्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा न कर श्रुतज्ञानका उत्पन्न करना, मनका स्वतंत्र प्रयोजन वा कार्य है। अर्थात् श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है।

श्रुतं श्रोत्रेंद्रियस्य विषय इति चेन्न श्रोत्रेंद्रियग्रहणे श्रुतस्य मतिज्ञानव्यपदेशात् ॥ १ ॥

श्रुतको मनका विषय बताया गया है परंतु वह श्रोत्र इंद्रियका विषय है इसलिये श्रुतज्ञानको मनका स्वतंत्र कार्य मानना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं श्रोत्र इंद्रियसे जायमान ज्ञानको मतिज्ञान माना है। यदि श्रुतका श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण माना जायगा तो वह मतिज्ञान ही कहा जायगा श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिये यहांपर यह व्यवस्था है कि—

जहांपर श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण हो वह तो मतिज्ञान है उसके अवग्रह ईहा आदि भेद ऊपर कह दिये जा चुके हैं और उसके बाद उस मतिज्ञानपूर्वक जो जीव अजीव आदिके स्वरूपका ग्रहण होना है वह श्रुतज्ञान है। तथा वह श्रुतज्ञान सिवाय मनके अपनी उत्पत्तिमें किसी भी इंद्रियकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह स्वतंत्र रूपसे मनका कार्य है। इसरीतिसे 'श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थ वा स्वयं श्रुतज्ञानका श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण होता है अनिंद्रियस्वरूप मनसे नहीं' यह कथन निर्हेतुक है ॥ २१ ॥

इंद्रियोंके नाम बतला दिये गये। उनके स्पर्श रस आदि विषयोंका भी वर्णन कर दिया गया परंतु किस किस इंद्रियका कौन कौन स्वामी है यह अभीतक नहीं बतलाया इसलिये अब उनके स्वामियोंके वर्णन करते समय, सूत्रकार सबसे पहिले कही गई स्पर्शन इंद्रियका स्वामी बतलाते हैं—

वनस्पत्यंतानामेकं ॥ २२ ॥

अर्थ—वनस्पति काय है अंतमें जिनके उन जीवोंके अर्थात् पृथिवीकायिक अप्कायिक तेजःकायिक

वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांचो प्रकारके जीवोंके पाहिली स्पर्शन इंद्रिय ही होती है अर्थात् ये पांच एकमात्र स्पर्शन इंद्रियके धारक स्थावर जीव हैं।

अंतशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातोऽवसानगतिः ॥ १ ॥

अंतशब्दके अनेक अर्थ माने हैं जिसप्रकार वस्त्रांतः वसनांतः अर्थात् वस्त्रका अवयव यहांपर अंत शब्दका अर्थ अवयव है। उदकांतं गतः-उदक समीपे गतः अर्थात् जलके समीप गया यहांपर अंतशब्द का समीप अर्थ है। संसारांतं गतः-संसारावसानं गतः अर्थात् संसारके अंतको प्राप्त हुआ यहांपर अंत-शब्दका अवसान अर्थ है। सूत्रमें जो अंत शब्द है उसके अवसान अर्थकी यहां विवक्षा है वनस्पत्यंतानां-वनस्पत्यवसानानां, अर्थात् जिनके अंतमें वनस्पति है ऐसे पृथिवीकायिक आदि जीवोंके 'एक इंद्रिय है'।

सामीप्यवचने हि वायुत्रससंप्रत्ययप्रसंगः ॥ २ ॥

यदि 'वनस्पत्यंतानां' यहांपर अंतशब्दका समीप अर्थ माना जायगा तो 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः' इस सूत्रमें या तो वनस्पतिशब्दके पास वायुशब्द पठित है इसलिए उसका ग्रहण होगा या उसके आगेके सूत्रमें पासही त्रसकायका उल्लेख है इसलिए उसका ग्रहण होगा। पृथिवी आदिका किसी प्रकारसे ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए यहांपर अंतशब्दका समीप अर्थ न ग्रहणकर अवसान ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। उससे पृथिवीकायिकको आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंमें स्पर्शन इंद्रियका स्वामीपना निर्बाध है।

अंतशब्दस्य संबंधिशब्दत्वादादिसंप्रत्ययः ॥ ३ ॥

अंतशब्दको संबंधी वा सापेक्ष शब्द माना है। इसलिए वह अपनेसे पूर्व रहनेवाले शब्दोंकी अपेक्षा रखता है एवं जहां पर अंतशब्दका प्रयोग रहता है वहांपर अर्थतः आदि शब्दकी प्रतीति रहती है इस लिए यहांपर पृथिवीसे आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंके एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, यह अर्थ समझ लेना चाहिए। शंका—

अवशिष्टैकेंद्रियप्रसंगोऽविशेषात् ॥ ४ ॥ न वा प्राथम्यवचने स्पर्शनसंप्रत्ययात् ॥ ५ ॥

एक शब्द सामान्यरूपसे एक संख्याका वाचक है तथा सूत्रमें ऐसा कोई विशेष भी नहीं कहा गया है जिससे एक शब्दसे अमुक ही इंद्रियका ग्रहण हो इसलिए पृथिवीको आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंमें स्पर्शन आदि इंद्रियोंमेंसे कोई एक इंद्रिय हो सकती है, केवल स्पर्शन इंद्रिय ही नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं। एक शब्दका अर्थ प्राथम्य है। सूत्रमें जिस इंद्रियका पहिले कथन होगा उसीका यहां पर ग्रहण किया जायगा। स्पर्शनरसनेत्यादि सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियका पहिले उल्लेख किया गया है इसलिए यहांपर एकशब्दसे उसीका ग्रहण है इसरीतिसे पृथिवीकायको आदि देकर वनस्पतिकाय पर्यंत जीवोंके एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है अन्य कोई इंद्रिय नहीं यह कथन निर्दोष है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि एक शब्दका प्राथम्य अर्थ होता ही नहीं इसलिए उससे प्रथमोद्दिष्ट स्पर्शन इंद्रियका ग्रहण नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। क्योंकि एको गोत्रे-प्रथमो गोत्रे, अर्थात् गोत्रमें प्रथम, यहांपर एकशब्दका प्रथम अर्थ प्रसिद्ध है इसलिए कोई दोष नहीं। स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्ति इसप्रकार है—

वीर्यांतराय और स्पर्शनेंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशम रहनेपर रसना आदि शेष इंद्रियसंबंधी सर्व-घातीस्पर्धकोंके उदय रहने पर शरीर और अंगोपांग नामकर्मके लाभ रहनेपर तथा एकेंद्रिय जाति

नामक नामकर्मके उदय रहनेपर स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्ति होती है इसप्रकार पृथिवीकायिक आदि स्थावर जीव स्पर्शन इंद्रियके स्वामी हैं यह बात निरूपण कर दी गई ॥ २२ ॥

अब रसना आदि इंद्रियोंके स्वामियोंका निरूपण करते हैं—

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ—लट चिउंटी भौंरा मनुष्य आदिके क्रमसे एक एक इंद्रिय बढती हुई है। अर्थात् लट (गिडार) आदिके स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियां हैं। चिउंटी आदिके स्पर्शन रसना और घ्राण ये तीन इंद्रियां हैं। भौंरा आदि जीवोंके स्पर्शन रसन घ्राण और नेत्र ये चार इंद्रियां हैं तथा मनुष्य देव नारकी और गौ आदिके पांचो ही इंद्रियां हैं।

एकैकमिति वीप्सानिर्देशः ॥ १ ॥

एक शब्दका दो बार उच्चारण करनेसे 'एकैकं' यह यहां वीप्सानिर्देश है।

बहुत्वनिर्देशः सर्वेंद्रियापेक्षः ॥ २ ॥

'एकैकवृद्धानि' यहांपर जो बहुवचनका निर्देश किया गया है वह सब इंद्रियोंकी अपेक्षा है। एकैकं वृद्धमेषां तानि एकैकवृद्धानि अर्थात् एक एक इंद्रिय अधिक है यह 'एकैकवृद्धानि' पदका विग्रह है यहां पर यह शंका उठती है कि एकैकवृद्धानि इस वाक्यका एक एक इंद्रिय अधिक है यह जो अर्थ माना है वहां अधिकपना पहिलेकी इंद्रियोंमें है कि उत्तरकी इंद्रियोंमें है अर्थात् स्पर्शन इंद्रिय रसना अधिक कही जायगी कि रसना इंद्रिय स्पर्शन अधिक कही जायगी? इस शंकाकी निवृत्ति वार्तिककार करते हैं—

असंदिग्धं स्पर्शनमेकैकेन वृद्धामित्यादिविशेषणात् ॥ ३ ॥

कृमिपिपीलिकेत्यादि सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये उसे लेकर एक एक इंद्रिय अधिक है यह यहांपर विशेषता है। अर्थात् जिनके दो इंद्रियां हैं उनके स्पर्शन इंद्रिय रसना अधिक है जिनके तीन इंद्रियां हैं उनके स्पर्शन और रसना घ्राण इंद्रिय अधिक है इत्यादि अर्थ है इसलिये उपर्युक्त संदेह यहां नहीं हो सकता। एकैकवृद्ध इतने शब्दके कहनेसे स्पर्शनादि इंद्रियां एकैकवृद्ध हैं, यह अर्थ कैसे होगा? उसका समाधान—

वाक्यांतरोपप्लवात् ॥ ४ ॥

जो वाक्य निबंधनस्थान अर्थात् निर्णीतप्रायः रहता है उसके साथ दूसरे शब्दका संयोग हो जाता है। जिसतरह 'अक्षः' यह निर्णीत वाक्य है उसके साथ भक्ष्यतां, भज्यतां, दीव्यतां, इन दूसरे दूसरे शब्दोंका उपप्लव—संयोग, हो जाता है अर्थात् 'अक्षो भक्ष्यतां' बहेडा खाओ। अक्षो भज्यतां गाढीका धुरा तोड दो। अक्षो दीव्यतां जूवा खेलो यह वहांपर अन्य वाक्योंके संयोगसे अर्थसमन्वय कर लिया जाता है। उसीतरह एक एक वृद्ध है यह वाक्य निर्णीतप्रायः है। उस निर्णीतप्राय वाक्यसे लट आदिके रसना अधिक स्पर्शन इंद्रिय है। चिंउंटी आदिके घ्राण अधिक स्पर्शन और रसना इंद्रियां हैं। भौंरा आदिके नेत्र अधिक स्पर्शन रसना और घ्राण इंद्रियां हैं मनुष्य आदिके श्रोत्र अधिक स्पर्शन रसना घ्राण और नेत्र इंद्रियां हैं इसप्रकार दूसरे दूसरे वाक्योंका संयोग कर लिया जाता है। इसरीतिसे स्पर्शन, रसना इंद्रिय अधिक है इत्यादि अर्थसमन्वय निर्दोष है।

आदिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायां वा वेदितव्यः ॥ ५ ॥

१ जिन शब्दोंका ज्ञान अनेकार्थक है उनका प्रकरणवश दूसरे शब्दोंका प्रयोग करनेसे उनका अर्थ स्वयं घटित हो जाता है।

'मनुष्यादीनां' यहां पर जो आदि शब्द सूत्रमें कहा गया है उसके यहां पर प्रकार (भेद) और व्यवस्था दोनों अर्थ हैं। जिससमय यहां पर आगमकी विवक्षा नहीं की जायगी उससमय तो 'कृम्यादयः—कृमिप्रकाराः' अर्थात् 'कृमि आदिक' यह अर्थ है और जिससमय आगमकी विवक्षा की जायगी उससमय आदि शब्दका अर्थ व्यवस्था है क्योंकि किन किनके कौन कौन इंद्रिय है यह बात आगममें अच्छी तरह व्यवस्थित है। रसना आदि इंद्रियोंकी उत्पत्ति स्पर्शन इंद्रियके समान उत्तरोत्तर सर्वघातिया-स्पर्धकोंके उदय रहनेपर समझ लेनी चाहिये अर्थात्—

वीर्यांतराय और रसनेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम, घ्राणादि इंद्रिय संबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय, शरीर और अंगोपांगनामक नाम कर्मका बल एवं द्वींद्रिय जाति नाम कर्मके उदय रहनेपर रसना इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। वीर्यांतराय और घ्राणेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम चक्षु आदि इंद्रियसंबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय शरीर और अंगोपांग नाम कर्मका बल एवं त्रींद्रिय जाति नाम कर्मके उदय रहनेपर घ्राण इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। वीर्यांतराय और चक्षु इंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम श्रोत्रेंद्रिय संबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय, शरीर और अंगोपांग नामक नाम कर्मका बल एवं चतुरिंद्रिय जाति नामक नाम कर्मके उदय रहनेपर चक्षु इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। तथा वीर्यांतराय और श्रोत्रेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम शरीर और अंगोपांग नामक नाम कर्मका बल और पंचेंद्रिय जाति नामक नामकर्मके उदय रहनेपर श्रोत्र इंद्रियकी उत्पत्ति होती है ॥ २३ ॥

संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर दो भेद हैं वे कह दिये गये। उन्हींके पांच इंद्रियोंके भेदसे पांच भेद हैं वे भी कह दिये गये संज्ञी नामका पंचेंद्रिय जीवोंका भेद नहीं कहा, सूत्रकार अब उसे कहते हैं—

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ—जो जीव मनसहित हैं वे संज्ञी कहे जाते हैं।

मन पदार्थका ऊपर व्याख्यान कर दिया गया है। जिन जीवोंके उस मनकी विद्यमानता हो वे जीव संज्ञी कहे जाते हैं। शंका—

समनस्कग्रहणमनर्थकं संज्ञिशब्देन गतत्वात् ॥ १ ॥ हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोषविचारणात्मिका संज्ञा ॥ २ ॥

व्रीह्यादिपठादिनिसिद्धेः ॥ ३ ॥ न वा शब्दार्थव्यभिचारात् ॥ ४ ॥

'संज्ञिनः समनस्काः' इस सूत्रमें जीवके संज्ञी और समनस्क ये दो विशेषण माने हैं वहां पर संज्ञी और समनस्क दोनोंका समान अर्थ रहनेपर संज्ञी विशेषण ही पर्याप्त है समनस्क विशेषण देनेकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यह पदार्थ हितकारी है और यह अहितकारी है। हितकी प्राप्ति होनेपर यह गुण प्राप्त होता है और अहितकी प्राप्ति होनेपर यह दोष होता है इसप्रकारका जो विचार है वही संज्ञा है और यही कार्य मनका भी है संज्ञा शब्दका व्रीह्यादिगणमें पाठ होनेसे 'व्रीह्यादिभ्यश्च' इस सूत्रसे इन प्रत्यय करनेपर संज्ञी शब्द सिद्ध हुआ है इसरीतिसे संज्ञी और समनस्क जब दोनों शब्द समान अर्थके वाचक हैं तब संज्ञी कहना ही पर्याप्त है समनस्क विशेषणकी कोई आवश्यकता नहीं? सो ठीक नहीं। हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें क्रमसे गुण और दोषोंकी विचारणा रूपही यदि संज्ञा शब्दका अर्थ हो तब तो संज्ञी शब्दका प्रयोग ही उपयुक्त है समनस्क शब्दके उल्लेखकी कोई आवश्यक्ता नहीं परंतु संज्ञा शब्दके तो नाम आदि अनेक अर्थ हैं जो कि सैनी असैनी दोनोंमें घट जाते हैं इसलिये असैनीमें भी चले जानेके कारण संज्ञित्व लक्षण व्यभिचरित है। खुलासा इसप्रकार है—

यदि संज्ञा शब्दका अर्थ रूढि 'नाम' माना जायगा तो वह सैनी असैनी समस्त प्राणियोंमें प्रतिनियत है। उससे असैनी जीवोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए असैनी जीवोंको भी संज्ञी कहना पडेगा। 'संज्ञानं संज्ञा' भले प्रकार जानना संज्ञा है इस व्युत्पत्तिके बलसे यदि उसका अर्थ ज्ञान माना जायगा तो वह ज्ञान भी सैनी असैनी सब प्रकारके जीवोंमें विद्यमान है इसलिए इस अर्थके माने जाने पर भी केवल संज्ञी शब्दके उल्लेखसे असैनी जीवोंकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती, उन्हें भी संज्ञी कहना पडेगा इसलिए सैनी जीव ही संज्ञी कहे जांय इस निर्धारणकेलिए समनस्क पदका ग्रहण सार्थक है। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि—

आहारादिसंज्ञेति चेन्नानिष्टत्वात् ॥ ५ ॥

संज्ञा शब्दके नाम वा ज्ञान अर्थ माननेपर संज्ञित्व लक्षण असैनी जीवोंमें भी घट जानेपर वे भी संज्ञी कहे जा सकते हैं परंतु हम तो आहार भय मैथुन और परिग्रह यह अर्थ संज्ञी शब्दका मानते हैं वह असैनी जीवोंमें नहीं घट सकता इसलिए कोई दोष नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। आहार भय मैथुन और परिग्रह संज्ञाएं भी समस्त संसारी जीवोंके विद्यमान हैं इसलिए संज्ञा शब्दका आहार आदि अर्थ माननेपर भी असैनी जीवोंकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती। असैनी जीवोंको संज्ञी मानना आगमविरुद्ध होनेसे अनिष्ट है इसलिए इस अनिष्टताके परिहारकेलिए सूत्रमें समनस्क पदका उल्लेख सार्थक है।

तथा समनस्क शब्दका उल्लेख न कर यदि सूत्रमें केवल संज्ञी शब्दका ही उल्लेख किया जायगा और संज्ञी शब्दका अर्थ हित अहितकी परीक्षा करनेवाला माना जायगा तो जो जीव गर्भ वा अंडेके

भीतर हैं वा मूर्छित वा सोए हुये हैं वे भी हित अहितकी परीक्षासे शून्य हैं इसलिए वे भी संज्ञी न कहे जांयगे किंतु समनस्क पदके उल्लेख रहनेपर तो जो मनसहित हैं वे संज्ञी हैं यह अर्थ होगा। गर्भस्थ आदि जीव भी मनसहित हैं इसलिए वे भी निर्वाधरूपसे संज्ञी कहे जांयगे अतः समनस्क शब्दका उल्लेख सार्थक है ॥ २४ ॥

यदि संसारी जीवोंके हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार मनके ही द्वारा होना माना जायगा तो जो आत्मा अपने पूर्व शरीरको छोडकर नवीन शरीरके पानेकेलिए उद्यत है अर्थात् विग्रहगतिमें विद्यमान है वहांपर तो मनका संबंध है नहीं फिर वहांपर बुद्धिपूर्वक गमनक्रिया कैसे होगी। इसका उत्तर स्वरूप सूत्रकार सूत्र कहते हैं—विग्रहगतावित्यादि अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है—

मनवाले समनस्क जीव विचारपूर्वक ही कार्य करते हैं यदि यही सिद्धांत सुदृढ है तब जिससमय आत्मा पूर्व शरीरको छोडकर दूसरे नवीन शरीरके पानेकी अभिलाषासे उपपाद क्षेत्रकी ओर अभिमुख हो प्रवृत्ति करता है उससमय उसके मन तो माना नहीं गया फिर वहांपर बुद्धिपूर्वक उसकी गमनक्रिया कैसे है? सूत्रकार इस बातका समाधान देते हुए सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

नवीन शरीर धारण करनेकेलिए जो गमन किया जाता है उसका नाम विग्रहगति है उस विग्रहगतिमें कार्माण शरीरका योग है अर्थात् कार्माण योगसे ही जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें गमन करता है। वार्तिककार विग्रहगति शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

विग्रहो देहस्तदर्था गतिर्विग्रहगतिः ॥ १ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक आदि नामकर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी रचनामें समर्थ अनेक प्रकारके पुद्गलोंको जो ग्रहण करे अथवा जिसके द्वारा उसतरहके अनेक प्रकारके पुद्गल ग्रहण किए जांय उसे विग्रह कहते हैं और उसका अर्थ शरीर है। उस शरीरकेलिए जो गति की जाय वह विग्रहगति कही जाती है। शंका—

तदर्थ[2] अर्थ वलि हित सुख और रक्षित शब्दोंके साथ विकल्पसे चतुर्थी समासका विधान माना है। तथा तादर्थ्यमें वही समास होता है जहांपर प्रकृतिका विकार माना गया है जिसतरह 'यूपाय दारु यूपदारु' अर्थात् यह दारुकी लकडी स्तंभकेलिए है, यहांपर दारुरूप प्रकृतिका यूप विकार है। किंतु जहांपर प्रकृतिका विकार नहीं रहता वहांपर तादर्थ्यमें चतुर्थी समास नहीं होता जिसतरह रंधनाय स्थाली अर्थात् यह बटलोई रांधनेकेलिए है, यहांपर रंधनस्थाली यह समासघटित प्रयोग नहीं होता क्योंकि यहां प्रकृतिका विकार नहीं। 'विग्रहाय गतिः, विग्रहगतिः' यहांपर भी तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थी मानी है परंतु यहांपर प्रकृतिका विकार नहीं इसलिए यहांपर चतुर्थीसमास बाधित है? सो ठीक नहीं। अश्व-

---

१—विग्रहो हि शरीरं स्यात्तदर्थं या गतिर्भवेत्। विशीर्णपूर्वदेहस्य सा विग्रहगतिः स्मृता ॥ ९६ ॥

विग्रहका अर्थ शरीर है। उस शरीरकेलिए जो गमन किया जाता वह विग्रहगति कही जाती है। जीव जिससमय दूसरा नवीन शरीर धारण करनेकेलिए प्रवृत्त होता है उससमय पहिले शरीरका परित्यागकर ही प्रवृत्त होता है। तत्त्वार्थसार पृष्ठ ८४।

२—'चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः' चतुर्थ्यंतार्थाय यत्तद्वाचिनार्थादिभिश्च चतुर्थ्यंतं वा प्राग्वत् (समस्यते) तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते बलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात्। यूपाय दारु यूपदारु। नेह रंधनाय स्थाली। सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ७१।

घासादि शब्दोंमें 'अश्वाय घासः, अश्वघासः' अर्थात् घोडेकेलिए घास है यहांपर जिसप्रकार प्रकृतिके विकारके न रहते भी तादर्थ्यरूप अर्थमें समास माना है उसीप्रकार 'विग्रहगतिः' यहांपर भले ही प्रकृति का विकार न हो तथापि तादर्थ्य अर्थमें चतुर्थीसमास बाधित नहीं हो सकता। 'विग्रहाय गतिः' जिस समय यह वाक्य रहता है उससमय तो चतुर्थी विभक्तिसे तादर्थ्यरूप अर्थ स्पष्टतया बाधित होता है। अथवा—

विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघात इति वा ॥ २ ॥ विग्रहेण गतिर्विग्रहगतिः ॥ ३ ॥

विरुद्ध जो ग्रह है उसे विग्रह कहते हैं। विग्रहका नाम व्याघात है। उस व्याघातका अर्थ पुद्गलाधाननिरोध है अर्थात् अनेक प्रकारके पुद्गल जिसमें आकर इकट्ठे हों वह पुद्गलाधान—शरीर कहा जाता है उसका छूट जाना पुद्गलाधाननिरोध है। उस पुद्गलाधाननिरोधपूर्वक जो गति है उसका नाम विग्रहगति है अर्थात् जिससमय जीव मरता है उससमय जो वह गमन करता है वह पुद्गलाधाननिरोधपूर्वक शरीरको छोडकर ही गमन करता है।

विशेष—अश्वघास आदिके समान विग्रहगति यहांपर तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थीतत्पुरुष समास कहकर पुनः जो 'विग्रहेण गतिः, विग्रहगतिः' यह तृतीया तत्पुरुष समास माना है उसका खास मतलब यह है कि कई एक वैयाकरणोंने जहां प्रकृतिका विकार होगा वहीं तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थी समासको इष्ट माना है किंतु जहांपर प्रकृतिका विकार नहीं वहांपर उसे इष्ट नहीं माना इसीलिये प्रकृतिका विकृति भाव न रहनेसे अश्वघास आदि स्थलोंपर चतुर्थी तत्पुरुष न मानकर उन्होंने षष्ठी समास माना

१ 'अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमासाः' अर्थात् अश्वघास आदि शब्दोंमें षष्ठीतत्पुरुष समास है। सिद्धांत कौमुदी पृष्ठ७१।

है इसलिये 'विग्रहगति' यहांपर चतुर्थी समासमें अरुचि प्रकटकर सर्व सम्मत तृतीया समासका वार्तिककारने उल्लेख किया है।

कर्मेति सर्वशरीरप्ररोहणसमर्थं कार्मणं ॥ ४ ॥ योग आत्मप्रदेशपरिस्पंदः ॥ ५ ॥

कर्मनिमित्तो योगः कर्मयोगः ॥ ६ ॥

समस्त शरीरोंकी उत्पत्तिमें कारण कार्माण शरीर है इसलिये सूत्रमें जो कर्म शब्द है उसका अर्थ यहां कार्माण शरीर लिया गया है। कायवर्गणा भाषावर्गणा आदिके निमित्तसे जो आत्माके प्रदेशोंके अंदर हलन चलन होना है उसका नाम योग है। यह योग विग्रह गतिमें कार्माणशरीरके द्वारा होता है। उसी योगके द्वारा विग्रह गतिमें आत्माके कर्मोंका आदान तथा मनरहित भी उस आत्माकी नवीन शरीर धारण करनेके लिये गति ये दोनों कार्य होते हैं ॥ २५ ॥

वास्तविक नहीं किंतु पुद्गलके परमाणुओंके संबंधसे काल्पनिक ऐसे आकाशके प्रदेशोंमें रहनेवाले जीव और पुद्गल जिससमय एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जानेकेलिये उद्यत होते हैं उससमय वे प्रदेशोंके क्रमसे गमन करते हैं कि प्रदेशोंके अक्रमसे ? इसबातके निश्चयार्थ सूत्रकार कहते हैं—

---

१ जीवस्य विग्रहगतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः। प्राहुर्देहांतरप्राप्तिकर्मग्रहणकारणं ॥ ९७ ॥

योगोंकी चंचलता हुए बिना शरीरसंबंधी कुछ भी हीनाधिकता नहीं होने पाती इसलिये विग्रहगतिमें भी कोई योग होना चाहिये। विग्रहगतिमें कर्मादान—कर्मबंधका कार्य और नवीन शरीर धारण करना कार्य ये दो कार्य होते हैं जो कि किसी योगकी अपेक्षा रखते हैं। दूसरा कोई योग वहां हो नहीं सकता इसलिये उक्त दोनों कार्योंका साधक कार्माण योग ही है ऐसा भगवान जिनेश्वरने कहा है कर्मोंके पिंडका नाम कार्माण शरीर है इसीका अवलंबन लेकर आत्मा वहां उक्त दोनों कार्य करता है। तत्वार्थसार।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

जीव और पुद्गलोंका गमन आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीके अनुकूल होता है श्रेणी (प्रदेशोंकी पंक्ति वा क्रम) को छोडकर विदिशारूप गमन नहीं होता। भावार्थ—मृत्यु होनेपर नवीन शरीर धारण करनेके लिये जो जीवोंका गमन होता है वह आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीमें ही होता है अन्य प्रकार नहीं। वार्तिककार श्रेणिशब्दका अर्थ बतलाते हैं—

आकाशप्रदेशपंक्तिः श्रेणिः ॥ १ ॥

लोकके मध्य भागसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे अनुक्रमसे रचनास्वरूप आकाशके प्रदेशोंकी जो पंक्ति है उसका नाम श्रेणी है।

अनोरानुपूर्व्ये वृत्तिः ॥ २ ॥

अनुशब्दका अर्थ आनुपूर्व्य है। श्रेणीके आनुपूर्वी क्रमसे जो हो वह अनुश्रेणि कहा जाता है। अर्थात् जीव और पुद्गलोंका जो गमन होता है वह श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे होता है प्रतिकूलरूपसे नहीं। शंका—

जीवाधिकारात्पुद्गलासंप्रत्यय इति चेन्न गतिग्रहणात् ॥ ३ ॥

यहांपर जीवोंका अधिकार चल रहा है इसलिये पुद्गलोंकी श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे गति होती है यह कहना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। यहांपर गतिका भी प्रकरण चल रहा है। यदि जीवोंकी ही अनुश्रेणि गति इष्ट होती तो 'अनुश्रेणि गतिः' यहांपर गतिशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ था क्योंकि

'विग्रहगतौ कर्म योगः, इससूत्रसे गतिकी अनुवृत्ति चली ही आती परंतु गति शब्दका ग्रहण किया गया है इसलिये जान पडता है जितने भी गतिमान पदार्थ हैं सबोंकी यहां अनुश्रेणि गति इष्ट है। समस्त द्रव्योंमें जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य गतिमान हैं इसलिये जीवके समान पुद्गलकी भी श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे गति बाधित नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

क्रियांतरे निवृत्त्यर्थं गतिगृहणमिति चेन्नावस्थानाद्यसंभवात् ॥ ४ ॥

'अनुश्रेणि गतिः' यदि इस सूत्रमें गति शब्दका ग्रहण नहीं किया जाता तो सोना बैठना आदि अन्य क्रियाओंका भी ग्रहण होता इसलिये उन क्रियाओंकी निवृत्तिकेलिये सूत्रमें गति शब्दका उल्लेख किया गया है ? सो ठीक नहीं। जो जीव विग्रहगतिमें विद्यमान है उसके बैठना सोना उठना आदि क्रियायें असंभव है इसलिये बैठना सोना आदि क्रियाओंकी निवृत्तिकेलिए सूत्रमें गतिशब्दका उल्लेख मानना भ्रांति है किंतु श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे जीवोंके समान पुद्गलोंकी भी गति होती है यही वहां गति शब्दके ग्रहणका तात्पर्य है। अथवा—

उत्तरसूत्रे जीवगृहणाच्च ॥ ५ ॥

'अविग्रहा जीवस्य' इस आगेके सूत्रमें जीव शब्दका उल्लेख किया गया है यदि जीव और पुद्गल दोनोंकी श्रेणिके अनुकूल गति न मानी जाती तो यहां पर जीव शब्दका ग्रहण व्यर्थ था क्योंकि यहां जीवका ही अधिकार चल रहा है इसलिये अविग्रहरूप गति जीवकी ही समझी जाती। परंतु अनुवृत्तिकी योग्यता रहते भी जो जीव शब्दका ग्रहण किया गया है उससे जान पडता है कि श्रेणिके अनुकूल गति जीव और पुद्गल दोनोंकी है। इसरीतिसे जब जीव और पुद्गल दोनोंकी श्रेणिके अनु-

कूल गति सिद्ध है तब 'आविग्रहस्वरूप' गति जीवकी ही मानी जाय पुद्गलकी नहीं इस बातके द्योतनार्थ उत्तर सूत्रमें जीव शब्दका ग्रहण सार्थक है। शंका—

विश्रेणिगतिदर्शनान्नियमायुक्तिरिति चेन्न कालदेशनियमात् ॥ ६ ॥

सदा मेरुकी प्रदक्षिणा देनेवाले चंद्र¹ सूर्य आदि ज्योतिषी देव, मंडलिक (मंडलाकार घूमती हुई वायु) और मेरु आदिकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोंकी गति श्रेणिके प्रतिकूल दीख पडती है इसलिये जीव और पुद्गलोंकी श्रेणिके अनुकूल ही गति होती है यह नियम नहीं बन सकता ? सो ठीक नहीं। सर्वथा जीव और पुद्गलोंकी श्रेणिके अनुकूल ही गति होती है यह वहां पर नियम नहीं किंतु अमुक काल अमुक देशमें श्रेणिके अनुकूल गति होती है इसप्रकार काल और देशकी अपेक्षासे नियम है और वह इसप्रकार है—

मरणके समय एक भवसे दूसरे भवमें जिससमय जीवोंका गमन होगा उससमय नियमसे उनकी गति श्रेणिके अनुकूल ही होगी तथा जिससमय मुक्त जीवोंका ऊर्ध्वगमन होगा उससमय उनकी नियमसे श्रेणिके अनुकूल ही गति होगी इसप्रकार जीवोंकी अपेक्षा यह कालका नियम है तथा जिससमय ऊर्ध्वलोकसे अधोलोक जाना होगा, अधोलोकसे ऊर्ध्वलोक, तिर्यक्लोकसे अधोलोक वा ऊर्ध्वलोक जाना होगा वहां पर नियमसे श्रेणिके अनुकूल ही गति होगी यह जीवोंकी अपेक्षा देशका नियम है। यहां पर जिस काल वा जिस देशका उल्लेख किया गया है उस काल और उस देशमें तो श्रेणिके अनुकूल ही गतिका विधान है किंतु इनसे भिन्न काल और देशोंमें वह नियम नहीं।

१ 'चक्रादीनां' यह भी पाठ है वहां पर सुदर्शनचक्र आदि अर्थ समझ लेना चाहिये।

तथा पुद्गलोंकी भी लोकके अंततक जो गति है वह भी श्रेणिके अनुकूल ही है अर्थात्–जिस समय पुद्गलका शुद्ध परमाणु एक समयमें चौदह राजू गमन करता है वह श्रेणिरूप ही गमन करता है किंतु अन्य अवस्थामें उसकी गति भजनीय है अर्थात् वह श्रेणिके अनुकूल भी गमन कर सकता है प्रतिकूल भी, कोई नियम नहीं। श्रेणिके प्रतिकूल जो गति होगी वह भ्रमण रेचन आदि स्वरूप होगी इसलिए संसारमें भ्रमण रेचन आदि गतियोंकी सिद्धि भी निर्बाध है ॥ २६ ॥

जो प्राणोंसे जीवे उसका नाम जीव है इस व्युत्पत्तिकी अपेक्षा यद्यपि संसारी ही जीव हैं तथापि पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा होनेवाले व्यवहारसे अथवा रूढि बलसे जिन्होंने समस्त कर्म बंधनोंको नष्ट कर दिया है ऐसे मुक्त भी जीव कहे जाते हैं ऐसा निर्धारण कर सूत्रकार मुक्तजीवोंके विषयमें विशेष निरूपण करते हैं–

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्तजीवकी गति मोडेरहित सीधी होती है अर्थात् मुक्तजीव एक समयमें सीधा सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ सिद्धक्षेत्रमें चला जाता है इधर उधर नहीं मुडता है।

विग्रह व्याघात और कौटिल्य ये तीनों समानार्थ वाचक शब्द हैं। उसका अर्थ मोडा है। जिस गति में मोडे न खाने पडें वह अविग्रह गति कही जाती है। यह मोडारहित गति मुक्तजीवके होती है। मोडारहित गति मुक्तजीवोंकी होती है, यह कैसे जाना जाता है? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं–

उत्तरत्र संसारिग्रहणादिह मुक्तगतिः ॥ १ ॥

आगेके 'विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः' इस सूत्रमें संसारी शब्दका पाठ है उसकी सामर्थ्यसे

यहां मुक्तजीवोंकी मोडारहित गति कही गई है। अन्यथा यहांपर संसारी जीवोंका प्रकरण चल रहा था इसलिए अनुवृत्तिके बलसे ही 'संसारी' सिद्ध था पुनः संसारीग्रहण व्यर्थ ही था। शंका—

दूसरी श्रेणिमें चला जाना विग्रह शब्दका अर्थ है और उसका अभाव श्रेणिके अनुकूल गमन करनेसे सिद्ध है। मुक्तजीव सीधा ऊपर जानेसे उसकी गति श्रेणिके अनुकूल ही है इसरीतिसे मुक्तजीवकी मोडा-रहित गति 'अनुश्रेणि गतिः' इसी सूत्रसे सिद्ध थी फिर 'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्रका निर्माण निष्प्रयोजन है? सो ठीक नहीं। जीव और पुद्गलोंकी कहींपर श्रेणिके प्रतिकूल भी गति होती है इस प्रयो-जनको सूचित करनेकेलिए इस सूत्रका निर्माण किया गया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

वहांपर काल और देशके नियमका ग्रहण किया गया है और उस काल नियममें मुक्त जीवोंके ऊर्ध्व गमन करते समय श्रेणिके अनुकूल गति बतलाई गई है इसलिए मुक्तजीवोंकी मोडारहित गति 'अनुश्रेणि गतिः' इस सूत्रमें सिद्ध रहनेपर पुनः इस सूत्रका प्रतिपादन निरर्थक ही है? सो भी ठीक नहीं। काल और देशका नियम सूत्रमें तो कहा नहीं गया किंतु इसी सूत्रके द्वारा वहांपर उस नियमकी सिद्धि है इसलिए 'अनुश्रेणि गतिः इस सूत्रमें काल और देशकी नियमसिद्धिका साधक होने से 'अविग्रहा जीवस्य' यह सूत्र निष्प्रयोजन नहीं ॥ २७ ॥

शरीररहित मुक्त जीवोंकी लोकके अग्रभाग पर्यंत मोडारहित गति एकसमय मात्र कही गई है परंतु संसारी जीवोंकी गतिका कोई उल्लेख नहीं किया गया इसलिये वहांपर यह शंका होती है कि संसारी जीवोंकी गति मोडासहित है अथवा मुक्त जीवोंके समान मोडारहित है? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

संसारी जीवकी गति चारसमयसे पहिले पहिले विग्रहवती–मोडेवाली है। सारार्थ–संसारी जीवकी एक समय वा दो तीन समय पर्यंत भी गति होती है। अर्थात् पहिले समयमें ही जब वह शरीर धारण कर लेता है उससमय उसे कोई मोडा नहीं लेना पडता किंतु दूसरे समयमें एक मोडा तीसरे समयमें दो मोडा और चौथे समयसे पहिले पहिले वह तीसरा मोडा लेकर कहीं न कहीं अवश्य नवीन शरीर धारण कर लेता है फिर वह शरीररहित नहीं रहता।

कालपरिच्छेदार्थं 'प्राक्चतुर्भ्यः' इतिवचनं ॥ १ ॥

समय शब्दका अर्थ आगे कहा जायगा। 'चार समयके पहिले पहिले मोडेवाली गति होती है' यह कालकी मर्यादा सूचित करनेके लिये सूत्रमें 'प्राक् चतुर्भ्यः' इस पदका उल्लेख है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि चारसमयसे ऊपर मोडावाली गति क्यों नहीं होती ? वह ठीक नहीं क्योंकि चार समयसे ऊपर मोडे की योग्यता ही नहीं, और वह इसप्रकार है। जिसतक पहुंचनेमें सबसे अधिक मोडे लेने पडें उस क्षेत्रको निष्कुट क्षेत्र माना है उसका अर्थ तिर्यक् क्षेत्र वा लोकका अग्रकोण[१] है। इस निष्कुट क्षेत्रमें पहुंचनेके लिये आनुपूर्वी ऋजु श्रेणीका अभाव रहनेसे इषुगति नहीं होती इसलिये तीन मोडेवाली गतिके द्वारा निष्कुट क्षेत्रमें जाया जाता है। इसरीतिसे जो जीव निष्कुटक्षेत्रमें उत्पन्न होनेका इच्छुक है वह तीन मोडे लगाकर वहां उत्पन्न होता है। तीन मोडोंसे अधिक वह मोडे नहीं लगाता क्योंकि निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेके लिये सबसे अधिक तीन मोडे खाने पडते हैं उससे भिन्न

१ 'लोकाग्रकोणं निष्कुटक्षेत्रं।' सर्वार्थसिद्धि टिप्पणी पृष्ठ १०१

ऐसा कोई उपपाद क्षेत्र नहीं जिसमें जानेके लिये चार या पांच मोडोंके लेनेकी आवश्यकता पडे इसलिये चार आदि मोडोंका अभाव है तथा जब अधिकसे अधिक तीन ही मोडा लिये जा सकते हैं तब चार समयसे अधिक समयके मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं। तीन मोडाओंके लिये चारसमयसे पहिले पहिलेहीका काल पर्याप्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

चौथे समयसे पहिले पहिलेका समय ही तीन मोडोंके लिये क्यों पर्याप्त माना गया अधिक काल क्यों नहीं लगता ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार साठी चावलोंके पकनेका काल परिमित है। उस परिमित कालसे कम वा अधिक कालमें उनका परिपाक नहीं माना गया उसीप्रकार विग्रहगतिमें अधिकसे अधिक तीन मोडोंके लिये जो समय निर्दिष्ट किया है वही समय पर्याप्त है उससे अधिक वा कम समय की वहां आवश्यकता नहीं।

चशब्दः समुच्चयार्थः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो चशब्द है वह उपपादक्षेत्रमें जानेके लिये संसारी जीवोंकी सीधी भी गति होती है और मोडेवाली कुटिल भी गति होती है इसप्रकार दोनोंतरहकी गतिओंके समुच्चयके लिये है। शंका—

आङ्ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेन्नाभिविधिप्रसंगात् ॥ ३ ॥

आङ् उपसर्गका अर्थ भी मर्यादा है। इसलिये 'प्राक्चतुर्भ्यः' इसकी जगह 'आचतुर्भ्यः' यह कहना चाहिये। 'आचतुर्भ्यः' कहनेसे भी 'चारसमयसे पहिले पहिले' यही अर्थ होगा। तथा एक अक्षर का लाघव भी होगा जिसे सूत्रकारके मतमें एक महान फल माना गया है ? सो ठीक नहीं। आङ् उपसर्गके ईषत् क्रियायोग मर्यादा और अभिविधि ये चार अर्थ माने हैं। यदि आङ्का अभिविधि—

व्याप्ति, अर्थ मान लिया जायगा तो चार समयको व्यापकर विग्रहवाली गति होती है यह भी अर्थ होगा। यह अर्थ इष्ट है नहीं क्योंकि चार समयसे पहिले पहिले ही विग्रहगतिका समय माना है इसलिये 'आचतुर्भ्यः' न कहकर 'प्राक्चतुर्भ्यः' यही पाठ इष्टार्थसाधक है। पुनः शंका—

उभयसंभवे व्याख्यानान्मर्यादासंप्रत्यय इति चेन्न प्रतिपत्तेर्गौरवात् ॥ ४ ॥

यद्यपि मर्यादा और अभिविधि दोनों अर्थोंमें आङ् उपसर्ग है तथापि 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' व्याख्यानसे विशेष प्रतिपत्ति होती है अर्थात् व्याख्यानके अनुकूल ही शब्दका अर्थ मान लिया जाता है, यह एक नियम है। यहांपर चार समयसे पहिले पहिले विग्रहवाली गति होती है यह मर्यादार्थक व्याख्यान चल रहा है इसलिये आङ्का यहांपर मर्यादारूप अर्थ ही गृहीत होनेपर 'आचतुर्भ्यः' यही कहना फलप्रद है। सो ठीक नहीं। 'आचतुर्भ्यः' ऐसा कहनेपर आङ्के मर्यादा और अभिविधि दोनों अर्थोंका उपस्थित होना फिर व्याख्यानबलसे उसका 'मर्यादा' अर्थ स्थिर रखना ऐसे कहनेसे उसके अर्थकी प्रतिपत्तिमें गौरव है इसलिये उच्चारण करते समय ही खुलासारूपसे अर्थप्रतिपत्ति होनेके लिये 'प्राक्चतुर्भ्यः' यही कहना उपयुक्त है।

विग्रहगतिमें सीधी गति, एक मोडावाली गति, दो मोडावाली गति, तीनमोडावाली गति इसप्रकार ये चार गतियां होती हैं। आगममें क्रमसे इन गतियोंकी इषुगति पाणिमुक्तागति लांगलिकागति और गोमूत्रिका गति इसप्रकार चार संज्ञा मानी हैं चारो गतिओंमें इषुगति मोडारहित है और शेष गतियां मोडासहित हैं। इषुगति आदिका स्पष्टार्थ इसप्रकार है—

जिसप्रकार अपने लक्ष्यस्थान तक वाणकी गति सीधी होती है उसीप्रकार संसारी और सिद्ध

जीवोंकी जो मोडारहित सीधी गति होती है उसे इषुगति कहते हैं। इस इषुगतिमें एकसमय लगता है। अर्थात् एकही समयमें शरीर छोडना और दूसरा शरीर ग्रहण करना ये सब कार्य हो जाते हैं। इसी लिए इषुगतिमें संसारी जीव अनाहारक नहीं हैं। जिसतरह हाथसे तिरछी ओर फेंके हुए पदार्थकी गति एक मोडा लेकर होती है उसीप्रकार संसारी जीवकी जो गति एक मोडा लेकर हो वह पाणिमुक्तागति कहलाती है और इस गतिमें दो समय लगते हैं। जिसतरह लांगल-हलमें दो जगह मोड रहती है उसी तरह जिस गतिमें दो मोडे लेने पडें उसे लांगलिकागति कहते हैं और उसके होनेमें तीन समय लगते हैं। तथा जिसप्रकार गौके मूत्रमें बहुत मोडे रहते हैं उसीप्रकार जिस गतिमें तीन मोडे लेने पडें वह गोमूत्रिकागति है और इसके होनेमें चार समय लगते हैं। चारों गतियोंमें पहिली इषुगति संसारी और मुक्त दोनो प्रकारके जीवोंके होती है परंतु शेष गतियां केवल संसारी जीवोंके ही होती हैं ॥ २८ ॥

जब मोडेवाली गतियोंकी व्यवस्था चार समय तक मानी है तब जो गति मोडारहित है वह कितने समयमें संपन्न होती है इस बातको सूत्रकार कहते हैं—

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

मोडारहित गति एक समयमात्र ही होती है। इसीको ऋजुगति वा इषुगति कहते हैं।

१—अविग्रहैकसमया कथितेषुगतिर्जिनैः। अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा ॥ १०० ॥
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लांगलिकां जनाः। गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यात्त्रिविग्रहा ॥ १०१
भगवान जिनेंद्रद्वारा कही गई मोडारहित इषुगति एकसमयमें होती है। एक मोडावाली पाणिमुक्तागति दोसमयमें, दो मोडेवाली लांगलिका तीन समयमें और तीन मोडावाली गोमूत्रिका गति चार-समयमें होती है। तत्त्वार्थसार पृष्ठ ८५।

अधिकृतगतिसामानाधिकरण्यात्स्त्रीलिंगानिर्देशः ॥१॥

यहांपर ऊपरसे गति शब्दकी अनुवृत्ति आरही है। गति शब्द स्त्रीलिंग है इसलिए 'अविग्रहा' यह यहांपर विशेषणमें स्त्रीलिंगका निर्देश किया है। जिसमें एक समय लगे वह एकसमया कहलाती है। जिसमें एक भी विग्रह-मोडा न लगे वह अविग्रहा कही जाती है। गतिमान जीव और पुद्गलकी मोडारहित गति लोकके अग्र भाग पर्यंत भी एक ही समयमें निष्पन्न हो जाती है। नैयायिक वैशेषिक आदिकी ओरसे शंका—

आत्मनोऽक्रियावत्त्वासिद्धेरयुक्तमिति चेन्न क्रियापरिणामहेतुसद्भावाल्लोष्ठवत् ॥ २ ॥

आत्मा सर्वगत (सर्वत्र रहनेवाला विभु) और निष्क्रिय है। उसके कोई क्रिया हो ही नहीं सकती इसलिए उसके गतिरूप क्रियाकी कल्पना निरर्थक है? सो भी ठीक नहीं। जिसतरह लोष्ठ (ढेला) स्वयं क्रियारूप परिणमन करनेकी शक्तियुक्त है और बाह्य एवं अंतरंग दोनों प्रकारके कारणोंके मिल जानेपर वह एक देशसे दूसरे देशमें जाने स्वरूप गमनक्रिया करता देखा जाता है उसीप्रकार आत्मा भी क्रियापरिणामी है और कर्मके अनुसार वह जैसा शरीर धारण करता है उसीके अनुकूल क्रियाका करता अनुभवमें आता है तथा जिससमय शरीर आदि कर्मोंका संबंध छूट जाता है उससमय भी जिस प्रकार दीपककी शिखामें स्वाभाविक क्रिया होती रहती है उसीप्रकार आत्मामें भी प्रतिक्षण क्रिया होती रहती है इसरीतिसे जब क्रिया आत्माका स्वभाव है तब वह निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता और उसमें गतिरूप क्रियाकी कल्पना निर्हेतुक नहीं मानी जा सकती।

सर्वगतत्वे तु संसाराभावः ॥ ३ ॥

जो पदार्थ सर्वगत होता है उसमें हलन चलन आदि क्रियाएं नहीं हो सकतीं। यदि आत्माको सर्वगत माना जायगा तो उसमें क्रिया तो कोई हो न सकेगी फिर एक गतिसे दूसरी गतिमें जानारूप जो संसार है उसका ही अभाव हो जायगा इसलिए आत्माको सर्वगत नहीं माना जा सकता ॥ २९ ॥

बंधसंतानकी अपेक्षा अनादि और कर्मोंके संचयकी अपेक्षा सादि ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव रूप पांच प्रकारके परिवर्तनोंके रहनेपर तथा मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद आदि कर्मोंके उत्पादक कारणोंके उपस्थित रहने पर उपयोगस्वरूप यह आत्मा सदा निरवच्छिन्नरूपसे कर्मोंको ग्रहण करता रहता है यह सामान्यरूपसे आगमका सिद्धांत है। वहां पर यह शंका होती है कि क्या विग्रहगतिमें भी आत्मा आहारक अर्थात् तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता रहता है। इसलिये वहांपर नियमस्वरूप वचन सूत्रकार कहते हैं—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥

विग्रहगतिवाला जीव एकसमय दोसमय और तीनसमयतक अनाहारक है अर्थात् जघन्यसे जघन्य एकसमयतक जीव अनाहारक रहता है और अधिकसे अधिक तीनसमयतक, चौथेसमयमें नवीन शरीर धारणकर वह नियमसे आहारक बन जाता है फिर अनाहारक नहीं रहता।

समयसंप्रत्ययः प्रत्यासत्तेः ॥ १ ॥

'एकसमयाऽविग्रहा' इस पहिले सूत्रमें समयशब्दका उल्लेख किया गया है। प्रत्यासन्न होनेसे उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति है इसलिये 'एकसमय दोसमय तीनसमय पर्यंत' यह यहां अर्थ है। शंका—

जिसका प्रधानरूपसे उल्लेख रहता है उसीकी अखंडरूपसे अनुवृत्ति होती है। 'एकसमयाऽविग्रहा'

यहांपर 'एकसमय' इस समस्तपदका खंडरूप होनेसे समय शब्द गौण है इसलिये उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं। 'एकं द्वौ त्रीन्' ये तीनों संख्यावाचक शब्द यहांपर विशेषण हैं। इनके लिये कोई न कोई विशेष्य अवश्य होना चाहिये। वह विशेष्य यहां दूसरा कोई संभव हो नहीं सकता इस सामर्थ्यसे यहांपर समय शब्दका संबंध कर लिया गया है। इसलिये एकसमय दो समय तीनसमय पर्यंत विग्रहगतिमें जीव अनाहारक होते हैं यह अर्थ यहां निरापद् है।

वाशब्दोऽत्र विकल्पार्थो ज्ञेयः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो वाशब्द है उसका अर्थ विकल्प है और विकल्प यथेष्ट अर्थका द्योतक है इसलिये एक समय दो समय वा तीन समय जहां जैसी योग्यता रहती है उसीके अनुसार वहां जीव अनाहारक रहता है यह यहां तात्पर्य है। शंका—

सप्तमीप्रसंग इति चेन्नात्यंतसंयोगस्य विवक्षितत्वात् ॥ ३ ॥

'एक दो तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है' यहां पर आहार क्रियाका अधिकरण काल है। तथा जहां पर अधिकरण अर्थ होता है वहां पर सप्तमी[1] विभक्ति होती है इसलिये 'एकं द्वौ त्रीन्' यहां पर 'एकस्मिन् द्वयोः त्रिषु' यह सप्तमी विभक्ति होनी चाहिये ? सो ठीक नहीं। यहां पर कालकृत अत्यंत संयोगकी विवक्षा है अर्थात् एक समय दो समय और तीन समयोंमें अखंडरूपसे अनाहारक रहता है किसी एक खंडमें नहीं यह यहां पर विवक्षा है तथा यह नियम है कि जहांपर कालकृत अत्यंत

१ सप्तम्यधिकरणे च। २ ३। ३६। अधिणरण अर्थमें सप्तमी विभक्ति होती है। आधारोऽधिकरणं। १—४—४५। अधिकरण का अर्थ आधार है। सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ६५।

संयोग रहता है वहां पर भले ही अधिकरण अर्थ विद्यमान हो तथापि वहां सप्तमी विभक्तिकी बाधक द्वितीया विभक्ति ही होती है । इसलिये एकं द्वौ त्रीन्वेत्यादि यहां पर द्वितीया विभक्तिका निर्देश ही निर्दोष है।

त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः ॥ ४ ॥

यहां पर तीन शरीरोंसे औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन्हीं तीन शरीरोंका ग्रहण है तैजस और कार्माण शरीरोंका ग्रहण नहीं क्योंकि जबतक संसारका अंत नहीं होता तबतक अनादि कालसे सदा इनका प्रत्येक जीवके साथ संबंध[2] रहता है और हमेशा ये अपने योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करते रहते हैं इसलिये इन दोनों शरीरोंके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है उसकी आहारक संज्ञा नहीं किंतु औदारिक वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर तथा आहारादिकी अभिलाषाके कारणभूत आहार शरीर इंद्रिय निश्वासोच्छ्वास भाषा और मन ये छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण है उसका नाम आहार है। इनमें—

विग्रह[3]गतावसंभवादाहारकशरीरनिवृत्तिः ॥ ५ ॥ शेषाहाराभावो व्याघातात् ॥ ६ ॥

१—कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे । २—३—५ । काल और मार्गका जहांपर अत्यंत संयोग रहता है वहांपर द्वितीया विभक्ति होती है। कालकृत अत्यन्त संयोगका उदाहरण यथा—मासमधीते—अखंडरूपसे मासभर पढता है। यहां पर कालकृत अत्यन्त संयोगसे 'मासे' की जगह 'मासं' यह द्वितीया विभक्ति है। 'मासस्य द्विरधीते' मासमें दोवार पढता है यहां पर अत्यन्त संयोगके अभावसे द्वितीया विभक्ति नहीं। २—अनादिसम्बन्धे च । ४१ । सर्वस्य । ४२ । तत्त्वार्थ सूत्र अ० २ । ३—शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव । ४९ । तत्त्वार्थसूत्र अ० २ ।

आहारक शरीर ऋद्धिधारी प्रमत्त गुणस्थानवर्ती ऋषियोंके ही होता है अन्य किसीके नहीं होता इसलिये असंभव होनेके कारण विग्रहगतिमें उसका अभाव होनेसे उसके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप आहार नहीं हो सकता। तथा—

औदारिक वैक्रियिक और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप जो आहार है वह कुटिल-गति—मोडेवाली गतिसे आहत—रुक जानेके कारण बाधित हो जाता है इसरीतिसे उसका विग्रहगतिमें अभाव है। इसलिये औदारिक वैक्रियिक और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप भी आहार विग्रहगतिमें नहीं हो सकता। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

जिसतरह वर्षाकालमें उदय होनेवाले मेघसे निकले हुए जलमें पडा हुआ गरम लोहेका बाण उस जलके ग्रहण करनेमें समर्थ होनेके कारण उस जलको खींचता है उसीप्रकार यद्यपि आठ प्रकारके कर्म-पुद्गलोंके सूक्ष्मपरिणामसे परिणत और वृद्धिको प्राप्त जो मूर्त्तिमान कार्माण शरीर उसके निमित्तसे पूर्वशरीरकी निवृत्तिरूप मारणांतिक समुद्घातवाला और दुःखसे तप्तायमान यह जीव जिससमयमें नवीन शरीरको धारण करनेकेलिए गमन कर रहा है उससमय आहारक है तथापि कुटिल गति करते समय यह एक दो और तीन समय तक अनाहारक रहता है इसरीतिसे कुटिलगतिके कारण उपर्युक्त आहारकी योग्यता न रहनेके कारण विग्रहगतिमें एकसमय दोसमय वा तीनसमय तक जीवका अना-हारक रहना युक्तियुक्त है। वहांपर—

जिससमय इसकी एकसमयवाली इषुगति होती है उससमय यह उपर्युक्त आहारका अनुभव करता हुआ ही जाता है इसलिए एकसमयवाली इषुगतिमें यह आहारक है। जिससमय इसकी एकमोडेवाली

और दो समयोंमें होनेवाली इसकी पाणिमुक्तागति होती है उससमय उसके पहिले समय मोडाके कारण यह जीव अनाहारक रहता है और दूसरे समयमें उपयुक्त आहारको ग्रहण करलेनेके कारण आहारक हो जाता है। जिससमय इसकी दोमोडेवाली और तीन समयोंमें समाप्त होनेवाली लांगलिका नामकी गति होती है उससमय दोमोडे लगानेके कारण पहिले और दूसरे समयमें तो यह अनाहारक रहता है और तीसरे समयमें उपयुक्त आहार ग्रहण करनेके कारण आहारक कहा जाता है तथा जिस समय इसकी तीन मोडेवाली चार समयोंमें समाप्त होनेवाली गोमूत्रिकागति होती है उससमय तीनमोडे लगानेके कारण एक दो और तीन समयतक तो यह जीव अनाहारक रहता है और चौथे समयमें उपर्युक्त आहार ग्रहण करनेके कारण आहारक कहा जाता है। इसप्रकार कमसेकम एकसमय और अधिकसे अधिक तीन समयतक यह जीव अनाहारक रहता है पश्चात् नियमसे आहारक हो जाता है यह बात खुलासारूपसे विस्तृत हो चुकी ॥ ३० ॥

जिसकी समस्त क्रियां शुभ अशुभरूप फलको देनेवाले कार्माण शरीरसे उपकृत हैं, पूर्वोपार्जित कर्मोंके फलोंको भोगनेके लिये जिसका गमन श्रेणिके अनुकूल है, नानाप्रकारके कर्मोंसे जो व्याप्त है एवं मोडेवाली और मोडारहित इसप्रकार दो गतियोंके आधीन जिसका दूसरे देशमें जाना निश्चित है ऐसे जीवके नवीन दूसरे शरीरकी रचनास्वरूप जन्मके भेद सूत्रकार वतलाते हैं —

संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

नवीन शरीरका धारण करना जन्म है और वह संमूर्छन, गर्भ और उपपादके भेदसे तीन प्रकार है अर्थात् संमूर्छनजन्म गर्भजन्म और उपपादजन्म ये तीन जन्मके भेद हैं।

समंततो मूर्छनं संमूर्छनं ॥ १ ॥

मूर्छनका अर्थ अवयवोंका बन जाना है। तीनों लोकोंमें योग्य द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सामग्रीके निमित्तसे जो ऊपर नीचे और तिरछे चारों ओरसे शरीरके अवयवोंका बन जाना है उसे संमूर्छन कहते हैं।

शुक्रशोणितगरणाद् गर्भः ॥ २ ॥ मात्रोपभुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा ॥ ३ ॥

जहांपर पिताके शुक्र और माताके रजका मिलना हो उसका नाम गर्भ है अथवा माताके द्वारा खाए गए आहारको जहांपर आत्मसात् किया जाय अर्थात् माताके आहारको अपना आहार बनाया जाय अथवा उस आहारका जहांपर मिश्रण हो उसे गर्भ कहते हैं।

उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः ॥ ५ ॥

जिसमें आकार उत्पन्न हो वह उपपाद कहा जाता है। उपपूर्वक पद गतौ धातुसे 'हलः। २।३।११८ इस सूत्रसे अधिकरण अर्थमें घञ् प्रत्यय करनेपर उपपाद शब्दकी सिद्धि हुई है। जिस स्थानपर देव और नारकी उत्पन्न होते हैं उस स्थानकी यह विशेष संज्ञा है। इस रीतिसे संमूर्छन गर्भ और उपपाद ये तीन प्रकारके जन्म संसारी जीवोंके हैं।

संमूर्छनग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् ॥ ५ ॥

सब शरीरोंकी अपेक्षा संमूर्छनज शरीर अत्यन्त स्थूल है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें संमूर्छन

१। हलः २-३-११८। हलंताद्धोः करणाधिकरणयोः पुंखौ घञ् स्यात्। जैनेन्द्र-व्याकरण। इसकी जगहपर हलश्च ३-३-१२१। हलन्ताद् घञ् स्यात्। यह सूत्र पाणिनीय व्याकरणमें है।

शब्दका उल्लेख किया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—वैक्रियिक शरीरकी अपेक्षा गर्भज शरीर भी अत्यन्त स्थूल है इसलिये संमूर्छन और गर्भ दोनों शब्दोंमें किसका पूर्वनिपात न्याय प्राप्त होगा। इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

अल्पकालजीवित्वात्संमूर्छनं ॥ ६ ॥ तत्कार्यकारणप्रत्यक्षत्वात् ॥ ७ ॥

गर्भज और औपपादिक जीवोंकी अपेक्षा संमूर्छनज जीव थोडे काल जीनेवाले हैं इस अपेक्षासे संमूर्छन शब्दका पूर्वनिपात किया गया है और भी यह वात है कि—

गर्भ और उपपाद जन्मोंका कार्य कारण भाव प्रत्यक्ष नहीं है किंतु अनुमानगम्य है परन्तु संमूर्छन जन्मका कारण मांस आदि और कार्य संमूर्छनज शरीर इस जन्ममें और परजन्ममें दोनों जगह प्रत्यक्ष है इस अपेक्षा भी गर्भ और उपपादसे संमूर्छनका उल्लेख पहिले किया गया है।

तदनंतरं गर्भगृहणं कालप्रकर्षनिष्पत्तेः ॥ ८ ॥

संमूर्छन जन्मकी अपेक्षा गर्भजन्मकी उत्पत्तिमें अधिक कालकी आवश्यकता पडती है इसलिये संमूर्छन जन्मके अनंतर न्यायप्राप्त गर्भजन्मका उल्लेख किया गया है।

उपपादगृहणमंते दीर्घजीवित्वात् ॥ ९ ॥

संमूर्छनज और गर्भज जीवोंकी अपेक्षा औपपादिक जीवोंका जीवन दीर्घकालीन है इसलिए सबके अंतमें उपपाद जन्मका उल्लेख किया गया है। जन्मोंका भेद कैसे हो जाता है? वार्तिककार इस विषयको स्पष्ट करते हैं—

अध्यवसायविशेषात्कर्मभेदे तत्कृतो जन्मविकल्पः ॥ १० ॥

अध्यवसायका अर्थ परिणाम है और उसके असंख्येयलोकमात्र भेद हैं। परिणामोंके कार्य कर्मबंधके भेद हैं और कर्मबंधोंके फल जन्मभेद हैं क्योंकि कारणके अनुकूल ही लोकमें कार्य दीख पडता है। शुभ अशुभ जिसप्रकारका कर्म होता है उसीके अनुकूल जन्मोंकी उत्पत्ति होती है। शंका—

प्रकारभेदाज्जन्मभेद इति चेन्न तद्विषयसामान्योपादानात्॥ ११ ॥

सूत्रमें जन्म पदार्थ विशेष्य और संमूर्छन आदि उसके विशेषण हैं इसलिए उन दोनोंका आपसमें सामानाधिकरण्य संबंध है। यह नियम है। जहांपर सामानाधिकरण्य रहता है वहांपर समानवचन होता है जिसतरह 'जीवादयः पदार्थाः' यहांपर परस्परमें विशेषणं विशेष्यभाव एवं सामानाधिकरण्य संबंध है इसलिए दोनों जगह समान वचन है। 'संमूर्छनगर्भोपपादाः' यहांपर भी संमूर्छन आदिके अनेक होने से बहुवचन है इसलिए 'जन्म' यहांपर भी बहुवचन होना चाहिए? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार 'जीवादयस्तत्त्वं' यहांपर जीव आदिका विषयभूत सामान्य, तत्त्व शब्दसे कहा गया है इसलिए 'तत्त्वं' यहांपर एकवचन है उसीप्रकार संमूर्छन आदिका विषयभूत सामान्यका भी यहां जन्म शब्दसे कथन है इसलिए 'जन्म' यह एकवचनांत प्रयोगका ही उलेख है इसरीतिसे सामान्यकी अपेक्षा कथन होनेसे यहां उक्त दोष लागू नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

जिसका ऊपरसे अधिकार चला आरहा है और जो संसारी जीवोंकी विषयोपभोगरूप उपलब्धिके अधिष्ठान-शरीरका कारण है उस जन्मके योनिभेदोंका सूत्रकार वर्णन करते हैं—अर्थात् संसारी जीवोंको विषयभोगोंकी प्राप्तिके आधारभूत शरीरकी उत्पत्तिमें जो कारण है उस जन्मके योनिभेदोंका वर्णन करते हैं—

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

सचित्त शीत संवृत, इनसे उलटी अचित्त अशीत (उष्ण) विवृत, मिली हुई सचित्ताचित्त शीतोष्ण संवृतविवृत इसप्रकार क्रमसे ये संमूर्छन आदि जन्मोंकी नव योनियां वा उत्पत्तिस्थान हैं।

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तं ॥ १ ॥

चैतन्यस्वरूप आत्माके परिणामविशेषका नाम चित्त है। जिस योनिमें वह चित्त हो वह सचित्त-योनि है।

शीत इति स्पर्शविशेषः ॥ २ ॥

शीत स्पर्शोंका अन्यतम भेद है। तथा शुक्ल आदि शब्द जिसप्रकार गुणके भी वाचक हैं और गुणवान पदार्थके भी वाचक हैं उसीप्रकार शीत शब्द भी शीतगुण और शीतगुणविशिष्ट पदार्थ दोनों का वाचक है इसलिए यहांपर शीतगुणविशिष्ट पदार्थ भी शीत शब्दका अर्थ है।

संवृतो दुरुपलक्षः ॥ ३ ॥

जिसका देखना बडी कठिनतासे हो ऐसे ढके हुए प्रदेशका नाम संवृत है। 'सम्यग्वृतः संवृतः'-जो भलेप्रकार ढका हुआ हो वह संवृत है यह संवृतशब्दका विग्रह है।

सेतराः सप्रतिपक्षाः ॥ ४ ॥

जो अपने विरोधियोंसे विशिष्ट हों वे सेतर कहे जाते हैं। सचित्त शीत संवृत इन तीनोंके विरोधी अचित्त उष्ण और विवृत हैं।

मिश्रग्रहणमुभयात्मकसंग्रहार्थं ॥ ५ ॥

सूत्रमें जो मिश्र ग्रहण है वह सचित्ताचित्त शीतोष्ण और संवृत्ताविवृत इन उभयस्वरूप युगलोंके ग्रहण करनेकेलिये है।

चशब्दः प्रत्येकसमुच्चयार्थः ॥ ६ ॥ न चांतरेणापि तत्प्रतीतेः ॥ ७ ॥

'मिश्राश्च' यहांपर जो चशब्द है वह सचित्त आदि प्रत्येकके समुच्चयके लिये है अत एव 'सचित्त शीत संवृत और अचित्त उष्ण विवृत और मिश्र ये प्रत्येक योनि हैं' यह अर्थ होता है यदि चशब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो मिश्र, सचित्त आदिका ही विशेषण होता और उससे जिस समय सचित्त शीत संवृत और अचित्त उष्ण विवृत आपसमें मिल जाते हैं उसीसमय योनियां कहे जाते हैं यह विरुद्ध अर्थ हो जाता परंतु चशब्दके करनेपर सचित्त आदि प्रत्येक भी योनि हैं और आपसमें मिले हुये भी हैं यह स्पष्ट आगमानुकूल अर्थ उपलब्ध होता है इसलिये चशब्दका उल्लेख वहां सार्थक है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

'पृथिव्यप्तेजोवायुः' यहांपर च शब्दके न रहनेपर भी जिसप्रकार पृथिवी अप् तेज और वायु इसप्रकार समुच्चयरूप अर्थ होता है उसीप्रकार सचित्त आदिमें भी समुच्चयरूप अर्थ बिना चशब्दके हो सकता है फिर चग्रहण करना निरर्थक है ? सो ठीक नहीं। यदि चशब्दका उल्लेख न किया जायगा तो मिश्र, सचित्त आदिका विशेषण होगा तब जिससमय सचित्त आदि आपसमें मिलेंगे उससमय योनि कहे जायगे किंतु भिन्न भिन्न नहीं कहे जायगे यह विपरीत अर्थ ही सूत्रका मानना पडेगा इसलिये चशब्दका ग्रहण निरर्थक नहीं। यदि फिर भी यह कहा जाय कि चशब्द न भी कहा जाय तथापि उसका विशेषण स्वरूप अर्थ न लेकर समुच्चय अर्थ ही लिया जायगा इसलिये विशेष प्रयोजन न होनेसे चशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ ही है ? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—

इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु ॥ ८ ॥

सूत्रमें जो योनिके भेद बतलाये हैं उनसे भिन्न भी बहुतसे भेद हैं उनके समुच्चयके लिये सूत्रमें च-शब्दका उल्लेख है। सचित्त आदि योनिभेदोंसे अतिरिक्त भेद कौन हैं वे आगे कहे जांयगे।

एकशो ग्रहणं क्रमामिश्रप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ९ ॥

सचित्ताचित्त शीतोष्ण संवृतविवृत इसप्रकार क्रमिक मिश्ररूप अर्थ जाननेके लिये सूत्रमें 'एकश': पदका उल्लेख किया गया है। 'एकशः' यह न कहा जाता तो सचित्तशीत संवृतअचित्त इत्यादि विपरीतरूप मिश्र अर्थका भी बोध होता। 'एकैक इति एकशः' यहांपर एकशब्दसे वीप्सा अर्थमें शस् प्रत्यय करनेपर एकशः शब्दकी सिद्धि है।

तद्ग्रहणं क्रियते प्रकृतापेक्षार्थं ॥ १० ॥

ऊपर कहे गये संमूर्छन आदिकी ये योनियां हैं यह अर्थ प्रकट करनेकेलिए सूत्रमें तत् शब्दका प्रतिपादन है। 'तेषां योनयस्तद्योनयः' यह तद्योनि शब्दका विग्रह है।

यूयत इति योनिः ॥ ११ ॥ सचित्तादिद्वंद्वे पुंवद्भावाभावो भिन्नार्थत्वात् ॥ १२ ॥

न वा योनिशब्दस्योभयलिंगत्वात् ॥ १३ ॥

जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो उसका नाम योनि है। यह योनि शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये उसके विशेषणस्वरूप सचित्त आदि शब्द भी स्त्रीलिंग हैं इसरीतिसे सचित्ताश्च शीताश्च संवृताश्च सचित्तशीत-संवृताः यहां पर पुंवद्भाव नहीं होना चाहिये अर्थात् उसकी जगह 'सचित्ताशीतासंवृताः' ऐसा प्रयोग होना चाहिये क्योंकि जहांपर समानलिंगक (पुंलिग ही) आश्रय रहता है वहींपर पुंवद्भाव होता है

किंतु जहां पर विभिन्नलिंगक आश्रय होता है वहां पर पुंवद्भाव नहीं होता । योनि शब्द स्त्रीलिंगक होनेसे यहां पर योनिरूप आश्रय विभिन्नलिंगक अतएव विभिन्नार्थक है समानलिंगक किंवा समानार्थक आश्रय नहीं इसलिये उपर्युक्त पुंवद्भाव बाधित है? सो ठीक नहीं। योनि शब्द पुल्लिंग स्त्रीलिंग दोनों लिंग है। यहां पर वह पुल्लिंग ही है इसलिये समानलिंगक आश्रय हो जानेसे यहां पुंवद्भावका प्रतिषेध नहीं हो सकता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

योनिजन्मनोरविशेष इति चेन्नाधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः ॥ १४ ॥

जिससमय आत्मा देवरूप जन्मपर्याय वा नारकी रूप जन्मपर्यायसे परिणत होता है उससमय वही औपपादिक कहलाता है और वही योनि कही जाती है इसलिये योनि और जन्म दोनो एक हैं, भिन्न भिन्न नहीं? सो ठीक नहीं। सचित्त आदि योनियोंका है आधार जिसको ऐसा आत्मा संमूर्छन आदि जन्मके कारण शरीर आहार और इंद्रियादिके योग्य पुद्‌गलोंको ग्रहण करता है इसलिये योनि आधार और जन्म आधेय है इसरीतिसे आधार और आधेयका भेद रहनेसे योनि और जन्म एक नहीं कहे जा सकते।

सचित्तग्रहणमादौ चेतनात्मकत्वात् ॥ १५ ॥

सचित्तका अर्थ चेतनात्मक पदार्थ है। चेतनात्मक पदार्थ समस्त लोकमें प्रधान माना जाता है इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले सचित्त पदका उल्लेख किया गया है।

तदनंतरं शीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् ॥ १६ ॥

सचेतन पदार्थोंकी वृद्धि वा उत्पत्तिमें प्रधान कारण शीत पदार्थ है अर्थात् जहां पर विशेष ठंडी

रहती है वहांपर अगणित जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है इसलिए जीवोंकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण होनेसे सचित्तके बाद शीत पदका उल्लेख किया गया है।

अंत संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् ॥ १७ ॥

जो पदार्थ गुप्त रहता है वह स्पष्टरूपसे नहीं दीखता किंतु क्रियासे ग्राह्य रहता है संवृत भी गुप्त-रूप प्रदेशका नाम है इसलिए वह भी क्रियाग्राह्य है अर्थात् कार्यसे ग्राह्य होता है स्पष्टरूपसे नहीं देखा जा सकता इसरीतिसे गुप्तरूप रहनेके कारण संवृत शब्दका अंतमें उल्लेख किया गया है। शंका—

एक एव योनिरिति चेन्न प्रत्यात्मं सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात् ॥ १८ ॥

समस्त संसारी जीवोंकी एकही योनि मान लेनी चाहिए भिन्न भिन्न योनियोंके माननेकी क्या आवश्यकता है? सो ठीक नहीं। प्रत्येक आत्मामें शुभ अशुभ परिणाम भिन्न भिन्न हैं। शुभ अशुभ परि-णामोंसे जायमान कर्मबंध भी भिन्न भिन्न है उस कर्मबंधके द्वारा प्रत्येक आत्माको सुख दुःखका भिन्न भिन्नरूपसे अनुभव होता है इसलिए भिन्न भिन्नरूपसे सुख दुःखके अनुभवकी अपेक्षा योनियोंके भी बहुतसे भेद माने गये हैं।

तत्राचित्तयोनिका देवनारकाः ॥ १९ ॥

देव और नारकियोंके उपपादस्थानके पुद्गलप्रचय अचित्त हैं इसलिए देव और नारकी अचित्त योनिवाले हैं।

गर्भजा मिश्रयोनयः ॥ २० ॥

जो जीव गर्भसे जायमान—गर्भज हैं वे सचित्ताचित्तस्वरूप मिश्रयोनिके धारक हैं क्योंकि उनकी

उत्पत्तिके स्थानस्वरूप माताके उदरमें जो वीर्य और रज अचित्त पदार्थ हैं उनका संबंध सचेतन आत्माके साथ है।

शेषास्त्रिविकल्पाः ॥ २१ ॥

औपपादिक और गर्भजोंसे शेष जो संमूर्छनज जीव हैं उनमें कोई सचित्त योनिवाले हैं कोई अचित्त योनिवाले हैं और कोई सचित्ताचित्तस्वरूप मिश्रयोनिवाले हैं इस प्रकार उनमें तीनों भेद हैं। उनमें साधारण शरीर एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं इसलिये वे सचित्तयोनिवाले हैं बाकीके कोई जीव अचित्त योनिवाले तो कोई मिश्रयोनिवाले हैं।

शीतोष्णयोनयो देवनारकाः ॥ २२ ॥

देव और नारकियोंमें बहुतोंके उपपाद स्थान उष्ण होते हैं और बहुतोंके शीत रहते हैं इसलिये वे शीत योनिवाले भी होते हैं और उष्ण योनिवाले भी होते हैं।

उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः ॥ २३ ॥

जो जीव अग्निकायिक हैं उनकी उत्पत्तिका स्थान नियमसे उष्ण ही रहता है इसलिये वे नियमसे उष्ण योनिवाले ही हैं।

इतरे त्रिप्रकाराः ॥ २४ ॥

देव नारकी और अग्निकायिक जीवोंसे भिन्न जो जीव हैं उनमें बहुतसे शीत योनिवाले होते हैं बहुतसे उष्ण योनिवाले होते हैं और बहुतसे शीतोष्णस्वरूप मिश्रयोनिवाले होते हैं इस प्रकार उनमें शीत आदि तीनों प्रकारकी योनियोंका संभव है।

देवनारकैकेंद्रियाः संवृतयोनयः ॥ २५ ॥

देव नारकी और एकेंद्रिय जीव संवृतयोनिवाले हैं अर्थात् जिस स्थानपर इनकी उत्पत्ति होती है वह स्थान ढका हुआ रहता है उघडा हुआ नहीं।

विकलेंद्रिया जीवा विवृतयोनयो वेदितव्याः ॥ २६ ॥

जो जीव विकलेंद्रिय हैं अर्थात् दो इंद्रिय तेइंद्रिय और चौइंद्रिय है वे विवृतयोनिवाले हैं—उनकी उत्पत्तिका स्थान उघडा—खुला रहता है।

मिश्रयोनयो गर्भजाः ॥ २७ ॥

जो जीव गर्भज हैं वे संवृत विवृतरूप मिश्रयोनिवाले होते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्तिका स्थान कुछ ढका तो कुछ उघडा हुआ रहता है।

तद्भेदाश्चशब्दसमुच्चिताः प्रत्यक्षज्ञानिदृष्टा इतरेषामागमगम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्याः ॥ २८ ॥

जिनका आपसका भेद कर्मोंके भेदके आधीन है ऐसे उपर्युक्त योनियोंके चौरासी लाख भेद हैं। केवलज्ञानी अपने दिव्य नेत्रसे इन भेदोंको देखते हैं और अल्पज्ञानी मनुष्य आगमके द्वारा उन्हें जानते हैं। ये सभी भेद सचित्तशीतत्यादि सूत्रमें आए हुए चशब्दसे ग्रहण किए जाते हैं। वे योनियोंके चौरासी लाख भेद इस प्रकार हैं—

नित्यनिगोत (द) और अनित्य निगोतोंमें प्रत्येकके सात सात लाख योनिभेद हैं। यहांपर जो जीव भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंमें त्रस पर्यायके अयोग्य हैं—कभी भी त्रस नहीं हो सके वे नित्यनिगोद जीव कहे जाते हैं और जिन्होंने त्रस पर्यायको प्राप्त कर लिया है अथवा आगे जाकर

प्राप्त करेंगे वे अनित्य निगोद जीव हैं। तथा पृथ्वी अप् तेज वायुमें भी प्रत्येकके सात सात लाख योनि भेद हैं वनस्पतिके दश लाख, दोइंद्रिय तेइंद्रिय और चौइंद्रियोंमेंसे प्रत्येकके दो दो लाख, इस प्रकार छह लाख, देव नारकी पंचेंद्रिय–तिर्यंचोंमेंसे प्रत्येकके चार चार लाख और मनुष्योंके चौदह लाख योनि-भेद हैं। इस प्रकार सब मिलकर ये चौरासी लाख भेद योनियोंके हैं। गोम्मटसारजीमें कहा भी है—

णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुराणिरयातिरियचउरो चोद्दसमणुए सदसहस्सा॥ ८९ ॥

नित्येतरधातुसप्त च तरुदशविकलेंद्रियेषु षट् चैव।
सुरनिरयातिर्यक्चतस्रः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राः॥ ८९॥

नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवी जल अग्नि वायु इन प्रत्येककी सात सात लाख, वनस्पतिकी दश लाख, द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रियमेंसे प्रत्येककी दो दो लाख इसप्रकार विकलेंद्रियोंकी मिलकर छह लाख, देव नारकी और पंचेंद्रिय तिर्यंच इनमें प्रत्येककी चार चार लाख, मनुष्यकी चौदहलाख सब मिलकर चौरासी लाख योनि होतीं हैं। (जीवकांड)॥ ३२॥

विशेष–आकार योनि और गुण योनिके भेदसे योनि दो प्रकारकी है यहांपर ये गुणयोनिकी अपेक्षा भेद माने हैं आकार योनिके तीन भेद हैं–शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्र। शंखावर्तयोनिमें गर्भ नहीं ठहरता। कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर चक्रवर्ती बलभद्र और उनके भाइयोंके सिवाय कोई उत्पन्न नहीं होता और वंशपत्रयोनिमें बाकीके गर्भ जन्मवाले सब जीव पैदा होते हैं।

उपर्युक्त नौ प्रकारके योनि भेदोंसे जटिल संमूर्छन गर्भ और उपपाद इन तीनों प्रकारके जन्मोंका

सामान्यरूपसे सबही प्राणियोंके होनेका प्रसंग आया इसलिये किन जीवोंके कौन कौन जन्म होते हैं ? सूत्रकार इसबातका खुलासा करते हैं—

जरायुजांडजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

जरायुज अंडज और पोत इन तीनप्रकारके जीवोंका गर्भजन्म होता है।

जालवत्प्राणिपरिवरणं जरायुः ॥ १ ॥

जालके समान चारो ओरसे जो जीवका ढकनेवाला हो और जिसके चारो ओर मांस और रक्त हो वह जरायु कहा जाता है।

शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं ॥ २ ॥

जो नखकी छालके समान कठिन हो, वीर्य और रजसे आच्छादित हो और गोलाकार हो उसका नाम अंड है।

संपूर्णावयवः परिस्पंदादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः ॥ ३ ॥

बिना किसी आवरणके ही जिसके शरीरके अवयव पूर्ण हों और योनिसे निकलते ही जो हलन चलन करनेमें समर्थ हो उसका नाम पोत है। जो जीव जरायुमें उत्पन्न हों वे जरायुज और जो अंडेसे पैदा हों वे अंडज हैं अर्थात्—जो जीव जालके समान मांस और रुधिरसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटे हुए पैदा होते हैं उनको जरायुज कहते हैं। माताके रज और पिताके वीर्यसे बने हुए नखकी त्वचाके समान कठिन गोलाकार आवरणरूप अंडेसे जो उत्पन्न हों वे अंडज कहे जाते हैं और जिनके ऊपर जरा वा अंडा कुछ भी आवरण नहीं होता, माताके उदरसे निकलते ही जो चलने फिरने लगते

हैं वे पोत हैं । 'जरायुजाश्च अंडजाश्च पोताश्च जरायुजांडजपोताः, तेषां जरायुजांडजपोतानां' यह जरायुजांडजपोतका विग्रह है ।

पोतजा इत्ययुक्तमर्थभेदाभावात् ॥ ४ ॥

कोई कोई लोग 'पोतजाः' ऐसा पाठ मानते हैं परन्तु वह अयुक्त है क्योंकि पोतके अन्दर कोई अन्य पदार्थ उत्पन्न होनेवाला हो यह वात नहीं किंतु ऊपर जो पोतका अर्थ लिखा गया है वही उन्हें पोतज शब्दका भी अर्थ इष्ट है इसलिये जब पोतज और पोत दोनों समानार्थक हैं तब पोत शब्दका पाठ ही लाभकारी और निर्दोष है । शंका—

आत्मा पोतज इति चेन्न तत्परिणामात् ॥ ५ ॥

जो पोतमें उत्पन्न हुआ हो वह पोतज है । पोतमें आत्मा उत्पन्न होता है इसलिये पोतजका अर्थ आत्मा हो जानेसे अर्थभेद हो गया सो ठीक नहीं । पोतरूप परिणामसे परिणत आत्मा ही पोत कहा जाता है आत्मासे भिन्न पोत कोई पदार्थ नहीं इसरीतिसे पोत और पोतज दोनोंका समान ही अर्थ है । यदि यहांपर यह कहा जाय कि जिसप्रकार जरायुमें उत्पन्न होनेके कारण आत्माको जरायुज कहा जाता है उसीप्रकार पोतमें उत्पन्न होनेके कारण पोतज कहना भी उचित है सो ठीक नहीं । क्योंकि जरायुके समान पोत कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । इसरीतिसे जब पोतज और पोत दोनों ही समानार्थक हैं तब सूत्रमें पोत शब्दका पाठ ही उपयुक्त है ।

जरायुजगृहणमादावभ्यर्हितत्वात् ॥ ६ ॥ क्रियारंभशक्तियोगात् ॥ ७ ॥
केषांचिन्महाप्रभावत्वात् ॥ ८ ॥ मार्गफलाभिसंबंधात् ॥ ९ ॥

अंडज आदि जीवोंकी अपेक्षा जरायुज जीव उत्कृष्ट हैं इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले जरायुज शब्दका उल्लेख किया है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि अंडज आदिकी अपेक्षा जरायुज जीव क्यों उत्कृष्ट हैं? क्योंकि एक तो अंडज और पोत जीवोंकी अपेक्षा जरायुज जीवोंमें बोल चाल और अध्ययन आदि क्रियाओंकी विशेषता है अर्थात् जिसरीतिसे जरायुज बोल चाल वा अध्ययन अध्यापन आदि कार्य कर सकते हैं उसरीतिसे अंडज आदि जीव नहीं। दूसरे चक्रवर्ति वासुदेव कामदेव आदि प्रभावशाली पुरुष जरायुज जीवोंमें ही होते हैं अंडज आदिमें नहीं। तीसरे मोक्षके मार्गस्वरूप सम्यग्दर्शनादि और मोक्षसुखका संबंध जरायुज जीवोंके ही होता है, अंडज आदिके नहीं इसरीतिसे भाषा अध्ययन आदिकी विशेषतासे जरायुज जीव ही अंडज आदि जीवोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं इसलिये सूत्रमें जरायुज शब्दका ही सबसे पहिले उल्लेख किया गया है।

तदनंतरमंडजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात् ॥ १० ॥

पोत जीवोंकी अपेक्षा अंडज जीव उत्कृष्ट हैं क्योंकि अंडजोंमें जो शुक सारिका आदि पक्षी हैं उनमें पोत जीवोंकी अपेक्षा अक्षरोंकी उच्चारणक्रिया आदिकी विशेषता है—वे स्पष्टतया उच्चारण करनेमें कुशल होते हैं इसलिये सूत्रमें जरायुज शब्दके वाद अंडज शब्दका उल्लेख किया है। शंका—

उद्देशवन्निर्देश इति चेन्न गौरवप्रसंगात् ॥ ११ ॥

उद्देशके समान ही निर्देश होना चाहिये अर्थात् जिसका पहिले सामान्य कथन हो उसका व्याख्यान भी पहिले होना चाहिये 'संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म' इससूत्रमें उद्देशस्वरूप संमूर्छन शब्दका सबसे पहिले उल्लेख किया गया है इसलिये यहां पर भी संमूर्छन जन्मवालोंका सबसे पहिले कथन करना चाहिये

सबसे पीछे क्यों किया गया ? सो ठीक नहीं । एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय जीवोंका और पंचेंद्रियोंमें कोई कोई तिर्यंच वा मनुष्योंका संमूर्छन जन्म माना है । यदि इस संमूर्छन जन्मका सब जन्मोंकी अपेक्षा पाहिले वर्णन किया जायगा तो इस अर्थका द्योतक एक बडा सूत्र करनेसे शास्त्र गौरव होगा इसलिये गर्भज औरऔपपादिकोंका पाहिले कथन कर उनसे बाकी बचे जीवोंका संमूर्छन जन्म है इस लाघवपूर्वककथन करनेके लिये क्रम भंगकर सबसे पीछे संमूर्छन जन्मवाले जीवोंका उलेख किया गया है।

सिद्धे विधिरवधारणार्थः ॥ १२ ॥

जो बात सिद्ध रहती है उसका फिरसे कथन करना किसी न किसी नियमका सूचक होता है। जरायुज अंडज आदिका सामान्यरूपसे गर्भजन्म सिद्ध ही था फिर जो 'जरायुजांडजपोतानां गर्भः' इस सूत्रसे उनका फिरसे गर्भ जन्मका विधान किया गया है वह जरायुज अंडज और पोत जीवोंका ही गर्भ जन्म होता है अन्य किसीका नहीं इस नियमका द्योतक है । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—जरायुज आदिके ही गर्भजन्म होता है ऐसे नियमकी जगह उनके गर्भ ही जन्म होता है यह नियम क्यों नहीं किया जाता ? सो ठीक नहीं । यदि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ ही जन्म होता है यह नियम किया जायगा तो इनसे भिन्न बाकीके जीवोंके भी गर्भ जन्मका प्रसंग होगा परंतु वह

१—यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात् तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः, गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु च प्रसज्येत । यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विमान्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः । श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३३६ ।

इष्ट नहीं क्योंकि शेष जीवोंके 'शेषाणां संमूर्छनं' इस आगेके सूत्रसे संमूर्छन जन्म ही माना है इसलिये जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ ही जन्म होता है ऐसा नियम न मानकर 'उनके ही गर्भजन्म होता है' यही नियम मानना वास्तविक स्वरूपकी सिद्धिमें कारण है ॥ ३३ ॥

यदि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ जन्मका निश्चय है तब उपपाद जन्म किन जीवोंका होता है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार करते हैं—

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

भवनवासी आदि चारो प्रकारके देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है।

देवादिगत्युदय एवास्य जन्मेति चेन्न शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात् ॥ १ ॥

मनुष्य हो वा तिर्यंच आयुके क्षीण हो जानेपर जिससमय वह कार्माण काययोगमें विद्यमान रहता है उससमय देव आदि गतियोंके उदयसे देव आदि संज्ञा हो जाती है इसरीतिसे उस कार्माणकाययोग रूप अवस्थाको जन्म मान लेना चाहिए, उपपाद जन्मको पृथक्‌रूपसे माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। सो ठीक नहीं। जहांपर देव वा तिर्यंच आदिके शरीरकी रचना हो वहीं देव आदि जन्मका मानना इष्ट है। कार्माणकाययोग अवस्थामें जीव अनाहारक रहता है इसलिए उससमय देव आदिके शरीरकी रचना संभव नहीं इस अवस्थाको जन्म नहीं माना जा सकता किंतु उससे भिन्न उपपाद नामका जन्म है और वह देव एवं नारकियोंके ही होता है ॥ ३४ ॥

गर्भ और उपपाद जन्मवाले जरायुज आदि जीवोंसे भिन्न अवशिष्ट जीवोंके कौनसा जन्म होता है? इस बातका उल्लेख सूत्रकार करते हैं—

शेषाणां संमूर्च्छनं ॥ ३५ ॥

शेष अर्थात् गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोंसे वाकी रहे हुए संसारी जीवोंका संमूर्छन जन्म है।

उभयत्र नियमः पूर्ववत् ॥ १ ॥

जरायुज अंडज और पोत जीवोंके ही गर्भजन्म होता है अन्यके नहीं जिसप्रकार यह ऊपर नियम कर आए हैं उसीप्रकार देव और नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है अन्यके नहीं। शेषोंका ही संमूर्छन जन्म होता है अन्यका नहीं यहां पर भी दोनों जगह यह नियम समझ लेना चाहिये। 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रमें जो शेष शब्दका उल्लेख किया गया है उससे यहां पर जन्मोंका ही नियम है जन्मवान् जीवोंका नियम नहीं क्योंकि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके ही गर्भ होता है, देव और नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है ऐसे नियमके रहनेपर गर्भ और उपपाद दोनों जन्मोंका तो नियम हो जाता है अर्थात्—इनके सिवाय अन्यके गर्भ और उपपाद नहीं होसकते परंतु 'जरायुज आदिके गर्भ ही वा उपपाद ही जन्म होता है संमूर्छन नहीं' यह नियम नहीं होता इसलिए शेष ग्रहण किया गया है। शेष ग्रहण करनेसे 'शेषोंके ही संमूर्छन जन्म होता है जरायुज आदिके नहीं' यह नियम होनेसे जरायुज वा देव आदिके उसकी योग्यता नहीं हो सकती। यदि जन्मवाले जीवोंका भी नियम माना जायगा तो जरायुज अंडज और पोतोंके गर्भ ही जन्म होता है देव और नारकियोंकेंं उत्पाद ही जन्म होता है' इस रीतिसे गर्भ और उपपादका तो नियम होगा नहीं किंतु जरायुज आदिका ही नियम होगा तब जहांपर संमूर्छन वा अन्य किसी जन्मका संभव होगा वहांपर नियमसे संमूर्छन ही जन्म होगा और कोई जन्म नहीं हो सकता फिर 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रमें शेष शब्द व्यर्थ ही हो जायगा इसलिए यहांपर जरा-

युज आदिके ही गर्भ आदि होते हैं यह जन्मोंका ही नियम मानना चाहिए, जन्मवानोंका नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जरायुज आदिके ही गर्भ आदि होते हैं वा जरायुज आदिके गर्भ आदि ही होते हैं इसप्रकार जन्म और जन्मी दोनोंके नियमोंको यहां हम स्वीकार करते हैं ऐसा करनेपर जरायुज आदिके गर्भ और उपपाद अव्यभिचरितरूपसे हो सकते हैं अर्थात् जरायुज आदिके ही गर्भ उपपाद होते हैं ऐसा जन्मोंका नियम माननेपर यद्यपि उनके संमूर्छन जन्मका भी संभव होता है परंतु उनके गर्भ उपपाद ही जन्म होते हैं यह जन्मवालोंका जब नियम माना जायगा तब उनके संमूर्छन जन्मका संभव नहीं हो सकता इसरीतिसे जरायुज आदिके निर्दोषरूपसे गर्भ और उपपाद निश्चित है और उनसे बचे जितने जीव हैं उनके बिना किसी प्रकारका उल्लेख करनेपर भी संमूर्छन जन्म अर्थतः सिद्ध है फिर 'शेषाणामेव संमूर्छनं' यह सामान्य कथन होनेसे उस कथनकेलिए 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रका आरंभ व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। उपर्युक्त जन्मोंके नियमकी जो कल्पना की गई है वह 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रके शेष शब्दकी ध्वनिसे की गई है। वह ध्वनि एक ही प्रकारका नियम ध्वनित कर सकती है दोनों प्रकारके नियमोंके द्योतनमें उसकी सामर्थ्य नहीं इसलिए यहांपर दोनों नियमोंमें एकही कोई नियम अंगीकार करना होगा तथा शेष शब्दकी ध्वनिसे जब ऊपर नियमकी प्रकटता हुई है तब जन्मोंके नियममें ही शेष शब्दकी सामर्थ्य है जन्मवानोंके नियममें नहीं इसलिए जन्मोंके नियमके निर्धारण रहनेपर 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रका आरंभ सार्थक है व्यर्थ नहीं ॥ ३५ ॥

गर्भ आदि तीन प्रकारके जन्म और अनेक भेदोंसे युक्त नौ प्रकारकी योनियोंके धारक संसारी

जीवोंके शुभ अशुभ कर्मोंसे रचित और कर्मबंधके फलके अनुभवके स्थान शरीर कितने हैं? सूत्रकार उन्हें गिनाते हैं–

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण ये पांच प्रकारके शरीर हैं।

शीर्यंत इति शरीराणि, घटाद्यतिप्रसंग इति चेन्न नामकर्मनिमित्तत्वाभावात् ॥ १ ॥

जो नष्ट होनेवाले हों वे शरीर हैं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि जो नष्ट होनेवाले हों वे शरीर हैं, तो नष्ट होनेवाले तो घट पट आदि पदार्थ भी हैं इसलिये उन्हें भी शरीर मानना पडेगा। सो ठीक नहीं। जिसकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण होगा वह शरीर कहा जा सकता है अन्य नहीं। औदारिक आदिकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण है इसलिये वे ही शरीर कहे जा सकते हैं घट आदिकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण नहीं इसलिये वे शरीर नहीं कहे जा सकते। इसप्रकार नामकर्मकी निमित्तताके विना घट आदिको शरीर कहना बाधित है। शंका–

विग्रहाभाव इति चेन्न रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात् ॥ २ ॥

यदि शरीर नामकर्मके उदयसे शरीर संज्ञा मानी जायगी तो 'शीर्यंत इति शरीराणि' ऐसा विग्रह नहीं बन सकता? सो ठीक नहीं। गो शब्द यद्यपि रूढ है तो भी 'गच्छतीति गौः' जो चले उसका नाम गाय है इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह गमन क्रियाका आधार माना जाता है उसीप्रकार यद्यपि शरीर भी रूढि शब्द है तथापि 'शीर्यंत इति शरीराणि' जो नष्ट हों वे शरीर हैं इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह

भी नष्ट होनारूप क्रियाका आधार है इसलिये 'शीर्यंत इति शरीराणि' इस शरीर शब्दके विग्रहका अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

शरीरत्वादिति चेन्न तदभावात् ॥ ३ ॥

शरीरत्व धर्मको नैयायिक आदिने अवांतर जातिस्वरूप माना है इसलिये उस शरीरत्वका जहां सम्बन्ध हो उसे ही शरीर मानना चाहिये नामकर्मके निमित्तसे उसकी उत्पत्ति मानना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। वास्तवमें तो शरीरत्व जाति कोई पदार्थ नहीं। यदि वह पदार्थ हो भी तो नैयायिकोंने उसे पदार्थका स्वभाव न मानकर उससे भिन्न माना है इसलिये जिसप्रकार उष्णत्व जातिको अग्निका स्वभाव न मानकर उससे भिन्न माननेपर अग्नि पदार्थका निश्चय नहीं हो सकता उसीप्रकार शरीरत्वको भी यदि शरीरसे भिन्न माना जायगा तो उसके अस्तित्वका भी निश्चय नहीं हो सक्ता। पदार्थसे सर्वथा भिन्न जातिके सम्बन्धकी कल्पनाका पहिले अच्छीतरह खण्डन कर दिया गया है इस रीतिसे शरीरत्वके सम्बन्धसे शरीर पदार्थका मानना बाधित है किन्तु नामकर्मका उदय ही उसकी उत्पत्तिमें कारण है।

उदारात्स्थूलवाचिनो भवे प्रयोजने वा ठञ् ॥ ४ ॥

उदारका अर्थ स्थूल है उससे 'भव' अर्थमें वा प्रयोजन अर्थमें ठञ् प्रत्यय करनेपर औदारिक शब्दकी सिद्धि हुई है। 'उदारे भवं वा उदारं प्रयोजनं यस्य तत् औदारिकं' यह उसकी व्युत्पत्ति है। अर्थात् इंद्रियोंसे देखने योग्य स्थूल शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं।

विक्रियाप्रयोजनं वैक्रियिकं ॥ ५ ॥

अणिमा महिमा आदि आठ प्रकारकी ऋद्धियोंके द्वारा एक अनेक छोटा बडा आदि अनेक

प्रकारसे शरीरका हो जाना विक्रिया है। जिसका प्रयोजन विक्रिया हो वह वैक्रियिक शरीर है। अर्थात् जिसमें अनेक प्रकारके स्थूल सूक्ष्म हलका भारी इत्यादि विकार होनेकी योग्यता हो उसका नाम वैक्रियिक शरीर है।

आह्रियते तदित्याहारकं ॥ ६ ॥

सूक्ष्म पदार्थके निर्णयकेलिए वा असंयम दूर करनेकेलिए प्रमत्त गुण स्थानवर्ती मुनियोंके जो प्रगट होता है उसे आहारक शरीर कहते हैं—

तेजोनिमित्तत्वात्तैजसं ॥ ७ ॥

जो तेजका कारण हो वा जिसमें तेज रहता हो वह तैजस शरीर कहा जाता है।

कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणं ॥ ८ ॥

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंका जो कार्य हो वा कर्मोंका समूह हो उसका नाम कार्मण शरीर है। कर्म और उनका समूह यद्यपि अभिन्न पदार्थ है तथापि कथंचित् भेदविवक्षा मानकर यहां उनके समूहको कार्मण शरीर कह दिया गया है। शंका—

सर्वेषां कार्मणत्वप्रसंग इति चेन्न प्रतिनियतौदारिकादिनिमित्तत्वात् ॥ ९ ॥

यदि कर्मोंके कार्य वा कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर माना जायगा तो औदारिक आदिको भी कार्मण शरीर कह देना पडेगा क्योंकि औदारिक आदि शरीर भी कर्मोंके कार्य वा कर्मोंके समूहरूप हैं इसरीतिसे केवल कार्मण शरीर मानना ही ठीक है औदारिक आदि भेदोंके गिनानेकी कोई आव-

श्यकता नहीं ? सो ठीक नहीं । औदारिकशरीर नामकर्म वैक्रियिकशरीर नामकर्म इत्यादि भिन्न भिन्न नामकर्मके भेद माने हैं इसलिए उनके उदयके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है । तथा—

तत्कृतत्वेऽप्यन्यत्वदर्शनाद् घटादिवत् ॥ १० ॥

मिट्टीरूप कारणके अभेद रहनेपर भी जिसप्रकार घडा सरवा आदि पदार्थोंका नाम और स्वरूप आदिके भेदसे भेद दीख पडता है उसीप्रकार कर्मरूप कारणका भलेही अभेद रहे तथापि नाम और स्वरूप आदिके भेदसे औदारिक आदि भिन्न भिन्न ही हैं । तथा—

तत्प्रणालिकया चाभिनिष्पत्तेः ॥ ११ ॥

कार्मण शरीरके द्वारा औदारिक वैक्रियिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति होती है इसलिए कार्मण शरीर कारण और औदारिक आदि शरीर कार्य हैं इसरीतिसे कार्य कारणके भेदसे औदारिक आदि शरीरों को कार्मण शरीर नहीं कहा जा सकता । अथवा—

विस्रसोपचयेन व्यवस्थानात् क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवत् ॥ ११ ॥

जिसप्रकार गीले गुडमें धूलिके कण स्वाभाविक परिणामसे आकर मिल जाते हैं उसीप्रकार स्वाभाविक परिणामसे औदारिक आदि भी कर्ममें विद्यमान रहते हैं सर्वथा कर्म स्वरूप नहीं इसलिये कार्मण और औदारिक आदि शरीरोंमें आधार आधेयका भेद रहनेपर वे भिन्न भिन्न ही हैं अर्थात् औदारिकादि शरीर तो नोकर्म हैं और कार्मण शरीर कर्म है इसलिये वर्गणाओंके भेदसे उनमें परस्पर भेद है ।

कार्मणमसान्निमित्ताभावादिति चेन्न निमित्तनिमित्तिभावात्तस्यैव प्रदीपवत् ॥ १३ ॥

कार्मण शरीर नहीं माना जा सकता क्योंकि संसारमें जिसके निमित्तकारण हैं वही पदार्थ सत माना जाता है किंतु जिसके कारण नहीं है वह खरविषाणके समान असत् है? सो ठीक नहीं। जिस-प्रकार दीपक स्वयं प्रकाश्य और प्रकाशक दोनों स्वरूप है अर्थात् अपनेको प्रकाशित करनेमें स्वयं ही वह कारण और प्रकाशित होनेसे स्वयं ही वह कार्य है उसीप्रकार कार्मण शरीर भी निमित्त निमित्ती—कारण कार्य दोनों स्वरूप है अर्थात् जिसप्रकार वह औदारिक आदि शरीरोंका उत्पादक है उसीप्रकार वह अपना भी उत्पादक होनेसे स्वयं कारण और उत्पन्न होनेसे स्वयं ही कार्य है इसरीतिसे कारण और कार्यस्वरूप होनेसे कार्मण शरीर असत्पदार्थ नहीं कहा जा सकता। तथा—

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च ॥ १४ ॥ इतरथा ह्यनिर्मोक्षप्रसंगः ॥ १५ ॥

शास्त्रोंमें मिथ्यादर्शन अविरति आदिको कार्मण शरीरका कारण बतलाया है इसलिये 'कार्मण शरीरका कोई निमित्त नहीं है अतः वह कोई पदार्थ नहीं' यह कहना असिद्ध है। तथा यह नियम है जिसका उत्पादक कारण नहीं होता वह नित्य पदार्थ माना जाता है नित्यका विनाशक कारण कोई हो नहीं सकता इसलिये उसका सर्वदा आस्तित्व रहता है। यदि कार्मण शरीरका कोई भी उत्पादक कारण न माना जायगा तो उसका कभी भी विनाश न हो सकेगा सदा उसका आत्माके साथ संबंध रहेगा इसरीतिसे सर्वदा कर्मोंके जालमें जकडे रहनेके कारण किसी भी आत्माको कभी भी मुक्तिलाभ न हो सकेगा इसलिये कार्मण शरीर अकारण है—उसका उत्पादक कोई भी निमित्त कारण नहीं यह बात असिद्ध है। यदि यहांपर यह आशंका हो कि—

अशरीरं विशरणाभावादिति चेन्नोपचयापचयधर्मवत्त्वात् ॥ १६ ॥

जिसप्रकार औदारिक आदि शरीर घटते घटते नष्ट हो जाते हैं उसतरह कार्मण शरीर घटता घटता नष्ट होता नहीं दीख पडता इसलिये 'शीर्यंत इति शरीराणि' जो घटते घटते नष्ट हो जांय वे शरीर हैं इस व्युत्पत्तिके आधीन कार्माण शरीरको शरीर नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं। निमित्त कारणोंके द्वारा सर्वदा कर्मोंका आगमन और विनाश होता रहता है इसलिये घटना बढनारूप कार्य औदारिक आदिके समान कार्मण शरीरमें भी है इसलिये ' कार्मण शरीर, शरीर नहीं कहा जा सकता ' यह कहना अयथार्थ है।

तद्ग्रहणमादाविति चेन्न तदनुमेयत्वात् ॥ १७ ॥

औदारिक आदि समस्त शरीरोंका आश्रय कार्मण शरीर है क्योंकि कार्मण शरीरके आधार औदारिक आदि शरीरोंकी रचना है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें कार्मण शरीरका उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिस प्रकार घट पट आदि कार्योंके देखनेसे उनके आश्रय परमाणुओंका अनुमान कर लिया जाता है क्योंकि विना परमाणुओंके घट आदिका होना असंभव है उसीप्रकार औदारिक आदि कार्योंके देखनेसे उनके आश्रयस्वरूप कार्मण शरीरका भी अनुमान कर लिया जाता है क्योंकि विना कार्मण शरीरके औदारिक आदि शरीरका होना असंभव है कारण कार्यलिंगक होता है—कार्यसे उसका आस्तित्व जान लिया जाता है इसरीतिसे अनुमानसाध्य होनेसे कार्मण शरीरका सबसे पहिले सूत्रमें उल्लेख नहीं किया जा सकता।

तत एव कर्मणो मूर्तिमत्त्वं सिद्धं ॥ १८ ॥

औदारिक आदि मूर्तिमान् कार्य हैं और उनकी उत्पत्ति कर्मोंसे मानी है इसलिये कर्म भी मूर्तिक पदार्थ हैं यह वात स्वतः सिद्ध है। सारार्थ—कार्यमें जितने गुण दीख पडेंगे वे सब कारणके गुण माने जांयगे क्योंकि कारणके अनुकूल ही कार्य होता है। कर्मोंके कार्य औदारिक आदिमें मूर्तिकपना दीख पडता है इसलिये उनके कारण कर्ममें भी मूर्तिकपना स्वभावसिद्ध है। इस रीतिसे नैयायिक आदिने जो अदृष्ट—धर्म अधर्मरूप गुणसे जो औदारिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति मान रक्खी है वह मिथ्या है क्योंकि अदृष्ट अमूर्तिक, आत्माका गुण और निष्क्रिय पदार्थ है उससे मूर्तिक और क्रियावान् औदारिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

औदारिकग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् ॥ १९ ॥

सब शरीरोंमें औदारिक शरीर अत्यन्त स्थूल इंद्रियोंका विषय है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें औदारिक शरीरका उल्लेख किया गया है।

उत्तरेषां क्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थः ॥ २० ॥

औदारिककी अपेक्षा वैक्रियिक, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक इत्यादि क्रमसे उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म हैं यह वात बतलानेके लिये सूत्रमें औदारिकके बाद वैक्रियिक, वैक्रियिकके बाद आहारक इत्यादि क्रमका उल्लेख है। 'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे वैक्रियिक आदि शरीरोंकी सूक्ष्मता स्वयं सूत्रकार आगे बतलावेंगे ॥ ३६ ॥

जब औदारिक शरीर इंद्रियोंसे जाना जाता है तब वैक्रियिक आदि शरीरोंका इंद्रियोंसे ज्ञान क्यों नहीं होता? इसका समाधान सूत्रकार देते हैं—

परं परं सूक्ष्मं ॥ ३७ ॥

औदारिकसे आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक, वैक्रियिकसे आहारक, आहारकसे तैजस, और तैजससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः ॥ १ ॥

पर शब्दके अनेक अर्थ हैं 'पूर्वः परः' पहिलेका और पश्चात्का, यहांपर परशब्दका अर्थ व्यवस्था है। परपुत्रः, परभार्येति (अन्य पुत्रोऽन्यभार्येति) यह पुत्र दूसरा है और यह स्त्री दूसरी है, यहांपर परशब्द अन्य अर्थका वाचक है। परामियं कन्या, अस्मिन् कुटुंबे प्रधानमिति, यह कन्या इस कुटुंबमें प्रधान है यहांपर पर शब्दका अर्थ प्रधान है। परं धाम गतः (इष्टं धाम गतः) वह अपने इष्ट स्थानको चला गया यहांपर पर शब्दका अर्थ 'इष्ट' है परन्तु यहांपर पर शब्दका अर्थ व्यवस्था इष्ट है अर्थात् पश्चात् पश्चातके सूक्ष्म हैं।

पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः ॥ २ ॥

नाम स्वरूप प्रयोजन आदिके भेदसे भिन्न जो औदारिक आदि शरीर हैं उनका यहां सूक्ष्मगुणके साथ 'परंपरं' यह वीप्साका निर्देश है। अर्थात् आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं यह यहांपर वीप्सा निर्देशका तात्पर्य है ॥ ३७ ॥

१। 'सकलधर्मप्रत्यायनेच्छा वीप्सा' जितने पदार्थोंको लक्ष्यकर बात कही जाय उन समस्त पदार्थोंका ज्ञान करा देनेकी इच्छा वीप्सा है। न्यायकौमुदी।

औदारिकसे आगेके शरीर यदि उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं तो उनके प्रदेश भी उत्तरोत्तर कम होने चाहिए। इस विपरीत शंकाका सूत्रकार परिहार करते हैं—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३८ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा तैजस शरीरसे पाहिले पाहिलेके शरीर असंख्यात गुणे हैं अर्थात् औदारिक शरीरमें जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियिक शरीरमें हैं और वैक्रियिक शरीरसे असंख्यात गुणे आहारक शरीरमें हैं।

प्रदेशाः परमाणवः ॥ १ ॥

जो भिन्न भिन्न अंशरूप विभक्त हों उन्हें प्रदेश कहते हैं। घट आदिमें अवयवरूपसे वे कहे जाते हैं और उनका अर्थ परमाणु है। अथवा जिनके द्वारा भिन्न भिन्न अंश किए जांय उन्हें प्रदेश कहते हैं आकाश आदि द्रव्योंके क्षेत्रोंका विभाग प्रदेशोंके द्वारा ही होता है।

प्रदेशेभ्यः प्रदेशतः ॥ २ ॥ प्रदेशैर्वा प्रदेशतः ॥ ३ ॥

'अपादानेऽहीयरुहोः' इस सूत्रसे पंचम्यंत प्रदेशशब्दसे तस् प्रत्यय करनेपर 'प्रदेशतः' शब्द सिद्ध हुआ है अथवा व्याकरणमें तस्का जहांपर प्रकरण चला है वहांपर 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानं' यह वार्तिक है उसका 'आदि प्रभृति शब्दोंसे तस् प्रत्यय होता है' यह अर्थ है यहांपर आद्यादि गणमें प्रदेश शब्दको मानकर तृतीयांत प्रदेश शब्दसे तस् प्रत्यय करनेपर 'प्रदेशतः' यह सिद्ध हुआ है।

१—'अपादानेऽहीयरुहोः' ४-२-६२ हीयरुहवर्जितस्य योः संबंधिन्यपादाने काविहिता तदंतात्तसिर्वा भवति ग्रामादागच्छति ग्रामतः। जैनेन्द्रलघुवृत्ति।

संख्यानातीतोऽसंख्येयः ॥ ४ ॥

संख्याका अर्थ गणना है। जिसकी गणना न हो सके वह असंख्येय कहा जाता है और जो असंख्यातसे गुणित हो वह असंख्येयगुण है।

परंपरमित्यनुवृत्तेः प्राक्तैजसादिति वचनं ॥५॥

'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे यहांपर 'परं परं' इसकी अनुवृत्ति है अर्थात् आगे आगेके शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येय असंख्येयगुणे हैं परंतु यह प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना कार्मण शरीर पर्यंत भी प्राप्त होगा इसलिए मर्यादा सूचित करनेकेलिए 'प्राक् तैजसात्' यह वचन है अर्थात् तैजस शरीरसे पहिले पहिलेके शरीरोंमें यह प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना है आगेके शरीरोंमें नहीं।

प्रदेशत इति विशेषणमवगाहक्षेत्रनिवृत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

यहां पर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना है अवगाहकी अपेक्षा नहीं अर्थात् 'पहिले पहिले शरीरोंकी अपेक्षा आगे आगेके शरीरोंमें प्रदेश अधिक अधिक हैं किंतु अवगाहनाकी अधिकता नहीं' यह बात बतलानेकेलिए सूत्रमें 'प्रदेशतः' यह विशेषण दिया गया है। यहां पर गुणकार पल्यका असंख्यातवां भाग है इसरीतिसे औदारिकसे वैक्रियिक शरीरके असंख्यातगुणे प्रदेश हैं। वैक्रियिकसे आहारकके असंख्यातगुणे प्रदेश हैं, सूत्रका यह स्पष्ट अर्थ है। शंका—

उत्तरोत्तरस्य महत्त्वप्रसंग इति चेन्न, प्रचयविशेषादयःपिंडतूलनिचयवत् ॥ ७ ॥

जब उत्तरोत्तर शरीरोंमें असंख्यात असंख्यातगुणे प्रदेशोंकी अधिकता है तब उनका परिमाण भी अधिक होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार लोहेके पिंडमें अधिक परमाणु रहते हैं परंतु आपसमें

बंधकी सघनतासे उसका परिमाण अल्प ही रहता है तथा रुईके पिंडमें कम परमाणु रहते हैं परंतु उनका संयोग आपसमें शिथिल रहता है इसलिये उसका परिमाण अधिक होता है । उसीप्रकार यद्यपि उत्तर उत्तर शरीर अधिक अधिक प्रदेशवाले हैं परंतु बंधकी सघनतासे उनका परिमाण अधिक नहीं हो सकता इसलिये प्रदेशोंकी अधिकतासे परिमाणकी भी अधिकता होनी चाहिए यह शंका निर्मूल है ॥ ३८ ॥

तैजससे पहिले पहिलेके शरीर असंख्यात असंख्यातगुणे हैं यह ऊपर कहा गया है परंतु तैजस और कार्मणके विषयमें कुछ नहीं कहा गया इसलिये वहांपर शंका होती है कि क्यों उन दोनोंके प्रदेश समान हैं वा कुछ विशेष है ? इस शंकाका समाधान सूत्रकार करते हैं—

अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥

शेषके तैजस और कार्मण ये दो शरीर अनंतगुणे परमाणुवाले हैं अर्थात्—आहारक शरीरसे अनंतगुणे तैजस शरीरमें हैं और तैजस शरीरसे अनंतगुणे परमाणु कार्मण शरीरमें हैं।

इस सूत्रमें प्रदेशतोऽसंख्येयगुणमित्यादि सूत्रसे 'प्रदेशतः' शब्दकी अनुवृत्ति है तथा अभव्योंका अनंतगुणा और सिद्धोंका अनंतवा भाग यहां गुणकार है इसलिये यहां पर यह संबंध है कि प्रदेशोंकी अपेक्षा आहारकसे तैजस शरीर अनंतगुणा है और तैजससे कार्मण शरीर अनंतगुणा है। शंका—

अनंतगुणत्वादुभयोस्तुल्यत्वमिति चेन्नानंतस्यानंतविकल्पत्वात् ॥ १ ॥

तैजस और कार्मण जब दोनों शरीर अनंत अनंतगुणे कहे गये हैं तब दोनों समान ही हो गये ?

सो ठीक नहीं। जिसतरह संख्यातके संख्याते भेद माने हैं उसीप्रकार अनंतके भी अनंत भेद माने हैं। इसलिये अनंतके भी अनंत भेद होनेसे तैजस और कार्मण दोनों समान नहीं कहे जा सकते किंतु तैजससे कार्मण शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणा है।

आहारकादुभयोरनंतगुणत्वमिति चेन्न परंपरामित्यभिसंबंधात् ॥ २ ॥

आहारक शरीरसे तैजस और कार्मण शरीर अनंतगुणे जान पडते हैं तैजससे कार्मण अनंतगुणा नहीं इसलिये आहारकसे जब दोनों समानरूपसे अनंतगुणे हैं तब दोनों समान ही हुए? सो भी ठीक नहीं 'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे यहांपर 'परं परं' की अनुवृत्ति आरही है इसलिये आगे आगेके अनंतगुणे हैं अर्थात् आहारकसे तैजस शरीर अनंतगुणा है और तैजससे कार्मण शरीर अनंतगुणा है, यह यहां तात्पर्य है इसलिये उपर्युक्त शंका ठीक नहीं। शंका—

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात् परापर इति निर्देशः ॥ ३ न वा बुद्धिविषयव्यापारात् ॥ ४ ॥

सब शरीरोंके अंतमें रहनेके कारण कार्मण शरीर पर है और उसके समीपमें कहे जानेके कारण तैजस शरीर अपर है इसलिए "अनंतगुणे परे" 'परे'के स्थानपर परापरे ऐसा निर्देश करना चाहिए केवल पर शब्दके उल्लेखसे तैजस कार्मण दोनों शरीरोंका उल्लेख नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। तैजस शब्दके बाद कार्मण शब्दका उल्लेख है इसरीतिसे शब्दोंके उच्चारणकी अपेक्षा तैजस और कार्मणको यहां पर नहीं कहा गया है किंतु बुद्धिसे तैजस और कार्मणको तिरछा बराबर रखकर आहारकसे वे दोनों पर हैं ऐसा समझकर उन दोनोंको पर माना है इसरीतिसे जब परशब्दसे तैजस और कार्मण दोनों का ग्रहण सिद्ध है तब 'परे'के स्थानपर 'परापरे' निर्देशकी कोई आवश्यकता नहीं। अथवा—

व्यंवहिते वा परशब्दप्रयोगात् ॥ ५ ॥

पर शब्दका प्रयोग व्यवधान रहते भी होता है जिसतरह 'परा पाटलिपुत्रान्मथुरेति' अर्थात् पटनासे मथुरा परे है । यहां पटनासे अनेक ग्रामोंसे व्यवहित भी मथुराको पर मान लिया जाता है उसीप्रकार आहारकसे पर तैजस और तैजससे व्यवहित भी कार्मणको पर माना गया है इसलिए 'परे' निर्देश ही कार्यकारी है । शंका—

बहुद्रव्योपाचितत्वात्तदुपलब्धिप्रसंग इति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ६ ॥

जब अनंत अनंत प्रदेशोंके समूहरूप तैजस और कार्मण शरीर माने हैं तब बहुत द्रव्यवाले होनेसे उनका इंद्रियोंसे ग्रहण होना चाहिए ? सो ठीक नहीं । ऊपर कह दिया गया है कि अनेक परमाणुवाले होनेपर भी बंधकी विशेषतासे तैजस और कार्मणका सूक्ष्म परिणाम होता है इसलिए उनका ग्रहण नहीं हो सकता ॥ ३९ ॥

बाण मूर्तिमान द्रव्योंका पिंडस्वरूप है इसलिए जिसप्रकार पर्वत आदिसे उसकी गतिका निरोध हो जाता है—वह आगे नहीं जा सकता उसीप्रकार तैजस और कार्मण शरीर भी अनंते अनंते मूर्तिमान परमाणुओंके पिंड हैं 'और संसारी जीवके सदाकाल उनका संबंध रहता है यह आगे कहा जायगा' इसलिए उनके संबंधसे संसारी जीवोंके भी जाने योग्य गतिका निरोध होगा अर्थात् अगणित व्यवधान करनेवाले पदार्थोंके विद्यमान रहते वे स्वर्ग नरक आदि स्थानोंपर गमन न कर सकेंगे । सूत्रकार समाधान देते हैं कि सो ठीक नहीं क्योंकि ये दोनों ही शरीर—

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण दोनों शरीर अप्रतीघात हैं अर्थात् बलवान भी मूर्तिमान पदार्थसे इनका रुकना नहीं होता।

प्रतीघातो मूर्त्यंतरेण व्याघातः ॥ १ ॥ तदभावः सूक्ष्मपरिणामादयःपिंडे तेजोऽनुप्रवेशवत् ॥ २ ॥

मूर्तिक पदार्थसे मूर्तिक पदार्थका रुकजाना प्रतीघात है। अग्निका परिणमन सूक्ष्म है इसलिए कठिन भी लोहेके पिंडमें सूक्ष्म परिणमनके कारण जिसप्रकार अग्निका प्रवेश नहीं रुकता उसीप्रकार तैजस और कार्मण शरीरका परिणमन भी सूक्ष्म है इसलिए वज्रपटल आदि कैसे भी कठिन पदार्थ क्यों न बीचमें पडें, दोनों शरीरोंका रुकना नहीं होता—वे निरवच्छिन्नरूपसे प्रवेश कर जाते हैं इसलिए वे तैजस और कार्मण दोनों शरीर अप्रतिघात कहे जाते हैं। शंका—

वैक्रियिकाहारकयोरप्यप्रतिघात इति चेन्न सर्वत्र विवक्षितत्वात् ॥ ३ ॥

वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका भी सूक्ष्म परिणमन होनेसे प्रतिघात नहीं होता फिर तैजस और कार्मणको ही अप्रतिघात क्यों कहा गया वैक्रियिक और आहारकको क्यों नहीं कहा गया? सो ठीक नहीं। लोकके अन्त पर्यंत तैजस और कार्मण शरीरोंका कहीं भी प्रतिघात नहीं होता। वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका वैसा अप्रतिघात नहीं किंतु उनका प्रतिघात हो जाता है इसलिये इस सर्वत्र गमनकी विशेष विवक्षासे तैजस और कार्मण शरीरोंको अप्रतिघात कहा है ॥ ४० ॥

१—केवली और श्रुतकेवलीके विना जिसका समाधान न हो सके ऐसी तत्त्वविषयक गूढ शंका हो जानेपर उसकी निवृत्तिके लिये प्रमत्त गुणस्थानवर्ती संयमीके आहारक शरीरकी प्रकटता होती है और जहां केवली वा श्रुतकेवली विराजते हैं वहां तक

तैजस और कार्मणमें अप्रतिघातरूप ही विशेष है कि और भी कुछ विशेष है। ऐसी शंका होने पर सूत्रकार कहते हैं 'अनादिसंबंधे चेति।' अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है—आत्मा अनादि है और शरीर सादि है। अनादि और नित्य आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध किस कारणसे है? सूत्रकार इस शंकाका समाधान देते हैं—

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

ये दोनों शरीर आत्मासे अनादि कालसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं अर्थात् जबतक जीवोंका संसारमें रहना होता है तबतक बराबर इन शरीरोंका उसके साथ सम्बन्ध रहता है। तथा सादि सम्बन्ध भी रहता है।

चशब्दो विकल्पार्थः ॥ १ ॥ बंधसंतत्यपेक्षयानादिः संबंधः सादिश्च विशेषतो बीजवृक्षवत् ॥ २ ॥

सूत्रमें जो चशब्द है उसका अर्थ विकल्प है और तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरोंका आत्माके साथ अनादि और सादि दोनों प्रकारका संबंध है यह उसका प्रयोजन है। दोनों सम्बन्धोंकी व्यवस्था इसप्रकार है—

जिस समय बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज, बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज इस प्रकार सामान्यरूपसे कार्य कारणरूप सम्बन्धकी विवक्षा की जाती है उस समय बीज और वृक्षका कार्य कारणरूप अनादि संबंध

जाकर फिर आहारक शरीर लौट आता है। केवलियोंकी स्थिति ढाई द्वीपसे बाहिर नहीं होती इसलिये आहारक शरीरका गमन अधिकसे अधिक ढाई द्वीप पर्यंत ही है। मनुष्योंका वैक्रियिक शरीर मनुष्यलोक पर्यंत ही गमन करता है तथा देवोंका त्रसनाली पर्यंत गमन करता है अधिक नहीं इसलिये ये दोनों शरीर तैजस और कार्मण शरीरोंके समान सर्वत्र अप्रतिघाती नहीं। अ० प्र०

माना जाता है और जिस समय अमुक बीजसे अमुक वृक्ष, अमुक वृक्षसे अमुक बीज इसप्रकार विशेष रूपसे कार्य कारणकी विवक्षा मानी जाती है उस समय बीज और वृक्षका वह संबंध सादि माना जाता है उसीप्रकार जिस समय आत्माके साथ तैजस कार्मण शरीरोंके निमित्त नैमित्तिक संबंधकी सामान्य-रूपसे विवक्षा की जाती है उस समय आत्मा और तैजस कार्मणका अनादि सम्बन्ध है क्योंकि अनादि कालसे ऐसा कोई भी समय नहीं वीता जिसमें तैजस कार्मणकी आत्मासे जुदाई हुई हो, और जिस समय अमुक तैजस कार्मणका अमुक अवस्थापन्न आत्माके साथ संबंध है इसप्रकार विशेष विवक्षा है उस समय उनका आपसमें निमित्त नैमित्तिक संबंध सादि है। इसप्रकार सामान्य और विशेषकी अपेक्षा आत्मा और तैजस कार्मणका अनादि सादि दोनों प्रकारका संबंध युक्तिसिद्ध है।

एकांतेनादिमत्वेऽभिनवशरीरसंबंधाभावो निर्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥ मुक्तात्माभावप्रसंगश्च ॥ ४

जो कोई एकांतसे तैजस और कार्मणका सादि संबंध स्वीकार करता है उसके मतानुसार जिस कालमें आत्माके साथ तैजस और कार्मणका संबंध नहीं है उसकालमें आत्माको शुद्ध मानना पडेगा शुद्ध आत्मा कभी तैजस कार्मण शरीरका कारण नहीं बन सकता इसलिये कारणके अभावसे फिर तैजस कार्मण शरीरका संबंध नहीं हो सकता इसरीतिसे तैजस कार्मण शरीरोंका सादि संबंध नहीं बन सकता। और भी यह बात है कि—

यदि जबरन आत्माके साथ तैजस कार्मणका सादि संबंध माना जायगा तो वह बिना कारणके अकस्मात् होगा फिर जो मुक्तात्मा है उसके भी वह आकस्मिक संबंध मानना पडेगा इसरीतिसे शरीर का संबंध होनेसे मुक्तात्माओंका ही अभाव होगा। तथा—

एकांतेनानादित्वे चानिर्मोक्षप्रसंगः ॥ ५ ॥

यदि तैजस और कार्मणका आत्माके साथ सर्वथा अनादिसंबंध ही माना जायगा तो जिसप्रकार आकाश पदार्थ अनादि है उसका अंत नहीं होता उसी प्रकार तैजस कार्मणका संबंध भी अनादि होनेसे उसका भी नाश न हो सकेगा फिर वह कार्य कारण संबंध भी न कहा जायगा इसरीतिसे तैजस कार्मण शरीरों की कभी भी नास्ति न होनेसे आत्माका मोक्ष ही न हो सकेगा इसलिये तैजस कार्मणका आत्माके साथ सर्वथा अनादि संबंध मानना अयुक्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

बीज और वृक्षका भी अनादि संबंध है किंतु अग्निके द्वारा बीज और वृक्षके भस्म हो जानेपर जिसप्रकार उनका अनादि भी संबंध नष्ट हो जाता है उसीप्रकार तैजस कार्मणका अनादि संबंध नष्ट हो सकता है इसलिये मोक्षका अभाव नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। बीर्य और वृक्षका कार्य कारण संबंध सर्वथा अनादि नहीं किंतु जिससमय सामान्यकी विवक्षा की जायगी उससमय अनादि संबंध है और जिससमय विशेष रूपसे विवक्षा है उससमय सादि है इसरीतिसे ऊपर जो यह कहा गया था कि किसी प्रकारसे अर्थात् सामान्यकी अपेक्षा आत्माके साथ तैजस और कार्मण शरीरका अनादि संबंध है और किसी प्रकारसे अर्थात् विशेषकी अपेक्षा सादि संबंध है यह बात युक्तियुक्त है ॥ ४१ ॥

तैजस और कार्मण शरीर खास खास जीवोंमें होते हैं वा सामान्यसे सभी जीवोंके होते हैं? सूत्रकार इस शंकाका उत्तर देते हैं—

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर सामान्यरूपसे समस्त संसारी जीवोंके होते हैं।

सर्वशब्दो निरवशेषवाची ॥ १ ॥

यहांपर सर्व शब्दका 'निरवशेष' अर्थ है अर्थात् ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवोंके होते हैं ।

संसरणधर्मसामान्यादेकवचननिर्देशः ॥ २ ॥

'सर्वस्य' यह जो एकवचनका उल्लेख किया गया है संसरणरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षा है अर्थात् तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर सामान्यरूपसे सब संसारियोंके होते हैं यदि किसीके वे दोनों शरीर न होंगे तो वह संसारी ही नहीं कहा जा सकता ॥ ४२ ॥

औदारिक आदि पांचो शरीर संसारी जीवोंके होते हैं यह सामान्यरूपसे कहा गया है, एकसाथ कितने तक हो सकते हैं यह नहीं कहा गया इसलिये जब एकसाथ आत्माम पांचो शरीरोंका प्रसंग आया तब एक साथ एक आत्माके कितने शरीरोंका संभव हो सकता है यह बात बतलानेकेलिए सूत्रकार कहते हैं—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

इन दोनों शरीरोंको आदि लेकर एक जीवके एकसाथ चार शरीर तक हो सकते हैं। अर्थात् दो हों तो तैजस कार्मण होते हैं। तीन हों तो औदारिक तैजस और कार्मण होते हैं अथवा वैक्रियिक तैजस और कार्मण भी होते हैं और यदि चार हों तो औदारिक आहारक तैजस और कार्मण होते हैं।

तद्ग्रहणं प्रकृतशरीरद्वयप्रतिनिर्देशार्थं ॥ १ ॥

तैजस और कार्मण इन दो शरीरोंका यहां प्रकरण चल रहा है इसलिये सूत्रमें जो तत् शब्द है उससे उन दोनोंका ग्रहण है।

आदिशब्देन व्यवस्थावाचिना शरीरग्रहणं ॥ २ ॥

'तदादीनि' यहां पर आदिशब्दका अर्थ व्यवस्था है और वह पूर्व सूत्रमें व्यवस्थितरूपसे कहे गये शरीरोंका आनुपूर्वी क्रम प्रतिपादन करनेवाला आदि शब्द विशेषण है इसरीतिसे 'ते आदिर्येषां तानि तदादीनि' अर्थात् वे तैजस और कार्मण शरीर जिनकी आदिमें हैं वे तदादि कहे जाते हैं यह तदादि शब्दका स्पष्ट अर्थ है। शंका—

पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेन्न, एकस्य द्वित्रिचतुःशरीरसंबंधविभागोपपत्तेः ॥ ३ ॥

भाज्यका अर्थ—'जुदे जुदे करने चाहिये यह है' औदारिक आदि शरीरोंके जुदे जुदे लक्षण माने गये हैं इसलिये वे स्वयं आपसमें जुदे जुदे होनेसे तथा आत्मासे भी जुदा होनेसे उनकी भिन्नता प्रतिपादन करनेकेलिये भाज्य शब्दका ग्रहण व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। किसी आत्माके तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर होते हैं। किसीके औदारिक तैजस और कार्मण वा वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये तीन ही शरीर होते हैं और किसीके औदारिक आहारक तैजस कार्मण ये चार शरीर होते हैं इसप्रकार दो तीन और चार शरीरोंकी भिन्नता प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्रमें भाज्य पदका उल्लेख किया गया है।

युगपदिति कालैकत्वे ॥ ४ ॥

युगपत् यह निपात शब्द है और उसका अर्थ एक काल है अर्थात् एक आत्माके दो तीन आदिका जो ऊपर नियम बतलाया गया है वह एक कालकी अपेक्षा है—एक कालमें एक आत्माके चारसे अधिक शरीर नहीं हो सकते किंतु कालके भिन्न होनेपर तो पांचो शरीर होते हैं।

आङभिविध्यर्थः ॥ ५ ॥

'आचतुर्भ्यः' यहां पर आङ्का अर्थ अभिविधि है इसलिये चार तक शरीर होते हैं यह अर्थ होता है। यदि मर्यादा अर्थ माना जाता तो चारसे भीतरके शरीर होते हैं यह अथ होता जो कि अनिष्ट था। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि एक जीवके पांचो शरीर एक कालमें क्यों नहीं होते? उसका समाधान शास्त्रकार देते हैं—

वैक्रियिकाहारकयोर्युगपदसंभवात् पंचाभावः ॥ ६ ॥

जिस संयमीके आहारक शरीर होता है उसके वैक्रियिक शरीर नहीं होता और जिस देव और नारकीके वैक्रियिक शरीर होता है उसके आहारक शरीर नहीं होता इसप्रकार आहारक और वैक्रियिक शरीरका आपसमें विरोध है इसलिये एक साथ एक जीवके पांचो शरीर नहीं हो सकते ॥ ४३ ॥

शरीरोंकी ही विशेषताके ज्ञानकेलिए और भी सूत्रकार कहते हैं—

निरुपभोगमंत्यं ॥ ४४ ॥

अंतका कार्मण शरीर उपभोगरहित है अर्थात् इंद्रियों द्वारा होनेवाले शब्द-आदिके उपभोगसे रहित है।

जो अंतमें हो उसका नाम अंत्य है। 'औदारिकवैक्रियिकेत्यादि' सूत्रके क्रमकी अपेक्षा यहां पर अंत्य शब्दसे कार्मण शरीरका ग्रहण है। सूत्रमें जो निरुपभोग शब्दका उल्लेख किया गया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि कार्मण शरीरसे अतिरिक्त जितने भी शरीर हैं सब सोपभोग हैं। शंका—

कर्मादाननिर्जरासुखदुःखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोगमिति चेन्न, विवक्षितापरिज्ञानात् ॥ १ ॥

इंद्रियनिमित्तशब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ॥ २ ॥

कार्मण काययोगके द्वारा कर्मोंका ग्रहण झडना और सुख दुःखका अनुभव होता है इसरीतिसे जब कर्मोंका ग्रहण निर्जरण और सुख दुःखके अनुभवमें कारण कर्म है तब कार्मण शरीर सोपभोगही सिद्ध होता है निरुपभोग नहीं इसलिए उसे निरुपभोग कहना अयथार्थ है? सो ठीक नहीं। इस प्रकरणमें जो उपभोगका अर्थ लिया गया है वह उपभोग कार्मण शरीरमें नहीं क्योंकि 'इंद्रियोंके द्वारा शब्द आदि का ग्रहण होना' यह यहांपर उपभोग शब्दका अर्थ लिया गया है। विग्रहगतिमें भावस्वरूप इंद्रियोंके रहते भी द्रव्यस्वरूप इंद्रियोंकी रचनाका अभाव है इसलिए शब्द आदिका अनुभव न होनेसे कार्मण शरीर निरुपभोग ही है सोपभोग नहीं इसरीतिसे हमारे विवक्षित उपभोगके अर्थको न समझकर जो वादीने कार्मण शरीरको सोपभोग सिद्ध करना चाहा था वह व्यर्थ हुआ। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि तैजस शरीर भी निरुपभोग है क्योंकि उक्त उपभोगका लक्षण उसमें नहीं घटता फिर कार्मणशरीर ही निरुपभोग क्यों कहा गया? उसका समाधान शास्त्रकार देते हैं—

तैजसस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारः ॥ ३ ॥

जो शरीर योगमें निमित्त हैं उन शरीरोंमें अन्तका शरीर निरुपभोग है औदारिक वैक्रियिक आहारक और कार्मण ये[1] चार शरीर योगमें कारण हैं इसलिये इन सबके अन्तमें रहनेवाले कार्मण शरीर को निरुपभोग कहा है तैजस शरीर योगका कारण ही नहीं माना गया इसलिये उपभोगके विचारमें उसका अधिकार न होनेसे उसे निरुपभोग नहीं कहा जा सकता। इस रीतिसे जब तैजस शरीरको

१—योगके पन्द्रह भेद हैं उनमें औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमि और कार्मण ये सात भेद काययोगके माने गए हैं इनमें तैजसयोग नामका कोई भी भेद नहीं माना गया इसलिए तैजस योगमें कारण नहीं है।

निरुपभोगपना सिद्ध न हो सका तब कार्मण शरीरसे भिन्न सब शरीर सोपभोग हैं इस विवक्षित बात की स्पष्टरूपसे सिद्धि हो गई।

जन्मोंके लक्षण और भेद ऊपर कह दिये गए हैं उनमें होनेवाले जो औदारिक आदि शरीर बतलाए हैं वहांपर यह शंका होती है कि इन पांचों शरीरोंकी उत्पत्ति समानरूपसे है कि कुछ विशेषता है? विशेषता है ऐसा हृदयंगम कर सूत्रकार सबोंकी विशेषता बतलाते हुए पहिले औदारिक शरीरकी विशेषता बतलाते हैं—

गर्भसंमूर्छनजमाद्यं ॥ ४५ ॥

जिसकी उत्पत्ति गर्भ और संमूर्छनजन्मसे है वह औदारिक शरीर है।

जो आदिमें हो वह आद्य कहा जाता है, औदारिक वैक्रियिकेत्यादि सूत्रकी अपेक्षा आद्य शब्दसे यहां औदारिक शरीरका ग्रहण है॥ ४५॥

औदारिक शरीरके बाद सूत्रमें वैक्रियिक शरीरका उल्लेख किया गया है इसलिये वहांपर भी यह शंका होती है कि उसकी उत्पत्ति किस जन्ममें मानी है? सूत्रकार उसका समाधान देते हैं—

औपपादिकं वैक्रियिकं ॥ ४६ ॥

जिसकी उत्पत्ति उपपाद जन्ममें है वह वैक्रियिक शरीर कहा जाता है।

१—कर्मादानसुखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोगं कार्मणमिति चेन्न विवक्षितापरिज्ञानात्। इंद्रियनिमित्ता हि शब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः तस्मान्निष्क्रांतं निरुपभोगमिति विवक्षितं। तैजसमप्येवं निरुपभोगमस्त्विति चेन्न तस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारात्। यदेव हि योगनिमित्तमौदारिकादि तदेव सोपभोगं प्रोच्यते निरुपभोगत्वादेव च कार्मणमौदारिकादिभ्यो भिन्नं निश्चीयते। श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३४१।

जो उपपादमें हो अर्थात् देव नारकियोंकी उपपाद शय्यासे उत्पन्न हो वह औपपादिक कहा जाता है 'अध्यात्मादित्वादेक:' इस सूत्रसे उपपाद शब्दसे इक् प्रत्यय करनेपर 'औपपादिक' शब्दकी सिद्धि होती है। इस रीतिसे जो उपपाद जन्ममें हो वह वैक्रियिक शरीर है ॥ ४६ ॥

संयमी आदि मनुष्योंके भी वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्ति मानी है। यदि सामान्यरूपसे यही कहा जायगा कि जिस शरीरकी उत्पत्ति उपपाद जन्ममें हो वही वैक्रियिक है तब अनौपपादिक अर्थात् मनुष्योंमें और तिर्यंचोंमें जो वैक्रियिक शरीर होता है वह वैक्रियिक नहीं माना जायगा। सूत्रकार इस विषयकी स्पष्टता करते हैं—

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

वैक्रियिक शरीर लब्धिसे अर्थात् तपोविशेषरूप ऋद्धिप्राप्तिके निमित्तसे भी होता है। 'लब्धिप्रत्ययं च' इस सूत्रमें ऊपरके सूत्रसे वैक्रियिक शब्दकी अनुवृत्ति आती है।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातः कारणगतिः ॥ १ ॥

प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' अर्थ शब्द और ज्ञान ये तीन पदार्थ हैं यहां पर प्रत्यय शब्दका अर्थ ज्ञान है। 'प्रत्ययं कुरु—सत्यं कुरु इत्यर्थः' सत्य मानो, यहांपर प्रत्यय शब्दका सत्य अर्थ है। 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः प्रत्ययाः' मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये कारण हैं यहांपर प्रत्यय शब्दका अर्थ कारण है। प्रकृतमें भी प्रत्यय शब्दके कारण अर्थकी ही विवक्षा है इसलिये यहांपर भी कारणार्थक प्रत्यय शब्दका ही ग्रहण है।

तपोविशेषर्द्धिप्राप्तिर्लब्धिः ॥ २ ॥

तपके बलसे ऋद्धिकी प्राप्ति होना लब्धि है। जिसकी उत्पत्तिमें लब्धि कारण हो वह लब्धिप्रत्यय कहा जाता है। वार्तिककार लब्धि और उपपाद शब्दका विशेष बतलाते हैं—

निश्चयकादाचित्कीकृतो विशेषो लब्ध्युपपादयोः ॥ ३ ॥

उपपाद, जन्मका कारण है अर्थात् जन्म स्वरूप ही है इसलिये वह तो निश्चयसे होता ही है परंतु लब्धिका होना निश्चय रूपसे नहीं वह कभी होती है और कभी नहीं भी होती है क्योंकि उत्पन्न हुए पुरुषके पीछे तपके विशेष आदिकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति मानी है इसप्रकार नियमित रूपसे उपपाद होता है कादाचित्क रूपसे लब्धि होती है यही विशेषता उपपाद और लब्धिमें है। शंका—

सर्वशरीराणां विनाशित्वाद्वैक्रियिकविशेषानुपपत्तिरिति चेन्न विवक्षितापरिज्ञानात् ॥ ४ ॥

विक्रियाका अर्थ विशेष नाश है वह सब शरीरोंमें समान रूपसे होनेवाला पदार्थ है क्योंकि प्रति समय हर एक शरीरमें घटना बढना और विनाश माना गया है इसरीतिसे जब सबही शरीर विक्रिया के संबंधसे वैक्रियिक हैं तब वैक्रियिक शरीरमें कोई विशषता न रहनेपर भी उसे जुदा शरीर मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। विक्रिया शब्दका जो अर्थ हमें इष्ट है शंकाकारने उसे नहीं समझा, यहांपर विक्रिया शब्दका अर्थ विनाश नहीं किंतु अनेक प्रकारके विकृत आकारोंका धारण करना है खुलासा रूपसे वह इसप्रकार है—

विक्रिया दो प्रकारकी मानी है एक एकत्वविक्रिया दूसरी पृथक्त्वविक्रिया। अपने ही शरीरको सिंह बाघ हंस कुरुर (पक्षि विशेष) रूप परिणमा देना एकत्वविक्रिया है और अपने शरीरका भिन्न मकान मंडप आदि परिणत हो जाना पृथक्त्व विक्रिया है। भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और कल्पवासी

देवोंके वह दोनोंप्रकारकी विक्रिया होती है। सोलहस्वर्गके ऊपरके देवोंमें एकत्व विक्रिया ही होती है और वह भी प्रशस्त ही होती है अप्रशस्त नहीं। छठे नरकतकके नारकियोंका शरीर त्रिशूल चक्र खड्ग मुद्गर फरसा भिंडिमाल आदि अनेक आयुधस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिये छठे नरक पर्यंत के नारकियोंके एकत्व ही विक्रिया होती है पृथक्त्वविक्रिया नहीं। सप्तम नरकके नारकियोंका शरीर अनेक प्रकारके आयुधरूप नहीं परिणमता किंतु महागो नामके कीडेके प्रमाण लालवर्ण कुंथु जीवके शरीर स्वरूप परिणमता है इसलिये वहांपर भी एकत्व विक्रिया ही है पृथक्त्व विक्रिया नहीं। तिर्यंचोंमें शरीरका कुमार युवा आदि परिणाम होता है इसलिये वहां भी विशेषरूप एकत्व विक्रिया ही है पृथक्त्व विक्रिया नहीं और मनुष्योंमें तप और विद्या आदिके द्वारा विशिष्ट एकत्व और पृथक्त्व दोनों प्रकारकी विक्रिया होती है इसलिये वहांपर दोनों प्रकारकी विक्रियाओंका विधान है ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त लब्धिके द्वारा वैक्रियिक शरीरकी ही उत्पत्ति होती है वा अन्य भी किसी शरीरकी उत्पत्ति होती है ऐसी शंका होनेपर वैक्रियिक शरीरसे भिन्न भी शरीर लब्धिजन्य हैं ऐसा सूत्रकार बतलाते हैं—

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

तैजस शरीर भी ऋद्धि होनेसे प्राप्त होता है इसलिए वह भी लब्धिकारणक है।

औदारिकेत्यादि सूत्रमें वैक्रियिकके बाद आहारक शरीरका उल्लेख किया गया है इसलिए वैक्रियिकके बाद आहारक शरीरका ही वर्णन करना चाहिए अनवसरप्राप्त तैजस शरीरका क्यों किया गया वार्तिककार इस शंकाका समाधान देते हैं—

लब्धिप्रत्ययापेक्षार्थं तैजसग्रहणं ॥ १ ॥

इस सूत्रमें लब्धिप्रत्ययकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् तैजस शरीर लब्धिकारणक है इसलिए उस अनुवृत्तिकी अपेक्षा आहारकसे पहिले तैजस शरीरका वर्णन किया गया है। यदि पीछे किया जाता तो 'लब्धिप्रत्यय'की अनुवृत्ति नहीं आती ॥ ४८ ॥

अब वैक्रियिक शरीरके बाद जिस शरीरका उल्लेख किया गया है उसके स्वरूप और स्वामीके प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

आहारक शरीर शुभ कार्यका उत्पादक—कारण होनेसे शुभ है। विशुद्ध कर्मका कार्य होनेसे विशुद्ध है। व्याघातरहित है और प्रमत्तसंयमी मुनिके ही होता है।

शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशोऽन्नप्राणवत् ॥ १ ॥

अन्न प्राणोंका कारण है और प्राण कार्य हैं तथापि वह जिसप्रकार कारण-प्राण, कह दिया जाता है और 'अन्नं वै प्राणाः' अन्न ही निश्चयसे प्राण हैं ऐसा संसारमें व्यवहार होता है उसीप्रकार आहारक शरीरका उत्पादक कारण आहारक काययोग शुभ है इसलिए आहारक शरीर भी शुभ कहा जाता है।

विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धाभिधानं कार्पासतंतुवत् ॥ २ ॥

जिसप्रकार तंतु कपासके कार्य हैं और कपास कारण है तथापि उपचारसे कार्यको कारण मान कर तंतुओंको कपास कह दिया जाता है और 'कार्पासा तांतवः' तंतु कपास हैं ऐसा संसारमें व्यवहार होता है उसीप्रकार आहारक शरीर भी विशुद्ध निर्दोष और स्वच्छ पुण्य कर्मका कार्य है इसलिए वह भी शुद्ध कह दिया गया है।

उभयतो व्याघाताभावादव्याघाति ॥ ३ ॥

न तो आहारक शरीरसे दूसरे किसी पदार्थकी रुकावट होती है और न अन्य किसी पदार्थसे आहारक शरीरकी रुकावट होती है इसरीतिसे दोनों प्रकारसे व्याघात न होनेसे आहारक शरीर अव्याघाति है।

चशब्दस्तत्प्रयोजनसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

आहारक शरीरसे जो जो प्रयोजन सिद्ध होते हैं उनके समुच्चयार्थ सूत्रमें चशब्दका उल्लेख किया गया है। वे प्रयोजन इसप्रकार हैं—

किसी समय कोई विशेष लब्धि प्राप्त हो जाय उससमय उसकी सत्ता जाननेकेलिए आहारक शरीर प्रयोजनीय होता है । किसी समय सूक्ष्म पदार्थके निर्धारणकेलिये आहारक शरीरका प्रयोजन पडता है, असंयम दूर करने अथवा संयमको पालनेकेलिये भी उसका प्रयोजन है। तथा जिससमय भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें तीर्थकरोंकी विद्यमानता न हो और प्रमत्तसंयमी मुनिको ऐसी तत्त्वविषयक शंका उपस्थित हो जाय कि उसका समाधान केवली वा श्रुतकेवलीके विना न हो सके इसलिये महाविदेह क्षेत्रोंमें जहां कि केवली विराजमान हों वहां उनके जानेकी इच्छा होजाय और यदि मैं औदारिक शरीर से जाऊंगा तो जीवोंका विघातरूप महान असंयम होगा ऐसा विचारकर वह औदारिक शरीरसे जाना उचित न समझें उससमय वह संयमकी रक्षार्थ आहारक शरीरका निर्माण करते हैं इसलिये संयमकी रक्षा भी आहारक शरीरका प्रयोजन है।

आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः ॥ ५ ॥

'आहारक शरीर शुभ विशुद्ध और अव्याघाती है' यह बतलानेकेलिये सूत्रमें आहारक शरीरका उल्लेख है।

प्रमत्तसंयतग्रहणं स्वामिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

जिससमय मुनि आहारक शरीरकी रचनाकेलिये उद्यत होते हैं उससमय वे प्रमत्त हो जाते हैं इसलिये आहारक शरीरका कौन स्वामी है ? यह बतलानेकेलिए सूत्रमें 'प्रमत्तसंयत' शब्दका उल्लेख किया गया है।

इष्टतोऽवधारणार्थमेवकारोपादानं ॥ ७ ॥

'प्रमत्तसंयतस्यैव' यहां पर जो एव शब्दका उल्लेख किया गया है वह प्रमत्तसंयमी मुनिके ही आहारक शरीर होता है अन्यके नहीं, यही समझा जाय किंतु प्रमत्तसंयमीके आहारक ही शरीर होता है औदारिक आदि नहीं इसलिये उसके औदारिक आदि शरीरोंकी निवृत्ति है, यह न समझा जाय इस इष्ट अवधारणकेलिये सूत्रमें एव शब्दका उल्लेख किया गया है।

एषां शरीराणां परस्परतः संज्ञास्वालक्षण्यस्वकारणस्वामित्वसामर्थ्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनकालांतरसंख्याप्रदेशभावाल्पबहुत्वादिभिर्विशेषोऽवसेयः ॥ ८ ॥

औदारिक वैक्रियिक आदि पांचों शरीरोंमें संज्ञा स्वलक्षण स्वकारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अंतर संख्या प्रदेश भाव और अल्पबहुत्व आदिसे आपसमें भेद माना गया है। जो अर्थ ऊपर कहा गया है और जो नहीं कहा गया है उन दोनोंके संग्रहके लिये अर्थात् शरीरोंकी संज्ञा आदि कुछ बातें कह दी गई हैं और बहुत सी नहीं कही गई हैं उन दोनोंके संग्रहार्थ यह वार्तिक कही गयी है। वह संज्ञा आदिका भेद इसप्रकार है—

जिसप्रकार घट पट आदिके नाम भिन्न भिन्न हैं इसलिए आपसमें उनका भेद है उसीप्रकार औदारिक वैक्रियिक आदिके नाम भी भिन्न भिन्न हैं इसलिए उनका भी आपसमें भेद है। लक्षणकी अपेक्षा भेद इसप्रकार है—जिसका स्वरूप स्थूलता लिये हो वह औदारिक शरीर है। जो अनेक प्रकारके ऋद्धिगुणोंसे युक्त विकारस्वरूप परिणमनेवाला हो वह वैक्रियिक शरीर है। जिनका ज्ञान कठिनतासे हो ऐसे सूक्ष्म पदार्थके स्वरूपका निर्णय करना जिसका लक्षण हो वह आहारक शरीर है। जो शंखके समान श्वेत वर्णका हो वह तैजस शरीर है। उसके दो भेद हैं एक निःसरणस्वरूप दूसरा अनिःसरणस्वरूप। औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरके अंदर रहनेवाला और शरीरकी दीप्तिका कारण जो शरीर हो वह अनिःसरणात्मक तैजस शरीर है और जो तीक्ष्ण चारित्रके धारक अत्यंत क्रुद्ध यतिके औदारिक शरीरसे आत्मप्रदेशोंके साथ बाहर निकलकर और जलानेयोग्य पदार्थोंको चारो ओरसे वेष्टित कर विद्यमान हो और जिसप्रकार धान्यकी राशि और हरे हरे पदार्थोंसे परिपूर्ण स्थानको अग्नि जला डालती है और जलाकर ही उसका पीछा छोडती है बीचमें नहीं बुझती उसीप्रकार तैजस शरीरने जितने पदार्थोंको जलानेके लिये व्याप्त कर रक्खा है वे जबतक नहीं जल जाते तबतक बहुत कालतक उन पदार्थोंको व्याप्त किये जलाता रहे और जलाकर ही पीछा छोडे वह निःसरणात्मक तैजस शरीर है। तथा समस्त कर्म और शरीरोंका उत्पन्न करना ही जिसका लक्षण हो वह कार्मण शरीर है। इसप्रकार क्षणोंके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

कारणकी अपेक्षा भेद—औदारिक शरीरकी उत्पत्तिमें औदारिक शरीर नामकर्म कारण है। वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्तिमें वैक्रियिक शरीर नामकर्म कारण है। आहारक शरीरकी उत्पत्तिमें आहारक

शरीर नाम कर्म कारण है, तैजस शरीरकी उत्पत्तिमें तैजस नाम कर्म कारण है और कार्मण शरीरकी उत्पत्तिमें कार्मण शरीर नाम कर्म कारण है इसप्रकार कारणके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

स्वामिभेद—आहारक शरीर तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। वैक्रियिक शरीर देव नारकी तेजकायिकजीव वातकायिकजीव तथा पंचेंद्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जीव स्थानमें योगोंके भंग वर्णन करते समय सातप्रकारके काययोगोंकी प्ररूपणामें औदारिक काय योग और औदारिक मिश्रकाय योग तिर्यंच और मनुष्योंके कहा गया है और वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोग देव और नारकियोंके कहा गया है परंतु यहांपर वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोगोंको तिर्यंच और मनुष्योंके भी बतलाया है इसलिये यह कथन आगमका विरोधी है? सो ठीक नहीं। अन्य ग्रंथोंमें भी तिर्यंच और मनुष्योंके भी वैक्रियिककाय योग और वैक्रियिक मिश्रकाययोगका उल्लेख किया गया है इसलिये कोई दोष नहीं है। यदि कदाचित् फिर यह शंका उठाई जाय कि—

व्याख्याप्रज्ञप्तिके दंडकोंमें शरीरोंके भंगोंके वर्णन करते समय वायुकायिक जीवोंके सामान्यरूपसे औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये चार शरीर कहे गये हैं। मनुष्योंके भी ये ही चार शरीर कहे गये हैं। परंतु सूत्रमें वैक्रियिक शरीरको औपपादिक और लब्धिप्रत्यय माना है इसरूपसे सामान्यतासे वह सब मनुष्योंके नहीं हो सकता तथा वायुकायिक जीवोंके भी वैक्रियिक शरीर सामान्यरीतिसे नहीं कहा गया है इसलिये यहांपर आगमके विरुद्ध कथन है? सो भी ठीक नहीं। समस्त देव और

समस्त नारकियोंके सर्वकाल वैक्रियिक शरीरका संबंध रहता है इसलिये प्रधानतासे देव और नारकियोंके वैक्रियिक शरीरका संबंध कहा गया है और तिर्यंच एवं मनुष्योंके लब्धिकारणक वैक्रियिक सर्वकाल नहीं रहता उसका कादाचित्क संबंध—कभी रहता है कभी नहीं रहता है इसलिये उनके वैक्रियिक शरीरका संबंध प्रधानतासे नहीं बतलाया गया यह तो सूत्रका तात्पर्य है और व्याख्याप्रज्ञप्ति दंडकोंमें तिर्यंच और मनुष्योंके चारो शरीरोंका संभव मानकर सामान्यरूपसे उनके अस्तित्वका प्रदर्शन करादिया है इसलिये प्रकरणानुकूल अपने अपने अभिप्रायकी अपेक्षा कथन होनेसे कोई विरोध नहीं तथा आहारक शरीर प्रमत्तसंयमी मुनिहीके होता है और तैजस कार्मण दोनों शरीर समस्त संसारियोंके होते हैं इसप्रकार स्वामियोंके भेदसे भी औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

सामर्थ्यभेद—औदारिक शरीरकी सामर्थ्य दो प्रकारकी है एक भवकारणक, दूसरी गुणकारणक। तिर्यंचोंमें सिंह अष्टापद आदि और मनुष्योंमें चक्रवर्ती वासुदेव आदिमें सामर्थ्यकी अधिकता और हीनता दीख पडती है यह भवकारणक सामर्थ्य है क्योंकि चक्रवर्ती वा अष्टापद आदिके होते ही वह सामर्थ्य भी प्रगट हो जाती है और तपके बलसे मुनियोंके अंदर जो नाना प्रकारके शरीरोंका धारण रूप एक विशेष सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है वह गुणकारणक सामर्थ्य है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

ऋषियोंके शरीरोंके अंदर जो अत्यधिक सामर्थ्य प्रकट हो जाती है वह तपकी सामर्थ्य है औदारिक शरीरकी सामर्थ्य नहीं? सो ठीक नहीं। विना औदारिक शरीरके केवल तपकी अनेक प्रकारके शरीरोंका धारण करनास्वरूप अनुपम वैसी सामर्थ्य नहीं हो सकती इसलिये वह सामर्थ्य तपकी न मानकर औदारिक शरीरकी ही माननी होगी।

मेरुपर्वतको चल विचल कर देना, समस्त भूमंडलको उलट पुलट देना आदि सामर्थ्य वैक्रियिक शरीरकी है। किसी भी पदार्थके द्वारा शक्तिका प्रतिघात न होना यह आहारक शरीरकी सामर्थ्य है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

वज्र पटल आदिसे वैक्रियिक शरीरका भी प्रतिघात नहीं होता इसलिये इसकी सामर्थ्य भी अप्रतिहत है फिर आहारक शरीरको ही अप्रातिहत सामर्थ्यवाला क्यों बतलाया गया है? सो ठीक नहीं। इंद्र सामानिक त्रायस्त्रिंश आदि सभी देव वैक्रियिक शरीरके धारक हैं परंतु उनकी सामर्थ्यमें अधिकता और हीनता है। इंद्रकी सामर्थ्य सबसे अधिक है। उससे कम सामानिक देवोंकी है उससे कम त्रायस्त्रिंश देवोंकी है इत्यादि क्रमसे नीचे नीचेके देवोंमें सामर्थ्यकी हीनता है इसलिये हीनाधिकताके कारण नीचे नीचेके देवोंकी सामर्थ्य ऊपर ऊपरके देवोंकी सामर्थ्यसे प्रतिहत कर दी जाती है तथा अनंतवीर्य नामके यतिने इंद्रकी सामर्थ्यको प्रतिहत कर दिया था ऐसा शास्त्रका उल्लेख भी है इसलिये वैक्रियिक शरीरकी सामर्थ्य प्रतिहत हो जानेके कारण वह अप्रतिहत सामर्थ्यवान् नहीं हो सकता किंतु समस्त आहारक शरीरोंकी सामर्थ्य समानरूपसे है—एक दूसरेसे प्रतिहत नहीं हो सकता इसलिये आहारक शरीर ही अप्रातिहत सामर्थ्यवान् है।

यदि कोपका संबंध होगा तो तैजस शरीर जलाकर खाक करनेकी सामर्थ्य रखता है और यदि प्रसन्नताका संबंध होगा तो अनेक प्रकारके उपकार कर सकता है इसलिये कोप और प्रसन्नताकी अपेक्षा तैजस शरीरकी जलाना और उपकार करना दोनों प्रकारकी सामर्थ्य है और समस्त कर्मोंको अवकाश दान देना यह कार्मण शरीरकी सामर्थ्य है। इसप्रकार सामर्थ्यकी अपेक्षा भी औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

प्रमाणसे भेद–सूक्ष्म निगोदिया जीवके शरीरका प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग होता है इस लिए औदारिक शरीरका सर्व जघन्य प्रमाण तो अंगुलके असंख्यातवें भाग है और आठवें द्वीप नंदीश्वरकी वापीके कमलके शरीरका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजनका है इसलिए औदारिक शरीरका उत्कृष्ट प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन है। सर्वार्थसिद्धिके देवोंका वैक्रियिक शरीर एक अरत्नि–हाथ प्रमाण है इसलिए जघन्यरूपसे तो वैक्रियिक शरीरका प्रमाण एक हाथ है और सातवें नरकके नारकियोंके शरीरका प्रमाण पांचसै धनुषका है इसलिए उत्कृष्टरूपसे वैक्रियिक शरीरका प्रमाण पांचसै धनुषका है। तथा देव जंबूद्वीपके समान अपने शरीरकी विक्रिया कर सकते हैं इसलिए विक्रियाकी अपेक्षा उत्कृष्ट शरीर जंबूद्वीपके समान एक लाख योजनप्रमाण है। आहारक शरीरका प्रमाण एकही हाथका (अरत्नि) है। जिस कालमें जितने प्रमाणका औदारिक शरीर धारण किया है जघन्यतासे तो उतना ही तैजस और कार्मण शरीरोंका प्रमाण है और केवलिसमुद्घात अवस्थामें वे समस्त लोकमें फैल जाते हैं इसलिए उत्कृष्टतासे केवलिसमुद्घातकी अपेक्षा तैजस और कार्मणशरीरोंका प्रमाण सर्वलोक–असंख्येय प्रदेश समान है। इसप्रकार यह प्रमाणोंके भेदसे औदारिक वैक्रियिक आदिका आपसमें भेद है।

क्षेत्रसे भेद–औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका क्षेत्र लोकके असंख्यातवां भाग है और तैजस कार्मण शरीरोंका असंख्यातभाग एवं प्रतर वा लोकपूरण समुद्घातोंमें सर्वलोक है। इसप्रकार यह क्षेत्रके भेदसे औदारिक आदिका भेद है।

स्पर्शनसे भेद–एक जीवकी अपेक्षा औदारिक आदिके स्पर्शका आगे व्याख्यान किया जायगा।

सर्व जीवोंकी अपेक्षा उसका कथन इसप्रकार है—औदारिक शरीरद्वारा तिर्यंचोंसे समस्त लोक स्पृष्ट है और मनुष्योंसे लोकका असंख्यातवां भाग स्पृष्ट है। मूल वैक्रियिक शरीरसे लोकका असंख्यातवां भाग और उत्तर वैक्रियिक शरीरसे आठ राजू और उससे कुछ कम चौदह भाग स्पृष्ट है। और वे इस-प्रकार हैं—

सौधर्मस्वर्गनिवासी देव स्वयं और अन्य देवोंकी सहायताकी प्रधानतासे आरण और अच्युत स्वर्गपर्यंत विहार कर आते हैं इसलिए ऊपर वे छह राजूपर्यंत लोकके क्षेत्रका स्पर्श करते हैं और अपनी ही प्रधानतासे नीचे वालुका पृथ्वी पर्यंत विहार करते हैं इसलिए नीचे दो राजू क्षेत्रका स्पर्श करते हैं इसरीतिसे वे कुछ अधिक आठराजू क्षेत्रका स्पर्श करते हैं। आहारक शरीरसे लोकका असंख्यातवां भाग स्पृष्ट होता है और तैजस एवं कार्मण शरीरोंसे समस्त लोक स्पृष्ट होता है। इसप्रकार यह स्पर्शनके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है। एक जीवकी अपेक्षा कालके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद आगे कहा जायगा यहांपर अनेक जीवोंकी अपेक्षा भेद कहा जाता है—

कालसे भेद—औदारिकमिश्रको छोडकर केवल औदारिक शरीरका जघन्य काल मनुष्य और तिर्यंचोंके अंतर्मुहूर्तप्रमाण है और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त कम तीन पल्य प्रमाण है और वह अंतर्मुहूर्तकाल अपर्याप्तकका काल है क्योंकि अपर्याप्त अवस्थामें औदारिकमिश्रकी विद्यमानता रहती है। मूलवैक्रि-यिक और उत्तरवैक्रियिकके भेदसे वैक्रियिक शरीरको दो प्रकारका माना है। उनमें देवोंकी अपेक्षा मूल वैक्रियिक शरीरका जघन्यकाल अपर्याप्तकका अंतर्मुहूर्तकाल घाटि दश हजार वर्ष प्रमाण है और

१—यह वैक्रियिक मिश्रका काल है इसीतरह आगे भी समझ लेना चाहिये।

उत्कृष्टकाल अपर्याप्तकका अंतर्मुहूर्तप्रमाण घाटि तेतीस सागर प्रमाण है। तथा उत्तर वैक्रियिकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण है इसीप्रकार नारकियोंका भी समझ लेना चाहिए। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

तीर्थंकरका जन्म और नंदीश्वरके चैत्यालय आदिकी पूजार्थ देवतागण जाते हैं और वहांपर उन्हें अधिक समय तक रहना पडता है तथा उससमय उनका उत्तर वैक्रियिक शरीर ही रहता है क्योंकि मूल वैक्रियिक शरीर उनका कहीं भी नहीं जाता। यदि उत्तर वैक्रियिकका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण माना जायगा तो अधिकसमयसाध्य तीर्थंकरके जन्म आदिमें देवोंका आना न बन सकेगा ? सो ठीक नहीं। यद्यपि उससमय उनका उत्तर वैक्रियिक शरीर ही होता है परंतु फिर फिरसे उनकी विक्रियाकी लडी बंधी रहती है वह टूटती नहीं इसलिए अधिक समयसाध्य कार्यके करनेमें भी किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। आहारक शरीरका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। यौगपद्येन तैजस और कार्मण कर्मोंका संतानकी अपेक्षा अभव्योंके अनादि अनंतकाल है और जो भव्य अनंतकालके बाद भी मोक्ष न प्राप्त कर सकेंगे उनके भी अनादि अनंत काल है किंतु जो भव्य मोक्ष प्राप्त करेंगे उनकी अपेक्षा अनादि सांतकाल है तथा एक निषेककी अपेक्षा एक समयमात्र काल है किंतु पृथक्रूपसे तैजसका काल छ्यासठि सागर प्रमाण माना गया है और कार्मण शरीरका सत्तर कोडाकोडी प्रमाणकाल है। इसप्रकार यह कालके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है। अंतरका अर्थ विरहकाल है। एक जीवकी अपेक्षा तो अंतरके भेदसे औदारिक आदि पांचोंके भेद आगे कहे जांयगे। अनेक जीवोंकी अपेक्षा इसप्रकार है—

१—मोहनीय कर्मकी स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण मानी है उसकी अपेक्षा यह कथन है। 'सप्ततिर्मोहनीयस्य'

अंतरसे भेद—औदारिकमिश्रको छोडकर केवल औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। यहांपर अंतर्मुहूर्तसे औदारिकमिश्रके कालका ग्रहण है और वह अंतर्मुहूर्तप्रमाण अंतर इसप्रकार है—

चारों गतियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव तिर्यंच वा मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ वहांपर अंतर्मुहूर्तपर्यंत अपर्याप्तक रहकर पीछे पर्याप्त हो अंतर्मुहूर्तकालप्रमाण जीकर मर गया फिर तिर्यंच वा मनुष्योंमें किसी एक पर्यायमें उत्पन्न हुआ और अंतर्मुहूर्तपर्यंत अपर्याप्तक रहकर पीछे पर्याप्तक हो गया इसप्रकार औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है अर्थात्—यहां पर्याप्त अवस्थासे पहिलेकी अवस्थामें औदारिकमिश्र होता है और जीवके पर्याप्तक होते ही उसका शरीर औदारिक कहा जाता है उस औदारिक शरीरकी प्रकटता अंतर्मुहूर्तके वाद होती है इसलिए औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है तथा उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है क्योंकि जो मनुष्य तेतीस सागरकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ और आयुके क्षय हो जानेपर मरकर फिर मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ वहां पर अंतर्मुहूर्त तक तो वह अपर्याप्तक ही रहेगा और उसके औदारिकमिश्र शरीर होगा पीछे पर्याप्तक होनेपर उसका औदारिक शरीर कहा जायगा इसलिए अंतर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरके वाद औदारिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे उसका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागर प्रमाण है।

वैक्रियिक शरीरका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है क्योंकि मनुष्य वा तिर्यंच मरकर दशहजार वर्षकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ, वहांकी आयु समाप्तकर फिर मनुष्य वा तिर्यंच होकर और अंतर्मुहूर्तप्रमाण अपर्याप्तकके कालका अनुभवकर फिर देवोंमें उत्पन्न हुआ इसप्रकार अंतर्मुहूर्तके बाद वैक्रियिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे वैक्रियिक शरीरका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। तथा वैक्रियिक शरीरका

उत्कृष्ट अंतर अनंतकाल प्रमाण है क्योंकि कोई जीव देवपर्यायसे च्युत होकर और अनंतकाल पर्यंत तिर्यंच और मनुष्योंमें घूमकर फिर देव हुआ वहांपर अपर्याप्तकका काल अंतर्मुहूर्तकालको अनुभवकर वह वैक्रियिक शरीर प्राप्त करता है इसलिए अनंत कालके बाद वैक्रियिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट अंतर अनंतकालका कहा जाता है।

आहारकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तकालका है क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनि आहारक शरीरकी रचनाकर, अंतर्मुहूर्तपर्यंत उस आहारक शरीर सहित विद्यमान होकर जिसकार्यके लिये उस आहारक शरीरका निर्माण किया गया है उसके कार्यको समाप्त करता है पीछे फिर किसी लब्धिके कारण अंतर्मुहूर्त ठहरकर आहारक शरीरका निर्माण करते हैं । इसरीतिसे अंतर्मुहूर्तके बाद आहारक शरीरका निर्माण होनेसे जघन्य अंतर उसका अंतर्मुहूर्तकाल है और उसका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालका है क्योंकि जिस जीवने अनादिकालीन मिथ्यादर्शन मोह कर्मको उपशमाकर उपशम सम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त किया है जो उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर वेदकसम्यक्त्वी बन अंतर्मुहूर्त ठहरकर अप्रमत्तगुणस्थानमें आहारक शरीरका बंधकर फिर प्रमत्तगुणस्थानमें आया "क्योंकि आहारक शरीरके बंध होते ही प्रमत्तगुणस्थान हो जाता है यह नियम है" वहांपर आहारक शरीरको रचकर और उसे मूल शरीरमें प्रविष्टकर मिथ्यात्वी बना, वह जीव अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परिवर्तनकालप्रमाण संसारमें घूमकर मनुष्य हुआ, पूर्वोक्तप्रकारसे सम्यक्त्व पाकर असंयत सम्यग्दृष्टि वा संयतासंयत दोनों गुणस्थानोंमें किसी एक जगहपर दर्शनमोहका क्षयकर और संयमको प्राप्तकर उसने सातवे गुणस्थानमें आहारक शरीरका बंध किया उसीसमय उसका छठा गुणस्थान भी हो गया

उससमय छठे गुणस्थानमें वह जीव आहारक शरीरकी रचना करता है इसलिये यहां आहारक शरीरकी प्राप्ति तकके कालका प्रमाण अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परावर्तन काल होनेसे; आहारक शरीरका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण समझना चाहिये। आहारक शरीर जवतक अपना कार्य नहीं करता उसके पहिले चार अंतर्मुहूर्त कहे गये हैं वे इसप्रकार हैं—

दर्शनमोहोपशमसम्यक्त्वके समानकालीन संयम बताया गया है एक तो अंतर्मुहूर्त यह है। दूसरा वेदक सम्यक्त्वका अंतर्मुहूर्त है। तीसरा आहारक बंधका अंतर्मुहूर्त है और चौथा आहारककी रचनाका अंतर्मुहूर्त है। ये चार अंतर्मुहूर्त पहिले हो लेते हैं उसके बाद आहारक शरीरके कार्यका पांचवां अंतर्मुहूर्त है तथा प्रमत्तसे अप्रमत्त और अप्रमत्तसे प्रमत्त इसप्रकार अगणितवार उतरना चढना रूप कार्यको अनुभव करनेवाले जीवके अनेक अंतर्मुहूर्त होते हैं। पश्चात् अधःकरणकी विशुद्धिमें विशुद्ध होकर जीव थोडी देर ठहर जाता है तथा अधःकरणसे आगे अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय क्षीणकषाय सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थान है उन सबमें प्रत्येकका काल अंतर्मुहूर्त है। इन समस्त अंतर्मुहूर्तोंका काल मिलाकर जितना काल हो उसकालसे रहित अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल आहारक शरीरका उत्कृष्ट अंतर है।

अंतरका अर्थ विहरकाल ऊपर बतला दिया गया है जो पदार्थ सदा विद्यमान रहता है उसका विरहकाल नहीं हो सकता। तैजस और कार्मण शरीरोंका सदा काल जीवके साथ संबंध रहता है इसलिये उनका विरह काल नहीं। इसप्रकार यह अंतरकी अपेक्षा औदारिक आदिका आपसमें भेद है।

संख्यासे भेद—औदारिक शरीर असंख्यात लोकप्रमाण है। वैक्रियिक शरीर असंख्यात श्रेणी

प्रमाण है और वह असंख्यात श्रेणी लोकप्रतरका असंख्यातवां भाग है। आहारक संख्याते हैं और यहां संख्यात चौवन अक्षर प्रमाण लिया गया है। तैजस एवं कार्मण अनंतप्रमाण है और अनंतसे यहांपर अनंतानंतलोक लिया गया है। इसप्रकार यह संख्याके भेदोंकी अपेक्षा औदारिक आदिका आपसमें भेद है।

प्रदेशोंसे भेद—औदारिक शरीरके अनंतप्रदेश हैं और वह अनंत यहां अभव्योंका अनंतगुणा और सिद्धोंका अनंतवां भाग लिया गया है। अनंतके अनंत ही भेद माने हैं इसलिये बाकीके चारो शरीरोंमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक प्रदेश समझ लेने चाहिये। शरीरोंमें किस किस प्रकार प्रदेशोंकी अधिकता है यह बात ऊपर विस्तारके साथ कह दी गयी है। अर्थात्—औदारिक शरीरमें जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यात गुणे वैक्रियिक शरीरमें हैं। वैक्रियिक शरीरसे असंख्यातगुणे आहारक शरीरमें हैं। आहारक शरीरसे अनंतगुणे तैजस शरीरमें हैं और तैजस शरीरसे अनंतगुणे कार्मण शरीरमें हैं। इसप्रकार यह प्रदेशोंके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

भावसे भेद—औदारिक शरीर नाम कर्मके उदयसे औदारिक भाव हैं। वैक्रियिक शरीर नाम कर्मके उदयसे वैक्रियिक भाव है। आहारक शरीर नाम कर्मके उदयसे आहारक भाव हैं। तैजस शरीर नाम कर्मके उदयसे तैजस भाव हैं और कार्मण शरीर नाम कर्मके उदयसे कार्मण भाव हैं। इसप्रकार औदारिक आदि शरीरोंके भावोंके भेदसे आपसमें औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

अल्पबहुत्वसे भेद—सबसे थोडे आहारक शरीर हैं। उनसे असंख्येयगुणे वैक्रियिक शरीर हैं यहां पर गुणकार असंख्यात श्रेणि ली गई हैं और वे लोकप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण मानी गई हैं।

वैक्रियिक शरीरसे औदारिक शरीर असंख्यात गुणे हैं यहां पर गुणकार असंख्यात लोक प्रमाण माना गया है। औदारिक शरीरसे तैजस और कार्मण अनंतगुणे माने गये हैं। यहां पर सिद्धोंका अनंतगुणा गुणकार है इसप्रकार यह अल्पबहुत्वकी अपेक्षा औदारिक आदि शरीरोंमें आपसमें भेद है ॥ ४९ ॥

आत्माके आश्रित कार्मण शरीरके निमित्तसे होनेवाले शरीरोंके धारक एवं इंद्रियोंके संबंधसे अनेक भेदवाले देव नारकी आदि चारों प्रकारके संसारी जीवोंमें प्रत्येक जीवके क्या तीनों तीनों लिंग होते हैं कि कुछ लिंगोंका नियम है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार देते हैं—

नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

नारकी और संमूर्छन जीव नपुंसक होते हैं उनमें कोई भी जीव स्त्रीलिंग और पुंलिंग नहीं होता।

धर्मार्थकाममोक्षकार्यनरणान्नराः ॥ १ ॥

धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं इन चारो प्रकारके पुरुषार्थोंको जो करनेवाले हों वे नर कहे जाते हैं।

नरान् कायंतीति नरकाणि ॥ २ ॥ नृणंतीति वा ॥ ३ ॥ नरकेषु भवा नारकाः ॥ ४ ॥

असात वेदनीय कर्मसे होनेवाली शीत उष्णरूप वेदनासे जो जीवोंको रुलावें दुखावें वे नरक हैं। अथवा—

अहोरात्र पापसंचय करनेवाले प्राणियोंको जो अत्यंत दुःख दें—क्षणभर भी सुखके कारण न हों वे नरक हैं। उन नरकोंमें जाकर जो जीव उत्पन्न हों वे नारकी कहे जाते हैं।

१—यहां पर प्रदेशोंको अपेक्षा अल्पबहुत्व नहीं किंतु संख्याकी अपेक्षा अल्पबहुत्व लिया गया है।

संमूर्छनं संमूर्छः स एषामस्तीति संमूर्छिनः ॥ ५ ॥

चारों ओरसे होनेका नाम संमूर्छ है वह संमूर्छ जिन जीवोंके हो अर्थात् जिनकी उत्पत्तिका कोई निश्चित स्थान न हो, जो सब जगह चारो ओर उत्पन्न हों वे संमूर्छी जीव कहे जाते हैं। नारकाश्च संमूर्छिनश्च 'नारकसंमूर्छिनः' यह नारकसंमूर्छी शब्दका विग्रह है।

नपुंसकवेदाशुभनामोदयान्नपुंसकानि ॥ ६ ॥

मोहनीय कर्म दो प्रकारका है एक दर्शनमोहनीय दूसरा चारित्रमोहनीय। चारित्रमोहनीयके भी दो भेद हैं एक कषाय वेदनीय दूसरा नोकषाय वेदनीय। नोकषायवेदनीयके हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ भेद हैं। उनमें नपुंसकवेद और अशुभ नामकर्मके उदयसे जो जीव न स्त्री हों और न पुरुष हों वे नपुंसक कहे जाते हैं। यहांपर नारकी और संमूर्छन जीवोंके नपुंसक लिंग ही होता है अन्य कोई लिंग नहीं होता यह नियमस्वरूप कथन है। स्त्री और पुरुषोंके विषयभूत मनोज्ञ शब्दोंका सुनना सुगंधका सूंघना, मनोहर रूपका देखना, इष्ट रसका चाखना और इष्ट स्पर्शका स्पर्शन करनारूप कारणोंसे जायमान कण मात्र भी सुख, नारकी और संमूर्छन जीवोंको नहीं प्राप्त होता ॥ ५० ॥

जब नारकी और संमूर्छन जीवोंके स्त्रीलिंग और पुंल्लिंगका सर्वथा निषेध कर दिया तब यह स्वयं सिद्ध हो गया कि इनसे अवशिष्ट सब जीवोंमें तीनों लिंग होते हैं। परंतु देवोंमें नपुंसकलिंगका सर्वथा अभाव है इसलिए सूत्रकार इस विषयको स्पष्ट किए देते हैं—

न देवाः ॥ ५१ ॥

चारों प्रकारके देव नपुंसक नहीं हैं अर्थात् देवोंमें स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही वेद होते हैं नपुंसक-वेद नहीं होता।

स्त्रीपुंसविषयनिरतिशयसुखानुभवनाद्देवेषु नपुंसकाभावः ॥ १ ॥

शुभगति नामकर्मके उदयसे होनेवाला जो स्त्रीसंबंधी और पुरुषसंबंधी अनुपम सुख है निरंतर देव उसका भोग करते हैं इसलिए उनके नपुंसक लिंग नहीं होता। देवोंके स्त्री और पुरुष दो ही वेद होते हैं यह बात ऊपर कही जायगी ॥ ५१ ॥

यह समझ लिया कि नारकी और संमूर्छन जीवोंके नपुंसक वेद ही होता है अन्य कोई वेद नहीं होता तथा यह भी समझ लिया कि देवोंके सिवाय स्त्री और पुरुषवेदके नपुंसक वेद नहीं होता परंतु इससे भिन्न जो जीव हैं उनके कौन कौन वेद होते हैं यह नहीं कहा गया, सूत्रकार अब उस विषयको स्पष्ट करते हैं—

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

नारकी देव और संमूर्छन जीवोंसे भिन्न गर्भज तिर्यंच और मनुष्य तीनों वेदवाले अर्थात् पुरुष स्त्री और नपुंसक होते हैं ?

जिनके पुरुष स्त्री और नपुंसक ये तीन वेद हों वे त्रिवेद कहे जाते हैं। त्रयो वेदा येषां ते 'त्रिवेदाः' यह त्रिवेद पदका विग्रह है। स्त्री आदि तीनों वेदोंकी सिद्धि इसप्रकार है—

नामकर्मचारित्रमोहनोकषायोदयाद्वेदत्रयासिद्धिः ॥ १ ॥

नामकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मके भेद नोकषाय कर्मके उदयसे स्त्री आदि तीनों भेदोंकी उत्पत्ति होती है 'वेद्यत इति वेदः' जो अनुभव किया जाय उसका नाम वेद है और उसका अर्थ लिंग है । वह लिंग द्रव्यलिंग और भावलिंगके भेदसे दो प्रकारका है। नामकर्मके उदयसे योनि लिंग आदिकी रचना द्रव्यलिंग है और नोकषाय कर्मके उदयसे स्त्री आदि लिंगोंके अनुकूल इच्छाका होना भावलिंग है। स्त्री वेदके उदयसे जिसमें गर्भ ठहरे उसका नाम स्त्री है। पुरुष वेदके उदयसे जो संतानको पैदा करे उसका नाम पुरुष है और गर्भका ठहरना एवं संतान उत्पन्न करनारूप दोनो प्रकारकी सामर्थ्यसे जो विहीन हो वह नपुंसक है।

जिसतरह 'गच्छतीति गौः' जो जावे उसका नाम गाय है यहांपर गमनाक्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये मानी गई है प्रधानरूपसे नहीं। यदि प्रधानतासे मानी जायगी तो जिससमय गाय चलेगी उसी समय गाय कही जायगी सोते बैठते खडे होते समय उसे गाय न कहा जा सकेगा। इसलिये वहां गो-शब्द रूढि है उसीप्रकार स्त्यायतीति स्त्री इत्यादि स्थलोंपर भी गर्भधारण आदि क्रियायें केवल व्युत्पत्तिकेलिये हैं प्रधानतासे नहीं, यदि उन्हें प्रधानतासे माना जायगा तो जिससमय गर्भधारण आदि क्रियां होंगी उसीसमय स्त्री आदि कहे जांयगे किंतु बालक और वृद्ध तिर्यंच मनुष्य, तथा देव और कार्मण-काय योगोंमें स्थित जीव जिनमेंकि गर्भधारण और संतान उत्पादनकी सामर्थ्य नहीं उन्हें स्त्रीवेदी वा पुरुषवेदी न कहा जा सकेगा इसलिये स्त्री आदि शब्द रूढि हैं यौगिक नहीं।

स्त्री वेदको अंगारके समान माना है। पुरुषवेदको फूंसकी अग्निके समान माना है और नपुंसक

वेदको ईंटकी अग्नि अर्थात् अवेकी अग्निके समान माना है। सारार्थ पुरुषकी कामाग्नि फूंसकी अग्निके समान जल्दी शांत हो जाती है। अंगारकी अग्नि गुप्त और कुछकाल ठहरनेवाली होती है इसलिये स्त्रीकी कामाग्नि कुछकालतक ठहरनेवाली होती है। जहांपर ईंटे पकाई जाती हैं उस अवेकी आग बहुत कालतक रहती और सर्वदा धधकती रहती है इसलिये नपुंसककी कामाग्नि अधिक काल तक रहती है॥ ५२॥

जन्म योनि शरीर लिंगके भेदसे जिनका आपसमें भेद है और नाना प्रकारके पुण्य और पापोंकी अधीनतासे जिन्हें चारों गतियोंमें शरीर धारण करने पडते हैं ऐसे देव आदिकोंका जो ऊपर उल्लेख किया गया है वे जितनी आयु बांध चुके हैं उतनी आयुके पूर्ण हो जानेपर दूसरे शरीरोंको धारण करते हैं वा आयुके बीचमें ही उन्हें प्राप्त शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करना पडता है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार देते हैं—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः॥ ५३॥

देव नारकी चरमोत्तम देहधारी और असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीव, परिपूर्ण आयुवाले होते हैं। अर्थात् किसी भी कारणसे न्यून आयु होकर उनकी अकालमृत्यु नहीं होती।

औपपादिका उक्ताः॥ १॥

जिनका उपपाद जन्म हो वे औपपादिक कहे जाते हैं। देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है इसलिये देव और नारकी औपपादिक हैं।

चरमशब्दस्यांतवाचित्वात्तज्जन्मनि निर्वाणार्हग्रहणं॥ २॥

चरम शब्दका अर्थ अंतकी पर्याय है । जिन्होंने संसारकी यात्रा तय कर दी है और जो उसी पर्यायसे मोक्ष प्राप्त करते हैं यहां पर चरम शब्दसे उनका ग्रहण है । चरमो देहो येषां ते 'चरमदेहाः' यह यहां पर चरमदेह पदका विग्रह है ।

उत्तमशब्दस्योत्कृष्टवाचित्वाच्चक्रधरादिगृहणं ॥ ३ ॥

उत्तम शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है । जो उत्कृष्ट हों वे उत्तम कहे जाते हैं । मनुष्य आदिमें चक्रवर्ती आदि उत्तम हैं इसलिये सूत्रमें स्थित उत्तम शब्दसे यहां चक्रवर्ती आदिका ग्रहण है । उत्तमो देहो येषां ते 'उत्तमदेहाः' यह यहां पर 'उत्तमदेह' पदका विग्रह है ।

उपमाप्रमाणगम्यायुषोऽसंख्येयवर्षायुषः ॥ ४ ॥

जिनकी आयुकी एक दो आदि संख्यासे गणना न हो सके किंतु उपमाप्रमाण पल्य आदिसे गम्य हो उन्हें असंख्येयवर्षायु कहते हैं और वे उत्तर कुरु आदिमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच और मनुष्य हैं । अर्थात असंख्येयवर्षायु शब्दसे भोगभूमियां तिर्यंच और मनुष्योंका ग्रहण है ।

वाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः ॥ ५ ॥

उपघात-आयुके कमादेनेके वाह्य कारण विष शस्त्र आदिके द्वारा जो आयुका घट जाना है उसका नाम अपवर्त है । जिन जीवोंकी आयु विष शस्त्र आदिसे घट जानेवाली हो वे अपवर्त्य आयुवाले कहे जाते हैं और जिनकी आयु किसी भी विष शस्त्र आदि कारणोंसे घटनेवाली न हो वे अनपवर्त्य आयु-वाले हैं । ऊपर जो औपपादिक और चरमोत्तम देहधारी आदि कहे हैं उनकी आयु विष शस्त्र आदि वाह्य कारणोंके द्वारा घट नहीं सकती इसलिए वे अनपवर्त्य आयुवाले हैं । शंका—

अंत्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्शनादव्याप्तिः ॥ ६ ॥ न वा चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात् ॥ ७ ॥

लक्ष्यके एक देशमें ही लक्षणका रह जाना अव्याप्ति दोष कहा जाता है। चक्रवर्ती आदि उत्तम देहके धारी सब अनपवर्त्य आयुवाले हैं यहांपर यदि अनपवर्त्यायुपनारूप लक्षण उत्तम देहके धारक चक्रवर्ती आदि सबोंमें संघटित हो जाय तब तो वह निर्दोष माना जा सकता है किंतु बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और नवमें अर्धचक्री (नारायण) कृष्ण एवं इनके सिवाय और भी उत्तम देहधारियोंकी आयु का वाह्य कारणोंसे अपवर्त शास्त्रोंमें कहा गया है इसलिए उत्तम देहधारी ब्रह्मदत्त आदिमें लक्षणके न घटनेके कारण वह अव्याप्ति दोषग्रस्त है? सो ठीक नहीं। यहांपर चरम शब्दका उत्तम शब्द विशेषण है। इसलिए जो चरम और उत्तम देहका धारक होगा वही अनपवर्त्य आयुवाला हो सकता है किंतु जो केवल उत्तम देहका धारक होगा वह अनपवर्त्य आयुवाला नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त और कृष्ण आदिक यद्यपि उत्तम देहके धारक हैं परंतु चरमशरीरी नहीं इसलिए अनपवर्त्यायुरूप लक्षणके लक्ष्य न होनेके कारण उनमें लक्षण न जानेसे कोई दोष नहीं। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

उत्तमग्रहणमेवेति चेन्न तदनिवृत्तेः ॥ ८ ॥

सूत्रमें उत्तमशब्दका ग्रहण ही उपयुक्त है। उत्तम देहवाले ही अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं ऐसे अर्थमें कोई दोष नहीं, चरम शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही है? सो ठीक नहीं। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और कृष्ण आदि भी उत्तम देहके धारक हैं परंतु वे अनपवर्त्य आयुवाले नहीं। यदि सूत्रमें चरम शब्दका ग्रहण न किया जायगा तो ब्रह्मदत्त आदि उत्तम देहके धारकोंमें लक्षण न जानेसे ऊपर कहा हुआ अव्याप्तिदोष

ज्योंका त्यों तदवस्थ रहेगा। इसलिए चरम शब्दका ग्रहण व्यर्थ नहीं। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

चरमग्रहणमेवेति चेन्न तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात् ॥ ९ ॥

यदि उत्तम देह कहनेपर अव्याप्ति दोष आता है तब चरमदेह शब्द ही कह देना चाहिए। ब्रह्मदत्त और कृष्ण आदि उत्तम शरीरी होनेपर भी चरमशरीरी नहीं इसलिए अव्याप्ति दोषका भी संभव नहीं? सो भी ठीक नहीं। 'चरम देह समस्त देहोंमें उत्तम देह है' इस तात्पर्यके प्रगट करनेकेलिए सूत्रमें उत्तम शब्दका ग्रहण किया गया है इसलिए उसका ग्रहण व्यर्थ नहीं। कहीं कहींपर 'चरमदेहाः' इतना ही पाठ रक्खा है। उत्तम शब्दका उल्लेख ही नहीं किया है।

विशेष—वास्तवमें चरम शरीरका अर्थ यही है कि अब दूसरा शरीर धारण नहीं करना होगा उसी शरीरसे मोक्ष प्राप्त हो जायगी इसलिये जो शरीर मोक्षका साक्षात् कारण है वह स्वयं उत्तम है उसकी उत्तमता प्रगट करनेके लिये किसी भी शब्दकी आवश्यकता नहीं इसलिये वार्तिककारने 'चरमदेहाः' इति केषांचित् पाठः' ऐसा भी कहा है। इसलिये सूत्रमें जो उत्तम शब्दका उल्लेख किया गया वह केवल चरम शरीरके स्वरूप प्रगट करनेके लिये है। इसरीतिसे औपपादिक चरमोत्तमदेहधारी और असंख्यातवर्षकी आयुके धारक अनपवर्त्य आयुवाले हैं यह बात निर्धाररूपसे सिद्ध हो गई। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेन्न दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ॥ १० ॥

आयुके अंतसमयमें ही मरण होता है बीचमें मरण नहीं हो सकता इसलिये बीचमें ही आयुका अपवर्त

विच्छेद, मानकर औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंको अपवर्त्य आयुवाला मानना अयथार्थ है ? सो ठीक नहीं। जिसतरह आम्र आदि फलोंका जिससमयमें पाक होना निश्चित है उससे पहिले ही उपायके द्वारा अर्थात् पाल आदिमें रखनेसे बीचमें ही पकजाना दीख पडता है उसीप्रकार मृत्युका जो समय निश्चित है उसके पहिले ही आयुकर्मकी उदीरणाके द्वारा बीचमें ही मरण हो जाता है इसरीतिसे जब आयुकर्मका अपवर्त युक्तिसिद्ध है तब औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंको अपवर्त्य आयुवाला मानना अयथार्थ नहीं। और भी यह वात है कि—

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥ ११ ॥

अष्टांग आयुर्वेद विद्याका जानकार और चिकित्सा करनेमें परम प्रवीण वैद्य यह समझकर कि 'वात आदिके उदयसे शीघ्र ही इसके श्लेष्म आदि विकार उत्पन्न होनेवाला है, वात आदिके उदयके पहिले अप्रकट भी उसे वमन और दस्त आदिके द्वारा नष्ट कर देता है तथा रोगीकी अकाल मृत्यु न हो जाय इसलिये रसायन खानेके लिये भी आज्ञा देता है। यदि अप्राप्तकाल मरण अर्थात अकाल मृत्यु न हो तब उसका रोगीको रसायन खानेकी अनुमति देना निरर्थक ही है क्योंकि अकाल मृत्यु न माने जानेपर रसायन बिना खाये भी रोगी बीचमें नहीं मर सकता परंतु रोगीको रसायन खानेकी अनुमति वैद्यकी निरर्थक नहीं दीख पडती यह सर्वानुभवासिद्ध है इसलिये आयुर्वेद शास्त्रके आधारसे भी औपपादिक आदि जीवोंसे भिन्न संसारी जीवोंकी अकाल मृत्यु मानना युक्तियुक्त है। इसरीतिसे औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीव अपवर्त्य आयुवाले हैं यह बात निर्विवाद सिद्ध है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

दुःखप्रतीकारार्थ इति चेन्नोभयथादर्शनात् ॥ १२ ॥

आयुर्वेदकी चिकित्सा अकालमृत्युके दूर करनेकेलिये नहीं की जाती किंतु रोगजन्य दुःखके दूर करनेके लिये की जाती है ? सो ठीक नहीं। जिनके रोगजन्य कष्ट है उनकी भी चिकित्सा की जाती है और जिनके रोगजन्य कष्ट नहीं है उनकी भी चिकित्सा की जाती है यदि रोगजन्य दुःखके दूर करनेके लिये ही चिकित्सा होती तो जिन्हें कोई क्लेश नहीं है उनकी चिकित्सा नहीं होनी चाहिये थी परंतु होती अवश्य उनकी चिकित्सा है इसलिये आयुर्वेदकी चिकित्सा अकालमृत्युके दूर करनेके लिये ही मानी जायगी इस रीतिसे अकाल मृत्युकी सिद्धि निर्वाध है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

कृतप्रणाशप्रसंग इति चेन्न दत्त्वैव फलं निवृत्तेः ॥ १३ ॥

जब अकालमृत्यु सिद्ध है तब जो कर्म जिस व्यक्तिने किया है उसका उसे बिना फल मिले बीचमें उसकी मृत्यु हो जानेसे—किया हुआ कर्म सब व्यर्थ जायगा। इसरीतिसे कृतप्रणाश दोष आता है ? सो ठीक नहीं। जो कार्य नहीं किया गया है उसका तो फल नहीं भोगा जा सकता और जो कार्य किया गया है उसके फलका विनाश नहीं हो सकता। यदि विना किये कार्यका भी फल भोगा जायगा तो मोक्षका अभाव कहना पडेगा क्योंकि अकृत कार्यके फल सुख दुःख आदिका भोग सिद्धोंके भी संभव होगा। तथा जहां सुख दुःखका संभव है वहां संसार है इस रूपसे कोई भी जीव सिद्ध वा मुक्त न कहा जायगा। यदि किये गये कर्मके फलका नाश माना जायगा तो दान पूजा स्वाध्याय आदि क्रियाओंका लोप ही कर देना पडेगा। क्योंकि दान आदिका फल शुभगति आदिकी प्राप्ति है जब शुभगति आदि की प्राप्ति ही न होगी तब दान आदि क्रिया व्यर्थ ही है इसलिये जो कार्य किया जाता है वह अपना

फल करनेवालेको देकर ही निवृत्त होता है अर्थात् जैसा कार्य किया जायगा नियमसे उसका अनुकूल फल कर्ताको भोगना पडेगा। जो चोरी और हिंसा करेगा उसके अनुकूल दुःखरूप फल उसे भोगना पडेगा और जो देवपूजा आदि शुभकार्य करेगा उसका सुखरूप फल भोगना होगा परंतु हां जिसप्रकार गीले वस्त्रको सिकोडकर रख दिया जाता है तो उस गीलेपनके विनाशका जितना काल निश्चित है उतने कालमें ही जाकर वह गीलापन नष्ट होता है और यदि हवा और धूपमें उस वस्त्रको फैला दिया जाता है तो वीचमें ही उसका गीलापन नष्ट हो जाता है उसीप्रकार विष शस्त्र आदि वाह्य कारणोंके सन्निधान न होनेपर तो आयुका जितना काल निश्चित है उतना ही विद्यमान रहता है और उक्त वाह्य कारणोंके सन्निधान होनेपर कालके पूर्ण न होनेपर बीचमें ही मृत्यु हो जाती है यह विशेष है इसलिये अकालमृत्युका मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। विशेष—

अत्रौपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन। सोपाचमायुरीदृक्षादृष्टसामर्थ्यसंगतेः ॥ १ ॥
सामर्थ्यतस्ततोऽन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः। सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वतः ॥ २ ॥

वाह्यप्रत्ययानपवर्तनीयमायुःकर्मप्राणिदयादिकारणविशेषोपार्जित तादृशादृष्टं तस्य सामर्थ्यमुदयस्तस्य संगतिः संप्राप्तिस्ततो भवधारणमौपपादिकादीनामनपवर्त्यमिति सामर्थ्यादन्येषां संसारिणां तद्विपरीतादृष्टविशेषादपवर्त्यं जीवनं विषादिभिः सिद्धं। चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वप्रसंगात्। नह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात्। प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत् कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वा प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता। द्वितीयपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंगः, सकलवहिःकारणविशेषानिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकालव्यवस्थितेः। शस्त्रसंपातादि वहि-

रंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्तेः । तदभावे पुनरायुर्वेदप्रामाण्याचिकित्सितादीनां क्व सामर्थ्योपयोगः । दुःखप्रतीकारादाविति चेत् तथैवापमृत्युप्रतीकारादौ तदुपयोगोऽस्तु तस्योभयथा दर्शनात् । नन्वायुःक्षयानिमित्तोऽपमृत्युः कथं केनचित्प्रतिक्रियते तर्ह्यसद्वेद्योदयनिमित्तं दुःखं कथं केनचित्प्रतिक्रियतां । सत्यप्यसद्योदयऽतरंगे हेतौ दुःखं वहिरंगे वातादिविकारे तत्प्रतिपक्षौपधोपयोगोपनीते दुखस्यानुत्पत्तेः प्रतीकारः स्यादिति चेत् तर्हि सत्यपि कस्यचिदायुरुदयेऽतरंगे हेतौ वहिरंगे पथ्याहारादौ विच्छिन्ने जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधानमेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः । सत्यप्यायुषि जीवनस्याभावप्रसक्तौ कृतप्रणाशः स्यात् इति चेत् तर्हि सत्यप्यसद्वेद्योदये दुःखस्योपशमने कथं कृतप्रणाशो न भवेत् ? कटुकादिभेषजोपयोगजपीडामात्रं स्वफलं दत्त्वैवासद्वेद्यस्य निवृत्तेर्न कृतप्रणाशइति चेत्, तर्ह्यायुषोऽपि जीवनमात्रं स्वफलं दत्त्वैव निवृत्तेः कृतप्रणाशो माभूत् । विशिष्टफलदानाभावस्तूभयत्र समानः । ततोऽस्ति कस्यचिदपमृत्युश्चिकित्सितादीनां सफलतान्यथानुपपत्तेः, कर्मणामयथाकालविपाकोपपत्तेश्चाम्रफलादिवत् । (श्लोकवार्तिक)

जीवदया आदि कारण विशेषोंसे संचित औपपादिक आदि जीवोंका आयुकर्म अनपवर्तनके योग्य अदृष्टकी सामर्थ्यसे है विष शस्त्र आदि वाह्य कारणोंसे असमयमें नष्ट नहीं हो सकता इसलिए अनपवर्त्य है और इनसे भिन्न समस्त संसारी जीवोंका आयुकर्म विष आदिके द्वारा अपवर्त्य है यह स्वतः सामर्थ्यसिद्ध है । यदि औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंकी अकालमृत्यु नहीं मानी जायगी तो जो रोगकी निवृत्तिकेलिए चिकित्सा आदि कार्य किए जाते हैं वे निष्फल माने जांयगे क्योंकि आयुका जितना समय निश्चित है उससे पहिले वीचमें तो मृत्यु होगी नहीं फिर इस आशासे कि यह रोगसे

मुक्त हो जी पडेगा, चिकित्सा कराना व्यर्थ है। निश्चित कालके भीतर मरण होता ही नहीं यह भी बात नहीं क्योंकि तलवार आदिसे मृत्यु होती दीख पडती है इसलिए अकालमृत्यु माननी पडेगी। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

तलवार वा विष आदिके द्वारा जो मरण होता है वह कालप्राप्त ही मरण है अकालप्राप्त नहीं ? सो ठीक नहीं। क्योंकि वहांपर ये दो प्रश्न उठते हैं कि तलवार आदिसे जो मरण होता है वह, सामान्य रूपसे कालमें होता है कि मृत्युके कालमें होता है ? यदि कहा जायगा कि प्राप्तकालमें होता है तब जो बात सिद्ध है उसीको सिद्ध किया क्योंकि सामान्यरूपसे किसी न किसी कालमें अवश्य मरण होगा ही फिर तलवार आदिने क्या सिद्धि की। यदि यह कहा जायगा कि मृत्युके कालमें तलवार आदिसे मरण होता है तब तलवार आदिकी कोई अपेक्षा नहीं क्योंकि तलवार आदि बाह्य कारणविशेषोंसे निरपेक्ष (अंतरंग) मृत्युकारणसे ही मृत्युकालमें मरण हो सकता है, मृत्युकालमें मरणकेलिए तलवार आदि बाह्यकारणोंकी कोई आवश्यकता नहीं किंतु तलवार आदि बाह्यकारणोंका अन्वय व्यतिरेक अकाल मृत्युके साथ है अर्थात् तलवार आदिसे मरण होनेपर अकाल मृत्यु होती है और अकालमृत्युके अभावमें तलवार आदिसे मरण भी नहीं हो सकता। इसलिए जिससमय तलवार आदिसे मरण होगा वह समय अकालमृत्युका माना जायगा। तलवार आदिसे मरना प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए अकालमृत्युका अभाव नहीं माना जा सकता। यदि अकालमृत्यु संसारमें न मानी जायगी तो आयुर्वेद संबंधी चिकित्साका अभाव मानना पडेगा क्योंकि अकालमृत्युकी रक्षार्थ आयुर्वेदसंबंधी चिकित्सा की जाती है जब अकालमृत्यु ही नहीं तब आयुर्वेदसंबंधी चिकित्सा निरर्थक है। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि—

रोगजन्य क्लेशका अभाव करना ही उसका प्रयोजन है तब वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि अकालमृत्युका दूर करना ही उसका प्रयोजन मान लेना चाहिये क्योंकि रोग जन्य दुःख और अकालमृत्युका अभाव दोनों ही कार्य चिकित्साके अनुभवमें आते हैं यदि कदाचित् फिर यहांपर यह शंका की जाय कि—

अकालमृत्यु आयुकर्मके क्षयकी कारण है इसलिये चिकित्सा आदिसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती तब वहां पर भी यह कहा जा सकता है कि दुःख भी असात वेदनीय कर्मके उदयका कार्य है इसलिये उसका भी चिकित्सा आदिसे प्रतीकार नहीं किया जा सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि अंतरंग कारण असातवेदनीय कर्मका उदय और वहिरंग कारण बात पित्त आदिके विकारकी उपस्थितिमें दुःख होता है वात आदि विकारकी विरोधी औषधियां प्रत्यक्षसिद्ध हैं इसलिये उन्हें उपयोगमें लानेपर दुःखकी उत्पत्ति न होनेके कारण उसका प्रतिकार है तो वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि अंतरंग कारण आयुकर्मके उदयके रहनेपर और वहिरंग कारण पथ्य आहार आदिके विच्छेद हो जानेपर जीनेकी कोई आशा नहीं रहती उस जीवनकी रक्षार्थ चिकित्सासे जीवनका विद्यमाना ही अकालमृत्युका प्रतिकार है इसलिये चिकित्साके फलस्वरूप अकालमृत्युका निषेध नहीं जा सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

ायु कर्मके विद्यमान रहते भी वीचमें ही यदि जीवनके अभावका प्रसंग (अकालमरण) माना ा तो कृतप्रणाश दोष अर्थात् अधिक आयुके उपार्जन करनेके लिये तथा सुख भोगनेके लिये जो किया जाता है उसके फलका नाश हो जायगा तब वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि

असात् वेदनीय कर्मके विद्यमान रहते भी यदि चिकित्साके बीचमें ही दुःखका उपशम कर दिया जायगा तब भी कृतप्रणाशरूप दोष तदवस्थ है। यदि कदाचित् यहां यह कहा जाय कि—कडवी कसेली आदि औषधों के खानेपर कुछ क्लेश होता है वही क्लेश असात वेदनीय कर्मके उदयका फल है उस फलको देकर असातवेदनीय कर्मके नष्ट हो जानेपर कृतप्रणाश दोष नहीं हो सकता? तब वहांपर भी यह कहा कहा जा सकता है आयुका जीवनमात्र प्रदान करना यही फल है जबतक आयु रहे तबतक जीना यह फल नहीं बस उस जीवनरूप फलको प्रदानकर आयुकर्मके नष्ट हो जानेपर भी कृतप्रणाश दोष नहीं हो सकता। यदि आयुकर्मके किसी विशेष फलकी कल्पना की जायगी तो वह वेदनीय कर्ममें भी मानी जायगी इसलिये विशेष फलका अभाव ही समानरूपसे दोनोंमें मानना पडेगा। इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिसप्रकार आम आदि फलोंके पाल आदिके संबंधसे बीचमें ही विपाक दीख पडता है अन्यथा उसका पाल आदि लगाना व्यर्थ ही है उसीप्रकार चिकित्सा आदि कार्योंके देखनेसे किसी किसी मनुष्यकी अकालमृत्यु भी निश्चित है अन्यथा चिकित्सा आदिका कराना निष्फल है इसलिये अकालमृत्युका मानना प्रमाणसिद्ध है।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकामें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार

(द्वितीय खंड समाप्त)

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार ।

प्रकाशक—

पन्नालाल बाकलीवाल

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था

१ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता।

मुद्रक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,

जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र प्रेस

१ विश्वकोष लेन, बाघबाजार कलकत्ता।

अथ तृतीयाध्यायः ।

सम्यग्दर्शन आदिके भेदसे मोक्षमार्ग तीन प्रकारका कहा गया है उनमें सबसे प्रथम उद्दिष्ट सम्यग्दर्शनका विषय प्रदर्शन करनेकेलिये जीव आदि पदार्थोंका उपदेश आवश्यक था इसलिये जीव आदि पदार्थोंका निर्देश किया गया । अब उन जीव आदि पदार्थोंके रहनेका स्थान वर्णन करना चाहिये वह स्थान लोक है अर्थात् जीव लोकके भीतर रहते हैं वह लोक अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है । उनमें क्रमप्राप्त सबसे पहले अधोलोकका वर्णन किया जाता है । अथवा—

जब तक मनुष्यको सुख सामग्री प्राप्त रहती है तब तक उसे दुःखदायी भी विषयभोगोंसे संसारमें वैराग्य नहीं होता किंतु जब दुःख भोगना पडता है उस समय उसे संसारके पदार्थोंसे एक दम संवेग हो जाता है और उससे सर्वथा संबंध छोडनेके लिए वह उद्यत हो जाता है । तीनों लोकोंमें नरकोंमें प्रचंड शीत और उष्णताके कारण तीव्र वेदना है । उसे सुन कर जीवोंको वैराग्य हो जाय और वे अपने आत्मकल्याणार्थ प्रवृत्त हो जांय इसलिये तीनों लोकोंमें सबसे पहले अधोलोकका वर्णन किया जाता है । अथवा—

'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां' अर्थात् देव और नारकियोंके भवकारणक अवधिज्ञान होता है,

यहांपर नारक शब्दका उल्लेख किया गया है वहांपर यह प्रश्न उठता है कि वे नारकी कौन हैं? इसलिए नारकियोंके प्रतिपादनके लिये सबसे पहिले वे जहां पर रहते हैं उस स्थानका कथन किया जाता है—

**रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनांबुवाताकाश-
प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥**

रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियां हैं और क्रमसे एकके नीचे दूसरी दूसरीके नीचे तीसरी इस प्रकार नीचे नीचे तीन वातवलय और आकाशके आश्रय स्थिर हैं अर्थात् समस्त भूमियां घनोदधि वातवलयके आधार हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधार है। घनवातवलय तनुवातवलयके आधीन है तनुवातवलय आकाशके आधार है और आकाश अपना आधार आप है।

रत्नादीनामितरेतरयोगे द्वंद्वः ॥ १ ॥

रत्नं च शर्करा च वालुका च पंकश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहा-तमांसि, यह यहांपर रत्न शर्करा आदि शब्दोंका आपसमें इतरेतरयोग द्वंद्व समास है।

प्रभाशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ २ ॥

जिस तरह 'देवदत्त जिनदत्त और गुरुदत्त भोजन करें' यहांपर भुजि क्रियाका देवदत्त आदि सबके साथ संबंध है उसी प्रकार सूत्रमें जो प्रभा शब्द है उसका भी रत्न आदि सबोंके साथ संबंध है। उससे रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा इस प्रकार भूमियोंके नाम समझ लेना चाहिये।

साहचर्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्यष्टिवत् ॥ ३ ॥

जिस तरह यष्टिसहचरित अर्थात् जिस पुरुषके हाथमें लकडी होती है उसे बुलाते समय लोग 'ओ लकडी' कह कर पुकारते हैं उसी प्रकार देवदत्तके पास लकडी देख कर देवदत्त यष्टि कह दिया जाता है और यह यष्टि है ऐसा व्यवहार होने लगता है उसी प्रकार चित्र १ वज्र २ वैडूर्य ३ लोहित ४ क्षेमसार ५ गल्व ६ गोमेद ७ प्रवाल ८ ज्योतिरस ९ अंजनमूल १० कांक ११ स्फटिक १२ चंदन १३ वर्वक १४ वकुल १५ और शिलामय १६ इन सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभाके समान प्रभा होनेसे पहिली भूमिका नाम रत्नप्रभा है। शर्करा—शक्करकीसी प्रभावाली होनेसे दूसरी भूमिका नाम शर्कराप्रभा है। वालूके समान प्रभावाली होनेसे तीसरी भूमिका नाम बालुकाप्रभा है। कीचडके समान प्रभावाली होनेसे चौथी पृथिवीका नाम पंकप्रभा है। धूवांके समान प्रभावाली होनेसे पांचवीं भूमिका नाम धूमप्रभा है। अंधकारके समान प्रभावाली होनेसे छठी पृथिवीका नाम तमःप्रभा है और वहल अंधकारके समान प्रभावाली होनेसे सातवीं भूमिका नाम महातमःप्रभा है। शंका—

तमःप्रभेति विरुद्धमिति चेन्न स्वात्मप्रभोपपत्तेः ॥ ४ ॥

तमका अर्थ अंधकार है और प्रभाका अर्थ प्रकाश है इसलिए शीत और उष्णके समान दोनों ही पदार्थ आपसमें विरोधी हैं। क्योंकि तमः प्रभा नहीं हो सकता और प्रभा तम नहीं कही जा सकती इस रीतिसे अंधकारके समान जिसकी प्रभा हो वह तमःप्रभा है यह कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं। प्रभाका अर्थ प्रकाश ही नहीं है किंतु द्रव्योंका निज स्वरूप भी प्रभा कहा जाता है इसीलिए मनुष्य आदिमें यह व्यवहार होता है कि अमुक मनुष्य चिकनी प्रभावाला है और अमुक मनुष्य रूखी प्रभा-

वाला है अर्थात् अमुक पुरुषका चेहरा सफेद कांतिवाला है और अमुकका चेहरा काली कांतिवाला है यहांपर काले मुखमें भी कांति व्यवहार होता है। इस रीतिसे जब तमकी भी प्रभा सिद्ध है तब जिसमें अंधकारकीसी प्रभा हो वह तमःप्रभा भूमि है यह अर्थ बाधित नहीं। शंका—

भेदे रूढिशब्दानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेन्न सूत्रस्य प्रातिपादनोपायत्वात् ॥ ५ ॥

अवयवोंके अर्थोंके भेदसे शब्दोंमें भेद माना जाता है। रूढि शब्दोंमें अवयवोंका अर्थ लिया नहीं जाता इसलिये उनका कोई भी भेदक न होनेसे रूढि शब्द आपसमें भिन्न नहीं हो सकते। रत्नप्रभा आदि शब्द भी रूढि हैं। अवयवोंका यहां भी अर्थ नहीं लिया जा सकता इसलिए इनका भी आपसमें भेद नहीं कहा जा सकता। सो ठीक नहीं। रत्नप्रभा आदि संज्ञाशब्दोंका भिन्न भिन्न रूपसे प्रतिपादन करनेवाला सूत्र मौजूद है अर्थात् शब्दकी शक्तिका ग्रहण व्याकरणसे वा उममान वा कोश वा आप्त-वाक्य वा व्यवहार वा वाक्यशेष अथवा प्रयोजनके सन्निधानसे होता है। यहांपर रत्नप्रभा आदिके भेदका ज्ञापक सूत्र है। तथा सूत्रमें जिस रूपसे शब्दोंका गुंफन किया गया है उसका दूसरे दूसरे शब्द वा वाक्योंका संबंध कर उनके द्वारा भिन्न भिन्न रूपमे अर्थ हो जानेसे रत्नप्रभा आदिका भेद युक्तिसिद्ध है अर्थात् सूत्रमें जो रत्नप्रभा शब्द है वह प्रसिद्ध रत्नोंकी प्रभाके समान प्रभाका धारक होनेसे रत्नप्रभा अर्थका द्योतक है ऐसा दूसरे दूसरे शब्दोंके साथ संबंध हो जानेसे वह शेष छहों नरकोंसे भिन्न सिद्ध हो जाता है इसीतरह शर्कराप्रभा आदिमें भी समझ लेना चाहिये।

भूमिग्रहणमधिकरणविशेषप्रातिपत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

जिस तरह स्वर्गपटल पृथिवीका रंचमात्र भी सहारा न लेकर अवस्थित हैं उसतरह नरक अव-

स्थित नहीं किंतु वे पृथिवीके सहारे ही टिके हुए हैं इस प्रकार नरकोंके आधारोंका ज्ञान करानेकेलिये सूत्रमें भूमि शब्दका उल्लेख किया गया है।

घनांब्वादिग्रहणं तदालंबननिर्ज्ञानार्थं ॥ ७ ॥

जो भूमि नरकोंका आलंबन बतलाई गई हैं उनका आलंबन क्या है? यह बात प्रगट करनेकेलिये सूत्रमें 'घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः' इसशब्दका उल्लेख है। घनमेवांबु घनांबु, घनांबु च वातश्च आकाशं च 'घनांबुवाताकाशानि, तानि प्रतिष्ठा—आश्रयो यासां ताः 'घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः' यह घनांबुवाताकाश प्रतिष्ठ शब्दका विग्रह है। सार अर्थ यह है कि—रत्नप्रभा आदि समस्त भूमियां घनोदधिवातवलयके आधार हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधार है। घनवातवलय तनुवातवलयके आधार है। तनुवातवलय आकाशके आधार है और आकाश स्वयं आधार और स्वयं आधेय है उसका कोई अन्य आधार नहीं इसलिये वह अपना आप आधार है।

अर्थात्—घनका अर्थ पुष्ट—सघन है और अंबुका अर्थ जल है जिस वायु मंडलमें सघन जल—उदधि हो वह घनोदधिवातवलय है। जिस वायुमंडलमें केवल सघनता हो वह घनवातवलय है और जो वायुमंडल मोटा न होकर सूक्ष्म हो वह तनुवातवलय है। इन तीनों वातवलयोंमें प्रत्येक बीस बीस हजार

१—वातश्च वातश्च वातौ यह यहांपर एक शेष समास मानी है एक शेष समासका यह नियम है कि समान अनेक शब्दोंमें एक ही शब्द अवशिष्ट रह जाता है अन्यका लोप हो जाता है इसलिये यहांपर एक वात शब्दका लोप हो गया है इसलिये घनांबु वात से यहांपर घनोदधि वात और घनवात समझना चाहिये तथा घन शब्द सामान्य है वह तनुरूप विशेषकी आकांक्षा रखता है इसलिये वात शब्दसे यहां तनुवातका भी ग्रहण है इसप्रकार घनांबुवात शब्द घनोदधि वात घनवात और तनुवात इन तीन वातवलयोंका द्योतक है।

योजन मोटा है इसप्रकार मिलकर तीनो वातवलयोंकी मुटाई साठ हजार योजनकी है। इनमें घनोदधिवातवलयका रंग मूंगके समान है। घनवातका रंग गायके मूत्रके समान है और तनुवातका रंग अव्यक्त है—स्पष्टरूपसे नहीं कहा जा सकता।

रत्नप्रभाकी मुटाई एक लाख अस्सी हजार योजनकी है और उसके खरभाग पंकभाग और अब्बहुलभाग ये तीन भाग हैं। उनमें चित्र वज्र वैडूर्य आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे व्याप्त खर पृथ्वीभाग है वह सोलह हजार योजनका मोटा है "तथा चित्ररत्नकी प्रभासे व्याप्त चित्रा, वज्ररत्नकी प्रभासे व्याप्त वज्रा, वैडूर्यरत्नकी प्रभासे व्याप्त वैडूर्या इत्यादि भिन्न भिन्न सोलह प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त चित्रा वज्रा आदि भिन्न भिन्न सोलह पृथिवियां हजार हजार योजन मोटी हैं।" उसके नीचेका पंकबहुलभाग चौरासी हजार योजनका मोटा है और उसके नीचेका अप् बहुलभाग अस्सी हजार योजनका मोटा है।

खरभाग[1]की ऊपर नीचेकी एक एक हजार योजन मोटी दो पृथिवियोंको छोडकर बीचकी चौदह हजार योजन मोटी (और एक राजू लंबी चौडी) चौदह पृथिवियोंमें किंनर किंपुरुष महोरग गंधर्व यक्ष भूत और पिशाच ये सात प्रकारके व्यंतर देवोंके तथा नागकुमार विद्युत्कुमार सुपर्णकुमार अग्निकुमार वातकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन नौ प्रकारके भवनवासी देवोंके निवास स्थान हैं। पंकबहुलभागमें असुरकुमार जातिके भवनवासी और राक्षसजातिके व्यंतरोंके

१—खरभाए पंकभाए भावणदेवाण होंति भवणाणि।
वितरदेवाण तहा दुण्ह पि य तिरियलोए वि ॥ १४५ ॥ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ ८५

निवास स्थान हैं एवं अप् बहुलभागमें प्रथम नरकके बिले हैं जिनमें कि नारकी निवास करते हैं। इस प्रकार मिलकर रत्नप्रभा पृथिवीकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजनकी है। तथा शर्करा पृथिवीकी मुटाई बत्तीस हजार योजनकी है इसीप्रकार छठी पृथिवीपर्यंत नीचे नीचेकी पृथिवियोंकी मुटाई चार चार हजार योजन कम कम समझ लेना चाहिये अर्थात् तीसरी बालुका पृथिवीकी मुटाई अट्ठाईस हजार योजनकी है। चौथी पंकप्रभा पृथिवीकी चौबीस हजार योजनकी है। पांचवी धूमप्रभा पृथिवीकी बीस हजार योजनकी है और छठी तमःप्रभा पृथिवीकी सोलह हजार योजनकी मुटाई है तथा उसके आगे सातवीं महातमःप्रभा पृथिवी है उसकी मुटाई आठ योजनकी है। समस्त पृथिवियोंका तिरछा अंतर असंख्यात कोडाकोडि योजनका है—अर्थात् एक एक राजूका अंतराल प्रत्येक नरकका है।

यहां इतनी बात और भी समझ लेनी चाहिये कि नरकोंका प्रमाण सात राजूमें कहा है। वहां चित्रा पृथिवीके अधोभागसे दूसरे नरकका अंतर एक राजू है। दूसरेसे एक राजू तीसरेका, तीसरेसे एक राजू चौथेका, चौथेसे एक राजू पांचवेंका, पांचवेंसे एक राजू छठेका और छठेसे एक राजू सातवेंका है इस प्रकार छह राजुओंमें तो नरक हैं और सातवें नरकसे एक राजू पाताल है इन सातों पृथिवियोंकी लंबाई चौडाई लोकके अंतपर्यंत जाननी।

सप्तग्रहणमियत्तावधारणार्थं ॥ ८ ॥

नरकोंकी आधार भूमियां सात ही हैं आठ वा छह नहीं हैं इस प्रकार अधिक और न्यून संख्याकी

१—मेरुस्स हिट्ठभाए सत्तवि रज्जू हवे अहो लोओ।
उड्ढम्हि उड्ढलोओ मेरुसमो मज्झिमो लोओ ॥ १२० ॥ स्वामि० अ० पृष्ठ ७०

निवृत्तिके लिए सूत्रमें सप्त शब्दका ग्रहण किया गया है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—बहुतसे शास्त्रकारोंने अनंत लोक धातुओंमें अनंते पृथिवीके प्रस्तार मान रक्खे हैं उनका परिहार कैसे किया जायगा? उसका समाधान यह है कि अनेकांतवादमें कर्म, उनका फल और उनके संबंध आदिका युक्तिपूर्वक निरूपण किया गया है तथा उस अनेकांतवाद वा कर्म फल आदिका भगवान अर्हंतके आगममें प्रतिपादन है सिवाय उसके अन्य किसी शास्त्रमें उसका उल्लेख नहीं इसलिए भगवान अर्हंतका आगम ही प्रमाण है अन्य कोई शास्त्र प्रमाणीक नहीं माना जा सकता। इसलिए भगवान अर्हंतके आगममें जो नरक भूमियां और उनके प्रतर माने गये हैं वे ही युक्तियुक्त हैं, अन्य शास्त्रोंमें माने हुये मिथ्या हैं।

अधोधोवचनं तिर्यक्प्रचयनिवृत्त्यर्थं ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाके नीचे शर्कराप्रभा, शर्कराप्रभाके नीचे वालुकाप्रभा इत्यादि रूपसे एक भूमि दूसरी भूमिके नीचे नीचे हैं किंतु रत्नप्रभाके बराबरमें तिरछी ओर शर्कराप्रभा हो और शर्कराप्रभाके बराबरमें तिरछी ओर वालुकाप्रभा हो इत्यादि प्रकारसे तिरछे रूपसे उनकी स्थिति नहीं है यह बात बतलानेके लिये सूत्रमें अधोऽधः शब्दका उल्लेख किया गया है। अर्थात् जिस प्रकार मध्यलोकमें नगर और ग्राम,

१—रत्नप्रभादिमा भूमिस्तथोधः शर्कराप्रभा। वालुकादिप्रभातोऽधस्ततः पंकप्रभा मता ॥ १८० ॥
ततो धूमप्रभाधस्तात्ततोऽधस्तात्तमःप्रभा। तमस्तमःप्रभातोऽथो भुवामित्थं व्यवस्थितिः ॥ १८१ ॥
मध्यलोकके नीचे सबसे पहिले रत्नप्रभा भूमि है उसके नीचे शर्कराप्रभा, उसके नीचे वालुकाप्रभा, उसके नीचे पंकप्रभा, उसके नीचे धूमप्रभा, उसके नीचे तमःप्रभा और उसके नीचे महातमःप्रभा है। तत्त्वार्थसार पृष्ठ १०१।

एकके पीछे दूसरा, दूसरेके पीछे तीसरा, इस प्रकार तिर्यक् रूपसे नगर ग्राम बने हुये हैं, ऊपर नीचे नहीं हैं किंतु समतलमें हैं उस प्रकार नरकावास नहीं हैं किंतु एकके नीचे दूसरा उसके नीचे तीसरा, इस रूपसे हैं। शंका—

सामीप्याभावाद् द्वित्वानुपपत्तिरिति चेन्नांतरस्याविवक्षितत्वात् ॥ १० ॥

जहांपर ऊपर नीचे रहनेवाले पदार्थ; पास पास स्थित रहते हैं वहां पर 'अधोधः' शब्दका प्रयोग होता है किंतु जहांपर अधिक अंतर रहता है वहांपर उस शब्दका प्रयोग नहीं होता। रत्नप्रभा आदि प्रत्येक भूमिका असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण अंतर माना गया है इसलिए समीपता न होनेसे 'अधोऽधः' शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता किंतु वहांपर 'अधः' अर्थात् नीचे है इसीका प्रयोग होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। यद्यपि प्रत्येक भूमिमें असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण अवश्य अंतर है परंतु उस अंतरकी यहांपर विवक्षा नहीं इसलिए 'अधोधः' यह प्रयोग बाधित नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जो पदार्थ विद्यमान न हो उसकी अविवक्षा तो की जा सकती है किंतु जो विद्यमान है उसकी अविवक्षा कैसी ? प्रत्येक भूमिका बलवान अंतर विद्यमान है इसलिए उसकी अविवक्षा नहीं की जा सकती ? सो ठीक नहीं। जंघा पर सूक्ष्म रोमोंके रहते भी यह स्त्री अलोमकांडिका अर्थात् रोमरहित जंघावाली है तथा अत्यंत पतले पेटके रहते भी 'अनुदरा कन्या' यह कन्या पेटरहित है ऐसा संसारमें

१—लिखित प्रतिमें—अलोमिका एड्का ऐसा पाठ है, उसका अर्थ होता है कि जिस मेडेके बाल कतर दिये जाते हैं उसके भी मूलमें कुछ सूक्ष्म बाल रहते ही हैं फिर भी उसे अलोमिका बालरहित एड्का—मेढा कह दिया जाता है।

व्यवहार होता है। यहांपर जिस प्रकार रोम और पेटके विद्यमान रहते भी उनकी अविवक्षा मान कर अलोमकांडिका और अनुदरा कन्या ऐसे शब्दोंका प्रयोग होता है उसी प्रकार विद्यमान भी रत्नप्रभा आदिके अंतरकी अविवक्षा है इसलिए रत्नप्रभा आदि भूमियां एकके नीचे दूसरी, दूसरीके नीचे तीसरी इत्यादि क्रमसे नीचे नीचे व्यवस्थित हैं इस अर्थके द्योतन करनेकेलिए 'अधोऽधः' शब्दका प्रयोग निर्बाध है। अथवा—

तुल्यजातीयेनाव्यवधानं सामीप्यमिति वा ॥ ११ ॥

ऊपर जो रत्नप्रभा आदि भूमियोंका अंतर बतलाया गया है वह पूर्व और उत्तर भागके मध्यवर्ती होनेसे नरकोंके आपसमें है इसी तात्पर्यके प्रगट करनेकेलिये अधोधः, शब्दका प्रयोग किया गया है अर्थात् एक पृथ्वीके नीचे दूसरी और दूसरीके नीचे तीसरी इस प्रकार इन सातों पृथिवियोंके अंतरालमें और कोई अंतराल नहीं है इसालिये उनका सामीप्य है।

पृथुतरा इति केषांचित् पाठः ॥ १२ ॥

किसी किसीने 'सप्ताधोऽधः' इसके बाद 'पृथुतराः' यह भी पाठ माना है और सातो नरक भूमियां नीचे नीचे एक दूसरीकी अपेक्षा विशाल हैं, यह पृथुतर शब्दके उल्लेखका तात्पर्य प्रगट किया गया है। यहां पर यह शंका की जाय कि जहांपर कुछ प्रकर्षता होती है वहीं तरप् और तमप् प्रत्ययोंका प्रयोग किया जाता है। रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें तो कोई प्रकर्षता जान नहीं पड़ती इसलिये पृथुतराः यहांपर तरप् शब्दका प्रयोग निरर्थक है ! सो ठीक नहीं, दो भूमियोंका मिलान करनेपर उनमें एक बडी है दूसरी छोटी है इसप्रकार एकमें दूसरेकी अपेक्षा विशेष महानपना बतलानेके लिये तरशब्दका प्रयोग किया गया है।

परंतु वह भी ठीक नहीं। जिस समय रत्नप्रभा भूमिका महानपना बतलाया जायगा उससमय उससे कम परिमाणवाली तो कोई दूसरी नरकभूमि है नहीं, जिसकी अपेक्षा रत्नप्रभा भूमिको विशेष-महान कहा जाय इसलिये रत्नप्रभा भूमिमें तरप् प्रत्ययका अर्थ लागू नहीं हो सकता अतः समान्यरूपसे सातो भूमियोंमें नीचे नीचे महानपनेका द्योतक तरप् प्रत्ययका प्रयोग निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक भूमिमें नरकोंके बिलोंका परिमाण उत्तरोत्तर कम माना गया है अर्थात् नारकियोंके रहनेके स्थान बिले पहिले नरकमें तीस लाख हैं दूसरेमें पचीस लाख हैं। तीसरेमें पंद्रह लाख, चौथेमें दशलख, पांचवेंमें तीन लाख, छठेमें पांचकम एक लाख और सातवेंमें केवल पांच बिले बतलाये हैं इसरीतिसे उत्तरोत्तर नरकों (बिलों) की हीनतासे रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें नीचे नीचे एक दूसरेकी अपेक्षा महानपना हो नहीं सकता इसलिये 'अधोऽधः पृथुतराः' यहां पर तरप् प्रत्ययका प्रयोग निरर्थक ही है। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि—

अधोलोकको वेत्रासन (वेंतका मूढा) के आकार माना है जिसतरह वेत्रासनका आकार नीचे नीचे बढता जाता है उसीप्रकार नरक भी नीचे नीचे अधिक विस्तारयुक्त माने गये हैं अर्थात्—प्रथम नरककी चित्रा पृथिवीसे दूसरे नरकके अंततक विस्तार एक राजू और एक राजूके सात भागोंमेंसे छह भाग है। तीसरे नरकके अंतमें दो राजू और एक राजूके सात भागोंमें पांच भाग है। चौथे नरकके अंतमें तीन राजू और एक राजूके सात भागोंमें चार भाग है। पांचवे नरकके अंतमें चार राजू और एक राजू सात भागोंमें तीन भाग है। छठे नरकके अंतमें पांच राजू और एक राजूके सात भागोंमें दो

१ साती नरकोंमें सब बिले मिलकर चौरासी लाख है।

भाग। सातवे नरकके अंतमें छै राजू और एक राजूके सात भागोंमें एक भाग है और पाताल लोकके अंतमें विस्तार सात राजू है। इसी रीतिसे जब उत्तरोत्तर विस्तारकी अधिकतासे दो भूमियोंका आपसमें संबंध करने पर एककी अपेक्षा दूसरीको पृथुत्व महानपना सिद्ध है तब नरक विलोंके परिमाणकी अपेक्षा न कर विस्तार रूप परिमाणकी अपेक्षासे 'पृथुतराः' यहां पर तरप् प्रत्ययका प्रयोग निरर्थक नहीं। यदि यहां पर यह शंका हो कि—

रत्नप्रभा आदि भूमियोंका पृथुत्व—विस्तार रूप परिमाण, उन भूमियोंका परिमाण नहीं किंतु भूमियोंसे वाह्य है। सो ठीक नहीं। स्वयंभूरमण समुद्रके एक अंतसे दूसरे अंततक जो डोरी है उसका नाम राजू है वह राजू पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंके विभाग करनेवाले काल महाकाल रौरव और महा रौरव रूप विलोंके अंततक ली गई है ऐसा आगममें कहा गया है इसलिये वह पृथुत्व—विस्तार, भूमियोंमें ही परिगणित है। और वह हीनाधिकरूपसे है इसलिए तरप् प्रत्ययका प्रयोग निरर्थक नहीं। यदि यहां पर यह कहा जाय कि विस्तारकी अपेक्षा यदि पृथुता—महानपना माना जायगा तो समस्त भूमियोंमें कथंचित् तिर्यक्रूपसे पृथुता सिद्ध हो सकती है अर्थात् कथंचित् चौडाईकी अपेक्षा नीचे नीचे की अपेक्षा नीचे नीचेकी भूमि महान मानी जा सकती है, नीचे नीचे उनकी पृथुता सिद्ध नहीं हो सकतीं अर्थात् लंबाईकी अपेक्षा वे महान नहीं मानी जा सकतीं इसलिये 'तिर्यक्पृथुतराः' ऐसा सूत्रमें उल्लेख करना चाहिये 'अधोधः पृथुतराः' यह न कहना चाहिये। उसका समाधान यह है कि

[1] सातवे नरकमें अप्रतिष्ठान पाथडेमें अप्रतिष्ठान नामका इन्द्रकविला है। उसकी पूर्व दिशामें काल, पश्चिम दिशामें महाकाल, दक्षिण दिशामें रौरव और उत्तरदिशामें महारौरव नामका विला है। हरिवंशपुराण भाषा पृष्ठ ३९

तिर्यक् रूपसे भी पृथुता मानी गई है इसलिये कथंचित् विशेषण भी सार्थक है तथा उत्तरोत्तर नरक भूमियोंमें वेदनाकी अधिकता और आयु भी अधिक अधिक मानी है इसलिये "पदार्थका निमित्त भी साक्षात् पदार्थ स्वरूप मान लिया जाता है" इस नियमके अनुसार उक्त वेदना और आयुकी अधिकताकी कारण भी नरकभूमियां वेदना और आयुस्वरूप कही जा सकती हैं इस नियमके अनुसार अथवा उक्त वेदना और आयुका संबंध नरकभूमियोंके साथ ही है इस कारणसे भी यहां पर नरकभूमियोंकी पृथुता ली गई है इस रीतिसे वेदना और आयुके प्रकर्ष अपकर्षकी अपेक्षा भूमियोंमें भी पहिली पहिलीकी अपेक्षा नीचे नीचेकी भूमियोंमें महानपना सिद्ध है इसलिये 'अधोऽधः पृथुतराः' इस वचनका उल्लेख अयुक्त नहीं कहा जा सकता अतः 'अधोऽधः पृथुतराः' यह अवश्य कहना चाहिये । वार्तिककार इसका उत्तर देते हैं यह बात सब ठीक है परंतु रत्नप्रभाका पृथुतर नाम नहीं बन सकता क्योंकि उससे अन्य कोई नरकभूमि विस्तार वेदना वा आयुकी अपेक्षा कम हो तब तो रत्नप्रभाको पृथुतर कहा जा सकता है किंतु सो तो है नहीं इसलिये 'पृथुतराः' शब्दके उल्लेखकी कोई भी सूत्रमें आवश्यकता नहीं । विशेष—

रत्नप्रभा आदि भूमियोंको घनवातवलयके आधार माना है । घनवातवलयको अंबुवातवलयके आधार माना है । अंबुवातवलयको तनुवातवलयके आधार माना है । तनुवातवलयको आकाशके आधार और आकाशको अपना आप ही आधार माना है । यदि यहांपर यह शंका की जाय कि— आकाशको अपना आप ही आधार मानना अयुक्त है अन्यथा भूमि आदिको भी अपना आप आधार मानना पडेगा । यदि कहा जायगा कि आकाशका भी अन्य आधार मान लिया जायगा तब जिसको

आकाशका आधार माना जायगा उसका भी कोई अन्य आधार माना जायगा। उस आधारका भी कोई अन्य आधार माना जायगा इसलिए आधारके मानने वा न माननेरूप दोनों पक्षोंमें दोष उपस्थित होने पर यह सब आधार आधेयकी कल्पना निर्मूल है? सो ठीक नहीं। यह नियम है कि जो विभु द्रव्य अर्थात् महत्परिमाणवाला द्रव्य होता है वह किसीके आधार नहीं रहता क्योंकि जो पदार्थ महत्परिमाणवाला हो और दूसरेके आश्रित भी हो ये दोनों बातें आपसमें विरुद्ध हैं। किंतु जो विभु नहीं होता वह अवश्य दूसरेके आधीन रहता है जिस तरह घट आदि क्योंकि घट आदिके आधार भूमि आदि माने हैं। शंकाकारने आकाश द्रव्यको विभु द्रव्य मान रक्खा है इसलिए उसका कोई अन्य आधार नहीं माना जा सकता। यदि उसका आधार कोई दूसरा पदार्थ माना जायगा और उस आधारका आधार भी कोई दूसरा पदार्थ माना जायगा तो फिर कहीं भी आधारका निश्चय न होनेसे अनवस्था दोष होगा इसलिए आकाशको अपना आधार आप ही मानना होगा। तथा यह जो कहा था कि यदि आकाशको अपना आप आधार माना जायगा तो भूमि आदिको अपना आप आधार स्वीकार करना पडेगा किसी अन्य पदार्थको उनके आधार माननेकी कोई आवश्यकता नहीं वह अयुक्त है क्योंकि विभु द्रव्यका अन्य कोई आधार नहीं हो सकता। भूमि आदि तो विभु द्रव्य हैं नहीं, इसलिए उनका तो अवश्य कोई न कोई आधार मानना होगा और वे घनवात आदि स्वीकार करने पडेंगे। यदि कदाचित् यह शंका उठाई जाय कि—

मूर्तिक पदार्थका मूर्तिक पदार्थ ही आधार हो सकता है और उसीमें उसके डाटनेकी शक्ति है मूर्तिकको अमूर्तिक नहीं डाट सकता। तनुवात मूर्तिक पदार्थ है और आकाश अमूर्तिक पदार्थ है

इसलिए वह मूर्तिक तनुवातका आधार नहीं बन सकता ? सो भी ठीक नहीं। मेघको धारण करनेवाली वायु आकाशके आश्रय रहती है यह सर्वसम्मत बात है इसलिए यहां अमूर्तिक भी आकाश जिस-प्रकार मेघको डाटनेवाली वायुका आश्रय माना जाता है उसी प्रकार वह तनुवातका आधार भी कहा जा सकता है कोई दोष नहीं है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

मेघको धारण करनेवाली वायुका आधार तो जल है, आकाश नहीं है इसलिए आकाशका आश्रयपनारूप साध्यके न रहनेसे 'मेघधारण वायु' यह दृष्टांत साध्यविकल कहा जायगा ? सो ठीक नहीं। वायुके अवयवस्वरूप अनंते वायुपरमाणु माने गये हैं और उन सबका आश्रय आकाश है यह भी स्वीकार किया गया है। वे परमाणुरूप अवयव वायुस्वरूप अवयवीसे भिन्न नहीं इसलिए मेघको धारण करनेवाली वायुका भी आश्रय; आकाश स्वतः सिद्ध है इस रीतिसे आकाशका आश्रयपनारूप साध्यके न रहनेसे 'मेघधारणवायु' यह दृष्टांत साध्यविकल नहीं कहा जा सकता। तथा—

विपक्षमें जिस हेतुका न रहना संदेहरूप हो—निश्चितरूप न हो वह 'संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक हेतु' कहा जाता है। तनुवातो व्योमप्रतिष्ठः, तनुवातविशेषत्वात् अर्थात् तनुवात आकाशके आश्रय है क्योंकि वह तनुवात विशेष स्वरूप है इस अनुमानमें तनुवातविशेषत्वरूप हेतुका तनुवातरूप पक्षसे भिन्न पदार्थमें न रहना संदिग्ध नहीं निश्चित ही है, अर्थात् वह तनुवातरूप पक्षमें ही निश्चितरूपसे रहता है तथा आकाशसे भिन्न अन्य कोई भी पदार्थ तनुवातका आधार भी नहीं सिद्ध हो सकता इस-लिए अमूर्तिक भी आकाश तनुवातका आधार है यह बात सर्वथा युक्तियुक्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

तनुवातका स्वभाव तो सर्वथा कंपित होना है वह अंबुवातका अधिकरण कैसे हो सकता है? सो ठीक नहीं। जिस प्रकार जलकी तरंगोंका पवन विशेष समुद्रका धारण करनेवाला माना जाता है उसी प्रकार तनुवात; अंबुवातको धारण करता है। उस तनुवातसे युक्त अंबुवात घनवातका धारण करनेवाला है और वह घनवात रत्नप्रभा आदि भूमियोंका धारण करनेवाला है।

बहुतसे लोगोंने भूमिके आधार कच्छप वाराह गायका सींग आदि मान रक्खे हैं परंतु वह ठीक नहीं क्योंकि जिसप्रकार प्रत्यक्ष देखे जानेवाले कच्छप वराह आदि बिना आश्रयके नहीं ठहर सकते उसी प्रकार वे भी विना आश्रयके नहीं ठहर सकते इसलिए उनका कोई न कोई आश्रय अवश्य मानना पडेगा किंतु भूमिका घनवात आदिक आश्रय मानने पर कोई दोष नहीं क्योंकि वह सर्वानुभव सिद्ध है। यह विषय श्लोकवार्तिकमें विस्तारसे वर्णित है। बहुतसे मनुष्य पृथ्वीको गोलाकार मान कर उसे घूमनेवाली मानते हैं और नक्षत्रमंडलको स्थिर मानते हैं इस बातका भी बडी युक्ति और विशदतासे खंडन किया गया है विज्ञ पाठक वहांसे जान लें॥ १॥

जिन रत्नप्रभा आदि भूमियोंका ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें सर्वत्र नारकी रहते हैं कि कहीं कहीं पर रहते हैं। इस बातके निश्चयार्थ सूत्रकार कहते हैं।

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमं॥

उन रत्नप्रभा आदि सातो पृथिवियोंमें क्रमसे तीस लाख, पच्चीस लाख, पंद्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पांचकम एक लाख और पांच ये नरक (बिले) हैं अर्थात्—पहिली पृथिवीमें तीस लाख, दूसरीमें पच्चीस लाख, तीसरीमें पंद्रह लाख, चौथीमें दश लाख, छठीमें पांचकम एक लाख और सातवीमें

केवल पांच नरक हैं। ये नरक–बिले गोल त्रिकोण चौकोण इत्यादि अनेक प्रकारके हैं। अनेक उनमें संख्यात योजनके और अनेक असंख्यात योजनके लंबे चौडे हैं। बिलोंके अंतरालमें चारो ओर प्रत्येक बिलके पृथिवी स्कंध है। जैसे ढोलको पृथिवीमें गाढ देनेपर चारो ओर पृथिवी रहती है और भीतर पोल रहती है उसीप्रकारसे पृथिवी स्कंधोंके बीचमें ढोलके भीतरकी पोलके समान ये बिले हैं।

इस सूत्रसे रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें नरकोंकी संख्या प्रतिपादन की गई है।

त्रिंशदादीनां परस्पराभिसंबंधे वृत्तिः ॥ १ ॥

त्रिंशत् आदि शब्दोंका आपसमें संबंध रहनेपर यहां समास है और वह इस प्रकार है–

पंचभिरूनं पंचोनं पंचोनं च तदेकं च तत्पंचोनैकं। त्रिंशच्च पंचविंशतिश्च पंचदश च दश च त्रयश्च पंचोनैकं च, त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकानि। शतानां सहस्राणि शतसहस्राणि, नरकाणां शतसहस्राणि नरकशतसहस्राणि। त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकानि च नरकशतसहस्राणि च त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि। अर्थात् त्रिंशत् आदिका नरकशतसहस्र पदके साथ अन्वय करनेपर तीस आदि लाख नरक–बिले हैं यह अर्थ इस द्वंद्वसमाससे यहां पर है।

यथाक्रमवचनं यथासंख्याभिसंबंधार्थं ॥ २ ॥

सूत्रमें जो यथाक्रम शब्दका पाठ है वह रत्नप्रभा आदिका त्रिंशत् आदिके साथ क्रमसे संबंध है यह अर्थ द्योतन करता है इसलिये सूत्रमें यथाक्रम वचनकी सामर्थ्यसे–रत्नप्रभामें तीस लाख बिले हैं शर्कराप्रभामें पचीस लाख, वालुकाप्रभामें पंद्रह लाख, पंकप्रभामें दश लाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमः-

प्रभामें पांच कम एक लाख, और महातमःप्रभामें केवल पांच नरक—बिले हैं, यह अर्थ समझ लेना चाहिये।

रत्नप्रभा भूमिके खरभाग पंकभाग और अब्बहुलभागके भेदसे ऊपर तीन भाग कहे गये हैं। उनमें अब्बहुलभागमें ऊपर नीचे एक एक हजार योजनोंको छोड़कर मध्यमें नरक हैं और वे इंद्रक, श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णकके भेदसे तीन प्रकारसे अवस्थित हैं। इनमें जो नरक मध्यमें हैं वे तो इंद्रक हैं दिशा और विदिशाओंमें श्रेणिरूपसे अवस्थित श्रेणिबद्ध हैं और श्रेणिबद्ध नरकोंके बीच बीचमें (फुटकर) नरक पुष्पप्रकीर्णक हैं। उन रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें नरकोंके प्रस्तार (पाथडे वा खने) इसप्रकार हैं—

पहिली रत्नप्रभाभूमिमें सीमंतक १ निरय २ रौरव (रौरुक) ३ विभ्रांत ४ उद्भ्रांत ५ संभ्रांत ६ असंभ्रांत ७ निभ्रांत ८ तप्त ९ त्रस्त १० व्युत्क्रांत ११ अवक्रांत १२ और विक्रांत १३ ये तेरह पाथड़े हैं एवं इन्हीं नामोंके धारक तेरह इंद्रक हैं। शर्कराप्रभामें स्तनक १ संस्तन २ मनक ३ वनक ४ घाट ५ संघाट ६ जिह्व ७ उज्जिह्विक ८ आलोल ९ लोलुक १० और स्तनलोलुक ११ ये ग्यारह पाथड़े एवं इन्हीं नामोंके धारक ग्यारह इंद्रक हैं। वालुका प्रभामें—तप्त १ त्रस्त २ तपन ३ आतपन ४ निदाघ ५ ज्वालित ६ प्रज्वलित ७ संज्वलित ८ संप्रज्वलित ९ ये नौ पाथड़े हैं एवं इन्हीं नामोंके धारक नौ इंद्रक हैं। पंकप्रभामें—आर १ मार २ तार ३ वर्चस्क ४ वैमनस्क ५ खाट ६ और आखाट ७ ये सात पाथड़े हैं एवं इन्हीं नामोंके धारक सात इंद्रक हैं। धूमप्रभामें—तम १ भ्रम २ झष ३ अंध ४ और तमिश्र ५ ये पांच पाथडे हैं एवं इन्हीं नामोंके धारक पांच इंद्रक हैं। तमःप्रभाभूमिमें—हिम १ वर्दल २ और लल्लक ३ ये तीन पाथड़े हैं और इन्ही नामोंके धारक तीन इंद्रक हैं। तथा महातमःप्रभा नामक भूमिमें अप्रतिष्ठान नामका एक ही पाथडा है और अप्रतिष्ठान नामका ही एक इंद्रक है।

सीमंतक इंद्रक विलेकी चारों दिशाओंमें चार नरकोंकी श्रेणियां हैं इसी प्रकार चारों विदिशाओंमें भी चार नरकोंकी श्रेणियां हैं। इनके बीचमें बहुतसे प्रकीर्णक नरक हैं। चारों दिशाओंमें जो चार नरकोंकी श्रेणियां कही गईं हैं उनमें एक एक श्रेणिमें उनचास उनचास (४९) श्रेणिबद्ध विले हैं और चारों विदिशाओंमें जो चार श्रेणियां कही गईं हैं उनमें एक एक श्रेणिमें अडतालीस अडतालीस विले हैं। तथा आगेके निरय आदि इंद्रकविलोंकी दिशा और विदिशाओंमें एक एक श्रेणिवद्ध विला कम होता चला गया है। इस रीतिसे पहिली रत्नप्रभा पृथिवीमें श्रेणिवद्ध और इंद्रकविलोंकी संख्या चार हजार चारसौ तेतीस ४४३३ है और पुष्पप्रकीर्णक विले उनतीस लाख पिचानबे हजार पांचसे सडसठि २९९५५६७ हैं। सब मिल कर पहिली रत्नप्रभा भूमिमें तीस लाख ३०००००० विले हैं। दूसरी शर्कराप्रभा भूमिमें श्रेणिबद्ध और इंद्रकविलोंकी संख्या दो हजार छसौ पिचानबे २६९५ है और पुष्पप्रकीर्णक विलोंकी संख्या चौबीस लाख सतानबे हजार तीन सौ पांच २४९७३०५ है। दोनों राशि मिल कर दूसरी भूमिमें पचीस लाख २५००००० विले हैं। तीसरी वालुकाप्रभा भूमिमें श्रेणिवद्ध और इंद्रक विलोंकी संख्या चौदहसौ पिचासी १४८५ हैं और पुष्पप्रकीर्णक विलोंकी संख्या चौदह लाख अठानबे हजार पांचसौ पंद्रह १४९८५१५ है। दोनों राशियोंको जोड देने पर तीसरी भूमिमें सब विले पंद्रह लाख १५००००० हैं। चौथी पंकप्रभा भूमिमें श्रेणिवद्ध और इंद्रकविलोंकी संख्या सातसौ सात ७०७ है और पुष्पप्रकीर्णक विलोंकी संख्या नौ लाख निन्यानवे हजार दोसै तिरानवे है। दोनों राशिओंको आपसमें जोडने पर कुल विले दस लाख १०००००० हैं पांचवीं धूमप्रभा भूमिमें श्रेणिवद्ध और इंद्रकविले दोसै पैंसठ हैं और पुष्पप्रकीर्णक विलोंकी संख्या दो लाख निन्यानवे

हजार सातसै पैंतीस २११७३५ है। दोनों राशियोंको आपसमें जोड देने पर सब विले पांचवीं भूमिमें तीन लाख ३००००० हैं। छठी धूमप्रभा भूमिमें श्रेणिवद्ध और इंद्रकविलोंकी संख्या त्रेसठि ६३ है और पुष्पप्रकीर्णक विले निन्यानवे हजार नौसै बत्तीस ९९९३२ हैं। दोनोंको आपसमें जोडने पर कुल विले छठी भूमिमे पांच कम एक लाख ९९९९५ निन्यानवे हजार नौसै पिचानवे हैं। तथा सातवीं पृथिवीमें अप्रतिष्ठान नामका एक ही इंद्रकविला है। काल महाकाल रौरव और महारौरवके भेदसे चार श्रेणिवद्ध विले हैं। उनमे पूर्व दिशामें काल नामका विला है पश्चिम दिशामें महाकाल, दक्षिण दिशामें रौरव और उत्तर दिशामें महारौरव विला है। इस प्रकार सातवीं पृथिवीमें इंद्रक और श्रेणिवद्ध पांच विले हैं। विदिशामें कोई श्रेणिवद्ध विला नहीं है। सातों भूमियोंके श्रेणिवद्ध और इंद्रक विमानोंकी कुलसंख्या नो हजार छैसौ त्रेपन ९६५३ है और पुष्पप्रकीर्णक बिलोंकी संख्या तिरासी लाख नव्बे हजार तीनसै सैंतालीस ८३९०३४७ है इस प्रकार रत्नप्रभा आदि सातो भूमियोंके कुल विले चौरासी लाख ८४००००० हैं खुलासा इसप्रकार है—

सीमंतक पाथडेमें चारो दिशाओंमें हर एकमें उनचास उनचास श्रेणिवद्ध विले हैं और चारो दिशाओंमें हर एकमें अडतालीस अडतालीस श्रेणिवद्ध विले हैं मिलकर चारो दिशाओंमें एक सौ छ्यानवे और विदिशाओंमें एकसौ बानबे हैं तथा इन दोनोंको आपसमें जोड लेनेपर सीमंतक पाथडेमें तीनसौ अठासी कुल विले हैं। दूसरे निरय पाथडेमें हर एक दिशामें अड़तालीस अड़तालीस मिलकर चारो दिशाओंमें एकसौ बानबे और हर एक दिशामें सैंतालीस सैंतालीस मिलकर चारो विदिशाओंमें एक सौ अठासी इस प्रकार सब मिलकर तीन सौ अस्सी हैं। तीसरे रौरव पाथडेमें हर एक दिशामें

सैंतालीस सैंतालीस मिलकर चारों दिशाओंमें एक सौ अठासी और प्रत्येक विदिशामें छ्यालीस छ्यालीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ चौरासी चौरासी इस प्रकार दिशा विदिशाके सब मिल कर तीनसौ बहत्तर हैं। चौथे भ्रांत पाथडेमें हर एक दिशामें छियालीस छियालीस चारों दिशाओंमें एकसौ चौरासी और हर एक विदिशामें पैंतालीस पैंतालीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ अस्सी इस प्रकार सब मिल कर तीनसौ चौंसठ विले हैं। पांचवें उद्भ्रांत पाथडेमें हर एक दिशामें पैंतालीस पैंतालीस मिल कर चारों दिशाओंमें एकसौ अस्सी और हर एक विदिशामें चवालीस चवालीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ छिहत्तर इस प्रकार सब मिले कर तीनसौ छप्पन विले हैं। छठे संभ्रांत पाथडेमें प्रत्येक दिशामें चवालीस चवालीस मिल कर चारों दिशाओंमें एकसौ छिहत्तर और हर एक विदिशामें तेंतालीस तेंतालीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ बहत्तर इस प्रकार सब मिल कर तीनसौ अडतालीस विले हैं। सातवें असंभ्रांत पाथडेमें हर एक दिशामें तेंतालीस तेंतालीस मिल कर चारों दिशाओंमें एकसौ बहत्तर और हर एक विदिशामें ब्यालीस ब्यालीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ अडसठ इस प्रकार सब विले तीनसौ चालीस हैं। आठवें विभ्रांत पाथडेमें हर एक दिशामें ब्यालीस ब्यालीस मिल कर चारों दिशाओंमें एकसौ अडसठ और हर एक विदिशामें इकतालीस इकतालीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ चौंसठ इस प्रकार सब मिल कर तीनसौ बत्तीस विले हैं। नवमें तप्त पाथडेमें हर एक दिशामें इकतालीस इकतालीस मिल कर चारो दिशाओंमें एकसौ चौंसठ और हर एक विदिशामें चालीस चालीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ साठ इस प्रकार सब मिल कर तीनसौ चोबीस हैं। दशवें त्रस्त पाथडेमें हर एक दिशामें चालीस चालीस मिल कर चारों

दिशाओंमें एकसौ साठ और हर एक विदिशामें उनतालीस उनतालीस मिल कर चारों विदिशाओंमें
एकसौ छप्पन इस प्रकार सब मिल कर तीनसौ सोलह विले हैं। ग्यारहवें व्युत्क्रांत पाथडेमें हर एक
दिशामें उनतालीस उनतालीस मिल कर चारों दिशाओंमें एकसौ छप्पन और हर एक विदिशामें अडतीस
अडतीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ बावन इसप्रकार सब मिल कर तीनसौ आठ विले हैं। बार-
हवें अवक्रांत पाथडेमें हर एक दिशामें अडतीस अडतीस मिल कर चारों दिशाओंमें एकसौ बावन,
हर एक विदिशामें सैंतीस सैंतीस मिल कर चारों विदिशाओंमें एकसौ अडतालीस इस प्रकार सब मिल
कर तीनसौ विले हैं। तेरहवें विक्रांत पाथडेमें हर एक दिशामें सैंतीस सैंतीस मिल कर चारों दिशाओंमें
एकसौ अडतालीस, प्रत्येक विदिशामें छत्तीस छत्तीस मिल कर चारों दिशाओंमें एकसौ चवालीस एवं सब
मिलकर दोसौ बानबे विले हैं। ये सब श्रेणिवद्ध विले मिलकर चार हजार चारसौ बीस हैं। सीमंतक
आदि उपर्युक्त तेरह पाथडोंमें सीमंतक आदि नामोंके ही धारक तेरह इंद्रकविले हैं। तेरह इंद्रक विले और
चार हजार चारसौ बीस श्रेणिवद्ध विले सब मिल कर प्रथम रत्नप्रभा भूमिमें चार हजार चारसौ तेतीस
श्रेणिवद्ध और इंद्रक विले हैं तथा उनतीस लाख पचानबे हजार पांचसौ अडसठ पुष्पप्रकीर्णक विले
हैं इस प्रकार सब मिल कर रत्नप्रभा भूमिमें कुल विले तीस लाख हैं।

दूसरे नरकके ग्यारह पाथडे बतला आये हैं उनमें पहिले स्तनक पाथडेमें चारों दिशाओंमें मिल
कर एकसौ चवालीस और चारों विदिशाओंमें एकसौ चालीस सब मिल कर दोसौ चौरासी विले हैं।
दूसरे संस्तन पाथडेमें चारों दिशाओंमें एकसौ चालीस और चारों विदिशाओंमें एकसौ छत्तीस इस
प्रकार सब मिल कर दोसौ छिहत्तर विले हैं। तीसरे मनक पाथडेमें चारों दिशाओंमें मिल कर एकसौ

छत्तीस और चारों विदिशाओंमें एकसौ बत्तीस इस प्रकार सब मिल कर दोसौ अडसठ विले हैं । चौथे वनक पाथडेमें एकसौ बत्तीस तो चारों दिशाओंमें और एकसौ अठाईस चारों विदिशाओंमें इस प्रकार सब मिल कर दोसौ साठ बिले हैं। पांचवें घाट पाथडेमें एकसौ अट्ठाईस चारों दिशाओंमें एकसौ चौबीस चारों विदिशाओंमें इस प्रकार सब मिला कर दोसौ बावन हैं। छठे संघाट पाथडेमें सब विले मिल कर दोसौ चवालीस हैं उनमें एकसौ चौबीस तो चारों दिशाओंमें हैं और एकसौ बीस चारों विदिशाओंमें हैं। सातवें जिह्व पाथडेमें चारों दिशाओंमें एकसौ बीस और चारों विदिशाओंमें एकसौ सोलह इस प्रकार सब मिल कर दोसौ छत्तीस हैं। आठवें उज्जिह्विक पाथडेमें दोसौ अट्ठाईस विले हैं उनमें एकसौ सोलह तो दिशाओंमें हैं और एकसौ बारह विदिशाओंमें हैं । नवमे आलोल पाथडेमें चारों दिशाओंमें एकसौ बारह और चारों विदिशाओंमें एकसौ आठ इस प्रकार सब मिल कर दोसौ बीस विले हैं। दशवें लोलुक पाथडेमें सब विले दोसौ बारह हैं उनमें एकसौ आठ तो चारों दिशाओंमें हैं और एकसौ चार चारों विदिशाओंमें हैं। ग्यारहवें स्तनलोलुक पाथडेमें चारों दिशाओंमें एकसौ चार विदिशाओंमें सौ इस प्रकार दोसौ चार हैं। इस प्रकार ये श्रेणिबद्ध विले दो हजार छहसौ चौरासी होते हैं। तथा इन ग्यारह पाथडोंमें एक एक इंद्रक विला है इसलिए ग्यारह और दो हजार छहसौ चौरासीको आपसमें जोडने पर इंद्रक और श्रेणिबद्ध विलोंकी संख्या शर्कराप्रभा भूमिमें दो हजार छहसौ पचानवे है और उसमें पुष्पप्रकीर्णक विले चौबीस लाख सतानवे हजार तीनसौ पांच हैं इस प्रकार सब मिल कर शर्कराप्रभा भूमिमें कुल विले पचीस लाख हैं।

तीसरे नरकमें तप्त आदि नौ प्रस्तार कह आये हैं उनमें पहिले तप्त पाथडेमें एकसौ छ्यानवे विले

और छ्यानवे चारो विदिशाओंमें हैं। दूसरे त्रस्त पाथडेमें चारो दिशा-
हैं उनमें सौ तो चारो दिशाओंमें और छ्यानवे चारो विदिशाओंमें हैं। दूसरे त्रस्त पाथडेमें चारो दिशा-
ओंमें छ्यानवे और चारो विदिशाओंमें बानवे इसप्रकार सब मिलकर एकसौ अठासी विले हैं। तीसरे
तपन पाथडेमें एकसौ अस्सी विले हैं उनमें बानवे तो चारो दिशाओंमें हैं और अठासी चारो विदि-
शाओंमें हैं। चौथे आतपन पाथडेमें चारो दिशाओंमें अठासी और चारो विदिशाओंमें चौरासी इस
प्रकार सब मिलकर एकसौ बहत्तर विले हैं। पांचवे निदाघ पाथडेमें एकसौ चौसठ विले हैं उनमें चारो
दिशाओंमें तो चौरासी हैं और चारो विदिशाओंमे अस्सी हैं। छठे प्रज्वलित पाथडेमें चारो दिशाओंमें
अस्सी और चारो विदिशाओंमें छहत्तर इस प्रकार सब मिलकर एकसौ छप्पन विले हैं। सातवे उज्वलित
पाथडेमें एकसौ अडतालीस विले हैं उनमें छहत्तर तो चारों दिशाओंमें हैं और वहत्तर चारो विदिशाओं
में हैं। आठवे संज्वलित पाथडेमें एकसौ चालीस विले हैं उनमें चारो दिशाओंमें मिलकर वहत्तर हैं और
चारो विदिशाओंमें अडसठ हैं। नवमे संप्रज्वलित पाथडेमें सब मिलकर एकसौ वत्तीस विले हैं उनमें
अडसठ तो चारो दिशाओंमें हैं और चौसठ चारो विदिशाओंमें हैं। इसप्रकार ये सब मिलकर श्रेणिवद्ध
विले चौदहसे छहत्तर हैं इन्हें हरएक पाथडेमें रहनेवाले नो इंद्रक विलोंके साथ जोडने पर वालुकाप्रभा
भूमिमें श्रेणिवद्ध और इंद्रक विले चौदहसे पिचासी हैं तथा इसीमें चौदह लाख अठानवे हजार पांचसौ
पंद्रह पुष्पप्रकीर्णक विले माने हैं इसरीतिसे मिलकर कुल विले वालुकाप्रभा नामकी तीसरी पृथिवीमें
पंद्रह लाख हैं।

पंकप्रभा भूमिमें सात पाथडे कह आये हैं। उनमें पाहिली आर पाथडेमें एकसौ चोबीस विले हैं
और वे चारो दिशाओंमें मिलकर चौसठ एवं चारो विदिशाओंमें साठ हैं। दूसरे मार पाथडेमें चारो

दिशाओंमें साठ और चारो विदिशाओंमें छप्पन इस प्रकार सब मिलकर एकसौ सोलह हैं। तीसरे तार पाथडेमें चारो दिशाओंमें छप्पन और चारो विदिशाओंमें बावन इसप्रकार एकसौ आठ विले हैं। चौथे वर्चस्क पाथडेमें सौ विले हैं और वे चारो दिशाओंमें बावन, चारो विदिशाओंमें अड़तालीस हैं। पांचवें वैमनस्क पाथडेमें चारो दिशाओंमें मिलकर अड़तालीस और चारो विदिशाओंमें मिलकर चवालीस हैं इसप्रकार सब विले बानबे हैं। छठे खार पाथडेमें चारो दिशाओंमें मिलकर चवालीस और चारो विदिशाओंमें मिलकर चालीस इसप्रकार चौरासी विले हैं। सातवे आखाट पाथडेमें चारो दिशाओंमें चालीस और चारो विदिशाओंमें छत्तीस इसप्रकार सब विले छहत्तर हैं। इसप्रकार ये श्रेणिवद्ध विले सातसौ हैं इन्हें सात पाथडोंके सात इंद्रक विलोंके साथ जोडनेसे श्रेणिवद्ध और इंद्रक विलोंकी संख्या सातसै सात होती है तथा इसी पृथिवीमें पुष्पप्रकीर्णक विले नौ लाख निन्यानवै हजार दोसौ तिरानवे माने हैं इसप्रकार सबोंको जोडकर पंकप्रभा भूमिमें कुल विले दश लाख हैं।

पांचवी धूमप्रभा भूमिमें पांच पाथडे वतलाये हैं उनमें पहिले तम पाथडेमें सब विले अडसठ कहे हैं उनमें छत्तीस तो चारो दिशाओंमे हैं और बत्तीस चारो विदिशाओंमे हैं। दूसरे भ्रम पाथडेमें चारो दिशाओंमें बत्तीस चारो विदिशाओंमें अट्ठाईस इस प्रकार सब विले साठ हैं। तीसरे झष पाथडेमें सब विले मिलकर बावन हैं उनमें अट्ठाईस तो चारो दिशाओंमें है और चौवीस चारो विदिशाओंमें हैं। चौथे अंध पाथडेमें चारो दिशाओंमें चौवीस और चारो विदिशाओंमें बीस इस प्रकार सब मिलकर चवालीस विले हैं। पांचवे तमिश्र पाथडेमें सब विले छत्तीस हैं उनमें बीस विले तो चारो दिशाओंमें हैं और सोलह विले चारो विदिशाओंमें हैं। इस प्रकार ये सब श्रेणिवद्ध विले दोसौ साठ हैं इनमें पांचो

पाथडोंके पांच इंद्रक विलोंके जोडनेपर श्रेणिबद्ध और इंद्रक विलोंकी संख्या दोसौ पैंसठ है और पुष्प-प्रकीर्णक विले इस पृथिवीमें दो लाख निन्यानवे हजार सातसौ पैंतीस हैं इस रीतिसे पांचवी धूमप्रभा भूमिमें कुल विले मिलकर तीन लाख हैं।

छठे नरकमें तीन पाथडे बतला आये हैं उनमें पहिले हिम पाथडेमें सब विले मिलकर अट्ठाईस हैं सोलह तो दिशाओंमें हैं और बारह विदिशाओंमें हैं। दूसरे वर्दल पाथडेमें चारो दिशाओंमें बारह और चारो विदिशाओंमें आठ इस प्रकार सब वीस हैं। तीसरे लल्लक पाथडेमें बारह विले हैं और वे आठ तो चारो दिशाओंमें हैं और चार चारो विदिशाओंमें हैं। इस प्रकार श्रेणिबद्ध विले साठ हैं तीनों पाथडोंमें रहनेवाले तीन इंद्रक विले हैं और निन्यानवे हजार नोसौ बत्तीस पुष्प प्रकीर्णक विले हैं इस प्रकार छठी तमःप्रभा भूमिमें कुल विले मिलकर पांच कम एक लाख हैं।

सातवी महातमः प्रभा भूमिमें अप्रतिष्ठान नामका एक पाथडा है उसकी चारो दिशाओंमें चार और एक इंद्रक विला इस प्रकार मिलकर पांच विले हैं।

रत्नप्रभा आदि सातों पृथिवियोंमें कितने ही नरक संख्येय विस्तार वाले हैं और कितने ही असंख्यात विस्तार वाले हैं जो संख्येय विस्तारवाले हैं उन्हें संख्येय लाख योजन विस्तारवाला समझ लेना चाहिये और जो असंख्येय विस्तारवाले हैं उन्हें असंख्यात लाख योजन विस्तारवाला समझ लेना चाहिये। खुलासा भाव यह है कि सर्वत्र नरकोंमें पांचवां भाग तो संख्येय विस्तारवालोंका है और चार भाग असंख्येय विस्तारवालोंके हैं। खुलासा इसप्रकार है—

प्रथम नरकके तीस लाख विलोंमें छै लाख विले तो संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और चौवीस

लाख असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं। दूसरे नरकमें पच्चीस लाख विले कहे हैं उनमें पांच लाख विलोंका विस्तार संख्यात योजन है और बीस लाख विलोंका विस्तार असंख्यात योजन है। तीसरे नरकके विले पंद्रह लाख हैं उनमें तीन लाख विले तो संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और बारह लाख असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं। चौथे नरकमें दश लाख विले बतलाये हैं उनमें दो लाख विलोंका विस्तार संख्यात योजन है और आठ लाख विलोंका असंख्यात योजन है। पांचवें नरकमें तीन लाख विले हैं उनमें साठ हजार विले तो संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और दो लाख चालीस हजार असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं। छठे नरकमें पांच कम एक लाख विले कहे हैं उनमें पच्चीस हजार नौसै निन्यानबे विलोंका विस्तार तो संख्यात योजनका है और उन्यासी हजार नौसौ छ्यानबेका असंख्यात योजनका है। सातवें नरकमें पांच विले हैं उनमें एकका विस्तार संख्यात योजन है और बाकीके विलोंका असंख्यात योजन है। उन सब प्रकारके विलोंमें इंद्रक विलोंका विस्तार तो संख्यात योजन है। समस्त श्रेणिवद्ध विलोंका असंख्यात योजन है और पुष्पप्रकीर्णक विलोंमें अनेक संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और अनेक असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं। अब नरकके पाथडोंकी मुटाईका प्रतिपादन किया जाता है—

रत्नप्रभा पृथिवीके इंद्रकविलोंकी मुटाई एक कोशकी है आगेकी भूमियोंमें आधा आधा कोश बढती चली गई है। सातवीं भूमिके इंद्रक विलेकी मुटाई चार कोशकी है। यह समस्त इंद्रक विलोंकी मुटाई है। जिस समय अपने अपने इंद्रकोंकी मुटाई त्रिभाग सहित होती है उस समय वह श्रेणिवद्ध विलोंकी मुटाई कही जाती है और श्रेणिवद्ध विलोंकी मुटाई और इंद्रक विलोंकी मुटाईको आपसमें जोडने पर जो प्रमाण हो वह पुष्पप्रकीर्णक विलोंकी मुटाई है खुलासा इस प्रकार है—

धर्मा नरकके इंद्रक विलोंकी मुटाई एक कोशकी है। श्रेणिवद्ध विलोंकी मुटाई एक कोश और एक कोशके तीन भाग है। एवं पुष्पप्रकीर्णक विलोंकी मुटाई दो कोश और एक कोशके तीन भाग है। इसी प्रकार सर्वत्र जाननी चाहिये।

ऊपर जिन नरक–विलोंका उल्लेख किया गया है वे सब ऊंट मुख आदि अशुभ आकारके धारक हैं। अर्थात्–प्रथम नरकसे तीसरे नरक तकके नारकियोंकी उत्पत्तिके स्थान–नरक अनेक तो ऊंटके आकारके हैं अनेक कुंभी (घडिया) कुस्थली मुद्गर और नाडीके आकारके हैं। चौथे और पांचवें नरकोंके नारकियोंके जन्मस्थान अनेक तो गौके आकारके हैं अनेक हाथी घोडा भस्त्रा (धौंकनी) नाव और कमलपुटके सदृश हैं। छठी और सातवीं पृथिवीमें नारकियोंके जन्मस्थान बहुतसे तो खेतके आकारके हैं। बहुतसे झालर और मल्लिकाके आकारके हैं एवं अनेक भौंरेके आकारके हैं। तथा उन नरकोंके शोचन रोदन और आक्रंदन आदि अशुभ नाम हैं ॥ २ ॥

ऊपर जिन सीमंतक आदि विलोंका उल्लेख कर आये हैं उनमें प्रकृष्ट पापकर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाले नारकी जीव कैसे हैं सूत्रकार उनके कुछ स्वरूपका उल्लेख करते हैं–

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

नारकी जीव सदा ही अशुभतर लेश्यावाले, अशुभतर परिणामवाले, अशुभतर देहके धारक, अशुभतर वेदनावाले और अशुभतर विक्रिया करनेवाले होते हैं। निरंतर अशुभ कर्मका उदय रहनेके कारण उनके परिणामादि सदा अशुभ ही रहते हैं।

लेश्यादिशब्दा उक्तार्थाः ॥ १ ॥

लेश्या आदि शब्दोंका अर्थ ऊपर बतला दिया गया है। लेश्या च परिणामश्च देहश्च वेदना च विक्रिया च 'लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः' ता येषां ते तथाभूताः यह यहां पर द्वंद्वगर्भित बहुव्रीहि समास है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—तरप् प्रत्ययका व्याकरण शास्त्रके अनुसार वहीं प्रयोग माना है जहां एकमें दूसरेकी अपेक्षा प्रकर्षता होती है यहां पर नरकोंकी अपेक्षा किसी अन्य जगहपर अशुभलेश्या आदि कम हों और उसकी अपेक्षा नरकोंमें अधिक हों तब तो उस अन्य जगहरूप प्रतियोगीकी अपेक्षा नरकोंमें अशुभतर लेश्या आदि माने जा सकते हैं। परंतु सो कोई वैसा अन्य प्रतियोगी है नहीं इसलिये अशुभतर यहां पर प्रकर्षके निर्देशार्थ तरप् प्रत्ययका प्रयोग अयुक्त है। वार्तिककार इस विषयका समाधान देते हैं—

तिर्यग्व्यपेक्षोऽतिशयनिर्देशः ॥ २ ॥

अशुभ लेश्या आदि तिर्यंच और नारकी दोनोंके होती है वहांपर तिर्यंचोंकी अपेक्षा नारकियोंकी अशुभलेश्या आदि प्रकर्षतासे हैं यह द्योतन करनेकेलिये 'अशुभतर' यहां पर तरप् प्रत्ययका निर्देश है। अथवा—

ऊर्ध्वापेक्षो वा ऽधोगतानां ॥ ३ ॥

पहिले पहिले नरकोंकी अपेक्षा आगे आगेके नरकोंमें अशुभ लेश्या आदिकी प्रकर्षता है इसलिये इस प्रकर्षताके द्योतन करनेकेलिए अशुभतर यहां पर तरप् प्रत्ययका विधान सार्थक है। शंका—

१—पहिले नरककी अपेक्षा दूसरे नरकमें अशुभलेश्या आदिकी प्रकर्षता है। दूसरेकी अपेक्षा तीसरेमें प्रकर्षता है इसरीतिसे

नित्यग्रहणाल्लेश्याद्यनिवृत्तिप्रसंग इति चेन्नाभीक्ष्ण्यवचनत्वात् नित्यप्रहसितवत् ॥ ४ ॥

नित्य शब्दका अर्थ सदा रहनेवाला है जो पदार्थ कूटस्थ और अविचल हैं उनकी नित्यता बतलानेकेलिये उसका प्रयोग देखा जाता है जिसतरह स्वर्ग नित्य है। पृथिवी नित्य है और आकाश नित्य है। नारका नित्याशुभेत्यादि सूत्रमें भी अशुभलेश्या आदिका विशेषण कर नित्य शब्दका उल्लेख किया गया है इसलिये अशुभलेश्या आदि भावोंका कभी भी विनाश तो होगा नहीं सदा वे तदवस्थ रहेंगे फिर जीवोंका कभी भी नरकोंसे निकलना न हो सकेगा ? सो ठीक नहीं। हास्यके कारणोंके उपस्थित रहने पर बार बार हंसनेके कारण देवदत्त नामका पुरुष जिसप्रकार नित्यप्रहसित (सदा हंसनेवाला) कहा जाता है वहां पर यह बात नहीं कि उसका हंसना कभी वंद ही न होता हो अर्थात् कारणकी उपस्थितिमें सदा हंसनेके कारण वह सदा हंसनेवाला कहा जाता है किंतु कारणोंके अभावमें उसका हंसना वंद हो जाता है उसीप्रकार जब तक अशुभलेश्या आदिके कारण अशुभकर्मोंके उदयादि विद्यमान रहते हैं तबतक सदा अशुभलेश्या आदि उत्पन्न होते रहते हैं किंतु कारणोंके अभाव हो जानेपर उनकी भी निवृत्ति हो जाती है तथा उनकी निवृत्ति होनेपर नरकवास छोड देना पडता है इसलिये यहां पर नित्य शब्द आभीक्ष्ण्य अर्थका द्योतक है कोई दोष नहीं।

'नित्यमशुभतरा नित्याशुभतराः' अर्थात् सदा जो प्रकृष्ट रूपसे अशुभ हों वे नित्याशुभतर कहे जाते हैं। यहांपर सुप्सुपा। १। २। ३ अर्थात् सुप्प्रत्ययांत शब्दोंका सुप्प्रत्ययांत शब्दोंके साथ समास होता

तो आगेके नरकोंमें प्रकर्षता है और प्रथम नरकमें तिर्यग्गतिकी अपेक्षा प्रकर्षता है इसलिये सातो नरकोंकी अपेक्षा तरप् प्रत्ययका प्रयोग सार्थक है।

है इस सूत्रसे समास हुआ है। अथवा—मयूरव्यंसकादयश्च ।१।३।६३। मयूरव्यंसकादि गणमें पठित मयूर व्यंसकादि शब्दोंका आपसमें समास होता है इस सूत्रके अनुसार नित्याशुभतर शब्दका मयूरव्यंसकादिगणमें पाठ होनेसे भी यहां समास हुआ है। 'नित्याशुभतरा लेश्यापरिणामदेहवेदना-विक्रिया येषां त इमे नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः' अर्थात् जिनके लेश्या परिणाम आदि सदा अत्यंत अशुभ हों वे नित्य अशुभतर लेश्या आदिवाले जीव कहे जाते हैं। कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्लके भेदसे छह लेश्यायें मानी हैं उनमें आदिकी तीन लेश्यायें अशुभ हैं और नरकोंमें वे अशुभतर रूपसे इस प्रकार हैं—

पहिले और दूसरे नरकमें कपोत लेश्या है। तीसरेमें ऊपरके भागमें कपोत और नीचेके भागमें नील लेश्या है। चौथे नरकमें सर्वत्र नील लेश्या है। पांचवें नरकमें ऊपरके भागमें नील लेश्या और नीचेके भागमें कृष्ण लेश्या है। छठे नरकमें सर्वत्र कृष्ण लेश्या है और सातवेंमें महाकृष्ण लेश्या है। इन नरकोंमें जितना आयुका प्रमाण कहा गया है उतने ही काल तक द्रव्य लेश्या विद्यमान रहती है और छहो प्रकारकी भावलेश्याओंमें प्रत्येक लेश्याका अंतर्मुहूर्तमें ही परिवर्तन होता रहता है।

सूत्रमें परिणाम शब्दसे स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्दोंके परिणमनका ग्रहण है। क्षेत्र विशेषके कारण अर्थात् महादुःखदायी नरक क्षेत्रके कारण स्पर्श रस गंध आदिका परिणाम महादुःखका कारण होता है अर्थात् शीतकी वेदनासे व्याकुल हो जब नारकी किसी पदार्थको उष्ण समझ उसका स्पर्श करते हैं तो उस स्पर्शसे शरीरके खंड खंड हो जाते हैं जिससे महा कष्ट होता है यदि वे अच्छी

१ सुवंतं सुवंतेन न सो (समासो) भवति। जैनेन्द्र (शब्दार्णवचंद्रिका पृष्ठ १९। २ जैनेन्द्र शब्दार्णवचंद्रिका। पृष्ठ २४

समझ किसी चीजको चाखते हैं तो जीभ पर रखते ही जीभके खंड खंड हो जाते हैं। सुगंधकी जगह दुर्गंधका कष्ट भोगना पडता है महा कुरूप आकृति रहती है और महा कटुक शब्द सुनने पडते हैं।

अशुभ नाम कर्मके उदयसे सदा नारकियोंका शरीर अशुभ रहता है। अंग उपांग स्पर्श रस गंध वर्ण और बोलचाल महा अशुभ रहते हैं। उनका महा निकृष्ट हुंडक संस्थान रहता है। पंख और बालोंके उखाड लेने पर जिस प्रकार अंडेसे उत्पन्न हुये मुर्गा आदि पक्षियोंका भयानक शरीर हो जाता है उसी प्रकार उन नारकियोंके शरीर भी महा भयानक होते हैं। नारकियोंके देखने मात्रसे या तो परिणामोंमें क्रूरता उत्पन्न हो जाती है या करुणाभाव या ग्लानि और भय उत्पन्न हो जाता है।

तथा जिस प्रकार औदारिक शरीरमें कफ मूत्र विष्टा मल रुधिर नसा मज्जा पीव वमि महा दुर्गंधित मांस केश हड्डी चाम आदि अशुभ पदार्थ रहते हैं उससे महा अधिक नारकियोंके वैक्रियिक भी शरीरमें रहते हैं। नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई पहिले नरकमें सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल प्रमाण है। नीचे नीचेके नरकोंमें इससे दूनी दूनी समझ लेनी चाहिये। खुलासा इस प्रकार है—

पहिले नरकमें तेरह पाथडे बतला आए हैं। उनमें पहिले सीमंतक पाथडेमें नारकियोंके शरीरकी ऊंचाई तीन हाथ है। दूसरेमें एक धनुष एक हाथ और साढे आठ अंगुल प्रमाण है। तीसरेमें एक धनुष तीन हाथ और सत्रह अंगुल है। चौथेमें दो धनुष दो हाथ और डेढ अंगुल है। पांचवेंमें तीन धनुष दो अंगुल है। छठेमें तीन धनुष दो हाथ और साढे अठारह अंगुल है। सातवेंमें चार धनुष एक हाथ और तीन अंगुल है। आठवेंमें चार धनुष तीन हाथ साढे ग्यारह अंगुल है नववेंमें पांच धनुष एक हाथ वीस अंगुल है दशवेंमें छह धनुष साढे चार अंगुल है। ग्यारहवेंमें छह धनुष दो हाथ और तेरह अंगुल

है । बारहवेंमें सात धनुष और साढे इकीस अंगुल है एवं तेरहवें पाथडेमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है ।

दूसरे नरकमें ग्यारह पाथडे बतला आये हैं उनमें पहिले पाथडेमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई आठ धनुष दो हाथ दो अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें एक भाग है । दूसरे पाथडेमें नौ धनुष बाईस अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें चार भाग है । तीसरे पाथडेमें नौ धनुष तीन हाथ अठारह अंगुल और एक अंगुलके दश भागोंमें छह भाग है । चौथे पाथडेमें दश धनुष दो हाथ चौदह अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें आठ भाग है । पांचवें पाथडेमें ग्यारह धनुष एक हाथ दश अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें दश भाग है । छठे पाथडेमें बारह धनुष सात अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें एक भाग है । सातवें पाथडेमें बारह धनुष तीन हाथ तीन अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें तीन भाग है । आठवें पाथडेमें तेरह धनुष एक हाथ तेईस अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें पांच भाग है नवमें पाथडेमें चौदह धनुष उन्नीस अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें सात भाग है । दशवें पाथडेमें चौदह धनुष तीन हाथ पंद्रह अंगुल और एक अंगुलके ग्यारह भागोंमें एक भाग है । एवं ग्यारहवें पाथडेमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई पंद्रह धनुष दो हाथ और बारह अंगुलकी है ।

तीसरे नरकमें नौ पाथडे कह आए हैं उनमें पहिले पाथडेमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई सत्रह धनुष एक हाथ दश अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें दो भाग है । दूसरे पाथडेमें उन्नीस धनुष नौ अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें एक भाग है । तीसरे पाथडेमें बीस धनुष तीन हाथ और

आठ अंगुल है । चौथे पाथडेमें बाईस धनुष दो हाथ छह अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें दो भाग है । पांचवें पाथडेमें चौबीस धनुष एक हाथ पांच अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें एक भाग है । छठे पाथडेमें छब्बीस धनुष चार अंगुल है । सातवें पाथडेमें सत्ताईस धनुष तीन हाथ दो अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें दो भाग है । आठवें पाथडेमें उनतीस धनुष दो हाथ एक अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें एक भाग है । एवं नववें पाथडेमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई इकतीस धनुष और एक हाथ है ।

चौथे नरकमें सात पाथडे कहे गये हैं उनमें पहिले आर पाथडेमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई पैंतीस धनुष दो हाथ बीस अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें चार भाग है । दूसरे पाथडेमें चालीस धनुष सत्रह अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें एक भाग है । तीसरे पाथडेमें चवालीस धनुष दो हाथ तेरह अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें पांच भाग है । चौथे पाथडेमें उनचास धनुष दश अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें दो भाग है । पांचवे पाथडेमें त्रेपन धनुष दो हाथ छह अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें छह भाग है । छठे पाथडेमें अट्ठावन धनुष तीन अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें तीन भाग है । सातवें पाथडेमें बासठ धनुष दो हाथ है ।

पांचवे नरकमें पांच पाथडे कह आये हैं । उनमें पहिले पाथडेमें नारकियोंके शरीरकी उंचाई पचहत्तर धनुष है । दूसरे पाथडेमें सतासी धनुष दो हाथ है । तीसरे पाथडेमें सौ धनुष है । चौथे पाथडेमें एकसौ बारह धनुष दो हाथ है । पांचवें पाथडेमें नारकियोंके शरीर की उंचाई एकसौ पचीस धनुष है ।

छठे नरकमें तीन पाथडे कहे गये हैं उनमें पहिले हिम पाथडेमें नारकियोंके शरीर की उंचाई

छ्यासठ धनुष दो हाथ और सोलह अंगुल है। दूसरे पाथडेमें दो सौ आठ धनुष एक हाथ और आठ अंगुल है और तीसरे पाथडेमें ढाई सौ धनुष की है।

तथा सातवें नरकमें अप्रातिष्ठान नामका एक ही पाथडा कहा गया है और उसमें रहनेवाले नारकियोंके शरीरकी उंचाई पांच सौ धनुष प्रमाण है।

अंतरंग कारण असातावेदनीय कर्मके उदयसे और वहिरंग कारण अनादि पारिणामिक शीत और उष्णके निमित्तसे जायमान अनेक तीव्र वेदनायें नारकियोंके होती हैं कुछ स्वरूप उनका इसप्रकार है—

ग्रीष्म ऋतुके मध्याह्न कालमें जब कि आकाशमें मेघपटलकी सत्ता नहीं है उस समय जहांपर अपनी महा तीक्ष्ण किरणोंसे सूर्यने समस्त दिशाओंका मध्यभाग व्याप्त कर रक्खा है, रंचमात्र भी शीत पवनका झकोरा नहीं आता किंतु दावानलके दाहके समान पवन—लूंएं फकडती हैं ऐसी मरुभूमिमें जिसका शरीर चारो ओरसे जलती हुई अग्निकी शिखासे व्याप्त है, जो तीव्र प्याससे दुःखी है और जिसका शरीर पित्तज्वरसे संतप्त है तिसपर भी जिसका कोई प्रतीकार (इलाज) नहीं हो रहा है उस पुरुषको जिसप्रकार उष्णजनित तीव्र वेदना होती है उससे भी अनंतगुणी वेदना नारकियोंको उष्ण नरकों में भोगनी पडती है। तथा—

माघ महीनेमें जिस समय बर्फके गिरनेसे चारो दिशाएं शीतसे व्याप्त हैं, झरते हुए मेघ जल से समस्त मही मंडल कीचडसे व्याप्त है उससमय रात्रिके समय बहती हुई महा ठंडी पवनसे जिसका शरीर कंपरहा है और दांती बज रही हैं, जिसका देह शीत ज्वरसे क्लेशित है और न जिसके लिये कोई रहनेके लिये घर है और न तनपर कपडा है ऐसे पुरुषको जिसप्रकार शीतजनित अचिंत्य कष्ट होता है उससे भी अनंतगुण कष्ट शीत वेदनावाले नरकोंमें होता है। अथवा—

हिमवान पर्वतके समान स्थूल भी तामेका पहाड यदि उष्णताके धारक नरकोंमें डाल दिया जाय तो वह देखते देखते वहीं पिघल सकता है ऐसी नरकोंमें प्रखर उष्णता है तथा वही द्रवीभूत यदि शीत वेदनावाले नरकोंमें डाल दिया जाय तो वह निमेषमात्रमें घनरूप हो सकता है ऐसी वहां पर विकट शीत वेदना है।

रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा और पंकप्रभा इन चार भूमियोंमें तो जितने नरक हैं प्रखर उष्णताके धारक हैं। पांचवीं धूमप्रभा पृथिवीमें ऊपरके भागमें दो लाख नरक उष्णतासे परिपूर्ण हैं और नीचेके भागमें एक लाख विलोंमें तीव्र शीत है तथा तमःप्रभा और महातमःप्रभा इन छठी और सातवीं भूमियोंमें भी प्रचंड शीत है इसप्रकार रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें मिलकर व्यासी लाख नरक (विले) उष्ण वेदनासे व्याप्त हैं और शेष दो लाख विले तीव्र शीत वेदनासे परिपूर्ण हैं।

हम अपनी विक्रिया शुभ करें ऐसा विचार कर नारकी लोग अपनी विक्रिया करते हैं परंतु तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे उनकी महा अशुभ विक्रिया ही बन जाती है जिससे उन्हें वडा दुःख होता है तथा जिस समय तीव्र दुःख सहते सहते वे अत्यंत तप्त हो जाते हैं इसलिये उस दुःखसे छूटने की इच्छा से वे बहुतसे उपायोंको काममें लाते हैं परंतु तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे वे सब उपाय उनके लिये भयंकर कष्टके कारण बन जाते हैं इसरीतिसे दीन नारकियोंको प्रति समय महा कष्ट भोगना पडता है। सूत्रमें नारकियोंके जो लेश्या आदि भाव वतला आये हैं वे उत्तरोत्तर अत्यंत अशुभ अशुभ होते चले जाते हैं यह यहांपर तात्पर्य समझ लेना चाहिये ॥ ३ ॥

क्या नारकियोंके शीत और उष्णजनित ही दुःख है किंवा अन्य प्रकारसे भी दुःख है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्रकार उस अन्य दुःखका निरूपण करते हैं–

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

नारकी जीव आपसमें एक दूसरेको महान दुःख देते रहते हैं। हर एक समय उनका लडने और झगडनेमें ही बीतता है। जिस रूपसे नारकी आपसमें एक दूसरेको दुःख देते हैं वह इस प्रकार है–

निर्दयित्वात्परस्परदर्शने सति कोपोत्पत्तेः श्ववत् ॥ १ ॥

जिस प्रकार कुत्ते सदातन, अकारण, अनादिकालसे होनेवाले जातीय वैरसे निर्दयी हो कर आपसमें काटना भेदना छेदना आदि दुःखदायी क्रियाओंमें प्रवृत्त हो जाते हैं इसलिए वे आपसमें महा दुःखी होते हैं उसी प्रकार नारकी भी मिथ्यादर्शनके उदयसे विभंग नामके एवं भवकारणक अवधिज्ञानसे 'अमुक जीवने अमुक रूपसे मुझे कष्ट दिया था' इस प्रकार पहिलेसे ही दुःखके कारणोंको जानकर प्रथम तो स्वयं अत्यंत दुःखी हो जाते हैं। पश्चात् जिस जीवके द्वारा परभवमें कष्ट पहुंचाया गया था उसके समीपमें आने पर और देखने पर एक दम क्रोधाग्निसे प्रज्वलित हो जाते हैं और अपनी विक्रियासे बनाये गये तलवार कुदाल फरसा और भिंडिपाल आदि शस्त्रोंसे तत्क्षण ही उसके शरीरको टूक टूक करने छेदने और पीडा देने आदिके लिए प्रवृत्त हो जाते हैं ऐसी चेष्टा सब ही नारकियोंकी प्रतिसमय रहती है इस रीतिसे समस्त नारकी आपसमें प्रतिसमय महा दुःखी बने रहते हैं ॥ ४ ॥

ऊपर नारकियोंके दुःखके कारण बतलाये गये हैं क्या उतने ही उनके दुःखोत्पादक कारण हैं कि

और भी कोई कारण हैं। सूत्रकार ऊपर कहे गये कारणोंसे अतिरिक्त कारणोंका और भी प्रतिपादन करते हैं—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

तथा वे नारकी जीव चौथे नरकसे पहिले अर्थात् पहिले दूसरे तीसरे नरक पर्यंत अंबा अंबरीष जातिके संक्लिष्ट परिणामवाले असुरोंके द्वारा भी दुःखी किये जाते हैं।

पूर्वभवसंक्लेशपरिणामोपात्ताशुभकर्मोदयात्सततं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः ॥ १ ॥

पूर्वभवमें जो संक्लेशस्वरूप परिणाम हुए थे उनसे जो तीव्र पाप कर्मका उपार्जन किया था उसके उदयसे सदा क्लेश स्वरूप होना संक्लिष्ट शब्दका अर्थ है। अर्थात् संक्लेश परिणामोंके द्वारा पूर्वभवमें उपार्जन किये गये पाप कर्मोंसे जो सदा संक्लेशमय रहैं वे संक्लिष्ट हैं।

असुरनामकर्मोदयादसुराः ॥ २ ॥

देवगति नामक नामकर्मका भेद और असुरपनेकी प्राप्तिका कारण जो असुरत्व नामकर्म है उसके उदयसे जो दूसरे जीवोंको दुखी करें वे असुर कहे जाते हैं।

संक्लिष्टविशेषणमन्यासुरनिवृत्त्यर्थं ॥ ३ ॥

असुरकुमार जातिके बहुतसे देव हैं। उनमें सब ही असुरकुमार नारकियोंको दुःख नहीं पहुंचाते किंतु अंब, अंबरीष आदि कतिपय जातिके जो कि सदा संक्लेशमय रहते हैं वे ही पहुंचाते हैं इस बातके द्योतन करनेके लिए असुरका संक्लिष्ट विशेषण है। इस प्रकार संक्लिष्ट विशेषणसे यहां अंब, अंबरीष आदि जातिके देवोंके सिवाय अन्य असुरोंकी निवृत्ति हो जाती है।

अमुराणां गतिविषयनियमप्रदर्शनार्थं प्राक् चतुर्थ्या इति वचनं ॥ ४ ॥

नारकियोंकी वेदनाको प्रगट करनेवाले संक्लेश परिणामवाले असुरकुमार जातिके देवोंका गमन आदिके पहिले तीन नरकों तक ही है उसके आगे वे नहीं जा सकते इसप्रकार गतिका नियम प्रदर्शन करनेकेलिए सूत्रमें 'प्राक् चतुर्थ्याः' यह वचन है। शंका—

आङो ग्रहणं लघ्वर्थमिति चेन्न संदेहात् ॥ ५ ॥

आङ् उपसर्गका अर्थ मर्यादा भी है तथा 'प्राक्चतुर्थ्याः'की जगह 'आचतुर्थ्याः' कहने पर लाघव भी है इस रीतिसे 'आचतुर्थ्याः' जब ऐसे कहने पर भी असुरकुमारोंके गमनका नियम तीसरी पृथिवी तक सिद्ध हो जाता है तब लाघवसे 'आचतुर्थ्याः' यही सूत्रमें उल्लेख होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। आङ्का अर्थ अभिविधि भी माना गया है और अभिविधि अर्थके मानने पर 'आचतुर्थ्याः' यहांपर चौथे नरक तक भी असुरोंका गमन कहा जा सकता है इसलिए अभिविधि और मर्यादा दोनों अर्थोंके मानने पर यह संदेह हो सकता है कि असुरकुमार जातिके देव चारो नरक तक जाते हैं कि तीन नरक तक ? उस संदेहके दूर करनेकेलिए आङ्का उल्लेख न कर प्राक्का उल्लेख किया गया है। अब कोई संदेह नहीं हो सकता क्योंकि चौथे नरकसे पहिले पहिले अर्थात् तीसरे नरक पर्यंत असुरकुमार जातिके देवोंका गमन है यह स्पष्ट अर्थ है इस रीतिसे भले ही अक्षरलाघव हो तथापि वास्तविक अर्थकी प्रतीतिकेलिए 'आचतुर्थ्याः'के स्थान पर 'प्राक्चतुर्थ्याः' उल्लेख ही युक्त है।

चशब्दः पूर्वहेतुसमुच्चयार्थः ॥ ६ ॥

'संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च' यहांपर जो चशब्द है उसका तीसरे नरक पर्यंतके नारकी संक्लिष्ट

असुरकुमार देवोंद्वारा प्रगट किये दुःखोंको एवं शीतउष्णजनित किंवा आपसमें नारकियों ही द्वारा उदीरित दुःखको भी सहते हैं इसप्रकार समुच्चय है। यदि सूत्रमें चशब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो पहिलेके तीन नरकोंमें रहनेवाले नारकी संक्लिष्ट असुरकुमार देवोंद्वारा उदीरित दुःखोंको ही भोगते हैं उपर्युक्त शीत आदि जनित दुःख उन्हें नहीं भोगना पडता यही अर्थ होता जो कि आगमविरुद्ध है। शंका—

अनंतरत्वादुदीरितग्रहणानर्थक्यमिति चेन्न तस्य वृत्तौ परार्थत्वात् ॥ ७ ॥

'परस्परोदीरितदुःखाः' यहांपर उदीरित शब्दका उल्लेख किया गया है उसीकी संक्लिष्टासुरेत्यादि सूत्रमें अनुवृत्ति आ जायगी इसलिये इस सूत्रमें पुनः उदीरित ग्रहण करना निरर्थक है? सो ठीक नहीं। 'परस्परोदीरितदुःखाः' यहांपर अनेक पदार्थोंकी अनेक समास है। उस समासके वीचमें उदीरित शब्द पडा हुआ है इसलिये यदि अनुवृत्ति की जायगी तो जितने पदार्थोंका मिलकर समास है उन सबकी होगी केवल उदीरित शब्दकी नहीं हो सकती अतः 'संक्लिष्टासुरेत्यादि' सूत्रमें उल्लिखित उदीरित पद निरर्थक नहीं। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

वाक्यवचनमिति चेन्नोदीरणहेतुप्रकारदर्शनार्थत्वात् ॥ ८ ॥

समासके वीचमें पड जानेके कारण यदि उदीरित शब्दकी अनुवृत्ति दूसरे सूत्रमें नहीं जा सकती तब 'परस्परेणोदीरितदुःखाः संक्लिष्टासुरैश्च प्राक्चतुर्थ्याः' ऐसे वाक्यरूपसे सूत्रोंका पाठ करना चाहिये ऐसा करनेसे उदीरित और दुःख शब्दका पुनः उल्लेख न करनेसे महान लाघव होगा? उसका समाधान यह है कि यद्यपि ऐसा करनेसे एक उदीरित शब्दका प्रयोग निरर्थक जान पडता है तथापि दूसरी बार

जो उदीरित शब्दका उल्लेख किया गया है वह उदीरणके कारणोंके प्रकार बतलानेके लिये है । वे इस प्रकार हैं—

नरकोंमें नारकियोंको तपे हुए लोहेके रसका पान कराया जाता है। तपे हुए खंभोंसे आलिंगन कराया जाता है। पर्वत और शाल्मलि वृक्षपर चढाया उतारा जाता है। घनोंसे कूटा जाता है। वसूली खुरफासे काटा जाता है। क्षार तपे तेलमें फेंका जाता है। लोहेकी कढाइयोंमें पकाया जाता है। भारमें भूंजा जाता है एवं कोल्हूमें पेरा जाता है। शूल और शलाकासे छेदा जाता है। आरेसे चीरा जाता है। अंगीठीमें जलाया जाता है सुईके अग्रभागके समान नोकदार घास पर घसीटा जाता है । वाघ रीछ गेंडा कुत्ता शृगाल भेडिया कोक विल्ली नौला चूहा सांप काक गीध कंक—कांकपक्षी उल्लू और गीध आदि पक्षियोंसे खवाया जाता है। गरम वालूमें घुमाना, तलवारके समान तीक्ष्ण पत्तोंके वृक्षोंसे व्याप्त वनोंमें प्रवेश करना, महानिकृष्ट पीव रक्त आदिसे परिपूर्ण वैतरणी नदीमें डुबाना आदि, एवं अन्य भी परस्पर अनेक प्रकारकी प्रेरणासे महासंक्लिष्ट असुरोंके द्वारा नारकियोंको दुःख भोगने पडते हैं।

यदि यहांपर यह शंका हो कि असुर जातिके देव क्यों नारकियोंको वैसा कष्ट पहुंचाते हैं? तो उसका समाधान यह है कि—उन्हें ऐसे पाप कार्योंके करनेमें स्वभावतः प्रेम रहता है सारार्थ यह है कि—जो मनुष्य राग द्वेष और मोहसे तिरस्कृत हैं और जिनका पुण्य अशुभ पापकर्मका उत्पादक है उन निर्दयी मनुष्योंको जिसप्रकार बैल भैंसे बकरे सूअर मुर्गे बटेर लाई आदि पक्षी वा मल्लोंको आपसमें युद्ध करते और एक दूसरेको बडी क्रूरतासे मारते देख अत्यंत आनंद होता है उसीप्रकार उन दुष्ट असुरोंको भी नारकियोंको वैसे कष्ट देने और उन्हें आपसमें लडते मारते देखनेसे महान आनन्द होता है।

यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि जब असुरकुमार भी देव कहे जाते हैं तब वे ऐसा नीच कार्य क्यों करते हैं ? क्योंकि माया निदान और मिथ्यारूप तीन शल्य, तीव्रकषायका आचरण, पदार्थके दोषोंकी अविचारिता, 'आगामीकालमें क्या होगा।' इसप्रकारके विचारका न होना, पापके कारण स्वरूप पुण्य कर्मका होना, तथा पदार्थोंके गुणोंको छोडकर दोषोंकी ही ओर झुकानेवाला तप, इन सबका यह कार्य है कि अनेक प्रकारके प्रीतिके कारणोंके विद्यमान रहते भी उनको अशुभ ही कार्य प्रीतिके उत्पादक होते हैं तथा यहांपर यह भी शंका न करनी चाहिये कि—जब छेदन भेदन आदिसे उनके शरीरके खंड खंड कर दिये जाते हैं तब उनकी अकालमृत्यु क्यों नहीं होती ? क्योंकि ऊपर कह आये हैं कि औपपादिक जन्मवालोंको विष शस्त्र आदिके द्वारा अकालमृत्यु नहीं होती। नारकी भी औपपादिक जन्मवाले हैं इसलिये उनकी भी अकालमृत्यु नहीं हो सकती किंतु जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट जैसा उन्होंने आयुका बंध किया है उसका विपाक अपने कालमें ही जाकर होता है किसी कारणसे उसकी वीचमें ही उदीरणा नहीं होती ॥ ५ ॥

नारकियोंने जघन्य मध्यम और उत्कृष्टरूपसे जैसी भी आयु बांधी है उसका वीचमें विघात नहीं होता यह कहा गया है परंतु नारकियोंकी आयु कितनी कितनी है ? यह बात अभी नहीं बतलाई इसलिये सूत्रकार अब नारकियोंकी आयुका वर्णन करते हैं—

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

उन नरकोंमें रहनेवाले नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट आयु पहिले नरकमें एक सागरकी, दूसरे नरकमें तीन सागरकी, तीसरे नरकमें सात सागरकी, चौथे नरकमें दश सागरकी, पांचवेमें सत्रह सागरकी, छट्ठेमें बाईस सागरकी और सातवे नरकमें तेतीस सागरकी है।

सूत्रमें जो सागरोपम शब्दका उल्लेख किया गया है उसका "जिसकी उपमा सागरके साथ हो अर्थात् सागर जिस प्रकार विशाल है उसी प्रकार जो विशाल हो वह सागरोपम कहा जाता है" यह अर्थ है। 'सागरोपम' यहांपर जो उपम शब्द है उसका अर्थ वार्तिककार बतलाते हैं—

सागरोपमस्योपमात्वं द्रव्यभूयस्त्वात् ॥ १ ॥

जिसप्रकार सागर बहुतसे जलसमूहसे युक्त रहता है उसी प्रकार आयु कर्मके साथ भी संसारको धारण करनेवाले विशाल पुद्गल द्रव्यके पिंडका संबंध रहता है इसलिये सागरके समान महान् द्रव्यका धारक होनेसे आयु कर्म सागरोपम कहा जाता है।

एकादीनां कृतद्वंद्वानां सागरोपमाविशेषणत्वं ॥ २ ॥

एका च तिस्रश्च सप्त च दश च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिंशच्च एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशतः, ता एव सागरोपमाः, एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः, इसप्रकार यहां द्वंद्वसमासविशिष्ट एक आदि शब्द सागरोपमा शब्दके विशेषण हैं। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

जहांपर एक अधिकरण रहता है वहींपर व्याकरण शास्त्रमें पुंवद्भावका विधान माना गया है किंतु जहांपर भिन्न भिन्न अधिकरण होते हैं वहांपर पुंद्भावका विधान नहीं माना। एकत्रिसप्तेत्यादि स्थलपर एकशब्द भिन्नाधिकरण है इसलिये स्त्रीलिंग होना चाहिये और तब एकात्रिसप्तेत्यादिरूपसे सूत्रमें उल्लेख होना चाहिये नकि एकत्रिसप्तेत्यादि पुंवद्भावविशिष्ट उल्लेख होना चाहिये। सो ठीक नहीं। एक शब्दका यहांपर पुंवद्भाव नहीं हुआ है किंतु एकस्याः क्षीरं एकक्षीरं यहां पर जिस प्रकार एका शब्दको उत्तरपदके परे रहते ह्रस्व हो जाता है उसीप्रकार ह्रस्व हो गया है। अथवा—

जिसकी उपमा सागरके साथ हो वह सागरोपम कहा जाता है यह सागरोपम शब्द आयुका विशेषण है। ऐसी अवस्थामें एकं च त्रीणि च सप्त च दश च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिंशच्च एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्। एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममायुर्यस्याः सैकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा, यह यहां पर समासका प्रकार है। यहांपर एकं चेत्यादि समासमें नपुंसकलिंगक एक शब्दका प्रयोग रहनेसे पुंवद्भावकी आशंका नहीं है सूत्रमें स्थिति शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये उसकी अपेक्षा 'सागरोपमा' यह यहां स्त्रीलिंगका निर्देश है।

रत्नप्रभादिभिरानुपूर्व्येण संबंधो यथाक्रमानुवृत्तेः ॥ ३ ॥

इस सूत्रमें पूर्व सूत्रसे यथाक्रमकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिए एक आदिका आनुपूर्वी क्रमसे रत्नप्रभा आदिके साथ संबंध करने पर रत्नप्रभामें नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर है। शर्कराप्रभामें तीन सागर, वालुकाप्रभामें सात सागर, पंकप्रभामें दश सागर, धूमप्रभामें सत्रह सागर, तमः-

१ पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु। ६। ३। ३४। सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ८४।

प्रभामें बाईस सागर और महातमःप्रभामें तेतीस सागर है। यह यहांपर अर्थ समझ लेना चाहिये। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

नरकप्रसंगस्तेष्विति वचनादिति चेन्न रत्नप्रभाद्युपलक्षितत्वात् ॥ ४ ॥

तेष्वेकत्रिसप्तेत्यादि सूत्रमें पुल्लिंग बहुवचनांत 'तेषु' पदका उल्लेख किया गया है उससे नरकोंका ही ग्रहण किया जा सकता है रत्नप्रभा आदि स्त्रीलिंग भूमियोंका ग्रहण नहीं हो सकता, इस रीतिसे पहिली रत्नप्रभा भूमिमें इंद्रक संज्ञाके धारक सीमंतक आदि तेरह नरक बताये गये हैं उन्हींमें वह एक सागरकी स्थिति समाप्त हो जायगी। अर्थात् नरक चौरासी लाख बतलाए हैं और उत्कृष्ट आयुके एक सागर आदि सात ही प्रकार कहे हैं इसलिए वह आदिके सात इंद्रकोंमें ही समाप्त हो जायगा बाकीके इंद्रक नरकोंमें एवं श्रेणिबद्ध आदि नरकोंमें वह स्थिति न मानी जायगी परंतु उस रूपसे उस एक सागर प्रमाण आदि स्थितिका मानना इष्ट नहीं इसलिए 'तेषु' इस पदका उल्लेख सूत्रमें अयुक्त है? सो ठीक नहीं। रत्नप्रभा आदि भूमियोंको तीस लाख आदि नरकोंका आधार, ऊपर बतला आए हैं इसलिए जिस जिस भूमिमें जितने जितने बिले बतलाए गये हैं उतने उतने ही बिलोंसे विशिष्ट रत्नप्रभा आदि भूमियोंका यहां ग्रहण है अतः एक सागर तीन सागर आदि जिस जिस भूमिमें जितनी जितनी उत्कृष्ट स्थिति यहां बतलाई गई है वह समस्त बिलोंसे उपलक्षित अखंड भूमिमें समझ लेनी चाहिए इस रीतिसे रत्नप्रभा भूमिमें तीस लाख बिले कहे हैं उन सब बिलोंसे युक्त रत्नप्रभा भूमिमें उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण है। शर्कराप्रभा भूमिमें पच्चीस लाख बिले कहे हैं उन सब बिलोंसे उपलक्षित शर्कराप्रभा भूमिमें उत्कृष्ट स्थिति तीन सागर प्रमाण है इसीतरह आगे भी समझ लेना चाहिये।

अर्थात् रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदि भूमिरूप आधारोंको लिए हुए जो तीस लाख पचीस लाख आदि विले हैं उन सबोंमें नारकियोंकी एक सागर तीन सागर आदिकी स्थिति है ऐसा अर्थ समझ लेना चाहिये। अथवा—

साहचर्याद्वा ताच्छब्द्यसिद्धिः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभा आदि जितनी भूमियां हैं सब ही नरकसहचरित हैं—नरकोंसे व्याप्त हैं, इसलिए साहचर्य संबंधसे वे भूमियां ही नरक मान ली जाती हैं इसरीतिसे रत्नप्रभा आदि नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागर आदि प्रमाण है यह यहां संबंध समझ लेना चाहिये। एवं जब रत्नप्रभा आदि भूमियां भी नरक ही हैं तब सूत्रमें जो 'तेषु' शब्दका उल्लेख किया गया है वह निरर्थक नहीं, सार्थक है। यदि यहां भूमियोंको ही नरक न माना जायगा तो बीचमें नरकोंके पड जानेसे व्यवधान हो जानेके कारण रत्नप्रभा भूमिमें उत्कृष्ट स्थिति नारकियोंकी एक सागर प्रमाण है। शर्कराप्रभामें तीन सागर प्रमाण है ऐसा संबंध न हो सकेगा। यदि कदाचित् यहां यह शंका उठाई जाय कि—

नरकस्थितिप्रसंग इति चेन्न सत्त्वानामिति वचनात् ॥ ६ ॥

एक सागर प्रमाण आदि उत्कृष्ट स्थितिका संबंध पृथिवियोंसे उपलक्षित नरकोंके साथ माना जायगा तो नरकोंकी एक सागर आदि प्रमाण स्थिति मानी जायगी, उनमें रहनेवाले नारकियोंकी नहीं ? यह भी ठीक नहीं। सूत्रमें 'सत्वानां' अर्थात् जीवोंकी वह स्थिति है ऐसा पाठ है इसलिए यह जो एक सागर आदि उत्कृष्ट स्थिति बताई गई है वह नरकोंमें रहनेवाले नारकियोंकी है नरकोंकी नहीं इसलिए कोई दोष नहीं।

परोत्कृष्टेति पर्यायौ ॥ ७ ॥

परा और उत्कृष्ट ये दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं इसलिए सूत्रमें जो परा शब्द है उसका यहां उत्कृष्ट अर्थ है। इसप्रकार रत्नप्रभा आदि नरकोंमें रहनेवाले नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन कर दिया गया अब उन नरकोंके प्रत्येक पाथडेमें जो जघन्य स्थिति है उसका वर्णन किया जाता है—अर्थात् प्रत्येक नरकमें प्रत्येक प्रस्तारमें उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम तीनों प्रकारकी स्थिति है उसीका वर्णन किया जाता है—

रत्नप्रभा नरकके पाहिले सीमंतक इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें नारकियोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है। उत्कृष्ट नव्वे हजार वर्षकी है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यम स्थिति समयोत्तर है। अर्थात् एक एक समय अधिक है, जितनी जघन्य है उससे उत्कृष्ट स्थितिपर्यंत एक एक समय अधिक हैं वे सब मध्य स्थितिके भेद हैं। दूसरे निरय इंद्रक और उसकी आठो श्रेणियोंमें नारकियोंकी जघन्य आयु नव्वे हजार वर्ष, उत्कृष्टस्थिति नव्वे लाख वर्ष और अजघन्योत्कृष्ट मध्यम स्थिति समयोत्तर है। तीसरे रौरुक इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें जघन्य आयु एक कोटि पूर्व उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात पूर्वकोटि प्रमाण और अजघन्योत्कृष्ट मध्यम स्थिति समयोत्तर है। चौथे भ्रांत इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें जघन्य स्थिति असंख्यात पूर्वकोटि प्रमाण है। उत्कृष्ट सागरका दशवां

१—पहिले इंद्रकमें जो उत्कृष्ट है वह दूसरे इंद्रकमें जघन्य कही गयी है इस नियमानुसार तीसरे रौरुक इंद्रकमें जघन्य स्थिति नव्वे लाख वर्षकी ही होनी चाहिये तथा हरिवंशपुराणमें यही कहा गया है परन्तु राजवार्तिककारने वह एक कोटि पूर्वकी लिखी है। हरिवंशपुराणमें एक कोडि पूर्व नामका कोई भेद नहीं माना है।

भाग है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यम समयोत्तर है। पांचवें उद्भ्रांत इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें नारकियोंकी जघन्य स्थिति सागरका दशवां भाग है। उत्कृष्ट सागरके दश भागोंमें दो भाग प्रमाण है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यम समयोत्तर है। छठे संभ्रांत इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें जघन्य स्थिति सागरके दश भागोंमें दो भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें तीन भाग प्रमाण है और अजघन्योत्कृष्ट स्थिति समयोत्तर है। सातवें असंभ्रांत इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति एक सागरके दश भागोंमें तीन भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति सागरके दश भागोंमें चार भाग प्रमाण है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। आठवें विभ्रांत इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति एक सागरके दश भागोंमें चार भाग प्रमाण है। उत्कृष्टास्थिति एक सागरके दश भागोंमें पांच भाग प्रमाण है और अजघन्योत्कृष्टास्थिति समयोत्तर है। नवमें तप्त इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें नारकियोंकी जघन्यास्थिति एक सागरके दश भागोंमें पांच भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति एक सागरके दश भागोंमें छह भाग प्रमाण है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यमास्थिति समयोत्तर है। दशवें त्रस्त इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें जघन्य-स्थिति एक सागरके दश भागोंमें छह भाग प्रमाण है। उत्कृष्टास्थिति एक सागरके दश भागोंमें सात भाग प्रमाण है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यमास्थिति समयोत्तर है। ग्यारहवें व्युत्क्रांत इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें जघन्यस्थिति एक सागरके दश भागोंमें सात भाग प्रमाण है। उत्कृष्टास्थिति एक सागरके दश भागोंमें आठ भाग प्रमाण है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यमास्थिति समयोत्तर है। बारहवें अवक्रांत इंद्रकमें और उसकी आठ श्रेणियोंमे जघन्यस्थिति एक सागरके दश भागोंमें आठ भाग प्रमाण

है। उत्कृष्टास्थिति एक सागरके दश भागोंमें नौ भाग प्रमाण है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यमास्थिति समयोत्तर है। तथा तेरहवें विक्रांत इंद्रकमें और उसकी आठो श्रेणियोंमें जघन्यस्थिति एक सागरके दश भागोंमें नौ भाग प्रमाण है। उत्कृष्टास्थिति एक सागर है और अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। इसप्रकार यह प्रथम नरकके तेरह पाथडोंके नारकियोंकी जघन्य आदि स्थिति है।

शर्करा आदि भूमियोंमें प्रत्येक पाथडेमें नारकियोंकी उत्कृष्टस्थिति करणसूत्रके अनुसार समझ लेनी चाहिये और वह इसप्रकार है—

उपरि स्थितेर्विशेषः स्वप्रतरविभाजितेष्टसंगुणितः। उपरिपृथिवीस्थितियुतः स्वेष्टप्रतरस्थितिर्महती ॥

अर्थात्—जितने जितने जिस जिस भूमिमें प्रतर हैं एक सागरके उतने उतने ही भागोंमेंसे कुछ कुछ भाग ऊपर ऊपरकी उत्कृष्टस्थितिमें मिला दिये जांय तो आगे आगेके प्रतरोंमें वही उत्कृष्टस्थिति हो जाती है। जैसे—दूसरी पृथिवीमें ११ प्रतर हैं तो एक सागरके ग्यारह भागोंमेंसे दो भाग ऊपरकी उत्कृष्टस्थिति एक सागरमें मिला दिये गये तो वही (एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमेंसे दो भाग) दूसरी पृथिवीके प्रथम प्रतरकी उत्कृष्टस्थिति समझनी चाहिये। इस उत्कृष्टस्थितिमें यदि एक सागरके ग्यारह भागोंमेंसे दो भाग और मिला दें तो (एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमेंसे चार भाग) दूसरे पाथडेकी उत्कृष्टस्थिति हो जायगी। इत्यादि।

जो स्थिति ऊपर उत्कृष्ट है वह नीचे जघन्य है और वह सब जगह समय अधिक है। तथा अजघन्योत्कृष्ट मध्यस्थिति समयोत्तर है। शर्कराप्रभा आदि भूमियोंके पाथडोंमें रहनेवाले नारकियोंकी जघन्य आदि स्थितियोंका खुलासा इस प्रकार है—

दूसरी शर्करा प्रभा भूमिमें ग्यारह पाथडे बतलाये हैं उनमें पहिले पाथडेमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक एक सागर प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें दो भाग है। एवं अजघन्योत्कृष्ट स्थिति समयोत्तर है। दूसरे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें दो भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट स्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें चार भाग प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। तीसरे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें चार भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें छह भाग प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। चौथे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें छह भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें आठ भाग प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। पांचवे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें आठ भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें दश भाग प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। छठे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति एक सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें दश भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें एक भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। सातवे पथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें एक भाग है। उत्कृष्टस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें तीन भाग प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। आठवे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति दो सागर और एक सागरके

ग्यारह भागोंमें तीन भाग है। उत्कृष्टस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें पांच भाग प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। नववें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें पांच भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें सात भाग प्रमाण है दशवें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें सात भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें नौ भाग प्रमाण है। अजघन्योकृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। ग्यारहवे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति दो सागर और एक सागरके ग्यारह भागोंमें नौ भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति तीन सागरकी है। अजघन्योत्कृष्ट स्थिति समयोत्तर है।

तीसरे नरकमें नौ पाथडे बतलाये हैं। उनमें पहिले पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति तीन सागरकी है। उत्कृष्टस्थिति तीन सागर और एक सागरके नौ भागोंमें चार भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। दूसरे पाथडेमें जघन्यस्थिति तीन सागर और एक सागरके नौ भागोंमें चार भाग है। उत्कृष्टस्थिति तीन सागर और एक सागरके नौ भागोंमें आठ भाग है। अजघन्योत्कृष्ट स्थिति समयोत्तर है। तीसरे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति तीन सागर और एक सागरके नौ भागोंमें आठ भाग है। उत्कृष्टस्थिति चार सागर और एक सागरके नौ भागोंमें तीन भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। चौथे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति चार सागर और एक सागरके नौ भागोंमें तीन भाग है। उत्कृष्टस्थिति चार सागर और एक सागरके नौ भागोंमें सात भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। पांचवें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति चार सागर

और एक सागरके नौ भागोंमें सात भाग है। उत्कृष्टस्थिति पांच सागर और एक सागरके नौ भागोंमें दो भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमास्थिति समयोत्तर है। छठे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति पांच सागर और एक सागरके नौ भागोंमें दो भाग है। उत्कृष्टस्थिति पांच सागर और एक सागरके नौ भागोंमें छह भाग है। अजघन्योत्कृष्टस्थिति समयोत्तर है। सातवें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति पांच सागर और एक सागरके नौ भागोंमें छह भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति छह सागर और एक सागरके नौ भागोंमें एक भाग प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्टास्थिति समयोत्तर है। आठवें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति छह सागर और एक सागरके नौ भागोंमें एक भाग प्रमाण है। उत्कृष्टस्थिति छह सागर और एक सागरके नौ भागोंमें पांच भाग है। अजघन्योत्कृष्टास्थिति समयोत्तर है। नववें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति छह सागर और एक सागरके नौ भागोंमें पांच भाग है। उत्कृष्ट स्थिति सात सागरकी है। अजघन्योत्कृष्टास्थिति समयोत्तर है।

चौथे नरकमें सात पाथडे बतलाये गये हैं। उनमें पहिले पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति सात सागरकी है। उत्कृष्ट सात सागर और एक सागरके सात भागोंमें तीन भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमास्थिति समयोत्तर है। दूसरे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति सात सागर और एक सागरके सात भागोंमें तीन भाग है। उत्कृष्टस्थिति सात सागर और एक सागरके सात भागोंमें छह भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमास्थिति समयोत्तर है। तीसरे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति सात सागर और एक सागरके सात भागोंमें छह भाग है। उत्कृष्टस्थिति आठ सागर और एक सागरके सात भागोंमें दो भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। चौथे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्य

स्थिति आठ सागर और एक सागरके सात भागोंमें दो भाग है। उत्कृष्टस्थिति आठ सागर और एक सागरके सात भागोंमें पांच भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। पांचवें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति आठ सागर और एक सागरके सात भागोंमें पांच भाग है। उत्कृष्टस्थिति नौ सागर और एक सागरके सात भागोंमें एक भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। छठे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति नौ सागर और एक सागरके सात भागोंमें एक भाग है। उत्कृष्टस्थिति नौ सागर और एक सागरके सात भागोंमें चार भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। सातवें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति नौ सागर और एक सागरके सात भागोंमें चार भाग है। उत्कृष्टस्थिति दश सागरकी है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है।

पांचवें नरकमें पांच पाथडे कह आए हैं। उनमें प्रथम पाथडेमें नारकियोंकी जघन्य आयु दश सागरकी है। उत्कृष्ट ग्यारह सागर और एक सागरके पांच भागोंमें दो भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। दूसरे पाथडेमें जघन्यस्थिति ग्यारह सागर और एक सागरके पांच भागोंमें दो भाग है। उत्कृष्टस्थिति बारह सागर और एक सागरके पांच भागोंमें चार भाग हैं। अजघन्योत्कृष्ट स्थिति समयोत्तर है। तीसरे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति बारह सागर और एक सागरके पांच भागोंमें चार भाग है। उत्कृष्टस्थिति चौदह सागर और एक सागरके पांच भागोंमें एक भाग है। अजघन्योत्कृष्टस्थिति समयोत्तर है। चौथे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति चौदह सागर और एक सागरके पांच भागोंमें एक भाग है। उत्कृष्टस्थिति पंद्रह सागर और एक सागरके पांच भागोंमें तीन भाग है अजघन्योत्कृष्टस्थिति समयोत्तर है। पांचवें पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति पंद्रह सागर

और एक सागरके पांच भागोंमें तीन भाग है। उत्कृष्टस्थिति सत्रह सागरकी है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है।

छठे नरकमें तीन पाथडे बतलाए हैं। उनमें पहिले पाथडेमें जघन्यस्थिति सत्रह सागरकी है। उत्कृष्टस्थिति अठारह सागर और एक सागरके तीन भागोंमें दो भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। दूसरे पाथडेमें नारकियोंकी जघन्यस्थिति अठारह सागर और एक सागरके तीन भागोंमें दो भाग है। उत्कृष्टस्थिति बीस सागर और एक सागरके तीन भागोंमें एक भाग है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है। तीसरे पाथडेमें जघन्यस्थिति बीस सागर और एक सागरके तीन भागोंमें एक भाग है। उत्कृष्टस्थिति बाईस सागर है। अजघन्योत्कृष्ट मध्यमस्थिति समयोत्तर है।

सातवें नरकमें एक अप्रतिष्ठान नामका पाथडा बतलाया गया है उसमें जघन्य आयु बाईस सागर और उत्कृष्ट तेतीस सागरकी है अजघन्योत्कृष्ट समयोत्तर है। रत्नप्रभा आदि नरकोंमें रहनेवाले नारकियोंकी उत्पत्तिका विरहकाल इसप्रकार है—

समस्त पृथिवियोंमें नारकियोंका जघन्य विरहकाल एक समयमात्र है और उत्कृष्ट विरहकाल रत्नप्रभा आदि सातो भूमियोंमें क्रमसे चौबीस मुहूर्त, सात रातदिन, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मासका है। अर्थात्—प्रथम रत्नप्रभा नरकमें तो एक नारकीके मर जानेपर दूसरे नारकीके उत्पन्न होनेमें अंतर चौबीस मुहूर्तका है। दूसरे नरकमें सात दिनका, तीसरेमें पंद्रह दिनका, चौथेमें एक मासका, पांचवेंमें दो मासका, छठेमें चार मासका और सातवेंमें छह मासका है। अधिकसे अधिक इतने अंतर बाद एकके मर जानेपर दूसरा नारकी उत्पन्न हो ही जाता है। किस किस नरकमें कौन कौन जीव जाते हैं? उसका प्रकार इसप्रकार है—

असंज्ञी पंचेंद्रिय जीव पहिली भूमि तक जाते हैं सरीसृप (जलसर्प गोह आदि) दूसरी तक, पक्षी तीसरी तक, भुजंग चौथी तक, सिंह पांचवीं तक, स्त्रियां छठी तक और मत्स्य एवं मनुष्य सातवीं भूमि तक जाते हैं। देव और नारकी अपनी उसी पर्यायसे नरकोंमें नहीं जाते हैं। बीचमें दूसरी पर्याय धारण कर जा सकते हैं।

विशेष—जो जीव महा मिथ्यात्वी बहुत आरंभ और परिग्रहके धारक हैं वे ही नरकगतिके बंध होनेपर नरक जाते हैं। उनमें भी तिर्यंच और मनुष्य ही जाते हैं। तिर्यंचोंमें भी एकेंद्रियसे लेकर चौइंद्रिय पर्यंत जीव नहीं जाते। पंचेंद्रिय ही जाते हैं।

पहिली रत्नप्रभा भूमिमें जो जीव मिथ्यात्वसहित उत्पन्न होते हैं उनमें बहुतसे तो मिथ्यात्वसहित ही बाहर निकलते हैं। बहुतसे उत्पन्न तो मिथ्यात्व सहित होते हैं परंतु निकलते सासादन सम्यक्त्व-सहित हैं। बहुतसे मिथ्यात्वसहित उत्पन्न होते हैं परंतु निकलते सम्यक्त्वसहित हैं। तथा बहुतसे सम्यक्त्व-सहित ही उत्पन्न होते हैं और सम्यक्त्वसहित ही निकलते हैं। यह कथन क्षायिकसम्यग्दर्शनकी अपेक्षा है क्योंकि सम्यग्दर्शनका कभी नाश नहीं होता। दूसरी शर्कराप्रभा पृथिवीसे लेकर छठी तमःप्रभा पृथिवी पर्यंत पांच पृथिवियोंके नारकियोंमें नारकी मिथ्यात्वके ही साथ तो उत्पन्न होते हैं परंतु उनमें बहुतसे तो मिथ्यात्वके साथ ही निकलते हैं, बहुतसे सासादन सम्यक्त्वके साथ बाहर निकलते हैं एवं बहुतसे सम्यक्त्वके साथ निकलते हैं। तथा सातवीं पृथिवीमें जो नारकी उत्पन्न होते हैं वे मिथ्यात्वके साथ ही उत्पन्न होते हैं और मिथ्यात्वके साथ ही बाहर निकलते हैं।

तमःप्रभा पृथिवी तक जो ऊपरकी छह पृथिवियां हैं उनसे जो नारकी मिथ्यात्व और सासादन

सम्यक्त्वके साथ बाहर निकलते हैं वे तिर्यंच और मनुष्योंमें आकर जन्म धारण करते हैं। जो तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं वे पंचेंद्रिय गर्भज संज्ञी पर्याप्तक और संख्येय वर्षायुवाले तिर्यंचोंमें ही उत्पन्न होते हैं अन्य तिर्यंचोंमें नहीं। जो मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं वे गर्भज पर्याप्तक और संख्येय वर्षायुवालोंमें ही होते हैं अन्योंमें नहीं। जो नारकी सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं वे सम्यग्मिथ्यादर्शनसहित बाहर नहीं निकलते अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें मरणका प्रतिषेध है। जो नारकी सम्यग्दृष्टि हैं और सम्यक्त्व सहित ही बाहर निकलते हैं वे केवल मनुष्यगतिमें ही जन्म धारण करते हैं तथा मनुष्योंमें भी गर्भज, पर्याप्तक और संख्येय वर्षायुवालोंमें ही उत्पन्न होते हैं अन्योंमें नहीं। तथा सातवीं महातमःप्रभा भूमिमें रहनेवाले मिथ्यादृष्टि नारकी जिस समय नरकसे बाहर निकलते हैं उस समय केवल तिर्यंचगतिमें ही जन्म धारण करते हैं एवं तिर्यंचगतिमें भी पंचेंद्रिय गर्भज पर्याप्तक और संख्येय वर्षायुवालोंमें ही जन्म धारण करते हैं अन्योंमें नहीं।

तथा सातवीं पृथिवीसे निकलकर जो नारकी तिर्यंच होते हैं वे सब सुमतिज्ञान सुश्रुतज्ञान अवधिज्ञान सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और संयमासंयमको धारण नहीं करते। छठी पृथिवीसे निकलकर जो नारकी तिर्यंच और मनुष्य होते हैं उनमें कोई कोई मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और संयमासंयम इन छहोंको प्राप्त होते हैं सब नहीं। पांचवीं पृथिवीसे निकलकर जो जीव तिर्यंचोंमें आकर जन्म धारण करते हैं उनमें भी कोई कोई मतिज्ञान आदि छहोंको धारण करते हैं सब नहीं, और जो मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं उनमें भी कोई कोई ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और संयमासंयमको धारण करते हैं सब नहीं। तथा इनसे भिन्न भी किसी अन्य

गुणको धारण नहीं करते। चौथी पृथिवीसे निकलकर जो नारकी तिर्यंचोंमें जन्म धारण करते हैं उनमें किन्हीं किन्हींके मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान सम्यङ्मिथ्यात्व और संयमासंयम होते हैं सबके नहीं तथा इनसे भिन्न भी अन्यगुण उनके नहीं होते एवं जो नारकी मनुष्योंमें जन्म धारण करते हैं उनमें किन्हीं किन्हींके मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व संयमासंयम और संयम होते हैं सबोंके नहीं तथा उनमें कोई भी बलदेव बासुदेव चक्रवर्ती और तीर्थंकर नहीं होते किंतु कोई कोई समस्त कर्मोंको काटकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। ऊपरकी तीन पृथिवी अर्थात् रत्नप्रभा शर्कराप्रभा और बालुकाप्रभासे निकलकर जो नारकी तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं उनमें किन्हीं किन्हींके मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान सम्यक्त्व सम्यङ्मिथ्यात्व और संयमासंयम ये छहों होते हैं। इनमेंसे भी बलदेव वासुदेव और चक्रवर्ती नहीं होते। कोई कोई तीर्थंकर हो जाते हैं तथा कोई कोई समस्त कर्मोंको काटकर मोक्षप्राप्ति भी करते हैं। इसप्रकार रत्नप्रभा आदि सातों पृथिवियोंसे व्याप्त अधोलोकका वर्णन किया जाचुका।

विशेष—रत्नप्रभा आदि सातों भूमियोंके इंद्रक आदि विल और नारकी आदिका ऊपर बहुतसा वर्णन कर दिया गया है। कुछ अवशिष्ट वातोंका यहां उलेख किया जाता है—सब भूमियोंके मिलकर उनचास इंद्रक विले बतला आये हैं उन सबका विस्तार इसप्रकार है—

पहिली रत्नप्रभा भूमिके पहिले इंद्रकका विस्तार पैंतालीस लाख योजनका है। दूसरे इंद्रकका चवालीस लाख आठ हजार तीनसौ तेतीस और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। तीसरे इंद्रकका तेतालीस लाख सोलह हजार छसौ छ्यासठ और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है। चौथे

इंद्रकका वियालीस लाख पचीस हजार है । पांचवेंका इकतालीस लाख तेतीस हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है । छठे इंद्रकका चालीस लाख इकतालीस हजार छसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है । सातवें इंद्रकका उनतालीस लाख पचास हजार योजन है। आठवें इंद्रकका विस्तार अडतीस लाख अठावन हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है । नवमें इंद्रकका विस्तार सैंतीस लाख, छ्यासठ हजार छैसौ छ्यासठ और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है । दशवें इंद्रकका छत्तीस लाख पचहत्तर हजार योजन विस्तार है । ग्यारहवें इंद्रकका पैंतीस लाख तिरासी हजार तीनसौ तेतीस और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। बारहवें इंद्रकका विस्तार चौंतीस लाख इक्यानवे हजार छैसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है । एवं तेरहवें इंद्रकका विस्तार केवल चौंतीस लाख योजनका है।

दूसरे नरकके ग्यारह इंद्रकोंमें पहिले इंद्रकका विस्तार तेतीस लाख आठ हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। दूसरे इंद्रकका विस्तार बत्तीस लाख सोलह हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है। तीसरे इंद्रकका विस्तार इकतालीस लाख पचीस हजार योजन है। चौथे इंद्रकका विस्तार तीस लाख तेतीस हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। पांचवें इंद्रकका विस्तार उनतीस लाख इकतालीस हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है । छठे इंद्रकका विस्तार अट्ठाईस लाख पचास हजार योजनका है। सातवें इंद्रकका विस्तार सत्ताईस लाख अट्ठावन हजार तीनसौ तेतीस

योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। आठवें इंद्रकका विस्तार छव्वीस लाख छ्यासठ हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है। नववें इंद्रकका विस्तार पच्चीस लाख पचहत्तर हजार योजन है। दशवें इंद्रकका विस्तार चौवीस लाख तिरासी हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। एवं ग्यारहवें इंद्रकका विस्तार तेईस लाख इक्यानवे हजार छैसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है।

तीसरे नरकके नौ इंद्रकोंमें पहिले इंद्रकका विस्तार तेईस लाख योजन है। दूसरे इंद्रकका विस्तार वाईस लाख आठ हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। तीसरे इंद्रकका विस्तार इकीस लाख सोलह हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है। चौथे इंद्रकका विस्तार वीस लाख पचीस हजार योजन है। पांचवे इंद्रकका विस्तार उन्नीस लाख तेतीस हजार तीनसौ सैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। छठे इंद्रकका विस्तार अठारह लाख इकतालीस हजार छहसौ छ्यासठ योजन है। सातवें इंद्रकका विस्तार सत्रह लाख पचास हजार योजनका है। आठवे इंद्रकका विस्तार सोलह लाख अठावन हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। एवं नवमे इंद्रकका विस्तार पंद्रह लाख छ्यासठ हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है।

चौथे नरकके सात इंद्रकोंमेंसे प्रथम इंद्रकका विस्तार चौदह लाख पचहत्तर हजार है। दूसरे इंद्रकका तेरह लाख तिरासी हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। तीसरे इंद्रकका विस्तार बारह लाख इक्यानवे हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें

दो भाग है। चौथे इंद्रकका विस्तार बारह लाख योजनका है । पांचवे इंद्रकका विस्तार ग्यारह लाख आठ हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। छठे इंद्रकका विस्तार दश लाख सोलह हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है । एवं सातवे इंद्रकका विस्तार नौ लाख पच्चीस हजार है।

पांचवे नरकमें पांच इंद्रकोंमें पहिले इंद्रकका विस्तार आठ लाख तेतीस हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है ! दूसरे इंद्रकका विस्तार सात लाख इकतालीस हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है। तीसरे इंद्रकका विस्तार छह लाख पचास हजार योजन है। चौथे इंद्रकका विस्तार पांच लाख अठावन हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है। एवं पांचवें इंद्रकका विस्तार चार लाख छ्यासठ हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है।

छठे नरकके तीन इंद्रकोंमें पहिले इंद्रकका विस्तार तीस लाख पचहत्तर हजार है। दूसरे इंद्रकका दो लाख तिरासी हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है एवं तीसरे इंद्रकका विस्तार एक लाख इक्यानवे हजार छहसौ छ्यासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग है।

सातवें नरकमें केवल अप्रतिष्ठान नामका एक इंद्रक है और उसका विस्तार एक लाख योजनका है। विलोंका आपसमें अंतर इसप्रकार है—

प्रथम नरकके इंद्रक बिलोंमें एक दूसरेको आपसका अंतर छह हजार चारसौ निन्यानवे योजन

दो कोस और एक कोशके बारह भागोंमें ग्यारह भाग है। श्रेणिबद्धोंका छह हजार चारसौ निन्यानवे योजन दो कोश और एक कोशके नौ भागोंमें पांच भाग है एवं प्रकीर्णक बिलोंका अंतर छह हजार चारसौ निन्यानवे योजन, एक कोश और एक कोशके छत्तीस भागोंमें सत्रह भाग है। दूसरे नरकके इंद्रक त्रिलोंका आपसमें अंतर दो हजार नौसौ निन्यानवे योजन और चार हजार सातसौ धनुष है। श्रेणिबद्ध बिलोंका अंतर दो हजार नौसौ निन्यानवे योजन और तीन हजार छहसौ धनुष है। प्रकीर्णक बिलोंका अंतर दो हजार नौसौ निन्यानवे योजन और तीनसौ धनुष है। तीसरे नरकमें इंद्रक बिलोंका आपसमें अंतर तीन हजार दोसौ उनचास योजन और तीन हजार पांचसौ धनुष है। श्रेणिबद्ध विलोंका अंतर तीन हजार दोसौ उनचास योजन और दो हजार धनुष है। पुष्पप्रकीर्णकोंका अंतर तीन हजार दोसौ अडतालीस योजन और पांच हजार पांचसौ धनुष कहा है। चौथे नरकमें इंद्रक विलोंका अंतर तीन हजार छहसौ पैंसठ योजन और सात हजार पांचसौ धनुष है। श्रेणिबद्धोंका अंतर तीन हजार छहसौ पैसठ योजन, पांच हजार पांचसौ पचपन धनुष और एक धनुषके नौ भागोंमें पांच भाग है। प्रकीर्णक विलोंका अंतर तीन हजार छहसौ चौसठ योजन, सात हजार सातसौ बाईस धनुष और एक धनुषके नौ भागोंमें दो भाग है पांचवी भूमिके इंद्रक विलोंका आपसका अंतर चार हजार चारसौ निन्यानवे योजन और पांचसौ धनुषका है। श्रेणिबद्ध विलोंका अंतर चार हजार चारसौ अठानवे योजन, छह हजार धनुषका है। पुष्पप्रकीर्णकोंका चार हजार चारसौ सतानवे योजन और छह हजार पांचसौ धनुषका है। छठे नरकके इंद्रक विलोंका अंतर छह हजार नौसौ अठानवे योजन और पांच हजार पांचसौ धनुषका है। श्रेणिवद्धोंका छह हजार नौसौ अठानवे योजन और दो हजार

धनुषका है। प्रकीर्णक बिलोंका अंतर छह हजार नौसौ छयानवे योजन और सात हजार पांचसौ धनुष है। सातवे नरकमें श्रेणिबद्ध बिलोंसे इंद्रक बिलका फासला उपर नीचे तीन हजार नौसौ निन्यानवे योजन और दो कोशका है। और श्रेणिबद्ध चार बिलोंका अंतर तीन हजार नौसौ निन्यानवे योजन और एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है।

प्रथम नरकमें अवधिज्ञानका विषय चार कोस तक है। दूसरेमें साढे तीन, तीसरेमें तीन, चौथेमें ढाई, पांचवेंमें दो, छठेमें डेढ और सातवेंमें एक कोस तकका विषय है। प्रथम पृथिवीकी दुर्गंध आधे कोस तक जाती है दूसरीकी एक कोस तक, तीसरीकी डेढ कोस तक, चौथीकी दो कोस तक, पांचवींकी ढाई कोस तक, छठीकी तीन कोस तक और सातवींकी साढे तीन कोस तक जाती है।

ऊपर जो ऊंट कुंभीर आदिके समान निकृष्ट आकारके बिले कह आये हैं उनमें जघन्यरूपसे अनेक तो एक कोस चौडे हैं। अनेक दो कोस, तीन कोस, एक योजन, दो योजन और तीन योजन चौडे हैं तथा उत्कृष्टरूपसे सौ योजन तक विस्तीर्ण हैं।

समस्त बिलोंकी उंचाई उनके विस्तारसे पांच गुनी है। बिलोंमें इंद्रक बिले तीन द्वारवाले तिकोने हैं। श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक बिले अनेक दो द्वारवाले दुकोने, बहुतसे तीन द्वारवाले तिकोने, एक द्वार वाले एककोने, पांच द्वारवाले पचकोने और सात द्वारवाले सतकोने हैं। इनमें संख्यात योजन विस्तारवाले बिलोंका जघन्य अंतर तो छह कोसका है और उत्कृष्ट अंतर बारह कोसका है। असंख्यात योजन विस्तृत बिलोंका उत्कृष्ट अंतर असंख्यात योजन और जघन्य अंतर सात हजार योजन है। जिस समय नारकी नरकोंमें जन्म लेते हैं तो वहांकी भूमिपर गिरते ही वे उछलते हैं और फिर उसी जमीन पर आ गिरते हैं।

पहिली रत्नप्रभा भूमिके नरकोंमे उत्पन्न होनेवाले नारकी जीव सात योजन सवा तीन कोश उछलकर जमीनपर गिरते हैं। दूसरी पृथिवीके नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले नारकी पंद्रह योजन ढाई कोश ऊंचे उछलकर जमीनपर गिरते हैं। तीसरी पृथिवीके नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले नारकी जीव जन्मते ही इकतीस योजन और एक कोश उछलते हैं पीछे जमीनपर गिरते हैं। चौथी पृथिवीके नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले नारकी जीव पहिले तो बासठ योजन और दो कोश उछलते हैं पीछे जमीनपर गिरते हैं। पांचवीं पृथिवीमें उत्पन्न होनेवाले नारकी जीव एकसौ पचीस योजन उछलकर जमीन गिरते हैं। छठी पृथिवीके नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव ढाईसौ योजन उछलकर जमीनपर गिरते हैं और सातवीं पृथिवीके नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव पांचसौ योजन ऊपर उछलकर जमीनपर गिरते हैं।

नारकियोंके शरीर पारेके समान होते हैं इसलिये खंड खंड होनेपर भी फिर उनके शरीर ज्योंके त्यों हो जाते हैं। जो जीव पापोंका उपशम कर आगे तीर्थंकर होनेवाले हैं उनका दुःख देवगण छहमास पहिलेसे दूर कर देते हैं। नारकियोंके नियमसे नपुंसकलिंग और हुंडक संस्थान होता है। *

यदि किसी तिर्यंच वा मनुष्यके प्रबल पापका उदय हो और वह नरकसे आया हो एवं फिर भी नरक जाना पडे तो वह सातवीं पृथिवीसे निकल कर और दुष्ट तिर्यंच वा मनुष्य होकर सातवींमें फिर एक वार ही जाता है अधिक नहीं। छठीसे निकलकर तिर्यंच आदि हो फिर छठीमें दो बारतक जाता है। पांचवींसे निकलकर तिर्यंच वा मनुष्य होकर फिर पांचवींमें तीन वार, चौथीसे निकलकर तिर्यंच वा मनुष्य होकर

* यह विषय हरिवंशपुराणके चतुर्थ सर्गमें वडी स्पष्टतासे प्रतिपादन किया गया है। उसीके आधारसे इस प्रकरणमें विशेष उल्लेख किया गया है।

फिर चौथीमें चार वार, तीसरीसे निकलकर तिर्यंच वा मनुष्य होकर फिर तीसरीमें पांच वार, दूसरी पृथिवीसे निकलकर तिर्यंच वा मनुष्य होकर पुनः दूसरीमें छह वार, और पहिली पृथिवीसे निकलकर, तिर्यंच वा मनुष्य होकर फिर पहिलीमें सात वार तक जा सकता है अधिक नहीं।

रत्नप्रभा आदि जो भूमियोंके ऊपर नाम कहे गये हैं वे गुणकी अपेक्षा है रूढिसे नाम तो उनके घम्मा १ वंशा २ मेघा ३ अंजना ४ अरिष्टा ५ मघवी ६ और माघवी ७ ये हैं।

इसप्रकार यह अधोलोकका वर्णन समाप्त हुआ।

अब अधोलोकके वर्णनके बाद तिर्यग्लोक (मध्यलोक) का वर्णन अवसरप्राप्त है इसलिये अब उसीका वर्णन किया जाता है। तिर्यग्लोकमें क्या वर्णन करना चाहिये ? इस शंकाका समाधान यह है कि उसमें द्वीप, समुद्र, उनके अधिष्ठाता, पर्वत वन क्षेत्र, उनके अंतर और परिमाण आदि बातें हैं उनका वर्णन करना चाहिये। यदि यहांपर यह शंका हो कि द्वीप समुद्र आदिका वर्णन तो रहने दो पहिले यह बताओ कि मध्यलोकका तिर्यग्लोक नाम कैसे पडा ? उसका समाधान यह है कि—उस-लोकमें स्वयंभूरमण पर्यंत असंख्याते द्वीप समुद्र तिर्यक्‌रूपसे अवस्थित हैं इसलिये इसका नाम तिर्यग्लोक है। वे तिर्यक्‌रूपसे अवस्थित द्वीप समुद्र आदि ये हैं—

जंबूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

इस चित्रा पृथिवीपर शुभ शुभ नामोंके धारक जंबूद्वीपको आदि लेकर द्वीप और लवणोद

समुद्रको आदि लेकर समुद्र इसप्रकार असंख्याते द्वीप और समुद्र हैं । जंबूद्वीपका जंबूद्वीप नाम कैसे पडा ? वार्तिककार इस बातका खुलासा करते हैं—

प्रतिविशिष्टजंबूवृक्षासाधारणाधिकरणत्वाज्जंबूद्वीपः ॥ १ ॥

यह जंबूद्वीप अपने परिवार वृक्षोंसे विभूषित और प्रतिविशिष्ट अर्थात् दूसरी जगहपर न होनेवाले ऐसे जंबूवृक्षका असाधारण स्थान है, अन्य धातकीखंड आदि द्वीप उसप्रकारके जंबूवृक्षके आधार नहीं अर्थात् जंबूवृक्षका असाधारण स्थान होनेसे जंबूद्वीप यह नाम अनादि कालसे है। खुलासा इसप्रकार है—

उत्तरकुरु नामक उत्कृष्ट भोगभूमिके मध्यभागमें जगती (एक गोलाकार भूमि) है। उसकी लंबाई चौडाई पांचसै योजनकी है। उस लंबाई चौडाईसे कुछ अधिक तिगुनी उसकी परिधि है। प्रदेशोंकी न्यूनता होते होते (बाहिरमें हीयमान होती हुई) मध्यमें उसकी मुटाई बारह योजन और अंतमें दो कोशकी रह गई है। वह जगती सुवर्णमयी पद्मवर वेदिकासे वेष्टित है। उसके मध्यभागमें एक पीठ है जो नानाप्रकारके रत्नोंसे देदीप्यमान है आठ योजन लंबा, चार योजन चौडा, चार योजन ऊंचा और बारह पद्मवेदिकाओंसे वेष्टित है। उन बारह पद्मवेदिकाओंमें प्रत्येकके चार चार तोरण द्वार हैं और उनपर चार चार ही सुवर्णमयी स्तूपक—बुर्ज हैं। उस पीठके ऊपर एक मणिमयी उपपीठ (दूसरा छोटा पीठ) है जो कि एक योजन चौडा लंबा है और दो कोश ऊंचा है। उस उपपीठके मध्यभागमें दो योजन ऊंचे स्कंध (पींड) से युक्त, छह योजन ऊंची डालियोंका धारक, मध्यमें छह योजनके चौडे परिमंडलसे शोभित, आठ योजन लंबा, अपनेसे आधे ऊंचे आठ सौ जंबूवृक्षोंसे अन्वित और अनेक देवांगनाओंसे व्याप्त सुदर्शन नामका जंबूवृक्ष है उसके संबंधसे द्वीपका नाम जंबूद्वीप अनादिकालसे है।

लवणरसांबुयोगाल्लवणोदः॥ २॥

लवणरस (नोनखरे रस) के धारक जलके संबंधसे समुद्रका नाम लवणोद है। उदक् शब्द चाहें पूर्वपद हो चाहें उत्तरपद हो, संज्ञा अर्थमें उसको उद आदेश हो जाता है ऐसा व्याकरणका सिद्धांत है। अतः 'लवणोद' यहांपर उत्तरपद उदक् शब्दको उद आदेश हो गया है। जंबूद्वीपश्च लवणोदश्च जंबूद्वीपलवणोदौ तावादी येषां ते जंबूद्वीपलवणोदादयः, यह यहांपर जंबूद्वीप–लवणोद–आदि शब्दका समास है। द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीपसमुद्राः, यह यहांपर द्वीप–समुद्र शब्दका समास है। जंबूद्वीपको आदि लेकर द्वीप और लवणोदको आदि लेकर समुद्र यह यहां पर आनुपूर्वी क्रमसे संबंध है। तथा लोकमें जो जो शुभ नाम जान पडते हैं उन उन शुभ नामोंके धारक वे द्वीप और समुद्र हैं जिसतरह–जंबूद्वीप लवणोद धातकीखंड कालोद पुष्करवर पुष्करोद वारुणीवर वारुणोद क्षीरवर क्षीरोद घृतवर घृतोद इक्षुवर इक्षूद नंदीश्वरवर और नंदीश्वरोद। इसप्रकार जंबूद्वीपको आदि लेकर स्वयंभूरमण द्वीपपर्यंत असंख्यात द्वीप और लवणोदको आदि देकर स्वयंभूरमणोद पर्यंत असंख्याते समुद्र हैं। जिस असंख्यात प्रमाणसे यहां पर द्वीप और समुद्रोंकी गणना की गई है वह ढाई सागरोपम कालके समयोंकी जितनी संख्या हो उतना समझ लेनी चाहिये॥ ७॥

अब जंबूद्वीप आदि द्वीप और लवणोद आदि समुद्रोंकी चौडाई, रचना और आकारकी विशेष प्रतीति करानेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं–

द्विर्द्विर्विष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

प्रत्येक द्वीप समुद्र गोल चूडीके आकार, पहिले पहिले द्वीप और समुद्रोंको घेरे हुए और एक दूसरेसे दूने दूने विस्तारवाले हैं। अर्थात् जंबूद्वीपसे द्विगुणा चौडा लवणसमुद्र है। लवण समुद्रसे द्विगुणा चौडा धातुकी खंड द्वीप है। धातुकी खंडसे दूना चौडा कालोद समुद्र है और कालोद समुद्रसे दूना चौडा पुष्करवर द्वीप है इत्यादि।

द्विर्द्विरिति वीप्साभ्यावृत्तिवचनं विष्कंभद्विगुणत्वव्याप्त्यर्थं ॥ १ ॥

प्रथम द्वीपकी जितनी चौडाई है उससे दूनी चौडाई प्रथम समुद्रकी है। प्रथम समुद्रसे दूनी चौडाई दूसरे द्वीपकी है। दूसरे द्वीपसे दूनी चौडाई दूसरे समुद्रकी है इसप्रकार उत्तरोत्तर सर्वत्र चौडाईकी द्विगुणता बतलानेके लिये सूत्रमें 'द्विर्' शब्दका दो वार उल्लेख और सुच् प्रत्ययका प्रयोग किया गया है। द्विर्द्विर्विष्कंभो येषां ते 'द्विर्द्विर्विष्कंभाः' यह यहांपर द्विर्द्विर्विष्कंभ शब्दका समास है। शंका—

अभ्यावृत्तिका अर्थ दो वार कथन करना है। जिसतरह 'द्विर्दश' यहांपर सुच्प्रत्ययांत द्विशब्दके प्रयोगसे दशका दूना (दो वार दश) यह अभ्यावृत्ति अर्थ होता है उसीप्रकार दो हैं दश जिसमें वह द्विदश है इस बहुव्रीहि समासगर्भित द्विदश शब्दका भी वही अभ्यावृत्ति अर्थ होता है। तथा जिस अर्थकी सर्वत्र व्याप्ति हो वह वीप्सा है और वह भी समाससे द्योतित हो जाती है जैसे सात सात हैं पत्ते जिनमें वे सप्तपर्ण हैं इस बहुव्रीहि समासगर्भित सप्तपर्ण शब्दमें वीप्सा अर्थ है अर्थात् सप्तपर्ण शब्दसे सात सात पत्तेवाले वृक्ष ही लिये जाते हैं इसीप्रकार—दो हैं विष्कंभ जिनमें वे द्विविष्कंभ हैं इसप्रकार द्विविष्कंभ शब्दसे भी 'चौडाईका दूना' यह अभ्यावृत्ति और वीप्सा अर्थ हो जाता है फिर दो वार द्विशब्दका कहना और

वीप्सा अर्थका द्योतक सुच्प्रत्ययका प्रयोग करना निरर्थक है ? सो ठीक नहीं । जहांपर अभ्यावृत्ति और वीप्सा दोनों अर्थ स्पृष्टतया जान पडें वहां तो 'सुच्प्रत्यय' और दो वार शब्दके प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं किंतु जहांपर वह अर्थ न प्रतीत हो सके वहां उसके प्रयोगकी आवश्यकता है । यहां पर द्विविष्कंभ शब्दके प्रयोगसे 'दूनी दूनी चौडाई है' यह अर्थ प्रतीत नहीं होता इसलिये उस अर्थके द्योतनकेलिये 'द्विर्द्विर्' शब्दका प्रयोग निरर्थक नहीं । सारार्थ यह है कि यहांपर पहिले द्वीपसे पहिला समुद्र दूना है पहिले समुद्रसे दूसरा द्वीप दूना है । दूसरे द्वीपसे दूसरा समुद्र दूना है यह अर्थ है । वह अर्थ 'द्विर्द्विविष्कंभ' शब्दका उल्लेख विना किये हो नहीं सकता इसलिये उसका प्रयोग यहां अभीष्ट अर्थका सूचक है।

अनिष्टविनिवेशव्यावृत्त्यर्थं पूर्वपूर्वपरिक्षेपिवचनं ॥ २ ॥

जिसतरह गांव और नगर आदिकी रचना है उसप्रकार द्वीप समुद्र आदिकी रचना कोई न समझ बैठे इसलिये सूत्रमें पूर्वपूर्वपरिक्षेपी वचन है अर्थात् द्वीपको समुद्र, समुद्रको द्वीप चारों ओरसे वेडे हुए हैं किंतु एक दिशामें द्वीप हो और उसकी दूसरी दिशामें समुद्र हैं । इसप्रकार उनकी रचना नहीं। तथा पूर्वपूर्वपरिक्षेपी शब्दके उल्लेखसे यह भी बात सिद्ध है कि द्वीप और समुद्र आपसमें अव्यवहित हैं उनमें फासला कुछ भी नहीं है । पहिले पहिलेको वेडनेका ही जिनका स्वभाव हो वे पूर्वपूर्वपरिक्षेपी कहे जाते हैं। यहांपर भी यदि 'पूर्वपूर्व' यह वीप्साका उल्लेख नहीं किया जाता तो पहिले द्वीपको पहिला समुद्र वेडे है, पहिले समुद्रको दूसरा द्वीप वेडे है तथा दूसरे द्वीपको दूसरा समुद्र वेडे है और दूसरे समुद्रको तीसरा द्वीप वेडे है यह अर्थ नहीं होता इसलिए इस अर्थकेलिये यहां दो वार पूर्व शब्दका उल्लेख है ।

चतुरस्रादिनिवृत्त्यर्थं वलयाकृतिवचनं ॥ ३ ॥

आकृतिका अर्थ संस्थान (आकार) है। वलयका अर्थ कंकण है जिसका वलयके समान आकार हो वे वलयाकृति हैं अर्थात् ऊपर जिन द्वीप और समुद्रोंका उल्लेख किया गया है वे सब चूडी या कंकणके समान गोल हैं चौकौन वा तीनकौंन आदि नहीं हैं। इसप्रकार द्वीप समुद्रका सूत्रमें वलयाकृति विशेषण करनेसे उनके चौकौंन तिकौंन आदि आकारोंकी निवृत्ति है। इसरीतिसे अन्य अन्य मतवालोंने जो द्वीप और समुद्रोंका चौकौंन आदि आकार कल्पित कर रक्खा है वह भ्रमपूर्ण है।

विशेष—समस्त द्वीप और समुद्र दूनी दूनी चौडाईवाले हैं। पहिले पहिलेको वेडे हुए हैं और चूडीके समान गोल हैं ये जो सामान्यरूपसे सब द्वीप और समुद्रोंके विशेषण किये हैं वे बातें जंबूद्वीपमें लागू होती हैं या नहीं? क्योंकि न जंबूद्वीप किसी दूसरे समुद्र वा द्वीपकी अपेक्षा दूनी चौडाईवाला है न किसीको वेडे हुए है इसलिए ये विशेषण, जंबूद्वीपमें न घटनेसे अव्याप्ति दोषग्रस्त है। इसका समाधान यह है कि इसीलिये सूत्रकार मुख्यरूपसे जंबूद्वीपका स्वरूप समझानेकेलिये 'तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्त' इत्यादि सूत्रका उल्लेख करते हैं। तथा इन द्वीप और समुद्रोंकी स्थिति मध्यलोकमें ही समझ लेनी चाहिये। क्योंकि अधोलोककी रत्नप्रभा आदि सात भूमियोंका उल्लेख किया जा चुका है। ऊर्ध्वलोकका वर्णन आगे है यहां क्रमप्राप्त मध्यलोक ही है ॥ ८ ॥

जंबूद्वीपके प्रदेश रचना और चौडाईके जान लेनेपर ही अन्य द्वीप समुद्रोंकी चौडाई आदिका ज्ञान हो सकता है अन्यथा नहीं क्योंकि जंबूद्वीपकी चौडाई आदि अन्य द्वीप समुद्रोंकी चौडाई आदिका मूल कारण है इसलिये सूत्रकार जंबूद्वीपकी चौडाई आदिका उल्लेख करते हैं—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कंभो जंबूद्वीपः ॥ ९ ॥

उन सब द्वीप समुद्रोंके बीचमें, जिसके मध्यमें नाभिके समान सुमेरु पर्वत है ऐसा एवं गोलाकार और एक लाख योजन विष्कंभवाला जंबूद्वीप है।

तच्छब्दः पूर्वद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थः ॥ १ ॥

तन्मध्ये यहांपर जो तत् शब्दका उल्लेख है वह पहिले कहे गये असंख्याते द्वीप समुद्रोंके ग्रहणार्थ है। 'तेषां मध्ये तन्मध्ये' अर्थात् उन समस्त द्वीप और समुद्रोंके मध्यमें। 'मेरुर्नाभिर्यस्य स मेरुनाभिः' अर्थात् नाभिके समान अपने मध्यभागमें सुमेरु पर्वतका धारक, सूर्यमंडलके समान गोल, शतानां सहस्रं शतसहस्रं, योजनानां शतसहस्रं योजनशतसहस्रं विष्कंभो यस्य सोऽयं योजनशतसहस्रविष्कंभः अर्थात एक लाख योजन चौडा जंबूद्वीप है। उस जंबूद्वीपकी परिधि (परकोट) तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, एकसौ अट्ठाईस धनुष, साढे तेरह अंगुल कुछ अधिक है। उसे चारो ओरसे बेडे हुए एक जगती अर्थात् वेदी है जो आधा योजन नीचे जमीनमें गहरी है, आठ योजन ऊंची है, मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ योजन और अंतमें चार योजन चौडी है। वह मूलभागमें वज्रमयी है। शिखर पर वैडूर्यमणिमयी है और मध्यभागमें सर्वरत्नमयी है। तथा १ गवाक्ष (झरोखे) जाल २ घंटाजाल ३ मुक्ताफलजाल ४ सुवर्णजाल ५ मणिजाल ६ क्षुद्रघंटिकाजाल ७ पद्मरत्नजाल ८ सर्वरत्नजाल ९ ये नव उत्तमोत्तम ऊपर ऊपर स्थित जालोंसे अत्यंत शोभित है। जाल नाम झरोखोंका है ये गवाक्षजाल—झरोखे; प्रत्येक आधा आधा योजन ऊंचा और पांचसौ धनुष चौडा तथा जगतीके समान लम्बे हैं।

उस जगतीके पूर्व दक्षिण पश्चिम और उत्तर चारो दिशाओंमें क्रमसे विजय वैजयंत जयंत और अपराजित नामके धारक चार दरवाजे हैं अर्थात् पूर्वदिशामें विजय, दक्षिणदिशामें वैजयंत, पश्चिम-दिशामें जयंत और उत्तरदिशामें अपराजित है। ये समस्त दरवाजे चार योजन चौडे हैं, आठ योजन ऊंचे हैं और इनका प्रवेशभाग चौडाईके समान ही है अर्थात् चार योजनका है।

चारो दरवाजोंमें विजय और वैजयंत दरवाजोंका आपसमें अंतर उन्यासी हजार बावन (७९०५२) योजन, आधा योजन, योजनका चौथा भाग, आधा कोश, कोशका चौथा भाग, बत्तीस धनुष, तीन अंगुल, एक अंगुलका चौथा भाग तथा आधा अंगुलका चौथा भाग कुछ अधिक है। जिस प्रकार यह विजय और वैजयंतका फासला बतलाया गया है उसी प्रकार वैजयंत और जयंतका, जयंत और अपराजितका एवं अपराजित और विजयका समझ लेना चाहिये॥ ९॥

जंबूद्वीपमें छह कुलाचलोंसे विभक्त सात क्षेत्र हैं। वे कौन कौन हैं सूत्रकार उनके नाम बतलाते हैं—

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि॥ १०॥

इस जंबूद्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। भरत-क्षेत्रकी भरत संज्ञा क्यों हुई? वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

भरतक्षत्रिययोगाद्वर्षो भरतः॥ १॥

विजयार्ध पर्वतके दक्षिणकी ओर, एवं लवण समुद्रके उत्तरकी ओर गंगा और सिंधुनदीके मध्यभागमें विनीता (अयोध्या) नगरी है। वह बारह योजन लंबी और नौ योजन चौडी है। उसमें समस्त राजलक्षणोंसे शोभायमान, छह खण्डकी पृथिवीके भोक्ता, चक्रवर्ती, राजा भरतने जन्म धारण

किया था। अवसर्पिणी कालमें पहिले ही पहिल राज्यविभागके समय चक्रवर्ती भरतने ही पृथिवीका उपभोग किया था। इसलिये उनके संबंधसे जिस क्षेत्रकी पृथिवीका उन्होंने भोग किया था उसका भरत-क्षेत्र नाम है। अथवा—

अनादिसंज्ञासंबंधाद् वा ॥ २ ॥

यह जगत अनादि है किसीने भी इस रूपसे इसका निर्माण नहीं किया। उस जगतके भीतर भरत यह नाम अहेतुक—किसी भी कारणसे न होनेवाला, और अनादि है। यह भरतक्षेत्र; कहां पर है? वार्तिककार इस विषयका खुलासा करते हैं—

हिमवत्समुद्रत्रयमध्ये भरतः ॥ ३ ॥

हिमवान पर्वत और पूर्व पश्चिम एवं दक्षिण तीनों दिशाओंमें रहनेवाले तीन[1] समुद्रोंके बीचमें भरत क्षेत्र है। इस भरतक्षेत्रके गंगा सिंधु दो नदी और विजयार्ध पर्वतसे छह टुकडे हो गये हैं। वार्तिककार विजयार्धशब्दका खुलासा करते हैं—

पंचाशद्योजनविस्तारस्तदर्धोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिर्विजयार्धोऽन्वर्थः ॥ ४ ॥

विजयार्ध नामका एक रजतमयी पर्वत है अर्थात् चांदीके समान परमाणुओंवाला है। चक्रवर्ती जिससमय छह खंडकी विजयकोलिये जाता है, विजयार्ध पर्वततक उसकी आधी विजय होती है इसलिये विजयार्ध पर्वतका स्थल चक्रवर्तीकी आधी विजयका स्थल होनेसे विजयार्ध यह अन्वर्थ नाम है। इस

१—यद्यपि एक लवण समुद्र ही भरतक्षेत्रके तीनों ओर फैला हुआ है परन्तु दिशाओंके कल्पनाभेदसे उसके तीन खण्ड हो जानेसे वह तीन समुद्रोंके नामसे कहा जाता है। उत्तर भागमें पर्वत एवं क्षेत्र हैं।

विजयार्ध पर्वतका विस्तार पचास योजनका है पच्चीस योजनकी ऊंचाई है और एक कोश छह योजन जमीनमें गहरा है। तथा यह एक ओर पूर्व समुद्रतक और दूसरी ओर पश्चिम समुद्र तक लंबा है।

इस विजयार्ध पर्वतकी पूर्व पश्चिम पार्श्वभुजा अर्थात् पूर्व पश्चिम मुटाई चारसौ अठासी योजन, एवं योजनके उन्नीस भागोंमें सोलह भाग और कुछ अधिक आधा भाग प्रमाण है। विजयार्ध पर्वतकी उत्तर प्रत्यंचा उत्तरदिशासंबंधी पार्श्वभागमें लगी हुई डोरी–जीवा दश हजार सातसौ वीस (१०७२०) योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें कुछ कम बारह भाग है। तथा इस प्रत्यंचाका धनुःपृष्ठ दश हजार सातसौ तेतालीस (१०७४३) योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे कुछ अधिक पंद्रह भाग है। विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण प्रत्यंचा नौ हजार सातसौ अडतालीस (९७४८) योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें बारह भाग प्रमाण तथा कुछ अधिक है। इस प्रत्यंचाका धनुःपृष्ठ नौ हजार सातसौ छयासठ योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें कुछ अधिक एक भाग प्रमाण है।

विजयार्ध पर्वतके दोनों पसवाडोंमें दो वनखंड हैं जो कि आधे योजन चौडे एवं विजयार्ध पर्वतके ही समान लंबे हैं तथा उन वनोंमें प्रत्येक वन आधे योजन ऊंची, पांचसौ धनुष चौडी एवं वनोंके समान ही लंबी, कहीं कहीं पर कनकमयी स्तूपिकाओं (बुर्जों)-की धारक अत्यंत शोभनीय तोरणोंसे भूषित ऐसी पद्मवर वेदिकाओंसे व्याप्त है और वे सब ऋतुओंके फल और फूलोंके धारक वृक्षोंसे शोभित हैं।

विजयार्ध पर्वतपर तमिश्रा और खंडप्रपाता नामकी दो गुफायें हैं जो कि पचास योजन उत्तर दक्षिण लंबी हैं। पूर्व पश्चिम बारह योजन चौडी हैं इनके उत्तर और दक्षिण दिशाके दोनों द्वार आठ

आठ योजन ऊंचे हैं, वे दोनों दरवाजे—एक एक कोश सहित छह छह योजन चौडे, एक एक कोश मोटे और आठ आठ योजनके ऊंचे वज्रमयी किवाडोंसे युक्त हैं। इन्हीं दरवाजोंसे चक्रवर्ती उत्तर भरतक्षेत्रके विजयकेलिये जाता है तथा इन्हीं द्वारोंसे गंगा और सिंधु नदी निकल कर भरतक्षेत्रमें प्रवाहित हुई हैं।

विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंमें प्रत्येक गुफासे दो दो नदियोंका उदय हुआ है। ये नदियां जाकर गंगा और सिंधुमें प्रविष्ट हुई हैं। इनके नाम उन्मग्नजला और निमग्नजला हैं। ये दोनों ही नाम सार्थक हैं अर्थात् भीतरमें पडे हुए तृण आदि पदार्थको जवरन् ऊपरमें लाकर पटक देनेसे उन्मग्नजला नाम है और भीतरमें पडे हुए तृण आदि पदार्थको जवरन् तलीमें घसीट लेजानेसे निमग्नजला नाम है।

इस विजयार्ध पर्वतपर जमीनसे दश योजन ऊपर दक्षिण उत्तर दोनों पसवाडोंमें पर्वतके समान लंबी और दश योजन चौडी दो विद्याधर श्रेणियां हैं। उनमें दक्षिण श्रेणिमें रथनूपुर चक्रवाल आदि पचास विद्याधरोंके नगर हैं और उत्तर श्रेणिमें गगनवल्लभ आदि साठ नगर हैं। इन एकसौ दश नगरोंमें रहनेवाले विद्याधरोंकी भरत क्षेत्रके समान असि मषि आदि छह कर्मोंसे जीविका है परंतु भरत क्षेत्रकी अपेक्षा प्रज्ञप्ति आदि विद्याओंकी उन नगरोंमें रहनेवाले विद्याधरोंमें विशेषता है। यहांसे दश योजनकी उंचाईपर दक्षिण उत्तर दोनों पसवाडोंमें दो व्यंतरश्रेणि हैं। उनका विस्तार दश योजनका है और लंबाई पर्वतके समान है। इन श्रेणियोंमें सौधर्म इंद्रके सोम यम वरुण और वैश्रवण नामके लोकपाल और आभियोग्य जातिके व्यंतर देवोंके निवास स्थान हैं। यहांसे पांच योजनकी ऊंचाईपर शिखरतल है। वह दश योजन चौडा और विजयार्ध पर्वतके समान लंबा है।

इस शिखरतलकी पूर्वदिशामें एक कोस अधिक छह योजन ऊंचा और एक कोस अधिक छह

योजन ही चौडा तथा चारो ओरसे पद्मवरवेदिकासे परिवेष्टित सिद्धायतन नामका कूट है। उसके ऊपर उत्तर दक्षिण लंबा पूर्वपश्चिम चौडा (एक सिद्धकूट) जिन मंदिर है जो कि एक कोश लंबा, आधा कोश चौडा, कुछ कम एक कोश ऊंचा एवं पद्मवर वेदिकासे वेष्टित है। वह जिनमंदिर पूर्व उत्तर और दक्षिण तीनों ओर विद्यमान तीन दरवाजोंसे विभूषित है एवं जिनमंदिरका जैसा वर्णन होना चाहिये उसी वर्णनका स्थान है।

उस जिनमंदिरके पश्चिम भागमें दक्षिणार्ध भरतकूट १ खंडकप्रपातकूट २ माणिकभद्रकूट ३ विजयार्ध-कूट ४ पूर्णभद्रकूट ५ तमिस्रागुहाकूट ६ उत्तरार्ध भरतकूट ७ वैश्रवणकूट ८ ये आठ कूट हैं। तथा ये आठो ही कूट सिद्धायतनकूटके समान ऊंचे चौडे और लंबे हैं। इन आठों कूटोंपर क्रमसे दक्षिणार्धभरत देव १ वृत्तमाल्यदेव २ माणिभद्रदेव ३ विजयार्धगिरिकुमारदेव ४ पूर्णभद्रदेव ५ कृतमालदेव ६ उत्तरार्ध भरतदेव ७ और वैश्रवण ८ देवोंके निवासस्थान हैं तथा वे निवासस्थान सिद्धायतनकूटके समान लंबे चौडे और ऊंचे हैं। इसप्रकार मुकुटोंके समान नौ कूटोंसे शोभित विजयार्ध पर्वत विशाल गिरिराजके समान शोभायमान होता है। हैमवतक्षेत्रका हैमवत नाम कैसे पडा ? वार्तिककार इस बातको बतलाते हैं—

हिमवतोऽदूरभवः सोऽस्मिन्नस्तीति वा हैमवतः ॥ ५ ॥

उस (हैमवत) क्षेत्रके पासमें हिमवान् पर्वत है इसलिये अथवा हिमवान् पर्वतका धारक है इसलिए उस क्षेत्रका नाम हैमवत है। हिमवत् शब्दसे समीप वा 'वह जिसमें है' इस अर्थमें अण् प्रत्यय करनेपर हैमवत शब्दकी सिद्धि हुई है। हैमवत क्षेत्र कहां है ? यह बात कही जाती है—

क्षुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये ॥ ६ ॥

क्षुद्र हिमवान् पर्वतके उत्तरभागमें और महाहिमवान् पर्वतके दक्षिण भागमें पूर्व और पश्चिम समुद्रोंके बीचमें हैमवतक्षेत्र है।

तन्मध्ये शब्दवान् वृत्तवेताढ्यः॥ ७॥

उस हैमवतक्षेत्रके मध्यभागमें एक शब्दवान् नामका वृत्तवैताढ्य पहाड है जो कि नगाडेके समान गोल होनेसे सार्थक नामका धारक है। एक हजार योजनका ऊंचा है, ढाईसौ योजन जमीनमें गहरा है। शिखरभागमें और मूलभागमें एक हजार योजन लंबा चौडा है। अपनी चौडाईकी अपेक्षा कुछ अधिक तिगुनी परिधिका धारक है तथा आधे योजन चौडी, पर्वतकी परिधिके समान लंबी, एवं पूर्व पश्चिम आदि चारो दिशाओंमें विद्यमान चार तोरणोंसे विभाजित ऐसी पद्मवरवेदिकासे विभूषित है।

इस शब्दवान् वृत्तवैताढ्यके तल पर दो कोश और बासठ योजन ऊंचा एवं एक कोश इकतीस योजन चौडा स्वाति देवोंके विहार करनेका मनोज्ञ स्थान है॥ हरिक्षेत्रकी हरिवर्ष संज्ञा इस प्रकार है—

हरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः॥ ८॥

हरिका अर्थ सिंह है और उसके परिणामोंको शुक्ल माना है। हरिक्षेत्रमें रहनेवाले मनुष्य सिंहके समान शुक्ल परिणामवाले और उसीके समान वर्णवाले होते हैं इसलिए उस संबंधसे क्षेत्रका नाम हरिवर्ष है। हरिवर्ष कहांपर है? उत्तर—

निषधमहाहिमवतोरंतराले॥ ९॥

१—दूसरी प्रतिमें 'वृत्तवेदाढ्यः' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ—पहाडका नाम वृत्तवेदाढ्य है।

निषध पर्वतके दक्षिण भागमें और महाहिमवान पर्वतके उत्तर भागमें पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हरिवर्ष है।

तन्मध्ये विकृतवान् वृत्तवेताढ्यः ॥ १० ॥

उस हरिक्षेत्रके मध्यभागमें विकृतवान् नामका वृत्तवेताढ्य पर्वत है। उसकी समस्त रचना शब्दवान वृत्तवेताढ्यके समान समझ लेनी चाहिये। विकृतवान् वृत्तवेताढ्यके ऊपर भागमें अरुणदेवोंके विहारका स्थान है॥ विदेहक्षेत्रकी विदेहसंज्ञा इसप्रकार है—

विदेहयोगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः ॥ ११ ॥

'विगतदेहा विदेहाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जिनके देह न हो वे विदेह कहे जाते हैं यह अर्थ है। अथवा देहके विद्यमान रहते भी जो कर्मबंधकी परंपराको सर्वथा नाश करनेकेलिए रंचमात्र भी शरीरका संस्कार नहीं करते और न रंचमात्र भी ममत्वभाव रखते हैं वे भी विदेह कहे जाते हैं। विदेह क्षेत्रमें मुनिगण देहके सर्वथा नाश करनेकेलिए घोर प्रयत्न करते हैं और विदेहत्व (अशरीरत्व सिद्धत्व) अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं इस रीतिसे विदेह मनुष्योंके संबंधसे क्षेत्रका भी नाम विदेह है। शंका—

जिन मनुष्योंके देहका संबंध नहीं वे विदेह कहे जाते हैं अथवा देहके विद्यमान रहते भी कर्म-बंधकी संतानके सर्वथा नाशार्थ जो रंचमात्र भी देहका संस्कार वा ममत्व नहीं रखते वे भी विदेह कहे जाते हैं यह विदेह शब्दका अर्थ बतलाया गया है। परंतु यह अर्थ तो भरत और ऐरावतके मनुष्योंमें

१—दूसरी प्रतिमें 'वृत्तवेदाढ्यः' ऐसा पाठ है। अर्थात् पर्वतका नाम वृत्तवेदाढ्य बतलाया गया है।

भी घटता है क्योंकि भरत और ऐरावत क्षेत्रसे भी मुक्तिका विधान रहनेसे विदेहक्षेत्रके समान इन दोनों क्षेत्रोंके मनुष्योंको भी विदेह कहना अनिवार्य है इसलिए विदेह मनुष्योंके संबंधसे क्षेत्रका विदेह नाम है यह कथन अयुक्त है? सो ठीक नहीं। भरत और ऐरावत क्षेत्रमें सदा मनुष्य मुक्त नहीं होते इस-लिए उनके मनुष्योंमें तो कभी कभी विदेहता रहती है। परंतु विदेहक्षेत्रमें सर्वकाल मुक्ति प्राप्त होती है वहांपर कभी भी धर्मका उच्छेद नहीं होता—एक तीर्थंकरके बाद दूसरे तीर्थंकरके उत्पन्न होनेसे सदा मोक्षके द्वारस्वरूप धर्मकी जागृति बनी रहती है इसलिए मोक्षगामी जीवोंमें सदा विदेहता रहती है। यह भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी अपेक्षा विदेहक्षेत्रमें प्रकर्षता है अर्थात् भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें कालका परिवर्तन होनेसे और कर्मभूमिके समयमें भी एक तीर्थंकरके असंख्यात एवं संख्यात वर्षोंके पीछे दूसरे तीर्थंकरका जन्म होनेसे कभी कभी मोक्षमार्गका प्रकाश होता है परंतु विदेहक्षेत्रमें सदैव बीस तीर्थं-करोंकी सत्ता बनी ही रहती है। इसलिए वहां विदेह—मुक्तिद्वार सदैव खुला रहता है। इसीलिए इस क्षेत्रका नाम विदेह है। इसरीतिसे विदेह मनुष्योंकी अपेक्षा क्षेत्रका विदेह नाम युक्तियुक्त है। यह विदेहक्षेत्र कहांपर है? उत्तर—

निषधनीलयोरंतराले तत्सन्निवेशः ॥ १२ ॥

निषध पर्वतके उत्तर और नील पर्वतके दक्षिणभागमें पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें विदेह क्षेत्रकी रचना है।

स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात् ॥ १३ ॥

पूर्वविदेह पश्चिम विदेह उत्तरकुरु और देवकुरुके भेदसे वह विदेह क्षेत्र चार प्रकारका है। मेरुसे

पूर्वमें रहनेके कारण पूर्वविदेह संज्ञा है। उत्तरमें रहनेके कारण उत्तरकुरु संज्ञा है। मेरुसे पश्चिम भागमें रहनेके कारण पाश्चिम विदेह और दक्षिण भागमें रहनेसे देवकुरु संज्ञा है। शंका—

मेरुके पूर्व आदि भागोंमें रहनेके कारण जो पूर्वविदेह आदि संज्ञा मानी है वह ठीक नहीं क्योंकि पूर्वविदेहमें नील पर्वतसे सूर्यका उदय और निषध पर्वतसे अस्त होता है वहां पर पूर्व दिशामें नील पर्वत है। पश्चिममें निषध, दक्षिणमें समुद्र और उत्तरमें मेरु पर्वत है। पाश्चिम विदेहमें निषध पर्वतसे सूर्यका उदय और नील पर्वतसे अस्त होता है। वहां पर पूर्वदिशामें निषध पर्वत है। पश्चिममें नील पर्वत है। दक्षिण दिशामें समुद्र और उत्तर दिशामें मेरुपर्वत है। उत्तर कुरुमें गंधमादन गजदंतसे सूर्यका उदय और माल्यवान गजदंतसे अस्त होता है। वहां पर पूर्व दिशामें गंधमादन पर्वत है। पश्चिम दिशामें माल्यवान है। नील पर्वत दक्षिणमें और मेरुपर्वत उत्तरमें है। तथा देवकुरुमें सौमनस गजदंतसे सूर्यका उदय और विद्युत्प्रभसे अस्त होता है। वहां पर सौमनस पूर्वदिशामें है। विद्युत्प्रभ पाश्चिम दिशामें है। दक्षिण दिशामें निषधाचल और उत्तर दिशामें मेरुपर्वत है इसरीतिसे मेरुके पश्चिम आदि भागमें रहनेसे पश्चिमविदेह आदि संज्ञा जो मानी गई हैं वे मिथ्या हैं ? सो ठीक नहीं। यदि विदेह क्षेत्रमें दिशाओंके विभागका आश्रय किया जाय तब तो उपर्युक्त संज्ञायें मिथ्या मानी जा सकती हैं किंतु वहांकी अपेक्षा दिशाओंका विभाग नहीं मान कर भरत क्षेत्रमें ही दिशाओंके विभागकी कल्पनाकर मेरुके पूर्व आदि नाम माने हैं अर्थात् यदि विदेह क्षेत्रसंबंधी ही सूर्योदय एवं सूर्यास्तकी कल्पनासे दिशाभेद माना जाय तब तो शंकाकारका कथन ठीक है परंतु यहांपर भरतक्षेत्रसे पूर्व आदि

१—दिशाओंका विभाग केवल सूर्यके उदय और अस्तकी अपेक्षा माना है, वास्तवमें दिशा नामका कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है।

विदेहोंकी कल्पना की गई है इसलिये शंकाकारका कहना ठीक नहीं है। इसलिये मेरुसे पूर्वभागमें रहनेसे पूर्वविदेह, पश्चिम आदि भागोंमें रहनेसे पश्चिम विदेह आदि जो नाम उपर कहे गये हैं वे यथार्थ हैं।

विदेहक्षेत्रके ठीक मध्यभागमें मेरु पर्वत है। इस मेरु पर्वतसे पश्चिम उत्तर दिशामें गंधमालिनी देशके समीप देवारण्य नामका वन है। उसके पूर्वकी ओर गंधमादन नामका वक्षार पर्वत है जो गजदंत भी कहा जाता है। यह वक्षार पर्वत उत्तर दक्षिण लंबा और पूर्व पश्चिम चौडा है। अपनी दक्षिण कोटिसे मेरुका स्पर्श करता है और उत्तर कोटिसे नीलाचलको स्पर्शता है। आधे योजन चौडे पर्वत (अपने ही) समान लंबे दो वनखंडोंसे शोभायमान है। और नीचे बीचमें और ऊपर सब जगह सुवर्ण-मयी है। यह वक्षार पर्वत नीलाचल तक चारसौ योजन ऊंचा है। सौ योजन जमीनमें गहरा है। प्रदेशोंकी बढवारीसे बढता बढता मेरु पर्वतके समीपमें पांचसौ योजन ऊंचा, सवासौ—१२५ योजन गहरा और पांचसौ योजन चौडा है। पीछे प्रदेशोंकी हानिसे घटता नीलाचल पर्वतके पास ढाईसौ योजन चौडा एवं तीस हजार दोसौ नौ योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें छह भाग कुछ अधिक लंबा है।

इस गंधमादन वक्षार पर्वतके ऊपर मेरु पर्वतके समीप एकसौ पचीस १२५ योजन ऊंचा और सवासौ—१२५ योजन मूलमें चौडा एक सिद्धायतन नामका कूट है। इस गंधमादनकूटके उत्तर भागमें क्रमसे गंधमादनकूट १ उदक्कुरुकूट २ गंधमालिनीकूट ३ स्फटिककूट ४ लोहिताक्षकूट ५ और आनंदकूट ६ ये छह कूट विद्यमान हैं।

सिद्धायतनकूट पर एक जिनमंदिर है। स्फटिककूट पर एक महा मनोहर विशाल प्रासाद बना हुआ है और उसमें एक पल्यकी आयुकी धारक भोगंधरी नामकी देवी निवास करती है। लोहिताक्ष-

कूटके ऊपर भी एक प्रासाद है और उसमें एक पल्योपम आयुकी धारक भोगावती नामकी दिक्कुमारी रहती है। बाकीके उदक्कुरु आदि जो चार कूट हैं उनमें अपने अपने नामके धारक ही देव निवास करते हैं।

मेरुकी उत्तर पूर्व दिशामें नीलाचलसे दक्षिण और कच्छ देशसे पश्चिमकी ओर माल्यवान नामका वक्षार पर्वत है। यह भी गजदंतके नामसे प्रसिद्ध है। यह नीचे बीचमें और ऊपर सब जगह वैडूर्यमणिमयी है। यह चौडाई लंबाई ऊंचाई गहराई और आकारसे गंधमादन वक्षार पर्वतके ही समान है। इस माल्यवान् वक्षार पर्वतके ऊपर मेरु पर्वतके समीपमें एक सिद्धायतनकूट है और उसका परिमाण गंधमादन वक्षार पर्वतके सिद्धायतनकूटके ही समान समझ लेना चाहिये। इस सिद्धायतनकूटके ऊपर एक जिनमंदिर है और उसकी उत्तर दिशामें क्रमसे माल्यवान कूट १ उदक्कुरुकूट २ कच्छविजयकूट ३ सागरकूट ४ रजतकूट ५ पूर्णभद्रकूट ६ सीताकूट ७ हरिकूट ८ और महाकूट ९ ऐसे नामवाले नव कूट हैं। इनमें सागरकूट पर सुभगा नामकी दिक्कुमारीका निवासस्थान है। रजतकूट पर भोगमालिनी नामकी दिक्कुमारीका निवासस्थान है एवं शेष सात कूटों पर अपने अपने कूटोंके नामधारी देवोंका निवास है।

मेरु पर्वतसे उत्तर, गंधमादन वक्षारगिरिसे पूर्व, नीलाचलसे दक्षिण और माल्यवान् पर्वतसे पश्चिमकी ओर उत्तरकुरु भोगभूमि है। यह उत्तरकुरु भोगभूमि पूर्व पश्चिम लंबी और उत्तर दक्षिण चौडी है। तथा यमक नामक दो पर्वत, पांच सरोवर और सौ कांचन पर्वतोंसे अत्यंत शोभायमान है। इस उत्तरकुरु भोगभूमिका उत्तर दक्षिण विस्तार ग्यारह हजार आठसै बियालीस योजन और एक

योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग प्रमाण है। इसकी प्रत्यंचा नील पर्वतके समीप त्रेपन हजार योजन है तथा साठ हजार चारसौ अठारह योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें किंचित् अधिक बारह भाग प्रमाण इसका धनुष है।

इस उत्तरकुरु भोगभूमिमें सीता नदीके पूर्वकी ओर जंबूवृक्ष है। उसकी उत्तरदिशाकी शाखापर भगवान अर्हंतका मंदिर है जो कि एक कोश लंबा आधा कोश चौडा और कुछ कम एक कोश ऊंचा है। पूर्व दिशाकी शाखापर एक महामनोज्ञ प्रासाद विद्यमान है जो कि भगवान अर्हंतके मंदिरके ही समान लम्बा चौडा और ऊंचा है। इस प्रासादमें जंबूद्वीपका स्वामी व्यंतर जातिके देवोंका अधिपति अनावृत नामका देव रहता है तथा दक्षिण और उत्तर दिशाकी शाखाओंपर भी दो प्रासाद हैं और उनमें अनावृत देवकी महामनोहर शय्यायें विद्यमान हैं।

इस जंबूवृक्षकी पूर्व-उत्तर (वायव्य) दिशामें और पश्चिम-उत्तर (ईशान) दिशामें चार हजार जंबूवृक्ष हैं और उनमें अनावृत देवके (समान ही) सामानिक जातिके देव निवास करते हैं। दक्षिण-पूर्व दिशामें बत्तीस हजार जंबूवृक्ष हैं और उनमें अनावृतदेवकी अंतरंग सभाके देव निवास करते हैं। दक्षिण दिशामें चालीस हजार जंबूवृक्ष हैं और उनमें मध्यम सभाके देवगण निवास करते हैं। दक्षिण पश्चिम दिशामें अडतालीस हजार जंबूवृक्ष हैं और उनमें बाह्य सभाके देव रहते हैं। पश्चिम दिशामें सात जंबूवृक्ष और उनमें अनावृत देवकी सातप्रकारकी सेनाके महत्तर रहते हैं। चार जंबूवृक्ष और भी हैं एवं उनमें अपने अपने दासी दास आदि परिवारोंके साथ अनावृत देवकी चार पट्टरानी निवास करती हैं। इनके सिवाय पूर्व दक्षिण पश्चिम और उत्तर इन चारो दिशाओंमें सोलह हजार जंबूवृक्ष और हैं एवं उनमें अनावृत

देवके सोलह हजार आत्मरक्षक देव निवास करते हैं। इसप्रकार सुदर्शन नामके धारक जंबूवृक्षके पहिले कहे गये आठसौ जंबूवृक्षके साथ ये एक लाख चालीस हजार एकसौ उन्नीस (१४०११९) परिवार जंबूवृक्ष हैं। परिवारस्वरूप ये समस्त जंबूवृक्ष चारो ओर पद्मवर वेदिकासे वेष्टित हैं सर्वरत्नमयी वा सुवर्णमयी हैं तथा मुक्ताफल मणि सुवर्ण घंटा पुष्पमाला ध्वजा पताका और तीन छत्रोंसे शोभायमान हैं।

यह सुदर्शन नामका जंबूवृक्ष पद्मवर वेदिकासे वेष्टित तीन वनखंडोंसे व्याप्त है। पहिले वनखंडमें चारो दिशाओंमें चार भवन हैं जिनमें प्रत्येक एक कोश लंबा, आधा कोश चौडा और कुछ कम एक कोश ऊंचा है। चारो विदिशाओंमें चार वापियां हैं जो दश दश योजन गहरी, पचास पचास योजन लंबी, पचीस पचीस योजन चौडी, चौकोन चारो ओर विशाल और पवित्र सुगंधित जलसे परिपूर्ण हैं। उन भवन और वापियोंकी आठो दिशाओंमें चांदी और सुवर्णके वने सफेद वर्णके आठ कूट हैं। उनमें प्रत्येक कूटके ऊपर चार चार प्रासाद हैं जिनमें प्रत्येक एक कोश लंबा, आधा कोश चौडा और कुछ कम एक कोश ऊंचा है।

नीलाचलकी दक्षिणकी ओर तिर्यक् एक हजार योजनके बाद सीता नदीके दोनों पसवाडोंमें पांचसौ योजनके फासलासे दो गोल यमक पर्वत हैं जो कि एक हजार योजन ऊंचे, ढाईसौ योजन जमीनमें गहरे, मूलमें एक हजार योजन, मध्यमें साढे सातसै योजन और ऊपर शिखर पर पांचसौ योजन चौडे हैं। उन दोनों यमक पर्वतोंपर दो प्रासाद बने हैं जो कि साढे बासठ योजन ऊंचे, एक कोश और इकतीस योजन चौडे तथा एक कोश इकतीस योजनके प्रवेश द्वारके धारक हैं। उन दोनों प्रासादोंमें यमक नामके दो देव निवास करते हैं। प्रासादोंकी पूर्व दिशामें भगवान अर्हंतके दो मंदिर हैं।

यमक पर्वतोंसे दक्षिणकी ओर पांचसौ योजन तिर्यक् जानेके बाद सीता महानदीके पास नील नामका महा ह्रद है जो कि उत्तरदक्षिण एक हजार योजन लंबा है। पूर्व पश्चिम पांचसै योजन चौडा और दश योजन गहरा है। इस नीलह्रदमें कमल हैं जो कि जलके ऊपर आधे योजन ऊपरको उठे हुये हैं दश योजनके गहरे नालोंके धारक हैं। बीचमें एक योजन चौडे हैं। एक कोश लंबे पत्रोंके धारक हैं। दो कोशकी कर्णिकाओंसे युक्त हैं। अग्रभाग और मूलभागमें दो कोशके विस्तारवाले हैं और पद्मह्रद सरोवरके कमलोंका जो वर्णन किया गया है उस वर्णनसे युक्त हैं। इस नीलमहाह्रदमें नील नामके धारक नागेंद्र कुमारका निवास स्थान है। नीलदेवके परिवारके रहनेके कमल, सुदर्शन जंबूवृक्षके परिवारस्वरूप जंबू वृक्षोंके समान एक लाख चालीस हजार एकसौ उन्नीस १४०११९ हैं। नीलह्रदसे पूर्वदिशाकी ओर पासमें ही दश कांचन पर्वत हैं जो कि गोल, एकसौ योजन ऊंचे, पचीस योजन जमीनमें नीचे, मूलमें सौ योजन, मध्यमें पचहत्तर योजन, और अग्रभागमें पचास योजन चौडे सुवर्णमयी हैं। इन कांचन पर्वतोंके ऊपर एक कोश इकतीस योजन ऊंचे और एक कोश पंद्रह योजन चौडे प्रासाद हैं एवं उनमें कांचन नामके धारक देव निवास करते हैं। जिसतरह पूर्व दिशामें दश कांचन पर्वत कहे गये हैं उसी प्रकार पश्चिम दिशामें भी दश कांचन पर्वत हैं और उन सबका स्वरूप पूर्वदिशाके दश कांचन पर्वतोंके समान है।

नीलह्रदसे दक्षिणकी ओर पांचसौ योजनके बाद उत्तरकुरु नामका ह्रद है और उसमें उत्तरकुरु नामका नागेंद्रकुमार निवास करता है। नीलह्रदका जो कुछ स्वरूप वर्णन कर आये हैं वही उत्तरकुरु-ह्रदका भी है। इसके भी पूर्व और पश्चिमकी ओर दश दश कांचन पर्वत हैं और उनका कुल वर्णन नीलह्रदके पूर्व और पश्चिम भागमें रहनेवाले कांचन पर्वतोंकासा है।

उत्तरकुरुहूदसे दक्षिणकी ओर पांचसौ योजनके बाद एक चंद्र नामका सरोवर है। उसमें चंद्र नामका नागेंद्रकुमार निवास करता है। पहिलेके समान इस चंद्रहूदके भी पूर्व और पश्चिम भागमें दश दश कांचन पर्वत हैं और उनका कुल वर्णन उपर्युक्त कांचन पर्वतोंके समान है। चंद्रहूदसे दक्षिणकी ओर पांचसौ योजनके बाद ऐरावतहूद है और उसमें ऐरावत नामके नागेंद्रकुमारका निवासस्थान है। इसके भी पूर्व और पश्चिम भागमें दश दश कांचन पर्वत हैं और उनका कुल वर्णन उपर्युक्त कांचन पर्वतों सरीखा ही है। ऐरावतहूदसे दक्षिणकी ओर पांचसौ योजन तिर्यक् जानेके बाद माल्यवान नामका हूद है। उसमें माल्यवान नामका नागेंद्रकुमार रहता है। इसके भी पूर्व और पश्चिम भागमें दश दश कांचन पर्वत हैं और उनका स्वरूप पूर्वोक्त कांचन पर्वतोंके समान है इसप्रकार सब हूदोंके मिला कर यहां सौ कांचन पर्वत होते हैं। प्रत्येक कांचन पर्वतकी पूर्व दिशामें एक एक जिनमंदिर है इसप्रकार सौ कांचन पर्वतोंपर सौ जिनमंदिर हैं।

मेरु पर्वतकी दक्षिण और पूर्व दिशामें मंगलावत(ती)देशसे पश्चिम और निषधाचलसे उत्तरकी ओर सौमनस नामका वक्षारागिरि (गजदंत) है। यह सौमनस वक्षारगिरि सर्वत्र स्फटिकमणिमयी है गंधमादन वक्षारगिरिकी जो चौडाई ऊंचाई गहराई और रचना ऊपर कह आए हैं उसीप्रकार इस सौमनस वक्षारगिरिकी है। इस सौमनस वक्षारागिरिके ऊपर मेरुके समीप सिद्धायतन नामका एक कूट है। उसका परिमाण पूर्वोक्त सिद्धायतनकूटके समान ही है। इसके ऊपर एक भगवान अर्हंतका मंदिर है जिससे यह अत्यंत शोभायमान जान पडता है। इस सिद्धायतनकूटकी दक्षिण दिशामें क्रमसे सौमनसकूट १ देवकुरुकूट २ मंगलावतकूट ३ पूर्वविदेहकूट ४ कनककूट ५ कांचनकूट ६ विशिष्टकूट ७ और

उज्ज्वलकूट ८ ये आठ कूट हैं। इन आठों ही कूटोंकी रचना गंधमादन वक्षारपर्वतके कूटोंके समान है। इनमें कनककूटके ऊपर प्रासादमें सुवत्सा नामकी दिक्कुमारीका निवासस्थान है। कांचनकूटके प्रासादमें वत्समित्रा नामकी दिक्कुमारीका निवासस्थान है। बाकीके कूटोंमें अपने अपने कूटके नामधारी देवोंका निवासस्थान है।

मेरु पर्वतके दक्षिणपश्चिम भागमें निषधाचलसे उत्तर और पद्मावत देशसे पूर्वकी ओर विद्युत्प्रभ नामका वक्षारगिरि (गजदंत) है। यह तपे हुए सुवर्णके समान रंगवाला और गंधमादन वक्षारपर्वतके समान परिमाणवाला है। इस विद्युत्प्रभ वक्षारपर्वतके ऊपर मेरु पर्वतके समीपमें भगवान अर्हतके मंदिरसे शोभायमान सिद्धायतनकूट है। उस सिद्धायतनकूटके दक्षिण भागमें क्रमसे विद्युत्प्रभकूट १ देवकुरुकूट २ पद्मावतविषयकूट ३ अपरविदेहकूट ४ स्वस्तिककूट ५ शतज्वालकूट ६ शीतोदाकूट ७ और हरिकूट ८ ये आठ कूट हैं तथा जिसप्रकार गंधमादन वक्षार पर्वतके कूटोंकी रचना बतला आए हैं उसीप्रकार इन कूटोंकी भी रचना समझ लेनी चाहिये। इन कूटोंमें पद्मावतविषयकूटके ऊपरके प्रासादमें वारिषेणा नामकी दिक्कुमारीका निवासस्थान है। स्वस्तिककूटके ऊपरके प्रासादमें बला नामकी दिक्कुमारीके रहनेका स्थान है इनके सिवाय जो अवशिष्ट कूट हैं उनमें अपने अपने कूटोंके नामधारी देवगण निवास करते हैं।

मेरु पर्वतसे दक्षिण, सौमनससे पश्चिम, निषधाचलसे उत्तर, विद्युत्प्रभसे पूर्व देवकुरु भोगभूमि है। उत्तरकुरु भोगभूमिमें जिसप्रकार प्रत्यंचा, धनुःपृष्ठ और वाणका परिमाण है उसीप्रकार देवकुरुमें भी समझ लेना चाहिये। मेरुसे दक्षिणपश्चिम दिशामें निषधाचलसे उत्तर, सीतोदा महानदीसे पश्चिम

विद्युत्प्रभसे पूर्व बीचमें सुप्रभा नामका शाल्मली वृक्ष है। सुदर्शन जंबूवृक्षका जो ऊपर वर्णन कर आए हैं वही वर्णन इस शाल्मलिवृक्षका समझ लेना चाहिये। सुप्रभा नामक शाल्मलिवृक्षकी उत्तर शाखामें अर्हंत भगवानका मंदिर है। पूर्व, दक्षिण और पश्चिमकी शाखाओं पर मनोज्ञ मनोज्ञ प्रासाद हैं और उनमें गरुत्मान् वेणुदेव नामक देव निवास करता है। अनावृत देवके परिवारका जैसा वर्णन कर आए हैं उसीप्रकार इस देवके परिवारका भी वर्णन समझ लेना चाहिये।

निषधाचल पर्वतसे उत्तर तिर्यक् एक हजार योजनके बाद सीतोदा महा नदीके दोनों पसवाडोंमें चित्रकूट और विचित्रकूट नामक दो पर्वत हैं। दो यमक पर्वतोंका जो स्वरूप वर्णन कर आए हैं वही स्वरूप वर्णन इन दोनों पर्वतोंका भी है। निषध देवकुरु सूर्य सुलस और विद्युत्प्रभ ये पांच इस देवकुरुमें हृद हैं और इन पांचों हृदोंका वर्णन उत्तरकुरुके पांचो हृदोंके वर्णनके समान समझ लेना चाहिये। उत्तरकुरुमें जिसप्रकार सौ कांचन पर्वत कह आए हैं उसी प्रकार देवकुरुमें भी सौ कांचन पर्वत समझ लेना चाहिये।

सीता महानदीसे उत्तर विदेह और दक्षिण विदेह भेदसे पूर्व विदेहक्षेत्रके दो विभाग होगये हैं। उनमें उत्तरभाग चार वक्षार पर्वत और तीन विभंग नदियोंसे विभक्त होकर आठ भाग रूप होगया है और उन आठो भागोंका आठ चक्रवर्ती उपभोग करते हैं। जिन चार वक्षार पर्वतोंसे उत्तर विदेहका विभाग हुआ है वे उनके चित्रकूट पद्मकूट नीलकूट और एकशिल ये नाम हैं और जिन विभंग नदियोंसे उसका विभाग हुआ है वे वक्षार पर्वतोंके मध्यभागमें रहनेवाली ग्राहावती १ हृदावती २ और पंकावती ३ ये तीन नामवाली हैं। ये चारो ही वक्षार पर्वत अपनी दक्षिण और उत्तर कोटियोंसे सीता नदी और

नील पर्वतका स्पर्श करते हैं अर्थात् इनकी दक्षिण कोटि सीता नदी तक और उत्तर कोटि निषधाचल तक है। ये चारो वक्षार पर्वत चार चार सौ योजन ऊंचे और सौ सौ योजन गहरे हैं तथा प्रदेशोंकी वढवारीसे वर्धमान सीता नदीके अंतमें पांचसौ योजन ऊंचे और एक सौ पच्चीस १२५ योजन गहरे हैं, घोडेके स्कंधके समान आकारवाले हैं और सर्वत्र पांचसौ योजन चोडे हैं तथा उनकी लंबाई सोलह हजार पांचसौ वानवे १६५९२ योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग प्रमाण है।

चारो वक्षरोंमें चित्रकूट वक्षारके ऊपर सिद्धायतनकूट १ चित्रकूट २ कच्छविजयकूट ३ और सुकच्छविजयकूट ४ ये चार कूट हैं। पद्मकूट वक्षारके उपर सिद्धायतनकूट १ पद्मकूट २ महाकच्छाकूट ३ और कच्छवद् विजय कूट ४ ये चार कूट हैं। नलिन कूटके ऊपर सिद्धायतन कूट १ नलिनकूट २ नलिनावर्त कूट ३ और लांगलावर्तकूट ये चार कूट हैं और एकशिल वक्षारपर्वतके ऊपर सिद्धायतनकूट १ एकशिलकूट २ पुष्कल कूट ३ और पुष्कलावर्त कूट ४ ये चार कूट हैं। हिमवान पर्वतके कूटोंका जो परिमाण कह आये हैं उसी परिमाणके धारक ये कूट हैं तथा हिमवान पर्वतके कूटोंपर जिसप्रकार जिनमंदिर और प्रासादोंका वर्णन कर आये हैं उसीप्रकार इन कूटोंके भी जिनमंदिर और प्रासादोंका वर्णन समझ लेना चाहिये। चारो वक्षार पर्वतोंके जो सिद्धायतन कूट हैं वे सीता नदीके प्रवाहकी ओर हैं और इन समस्त कूटोंमें अपने अपने कूटके नामधारी देवगण निवास करते हैं।

ग्राहावती ह्रदावती और पंकावती ये जो तीन विभंग नदियां ऊपर कह आये हैं उनकी उत्पत्ति अपने ही समान नामोंके धारक कुंडोंसे हुई है। वे कुंड दो हजार योजन चौडे लंबे, वज्रमयी तलके धारक, गोल, कुंडोंके ही समान नामोंकी धारक देवियोंसे शोभायमान, दश योजन और दो कोश ऊंचे,

एवं सोलह योजन चौडे लंबे द्वीपोंसे संयुक्त और नीलाचल पर्वतके नितंब भागमें विस्तीर्ण हैं।

ये तीनो विभंग नदियां जहांपर उत्पन्न हुई हैं वहांपर दो कोश अधिक बारह योजन चौडी और एक कोश गहरी हैं। मुखमें एकसौ पचीस १२५ योजन चौडी और दश योजन गहरी हैं। प्रत्येक विभंगा नदीका अट्ठाईस अट्ठाईस हजार नदियोंका परिवार है और सबकी सब सीता नदीमें जाकर प्रविष्ट होतीं हैं।

चार वक्षार पर्वत और तीन विभंगा नदियोंसे जो उत्तर विदेहके आठ भाग होगये हैं वे बडे बडे आठ देश हैं और उनके कच्छ १ सुकच्छ २ महाकच्छ ३ कच्छक ४ कच्छकावर्त ५ लांगलावर्त ६ पुष्कल ७ और पुष्कलावर्त ८ ये नाम हैं तथा इन देशोंमें क्रमसे क्षेमा १ क्षेमपुरी २ अरिष्टा ३ अरिष्ट पुरी ४ खड्गा ५ मंजूषा ६ ओषधि ७ और पुंडरीकिणी ८ ये आठ राजधानी नगरी हैं।

सीता नदीसे उत्तर नीलाचलसे दक्षिण, चित्रकूटसे पश्चिम माल्यवान् देशके समीपस्थ देवारण्य वनसे पूर्वकी ओर कच्छ देश है। वह कच्छ देश चित्रकूट वक्षार गिरिके समान लंबा, कुछ विशेष कम दो हजार दोसौ तेरह योजन पूर्व पश्चिम चौडा है। इस कच्छ देशके मध्यभागमें विजयार्ध नामका एक रजतगिरि है जो कि भरत क्षेत्रके विजयार्ध पर्वतके समान ऊंचा गहरा और चौडा है और कच्छदेशकी जितनी चौडाई है उतनी इसकी लंबाई है।

इस कच्छदेशके विजयार्ध पर दोनों ओर दो विद्याधर श्रेणियां हैं और प्रत्येकमें पचपन पचपन ५५—५५ नगर हैं। इस विजयार्ध पर्वतकी दोनों व्यंतर श्रेणियोंमें ऐशान स्वर्गके इंद्रके सोम यम वरुण और वैश्रवण नामोंके धारक लोकपालोंके आभियोग्य जातिके देवोंके नगर हैं। भरत क्षेत्रके विजयार्ध पर्वतके जिसप्रकार सिद्धायतन आदि नौ कूट पहिले कह आये हैं उसीप्रकार कच्छदेशके भी सिद्धायतन

आदि कूट समझ लेने चाहिये। विशेष केवल इतना ही है कि—वहांपर दक्षिणार्ध भरत कूट उत्तरार्ध भरत कूट ये नाम हैं और यहांपर दक्षिणार्ध कच्छकूट, उत्तरार्ध कच्छकूट ये नाम हैं।

विजयार्ध पर्वतसे उत्तर, नीलाचलसे दक्षिण, सिद्धकूट वृषभाचलसे पूर्व और चित्रकूटसे पश्चिम एक गंगा नामका कुंड है जो कि त्रेसठ योजन प्रमाण चौडा लंबा है। कुछ अधिक इससे तिगुनी परिधिका धारक है, दश योजन गहरा और सघन वज्रमयी तलेका धारक है। इसके मध्यभागमें एक द्वीप है जो कि आठ योजन चौडा लंबा, दश योजन और दो कोश ऊंचा, चार तोरण द्वारोंकी धारक पद्मवरवेदिकासे शोभायमान और गोल है तथा उसमें गंगा नामकी देवी निवास करती है। इस गंगा कुंडके दक्षिण तोरण द्वारसे निकली हुई, दक्षिणकी ओर रहनेवाली, भरत क्षेत्रकी गंगाके समान चौडी और गहरी, कच्छदेशकी लंबाईके समान लंबाईवाली, विजयार्धपर्वतकी खंडप्रपाता नामकी गुफाके तोरण द्वारसे जानेवाली गंगा नदी है जो कि चौदह हजार नदियोंके परिवारसे अन्वित है और सीता नदीमें जाकर प्रविष्ट हुई है।

विजयार्धपर्वतसे उत्तर, नीलाचलसे दक्षिण, सिद्धकूट वृषभाचलसे पश्चिम और माल्यवान् देशके समीपस्थ देवारण्य वनसे पूर्वकी ओर सिंधु नामका कुंड है। गंगाकुंडका जैसा ऊपर वर्णन कर आए हैं वैसा ही इस सिंधुकुंडका वर्णन समझ लेना चाहिये। इस कुंडमें सिंधु नामकी देवी निवास करती है। इस सिंधुकुंडसे सिंधु नामकी महानदीका उदय हुआ है जो कि गंगा महानदीके समान है विजयार्धपर्वतकी तमिश्र गुफाके मध्यभागसे गई है। चौदह हजार नदियोंसे युक्त है और सीता नदीमें जाकर प्रविष्ट हुई है।

सीता नदीसे उत्तर, विजयार्धपर्वतसे दक्षिण, गंगा और सिंधुनदीके ठीक मध्यभागमें क्षेमा नामकी राजधानी है। इसप्रकार यह कच्छ देशका वर्णन कर दिया गया। इसीप्रकार बाकीके सुकच्छ आदि सात देश भी पूर्व देशकी ओर समझ लेने चाहिये।

लवणसमुद्रकी वेदीसे पश्चिम, पुष्कलावती देशसे पूर्व, सीतानदीसे उत्तर, नीलाचलसे दक्षिणकी ओर एक देवारण्य नामका वन है। जो कि सीता नदीके मुखके पास दो हजार नौसौ बाईस योजन चौडा है और सोलह हजार पांचसौ बानवे योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग लंबा है।

सीतानदीसे दक्षिण, निषधाचलसे उत्तर, वत्सदेशसे पूर्व और लवणसमुद्रकी वेदीसे पश्चिमकी ओर भी देवारण्य वन है और उसकी चौडाई लंबाई पहिले देवारण्यवनके समान है।

सीतानदीकी दक्षिण ओरका जो पूर्वविदेहक्षेत्र है वह चार वक्षारपर्वत और तीन विभंगा नदियोंसे आठ खंडरूप हो गया है और उन आठों खंडोंका आठ चक्रवर्ती उपभोग करते हैं। उन वक्षारपर्वतोंके त्रिकूट, वैश्रवणकूट, अंजन और आत्मांजन ये चार नाम हैं और इन चारों वक्षारपर्वतोंके मध्यमें रहने· वाली तप्तजला १ मत्तजला २ और उन्मत्तजला ३ ये तीन विभंग नदियां हैं। इन वक्षारपर्वत और नदियोंसे विभाजित आठ खंडोंके वत्सा १ सुवत्सा २ महावत्सा ३ वत्सावती ४ रम्या ५ रम्यका ६ रम- णीया ७ और मंगलावती ८ ये आठ नाम हैं। तथा इन देशोंके अंदर जो आठ राजधानी हैं उनके सुसीमा १ कुंडला २ अपराजिता ३ प्रभाकरी ४ अंकावती ५ पद्मावती ६ शुभा ७ और रत्नसंचया· वती ८ ये आठ नाम हैं। वत्सा आदि आठो देशोंमें रक्ता और रक्तोदा नामकी दो दो नदियां हैं और एक एक विजयार्धपर्वत है। इन नदियों और विजयार्द्धोंकी चौडाई लंबाई आदिका प्रमाण पहिली नदियों

और विजयार्धोंके समान समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त वक्षारपर्वतोंमें प्रत्येकके चार चार कूट हैं और उनके सिद्धायतन और जिस देशमें जो कूट है उसी देशके नामक पूर्व पश्चिम देशके नामोंके समान नामवाले कूट हैं। सीता नदीके उत्तर और दक्षिणके प्रत्येक देशोंमें तीन तीन तीर्थ हैं और उनके मागध १ वरदा २ और प्रभास ३ ये नाम हैं। इसप्रकार मिलाकर पूर्वविदेहक्षेत्रमें सब तीर्थ अडतालीस हैं।

सीतोदा महानदीसे पश्चिमविदेहके दक्षिणखंड और उत्तरखंड ये दो खंड हो गये हैं। इनमें दक्षिण भागके चार वक्षारपर्वत और तीन विभंगा नदियोंसे आठ भाग हो गये हैं और उन आठो ही भागोंका आठ चक्रवर्ती उपभोग करते हैं। उन चारो वक्षारपर्वतोंके शब्दवान् १ विकृतवान् २ आशीविष ३ और सुखावह ४ ये नाम हैं और उन वक्षारपर्वतोंके अंदरकी विभंगा नदियोंके क्षीरोदा १ सीतोदा २ और स्रोतोऽन्तर्वाहिनी ३ ये तीन नाम हैं। इन चार वक्षारपर्वत और तीन विभंगा नदियोंसे विभाजित जो आठ देश हैं उनके पद्म १ सुपद्म २ महापद्म ३ पद्मवान ४ शंख ५ नलिन ६ कुमुद ७ और सरित ८ ये नाम हैं। तथा इन देशोंमें अश्वपुरी १ सिंहपुरी २ महापुरी ३ विजयपुरी ४ अरजापुरी ५ विरजापुरी ६ अशोकापुरी ७ और वीतशोकापुरी ८ इन आठ नामोंकी धारक आठ नगरी हैं। इन पद्म आदि देशोंमें भी प्रत्येकमें रक्ता रक्तोदा नामकी दो दो नदियां हैं और एक एक विजयार्धपर्वत है। इन नदियों और विजयार्धपर्वतोंकी चौडाई लंबाईका प्रमाण पहलेके समान है। चारो वक्षारपर्वतोंमें प्रत्येकके चार चार कूट हैं और उनके पहिले हीके समान सिद्धायतन और पूर्व पश्चिम देशोंके जो नाम हैं वे ही उन कूटोंके नाम हैं, जिसतरह ऊपर दो देवारण्य कह आए हैं उसीप्रकार यहांपर भी दो देवारण्य समझ लेने चाहिये।

पश्चिम विदेहके उत्तर भागके भी चार वक्षारपर्वत और तीन विभंगा नदियोंसे विभाजित आठ खंड हैं। उन आठो खंडोंका आठ चक्रवर्ती उपभोग करते हैं। यहांपर चंद्र १ सूर्य २ नाग ३ और देव ४ नामोंके धारक ये चार वक्षारपर्वत हैं। इन वक्षारपर्वतोंके अंतरालमें रहनेवाली गंभीरमालिनी १ फेनमालिनी २ और ऊर्मिमालिनी[1] ३ इन तीन नामोंकी धारक तीन विभंगा नदियां हैं। तथा इन चार वक्षारपर्वतोंसे और तीन विभंगा नदियोंसे विभाजित जो आठ खंड हुए हैं वे आठ देश हैं और उनके वप्र १ सुवप्र २ महावप्र ३ वप्रवान ४ वल्गु ५ सुवल्गु ६ गंधिल ७ और गंधमालिनी ८ ये नाम हैं। इन आठो देशोंकी विजया १ वैजयंती २ जयंती ३ अपराजिता ४ चक्रपुरी ५ खड्गपुरी ६ अयोध्या ७ और अवध्या ८ इन आठ नामोंकी धारक आठ नगरी राजधानी हैं। इन आठो देशोंमें प्रत्येकमें गंगा और सिंधु नामकी धारक दो दो नदियां हैं। एक एक विजयार्धपर्वत है। इन नदियों और विजयार्ध पर्वतोंका वर्णन पहिलेकी नदियों और विजयार्धोंके समान समझ लेना चाहिये। यहांपर जो चार वक्षार पर्वत कहे गये हैं उनमें प्रत्येकमें चार चार कूट हैं और उनके पहिले हीके समान सिद्धायतन स्वनाम-पूर्वापर देशोंके नामोंके समान नामोंके धारक हैं। जिसप्रकार सीता नदीके अडतालीस तीर्थ ऊपर कह आए हैं उसी प्रकार सीतोदा नदीके भी अडतालीस तीर्थ समझ लेने चाहिये।

विदेहक्षेत्रके मध्यभागमें मेरु नामका पर्वत है। वह पृथ्वीतलसे निन्यानवे हजार योजन ऊंचा है। नीचे जमीनमें एक हजार योजन गहरी नींवका धारक है इसका अधस्तलमें विस्तार दश हजार नव्वे १००९० योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमें दश भाग प्रमाण है। अधस्तलमें इसका परकोट

[1]—दूसरी प्रतिमें-धर्मिमालिनी, पाठ है।

कुछ घाटि इकतीस हजार नौसौ ग्यारह योजनका प्रमाण है । इसकी पृथ्वीतलपर चौडाई दश हजार योजनकी है और परकोट कुछ घाटि इकतीस हजार छहसौ तेईस योजन प्रमाण है ।

यह मेरुपर्वत चार वन, तीन खंड और तीन श्रेणियोंसे अत्यंत शोभायमान है। उस परके चारो वनोंके भद्रशालवन १ नंदनवन २ सौमनसवन ३ और पांडुकवन ४ ये चार नाम हैं । पृथिवीतलपर भद्रशालवन पूर्व पश्चिम दिशाओंमें बाईस हजार योजन लंबा है । उत्तर दक्षिण ढाईसौ योजन चौडी है तथा आधा योजन ऊंची, पांचसौ धनुष चौडी, भद्रशालवनके समान लंबी और बहुतसे तोरण द्वारोंसे विराजित एक पद्मवरवेदिका है उससे वह भद्रशालवन वेष्टित है ।

मेरु पर्वतकी चारो दिशाओंमें भद्रशाल वनमें पद्मोत्तर १ नील २ स्वस्तिक ३ अंजन ४ कुमुद ५ पलाश ६ अवतंस ७ और रोचन ८ ये आठ कूट हैं और इन कूटोंके हर एक दिशामें दो दो कूट हैं। मेरुपर्वतसे पूर्व और सीता नदीके उत्तर तटपर पद्मोत्तर नामका कूट है । मेरुसे पूर्व और सीता नदीके दक्षिण तटपर नील कूट है । मेरुसे दक्षिण और सीतोदा नदीके पूर्व दिशाके तटपर स्वस्तिक कूट है। मेरुसे दक्षिण और सीतोदा नदीके पश्चिम तटपर अंजन कूट है । मेरु पर्वतसे पश्चिम और सीतोदा नदीके दक्षिण तटपर कुमुद कूट है । मेरुसे पश्चिम और सीतोदा नदीके उत्तर तटपर पलाश कूट है। मेरुसे उत्तर और सीता (तोदा) नदीके पश्चिम तटपर अवतंस नामका कूट है एवं मेरुसे उत्तर और सीता (तोदा) नदीके पूर्व तटपर रोचन नामका कूट है । ये समस्त कूट पचीस योजनके गहरे, मूल भागमें सौ सौ योजनके, मध्यभागमें पचहत्तर पचहत्तर योजनके और अग्रभागमें पचास पचास योजनके चौडे हैं एवं चारो ओरसे पद्मवर वेदिकाओंसे परिवेष्टित हैं।

इन आठों कूटों पर मध्य देशमें प्रासाद हैं जो कि प्रत्येक इकतीस योजन और एक कोश ऊंचे हैं एवं पंद्रह योजन और दो कोश लंबे चौडे हैं । इन आठो प्रासादोंमें सोम यम वरुण और वैश्रवण लोकपालोंके आभियोग्य जातिके दिग्गजेंद्र देव जो कि भांति भांतिके ऐरावत हाथीके रूप धारण करनेमें समर्थ हैं, निवास करते हैं। आठो कूटोंमेंसे पद्मोत्तर, नील, स्वस्तिक और अंजन कूटोंमें तो सौधर्म इंद्रके लोकपालोंका भौमविहार है और कुमुद पलास अवतंस और रोचन इन चार कूटोंमें ऐशान इंद्रके लोकपालोंका भौमविहार है।

मेरुसे पूर्व और सीता नदीसे पश्चिमकी ओर अकृत्रिम जिनमंदिर हैं । मेरु पर्वतकी चारो दिशाओंमें भी चार जिनमंदिर हैं जो कि सौ योजन लंबे और पचास योजन चौडे हैं तथा सोलह योजन ऊंचे, आठ योजन चौडे, आठ ही योजन प्रमाण प्रवेशके धारक, पूर्व, उत्तर, दक्षिणकी ओर उत्तमोत्तम दरवाजोंके धारक हैं। अनेक प्रकारके मणि सुवर्ण और चांदीके बने हुए हैं। यदि हजार जिह्वाओंका धारक भी चाहे तो उनकी शोभाका वर्णन नहीं कर सकता एवं हजार नेत्रोंका धारक भी अपने हजार नेत्रोंसे उनकी शोभा देखे तो भी तृप्त नहीं हो सकता । उन जिनमंदिरोंके आगे विशाल मुखमंडप शोभायमान हैं जो कि सौ सौ योजन लंबे हैं पचास पचास योजन चौडे हैं और कुछ अधिक सोलह सोलह योजन ऊंचे हैं। उन मुखमंडपोंके आगे प्रेक्षागृह विराजमान हैं जो कि मुखमंडपोंके ही समान सौ सौ योजन लंबे, पचास पचास योजन चौडे और कुछ अधिक सोलह सोलह योजन ऊंचे हैं। प्रेक्षागृहोंके आगे चौसठ योजन लंबे चौडे और उससे कुछ अधिक तिगुनी परिधिके धारक स्तूप हैं। स्तूपोंके आगे चैत्यवृक्षपीठ हैं जो कि सोलह योजन लंबे, आठ योजन चौडे और आठ योजन ही ऊंचे

हैं तथा उनमें हर एक; चार चार तोरणोंकी धारक चौबीस चौबीस पद्मवरवेदिकाओंसे वेष्टित है।

इन चैत्यवृक्षपीठोंके मध्यभागमें सिद्धार्थ नामके चैत्यवृक्ष हैं जो कि समस्त प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले भगवान तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओंसे पवित्र हैं। सोलह योजन ऊंचे हैं। तथा चार योजन ऊंचे और एक योजनके चौडे स्कंधोंके धारक हैं और बारह योजन चौडी और बारह योजन ही मोटी शाखाओंके धारक हैं।

इन चैत्यवृक्षोंके आगे महेंद्र ध्वज हैं जो कि भांति भांतिके मणि और रत्नमयी पीठोंके धारक हैं। सोलह योजन ऊंचे और एक कोश लंबे चौडे हैं। इन महेंद्र ध्वजोंके आगे नंदा नामकी वावडियां हैं जो कि सौ योजन लंबी पचास योजन चौडी और दश योजन गहरीं हैं। इन वावडियोंके आगे अर्हंत भगवानके मंदिरोंके मध्यभागमें विराजमान देवच्छंद हैं जो कि सोलह योजन लंबे, आठ योजन चौडे और आठ योजन ही ऊंचे रत्नमयी हैं।

इन देवच्छंदोंके अंदर भगवान अर्हंत देवकी प्रतिमा विराजमान हैं जो कि पांचसे धनुषकी ऊंची हैं सुवर्णमयी देहकी धारक और तपे सोनेके हथेली पांवतली तालु और जिह्वाओंसे शोभायमान हैं। उनके दोनों नेत्र लोहित मणिसे व्याप्त चिह्नोंसे युक्त स्फटिकमणिमयी हैं। नेत्रोंके तारे अरिष्टमणि (नीण मणि) मयी हैं। दांतोंकी पंक्तियां चांदी सरीखी सफेद हैं। अधरपुट मूंगे सरीखे लाल हैं। अंजन मणिके मूलभागके समान पक्ष्म और भृकुटियां हैं। नील मणिसे रचे हुए श्याम और सघन केश हैं। जिनके दाहीं वाहीं ओर; हाथोंमें सफेद और निर्मल चमरोंको मूठोंको लिये हुए, नानाप्रकारके मणि और सुवर्णमयी आभरणोंसे शोभित यक्ष और नागोंके जोडे हैं जो प्रतिमा एक हजार आठ

लक्षण और व्यंजनोंसे विराजमान हैं तथा वैडूर्य मणिमयी दंडोंके धारक, मणि सुवर्ण और मोतियोंसे अलंकृत रत्नशलाकाओंसे शोभित, सुवर्णमयी लटकनोंके धारक और चांदीके पत्रोंसे मनोहर ऐसे अष्ट प्रातिहार्योंसे व्याप्त हैं। सदा भव्यजीवोंके स्तवन वंदना और पूजाके योग्य हैं। अनादि निधन हैं। संख्यामें एक सौ आठ १०८ हैं। संसारमें जितने भी विशिष्ट गुण हैं उनसे उनके गुणोंका वर्णन किया जाता है। कलश झाडी आदि जो एकसौ आठ उपकरण हैं उनसे भूषित हैं विशेष क्या ? उन प्रतिमाओंका जो वैभव है वह वर्णनातीत है—कोई भी उसका वर्णन नहीं कर सकता। वे प्रतिमा साक्षात मूर्तिक धर्मसरीखी जान पडती हैं।

भूमितलसे पांचसौ योजनकी ऊंचाईपर नंदन वन है जो कि पांचसौ योजन चौडा, मेरुपर्वतके समान लंबाईका धारक, पद्मवर वेदिकासे वेष्टित और चूडीके समान गोल परिधिका धारक है।

नंदन वनके समीप मेरुपर्वतकी वाह्य चौडाई नौ हजार नौसौ चौवन योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमें छह भाग प्रमाण है और वाह्य परकोट इकतीस हजार चारसौ उनासी योजन कुछ अधिक है। नंदन वनके समीप मेरुपर्वतकी भीतरी चौडाई आठ हजार नौसौ चौवन और भीतरी परकोट अट्ठाईस हजार तीनसौ सोलह योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमें आठ भाग है।

यहांपर मेरुपर्वतकी चारो ओर चार गुफायें हैं उनमें पूर्वदिशामें मणिगुफा है। दक्षिण दिशामें गंधर्वगुफा, पश्चिम दिशामें चारण गुफा और उत्तरदिशामें चंद्र नामकी गुफा है। ये चारो गुफा तीस तीस योजन चौडी लंबी हैं। इनका परकोट नब्बे योजन ९० योजन कुछ अधिक है और पचास पचास योजन गहरी हैं। इन गुफाओंमें क्रमसे सोम यम वरुण और खचरों (वैश्रवणों) का विहार है अर्थात्

८६१

मणिगुफामें सोम लोकपाल विहार करते हैं। गंधर्वगुफामें यम, चारणगुफामें वरुण और चंद्र गुफामें वैश्रवण लोकपाल विहार करते हैं।

मेरुपर्वतसे पूर्वोत्तर दिशामें नंदनवनमें बलभद्र नामका कूट है जो एक हजार योजनका ऊंचा है। मूलभागमें एक हजार योजन, मध्यभागमें साडे सातसौ योजन और अग्रभागमें पांचसौ योजन चौडा अर्थात् ऊपर क्रम क्रमसे हानिरूप है। इस बलभद्र कूटकी परिधि कुछ अधिक तिगुनी है। इस बलभद्र कूट पर मेरुपर्वतके अधिपतिका निवास स्थान है।

मेरुपर्वतकी चारो दिशाओंमें दो दो कूट हैं। वहांपर पूर्व दिशामें नंदन और मंदिर नामके दो कूट हैं। दक्षिण दिशामें निषध और हैमवत नामके दो कूट हैं। पश्चिमदिशामें रजत और रुचक नामके दो कूट हैं और उत्तर दिशामें सागर और चित्रवज्र नामके दो कूट हैं। ये आठो ही कूट पांचसौ योजन ऊंचे हैं। मूलभागमें पांचसौ, मध्यभागमें तीनसौ पिचहत्तर और अग्रभागमें ढाईसै योजन चौडे हैं। इन आठों कूटोंके ऊपर आठ प्रासाद हैं जो कि बासठ योजन और दो कोश ऊंचे हैं। इकतीस योजन और एक कोश चौडे हैं और इतने ही प्रमाणके धारक प्रवेशमार्गसे युक्त हैं। इन आठो ही कूटोंमें क्रमसे मेघंकरी १ मेघवती २ सुमेघा ३ मेघमालिनी ४ तोयंधरा ५ विचित्रा ६ पुष्करमाला ७ और आनंदिता ८ ये आठ देवियां निवास करती हैं।

मेरुपर्वतसे दक्षिणपूर्व दिशामें उत्पलगुल्मा १ नलिनी २ उत्पलोत्पला ३ और उज्ज्वला ४ ये चार वापियां हैं। दक्षिणपश्चिम दिशामें भृंगा १ भृंगनिभा २ कज्जला ३ कज्जलप्रभा ४ ये चार वापियां हैं। पश्चिमोत्तर दिशामें श्रीकांता १ श्रीचंद्रा २ श्रीनिलया ३ और कुमुदप्रभा ४ ये चार वापियां हैं। उत्तर-

पूर्वदिशामें पद्मा १ पद्मगुल्मा २ कुमुदा ३ और कुमुदप्रभा ४ ये चार वापियां हैं। ये समस्त वापियां पचास योजन लंबी, पचीस योजन चौडी, दश योजन गहरी चौकोन और चारों ओर विशाल हैं। इन वापियोंमें हर एक वापीके अंदर एक एक प्रासाद है जो कि बासठ योजन दो कोश ऊंचा, इकतीस योजन एक कोश चौडा और इकतीस योजन एक कोश प्रमाण ही प्रवेशमार्गका धारक है। यहांपर दक्षिणदिशाकी विदिशाओंमें जो प्रासाद कह आए हैं उनमें तो सौधर्मस्वर्गके इंद्रके भौम विहार हैं और उत्तरदिशाकी विदिशाओंमें ईशानस्वर्गके इंद्रके भौम विहार हैं।

मेरुपर्वतकी चारो दिशाओंमें नंदनवनमें चार जिनालय हैं जो कि छत्तीस योजन ऊंचे हैं। पचास योजन लंबे, पचीस योजन चौडे और पचीस योजन प्रमाण ही प्रवेशमार्गके धारक हैं तथा पूर्व[1] उत्तर आठ योजन ऊंचे, चार योजन चौडे और चार योजन ही लंबे द्वारोंके धारक हैं एवं जिनालयोंकी शोभाका जैसा वर्णन होना चाहिये उसी वर्णनसे संयुक्त हैं।

नंदनवनके समान भूमिभागसे बासठ हजार पांचसौ योजनकी उंचाई पर सौमनसवन है जो कि चूडीके समान गोल परिधिका धारक है पांचसौ योजन चौडा है एवं पद्मवरवेदिकासे चारो ओर वेष्टित है। सौमनसवनके समीप मेरु पर्वतका बाह्य विस्तार चार हजार दोसौ बहत्तर योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमें आठ भाग है और उसकी बाह्य परिधि तेरह हजार पांचसौ ग्यारह योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमें छह भाग प्रमाण है। तथा सौमनसवनके समीप मेरुपर्वतका भीतरी विस्तार तीन हजार दोसौ बहत्तर योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमें आठ भाग प्रमाण है और अभ्यं-

१—'प्रागुदगवाग्द्वाराणि' यह भी पाठ मिलता है और उसका अर्थ 'पूर्व उत्तर और दक्षिण' यह अर्थ है।

तर परिधि कुछ कम दश हजार तीनसौ उनचास योजन और एक योजनके ग्यारह भागोंमें तीन भाग प्रमाण है। नंदनवनमें जो बलभद्रकूट और आठ दिक्कुमारियोंके आठ कूट कह आए हैं वे इस सौमनस वनमें नहीं हैं। इस नंदनवनमें सोलह वापियां हैं जो कि नंदनवनकी वापियोंके समान लंबी चौडी और गहरी हैं और उनके मध्यभागोंमें भवन बने हुए हैं जो कि पचास योजन लंबे, पच्चीस योजन चौडे और छत्तीस योजन प्रमाण ऊंचे हैं। तथा चारों दिशाओंमें चार जिनमंदिर हैं जो कि आठ योजन ऊंचे, चार योजन चौडे और चार योजन प्रमाण ही पूर्व उत्तर और दक्षिणकी ओर दरवाजोंसे शोभित हैं।

सौमनसवनकी समतलभूमिसे छत्तीस हजार योजनकी ऊंचाई पर पांडुकवन है जो कि चूडीके समान गोल परिधिका धारक है, चारसौ चौरानवे योजन चौडा है, पद्मवरवेदिकासे वेष्टित है और चूलिकाकी परिक्रमारूपसे विद्यमान है। मेरुपर्वतका ऊपरका शिखर एक हजार योजन चौडा है और उसकी परिधि तीन हजार एकसौ बासठ योजन कुछ अधिक है। पांडुकवनके ठीक मध्यभागमें एक चूलिका है जो कि चालीस योजन ऊंची है। मूलभागमें बारह योजन, मध्यभागमें आठ योजन और अग्रभागमें चार योजन चौडी है एवं गोलाकार है। इस चूलिकाकी पूर्वदिशामें उत्तर दक्षिण लंबी और पूर्वपश्चिम चौडी पांडुकशिला है। दक्षिणदिशामें पूर्वपश्चिम लंबी और उत्तरदक्षिण चौडी पांडुकंबल शिला है। पश्चिमदिशामें उत्तर दक्षिण लंबी और पूर्व पश्चिम चौडी रक्तकंबलशिला है एवं उत्तरदिशामें पूर्व पश्चिम लंबी और उत्तर दक्षिण चौडी अतिरक्तकंबलशिला है। इन चारो शिलाओंमें चांदी और सोनेके वर्णकी पांडुकशिला है। चांदीके वर्णकी पांडुकंबलशिला है। मूंगाके वर्णकी रक्तकंबलशिला है और जंबूनद जातिके सुवर्णवर्णकी अतिरक्तकंबलशिला है। ये चारो ही शिलाएं पांचसौ योजन लंबी,

ढाईसौ योजन चौडी, चार योजन मोटी एवं अर्धचंद्रमाके आकार हैं। तथा अर्ध योजन ऊंची पांच सौ धनुष मोटी और शिलाके समान लंबी पद्मवरवेदिकाकर वेष्टित हैं एवं रजतमयी और सुवर्णमयी तुर्नोंसे अलंकृत चार तोरणद्वारोंसे शोभायमान हैं।

इन शिलाओंके ऊपर मध्यभागमें एक एक सिंहासन है जो कि पांचसौ धनुष ऊंचे और लंबे हैं। ढाईसौ धनुष चौडे और पूर्व दिशाकी ओर उनका मुख है। इनमें जो पूर्वदिशाकी ओर सिंहासन है उस पर पूर्वविदेहके तीर्थंकरोंका, दक्षिणदिशाके सिंहासन पर भरतक्षेत्रके तीर्थंकरोंका, पश्चिम दिशाके सिंहासन पर पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंका और उत्तरदिशाके सिंहासनों पर ऐरावतक्षेत्रके तीर्थंकरोंका चारो निकायके इंद्र अपने अपने परिवार देवोंके साथ बडी भारी विभूतिसे क्षीरोदधि समुद्रके जलसे परिपूर्ण एक हजार आठ सुवर्णमयी कलशोंसे जन्माभिषेक करते हैं। जिसतरह सौमनसवनमें सोलह वापियां कह आए हैं उसीप्रकार इस पांडुकवनमें भी सोलह वापियां हैं।

चूलिकाकी पूर्व आदि चारो महादिशाओंमें चार जिनालय हैं जो कि एक कोश तेतीस योजन लंबे हैं। दो कोश अधिक सोलह योजन चौडे और पचीस योजन ऊंचे हैं तथा एक योजनके ऊंचे, आधे योजन चौडे और आधे ही योजन प्रमाण प्रवेशमार्गोंसे संयुक्त पूर्व दक्षिण और उत्तरकी ओरके दरवाजोंसे भूषित हैं एवं जिनालयोंका जैसा वर्णन होना चाहिये उसी वर्णनके धारक हैं।

यह मेरु पर्वत भद्रशाल वनकी भूमिपर लोहितमणिके वर्णके समान वर्णका धारक है। उससे साढे

१ श्रीत्रिलोकसारमें चारों शिलाओंकी चौडाई लम्बाई और मोटाई—पचास योजन सौ योजन और आठ योजन प्रमाण है। तथा ईशान आदि विदिशाओंमें इनकी स्थिति बतायी गई है।

सोलह हजार योजनकी ऊंचाई पर जो दूसरा भाग है वह कमलके समान वर्णवाला है वहांसे आगे साढे सोलह हजार योजनकी ऊंचाई पर तीसरा भाग है और वह तपे हुए सुवर्णके समान है । उससे आगे साढे सोलह हजार योजनकी ऊंचाई पर चौथा भाग है और वह वैडूर्यमणिमयी है । उससे आगे साढे सोलह हजार योजनकी ऊंचाई पर पांचवां भाग है और वह नील वर्णका है । इसके आगे साढे सोलह हजार योजनकी ऊंचाई पर छठा भाग है और वह हारिताल (हरे रंग) के वर्णका है । तथा उसके आगे साढे सोलह हजार योजनकी ऊंचाई पर सातवां भाग है और वह जांबूनद सोनेके वर्णका है । इसप्रकार यह मेरु पर्वत भूमिके समतलभागसे निन्यानवे हजार योजन ऊंचा है ।

मेरु पर्वतकी अधोभागकी भूमिको अवगाहन करनेवाला एक हजार योजन लंबा प्रदेश है जो कि पृथिवी पाषाण वालुका और शर्करामयी है और उसका ऊपरका भाग वैडूर्यमणिमयी है । इस मेरुके सामान्य रूपसे प्रथमकांड १ द्वितीयकांड २ और तृतीयकांड ३ ये तीन भाग माने हैं । उनमें प्रथमकांड पांचवां भागपर्यंत संज्ञा है और सर्व रत्नमयी है । दूसरा कांड सप्तम भागपर्यंत संज्ञा है और वह सुवर्णमयी है जो मेरुके ऊपर चूलिका है उसकी तृतीयकांड संज्ञा है । वह वैडूर्यमणिमय है ।

यह मेरु पर्वत तीनों लोकोंको नापनेवाला मानदंड (गज) है । इस मेरु पर्वतके नीचेके भागमें अधोलोक है । चूलिकाके अग्रभागसे ऊपर ऊर्ध्वलोक है और मेरु पर्वतका जितना मध्यभाग है उसकी बराबर तिरछा चौडा तिर्यग्लोक है । इसरीतिसे 'लोकत्रयं मिनोतीति मेरुः' अर्थात् तीनों लोकोंको जो मापे वह मेरु पर्वत है यह मेरु पर्वतकी अन्वर्थ व्युत्पत्ति है ।

भूमितलसे लेकर शिखरपर्यंत ग्यारह प्रदेशोंके बाद एक प्रदेशकी हानि मानी है अर्थात् ग्यारह

प्रदेश ऊपर चढ जानेपर चौडाईमें एक प्रदेश घट जाता है। ग्यारह कोश पहुंचनेपर एक कोश कम हो जाता है और ग्यारह योजन चढनेपर एक योजन घट जाता है । शिखरपर्यंत यह हानि सर्वत्र समझ लेनी चाहिये तथा शिखरभागसे भूमितलकी ओर आनेसे ग्यारह प्रदेशोंके उतरनेके बाद चौडाईमें एक प्रदेश बढ जाता है । ग्यारह योजन प्रमाण उतरनेके बाद एक योजन बढ जाता है इसीप्रकार ग्यारह कोश उतरनेके बाद एक कोश बढ जाता है। अधस्तल पर्यंत यह वृद्धि सर्वत्र समझ लेनी चाहिये। (यह विषय और भी विस्तारसे त्रिलोकसार और हरिवंशपुराणसे जान लेना चाहिये) प्रश्न—रम्यकक्षेत्रकी रम्यक संज्ञा क्यों है ? उत्तर—

रमणियदेशयोगाद्रम्यकाभिधानं ॥ १४ ॥

रम्यक् महामनोहर नदी पर्वत और वन आदि प्रदेशोंसे शोभायमान है इसलिये उन मनोहर नदी आदि प्रदेशोंके संबंधसे क्षेत्रका नाम भी रम्यकक्षेत्र है। शंका—

यदि रमणीक नदी आदि प्रदेशोंके संबंधसे क्षेत्रका नाम रम्यक माना जायगा तो रमणीक प्रदेश तो अन्य क्षेत्रोंमें भी विद्यमान है इसलिये उन्हें भी रम्यक कहना होगा ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार जो गमन करे वह गौ है इस व्युत्पत्तिके अनुसार गो शब्द गमनक्रियासे उपलक्षित है तथापि रूढिबलसे उसका पशुविशेष गाय ही अर्थ लिया जाता है उसीप्रकार यद्यपि रमणीक नदी आदि प्रदेशोंके धारक और भी क्षेत्र हैं तथापि रूढिवलसे इसी क्षेत्रका नाम रम्यक क्षेत्र लिया गया है अतएव व्याकरणानुसार संज्ञा (नाम) द्योतित करनेकेलिए ही (रम्य—क=रम्यक) क प्रत्यय किया गया है। प्रश्न—रम्यक क्षेत्र कहां पर है ? उत्तर—

नीलरुक्मिणोरंतराले तत्संन्निवेशः ॥ १५ ॥

नीलाचल पर्वतसे उत्तर और रुक्मीसे दक्षिणकी ओर पूर्व और पश्चिम समुद्रके मध्यमें रम्यकक्षेत्र है।

तन्मध्ये गंधवान् वृत्तवेदाढ्यः ॥ १६ ॥

उस रम्यकक्षेत्रके मध्यभागमें गंधवान नामका वृत्तवेदाढ्य पर्वत है। पहिले शब्दवान् वृत्तवेदाढ्य पर्वतका जैसा वर्णन कर आये हैं उसी प्रकारका इसका भी वर्णन समझ लेना चाहिये। इस गंधवान् वृत्तवेदाढ्यके ऊपरके प्रासादमें पद्मदेवका निवास स्थान है। प्रश्न—हैरण्यवतक्षेत्रकी हैरण्यवत संज्ञा कैसे है? उत्तर—

हिरण्यवतोऽदूरभवत्वाद्धैरण्यवतव्यपदेशः ॥ १७ ॥

रुक्मी पर्वतका हिरण्यवान नाम है। इस पर्वतके समीपमें रहनेके कारण क्षेत्रका नाम हैरण्यवतक्षेत्र है। प्रश्न—यह हैरण्यवतक्षेत्र कहांपर है? उत्तर—

रुक्मिशिखरिणोरंतराले तद्विस्तारः ॥ १८ ॥

रुक्मी पर्वतसे उत्तर और शिखरी पर्वतके दक्षिणकी ओर पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हैरण्यवत-क्षेत्र है।

तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यः ॥ १९ ॥

उस हैरण्यवतक्षेत्रके मध्यभागमे माल्यवान् नामका वृत्तवेदाढ्य है। उसका भी वर्णन शब्दवान् वृत्त-वेदाढ्यके समान है तथा उसके ऊपरके प्रासादमें प्रभास नामका देव रहता है। प्रश्न—क्षेत्रका ऐरावत नाम कैसे है?

१—अपर पुस्तकमें—'वृत्तवेताढ्यः' पाठ है। २—यहां भी वृत्तवेताढ्य पाठ है।

...रावतामिधान ॥ २० ॥

रक्ता और रक्तोदा नदीके ठीक मध्यभागमें अयोध्या नामकी नगरी है। उसमें किसी समय ऐरावत नामका राजा उत्पन्न हुआ था। उस राजाने ऐरावत क्षेत्रका परिपालन किया था इसलिये उसीके संबंधसे क्षेत्रका ऐरावत नाम प्रसिद्ध है। प्रश्न—ऐरावतक्षेत्र कहांपर है। उत्तर—

शिखरिसमुद्रत्रयांतरे तदुपन्यासः ॥ २१ ॥

शिखरी पर्वत और पूर्व पश्चिम और उत्तर तीनों समुद्रोंके बीचमें ऐरावत क्षेत्र है।

तन्मध्ये पूर्ववद्विजयार्धः ॥ २२ ॥

उस ऐरावत क्षेत्रके मध्यभागमें विजयार्ध नामका रजतगिरि है। ऊपर जो विजयार्ध पर्वतका वर्णन किया गया है वैसा ही वर्णन इसका भी समझ लेना चाहिये ॥ १० ॥

जिन कुलाचलोंके द्वारा भरत आदि क्षेत्रोंका विभाग होता है वे कौन हैं और किसरूपसे व्यवस्थित हैं। सूत्रकार इस बातका उल्लेख करते हैं—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

उन सातों क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले, पूर्वसे पश्चिम तक लंबे, हिमवान १ महाहिमवान २ निषध ३ नील ४ रुक्मी ५ और शिखरी ६ ये छह नामके पर्वत हैं। इन पर्वतों द्वारा वर्ष कहिये क्षेत्रोंका विभाग किया जाता है तथा उन क्षेत्रोंको ये पर्वत भिन्न २ रूपसे धारण करते हैं इसलिये इन्हें वर्षधर अर्थात्

क्षेत्रोंको धारण करनेवाले पर्वत कहते हैं। इस भरत क्षेत्र और हैमवत क्षेत्रके वीचमें हिमवान पर्वत है। इसप्रकार सातों क्षेत्रोंके वीचमें छह पर्वत हैं जो षट्कुलाचलोंके नामसे प्रसिद्ध हैं।

'तानि विभंजंति इत्येवंशीला तद्विभाजिनः' अर्थात् क्षेत्रोंका विभाग करना ही जिनका स्वभाव है, यह तद्विभाजी शब्दका अर्थ है। पूर्वापराभ्यामायताः पूर्वापरायताः पूर्व और पश्चिम लंबे हैं अर्थात् अपने पूर्व और पश्चिम दोनों ओरके अग्रभागसे लवण समुद्रका स्पर्श करते हैं। तथा ये हिमवान आदि कुलाचल भिन्न भिन्न रूपसे भरत आदि क्षेत्रोंको धारण करते हैं इसलिये भरत आदि क्षेत्रोंके विभाजन होनेके ही कारण इनका वर्षधर नाम है। प्रश्न—हिमवान पर्वतकी हिमवान संज्ञा कैसे है। उत्तर—

हिमाभिसंबंधाद्धिमवद्व्यपदेशः ॥ १ ॥

हिम (वरफ) जिसपर हो वह हिमवान् है इसप्रकार वर्फके संबंधसे पर्वतका नाम हिमवान् है। शंका—हिम तो अन्य पर्वतों पर भी है इसलिये हिमके संबंधसे उन्हें भी हिमवान् कहना होगा? सो ठीक नहीं। रूढिकी विशेषतासे हिमवान् पर्वत संज्ञा है इसलिये हिमके संबंधसे वही हिमवान् कहा जा सकता है, अन्य नहीं। प्रश्न हिमवान् पर्वत कहां है। उत्तर—

भरतहैमवतयोः सीमानि स्थितः ॥ २ ॥

भरत और हैमवत क्षेत्रकी सीमामें क्षुद्र हिमवान् पर्वत है। हिमवान्‌के आगे सूत्रमें महाहिमवान् शब्दका प्रयोग किया गया है इसलिये उस महाहिमवान् शब्दके प्रयोगसे इस हिमवान्‌की क्षुद्रहिमवान् संज्ञा मानी है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि सूत्रमें तो क्षुद्रहिमवान् शब्दका प्रयोग है नहीं, फिर हिमवान्‌के कहनेसे क्षुद्रहिमवान् कैसे समझा जा सकता है? सो ठीक नहीं एक ही नामके धारक पदार्थोंमें यदि

एकको महान् कह दिया जाय तो चाहे दूसरेका शब्द द्वारा क्षुद्र रूपसे उल्लेख हो चाहे न हो अर्थतः उसे क्षुद्र समझ लिया जाता है। सूत्रमें हिमवान् और महाहिमवान् दोनों शब्दोंका प्रयोग है इसलिये महाहिमवान् शब्दके प्रयोगसे दूसरा क्षुद्रहिमवान् अर्थात् सिद्ध है।

यह क्षुद्रहिमवान् पर्वत पचीस योजनप्रमाण नीचे जमीनमें गहरी नींवका धारक है। सौ योजन ऊंचा है एवं एक हजार बावन योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें बारह भाग प्रमाण चौडा है। इस क्षुद्रहिमवान्पर्वतकी उत्तरकी ओरकी प्रत्यंचा चौबीस हजार नौसौ बत्तीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें एक भाग कुछ कम है और इस प्रत्यंचाका धनुःपृष्ठ पचीस हजार दोसै तीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें चार भाग कुछ अधिक है। तथा इसकी पूर्व पश्चिम ओरकी दोनों भुजाओंमें प्रत्येक भुजा पांच हजार तीनसै पचास योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें पंद्रह भाग और कुछ अधिक अर्धभाग प्रमाण है।

उस क्षुद्रहिमवान्पर्वतके ऊपर पूर्वदिशामें सिद्धायतनकूट है जो कि पांचसै योजन ऊंचा है। मूल भागमें पांचसै योजन, मध्यभागमें तीनसौ पचहत्तर योजन और ऊपरके भागमें ढाईसौ योजन चौडा है इसप्रकार ऊपर ऊपर चौडाई हीन होती गई है। इस सिद्धायतनकूटकी परिधि ऊंचाई चौडाई आदिसे अधिक तिगुनी है। इस सिद्धायतनकूटके ऊपर अर्हंतभगवानका विशाल मंदिर है जो कि–छत्तीस न ऊंचा, पचास योजन उत्तरदक्षिण लंबा, पचीस योजन पूर्वपश्चिम चौडा एवं पचीस योजनप्रमाण गैंका धारक है तथा आठ योजनके ऊंचे, चार योजन चौडे और चार योजनप्रमाण ही प्रवेशोंके उत्तर दक्षिण और पूर्ववर्ती द्वारोंसे भूषित है।

तीनों द्वारोंके ऊपर कुछ अधिक आठ योजन ऊंचे, पचास योजन लंबे और पचीस योजन चौडे तीन मुखमंडप हैं। इन मुखमंडपोंके आगे कुछ अधिक आठ योजन ऊंचे, पचास योजन लंबे और पचास योजन चौडे तीन प्रेक्षागृह हैं। द्वारोंके अग्रभागमें विद्यमान प्रेक्षागृहोंके आगे पहिले वर्णितके समान स्तूप आदि समझ लेने चाहिये और चैत्यालयके भीतरी भागका वर्णन भी पहलेके समान समझ लेना चाहिये। उन समस्त मंदिर आदिको चारो ओरसे वेष्टित करनेवाली पद्मवरवेदिका है जो कि चारो दिशाओंमें विद्यमान चार तोरण द्वारोंसे विभक्त है।

भगवान अर्हंतके मंदिरकी पश्चिमादिशामें हिमवान् १ भरत २ इला ३ गंगा ४ श्री ५ रोहितास्या ६ सिंधु ७ सुरा ८ हैमवत ९ और वैश्रवण १० नामके धारक दश कूट हैं और इन समस्त कूटोंका स्वरूप वर्णन सिद्धायतनकूटके समान है। इन दश कूटों पर दश प्रासाद बने हुए हैं जो कि दो कोश बासठ योजनप्रमाण ऊंचे, एक कोश इकतीस योजनप्रमाण चौडे और एक कोश इकतीस योजनप्रमाण ही प्रवेश मार्गके धारक हैं। इन समस्त प्रासादोंमें कूटोंके ही नामधारी देव और देवियां निवास करती हैं अर्थात् हिमवान् भरत हैमवत और वैश्रवण कूटोंमें कूटोंके नामधारक देवगण रहते हैं और बाकीके कूटोंमें देवियां निवास करती हैं। प्रश्न—महाहिमवान् पर्वतकी महाहिमवान् संज्ञा कैसे पडी? उत्तर—

महाहिमवति चोक्तं ॥ ३ ॥

हिमके संबंधसे पर्वतका हिमवान् नाम है यह ऊपर कह दिया जा चुका है। 'महांश्चासौ हिमवांश्च महाहिमवान्' यह महाहिमवान् शब्दका विग्रह है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि हिमके न रहते हिमवान् संज्ञा कैसे है? उसका समाधान यह है कि जिसप्रकार इंद्रगोप एक मखमली रंगके कीडे (रामकी

गुडिया वीरवोहट्टी) का नाम है। उसमें इंद्रका गोप इत्यादि स्वरूप अर्थ नहीं घटता तथापि उसे रूढिसे इंद्रगोप कह दिया जाता है उसीप्रकार यद्यपि हिमवान् पर्वतसे हिमका संबंध नहीं तथापि उसे रूढिबलसे हिमवान् कहना बाधित नहीं। प्रश्न—हिमवान् पर्वत कहांपर है ? उत्तर—

हैमवतहरिवर्षयोर्विभागकरः ॥ ४ ॥

हैमवतक्षेत्रसे उत्तर और हरिवर्षक्षेत्रसे दक्षिणकी ओर उन दोनों क्षेत्रोंको आपसमें जुदाई करने वाला महाहिमवान्पर्वत है। यह महाहिमवान्पर्वत दोसौ योजन ऊंचा है। पचास योजनकी गहरी नीचे जमीनमें इसकी नींव है। चार हजार दोसौ दश योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दश भाग प्रमाण चौडाई है। इसकी पूर्व पश्चिमकी ओरकी भुजाओंमें प्रत्येक भुजा नौ हजार दोसौ छिहत्तर योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें नौ भाग आधा भाग और कुछ अधिक है। इसकी उत्तरकी ओरकी प्रत्यंचा त्रेपन हजार नौसौ इकतीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें छह भाग कुछ अधिक है। उस प्रत्यंचाका धनुषपृष्ठ सत्तावन हजार दोसौ तिरानवे योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दशभाग कुछ अधिक है। इस महाहिमवान्पर्वतके ऊपर सिद्धायतन १ महाहिमवान २ हैमवत ३ रोहित ४ हरि ५ हरिकांता ६ हरिवर्ष ७ वैडूर्य ८ ये आठ कूट हैं। इन आठों कूटोंका प्रमाण क्षुद्र-हिमवान्के कूटोंके प्रमाण ही समझ लेना चाहिये। भगवान् जिनेंद्रके मंदिर और प्रासादोंका वर्णन भी क्षुद्र-हिमवानपर्वतके जिनमंदिर और प्रासादोंके समान समझ लेना चाहिये। इन कूटोंके प्रासादोंमें भी अपने अपने कूटोंके नामोंके धारक देवगण और देवियां निवास करती हैं। प्रश्न—निषध पर्वतकी निषध संज्ञा कैसे है ? उत्तर—

निषीधंति तस्मिन्निति निषधः ॥ ५ ॥

जिस पर देव और देवियां क्रीडाके निमित्त आकर रहें वह निषध है इसप्रकार यह निषध पर्वतकी निषध संज्ञा है। और पृषोदरादिगणमें पाठ होनेसे यह व्याकरणानुसार शुद्ध शब्द है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि यदि देव देवियोंके क्रीडार्थ ठहरनेसे पर्वतकी निषध संज्ञा मानी जायगी तो देव देवियां तो अन्य पर्वतों पर भी क्रीडा करने ठहरते हैं इसलिए उन्हें भी निषधके नामसे कहा जायगा? सो ठीक नहीं। रूढिकी विशेषतासे निषधपर्वतकी ही निषध संज्ञा है अन्यकी नहीं इसलिए कोई दोष नहीं। प्रश्न—निषधपर्वत कहांपर है? उत्तर—

हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः ॥ ६ ॥

हरिवर्षक्षेत्रके उत्तर और विदेहक्षेत्रसे दक्षिणकी ओर उन दोनों क्षेत्रोंका आपसमें विभाग करनेवाला निषधपर्वत है। वह निषधपर्वत चारसौ योजन ऊंचा है। सौ योजनप्रमाण नीचे जमीनमें गहरा है। सोलह हजार आठसौ ब्यालीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भागप्रमाण चौडा है। इसकी पूर्व पश्चिमकी भुजाओंमें प्रत्येक भुजा बीस हजार एकसौ पैंसठ योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग एवं अर्ध भाग किंचित् अधिक है। उत्तरदिशाकी ओरकी प्रत्यंचा चौरानवे हजार एकसौ छप्पन योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग कुछ अधिक है। इस प्रत्यंचाका धनुषपृष्ठ एक लाख चौबीस हजार तीनसौ छियालीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें नव भाग कुछ अधिक है।

इस निषधपर्वतके ऊपर सिद्धायतनकूट १ निषधकूट २ हरिवर्षकूट ३ पूर्वविदेहकूट ४ हरिकूट ५

धृतिकूट ६ सीतोदाकूट ७ पश्चिमविदेहकूट ८ और रुचककूट ९ ये नौ कूट हैं। क्षुद्रहिमवान् पर्वतके कूटोंका जिसप्रकार वर्णन कर आए हैं उसीप्रकार इन कूटोंका भी वर्णन समझ लेना चाहिये। तथा जिसप्रकार क्षुद्रहिमवान पर्वत पर मंदिर और प्रासाद कह आए हैं उसीप्रकार प्रमाणके धारक यहांपर भी जिनमंदिर और प्रासाद समझ लेने चाहिये। इस निषधपर्वतके कूटोंमें अपने अपने कूटोंके नामके धारक देव और देवियां निवास करती हैं। प्रश्न—नीलपर्वतकी नील संज्ञा कैसे है? उत्तर—

नीलवर्णयोगान्नीलव्यपदेशः॥ ७॥

नील वर्णके संबंधसे पर्वतका नील नाम है अथवा जिसप्रकार नवम वासुदेवकी कृष्ण यह संज्ञा है उसीप्रकार नील पर्वतकी 'नील' यह स्वतः सिद्ध संज्ञा है। प्रश्न—नील पर्वत कहां पर है? उत्तर—

विदेहरम्यकविनिवेशभागी॥ ८॥

यह नील पर्वत विदेह और रम्यकक्षेत्रकी रचनाका विभाग करनेवाला है। जिसप्रकार निषध पर्वतका ऊपर प्रमाण बतला आए हैं उसीप्रकार इस नील पर्वतका भी समझ लेना चाहिये। अर्थात्—

चारसौ योजन तो नील पर्वत ऊंचा है। सौ योजन प्रमाण नीचे जमीनमें गहरा है। सोलह हजार आठसौ ब्यालीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग प्रमाण चौडा है। इसकी पूर्व पश्चिमकी भुजाओंमें प्रत्येक भुजा बीस हजार एकसौ पैंसठ योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग एवं अर्धभाग किंचित् अधिक है। उत्तर दिशाकी ओरकी प्रत्यंचा चौरानवे हजार एकसौ छप्पन योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग कुछ अधिक है। इसकी प्रत्यंचाका धनुषपृष्ठ एक लाख चौबीस हजार तीनसौ छियालीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें नव भाग कुछ अधिक है।

इस नील पर्वतके ऊपर सिद्धायतनकूट १ नीलकूट २ पूर्वविदेहकूट ३ सीताकूट ४ कीर्तिकूट ५ नारीकांताकूट ६ अपरविदेहकूट ७ रम्यककूट ८ और आदर्शकूट ९ ये नौ कूट हैं। इन कूटोंके भी स्वरूपका वर्णन क्षुद्रहिमवानके कूटों सरीखा समझ लेना चाहिये। उन कूटोंके ऊपरके जिनमंदिर और प्रासादोंका वर्णन भी क्षुद्रहिमवानके जिनमंदिर और प्रासादोंके समान समझ लेना चाहिये। इन कूटोंके ऊपर जो प्रासाद हैं उनमें अपने अपने कूटोंके नामोंके धारक देव और देवियां निवास करते हैं। प्रश्न—रुक्मी पर्वतकी रुक्मी संज्ञा कैसे है। उत्तर—

रुक्मसद्भावाद्रुक्मीत्यभिधानं ॥ ९ ॥

जहां पर रुक्म (सुवर्ण) बाहुल्यरूपसे विद्यमान हो वह रुक्मी कहा जाता है, इस रूपसे पर्वतका रुक्मी यह नाम अन्वर्थ है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि रुक्मकी विद्यमानता तो दूसरे दूसरे पर्वतोंमें भी है। यदि रुक्मके संबंधसे रुक्मी कहा जायगा तो अन्य पर्वतोंको भी रुक्मी कहना आनिवार्य होगा? सो ठीक नहीं। जिसके कर (हाथ वा सूंढ) हो वह करी कहा जाता है। कर मनुष्यके भी है और करी नाम अन्य वस्तुओंका भी हो सकता है तथापि रूढिबलसे जिसप्रकार करी हाथी ही कहा जाता है उसीप्रकार भले ही अन्य पर्वतोंमें रुक्मकी विद्यमानता हो तथापि रुक्मी यह नाम पर्वत विशेष रुक्मीका ही है। प्रश्न—इस रुक्मी पर्वतकी रचना कहां है? उत्तर—

रम्यकहैरण्यवतविवेककरः ॥ १० ॥

यह रुक्मीपर्वत रम्यक् और हैरण्यवतक्षेत्रका विभाग करनेवाला है। महाहिमवान पर्वतका जो प्रमाण वर्णन कर आए हैं। उसीके समान इसका भी समझ लेना चाहिये। अर्थात्—

यह रुक्मी पर्वत दोसौ योजन ऊंचा है। पचास योजनकी गहरी नीचे जमीनमें इसकी नीम है।
चार हजार दोसौ दश योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दश भाग प्रमाण चौडाई है। इसकी
पूर्व पश्चिम ओरकी भुजाओंमें प्रत्येक भुजा नौ हजार नौसौ छिहत्तर योजन और एक योजनके उन्नीस
भागोंमें नौ भाग आधा भाग कुछ अधिक है। इसकी उत्तरकी ओरकी प्रत्यंचा त्रेपन हजार नौसौ इक-
तीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें छह भाग कुछ अधिक है। इसकी प्रत्यंचाका धनुषपृष्ठ
सत्तावन हजार दोसौ तिरानवे योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दश भाग कुछ अधिक है।

इस रुक्मी पर्वतके ऊपर सिद्धायतनकूट १ रुक्मीकूट २ रम्यककूट ३ नरकांताकूट ४ बुद्धिकूट ५
रूप्यकूलकूट ६ हैरण्यवतकूट ७ माणिकांचनकूट ८ ये आठ कूट हैं। क्षुद्रहिमवान् पर्वतके कूटोंका जिस-
प्रकार प्रमाण वर्णन कर आये हैं उसीप्रकार इनका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये। इन कूटोंपरके जो
जिनमंदिर और प्रासाद हैं वे भी क्षुद्रहिमवान् कूटोंके मंदिर और प्रासादोंके समान समझ लेना
चाहिये। इन कूटोंके अग्रभागोंमें जो प्रासाद हैं उनमें अपने अपने कूटोंके नामोंके धारक देव और
देवियां निवास करते हैं। प्रश्न—शिखरी पर्वतकी शिखरी संज्ञा कैसे है? उत्तर—

शिखरसद्भावाच्छिखरीति संज्ञा ॥ ११ ॥

जिसपर शिखर अर्थात् कूट हों वह शिखरी कहा जाता है इस व्युत्पत्तिके आधारपर पर्वतकी शिखरी
संज्ञा है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—शिखर तो और पर्वतोंके भी विद्यमान हैं। यदि शिखरवाला
शिखरी माना जायगा तो अन्य पहाडोंको भी शिखरी कहना होगा। सो ठीक नहीं, जिसप्रकार जिसके
शिखंड—शिखा अथवा चोटी होती है वह शिखंडी कहा जाता है। यद्यपि शिखंड मयूरसे अतिरिक्त

अन्य पक्षियोंमें भी है तथापि जिसप्रकार रूढिवलसे शिखंडी शब्दका अर्थ मयूर ही लिया जाता है उसीप्रकार यद्यपि अन्य पर्वतोंके भी शिखरोंकी विद्यमानता है तथापि रूढिवलसे शिखरी शब्द पर्वत विशेषका ही वाचक है। प्रश्न—शिखरी पर्वतकी रचना कहांपर है? उत्तर—

हैरण्यवतैरावतसेतुबंधः स गिरिः ॥ १२ ॥

हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रोंका सेतुबंध (पुलकी रचना) के समान शिखरी पर्वत बीचमें पडा हुआ है। अर्थात् जिसप्रकार पुल नदीके इस किनारेसे उस किनारेका संबंध जोडता है उसीप्रकार यह पर्वत भी हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रोंका संबंध जोडता है अर्थात् दोनोंके बीचमें पडा हुआ है अथवा पुल जैसे दोनों किनारोंका विभाग करता है उसीप्रकार यह पर्वत दोनों क्षेत्रोंका विभाग करता है। इसका कुल प्रमाण क्षुद्र हिमवान् पर्वतके प्रमाणके समान समझ लेना चाहिये। अर्थात्—

यह शिखरी पर्वत पच्चीस योजन प्रमाण नीचे जमीनमें गहरा है। सौ योजन ऊंचा है। एक हजार बावन योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें बारह भाग प्रमाण चौडा है। इस शिखरी पर्वतकी उत्तरकी ओर की प्रत्यंचा चौवीस हजार नौसौ वत्तीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें एक भाग कुछ कम है। प्रत्यंचाका धनुष पृष्ठ पच्चीस हजार दोसौ तीस योजनके उन्नीस भागोंमें चार भाग कुछ अधिक है। तथा इसकी पूर्व पश्चिम ओरकी दोनों भुजाओंमें प्रत्येक भुजा पांच हजार तीनसौ पचास योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें पंद्रह भाग कुछ अधिक अर्धभाग प्रमाण है।

इस शिखरी पर्वतके ऊपर सिद्धायतनकूट १ शिखरीकूट २ हैरण्यवतकूट ३ रसदेवीकूट ४ रक्तावती (रत्या) कूट ५ रक्ताकूट ६ श्लक्ष्णकूलाकूट ७ लक्ष्मीकूट ८ गंधदेवीकूट ९ ऐरावतकूट १० और

मणिकांचन कूट ११ ये ग्यारहकूट हैं। इन समस्त कूटोंका प्रमाण क्षुद्र हिमवानके कूटोंके समान समझना चाहिये। तथा इन कूटोंपर जो जिनमंदिर और प्रासाद हैं वे भी क्षुद्र हिमवान पर्वतके कूटोंपरके जिन मंदिर और प्रासादोंके समान समझ लेने चाहिये। शिखरी पर्वतके कूटोंपरके जो प्रासाद हैं उनमें अपने अपने कूटोंके नामधारक देव और देवियां निवास करते हैं ॥ ११ ॥

हिमवन् आदि छह कुलाचलोंका रंग कैसा कैसा है? यह बात प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

हिमवानपर्वत सुवर्णमय अर्थात् पीतवर्णका है। महाहिमवान सफेद चांदीके समान रंगवाला है। तीसरा निषधपर्वत ताये सुवर्णके समान है। चौथा नीलपर्वत वैडूर्यमय अर्थात् मयूरके कंठके समान नीले रंगका है। पांचवां रुक्मिपर्वत चांदीके समान सफेद वर्णका है और छठा शिखरी पर्वत सोनेके समान पीतवर्णका है।

हिमवान आदि पर्वत हेम आदि मय समझ लेने चाहिये। 'हेममयाः' यहांपर जो मयट् प्रत्ययका विधान है वह हेम अर्जुन आदि प्रत्येक शब्दके साथ है। हेम आदिका संबंध जोडनेकेलिए यहांपर क्रमसे हिमवान् आदिकी अनुवृत्ति है अर्थात् हिमवान्पर्वत हेममय चीनपटकेसे वर्णका है। महाहिमवान अर्जुनमय सफेद वर्णका है। निषध ताये हुए सुवर्णके समान मध्याह्नकालके चमचमाते सूर्यके तुल्य है। नील पर्वत वैडूर्यमय मयूरकी गर्दनके समान नील रंगका है। रुक्मी पर्वत रजतमयी सफेदवर्णका है और शिखरी पर्वत हेममय चीनपटके वर्णका है। इन छहोंमें प्रत्येक कुलाचल अपनी दोनों ओर आधे आधे

योजन चौडे, पर्वतके समान लंबे एवं बहुतसे तोरणद्वारोंसे विभाजित पद्मवरवेदिकासे वेष्टित दो दो वनखंडोंसे शोभायमान हैं ॥ १२ ॥

और भी उन्हीं कुलाचलोंका विशेष बतलानेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥

इन छहो कुलाचलोंके पसवाडे—दोनों ओरके पार्श्वभाग नाना प्रकारके रंग विरंगे प्रभावाले मणियोंसे चित्र विचित्र हैं तथा ये ऊपर नीचे एवं मध्यभागमें तुल्य विस्तारवाले अर्थात् एकसे चौडे दीवालके समान हैं।

नाना प्रकारके वर्ण और प्रभाव आदि गुणोंकी धारक नाना प्रकारकी मणियोंसे उपर्युक्त कुलाचलोंके पसवाडे चित्र विचित्र हैं।

अनिष्टसंस्थाननिवृत्त्यर्थमुपर्यादिवचनं ॥ १ ॥

उपर्युक्त कुलाचलोंकी रचना कोई अन्य अन्य प्रकारसे न मान बैठे उस अनिष्टरचनाकी निवृत्तिके लिए सूत्रमें 'उपरि' आदि पदोंका उल्लेख किया गया है। सूत्रमें जो 'च' शब्दका उल्लेख है वह मध्यरूप अर्थके समुच्चयकेलिए है। सार अर्थ यह है कि जो विस्तार इन पर्वतोंका मूलभागमें है वही विस्तार ऊपर और मध्यभागमें है ॥ १३ ॥

अब छह कुलाचलोंके मध्यभागमें रहनेवाले छह सरोवरोंका सूत्रकार उल्लेख करते हैं—

१—श्लोकवार्तिककारने 'मणिविचित्रपार्श्वाः' इतना एक सूत्र माना है और 'उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः' इतना दूसरा सूत्र माना है।

पद्ममहापद्मतिगिंछकेसरिमहापुंडरीकपुंडरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

उन पर्वतोंके ऊपर पद्म महापद्म तिगिंछ केसरी महापुंडरीक और पुंडरीक ये छह सरोवर हैं। अर्थात् हिमवान पर्वतपर पद्म नामका सरोवर है। महाहिमवान् पर्वतपर महापद्म, निषधपर तिगिंछ, नीलपर केसरी, रुक्मीपर महापुंडरीक और शिखरी पर्वतपर पुंडरीक नामका सरोवर है।

पद्मादिभिः सहचरणाद्ध्रदेषु पद्मादिव्यपदेशः ॥ १ ॥

पद्म महापद्म तिगिंछ केसरि महापुंडरीक और पुंडरीक ये छह नाम प्रधान प्रधान कमलोंके हैं। इन्हीं कमलोंके साहचर्यसे पद्म आदि सरोवरोंके पद्म आदि नाम हैं। अर्थात् पद्म नामक कमलके संबंधसे सरोवरका पद्म नाम है, महापद्म नामक कमलके संबंधसे महापद्म नाम है। तिगिंछ नामक कमलके संबंधसे तिगिंछ नाम है। केसरी नामक कमलके संबंधसे केसरी नाम है। महापुंडरीकके संबंधसे महापुंडरीक और पुंडरीक नामक कमलके संबंधसे सरोवरका पुंडरीक नाम है। ये पद्म आदि सरोवर क्रमसे हिमवान आदि पर्वतों पर हैं। अर्थात् हिमवान पर्वतके ऊपर पद्म नामका सरोवर है। महाहिमवानके ऊपर महापद्म नामका सरोवर है इसीप्रकार सूत्रके सामान्य अर्थमें लिखी हुई रीतिके समान आगे भी समझ लेना चाहिये।

पद्म नामक प्रथम सरोवरके संस्थानकी विशेषता प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कंभो ह्रदः ॥ १५ ॥

पद्म आदि सरोवरोंमें पहिला पद्म सरोवर पूर्वसे पश्चिम तक एक हजार योजन लंबा है और उससे आधा पांचसौ योजन उत्तरसे दक्षिण तक चौडा है।

यह पद्म नामका सरोवर पूर्वपश्चिम एक हजार योजन लंबा है। उत्तरदक्षिण पांचसौ योजनप्रमाण विस्तीर्ण है, वज्रमयी तलका धारक है, भांति भांतिकी मणियां सुवर्ण और चांदीसे चित्र विचित्र तटोंसे शोभित है, सफेद और उत्तम सुवर्णमयी पीतवर्णके बुर्जोंसे अलंकृत, चार तोरणद्वारोंसे विभाजित, आधे योजन ऊंची, पांचसौ योजन चौडी और पद्म सरोवरके समान ही लंबी ऐसी पद्मवरवेदिकासे वेष्टित है, चारो दिशाओंमें रहनेवाले चार वनखंडोंसे व्याप्त है, पवित्र स्फटिकमणिके समान स्वच्छ, गंभीर और अक्षय जलका धारक है, अनेक प्रकारके कमलपुष्पोंसे शोभायमान है तथा शरद ऋतुमें चंद्रमा और ताराओंसे विभूषित जो पर्यंत भाग उससे परिवेष्टित, विचित्र मेघपटलका धारक और नीचेके भागमें प्राप्त आकाशके खंडके समान है ॥ १५ ॥

यह पद्म नामका सरोवर गहरा कितना है? सूत्रकार इस विषयका उल्लेख करते हैं—

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ—पद्म नामक सरोवरकी गहराई दश योजनप्रमाण है।

अवगाह शब्दका अर्थ प्रवेश वा निम्नता है। 'दश योजनानि अवगाहोऽस्य स दशयोजनावगाहः' यह दशयोजनावगाह शब्दकी व्युत्पत्ति है। पद्म नामका सरोवर दश योजनप्रमाण अवगाहका धारक है ॥ १६ ॥

पद्म सरोवरके कमलका प्रमाण सूत्रकार कहते हैं—

तन्मध्ये योजनं पुष्करं ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ—उस पद्म सरोवरके भीतर एक योजनका लंबा चौडा कमल है।

पद्म सरोवरके कमलके पत्ते एक कोश लंबे हैं। दो कोश चौडी कर्णिका (कली) है इस रूपसे वह कमल एक योजन लंबा चौडा है। यहांपर योजनका अर्थ योजन प्रमाण है। इस पद्म सरोवरके कमलका नाल जलके तलभागसे दो कोश ऊंचा है, दो कोश प्रमाण मोटा पत्तोंका समूह है, मूल भाग वज्रमयी है, अरिष्ट (नील) मणिमयी कंद है । रजतमणिमयी मृणाल दंड है । वैडूर्यमणिमयी नाल (पृष्ठभागकी रेखा) है। उसका बाहिरका पत्र तपे हुए सोनेके समान है, भीतरी पत्र जांबूनद सोनेके समान है, केसर (तंतु) तपे सुवर्णके समान है। नाना प्रकारकी मणियोंसे गुंफित सुवर्णमयी कर्णिका है तथा अपनेसे आधे प्रमाणके ऊंचे एकसौ आठ कमलोंसे परिवेष्टित है ऐसा मनोहर यह कमल है।

इस कमलका पूर्वोत्तर ईशानकोन, उत्तरपश्चिम वायुकोन और उत्तरदिशा इसप्रकार इन तीनों दिशाओंमें चार हजार कमल हैं और उनमें श्रीदेवीके परिवारस्वरूप सामानिक जातिके देवगण रहते हैं। दक्षिण और पूर्वदिशाके मध्यभागमें रहनेवाले अग्निकोणमें बत्तीस हजार कमल हैं और उनमें श्रीदेवीकी अंतरंग सभाके देव रहते हैं। दक्षिणदिशामें चालीस हजार कमल हैं और उनमें मध्यमसभाके देव रहते हैं। दक्षिण और पश्चिमदिशाके मध्यस्थ नैऋत्यकोणमें अडतालीस हजार कमल हैं और उनमें बाह्यसभाके देव रहते हैं। पश्चिमदिशामें सात कमल हैं और उनमें हस्ती, अश्व, रथ, बैल, गंधर्व, किन्नर और नर्तकी इस सात प्रकारकी सेनाके नायक सात महत्तर देव निवास करते हैं। पूर्व आदि चारों महादिशाओंमें सोलह हजार कमल हैं और उनमें आत्मरक्ष जातिके देवगण निवास करते हैं। ये समस्त कमल; पद्म नामक कमलके परिवार कमल हैं । एक लाख चालीस हजार एकसौ पंद्रह हैं और पद्म कमलसे आधी ऊंचाईके धारक हैं ॥ १७ ॥

पद्मसरोवर और उसके पद्म नामक प्रधान कमलकी लंबाई चौडाईका वर्णन कर दिया गया अब अन्य सरोवर और कमलोंकी लंबाई आदि बतलानेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—उस पहिले तालाब और कमलसे दुगुने दुगुने लंबे आदि अगले अगले तालाब और कमल हैं।

स च तच्च ते तयोर्द्विगुणद्विगुणास्तद्द्विगुणद्विगुणाः' यह यहांपर तद्द्विगुणद्विगुण शब्दका विग्रह है अर्थात् पहिले सरोवर और पहिले सरोवरके कमलसे आगे आगेके सरोवर और कमल लंबाई आदिमें दूने दूने हैं।

द्विगुणद्विगुणा इति द्वित्वं व्याप्त्यर्थं ॥ १ ॥

'द्विगुणद्विगुणाः' यह जो वीप्सागर्भित द्वित्व है वह पहिलेके सरोवरोंसे आगेके सरोवर दूने दूने हैं इस व्याप्तिके प्रदर्शनकेलिए है। यहांपर द्विगुणपना लंबाई आदिकी अपेक्षा ग्रहण करना चाहिये। जिसतरह पहिले सरोवरसे दूसरा सरोवर लंबाई आदिमें दूना है उसीप्रकार पहिले कमलसे दूसरा कमल भी लंबाई आदिकी अपेक्षा दूना है यह भी यहांपर संबंध है। शंका—

द्वित्वात्तयोर्बहुवचनाभाव इति चेन्न विवक्षितापरिज्ञानात् ॥ २ ॥

दो सरोवरोंमें पहिले सरोवरकी अपेक्षा दूसरा सरोवर लंबाई आदिमें दूना है। तथा पहिले कमलकी अपेक्षा दूसरा कमल लंबाई आदिमें दूना है यह यहां द्विवचनका अर्थ है इसलिए 'तद्द्विगुणा' यह

१ तिगिंछ सरोवर और तिगिंछ पद्म तक लेना चाहिये। वाकीके उत्तरके सरोवर और कमल दक्षिणके सरोवर और कमलोंके समान समझ लेने चाहिये। 'उत्तरा दक्षिणा तुल्याः' इस सूत्रसे कहा जायगा।

यहां बहुवचनांत शब्दका उल्लेख न कर 'तद्‌द्विगुणद्विगुणौ' यह द्विवचनांत शब्दका उल्लेख करना चाहिये? सो ठीक नहीं। समान प्रमाणके धारक आदि और अंतके सरोवर और कमलोंसे दक्षिण और उत्तरके सरोवर और कमल लंबाई आदिकी अपेक्षा दूने दूने हैं अर्थात् पहिले पद्मसरोवर कमलसे तीसरे तिगिंछ सरोवर वा कमल तक लंबाई आदि दूनी दूनी है। एवं अंतके पुंडरीक सरोवर वा कमल से पहिले केसरी तक सरोवर वा कमल, लंबाई आदिमें दूने हैं यह यहां तात्पर्य विवक्षित है। इस विवक्षित अर्थके अज्ञानसे उपर्युक्त दोष यहां लागू नहीं हो सकता। इसलिए 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' यह बहुवचनांत प्रयोग असाधु नहीं अर्थात् पहला पद्म और पहला सरोवर ये दो ही यहां द्विगुणताकेलिए विवक्षित नहीं है किंतु उत्तरके सभी दक्षिणके पद्मसरोवरोंके समान द्विगुणित हैं इस अर्थकी विवक्षा होनेसे बहुत पद्म और सरोवरोंके वर्णनकी अपेक्षा बहुवचन प्रयोग ही आवश्यक है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

तत् शब्द पूर्वनिर्दिष्ट अर्थका ग्राहक होता है किंतु जिस अर्थका ऊपर निर्देश नहीं किया गया है उसका तत् शब्दसे ग्रहण नहीं हो सकता। ऊपर पहिले पद्म सरोवर वा कमलकी लंबाई आदि कही गई है इसलिये पहिले सरोवर और कमलकी अपेक्षा आगेके सरोवर और कमल लंबाई आदि में दूने दूने लिये जासकते हैं। परंतु अंतके सरोवर वा कमलकी लंबाई चौडाईका वर्णन नहीं किया गया किंतु आगे किया जायगा इसलिये उससे उत्तरके पहिले सरोवर वा कमल लंबाई आदिकी अपेक्षा दूने दूने नहीं लिये जासकते। सो ठीक नहीं। क्योंकि—

बहुवचननिर्देशात्तद्ग्रहणं॥ ३ ॥

'तद्द्विगुणद्विगुणाः' यह यहां पर बहुवचनका उल्लेख किया गया है। इस बहुवचनकी सामर्थ्यसे अंतके सरोवर वा कमलसे उत्तरके सरोवर वा कमल लंबाई आदिमें दूने दूने हैं यह अर्थ है अन्यथा 'तद्द्विगुणद्विगुणौ' यह द्विवचनांत प्रयोग ही उपयुक्त था, बहुवचनका उल्लेख निरर्थक ही है। यदि यहां पर फिर यह शंका उठाई जाय कि–तिगिंछ सरोवर वा कमल तक ही क्यों दूनापन लिया गया, केसरी आदिमें भी क्यों दूनापनका व्यवहार नहीं ? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं–

व्याख्यानतो वक्ष्यमाणसंबंधाच्चानिष्टनिवृत्तिः ॥ ४ ॥

व्याख्यानसे विशेष प्रतिपत्ति होती है यदि किसी प्रकारका सामान्यशास्त्रके विवेचनमें संदेह होजाय तो जिस सामान्य शास्त्रमें वह व्याख्यान है वह शास्त्र अप्रमाणीक नहीं माना जासकता। उसकी पुष्टि विशेषशास्त्रके व्याख्यानसे हो जाती है। यह सर्वमान्य निर्धारित वचन है। यद्यपि यहांपर सूत्रके अर्थकी सामर्थ्यसे केसरी आदिमें भी द्विगुणपना प्राप्त है परंतु शास्त्रका व्याख्यान यही है कि प्रथम पद्म सरोवर वा कमलसे तिगिंछ तक सरोवर वा कमल दूने दूने हैं आगेके नहीं तथा अंतके पुंडरीक नामक सरोवर वा कमलसे उत्तरके पहिले सरोवर वा कमल दूने दूने हैं इसलिये तद्द्विगुणद्विगुणाः इस बहुवचनकी सामर्थ्यसे केसरी आदिमें द्विगुणपना, जो कि अनिष्ट है, नहीं माना जा सकता।

अथवा–'उत्तरा दक्षिणतुल्याः' अर्थात् उत्तरके सरोवर आदि दक्षिणके सरोवर आदिके समान हैं इस सूत्रमें अंतके सरोवर वा कमलसे उत्तरके पहिले सरोवर वा कमल दूने दूने हैं, यह बात कही गई है। इस सूत्रका तद्द्विगुणेत्यादि सूत्रमें संबंध है इसलिये अंतके सरोवर वा कमलसे उत्तरके पहिले सरोवर

वा कमल दूने दूने हैं यह इष्ट अर्थ है किंतु तिगिंछसे दूना केसरी और उससे दूना महापुंडरीक और महापुंडरीकसे दूना पुंडरीक है यह अनिष्ट अर्थ यहांपर नहीं। वह खुलासारूपसे इसप्रकार है—

महाहिमवान पर्वतके उपर ठीक मध्यभागमें महापद्म नामका सरोवर है और वह दो हजार योजन लंबा, एक हजार योजन चौडा और वीस योजन गहरा है। उस महापद्म सरोवरके मध्यभागमें महापद्म नामका कमल है जो कि जलके तलभागसे दो कोश पर्यंत ऊंचे और एक योजनके मोटे अनेक पत्तोंका धारक है। दो कोश लंबे पत्र और एक योजन लंबी कर्णिकाका धारक होनेसे दो योजन लंबा चौडा है। इस महापद्मके जो परिवार कमल हैं उनकी संख्या पद्म कमलके ही समान एक लाख चालीस हजार एकसौ पंद्रह है।

निषध पर्वतके ऊपर ठीक मध्यभागमें तिगिंछ नामका सरोवर है जोकि चार हजार योजनका लंबा, दो हजार योजनका चौडा और चालीस योजनका गहरा है। इस तिगिंछ सरोवरके मध्यभागमें तिगिंछ नामका कमल है जो कि जलके तलभागसे दो कोश पर्यंत ऊंचा उठा हुआ है दो योजन मोटे अनेक पत्रोंका धारक है एंव एक योजन लंबे पत्र और दो योजन लंबी कर्णिकाका धारक होनेसे चार योजनका लंबा चौडा है। इस तिगिंछ कमलके परिवार कमलोंकी संख्या पूर्वोक्त पद्म कमलके परिवार कमलोंकी बराबर है।

नीलपर्वतके ऊपर ठीक मध्यभागमें केसरी नामका सरोवर है। वह तिगिंछ सरोवरके समान है और उसके परिवार कमल भी उसीके समान हैं अर्थात्—

केसरी सरोवर चार हजार योजन लंबा, दो हजार योजन चौडा और चालीस योजन गहरा है।

उसके अंदर केसरी नामका कमल है जो कि जलके तलभागसे दो कोश ऊंचा उठा हुआ है दो योजन मोटे बहुतसे पत्रोंका धारक है एवं एक योजनप्रमाण लंबे पत्रोंका और दो योजनप्रमाण लंबी कर्णिकाका धारक होनेसे चार योजनप्रमाण लंबा चौडा है इसके परिवार कमलोंकी संख्या पद्म कमलके समान ही समझ लेना चाहिये ।

रुक्मीपर्वतके ऊपर ठीक मध्यभागमें महापुंडरीक नामका सरोवर है वह महापद्म नामक कमलके समान है और उसके परिवार कमल भी महापद्म कमलके परिवार कमलोंके समान हैं अर्थात्—

महापुंडरीक सरोवर दो हजार योजन लंबा, एक हजार योजन चौडा और बीस योजन गहरा है। इसके भीतर महापुंडरीक नामका ही कमल है जो कि जलके तलभागसे दो कोश ऊंचा है। एक योजनके मोटे अनेक पत्तोंका धारक है तथा दो कोश लंबे पत्रोंका और एक योजन लंबी कर्णिकाका धारक होनेसे दो योजनका लंबा चौडा है।

शिखरी पर्वतके ऊपर ठीक मध्यभागमें पुंडरीक नामका सरोवर है और वह पद्म सरोवरके समान है और उसके परिवार कमल भी उसीके समान हैं अर्थात्—

पद्म नामका सरोवर एक हजार योजन लंबा, पांचसौ योजनका चौडा और दश योजनका गहरा है। इसके भीतर पुंडरीक नामका ही कमल है जो कि जलके तलभागसे दो कोश प्रमाण ऊपरको उठा हुआ है दो कोशप्रमाण ही मोटे पत्तोंका धारक है एवं एक कोश लंबे पत्रोंका और दो कोश चौडी कर्णिकाका धारक होनेसे एक योजनप्रमाण लंबा चौडा है। इसके परिवार कमलोंका प्रमाण पद्मकमलके ही समान एक लाख चालीस हजार एकसौ पंद्रह है। शंका—

'तद्द्विगुणद्विगुणाः' यहांपर जो तत् शब्द है उसका द्विगुण शब्दके साथ समास है कि द्विगुण-द्विगुण शब्दके साथ ? यदि यह कहा जायगा कि द्विगुण शब्दके साथ समास है तब तद्द्विगुण यह जो समुदाय है उसका सूत्रमें दो बार उल्लेख करना पडेगा अर्थात् तद्द्विगुणतद्द्विगुणाः ऐसा कहना पडेगा। यदि कहा जायगा कि द्विगुणद्विगुण शब्दके साथ समास है तब द्विगुणद्विगुणरूप समुदाय असुबंत है अर्थात् द्विगुणश्च द्विगुणश्च द्विगुणद्विगुणौ इस रूपसे न्यायप्राप्त द्विगुणद्विगुण शब्द सुबंत होता तब तो तयोर्द्विगुणद्विगुणौ तद्द्विगुणद्विगुणौ ऐसा समास हो जाता परंतु यहां तो 'द्विगुणद्विगुणाः' यह बहुवचनांत द्विगुणद्विगुण शब्दका प्रयोग है जो कि व्याकरणकी परिपाटीके विरुद्ध असुबंत सरीखा है इसलिए उसके साथ तत् शब्दका समास नहीं हो सकता। यदि कहा जायगा कि यह वीप्सामें द्वित्व है समास नहीं तब 'तयोर्द्विगुणद्विगुणाः' ऐसे वाक्यका उल्लेख ही उपयुक्त है इसरीतिसे 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' यह प्रयोग साधु नहीं जान पडता ? सो ठीक नहीं। यहांपर अपादान पंचमीके अर्थमें तत् शब्दका निपात है इसलिए 'तद्द्विगुणद्विगुणाः' यहांपर समास नहीं किंतु 'ततो द्विगुणा द्विगुणाः' यह वाक्यार्थ है इसलिए कोई दोष नहीं ॥ १८ ॥

पद्म आदि कमलोंमें रहनेवाली देवियां और उनके परिवारका सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपारिषत्काः ॥ १९ ॥

उक्त छहो कमलोंमें रहनेवाली श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी छह देवियां हैं जो कि एक पल्यकी आयुकी धारक हैं और सामानिक एवं पारिषत्क जातिके देवोंके साथ निवास करती हैं।

उन कमलोंके भीतर कर्णिकाके मध्यभागके एक प्रदेशमें रहनेवाले, शरदृतुके निर्मल और पूर्ण चंद्रमाकी कांतिके समान मनोहर कांतिके धारक, एक कोश लंबे, आधा कोश चौडे और कुछ कम एक कोश ऊंचे प्रासाद हैं उन प्रासादोंमें रहनेवाली श्री आदिक देवियां हैं।

श्र्यादीनामितरेतरयोगे द्वंद्वः ॥ १ ॥

'श्रीश्च ह्रीश्च धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिश्च लक्ष्मीश्च श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः' यह यहां श्री आदिका आपसमें इतरेतरयोग द्वंद्व समास है। पद्म आदि सरोवरोंमें क्रमसे श्री आदि देवियोंका निवास समझ लेना चाहिये अर्थात् पद्म सरोवरके पद्म कमलमें श्रीदेवी रहती है। महापद्म सरोवरके महापद्म कमलमें ह्रीदेवी रहती है। तिगिंछ सरोवरके तिगिंछ कमलमें धृतिदेवी रहती है। केसरी सरोवरके केसरीकमलमें कीर्ति नामकी देवी रहती है। महापुंडरीक सरोवरके महापुंडरीक कमलमें बुद्धि नामकी देवी रहती है और पुंडरीक नामके सरोवरके पुंडरीक कमलमें लक्ष्मी नामकी देवी रहती है।

स्थितिविशेषनिर्ज्ञानार्थं पल्योपमवचनं ॥ २ ॥

देवियोंकी सामान्यरूपसे स्थितिके विद्यमान रहते भी श्री आदि देवियोंकी विशेष स्थिति जनानेके लिए सूत्रमें 'पल्योपमस्थिति' शब्दका उल्लेख किया गया है 'पल्योपमा स्थितिरासां ताः पल्योपमस्थितयः' अर्थात् श्री आदि देवियोंकी एक पल्यप्रमाण स्थिति है।

परिवारनिर्ज्ञानार्थं सामानिकपारिषत्कवचनं ॥ ३ ॥

श्री आदि देवियोंके परिवारके प्रतिपादन करनेकेलिए 'सामानिकपारिषत्क' शब्दका ग्रहण है। समान स्थानमें जो हों वे सामानिक कहे जाते हैं। समान शब्दसे "तदादेश्च" इस सूत्रसे ठञ् प्रत्यय

करने पर सामानिक शब्दकी सिद्धि हुई है। सामानिकाश्च परिषदश्च 'सामानिकपरिषदः' यह सामानिकपरिषत् शब्दका विग्रह है। शंका—

सामानिक और परिषत् शब्दमें अल्पाक्षरवाले परिषत् शब्दका पूर्वनिपात न कर सामानिक शब्दका क्यों किया गया ? उत्तर—पारिषद देवोंकी अपेक्षा सामानिक देव पूज्य हैं अर्थात् ऐश्वर्यके सिवाय श्री आदिक देवियोंके समान ही सामानिक देवोंकी विभूतियां हैं पारिषद देवोंकी वैसी विभूति नहीं इसलिए पारिषद शब्दकी अपेक्षा सामानिक शब्दका प्रथम उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त श्री आदिक देवियां सामानिक और पारिषद देवोंके साथ निवास करती हैं सामानिक और पारिषद देवोंके रहनेके कमलोंका निरूपण कर दिया गया है। उन कमलोंके मध्य भागोंमे जो प्रासाद हैं उनमें ये रहते हैं ॥ १९ ॥

जिन नदियोंके द्वारा क्षेत्रोंका विभाग हुआ है उन नदियोंका सूत्रकार उल्लेख करते हैं—

गंगासिंधूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारीनरकांतासुवर्ण-रूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

उक्त सातो क्षेत्रोंमें बहनेवाली गंगा सिंधू रोहित रोहितास्या हरित् हरिकांता सीता सीतोदा नारी नरकांता सुवर्णकूला रूप्यकूला रक्ता और रक्तोदा ये चौदह नदियां हैं जो कि उक्त छहो सरोवरोंसे निकलीं हुई हैं।

गंगा आदि पदोंका आपसमें इतरेतर योग द्वंद्वसमास है। अर्थात् गंगा च सिंधू च रोहिच्च रोहितास्या च हरिच्च हरिकांता च सीतोदा च नारी च नरकांता च सुवर्णकूला च रूप्यकूला च रक्ता च रक्तोदा

च गंगासिंधूरोहितादयः। यह इतरेतरयोग द्वंद्व समास है। उदक् शब्दका उदभाव निपातित होता है यह ऊपर कह दिया गया है इसलिए सीतोदा और रक्तोदा यहांपर उदांत शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

गंगा आदिक नदियां हैं वापियां नहीं यह समझानेकेलिए सूत्रमें 'सरित्' शब्दका उल्लेख किया गया है। ये गंगा सिंधु आदि नादियां दूर दूर हैं कि समीप समीप हैं। इस संदेहकी निवृत्तिकेलिए सूत्रमें 'तन्मध्यगाः' इस शब्दका उल्लेख किया गया है अर्थात् उपर्युक्त क्षेत्रोंमें बहनेवाली ये नादियां हैं॥ २०॥

'ये नदियां एक ही क्षेत्रमें बहनेवाली हैं' इस अनिष्ट बातकी निवृत्तिकेलिए अथवा किस किस दिशामें कौन कौन नदी बहती है? इस बातके प्रतिपादनकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः॥ २१॥

एक एक क्षेत्रमें जो दो दो नादियां बहती हैं उन दो दो नदियोंके सात युगलोंमेंसे पहिली पहिली नादियां पूर्व समुद्रमें जानेवाली हैं। अर्थात् गंगा रोहित् हरित् सीता नारी सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नादियां पूर्वके समुद्रमें जाकर मिलती हैं।

द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं विषय इत्याभिसंबंधादेकत्र सर्वासां प्रसंगानिवृत्तिः॥ १॥

यदि किसी वाक्यशेषकी आवश्यकता पडे और सूत्रमें यह न हो तो उसकी कल्पना कर ली जाती है क्योंकि वाक्य वक्ताके आधीन होता है इसप्रकार यहां इच्छासे वाक्यशेषका निश्चय कर दो दो नादियोंका एक एक क्षेत्र विषय है इस वाक्यशेषकी यहांपर कल्पना है। इसलिए समस्त नादियां एक ही क्षेत्रमें बहनेवाली हैं यह जो यहांपर आनिष्ट प्रसंग आया था उसकी निवृत्ति हो गई।

पूर्वाः पूर्वगा इति वचनं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं ॥ २ ॥

'पूर्वाः पूर्वगाः' यह जो सूत्रमें उल्लेख किया गया है वह दिशा विशेषके प्रतिपादनकेलिए किया गया है। वहांपर जो पहिली पहिली नदियां हैं वे पूर्व समुद्रमें जाकर मिली हैं यह अर्थ है। सूत्रमें जो गंगा सिंधू आदिका निर्देश किया गया है उसकी अपेक्षासे 'पूर्वाः पूर्वगाः' यहांपर पूर्वपना लिया गया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जब सूत्रनिर्देशकी अपेक्षा पूर्वपना लिया गया है तब कही गई गंगा सिंधू आदि सात नदियोंको पूर्व समुद्रमें जानेवाली माना जायगा क्योंकि सूत्रमें पहिले उन्हींका निर्देश है। सो ठीक नहीं। वहांपर 'द्वयोर्द्वयोः' इसका संबंध है इसलिए दो दो नदियोंमें जो पहिली पहिली हैं वे पूर्व समुद्रमें जाकर मिली हैं एक ही लवण समुद्रके पूर्व भागकी ओर मिलनेसे पूर्व समुद्रमें मिली हैं यह कहा जाता है। यह यहां अर्थ है इसरीतिसे गंगा सिंधू दो नदियोंमें पहिली गंगा, रोहित् रोहितास्या इन दो नदियोंमें पहिली रोहित् इत्यादि रूपसे जोडाकी पहिली नदियां ही पूर्व समुद्रमें जानेवाली कही जांयगी किंतु सूत्र-निर्देशके अनुसार गंगा सिंधू आदि पूर्व समुद्रमें जाकर मिलनेवाली नहीं कही जा सकतीं। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

सूत्रमें जो 'द्वयोर्द्वयोः' का ग्रहण है उसका अर्थ तो यह है कि दो दो नदियोंका एक एक क्षेत्र विषय है, यही अर्थ ऊपर कहा भी गया है इसलिए दो दो नदियोंमें पहिले पहिलेकी पूर्व समुद्रमें जाकर मिली हैं इस अर्थसिद्धिकेलिए 'द्वयोर्द्वयोः' का संबंध यहां नहीं किया जा सकता? सो ठीक नहीं। एक अर्थके प्रकाशनकेलिए प्रयुक्त शब्दका दूसरा भी अर्थ मान लिया जाता है इसलिए 'द्वयोर्द्वयोः' इसका ऊपर

कहा गया भी अर्थ है और 'पूर्वाः पूर्वगाः'के साथ संबंध करने पर जो अर्थ किया गया है वह भी अर्थ है। इसलिए कोई दोष नहीं ॥ २१ ॥

दो दो नदियोंमें पहिली पहिली नदियोंके दिशाओंका विभाग तो बतला दिया गया, अब शेष नदियोंके दिशाओंका विभाग बतलानेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

तथा शेषकी सात नदियां अर्थात् सिंधू रोहितास्या हरिकांता सीतोदा नरकांता रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियां पश्चिमके समुद्रमें जाकर मिलती हैं। अर्थात् लवण समुद्रके पश्चिम भागमें मिलती हैं।

गंगा सिंधू रोहित रोहितास्या आदि जोडोंमें जो उत्तर उत्तरकी नदियां हैं वे पश्चिम समुद्रमें जाकर मिली हैं।

तत्र पद्महृदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गंगा ॥ १ ॥

क्षुद्र हिमवान पर्वतके ऊपर चार तोरण द्वारोंसे शोभायमान पद्म नामका सरोवर है। इस पद्म सरोवरके पूर्वतोरण द्वारसे गंगा नदीका उदय हुआ है। इस गंगा नदीने पांचसौ योजन पूर्व दिशाकी ओर जाकर अपने विपुल प्रवाहसे गंगा कूटका स्पर्श किया है। पीछे पांचसौ तेईस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें छह भाग प्रमाण दक्षिणकी ओर जाकर स्थूल मोतियोंकी मालाके समान हो गई है। कुछ अधिक सौ योजन प्रमाण धाराका पतन हो निकला है। एक कोश छह योजन चौडी और आधे योजन मोटी होगई है। तथा इसी आकारसे यह गंगा (वज्रमुख) कुंडमें

जाकर पडी है यह गंगा कुंड साठ योजन प्रमाण लंबा चौडा है। दश योजनका गहरा है। वज्रमयी तलका धारक है। उसके मध्यभागमें श्रीदेवीके घरके प्रमाण लंबा चौडा महा मनोहर प्रासाद बना है एवं दो कोश दश योजन ऊंचा आठ योजन लंबा चौडा अत्यंत शोभायमान एक द्वीपसे अलंकृत है। इस कुंडमें गिर फिर भी वह गंगा नदी इस कुंडके दक्षिण तोरण द्वारसे निकली है। आधा कोश गहरी, एक कोश छह योजन चौडी, क्रमसे उत्तरोत्तर बढनेवाली, सर्पके समान कुटिल रूपसे गमन करने वाली, खंडक प्रपात नामकी गुफासे निकलकर और विजयार्ध पर्वतको तय कर दक्षिण ओर मुखकर गई है, दक्षिणार्ध भरत क्षेत्रके मध्यभागको प्राप्त कर पूर्वकी ओर मुखकर बहनेवाली है वह प्रारंभमें कोश अधिक एक योजन गहरी साढे बासठ योजन चौडी मागध नामक तीर्थसे लवण समुद्रमें जाकर प्रविष्ट हुई है।*

* यह गंगा नदी गंगाकूटसे पहली ओर ही दक्षिण ओर भरतक्षेत्रके सन्मुख मुड कर गोमुखमें होती हुई—गंगाकुण्डमें पड़ती है। यह गंगाकुंड साठ योजन लम्बा उतना ही चौडा गोल है, तथा दश योजन गहरा है। उसीके बीचमें एक द्वीप कहिये टापू है। यह द्वीप आठ योजन चौडा उतना ही लम्बा गोल है, उसीमें एक वज्रमयी पर्वत है जो कि दश योजन ऊंचा है, तथा मूलमें चार योजन लम्बा चौडा है, अग्रभागमें एक योजन गोल है। उसीपर श्रीदेवीके प्रासाद समान एक कोश लम्बा आधा कोश चौडा एक प्रासाद है। उसपर ढाईसौ धनुषके दरवाजे और गोलाकार चार परकोट हैं। वहींपर गंगा देवीका निवास स्थान है। वहींपर एक कमल है, उसमें कर्णिकाके बीच सिंहासन है उसपर श्रीजिनेन्द्रदेवके रत्नमयी प्रतिबिंब हैं उन्हीं जिनबिंबके श्रीमस्तक पर गंगा नदीकी बारदश योजन चौडी होकर पडती है, ऐसा विदित होता है कि मानों श्रीजिनेन्द्रकी प्रतिमाका अभिषेक ही करती हो। यह धार हिमवत कुलाचलसे पच्चीस योजन दूर जाकर पडती है। इसप्रकार गंगाकुंडमें पडती हुई वहांसे दक्षिण द्वार सवाछह योजन चौडी प्रवाहित हो कर विजयार्धकी खंडप्रपाता नामकी गुफामें प्रविष्ट होकर आठ योजन चौडे प्रवाह द्वारा निकल कर भरतक्षेत्रमें एकसौ उन्नीस योजन

अपरतोरणद्वाराद्विनिर्गता सिंधुः ॥ २ ॥

पद्मसरोवरके पश्चिम तोरण द्वारसे सिंधू नदीका उदय हुआ है। वह पांचसौ योजन जाकर अपनी तरंगरूप भुजाओंसे सिंधू नामक कूटको स्पर्श कर एवं उपर्युक्त रीतिसे गंगा नदीके प्रमाण होकर सिंधू कुंडमें जाकर पडी है। तथा तमिश्रा नामक गुफामें होकर विजयार्धको तय कर प्रभास तीर्थसे पश्चिम समुद्रमें जाकर मिली है।

गंगा कुंडके द्वीपका जो प्रासाद है उसमें गंगा देवीका निवास स्थान है और सिंधू कुंडके द्वीपका जो प्रासाद है उसमें सिंधू देवी निवास करती है। हिमवान पर्वतके ऊपर पूर्व पश्चिम कुछ भाग छोडकर गंगा और सिंधू नदियोंके मध्यभागमें दो कूट (खंड पर्वत) हैं जो कि पद्म—कमलके आकार हैं। वैडूर्यमणिमयी नालोंके धारक हैं। जलके ऊपर एक कोश ऊंचे दो कोश लंबे चौडे, लोहिताक्षमणिमयी और आधे कोश लंबे पत्रोंके धारक, तपे सुवर्णके समान केसरसे शोभायमान तथा सूर्यकांत मणिके बने हुए एक कोश लंबी कर्णिकाके धारक हैं। उन कर्णिकाओंके मध्यभागमें रत्नमयी एक एक कूट बना हुआ है। प्रत्येक कूटमें एक एक प्रासाद है। पूर्वकी ओरके कूटके प्रासादमें बला नामकी देवी रहती है उसकी एक पल्यकी आयु है। पश्चिम दिशाकी ओरके कूटके प्रासादमें लवणा नामकी देवी रहती है और उसकी भी एक पल्यकी आयु है।

छेदकला प्रमाण प्रवाह बन कर बही है। पश्चात् पूर्व दिशामें बढती बढती साडे बासठ योजन चौडाई और सवा योजन गहराई लिये हुए दरवाजेसे लवणोदधि समुद्रमें जाकर मिल गई है। यह श्रीत्रिलोकसारका सिद्धांत है। इन नदियोंकी विशेष व्याख्या श्रीत्रिलोकसार, सिद्धांतसार और हरिवंशपुराणमें की गई है सो वहांसे जानना चहिये।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहितास्या ॥ ३ ॥

पद्म सरोवरके उत्तरकी ओरके तोरणद्वारसे रोहितास्या नदीका उदय हुआ है । वह दोसौ छिहत्तर योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें छह भागप्रमाण हिमवान पर्वतके ऊपर उत्तरकी ओर गई है इसकी भी गंगा नदीके समान विशाल धारा गिरती है अर्धत्रयोदश (साढे बारह) योजनप्रमाण चौडी है। एक योजन मोटी है । तथा इसी आकारसे एकसौ बीस योजनके लंबे चौडे, बीस योजनके गहरे वज्रमयी तलके धारक जिसका मध्यभाग श्रीदेवीके प्रासादके समान लंबे चौडे प्रासादसे शोभायमान है एवं दो कोश और दश योजन ऊंचे, सोलह योजन लंबे चौडे द्वीपसे अलंकृत है ऐसे कुंडमें जाकर गिरी है। इस कुंडके उत्तरकी ओरके तोरणद्वारसे निकलकर उत्तरकी ओर शब्दवान वृत्तवेदाढ्य की प्रदक्षिणा कर आधे योजनके अंतरसे मुडकर पश्चिमकी ओर गई है। जहांपर उत्पन्न हुई है वहांपर यह एक कोश गहरी साढे बारह योजन चौडी और जहांपर पश्चिम लवण समुद्रमें जाकर मिली है वहांपर मुखमें ढाई योजन गहरी और एकसौ पचीस योजन चौडी लवण समुद्रमें जाकर प्रविष्ट हुई है । इस रोहितास्या नदीके कुंडके प्रासादमें रोहितास्या नामकी देवी रहती है । इसप्रकार गंगा सिंधू और रोहितास्या ये तीन नदियां हिमवान् कुलाचलसे निकली हैं।

महापद्महदप्रभवाऽपाच्यतोरणद्वारेण निर्गता रोहित ॥ ४ ॥

महाहिमवान् पर्वतके ऊपर महापद्म सरोवरके दक्षिणकी ओरके तोरणद्वारसे रोहितनदीका उदय हुआ हैं वह सोलहसौ पांच योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें पांच भागप्रमाण दक्षिणकी ओर जाकर कुंडमें गिरी है इत्यादि रूपसे रोहितनदीका कुल वर्णन रोहितास्या नदीके समान समझ लेना

चाहिये इतना विशेष है कि इसकी धारा कुछ अधिक दोसौ योजनप्रमाण गिरती है । रोहित नदीके कुंडके प्रासादमें रोहित नामकी देवी रहती है । यह रोहित नामकी महानदी पूर्वसमुद्रमें जाकर मिली है ।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता हरिकांता ॥ ५ ॥

महापद्म सरोवरके उत्तरकी ओरके द्वारसे हरिकांता नामक महानदीका उदय हुआ है । यह भी रोहितनदीके समान महाहिमावन्पर्वतके तलभागमें पहुंच कर उत्तरकी ओर बहती है कुछ अधिक दोसौ योजन प्रमाण इसकी धारा पडती है । दो योजनप्रमाण मोटी और पचीस योजनप्रमाण चौडी है तथा अपने मध्यभागमें श्रीदेवीके प्रासादके समान प्रासादसे शोभित, दो कोश दश योजन ऊंचे, बत्तीस योजनप्रमाण लंबे चौडे द्वीपसे मनोहर चालीस योजनके गहरे एवं दोसौ चालीस योजन लंबे चौडे वज्रमयी तलके धारक कुंडमें जाकर गिरी है । पश्चात् उस कुंडके उत्तरकी ओरके तोरणद्वारसे निकली है । प्रवाहके स्थानपर आधे योजनप्रमाण गहरी पचीस योजन चौडी विकृतवान वृत्तवेदाढ्य पर्वतकी आधे योजनके अंतरसे परिक्रमा देकर पश्चिमकी ओर मुख कर बहती है । तथा मुखमें पांच योजन गहरी और ढाई योजन चौडी है और पश्चिम समुद्रमें जाकर मिली है । हरिकांता महानदीके कुंडके प्रासादमें हरिकांता नामकी देवीका निवासस्थान है ।

तिगिंछह्रदप्रभवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित् ॥ ६ ॥

निषध पर्वतके ऊपर तिगिंछ सरोवरके दक्षिणकी ओरके तोरणद्वारसे हरित् नामकी महानदीका उदय हुआ है । वह सात हजार चारसौ इकीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें एक भाग प्रमाण पर्वतके तलभागमें पूर्वदिशाकी ओर जाकर गिरी है इत्यादि समस्त वर्णन हरिकांता महानदीके

समान समझ लेना चाहिये। विशेष इतना है कि इस हरित् महानदीकी धाराका गिरना कुछ अधिक चारसौ योजनका है हरित महानदीके कुंडके प्रासादमें हरित नामकी देवी निवास करती हैं।

उदीच्यतोरणद्वाराविनिर्गता सीतोदा ॥ ७ ॥

उस तिगिंछ सरोवरके उत्तरकी ओरके तोरण द्वारसे सीतोदा महानदीका जन्म हुआ है। यह भी पर्वतके तलभागमें उत्तरकी ओर बहती है । इसकी धाराका संपात कुछ अधिक चारसौ योजनका है। चार योजन मोटी और पचास योजन चौडी है । तथा जिसके मध्यभागमें श्रीदेवीके प्रासादके समान लंबे चौडे प्रासादसे शोभायमान एवं दो कोश दश योजन ऊंचे चौसठ योजन प्रमाण लंबे चौडे द्वीपसे अलंकृत है और जो चारसौ अस्सी योजन प्रमाण लंबा चौडा, अस्सी योजन प्रमाण गहरा एवं वज्रमयी तलका धारक है ऐसे कुण्डमें जाकर पडती है । पश्चात् इस कुण्डके उत्तरकी ओरके तोरण द्वारसे निकलकर देवकुरुमें अनेक प्रकारके कूटोंके मध्यभागमें होती हुई उत्तरकी ओर गमनकर आधे योजन दूरसे मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा कर और विद्युत्प्रभ नामक गजदंतको विदीर्ण कर पश्चिम विदेहके मध्यभागमें गमन करती है। जहांपर इस सीतोदा नदीका उदय हुआ है वहांपर यह एक योजन गहरी और पचास योजन चौडी है। मुख भागमें दश योजन गहरी और पांचसौ योजन चौडी है एवं पश्चिम समुद्रमें जाकर प्रविष्ट हुई है। सीतोदा नदीके कुंडके प्रासादमें सीतोदा नामकी देवीका निवासस्थान है।

केसरिह्रदप्रभवाऽपाच्यद्वारनिर्गता सीता ॥ ८ ॥

नील पर्वतके ऊपर केसरी सरोवरके दक्षिण द्वारसे सीता नदीका जन्म हुआ है इसका कुल वर्णन सीतोदा नदीके समान समझ लेना चाहिये । इतना विशेष है कि–सीता महानदीके कुण्डके प्रासादमें

सीता देवीका निवासस्थान है। यह मालयवान गजदंतको विदीर्ण कर पूर्व विदेहके मध्यभागमें गई है एवं पूर्व समुद्रमें जाकर प्रविष्ट हुई है।

उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता नरकांता ॥ ९ ॥

नील पर्वतके ऊपर उसी केसरी सरोवरके उत्तरकी ओरके तोरणद्वारसे नरकांता महा नदीका जन्म हुआ है। इसका कुल स्वरूप वर्णन हरित महानदीके समान समझ लेना चाहिये। इतना विशेष है कि—नरकांता महानदीके कुंडके प्रासादमें नरकांता महादेवीका निवासस्थान है और यह गंधवान वृत्तवेदाढ्यकी प्रदक्षिणा कर पश्चिम समुद्रमें जाकर प्रविष्ट हुई है।

महापुंडरीकह्रदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता नारी ॥ १० ॥

रुक्मी पर्वतके ऊपर महापुंडरीक सरोवरके दक्षिणकी ओरके तोरण द्वारसे नारी महानदीका उदय हुआ है। इसकी समस्त रचना हरिकांता नदीके समान समझ लेना चाहिये। विशेष इतना है कि—नारी कुंडके प्रासादमें नारी देवीका निवास है एवं गंधवान वृत्तवेदाढ्यकी प्रदक्षिणा कर पूर्व समुद्रमें जाकर मिली है।

उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यकूला ॥ ११ ॥

उसी महापुंडरीक सरोवरके उत्तरकी ओरके तोरण द्वारसे रूप्यकूला महानदीका जन्म हुआ है। इसकी कुल रचना रोहित नदीके समान समझ लेनी चाहिये। विशेष इतना है कि—रूप्यकूलाके कुंडके प्रासादमें रूप्यकूला नामकी देवीका निवास स्थान है एवं यह मालयवान वृत्तवेदाढ्यकी प्रदक्षिणा कर पश्चिम समुद्रमें जाकर प्रविष्ट हुई है।

पुंडरीकहृदप्रभवापाच्यतोरणद्वारानिर्गता सुवर्णकूला ॥ १२ ॥

शिखरी पर्वतके ऊपर पुंडरीक सरोवरके दक्षिणकी ओरके तोरण द्वारसे सुवर्णकूला महानदीका जन्म हुआ है। इसकी कुल रचना रोहितास्य नदीके समान समझ लेनी चाहिये। विशेष इतना है कि– सुवर्णकूला नदीके कुंडके प्रासादमें सुवर्णकूला नामकी देवी रहती है और यह माल्यवान् वृत्तवेदाढ्यकी प्रदक्षिणा कर पूर्व समुद्रमें जाकर प्रविष्ट हुई है।

पूर्वतोरणद्वारनिर्गता रक्ता ॥ १३ ॥

उसी शिखरी पर्वतके ऊपर पुंडरीक सरोवरके पूर्वकी ओरके तोरण द्वारसे रक्ता महानदीका जन्म हुआ है। इसकी भी कुल रचना गंगा महानदीके समान समझ लेनी चाहिये। विशेष इतना है कि– रक्ता नदीके कुंडके प्रासादमें रक्ता देवीका निवास स्थान है।

प्रतीच्यद्वारनिर्गता रक्तोदा ॥ १४ ॥

उसी पुंडरीक सरोवरके पश्चिमकी ओरके तोरण द्वारसे रक्तोदा महानदीका जन्म हुआ है। इसकी कुल रचना सिंधू नदीके समान समझ लेनी चाहिये। विशेष इतना है कि–रक्तोदा नदीके कुंडके प्रासादमें रक्तोदा नामकी देवीका निवास स्थान है।

उपर्युक्त चौदह नदियोंमें गंगा सिंधू रक्ता और रक्तोदा ये चार नदियां पर्वतका उपरि तलभाग तथा जहां पर इनकी धार पडती है वह जगह इन दो जगहोंको छोड कर सर्वत्र सर्पके समान कुटिल रूपसे गमन करनेवाली हैं और बाकीकी नदियां मेरु पर्वत और नाभिगिरिके प्रदेशोंसे अन्यत्र सब

९०९

जगह ऋजुगति सरलरूपसे गमन करनेवाली हैं। ये चौदहों नदियां आधे योजन चौडे, नदियोंके समान लंबे, दोनों पसवाडोंमें रहनेवाले तथा हर एक आधे योजन ऊंची पांचसै धनुष चौडी और वनोंके समान लंबी दो दो पद्मवरवेदिकाओंसे व्याप्त दो दो वनखंडोंसे शोभित हैं अर्थात् उन नदियोंके दोनों किनारोंमें आधे आधे योजन चौडे और नदियोंके समान लंबे वनखंड हैं और दोनों वनखंडोंमें प्रत्येक वन आधे योजन ऊंची और पाचसौ धनुष चौडी तथा वनोंके बराबर लंबी चली गई एक एक पद्मवरवेदिकासे व्याप्त हैं। अर्थात् नदियोंके किनारे दो वेदिका और दो वन नदियोंके साथ चले गये हैं।

ऊपर कही गई नदियोंकी परिवार स्वरूप नदियोंके प्रतिपादनकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिंध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

गंगा सिंधू आदि नदियां चौदह चौदह हजार नदियोंके परिवार सहित हैं। शंका—

गंगासिंध्वाद्यग्रहणं प्रकरणादिति चेन्नानंतरग्रहणप्रसंगात् ॥ १ ॥

ऊपर गंगा सिंधू आदिका वर्णन किया गया है इसलिये प्रकरणकी सामर्थ्यसे इस सूत्रमें गंगा सिंधू आदिकी अनुवृत्ति सिद्ध थी फिर गंगासिंध्वादि शब्दका क्यों ग्रहण किया गया ? सो ठीक नहीं। 'अनंतरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' अर्थात् जो कुछ भी विधान और प्रतिषेध होता है वह अनंतर—अव्यवहित पूर्वका ही होता है। यहांपर बिलकुल समीपमें अपरगा—पश्चिम समुद्रमें जाने· वाली नदियोंका ही उल्लेख किया गया है इसलिये उन्हींकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति आवेगी और पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट होनेवाली नदियां चौदह चौदह हजार नदियोंके परिवारसहित हैं यही अनिष्ट अर्थ होगा किंतु गंगा सिंधू आदि नदियां चौदह चौदह हजार नदियोंके परिवारसहित हैं यह अर्थ न होगा

अतः इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिकेलिये सूत्रमें गंगासिंध्वादि शब्दका ग्रहण किया गया है। यदि यहां पर फिर यह शंका की जाय कि—

गंगादिग्रहणमिति चेन्न पूर्वगाग्रहणप्रसंगात् ॥ २ ॥

सूत्रमें गंगासिंध्वादिका विना ग्रहण किये बिलकुल समीपमें कही गई पश्चिमकी ओर जानेवाली नदियोंकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति आसकती है परंतु उसकी जगह गंगादिका ग्रहण किया जायगा तब तो उनका संबंध नहीं हो सकता इसलिये गंगादिका ग्रहण करना चाहिये। 'गंगासिंध्वादयो' ऐसा पाठ नहीं होना चाहिये अर्थात् सिंधूका ग्रहण सूत्रमें व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। यदि केवल गंगादिका ग्रहण किया जायगा तो पूर्व समुद्रमें प्रविष्ट होनेवाली नदियोंका संबंध होगा और उससे पूर्वसमुद्रमें प्रविष्ट होनेवाली नदियोंकी चौदह चौदह हजार नदियोंका परिवार है यह अर्थ होगा जो कि अनिष्ट है। अर्थात् सिंधू आदि भी चौदह २ हजार नदियोंसे वेष्टित हैं यह अर्थ नहीं होगा। यदि यहां पर फिर यह शंका की जाय कि—

नदीग्रहणात्सिद्धिरिति चेन्न द्विगुणाभिसंबंधार्थत्वात् ॥ ३ ॥

ऊपर नदियोंका वर्णन किया गया है इसलिये सूत्रमें नदी शब्दके न ग्रहण करने पर भी नदियोंका संबंध इस सूत्रमें हो सकता है फिर भी नदी शब्दका सूत्रमें ग्रहण किया गया है उससे समस्त नदियोंका ग्रहण होगा और गंगासिंधू आदि नदियां चौदह चौदह हजार नदियोंके परिवारसहित हैं यह अभीष्ट अर्थ सिद्ध होजायगा इसलिये नदी शब्दका ग्रहण ही उपयुक्त है गंगासिंध्वादिके ग्रहणकी कोई आवश्यकता नहीं है? सो ठीक नहीं। गंगासिंध्वादि शब्दका उलेख विना कीए ऊपरसे जो द्विगुण द्विगुणकी अनुवृत्ति आरही है उसका संबंध नहीं बैठ सकता इसलिये उस संबंधकेलिये सूत्रमें गंगासिंध्वादिका

ग्रहण किया गया है। अर्थात् यदि सूत्रमें केवल नदी शब्दका ही ग्रहण किया जायगा तो ऊपरसे 'द्विगुण द्विगुण' की अनुवृत्ति आनेसे गंगा चौदह हजार नदियोंसे परिवारित है। सिंधू उससे दूनी नदियोंसे परिवारित है। सिंधूकी अपेक्षा दूनी नदियोंसे परिवारित रोहित् नदी है इत्यादि अनिष्ट अर्थ होता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

गंगासिंध्वादि ग्रहणका द्विगुणा द्विगुणाके साथ संबंध होना बस इतनामात्र ही प्रयोजन है कि शब्दोंकी अधिकतासे कुछ अर्थकी अधिकता है? उसका उत्तर यह है कि यही प्रयोजन है क्योंकि गंगा शब्दके ग्रहण करने पर तो गंगा चौदह हजार नदियोंसे परिवारित है यह अर्थ है। यदि सिंधू शब्दका ग्रहण नहीं किया जायगा तो गंगाकी परिवार नदियोंसे दूनी परिवार नदियोंसे वेष्टित सिंधू नदी है यह अनिष्ट अर्थ होता उसकी निवृत्तिकेलिये सिंधू शब्दका ग्रहण किया गया। यदि 'गंगासिंध्वादि'का सूत्रमें उल्लेख नहीं किया जाता तो यह अभीष्ट अर्थ नहीं होता। फलमुख गौरव दोषी नहीं समझा जाता, यदि जिन शब्दोंके आधिक्यसे कुछ अधिक फल निकलता हो तो वह शब्दोंका आधिक्य दोषी नहीं माना जाता। यहां पर यदि गंगासिंधू इन दोनों पदोंका ग्रहण नहीं किया जाता तो गंगासे दूने परिवारवाली सिंधू ठहर जाती, उससे दूने परिवारवाली उससे आगेकी नदी ठहरती, परंतु यह अर्थ शास्त्रविरुद्ध है इसलिये गंगासिंधू पद देनेसे दोनोंका समान परिवार सिद्ध होता है तथा आगे भी दोनोंका समानरूपसे द्विगुणित परिवार सिद्ध होता है।

गंगा और सिंधू दोनों नदियोंमें प्रत्येक नदी चौदह चौदह हजार नदियोंसे परिवारित है। आगे सीतोदा नदी पर्यंतकी नदियोंकी परिवार नदियां दूनी दूनी हैं। सीतोदाके आगेकी नदियोंकी परिवार

नदियां उत्तरोत्तर क्रमसे आधी आधी कम हैं। अर्थात्–गंगामें चौदह हजार नदियां छोटी छोटी आकर मिली हैं उसीप्रकार सिंधूमें भी चौदह हजार नदियां मिली हैं । रोहित् रोहितस्याकी परिवार नदियां अट्ठाईस अट्ठाईस हजार हैं। हरित् और हरिकांताकी छप्पन छप्पन हजार हैं । सीता और सीतोदाकी एक लाख बारह हजार हैं । इससे उत्तरके तीन क्षेत्रोंकी क्रमसे दक्षिणके तीन क्षेत्रोंके समान परिवार नदियां हैं अर्थात् नारी नरकांताकी छप्पन छप्पन हजार, सुवर्णकूला और रूप्यकूलाकी अट्ठाईस अट्ठाईस हजार और रक्ता रक्तोदाकी चौदह चौदह हजार परिवार नदियां हैं ॥ २३ ॥

जम्बूद्वीपकी चौडाई, समुद्र सरोवर नदियां पर्वत और क्षेत्रोंकी रचनाका वर्णन कर दिया गया अब यहांपर यह बतलाना चाहिये कि भरत आदि जो ऊपर क्षेत्र कहे गये हैं उनका विस्तार समान है कि भेद है ? इसलिये सूत्रकार उस विस्तारके भेदका प्रदर्शन करते हैं–

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकान्नविंश-
तिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

भरतक्षेत्र दक्षिण उत्तरमें पांचसौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीसवे भागमेंसे छह भाग अर्थात् $\frac{6}{19}$ योजन अधिक विस्तारवाला है।

षडधिका विंशतिः षड्विंशतिः, षड्विंशतिरधिका येषु तानि षड्विंशानि । षड्विंशानि पंच योजनशतानि विस्तारोऽस्य स षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः, यहांपर यह षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तार शब्दका विग्रह है अर्थात् भरतक्षेत्र पांचसौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें छह भाग प्रमाण है ॥ २४ ॥

इसप्रकार यह भरतक्षेत्रका विस्तार कह दिया गया अब अन्य क्षेत्रोंके विस्तारका ज्ञान करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

तद्द्विगुणद्विगुणाविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः ॥ २५ ॥

विदेहक्षेत्र तकके पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्रकी अपेक्षा दूने दूने विस्तारवाले हैं । ततो द्विगुणो द्विगुणो विस्तारो येषां ते इमे 'तद्द्विगुणद्विगुणाविस्ताराः' यह यहांपर विग्रह है ।

वर्षधरशब्दस्य पूर्वनिपात आनुपूर्व्यप्रतिपत्त्यर्थः ॥ १ ॥

जिसमें थोडे अक्षर होते हैं उसका पूर्वनिपात होता है ऐसा व्याकरणका सिद्धांत है। वर्षधर और वर्ष दोनों शब्दोंमें वर्ष अल्पाक्षर है इसलिये इस सूत्रमें 'वर्षधरवर्षाः' इस जगहपर वर्ष शब्दका ही पहिले निपात होना न्यायप्राप्त है तथापि आनुपूर्वीकी प्रतिपत्तिके लिये अर्थात् पहले पर्वत उसके बाद क्षेत्र इसी रूपसे अनुपूर्वी क्रम है इसलिये पहले वर्षधर शब्दका ही उल्लेख किया गया है अन्यथा वर्षधराश्च वर्षाश्च इसप्रकार द्वंद्व समासके करनेपर वर्ष शब्दका ही अल्पाक्षर होनेसे पूर्वनिपात होगा। यदि यहां पर यह शंका हो कि—

आनुपूर्वी क्रमकी प्रतिपत्तिके लिये पूर्वप्रयोग होता है ऐसा व्याकरण शास्त्रका तो कोई वचन है नहीं फिर यहां उस आनुपूर्वी क्रमकी प्रतिपत्तिके लिये वर्षधर शब्दका पूर्वप्रयोग मानना मनगढंत है? सो ठीक नहीं । क्योंकि यद्यपि 'आनुपूर्वी क्रमकी प्रतिपत्तिके लिये पूर्वप्रयोग होता है' यह सूत्रद्वारा (कण्ठोक्त) कहा हुआ वचन व्याकरण शास्त्रमें नहीं है तथापि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इस व्याकरण सूत्रमें जो 'हेतु' शब्दमें अल्पाच् होते हुये भी लक्षण शब्दका उससे पूर्व प्रयोग किया गया है उससे यह

ज्ञापित होता है कि विशेष बात प्रगट करनेकेलिए पूर्वनिपातमें व्यतिक्रम कर दिया जाता है। इसलिए व्याकरण शास्त्रके अनुसार ही वर्ष शब्दका पूर्वनिपात नहीं किया गया है।

विदेहान्तवचनं मर्यादार्थं ॥ २ ॥

सूत्रमें जो विदेहांत शब्द है वह मर्यादा सूचित करता है अर्थात् विदेहक्षेत्र पर्यंत ही क्षेत्र और पर्वत दूने दूने विस्तारवाले हैं उससे आगेके क्षेत्र और पर्वतोंका दूना दूना विस्तार नहीं है। अन्यथा—यदि मर्यादा न की जाती तो नील आदिका भी दूना दूना विस्तार मानना पडता जो कि अनिष्ट है। विदेहक्षेत्र जिन क्षेत्र और पर्वतोंके अन्तमें हो वे क्षेत्र और पर्वत विदेहांत कहे जाते हैं। खुलासा इस प्रकार है—

हिमवान पर्वतकी चौडाई एक हजार बावन योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें बारह भाग प्रमाण है। हैमवत क्षेत्रकी चौडाई दो हजार एकसौ पांच योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें पांच भाग प्रमाण है। महाहिमवान पर्वतकी चौडाई चार हजार दोसौ दश योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दश भाग प्रमाण है। हरिवर्ष क्षेत्रकी चौडाई आठ हजार चारसौ इकीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें एक भाग प्रमाण है। निषध पर्वतकी चौडाई सोलह हजार आठसौ ब्यालीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग प्रमाण है। तथा विदेहक्षेत्रकी चौडाई तेतीस हजार छहसौ चौरासी योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें चार भाग प्रमाण है॥ २५॥

इसप्रकार भरतक्षेत्रको आदि लेकर विदेहक्षेत्र पर्यंत तकके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार कह दिया गया अब विदेहक्षेत्रसे आगेके जो पर्वत और क्षेत्र हैं उनका विस्तार सूत्रकार वर्णन करते हैं—

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

विदेहक्षेत्रसे उत्तरके तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिणके पर्वतों और क्षेत्रोंके बराबर विस्तार वाले हैं।

उत्तरके ऐरावतक्षेत्रको आदि लेकर नीलपर्वत पर्यंतके क्षेत्र और पर्वत दक्षिणकी ओरके भरतादि क्षेत्र और पर्वतोंके समान समझ लेने चाहिये। अर्थात् निषधपर्वतके समान विस्तारवाला नीलपर्वत है। हरिपर्वतके समान विस्तारवाला रम्यकक्षेत्र है। महाहिमवान पर्वतके समान विस्तारवाला रुक्मी पर्वत है। हैमवतक्षेत्रके समान विस्तारवाला हैरण्यवतक्षेत्र है। हिमवान पर्वतके समान विस्तारवाला शिखरी पर्वत है। तथा भरतक्षेत्रके समान विस्तारवाला ऐरावतक्षेत्र है ॥ २६ ॥

भरत आदि क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंमें अनुभव आदि समान रूपसे हैं कि कुछ विशेष है ? इस शंकाके परिहारकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां ॥ २७ ॥

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीरूप छह कालोंसे भरत और ऐरावतक्षेत्रोंके मनुष्योंकी आयु काय भोगोपभोग संपदा वीर्य बुद्ध्यादिकका बढना और घटना होता है अर्थात् उत्सर्पिणीके छह कालोंमें वृद्धि और अवसर्पिणीके छह कालोंमें दिनोंदिन हानि होती चली जाती है।

यह बढना घटना भरत और ऐरावतक्षेत्रोंका है। यदि यहांपर यह शंका हो कि—भरत और ऐरावतक्षेत्र तो अवस्थित हैं—कभी उनका बढना घटना नहीं हो सकता फिर यहां उनके वृद्धि ह्रासका उल्लेख कैसा ? वार्तिककार इसका उत्तर देते हैं—

तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोगः ॥ १ ॥

संसारमें तात्स्थ्यरूपसे ताच्छब्द्यका अर्थात् आधेयभूत पदार्थोंका कार्य आधारभूत पदार्थोंका मान लिया जाता है जिसप्रकार पर्वतमें विद्यमान वनस्पतियोंके जलनेसे गिरिदाह–पर्वतका जलना माना जाता है उसीप्रकार भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके मनुष्योंमें वृद्धि ह्रास होनेसे भरत ऐरावत क्षेत्रका वृद्धि ह्रास कह दिया जाता है।

अधिकरणनिर्देशो वा ॥ २ ॥

अथवा 'भरतैरावतयोः' यह अधिकरण निर्देश है । अधिकरण सापेक्ष पदार्थ है वह अपने रहते अवश्य आधेयकी आकांक्षा रखता है। भरत और ऐरावतरूप आधारके आधेय मनुष्य आदि हैं इसलिए यहांपर यह अर्थ समझ लेना चाहिये कि भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें मनुष्योंका वृद्धि और ह्रास होता है। मनुष्योंमें किन २ बातोंका वृद्धि ह्रास होता है वार्तिककार इस विषयको स्पष्ट करते हैं–

अनुभवायुःप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ ॥ ३ ॥ कालहेतुकौ स च कालो द्विविध उत्सर्पिण्यवसर्पिणी चेति तद्भेदाः षट् ॥ ४ ॥

अनुभव आयु और प्रमाण आदिका मनुष्योंमें वृद्धि और ह्रास होता है। उपभोग और परिभोग (भोगोपभोग) की संपदाका नाम अनुभव है । जीवनका परिमाण आयु है और शरीरकी ऊंचाईका नाम प्रमाण है। तथा यह जो अनुभव आदिका घटना बढना होता है वह कालहेतुक है–वह कालके द्वारा होता है। वह काल उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके भेदसे दो प्रकारका है और उनमें प्रत्येकके छह छह भेद हैं अर्थात् उत्सर्पिणीकाल भी छह प्रकारका है और अवसर्पिणीकाल भी छह प्रकारका है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों कालोंकी अन्वर्थसंज्ञाका वार्तिककार उल्लेख करते हैं–

अनुभवादिभिरवसर्पणशीलाऽवसर्पिणी ॥ ५ ॥ तद्विपरीतोत्सर्पिणी ॥ ६ ॥

जिस कालमें उपर्युक्त अनुभव आदि अवमर्पण शील हों अर्थात् निरंतर घटते ही चले जांय वह अवसर्पिणीकाल है एवं जिस कालमें उपर्युक्त अनुभव आदि उत्मर्पणशील हों निरंतर बढते ही चले जांय वह उत्मर्पिणीकाल है।

सुषमसुषमा १ सुषमा २ सुषमदुःषमा ३ दुःषम सुषमा ४ दुःषमा ५ आतिदुःषपा ६ के भेदसे अवसर्पिणी काल छह प्रकारका है तथा आतिदुःषमा १ दुःषमा २ दुःषम सुषमा ३ सुषम दुःषमा ४ सुषमा ५ और सुषमसुषमा ६ के भेदसे उत्सर्पिणी काल भी छह ही प्रकारका है। अवसर्पिणी कालका परिमाण दश कोडा कोडी सागरका है। उत्सर्पिणीका भी इतना ही है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनोंके मिले हुए कालकी कल्प संज्ञा है अर्थात् वीस कोटाकोटी सागरका एक कल्प काल कहलाता है।

पहिला सुषमासुषमा काल चार कोडाकोडी सागरका होता है। उसकी आदिमें मनुष्य उत्तरकुरु क्षेत्रके समान होते हैं। उसके वाद क्रमसे हानि होनेपर सुषमा काल तीन कोडाकोडी सागर प्रमाण है। उसकी आदिमें मनुष्य हरिवर्ष क्षेत्रके मनुष्योंके समान हैं। उसके वाद क्रमसे हानि होनेपर सुषमा दुःषमा काल दो कोडाकोडी सागर प्रमाण है और उसकी आदिमें मनुष्य हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंके समान होते हैं। उसके वाद क्रमसे हानि होनेपर दुःषमसुषमा काल वियालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागर प्रमाण है और उसकी आदिमें विदेह क्षेत्रके समान मनुष्य होते हैं (अर्थात् प्रथम कालमें उत्तम भोग भूमिके समान, द्वितीय कालमें मध्यमभोग भूमिके समान और तृतीय कालमें जघन्यभोग भूमिके समान मनुष्य होते हैं, चतुर्थ कालमें विदेहके समान होते हैं इसीप्रकार पहले कालमें

तीनपल्य, दूसरेमें दोपल्य, तीसरेमें एकपल्य प्रमाण आयु है। चौथेमें एक कोटिपूर्व फिर घटते २ पंचम कालमें आदिमें १२० वर्ष फिर घटते २ वीस वर्ष, छठेमें आदिमें वीस वर्ष और अंतमें १५ वर्ष प्रमाण है। इसी प्रकार शरीरकी अवगाहना प्रथम कालकी आदिमें तीन कोस अंतमें दो कोस, द्वितीय कालकी आदिमें दो कोस, अंतमें एक कोस, तीसरे कालकी आदिमें एक कोस अंतमें ५०० धनुष प्रमाण है चतुर्थकालकी आदिमें ५०० धनुष अंतमें ७ हाथ है, पंचम कालकी आदिमें ७ हाथ अंतमें दो हाथ है छठे कालकी आदिमें दो हाथ अंतमें एक हाथ प्रमाण शरीरकी अवगाहना है (इससे विपरीत वृद्धिक्रम उत्सर्पिणीमें समझना चाहिये) उसके वाद क्रमसे हानि होनेपर दुःषमा काल इक्कीस हजार वर्षका है। उसके वाद क्रमसे हानि होनेपर अतिदुःषमा काल भी इक्कीस हजार वर्षका है। यह कथन अवसर्पिणी कालकी अपेक्षा किया गया है। इसीको विपरीत क्रमसे माननेपर उत्सर्पिणी कालका भी वर्णन समझ लेना चाहिये ॥ २७ ॥

भरत और ऐरावत क्षेत्रोंकी तो परिस्थिति वतला दीगई अब वाकीके क्षेत्रोंकी परिस्थिति प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

भरत और ऐरावतके सिवाय अन्य पांच पृथिवियां ज्योंकी त्यों नित्य हैं अर्थात् इन क्षेत्रोंमें वृद्धि ह्रास नहीं होता है।

भरत और ऐरावत इन दो क्षेत्रोंको छोडकर अन्य जो भी हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत क्षेत्र है वे सर्वदा अवस्थित रहते हैं उनमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका चक्र नहीं फिरता ॥ २८ ॥

उपर्युक्त क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंमें सबकी आयु बराबर है कि कुछ विशेष है? सूत्रकार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवका ॥ २९ ॥

हिमवान क्षेत्रके हरिक्षेत्रके और देवकुरु भोगभूमिके मनुष्य और तिर्यंच क्रमसे एक दो तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं।

हैमवतादिभ्यो भवार्थे वुञ् मनुष्यप्रतिपत्त्यर्थः ॥ १ ॥

जो हैमवतक क्षेत्रमें हों वे हैमवतक हैं। जो हरिवर्षमें रहें वे हारिवर्षक हैं और जो देवकुरुमें रहें वे दैवकुरवक हैं इसप्रकार मनुष्योंकी प्रतिपत्तिकेलिये हैमवत आदि शब्दोंसे 'होने' अर्थमें 'वुञ्' प्रत्ययका विधान किया गया है।

एकादीनां हैमवतकादिभिर्यथासंख्यं संबंधः ॥ २ ॥

हैमवतक आदि भी तीन हैं और एक आदि भी तीन हैं इसलिये एक आदिका हैमवतक आदिके साथ क्रमसे संबंध है। उससे हैमवतक क्षेत्रमें रहनेवाले हैमवतक मनुष्योंकी आयु एक पल्यकी है। हरिवर्षक्षेत्रमें रहनेवाले हारिवर्षकोंकी आयु दो पल्यकी है एवं देवकुरुक्षेत्रमें रहनेवाले दैवकुरवकोंकी आयु तीन पल्यकी है। यह स्पष्ट अर्थ है।

ढाई द्वीप संबंधी पांचों हैमवतक्षेत्रोंमें सर्वदा सुषमा दुःषमा काल अवस्थित रहता है। इन पांचों ही हैमवत क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्य एक पल्यकी आयुवाले होते हैं। दो हजार धनुष ऊंचे, चतुर्थभक्ताहार अर्थात् एक दिनका अंतर देकर भोजन करनेवाले और नील कमलके समान वर्णवाले हैं। पांचो हरि-

वर्ष क्षेत्रोंमें सदा सुषमाकालकी व्यवस्था रहती है। इन पांचो हरिवर्ष क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंकी आयु दो पल्यकी होती है। चार हजार धनुष ऊंचे, षष्ठभुक्ताहार अर्थात् दो दिनका अंतर देकर आहार करने वाले और शंख सरीखे वर्णवाले शुक्लवर्ण होते हैं। पांचों देवकुरुओंमें सदा सुषमा सुषमाकाल निश्चलरूपसे विद्यमान रहता है। इन देवकुरुओंमें रहनेवाले मनुष्योंकी आयु तीन पल्यकी होती है। छह हजार धनुष ऊंचे, अष्टभक्ताहार अर्थात् तीन दिनोंका अन्तर देकर आहार करनेवाले एवं सोने सरीखे वर्णवाले होते हैं॥ २९॥

यह दक्षिणके क्षेत्रोंका स्वरूप वर्णन कर दिया गया अब उत्तरके क्षेत्रोंके विषयमें सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

तथोत्तराः॥ ३०॥

जिसप्रकार दक्षिणके क्षेत्रोंकी रचना है उसीप्रकार उत्तरके क्षेत्रोंकी भी रचना समझ लेना चाहिये। सार यह है कि हैरण्यवतक्षेत्रकी रचना हैमवतके तुल्य है। रम्यकक्षेत्रकी रचना हरिक्षेत्रके समान है और उत्तरकुरुकी रचना देवकुरुके समान है (तीनों भोगभूमियोंमें मनुष्योंके मलमूत्र पसेव नहीं होता है रोगरहित शरीर होता है, मरण समय वेदना नहीं होती है, मरण समय पुरुषको जम्भाई और स्त्रीको छींक आती है अन्य कुछ वेदना मरणकालमें नहीं होती है। बाल वृद्धपनेका भी क्लेश नहीं होता है। कलह आदिका दुःख नहीं होता है। मरण पश्चात् उनका शरीर कपूरके समान उड जाता है। वहां व्रतसंयमका अभाव है जिनके सम्यक्त्व होता है वे सौधर्म ईशान स्वर्गोंमें जाते हैं जिनके मिथ्यात्व होता है वे भवनत्रिकमें जाते हैं। वहां व्यभिचार कर्म नहीं है, षट् कर्मजनित आजीविका नहीं है, कल्पवृक्षोंसे

चिंतित भोग पाते हैं, विकलत्रय भी वहां नहीं होते हैं। स्वामी सेवक भाव भी नहीं है। तिर्यंच भी वहांके वैरविरोधरहित भद्रपरिणामी होते हैं। जलचर जीव नहीं होते हैं। तिर्यंच मीठे तृण सेवन करते हैं। धूपशीतकी बाधा भी नहीं होती। मणिमय वहांकी पृथ्वी होती है। भोगभूमिका विशेष वर्णन व्याख्याप्रज्ञप्तिसे जान लेना चाहिये) ॥ ३० ॥

विदेह क्षेत्रोंमें रहनेवाले मनुष्योंकी स्थिति क्या है? इस वातका खुलासा सूत्रकार करते हैं—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—पांच मेरु संबंधी पांचों विदेह क्षेत्रोंमें संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य होते हैं।

विदेह क्षेत्रोंमें जितने मनुष्य रहते हैं उन सबकी आयु संख्यात वर्ष प्रमाण है। वहांपर सुषम दुःषम काल सदा अवस्थित रहता है। मनुष्य पांचसौ धनुष ऊंचे होते हैं। प्रतिदिन भोजन करते हैं उनकी उत्कृष्ट स्थिति कोटि पूर्व प्रमाण है और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है ॥ ३१ ॥

प्रकारांतरसे सूत्रकार भरतक्षेत्रकी चौडाई बतलाते हैं—

भरतस्य विष्कंभो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

एक लाख योजन विस्तारवाले जंबूद्वीपके एकसौ नव्वेवां $\frac{1}{190}$ भाग भरतक्षेत्रका विस्तार है। अर्थात् जंबूद्वीपके १९० समान टुकडा करने पर एक टुकडाप्रमाण भरतक्षेत्र है। शंका—

भरतक्षेत्रका विस्तार 'भरतःषड्विंशतीत्यादि' सूत्रमें पहिले कह दिया गया है फिर यह भरतक्षेत्रके विस्तारका कथन क्यों? उत्तर—

पुनर्भरतविष्कंभवचनं प्रकारांतरप्रतिपत्त्यर्थं ॥ १ ॥

यद्यपि भरतक्षेत्रका विस्तार ऊपर कह दिया गया तथापि भरतक्षेत्रकी चौडाईके प्रमाण यदि जंबूद्वीपके टुकडे किए जांयगे तो वे एकसौ नब्बे बैठ सकते हैं अधिक नहीं यह दूसरे प्रकारसे भरत क्षेत्रकी चौडाई प्रतिपादन करनेकेलिए पुनः 'भरतस्य विष्कंभः' इत्यादि सूत्रका उल्लेख किया गया है।

उत्तराभिसंबंधार्थं वा ॥ २ ॥

अथवा आगेके सूत्र 'द्विर्धातकीखंडे' 'पुष्करार्धे च' ये हैं इनके साथ संबंधकी योजनाकेलिए 'भरतस्य विष्कंभः' इत्यादि सूत्रका उदय हुआ है अर्थात् जंबूद्वीपमें जो भरतक्षेत्र आदिका स्वरूप है उससे धातकीखंडके भरतादिका दूना है। पुष्करार्धके भरत आदिका धातकीखंडके समान है यह संबंध जोडनेकेलिए भरतक्षेत्रको जंबूद्वीपका एकसौ नब्बेवां भाग कहा है। इस जंबूद्वीपके चारो ओर वेदिका है उसके बाद लवण समुद्र है। अब उस लवणसमुद्रके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

तलमूलयोर्दशयोजनसहस्रविस्तारो लवणोदः ॥ ३ ॥

भूमिके समतलभागपर लवणसमुद्रकी चौडाई दो लाख योजनकी है अर्थात् जंबूद्वीपकी चौडाई एक लाख योजनकी है उससे आगे आगेके समुद्र और द्वीपोंमें दूनी दूनी चौडाई है इस नियमके अनु-

१—एक भागमें भरतक्षेत्र, दो भागोंमें हिमवान् पर्वत, चार भागोंमें हैमवतक्षेत्र, आठ भागोंमें महाहिमवान पर्वत, सोलह भागोंमें हरिक्षेत्र, बत्तीस भागोंमें निषध पर्वत, और चौसठ भागोंमें विदेहक्षेत्रका विस्तार है इसप्रकार जम्बूद्वीपके १२७ भाग एकसौ सत्ताईस भाग तो दक्षिण संबन्धी हैं और नील पर्वत बत्तीस भागोंमें, रम्यक् सोलह भागोंमें, रुक्मी आठ भागोंमें, हैरण्यवत चार भागोंमें, शिखरी दो भागोंमें तथा ऐरावतक्षेत्र एक भागमें विभक्त है। ऐसे उत्तर संबन्धी ६३ भाग हैं। दोनोंको मिलानेसे १९० भाग जम्बूद्वीपके होते हैं।

सार लवणसमुद्रकी चौडाई दो लाख योजनकी है यह बात ऊपर कह दी गई है। उस लवणसमुद्रकी गोतीर्थके समान दोनों तटोंसे; नीचे अनुक्रमसे हानि होनेपर मूलभागमें उसका विस्तार दश हजार योजनका रह जाता है अर्थात् समुद्रके दोनों किनारोंसे क्रमसे जलके घटनेसे तथा किनारोंकी वृद्धि होनेसे, नीचे जलकी चौडाई दश हजार योजनकी है तथा दश हजार योजनका ही विस्तार जलके ऊपरके तलपर है। तथा एक हजार योजन गहरा है। भूमिके समतलभागसे इसका जल सोलह हजार योजनप्रमाण ऊंचा है। जौकी राशिके समान उठा हुआ है। इस रूपसे मृदंगके समान आकारवाला वह लवणसमुद्र समझ लेना चाहिये। (लवणसमुद्रकी गहराई दोनों तटोंके पास मक्खीके पंखोंके समान पतला जल है वहांसे क्रमसे गहराई बढती है सो पिचानबे अंगुल आगे जाकर एक अंगुलकी गहराई बढती है, पिचानबे हाथ गहराई बढने पर एक हाथ तथा पिचानबे योजन बढने पर एक योजन गहराई बढती है। इसीप्रकार पिचानबे हजार योजन आगे जाकर एक हजार योजन गहराई बढती है। जहां एक हजार योजन गहरा है वहां दश हजार योजनका विस्तार हो जाता है। जिसप्रकार—मृदंग, पखावज—लंबा ऊंचा होता है, एक भाग छोटा और बीचमें चौडा तथा नीचे ऊपर दोनों ओर क्रमसे घटता जाता है। तथा दोनों मुख समान होते हैं, उसीप्रकार लवणसमुद्र बीचमें दो लाख चौडा है नीचे क्रमसे घटता घटता हजार योजन गहरा, दश हजार योजन चौडा है, तथा ऊपर क्रमसे घटता घटता समतल भूमिसे सोलह हजार योजन ऊंचा है, वहां जलकी चौडाई दश हजार योजनकी है। पूर्णिमाके दिन तो समतलसे सोलह हजार योजन ऊंचा जल हो जाता है, उस समय दश हजार योजन चौडा जल फैल जाता है। तथा प्रतिपदाके दिनसे लेकर प्रतिदिन तीनसौ तेंतीस योजन और एक योजनके तृतीयभागप्रमाण

ऊंचाईसे घटता है, सो अमावस्याके दिन समतलसे जलकी ऊंचाई ग्यारह हजारप्रमाण रह जाती है। इससे अधिक नहीं घटता, वहां जलकी चौडाईका प्रमाण ६९३७५ योजनप्रमाण रहता है। तथा शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे बढती हुई एक पक्षमें पांच हजार योजन बढती है तब १६००० योजन जलकी ऊंचाई हो जाती है। वहां चौडाई दश हजार योजन है।

तन्मध्ये दिक्षु महापातालानि योजनशतसहस्रावगाहानि ॥ ४ ॥

लवण समुद्रके ठीक मध्यभागमें चारो दिशाओंमें समुद्रकी रत्नवेदिकासे पंचानवे हजार योजन प्रमाण तिरछे जाकर पृथ्वीमें विवर हैं। इन विवरोंके तल और पसवाडे वज्रमयी हैं। मृदंगके समान उन विवरोंका आकार हैं। प्रत्येक एक एक लाख योजन प्रमाण गहरा, मध्यभागमें एक एक योजन ही चौडा, तल और मूलभागमें दश दश हजार योजन विस्तृत हैं। इन विवरोंकी महापाताल संज्ञा है। वे कुल चार हैं और पाताल १ वडवामुख २ यूपकेसर ३ और कलंबुक ४ ये उनके नाम हैं।

इन चारो महापातालोंमेंसे पूर्व दिशामें पाताल, पश्चिम दिशामें वडवामुख, उत्तर दिशामें यूपकेसर और दक्षिण दिशामें कलंबुक है। इन महापातालोंमें प्रत्येकके तीन तीन भाग हैं उनमें एक एक त्रिभाग तेतीस हजार तीनसौ तेतीस योजन और एक योजनका तीसरा भाग कुछ अधिक है। उन महा पाताल विवरोंके नीचे त्रिभागमें पवन रहता है। मध्यके त्रिभागमें पवन और जल एवं ऊपरके त्रिभागमें एक मात्र जल है।

रत्नप्रभा पृथिवीके खरभागमें भवनवासी वात कुमार देव रहते हैं साथमें उनकी देवांगनाओंकी क्रीडा प्रारंभ होती है उससे पवन क्षुब्ध होजाता है उससे पातालोंका उन्मीलन निमीलन अर्थात् खुलना

बंद होना होता है उससे पवन और जलका उछलना और नीचे बैठना होता है इसके कारण मुखमें जहांपर जलकी चौडाई दश हजार योजन प्रमाण है वहां पर पचास योजन ऊंची जलकी वढवारी होती है। उसकी दोनो ओर समुद्रकी रत्नवेदिकापर्यंत दो कोश ऊंचा जल वढता है तथा जिससमय पातालका उन्मीलन वेग शांत होता है उस समय जल घट जाता है। चारो पाताल विवरोंमें आपसमें प्रत्येकका अंतर दो लाख सत्ताईस हजार एकसौ सत्तर योजन और कुछ अधिक तीन कोश प्रमाण है।

विदिक्षु क्षुद्रपातालानि दशयोजनसहस्रावगाहानि ॥ ५॥

उसी लवण समुद्रके मध्यभागमें चार क्षुद्र पाताल विवर हैं जो कि प्रत्येक दश हजार योजन गहरा मध्यभागमें दश दश हजार योजन ही चौडा एवं मुख और मूल भागमें एक एक हजार योजन चौडा है। क्षुद्र पाताल विवरोंमें भी प्रत्येकके तीन तीन भाग हैं। उनमें हर एक त्रिभाग तीन हजार तीनसौ तेतीस योजन और कुछ अधिक एक योजनका तीसरा भाग प्रमाण है। तीनों त्रिभागोंमें नीचेके त्रिभागमें पवन है। मध्यके त्रिभागमें पवन और जल है एवं ऊपरके त्रिभागमें एकमात्र जल है।

तदंतरेषु क्षुद्रपातालानां योजनसहस्रावगाहानां सहस्रं ॥ ६ ॥

उपर्युक्त दिशा और विदिशाओंमें रहनेवाले पातालोंके आठो अंतरोंमें हजारों क्षुद्र पाताल हैं जो कि एक हजार योजन गहरे, एक हजार योजन ही मध्यभागमें चौडे एवं मुख और मूलभागमें पांचसौ योजन चौडे हैं। इनमें भी हर एक पातालके तीन तीन भाग हैं और उनका वर्णन पहिलेके त्रिभागोंके समान है। ऊपर दिशाविदिशासंबंधी आठ अंतर कह आये हैं उनमें एक एक अंतरमें मुक्ताओंकी

१ दूसरी प्रतिमें—'सातसौ योजन, यह अर्थ लिखा है। 'हरिवंशपुराणमें एकसौ सत्तर योजन ही अर्थ माना है।

पंक्तिके समान अवस्थित क्षुद्र पाताल एकसौ पचीस १२५ हैं। अन्य भी बहुतसे पाताल विवर वहांपर हैं समस्त अंतरालोंके पाताल विवरोंकी संख्या सात हजार आठसौ अस्सी प्रमाण हैं।

दिक्षु वेलंधरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि ॥ ७ ॥

लवण समुद्रकी रत्नवेदिकासे तिरछी ओर वियालीस हजार योजन प्रमाण जानेपर वेलंधर नागाधिपतियोंके नगर हैं जो कि व्यालीस हजार योजन लंबे और उतने ही चौडे हैं। इन नगरोंमें वेलंधरनागोंके अधिपति रहते हैं जो कि एक एक पल्यके आयुवाले, दश दश धनुष ऊंचे और हर एक चार चार पट्टदेवियोंसे वेष्टित हैं। तथा इन नगरोंमें वेलंधरनाम जातिके देव भी निवास करते हैं।

समुद्रकी वेलाको धारण करनेवाले नागदेवोंका नाम वेलंधर नाग है। इन वेलंधर नागोंमें वियालीस हजार नाग लवण समुद्रकी अभ्यंतर वेलाको धारण करते हैं। बहत्तर हजार बाह्य वेलाको धारण करते हैं तथा अट्ठाईस हजार नाग कुमार जलके अग्रभागको धारण करते हैं। ये सब मिलकर वेलंधर नागकुमार देव एक लाख वियालीस हजार हैं।

द्वादश योजनसहस्रायामविष्कंभो गौतमद्वीपश्च ॥ ८ ॥

लवण समुद्रकी रत्नवेदिकाके तिरछी ओर बारह हजार योजन जाकर बारह योजन लंबा चौडा लवण समुद्रके अधिपति गौतम देवका गौतम द्वीप है। लवण समुद्रकी गहराई इसप्रकार है—

रत्नवेदिकासे पिचानवे प्रदेश जानेपर लवण समुद्र एक प्रदेश गहरा है। पिचानवे हाथोंकी बराबर जानेपर एक हाथ गहरा है। पिचानवे योजन प्रमाण जानेपर एक योजन प्रमाण गहरा है। पिचा-

नवेसौ योजनोंके जानेपर एकसौ योजन गहरा है। पिचानवे हजार योजनोंके जानेपर एक हजार योजन गहरा है।

जैसी वेला लवणोदधि समुद्रके भीतर है वैसी ही वाहिर है। विजय वैजयंत जयंत और अपराजित ये चार द्वार हैं। लवणोदधि समुद्रहीकी वेला होती है अन्य किसी समुद्रकी नहीं। लवण समुद्रमें ही पाताल विवर हैं अन्य समुद्रोंमें नहीं। लवण समुद्रको आदि लेकर स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत समस्त समुद्र एक हजार योजन गहरे हैं। द्वीप और समुद्रोंके अंत अंत भागोंमें दो दो वेदिका हैं। जो वेदिका द्वीपोंके अंतोंमें हैं वे द्वीपोंकी कही जाती हैं और जो समुद्रोंके अंतमें हैं वे समुद्रोंकी कहीं जाती हैं। लवण समुद्रका जल ऊपरको उठा हुआ है और शेष समुद्रोंका जल पसरा हुआ है। चार समुद्रोंका जल भिन्न २ रूप है, तीन समुद्रोंका जल जलस्वादरूप है वाकीके असंख्यात समुद्रोंका जल इक्षुरसके स्वादरूप है। लवण समुद्रके जलका रस नुनखरा है। वारुणी समुद्रके जलका रस वारुणी (मद्य) के रसका है। क्षीरोदधि समुद्रका जल दूधके रसका है एवं घृतोदधिका जल घीके रसके समान है। कालोदधि पुष्करोदधि और स्वयंभूरमण समुद्रका जल जलके रसका है इनके सिवाय शेष समस्त समुद्रोंका रस ईखके रसके समान है इसप्रकार चार समुद्रोंके भिन्न २ हैं। तीन के जलके रसके समान हैं एवं शेष समुद्रोंके रस ईखके रसके समान हैं।

लवणोदधि कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्रमें मत्स्य कछुए आदि जलचर जीवोंका निवास स्थान है। इनके सिवा अन्य किसी भी समुद्रमें कोई भी जलचर जीव नहीं रहता। लवण समुद्रमें जहां पर नदी आकर मिली है उस नदीमुखमें नौ योजनके शरीरके धारक मत्स्य हैं एवं भीतर समुद्रमें

अठारह योजनप्रमाण शरीरके धारक मत्स्य हैं । कालोदधि समुद्रके नदीमुखमें अठारह योजनप्रमाण शरीरके धारक मत्स्य हैं और समुद्रके भीतर छव्वीस योजनप्रमाण शरीरके धारक मत्स्य हैं । स्वयंभूरमण समुद्रके नदीमुखमें पांचसौ योजनके शरीरके धारक मत्स्य हैं और समुद्रके भीतर एक हजार योजनके शरीरके मत्स्य हैं ॥ ३२ ॥

क्षेत्र कुलाचल सरोवर और कमल आदिका जो विधान जंबूद्वीपके भीतर कहा है उससे दूना दूना धातकीखंडमें है यह बात प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

द्विर्धातकीखंडे ॥ ३३ ॥

धातकीखंड नामक दूसरे द्वीपमें भरतादि क्षेत्र दो दो हैं। यह धातकीखंड द्वीप लवणसमुद्रको वेढे हुए है और चार लाख योजन चौडा है। शंका—

द्रव्याभ्यावृत्तौ सुजभाव इति चेन्न क्रियाध्याहाराद् द्विस्तावानिति यथा ॥ १ ॥

जहांपर अभ्यावृत्ति—दो बार आवृत्ति अर्थ रहता है वहींपर सुच् प्रत्यय होता है तथा जहांपर क्रियाका संबंध रहता है वहींपर सुच् प्रत्यय किया जाता है। यहांपर भरत आदि द्रव्य हैं। व्याकरणमें प्रकृति प्रत्यय लिंग संख्या विशिष्टको द्रव्य कहा जाता है भरतादि शब्द लिंग संख्याविशिष्ट होनेसे द्रव्यवाचक शब्द हैं, इन्हीं द्रव्यवाची शब्दोंकी द्वि शब्दमें अनुवृत्ति है क्रियाका संबंध यहांपर नहीं इसलिए यहां सुच् प्रत्ययका विधान नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं । क्योंकि जिसप्रकार 'द्विस्तावानयं

१—लवणोदधि समुद्रका विशेष वर्णन हरिवंशपुराणसे समझ लेना चाहिये अत्यन्त विस्तृत होनेसे यहां हमने उसका उल्लेख नहीं किया है।

प्रासादः' (दूना यह प्रासाद) इस वाक्यमें 'मीयते' (मालूम पडता है) क्रियाका अध्याहार है और उस अध्याहार की हुई क्रियाकी अपेक्षा सुच् प्रत्ययका विधान है उसीप्रकार धातकीखंड द्वीपमें 'भरतादयो द्विः संख्यायंते' भरत आदि दूने दूने गिने जाते हैं यहांपर भी गिनना रूप क्रियाका अध्याहार है इसलिए इस अध्याहृत क्रियाकी अपेक्षा सुच् प्रत्ययका होना अबाधित है।

यहांपर गिनना दो प्रकारसे लेना चाहिये एक स्वरूपभेदसे और दूसरा चौडाई आदिके भेदसे। धातकीखंड द्वीपमें दो भरत हैं दो हिमवान् हैं यह तो स्वरूपभेदसे गणना है और जंबूद्वीपमें जो हिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाई है उससे दूनी धातकीखंड द्वीपमें है, यह विष्कंभ आदिकी अपेक्षा गणना है। धातकीखंड द्वीपमें भरतक्षेत्रकी चौडाई क्या है? वार्तिककार इस विषयको स्पष्ट करते हैं—

षट्षष्टिशतानि चतुर्दशानि योजनानां धातकीखंडभरताभ्यंतरविष्कंभः एकान्नत्रिंशच्च भागशतं ॥ २ ॥

छह हजार छहसौ चौदह योजन और एक योजनके दोसौ बारह भागोंमें एकसौ उनतीस भाग प्रमाण तो धातकीखंड द्वीपमें भरतक्षेत्रकी अभ्यंतर चौडाई है। तथा—

सैकाशीतिपंचशताधिकद्वादशसहस्राणि मध्यविष्कंभः षट्त्रिंशच्च भागाः ॥ ३ ॥

बारह हजार पांचसौ इक्यासी योजन और एक योजनके दोसौ बारह भागोंमें छत्तीस भागप्रमाण धातकीखंड द्वीपमें भरतक्षेत्रके मध्यभागकी चौडाई है। तथा—

सप्तचत्वारिंशत्पंचशताष्टादशसहस्राणि बाह्यविष्कंभः पंचपंचाशच्च भागशतं ॥ ४ ॥

धातकीखंड द्वीपमें भरतक्षेत्रका बाह्य विस्तार अठारह हजार पांचसौ सैंतालीस योजन और एक योजनके दोसौ बारह भागोंमें एकसौ पचपन भागप्रमाण है।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आविदेहात् ॥ ५ ॥

क्षेत्रसे क्षेत्रका विदेहक्षेत्रपर्यंत चौगुना विस्तार समझ लेना चाहिये। अर्थात्—भरतक्षेत्रकी अपेक्षा हैमवतक्षेत्रका विस्तार चौगुना है। हैमवतकी अपेक्षा हरिवर्षका चौगुना है। हरिवर्षकी अपेक्षा विदेह-क्षेत्रका चौगुना विस्तार है। तथा भरतक्षेत्रके समान ऐरावतक्षेत्रका विस्तार है। ऐरावतक्षेत्रसे चौगुना विस्तार हैरण्यवतक्षेत्रका है और हैरण्यवतसे चौगुना विस्तार रम्यकक्षेत्रका है।

धातकीखंडके वलयभागकी चौडाई चार लाख योजनप्रमाण है। उसकी परिधि इकतालीस लाख दश हजार नवसौ और कुछ कम इकसठ योजनप्रमाण है। धातकीखंड द्वीपमें पर्वतोंद्वारा रुका क्षेत्र एक लाख अठहत्तर हजार आठसौ चालीस योजनप्रमाण है। उसकी परिधिको कम कर जो अवशिष्ट रहे उसमें दोसौ बारहका भाग देने पर जो लब्ध हो उतना ही प्रमाण भरतक्षेत्रकी (बाह्य) चौडाईका है।

वर्षाणां वर्षधराणां सरितां वृत्तवेदाढ्यानां ह्रदानामन्येषां च तान्येवावगहादीनि ॥ ६ ॥

वर्षधर शब्दका अर्थ हिमवान महाहिमवान आदि पर्वत है। धातकीखंड द्वीपमें उनकी ऊंचाई और गहराई तो जंबूद्वीपके ही समान है। विस्तार दूना है। चार वृत्तवेदाढ्य हैं उनकी ऊंचाई और गहराई जंबूद्वीपमें जो कही गई है वही है और चौडाई दो हजार योजनप्रमाण है। दो यमकाद्री हैं उनकी ऊंचाई और गहराई जो पहिले वर्णन कर दी गई है वही है और चौडाई मूलमें दो हजार योजन, मध्यमें पंद्रहसौ योजन और ऊपर एक हजार योजनप्रमाण है। कांचन पर्वतोंकी ऊंचाई और गहराई जो ऊपर कही गई है वही धातकीखंडमें है और चौडाई दूनी दूनी है। पद्म आदि छहो सरोवर दूनी दूनी लंबाई चौडाई और गहराईके धारक हैं। द्वीप और कमल दूने दूने लंबे चौडे और गहरे हैं।

१—हरिवंशपुराणमें ब्यालीस पाठ है।

भरतैरावतविभाजिनाविष्वाकारागिरी ॥ ७ ॥

भरत और ऐरावत दोनों क्षेत्रोंके विभाग करनेवाले दो इष्वाकार पर्वत हैं। ये अपने दोनों अंतोंसे कालोदधि और लवणोदधिका स्पर्श करनेवाले हैं। एकसौ योजन गहरे हैं। चारसौ योजनप्रमाण ऊंचे हैं। नीचे ऊपर एक हजार योजन चौडे हैं और सुवर्णमयी हैं।

इस धातकीखंड द्वीपमें दो मेरुपर्वत हैं। ये मेरुपर्वत पूर्व और पश्चिम भागमें हैं। एक हजार योजन प्रमाण नीचे जमीनमें गहरे हैं। मूलभागमें पिचानवेसौ योजन चौडे हैं। पृथ्वीतलपर चौरानवेसौ योजनप्रमाण चौडे हैं। चौरासी हजार योजन ऊंचे हैं। ऊपरतलमें एक हजार योजनप्रमाण विस्तृत हैं एवं पहिले जो मेरुपर्वतके भूतलका प्रमाण बतला आए हैं उतने ही प्रमाणके धारक हैं।

भूमिके समतलभागसे पांचसौ योजनकी ऊंचाई पर नंदन वन है जो कि पांचसौ योजन प्रमाण चौडा है। वहांसे पचपन हजार पांचसौ योजनकी ऊंचाई पर सौमनस वन है और वह पांचसौ योजन प्रमाण चौडा है। तथा उससे अट्ठाईस हजार योजनकी ऊंचाई पर पांडुक वन है और वह चारसौ चौरानवे योजन चौडा है।❀

दोनों मेरुपर्वतोंपर दश प्रदेश चढने पर एक प्रदेशकी वृद्धि है अर्थात् यदि दश प्रदेश ऊपर चढा जायगा तो एक प्रदेशकी वृद्धि होगी और यदि नीचेकी ओर उतरा जायगा तो दश प्रदेश प्रमाण

१ यह पाठ परिशोधित राजवार्तिकके आधारसे लिखा गया है मूल पुस्तकमें यह पाठ नहीं और न स्वर्गीय पं० पन्नालालजी दूनीवालोंने लिखा है। ❀ धातकी खंड द्वीपमें भद्रशाल वनका विस्तार एक हजार दोसौ पचीस योजन और इसकी लम्बाई एक लाख सात हजार आठसौ उनासी योजन प्रमाण है। हरिवंशपुराण।

नीचे उतरने पर एक प्रदेशकी हानि होगी । जंबूद्वीपमें जिसजगह जंबूवृक्ष है धातकीखंड द्वीपमें उसीजगह धातकी वृक्ष है । जंबूवृक्षके परिवारका जैसा वर्णन कर आए हैं उसीप्रकार धातकी वृक्षके परिवारवृक्षोंका भी समझ लेना चाहिये । इस धातकी वृक्षपर धातकीखंड द्वीपका अधिपति रहता है इसलिये द्वीपका नाम धातकीखंड द्वीप पडा है। धातकीखंड द्वीपमें क्षेत्र चक्रेके अरोंके मध्य भागोंके समान हैं और पर्वत चक्रेके अरोंके समान हैं । ये क्षेत्र और पर्वत अपने दोनों अंतोंसे लवण समुद्र और कालोदधि समुद्रोंका स्पर्श करनेवाले हैं।

इस धातकी खंड द्वीपको चारों ओरसे वेढनेवाला कालोद समुद्र है । यह समुद्र टांकीसे उकीले हुयेके समान यथावस्थित है। उसके वलयकी चौडाई आठ लाख योजन प्रमाण है। उसकी परिधि इक्यानवे लाख सत्तर हजार छहसौ एवं कुछ अधिक पांच योजन प्रमाण है।

विशेष—जिसप्रकार लवणसमुद्रको धातकीखंड द्वीप घेरे है उसीप्रकार धातकीखंड द्वीपको कालोद समुद्र घेरे है। धातकीखंड द्वीपसे कालोद समुद्रका विस्तार दूना अर्थात् आठ लाख योजनका है। इस कालोद समुद्रकी परिधि इक्यानवे लाख सत्तर हजार छहसौ पांच योजन कुछ अधिक है । कालोद समुद्रमें एक एक लाख योजनके जंबूद्वीपके समान छहसौ बहत्तर खंड हैं । कालोद समुद्रका समस्त फैलाव (क्षेत्रफल) पांच लाख इकतीस हजार दोसौ बासठ करोड चौसठ लाख उनहत्तर हजार अस्सी योजनका है। कालोद समुद्रकी पूर्व दिशामें जल सरीखे मुखवाले कुभोगभूमियां मनुष्य रहते हैं। दक्षिण दिशामें घोडेके कानके समान कानवाले मनुष्य रहते हैं । पश्चिम दिशामें पक्षीके मुखवाले और उत्तर दिशामें हाथीकेसे कानवाले मनुष्य रहते हैं । कालोद समुद्रकी विदिशाओंमें शूकरके समान मुखवाले

मनुष्य रहते हैं। जलमुखवाले मनुष्योंकी दक्षिण उत्तर दोनों ओर ऊंटकेसे कानवाले और गायकेसे कानवाले मनुष्य रहते हैं। हाथीकेसे कानवाले और घोडेकेसे कानवाले मनुष्योंकी दोनों ओर बिल्लीके मुखवाले मनुष्य रहते हैं एवं पक्षीसरीखे मुखवाले मनुष्योंके आसपास हाथीसरीखे मुखवाले लंबे लंबे कानोंके धारक मनुष्य रहते हैं।

कालोद समुद्रके पास विजयार्ध पर्वतकी दोनों श्रेणियोंमें शिशुमार (सूंस)केसे मुखवाले और मगर सरीखे मुखवाले मनुष्य रहते हैं। दोनों हिमवान पर्वतके अग्रभागोंमें भेडियाके मुखवाले और चीतेके मुखवाले मनुष्य रहते हैं। दोनों शिखरी पर्वतोंके अग्रभागोंमें शृगाल और भालू सरीखे मुखवाले मनुष्य रहते हैं। दोनों विजयार्धोंके अग्रभागोंमें झाडी और चीते सरीखे मुखवाले मनुष्य रहते हैं। बाह्य अभ्यंतर जातिके मध्यमें भी चीते सरीखे मुखवाले मनुष्य रहते हैं। इन समस्त कुभोग भूमियोंका आयु वर्ण गृह और आहार लवण समुद्रके कुभोगभूमियोंके समान समझना चाहिये जहांपर समुद्रका तट छिन्न भिन्न है वहांपर समस्त द्वीप हजार हजार योजन गहरे हैं। कालोद समुद्रमें कुछ अधिक पांचसौ अंतर द्वीप और इनका विस्तार लवण समुद्रके अंतर द्वीपोंसे दूना है। कालोद समुद्रमें कुभोगभूमियोंके रहने के स्थान चौवीस द्वीप तो भीतर हैं और चौवीस ही बाहिर हैं एवं लवणोद और कालोद दोनोंके मिलकर समस्त अंतर द्वीप छयानवे हैं। (हरिवंशपुराण श्लोक ५६० से ५७३ सर्ग ५वां)॥ ३३॥

कालोद समुद्रको चारो ओर वेडनेवाला पुष्कर द्वीप है। और वह सोलह लाख योजन प्रमाण चौडा है। जिसप्रकार धातकीखंड द्वीपमें द्वीप समुद्रके द्विगुणपनेका निश्चय कर आये हैं उसीप्रकार धातकी खंड के समान ही पुष्करार्धमें क्षेत्र आदिकी द्विगुणताका विशेष प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

पुष्करार्धे च ॥ ३४ ॥

पुष्करद्वीपके आधे भागमें भी भरतादिक्षेत्र जंबूद्वीपसे दूने हैं। वार्तिककार सूत्रमेंके 'च' शब्दका प्रयोजन बतलाते हैं—

संख्याभ्यावृत्त्यनुवर्तनार्थश्चशब्दः ॥ १ ॥

'द्विर्धातकीखंडे' इस सूत्रमें 'द्विः' यह संख्याकी अभ्यावृत्ति कह आए हैं। उसकी अनुवृत्तिकेलिए 'पुष्करार्धे च' इस सूत्रमें चशब्दका उल्लेख किया गया है। यदि कदाचित् यहां यह प्रश्न किया जाय कि—यहांपर जंबूद्वीपके भरतक्षेत्र आदिकी द्विरावृत्ति की जाती है कि धातकीखंडके भरत आदिकी ? उसका समाधान यह है कि यहांपर जंबूद्वीपके भरत आदिकी ही द्विरावृत्ति की जाती है। शंका—

पुष्करार्धसे बिलकुल समीप पूर्वमें धातकीखंडका ही वर्णन किया गया है इसलिए उसीके भरत आदिकी पुष्करार्धमें द्विगुणता ली जा सकती है। जंबूद्वीपका वर्णन व्यवहित—दूर है इसलिए उसके भरत आदिकी द्विगुणता नहीं ली जा सकती अतः धातकीखंडके भरत आदिकी ही अपेक्षा पुष्करार्धमें भरत आदिकी द्विगुणता न्यायप्राप्त है ? सो ठीक नहीं। विशेषणका संबंध वक्ताकी इच्छाके अनुसार होता है इसलिए यहांपर यही समझ लेना चाहिये कि धातकीखंडद्वीपमें जो हिमवान आदिकी दूनी चौडाई है पुष्करार्धमें भी वही द्विगुण चौडाई है अर्थात् दोनों जगह समानता है किंतु यह बात नहीं कि धातकीखंडके हिमवान आदिकी अपेक्षा पुष्करार्धके हिमवान आदिकी दूनी चौडाई है। जो क्षेत्र पर्वत आदिके नाम धातकीखंडद्वीपमें हैं वे ही पुष्करार्धमें समझ लेने चाहिये किंतु यह बात नहीं कि धातकीखंडके क्षेत्र आदिके दूसरे दूसरे नाम हों और पुष्करार्धके क्षेत्रके दूसरे दूसरे नाम हों इसरीतिसे

जैसी धातकीखंडमें रचना है वैसी ही आधे पुष्करद्वीपमें है यह बात निर्बाधरूपसे सिद्ध हो गई॥ वार्तिक-कार भरतक्षेत्रके विस्तारका उलेख करते हैं—

एकान्नाशीत्युत्तरपंचशताधिकैकचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि भरताभ्यंतरविष्कंभः स त्रिसप्ततिभागशतं च ॥ २॥

पुष्करार्धद्वीपके भरतक्षेत्रकी अभ्यंतर चौडाई इकतालीस हजार पांचसौ उनासी योजन और एक योजनके दोसौ बारह भागोंमें एकसौ तिहत्तर भागप्रमाण है। तथा—

द्वादशपंचशतोत्तरत्रिपंचाशद्योजनसहस्राणि मध्यविष्कंभो नवनवत्याधिकं च भागशतं॥ ३॥

मध्यभागकी चौडाई त्रेपन हजार पांचसौ बारह योजन और एक योजनके दोसौ बारह भागोंमें एकसौ निन्यानवे भागप्रमाण है। तथा—

द्वाचत्वारिंशच्चतुःशतोत्तरपंचषष्टिसहस्राणि बाह्यविष्कंभस्त्रयोदश च भागाः॥ ४॥

पुष्करार्धक्षेत्रके भरतक्षेत्रकी बाह्य चौडाई पैंसठ हजार चारसौ ब्यालीस योजन और एक योजनके दोसौ बारह भागोंमें तेरह भागप्रमाण है।

वर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणविस्तार आविदेहात् द्रष्टव्यः॥ ५॥

भरतक्षेत्रसे चौगुणा विस्तार हैमवतक्षेत्रका है। हैमवतसे चौगुणा विस्तार हरिवर्षका है। हरिवर्षसे चौगुणा विस्तार विदेहक्षेत्रका है। इसप्रकार विदेहक्षेत्रपर्यंत क्षेत्रसे क्षेत्रका विस्तार चौगुणा समझ लेना चाहिये। तथा भरतक्षेत्रके समान ऐरावतक्षेत्रका विस्तार है। ऐरावतसे चौगुना विस्तार हैरण्यवतक्षेत्रका है एवं हैरण्यवतसे चौगुना विस्तार रम्यकक्षेत्रका है।

कालोद समुद्रके समीपमें पुष्करार्धद्वीपकी अभ्यंतर परिधि एक करोड बियालीस लाख तीस हजार

दोसौ उनचास योजन कुछ अधिक है। तथा पुष्करार्धद्वीपमें पर्वतोंसे रुद्ध क्षेत्र तीन लाख पचपन हजार छहसौ चौरासी योजन प्रमाण है। पर्वतोंसे रुद्ध क्षेत्रोंका प्रमाण परिधिके प्रमाणमेंसे घटाने पर जो अवशिष्ट बचा उसमें दोसौ बारहका भाग देने पर जो प्रमाण रहे उतनी पुष्करार्धद्वीपके भरतकी चौडाई है।

जंबूद्वीपके वर्णन करते समय कुलाचल विजयार्धपर्वत और वृत्तवेदाढ्य आदिकी जो ऊंचाई गहराई कही है वही पुष्करार्धके कुलाचल आदिकी समझ लेनी चाहिये। तथा धातकीखंडद्वीपमें जो उनका दूना विस्तार कह आए हैं वही पुष्करार्धमें है। दो इष्वाकार और दो मेरुओंका जो परिमाण कहा गया है वैसा ही यहां समझ लेना चाहिये। जंबूद्वीपमें जिसप्रकार जंबूवृक्ष है उसीप्रकार पुष्करद्वीपमें पुष्करवृक्ष है। इस पुष्करवृक्षके परिवार वृक्षोंका कुल वर्णन जंबूवृक्षके परिवारवृक्षोंके समान समझ लेना चाहिए। पुष्करद्वीपका आधिपति देव इस पुष्करवृक्ष पर रहता है इसलिए ही द्वीपका पुष्कर यह रूढ नाम है। पुष्करार्ध नाम क्यों पडा वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात्पुष्करार्धसंज्ञा ॥ ६ ॥

पुष्कर द्वीपके ठीक मध्यभागमें गोलाकार एक मानुषोत्तर नामका पर्वत है उसने पुष्कर द्वीपको आधा आधा कर दिया है इसलिये पूर्व अर्धभागको यहां पुष्करार्ध कहा गया है। वह मानुषोत्तर पर्वत सत्रहसौ इक्कीस योजन ऊंचा है। चारसौ तीस योजन और एक कोश गहरा है। इसकी मूलभागमें चौडाई बाईस हजार प्रमाण है। मध्यभागमें सातसौ तेइस योजन प्रमाण है और उपरिम तलपर चारसौ चौवीस योजन प्रमाण है। तथा नीचेको मुखकर बैठे हुए सिंहकी आकृतिके समान वा अर्ध यवोंकी राशिके समान यह मानुषोत्तर पर्वत है।

इस मानुषोत्तर पर्वतकी चारो दिशाओंमें चार भगवान अर्हंत जिनेंद्रके मंदिर हैं जो कि पचास योजनके लंबे, पचीस योजनके चौडे और साढे सैंतीस योजनके ऊंचे हैं तथा आठ योजन उंचे, चार योजन प्रमाण ही प्रवेश मार्गके धारक दरवाजोंसे शोभायमान हैं और जिनमंदिरोंका जैसा वर्णन होना चाहिये वैसे ही वर्णनीय हैं। पूर्व आदि दिशाओंमें प्रदक्षिणारूप वैडूर्यकूट १ अश्मगर्भकूट २ सौगंधिककूट ३ रुचककूट ४ लोहिताक्षकूट ५ अंजनककूट ६ अंजनमूलकूट ७ कनककूट ८ रजतकूट ९ स्फटिककूट १० अंककूट ११ प्रबालकूट १२ वज्रकूट १३ और तपनीयकूट १४ ये चौदहकूट हैं इनकी ऊंचाई पांचसौ योजन प्रमाण है। चौडाई मूलभागमें पांचसौ योजन, मध्यभागमें तीनसौ पिचहत्तर योजन और उपरिम भागमें ढाईसौ योजन प्रमाण है।

चौदहों कूटोंमें चारो दिशाओंमें तीन तीन कूट हैं। पूर्व–उत्तर दिशामें एक और पूर्व–दक्षिण दिशामें एक कूट है। इन कूटोंमें एक पल्यकी आयुके धारक यशस्वान् आदि सुपर्णकुमारोंके राजा निवास करते हैं। उनमें पूर्वदिशाके वैडूर्य कूटमें यशस्वान् रहता है। अश्मगर्भमें यशस्कांत और सौगंधिकमें यशोधर रहता है। दक्षिण दिशाके रुचक कूटमें नंदन, लोहिताक्षमें नंदोत्तर और अंजनकमें अशनिघोष रहता है। पश्चिम दिशाके अंजनमूल कूटमें सिद्धार्थ, कनक कूटमें क्रमण और रजतमें मानुष रहता है। उत्तरके स्फटिक कूटमें सुदर्शन, अंक कूटमें अमोघ और प्रबाल कूटमें सुप्रबुद्ध रहता है। पूर्व–उत्तर दिशाके वज्रकूटमें हनुमान और पूर्व–दक्षिण दिशाके तपनीय कूटमें स्वाति नामका सुपर्णकुमार देवोंका स्वामी रहता है।

चारो विदिशाओंमें रत्नकूट १ सर्वरत्नकूट २ वेलंबकूट ३ और प्रभंजनकूट ४ ये चारकूट हैं। उनमें

निषधाचलको स्पर्श करनेवाले पूर्व-दक्षिण दिशाके रत्नकूटमें नागकुमार देवोंका स्वामी वेणुदेव निवास करता है। नीलाचलको स्पर्श करनेवाले पूर्व-उत्तरके सर्वरत्न कूटमें सुपर्णकुमार देवोंका स्वामी वेणुनीत देव निवास करता है। निषधाचलसे स्पृष्ट भागके धारक पश्चिम-दक्षिणके वेलंब कूटमें पवन कुमार देवोंका स्वामी वेलंब देव रहता है एवं नीलाचलसे स्पृष्ट भागवाले पश्चिम-उत्तरकोणके प्रभंजन कूटमें प्रभंजन नामका पवन कुमारोंका स्वामी रहता है ॥ ३४ ॥

जंबूद्वीपके पर्वत सरोवर आदिका दूनापन पुष्करार्ध-आधे पुष्कर द्वीपमें ही क्यों कहा जाता है समस्त पुष्करद्वीपमें क्यों नहीं? इसका स्पष्टीकरण सूत्रकार करते हैं-

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ-मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले ढाई द्वीपमें मनुष्य हैं।

मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले पहिले ही मनुष्य हैं बाहिर नहीं हैं इसलिए ऊपर जो क्षेत्रोंका विभाग कह आए हैं वह मानुषोत्तर पर्वतसे आगे नहीं है। अथवा जहांपर इंद्रियोंके भेदोंका उल्लेख किया गया है वहांपर 'कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि' यह सूत्र कहा गया था परंतु वहांपर यह नहीं मालूम हुआ था कि-उन मनुष्योंके रहनेका स्थान कोनसा है? इसलिए मनुष्योंके आधार विशेषके प्रतिपादनकेलिये यह कहा गया है कि-जंबूद्वीपसे लेकर मानुषोत्तर पर्वतके पहिले पहिले मनुष्य हैं उससे बाहिर नहीं।

इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वतका व्याख्यान कर दिया गया। इस मानुषोत्तर पर्वतसे आगे उपपाद जन्मवाले देवगण और समुद्घातवाले मनुष्योंको छोड कर विद्याधर और ऋद्धिधारी भी मनुष्य नहीं

जा सकते इसलिए मानुषोत्तर अर्थात् मनुष्योंसे उत्तर–इसके आगे मनुष्य नहीं यह इसका अन्वर्थ नाम है।

इसरीतिसे दूने दूने विस्तारवाले द्वीप और समुद्रोंके वीत जानेपर आठवां नंदीश्वर द्वीप है। इसकी चौडाई एकसौ त्रेसठ करोड चौरासी लाख योजन है। उसकी परिधि दो हजार बहत्तर करोड, तेतीस लाख चौवन हजार एकसौ नव्वे योजन एक कोश अधिक है। उस नंदीश्वर पर्वतके ठीक मध्य-भागोंमें चारों दिशाओंमें चार अंजन पर्वत हैं। एक हजार योजन प्रमाण उनकी गहराई है चौरासी हजार योजन प्रमाण उनकी ऊंचाई है तथा मूल मध्य और अग्रभागमें ऊंचाईके समान चौरासी चौरासी हजार योजन प्रमाण वे चौडे हैं और ढोलके आकार हैं। इन अंजन पर्वतोंकी चारों दिशाओंमें तिरछी ओर एक लाख योजनके बाद हर एक अंजनगिरिकी चार चार बावडियां हैं।

इनमें पूर्व दिशाके अंजनगिरिसंबंधी नंदा १ नंदावती २ नदोत्तरा ३ और नंदिघोषा ४ ये चार बावडियां हैं। ये चारों ही बावडियां एक एक हजार योजन गहरीं हैं एक एक लाख योजन प्रमाण लम्बी चौडी हैं। चौकोंण हैं। मत्स्य कछुआ आदि जलचर जीवोंसे रहित हैं। पद्म उत्पल आदि कमल फूलोंसे व्याप्त, स्फटिक मणिके समान स्वच्छ गंभीर नीरसे परिपूर्ण हैं। अंजनागिरिकी पूर्व दिशामें नंदा वापी है और वह सौधर्म इंद्रकी है। दक्षिणदिशामें नंदावती बावडी है और वह ईशान इन्द्रकी है। पश्चिम दिशामें नंदोत्तरा वापी है और वह चमर इन्द्रकी है एवं उत्तरादिशामें नंदिघोषा वापी है और उसका स्वामी वैरो-चन देव है।

दक्षिण दिशासंबंधी अंजनगिरिकी विजया वैजयंती जयंती और अपराजिता ये चार वापियां

हैं। इन वापियोंकी गहराई लम्बाई चौडाई आदिका कुल वर्णन पूर्वदिशासंबंधी अंजनगिरिकी वापियोंके समान समझ लेना चाहिये तथा इन वापियोंके स्वामी सौधर्म इन्द्रके लोकपाल हैं। उनमें दक्षिण-दिशासंबंधी अंजनगिरिकी पूर्वदिशामें विजया नामकी वापी है और वह वरुण लोकपालकी है। दक्षिण दिशामें वैजयंती वापी है और उसका स्वामी यमलोकपाल है। पश्चिमदिशामें जयंती वापी है वह सोम लोकपालकी है और उत्तरदिशामें अपराजिता नामकी वापी है और उसका स्वामी वैश्रवण देव है।

पश्चिम दिशासंबंधी अंजनगिरिकी अशोका सुप्रबुद्धा कुमुदा और पुण्डरीकिणी ये चार वापियां हैं। इनकी गहराई लम्बाई चौडाई आदिका वर्णन ऊपरकी वापियोंके ही समान है। उनमें पूर्वदिशामें अशोका नामकी वापी है और वह वेणुदेवकी है। दाक्षिणदिशामें सुप्रबुद्धा (सुप्रसिद्धा) है और उसका स्वामी वेणुताल देव है। पश्चिमदिशामें कुमुदा नामकी वापी है और वह वरुणकी है और उत्तरदिशामें पुण्डरीकिणी नामकी वापी है और उसका स्वामी भूतानन्द है।

उत्तरदिशाके अंजनगिरिकी प्रभंकरा सुमना आनंदा और सुदर्शना ये चार वापियां हैं। पहिले जो वापियोंके प्रमाणका वर्णन कर आये हैं वह प्रमाण इन वापियोंका भी समझ लेना चाहिये एवं ये वापियां ऐशान इन्द्रके लोकपालोंकी हैं। उनमें पूर्वदिशामें प्रभंकरा नामकी वापी है और वह वरुण लोक-पालकी है। दाक्षिणदिशामें सुमना नामकी वापी है और उसका स्वामी यमलोकपाल है। पश्चिमदिशामें आनन्दा नाम वापी है और वह सोमलोकपालकी है और उत्तरदिशामें सुदर्शना नामकी वापी है और उसका स्वामी वैश्रवण लोकपाल है।

उपर्युक्त सोलहों वापियोंका अभ्यंतर फासला पैंसठ हजार पांचसौ पैंतालीस योजनका है। मध्यका

फासला एक लाख चालीस हजार छहसौ दो योजनका है एवं बाह्य अन्तर दो लाख तेईस हजार छहसौ इकसठि योजनका है । उन सोलहों वापियोंके मध्यभागमें एक हजार योजन प्रमाण गहरे, मूल मध्य और अग्रभागमें दश दश हजार योजन प्रमाण लम्बे चौडे, दश दश हजार योजन प्रमाण ही ऊंचे, ढोलके आकार और सुवर्णमयी सोलह दधिमुख नामके धारक उत्तम पर्वत हैं। इन पर्वतोंकी शिखरें रूपा और सुवर्णमयी हैं इसलिये इनका दधिमुख नाम अन्वर्थ है।

उपर्युक्त वापियोंके चारों ओर चारो दिशावोंमें चार वन हैं। उनके अशोक सप्तवर्ण चम्पक और आम्र ये नाम हैं। बावडियोंके समान लम्बे और उनकी लंबाईके प्रमाणसे आधे चौडे हैं। इन वनोंमें—

पूर्वेणाशोकवनं दक्षिणतः सप्तपर्णवनमाहुः।
अपरेण चंपकवनमुत्तरतश्चूतवृक्षवनं ॥ १ ॥

अर्थात्–पूर्वदिशामें अशोकवन है। दक्षिणादिशामें सप्तपर्णवन, पश्चिमदिशामें चंपकवन और उत्तर दिशामें आम्रवन है। उपर्युक्त प्रत्येक वापीके कोनोंमें चार चार रतिकर नामके पर्वत हैं। ये पर्वत ढाई ढाईसौ योजन जमीनमें गहरे हैं। एक एक हजार योजनप्रमाण ऊंचे, मूल मध्य और अग्रभागमें एक एक हजार योजन ही लंबे चौडे ढोलके आकार और सुवर्णमयी हैं। ये सब मिलकर रतिकर पर्वत चौंसठ हैं।

बत्तीस रतिकर वापियोंके अभ्यंतर कोनोंमें और बत्तीस ही बाह्य कोनोंमें हैं। उनमें जो अभ्यंतर कोनोंमें बत्तीस रतिकर हैं उनमें देवोंके क्रीडास्थान बने हुए हैं उनसे वे अत्यंत मनोहर जान पडते हैं एवं बाह्य कोनोंमें रहनेवाले बत्तीस रतिकर, चार अंजनगिरि और सोलह दधिमुख इसप्रकार बावन

पर्वतों पर ठीक मध्यभागोंमें बावन चैत्यालय हैं जो कि पूर्वदिशाकी ओर मुखके धारक हैं। सो योजन लंबे, पचास योजन चौडे और पिचहत्तर योजन ऊंचे हैं तथा आठ योजनके ऊंचे, चार योजनप्रमाण चौडे और चार योजनप्रमाण ही प्रवेशमार्गके धारक पूर्व उत्तर और दक्षिणकी ओरके दरवाजोंसे भूषित हैं। जिनमंदिरोंका जैसा वर्णन होना चाहिये उस वर्णनसे संयुक्त हैं एवं चातुर्मासिक अर्थात् फाल्गुन आषाढ और कार्तिकके अंतके आठ दिन अष्टाह्निक पर्वमें बडी भारी महिमासे व्याप्त रहते हैं।

उपर्युक्त बावडियोंके चौसठ वनखंडोंके ठीक मध्यभागोंमें चौसठ महल बने हुए हैं। ये समस्त महल बासठ बासठ योजन ऊंचे, इकतीस इकतीस योजन लंबे एवं इकतीस इकतीस योजनप्रमाण ही चौडे हैं। इन महलोंके द्वारोंकी ऊंचाई आठ आठ योजन, और चौडाई चार चार योजन प्रमाण है। इन महलोंमें अपने अपने वनखंडोंके नामोंके धारक अशोकवर अवतंस आदि देव निवास करते हैं जो कि एक पल्यकी आयुके धारक हैं और दश दश धनुष ऊंचे हैं।

इसीप्रकार दूने दूने विस्तारवाले द्वीप और समुद्रोंके बाद ग्यारहवां कुंडलवर द्वीप है। इस कुंडलवर द्वीपके ठीक मध्यभागमें गोलाकार और अखंड यवोंकी राशिके समान कुंडल नामका पर्वत है। यह कुंडल पर्वत एक हजार योजन प्रमाण जमीनमें गहरा है। ब्यालीस हजार योजन प्रमाण ऊंचा है। इसका मूलभागमें विस्तार दश हजार बाईस योजनका है। मध्यभागमें सात हजार तेईस योजन है और ऊपरके भागमें चार हजार चौवीस योजन प्रमाण है।

इस कुंडल पर्वतके ऊपर पूर्व आदि दिशाओंमें वज्र १ वज्रप्रभ २ कनक ३ कनकप्रभ ४ रजत ५

१—दूसरी प्रतिमें—दश हजार बत्तीस योजन प्रमाण है।

रजतप्रभ ६ सुप्रभ ७ महाप्रभ ८ अंक ९ अंकप्रभ १० मणि ११ मणिप्रभ १२ स्फटिक १३ स्फटिकप्रभ १४ हिमवत् १५ और महेंद्र १६ ये सोलह कूट हैं। इन समस्त कूटोंका कुल प्रमाण मानुषोत्तर कूटोंके समान है तथा एक एक दिशामें चार चार कूट हैं। उनमें पूर्व दिशामें पहिला कूट वज्र है और उस पर त्रिशिरा नामका नागेंद्र देव निवास करता है। दूसरा वज्रप्रभ कूट है इसका स्वामी पंचशिरानामका नागेंद्र देव है। तीसरा कूट कनक है और उस पर महाशिरा रहता है। चौथे कनकप्रभ कूटमें महाभुज नामका नागेंद्र देव रहता है। दाक्षिण दिशाका पहिला कूट रजत है और उसका स्वामी पद्मनामका नागेंद्र देव है। दूसरा रजतप्रभ है और उसमें पद्मोत्तर देव है। तीसरा सुप्रभ कूट है और उसमें महापद्म नामका नागेंद्र देव रहता है। चौथा महाप्रभ कूट है और उसमें वासुकी नागेंद्र देव निवास करता है। पश्चिम दिशाका प्रथम कूट अंक है उसका निवासी स्थिरहृदय नागेंद्र देव है। दूसरे अंकप्रभ कूटमें महाहृदय नागेंद्र देव रहता है। तीसरे मणिकूटमें श्रीवृक्ष नागेंद्र और चौथे मणिप्रभमें स्वस्तिक नागेंद्र देव रहता है। उत्तरदिशाके प्रथम स्फटिक कूटमें सुंदर नामका नागेंद्र रहता है। स्फटिकप्रभमें विशालाक्ष, हिमवतमें पांडुर और महेंद्र कूटमें पांडुक नामका नागेंद्र देव रहता है। तथा त्रिशिराको लेकर महेंद्र पर्यंत ये सोलहो नागेंद्रोंकी आयु एक पल्यकी है। कुंडल नामक पर्वतकी पूर्व और पश्चिम दिशामें एक एक हजार योजन ऊंचे, मूल भागमें एक एक हजार योजन ही चौडे, मध्यभागमें साढे सातसौ साढे सातसौ योजन और ऊपरके भागमें पांचसौ पांचसौ योजन चौडे दो कूट हैं और उनमें कुंडलवर द्वीपका अधिपति निवास करता है। उसी कुंडल पर्वतके ऊपर चारों दिशाओंमें चार मंदिर हैं और अंजन पर्वतके जिनालयोंका जैसा वर्णन कर आये हैं वैसा ही इनका वर्णन है।

कुंडलवर द्वीपकी अपेक्षा दूना विस्तारवाला कुंडलवरोद समुद्र है। उसकी अपेक्षा दूना विस्तारवाला शंखवरोद द्वीप है। उससे दूना विस्तारवाला शंखवरोद समुद्र है। शंखवरोद समुद्रसे दूना विस्तारवाला रुचकवर द्वीप है इस रुचकवरद्वीपके ठीक मध्यभागमें चूडीके समान गोल रुचकवर नामका पर्वत है वह एक हजार योजन जमीनमें गहरा है, चौरासी हजार योजन ऊंचा है मूल मध्य और अग्रभागमें व्यालीस हजार योजन चौडा है। इस रुचकवर पर्वतके ऊपर पूर्व आदि दिशाओंमें नंद्यावर्त स्वस्तिक श्रीवृक्ष और वर्धमान नामके चार कूट हैं जो कि पांच पांचसौ योजन प्रमाण ऊंचे मूल मध्य और अग्रभागमें एक एक हजार योजन प्रमाण लंबे चौडे हैं। उनमें पूर्व दिशामें नंद्यावर्त कूट है और उसमें पद्मोत्तर नामका दिग्गजेंद्र निवास करता है। दाक्षिण दिशामें स्वस्तिक कूट है और उसमें सुहस्ती नामका दिग्गजेंद्र रहता है। पश्चिम दिशामें श्रीवृक्ष नामका कूट है और उसमें नील रहता है एवं उत्तर दिशामें वर्धमान कूट है और वह अंजनगिरि दिग्गजेंद्रका निवास स्थान है। ये पद्मोत्तर आदि चारो दिग्गजेंद्र पल्य प्रमाण आयुके धारक हैं।

उसी रुचकवर द्वीपकी पूर्वदिशामें वैडूर्य १ कांचन २ कनक ३ आरिष्ट ४ दिक्स्वस्तिक ५ नंदन ६ अंजन ७ और अंजनमूलक ८ ये आठ कूट हैं। इन सब कूटोंका प्रमाण पहिले कहे हुए कूटोंके समान है। इनमें पहिले वैडूर्यकूटमें विजया नामकी दिक्कुमारी निवास करती है। कांचनमें वैजयंती, कनकमें जयंती, अरिष्टमें अपराजिता, दिक्स्वस्तिकमें नन्दा, नंदनमें नंदोत्तरा, अंजनमें आनन्दा और अंजनमूलकमें नांदी वर्धना[1] नामकी दिक्कुमारी निवास करती है। ये आठों दिक्कुमारियां भगवान तीर्थंकरके जन्मकालमें भगवानकी माताके समीपमें झाडीको लेकर प्रतिसमय उपस्थित रहतीं हैं।

१ 'वर्धमाना' यह भी पाठ है।

रुचकवर पर्वतकी दाक्षिणादिशामें अमोघ १ सुप्रबुद्ध २ मन्दिर ३ विमल ४ रुचक ५ रुचकोत्तर ६ चंद्र ७ और सुप्रतिष्ठ ८ ये आठ कूट हैं। पहिले जो कूटोंका प्रमाण कह आये हैं वही प्रमाण इन कूटोंका भी समझ लेना चाहिये। इन कूटोंमेंसे अमोघ कूटमें सुस्थिता नामकी दिक्कुमारी रहती है। सुप्रबुद्धमें सुप्रणिधि, मंदिरमें सुप्रबुद्धा, विमलमें यशोधरा, रुचकमें लक्ष्मीमती, रुचकोत्तरमें कीर्त्तिमती, चन्द्रमें वसुंधरा और सुप्रतिष्ठमें चित्रा नामकी दिक्कुमारी रहती है। ये आठ दिक्कुमारियां भगवान तीर्थंकरके जन्मकालमें आकर भगवान अर्हंतकी माताके पासमें दर्पण लेकर खडी रहती हैं।

रुचकवर द्वीपके पश्चिमदिशामें लोहिताक्ष १ जगत्कुसुम २ पद्म ३ नलिन ४ कुमुद ५ सौमनस ६ यश ७ और भद्र ८ ये आठ कूट हैं। इनका भी कुल प्रमाण पहिले कूटोंके समान समझ लेना चाहिये। इन कूटोंमेंसे पहिले लोहिताक्ष कूटमें इला देवी रहती है। दूसरे जगत्कुसुममें सुरादेवी, तीसरे पद्ममें पृथिवी, चौथे नलिनमें पद्मावती, पांचवें कुमुदमें कानना, छठे सौमनसमें नवमिका, सातवें यशःकूटमें यशस्विनी और आठवें भद्रकूटमें भद्रा नामकी देवी निवास करती है। ये आठ देवियां भगवान तीर्थंकरके जन्मकालमें आकर भगवान अर्हंतकी माताके समीपमें छत्रोंको धारण करती हैं और कानोंको अतिशय प्यारा गायन गाती हैं।

रुचकवर पर्वतकी उत्तरदिशामें स्फटिक १ अंक २ अंजन ३ कांचन ४ रजत ५ कुण्डल ६ रुचिर ७ और सुदर्शन ८ ये आठ कूट हैं। पहिले जो प्रमाण कूटोंका कह आये हैं वही प्रमाण इन कूटोंका भी है। उनमेंसे स्फटिक कूटमें अलंभूषा नामकी दिक्कुमारी रहती है। अंकमें मिश्रकेशा, अंजनमें पुण्डरीकिणी, कांचनमें वारुणी, रजतमें आशा, कुण्डलमें ह्री, रुचिरमें श्री और सुदर्शन कूटमें धृति नामकी

दिक्कुमारी रहती है। ये आठों दिक्कुमारियां भगवान तीर्थंकरके जन्मकालमें चमर ग्रहणकर भगवान की माताकी सेवा करती हैं।

इन कूटोंके सिवाय पूर्व आदि दिशामें और भी चार कूट हैं और उनके विमल नित्यालोक स्वयंप्रभ और नित्योद्योत ये नाम हैं। पूर्व दिशामें विमल कूट है और उसमें चित्रा नामकी विद्युत्कुमारी रहती है। दक्षिणदिशामें नित्यालोक कूट है और उसमें कनकाचित्रा रहती है। पश्चिमदिशामें स्वयंप्रभ कूट है और उसमें त्रिशिरा रहती है एवं उत्तरमें नित्योद्योत कूट है और उसमें सूत्रमणि नामकी विद्युत्कुमारी निवास करती है। ये विद्युत्कुमारियां भगवान तीर्थंकरके जन्मकालमें आकर जिनमाताके समीपमें सूर्यके समान प्रकाश करतीं तिष्ठती हैं।

रुचकवर पर्वतकी विदिशाओंमें भी चार कूट हैं। वैडूर्य रुचक मणिप्रभ और रुचकोत्तम ये उनके नाम हैं। उनमें पूर्वोत्तर (ईशानकोण) दिशाके वैडूर्य कूटमें रुचका नामकी दिक्कुमारियोंकी महत्तरिका निवास करती है। पूर्वदक्षिण (आग्नेय) दिशाके रुचक कूटमें रुचकाभा, पश्चिमदक्षिण (नैऋत्य) दिशाके मणिप्रभ कूटमें रुचकांता और पश्चिम-उत्तरके रुचकोत्तम कूटमें रुचकप्रभा नामकी दिक्कुमारियोंकी महत्तरिका निवास करती है।

विदिशाओंमें और भी चार कूट हैं और उनके रत्न रत्नप्रभ सर्वरत्न और रत्नोच्चय ये चार नाम हैं। उनमेंसे पूर्वोत्तर दिशाके रत्न नामके कूटमें विजया नामक विद्युत्कुमारियोंकी महत्तरिका रहती है। पूर्वदक्षिण दिशाके रत्नप्रभ कूटमें वैजयंती, पश्चिमदक्षिण दिशाके सर्वरत्नकूटमें जयंती और पश्चिमोत्तर दिशाके रत्नोच्चय कूटमें अपराजिता नामकी विद्युत्कुमारियोंकी महत्तरिका रहती है। ये आठो महत्तरिका भगवान तीर्थंकरके जन्मकालमें आकर उनका जातिकर्म करती हैं।

विद्युत्कुमारियोंके ये बारहो कूट एक एक हजार योजन प्रमाण ऊंचे हैं। मूलभागमें एक हजार ोजन प्रमाण मध्यभागमें साढे सातसै योजन प्रमाण और अग्रभागमें पांचसै योजन प्रमाण चौडे हैं। चक पर्वतके ऊपर चारों दिशाओंमें चार जिनमंदिर हैं। उन पर्वतोंके मुख पूर्व दिशाकी ओर हैं और ंजन पर्वतके जिनालयोंका जो वर्णन कर आए हैं वही वर्णन इन जिनालयोंका है। इसप्रकार दूने दूने वेस्तारवाले असंख्याते द्वीप और समुद्र समझ लेने चाहिये ॥ ३५ ॥

यह मानुषोत्तर पर्वतके वाहिरके क्षेत्र समुद्रोंका वर्णन कर दिया गया। इस मानुषोत्तर पर्वतसे ाहिले होनेवाले और गति नामके नामकर्मकी अपेक्षा कहे जानेवाले जो पहिले मनुष्य कहे गये हैं वे दो प्रकार किसतरह हैं सूत्रकार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ—आर्य और म्लेच्छोंके भेदसे मनुष्य दो प्रकारके हैं।

आर्या द्विविधा ऋद्धिप्राप्तेतरविकल्पात् ॥ १ ॥

गुण और गुणवानोंसे सेवित हों वे आर्य कहे जाते हैं और ऋद्धिप्राप्त एवं अनृद्धि प्राप्तके भेदसे वे आर्य दो प्रकारके हैं। उनमें—

अनृद्धिप्राप्तार्याः पंचविधाः क्षेत्रजातिकर्मचारित्रदर्शनभेदात् ॥ २ ॥

अनृद्धि-प्राप्त आर्योंके पांच भेद हैं और वे क्षेत्रार्य जात्यार्य कर्मार्य चारित्रार्य और दर्शनार्य ये हैं। काशी कोशल आदि क्षेत्रोंमें होनेवाले क्षेत्रार्य कहे जाते हैं। इक्ष्वाकु और भोज आदि जातियोंमें होने-वाले जात्यार्य कहे जाते हैं। कर्मार्योंके सावद्यकर्मार्य १ अल्पसावद्यकर्मार्य २ और असावद्यकर्मार्य ३

ये तीन भेद हैं। उनमें असि १ मषि २ कृषि ३ विद्या ४ शिल्प ५ और वाणिज्य ६ कार्य करनेसे सावद्य कर्मार्योंके छह भेद हैं।

जो पुरुष तलवार और धनुष आदिके प्रहार करनेमें समर्थ हैं वे असिकर्मार्य हैं। जो द्रव्यके आय व्यय (जमा खर्च) आदिके लिखनेमें प्रवीण हैं वे मषिकर्मार्य हैं। हल कुलिश (खुरपा सरीखा) दांता आदि खेतीके सहायी पदार्थोंकी विधिके जानकार किसान कृषि कर्मार्य हैं। अच्छी तरह लिखना और गणित आदि बहत्तर कलाओंमें जो कुशल हों वे विद्याकर्मार्य हैं। धोबी नाई लुहार कुंभार और सुनार आदि जो चारो वर्णोंके मनुष्य हैं वे शिल्पकर्मार्य हैं तथा चन्दनादि गंध, घृत आदि रस, चावल आदि धान्य कपास आदिके बने वस्त्र एवं मुक्ता आदि नाना प्रकार पदार्थोंके संग्रह करनेवाले बहुत प्रकारके वणिकमार्य हैं। ये छहों प्रकारके आर्य अविरति प्रवण हैं—जीवोंको बचा न कर कार्य करनेवाले हैं इस लिये सावद्यकर्मार्य हैं। पंचमगुणस्थान वर्ती श्रावक अल्पसावद्यकर्मार्य हैं क्योंकि उनके परिणाम रति विरतिरूप दोनों प्रकारके होते हैं अर्थात् वे एकदेश चारित्रका पालन करनेवाले होते हैं इसलिये वे स्थूल रूपसे हिंसाके त्यागी हैं। तथा असावद्य कर्मार्थ संयमी मुनि हैं क्योंकि सदा उनके परिणमोंमें कर्मोंके समूल क्षयकी भावना उदीयमान रहती है एवं तदनुसार इनके परिणामोंमें सदा जीवोंकी हिंसाका विरति रूप परिणाम रहता है।

अभिगतचारित्रार्य और अनभिगत चारित्रार्यके भेदसे चारित्रार्य दो प्रकारके हैं। ये दोनों भेद वाह्य अनुपदेश और उपदेशकी अपेक्षासे जायमान हैं। उनमें जो महानुभाव चारित्रमोहनीय कर्मके उपशमसे वा क्षयसे वाह्य उपदेशकी कुछ भी अपेक्षा नहीं करते, आत्माकी निर्मलतासे ही जो चारित्र

९४९

वान् हैं ऐसे उपशांतकषाय वा क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती आभिगतचारित्रार्य कहे जाते हैं। तथा अंतरंगमें चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमके विद्यमान रहते भी बाह्य उपदेशके कारण जिनके परिणाम विरतिरूप हैं वे अनभिगतचारित्रार्य कहे जाते हैं। सार यह है कि बाह्यमें उपदेश आदिकी अपेक्षा विना किये ही जो स्वभावतः आत्माकी निर्मलतासे चारित्रवान् हैं वे अभिगतचारित्रार्य हैं और चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमरूप-अन्तरंग कारणके विद्यमान रहते बाह्य उपदेशके द्वारा जो चारित्रवान हैं वे अनभिगतचारित्रार्य हैं।

दर्शनार्य दश प्रकारके हैं और उनके आज्ञारुचि १ मार्गरुचि २ उपदेशरुचि ३ सूत्ररुचि ४ बीजरुचि ५ संक्षेपरुचि ६ विस्ताररुचि ७ अर्थरुचि ८ अवगाढरुचि ९ और परमावगाढरुचि १० ये नाम हैं। सर्वज्ञ भगवान अर्हंतद्वारा प्रणीत शास्त्रकी आज्ञामात्रसे जो श्रद्धान करनेवाले हैं—भगवान अर्हंतने जो कहा है वह सर्वथा ठीक है ऐसा जिन्हें विश्वास है वे आज्ञारुचि नामके दर्शनार्य (सम्यग्दृष्टि) हैं। जिसमें जरा भी परिग्रहका संबंध नहीं है ऐसे मोक्षमार्गके श्रवणमात्रसे जिन्हें उस मार्गपर अटलरुचि है वे मार्गरुचि नामके दर्शनार्य हैं। जिनके श्रद्धानमें तीर्थंकर बलदेव आदिके शुभचरित्रोंका धारक उपदेश कारण है वे उपदेशरुचि नामके दर्शनार्य हैं। दिगम्बर दीक्षाकी मर्यादाके प्ररूपण करनेवाले आचार (आचारांग) सूत्रके श्रवण करनेमात्रसे जिनके सम्यग्दर्शनकी प्रकटता हो गई है वे सूत्ररुचि नामके दर्शनार्य हैं। जिन्हें बीज पदोंके ग्रहणपूर्वक सूक्ष्मपदार्थरूप तत्त्वार्थोंका श्रद्धान है वे बीजरुचि नामके दर्शनार्य हैं। जीव आदि पदार्थोंके सामान्य ज्ञानसे जिन्हें श्रद्धान हो वे संक्षेपरुचि नामके दर्शनार्य हैं। बारह अंग और चौदह पूर्वोंके विषयभूत जीवादि पदार्थोंका विस्तृत स्वरूप प्रमाण नयके

निरूपणसे जानकर जिन्हें श्रद्धान हो वे विस्ताररुचि नामके दर्शनार्य हैं। वचनका विस्तार विना किये ही जिन्हें पदार्थोंके ग्रहण करनेमें आनन्द मिले वे अर्थरुचि नामके दर्शनार्थ हैं। आचार आदि द्वादशांगोंके द्वारा जिन्हें परिपूर्ण सम्यग्दर्शन प्राप्त हो वे अवगाढरुचि नामके दर्शनार्य हैं। तथा परमावधि ज्ञान केवलज्ञान और केवलदर्शनके विषयभूत जीव आदि पदार्थोंके ज्ञानसे जिन्हें अतिशय आनंद है वे परमावगाढरुचि नामक दर्शनार्य हैं।

ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधाः बुद्धिक्रियाविक्रियातपोवलौषधरसक्षेत्रभेदात् ॥ ३ ॥

बुद्धि क्रिया विक्रिया तप बल औषध रस और क्षेत्रके भेदसे ऋद्धिप्राप्तार्य आठ प्रकारके हैं। बुद्धिका अर्थ ज्ञान है उस ज्ञानविषयक—केवलज्ञान १ अवधिज्ञान २ मनःपर्ययज्ञान ३ बीजबुद्धि ४ कोष्ठबुद्धि ५ पदानुसारित्व ६ संभिन्नश्रोतृत्व ७ दूरास्वादसमर्थता ८ दूरदर्शनसमर्थता ९ दूरस्पर्शन समर्थता १० दूराघ्राणसमर्थता ११ दूरश्रवणसमर्थता १२ दशपूर्वित्व १३ चतुर्दशपूर्वित्व १४ अष्टांगमहानिमित्तज्ञता १५ प्रज्ञाश्रवणत्व १६ प्रत्येकबुद्धता १७ और वादित्व १८ ये अठारह प्रकारकी ऋद्धियां हैं।

उपर्युक्त ऋद्धियोंमें केवलज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान रूप ऋद्धियोंका सविस्तर वर्णन ऊपर कर दिया गया है। हलद्वारा अच्छीतरह जोते हुए और सुहागे द्वारा अच्छीतरह चिकने किये हुए सारवान क्षेत्रमें काल द्रव्य आदिकी सहायताकी अपेक्षा रखनेवाला बोया हुआ एक भी बीज जिस प्रकार अनेक-करोडों बीजोंके उत्पन्न करनेवाला होता है उसी प्रकार नोइंद्रियावरण श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमकी प्रकृष्टता रहनेपर एक बीजपदके ग्रहण करने मात्रसे ही अनेक पदार्थोंका ज्ञान हो जाना बीजबुद्धि नामकी ऋद्धि है। भंडारी द्वारा रक्खे हुए, आपसमें जुदे जुदे और

अखंड बहुतसे धान्यबीजोंका जिस प्रकार भंडारमें रहना होता है अर्थात्—जितने प्रमाण धान्यबीज भंडारमें रक्खे जाते हैं उतने ही प्रमाण रहते हैं घटते बढते नहीं, परस्पर मिलते भी नहीं एवं जब संभाल की जाती है उससमय उतनेके उतने ही निकलते हैं उसीप्रकार जिनका निश्चय परके उपदेशसे नहीं हुआ है एवं जो आपसमें भिन्न २ हैं ऐसे बहुतसे पदार्थ ग्रंथ और बीजोंका जो एक बुद्धिमें रहना है अर्थात् जो शब्द अर्थ वा बीज, बुद्धिमें प्रविष्ट हैं वे उतने ही रहते हैं एक भी अक्षर आदि घटता बढता नहीं, आगे पीछे भी नहीं होता है वह कोष्ठबुद्धि नामकी ऋद्धि है।

पदानुसरित्व नामकी ऋद्धि अनुश्रोत पदानुसारित्व १ प्रतिश्रोत पदानुसारित्व २ और अनुश्रोत प्रतिश्रोत पदानुसारित्व ३ के भेदसे तीन प्रकार है। आदि अंत वा मध्यके एक किसी पदके उच्चारण करनेपर जो समस्त ग्रंथके अर्थका निश्चय कर लेना है वह पदानुसारित्व नामकी ऋद्धि है। बारह योजन प्रमाण लंबे और नौ योजन प्रमाण विस्तीर्ण चक्रवर्तीके कटकमें हाथी घोडे गधे ऊंट मनुष्य आदिके एक ही कालमें अक्षरात्मक अनक्षरात्मक अनेक प्रकारके शब्दोंकी उत्पत्ति होती है उन समस्त शब्दोंका, तपके विशेषसे होनेवाला जो जीवके समस्त प्रदेशोंमें श्रोत्रेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम रूप परिणाम, उससे जो भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण कर लेना है वह संभिन्नश्रोतृत्व नामकी ऋद्धि है। तपकी विशेष सामर्थ्यसे जिस मुनिके असाधारण रूपसे रसनेंद्रिय श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम प्रगट होगया है एवं अंगोपांग नामक नाम कर्मका उदय है ऐसे मुनिके जो नौ योजन प्रमाण रसना इंद्रियके विषय भूत क्षेत्रसे भी बाहिरके बहुत योजन प्रमाण दूर क्षेत्रमें स्थित पदार्थके रसके स्वादलेनेकी सामर्थ्यका प्रगट होजाना है वह दूरास्वादन समर्थता नामकी ऋद्धि है। इसीप्रकार शेष इंद्रियोंकी भी

अपने अपने विषयभूत क्षेत्रसे वाहिर वहुत योजन प्रमाण दूरके क्षेत्रोंमें स्थित पदार्थोंके स्पर्श गंध आदि विषयोंके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य समझ लेनी चाहिये।

अपने अपने स्वरूपकी सामर्थ्यके प्रगट करने और कथन करनेमें कुशल वेगवती महारोहिणी आदि तीन विद्या देवताओंसे प्रगट होकर भी जिस मुनिका चारित्र चलायमान न हो वह मुनि दुस्तर दशपूर्वरूपी समुद्रका पार पाता है और उसीके दशपूर्वित्व ऋद्धि प्राप्त होती है। तथा जो संपूर्ण श्रुत-केवली होते हैं उनके चतुर्दशपूर्वित्व नामकी ऋद्धि होती है।

अंतरिक्ष १ भौम २ अंग ३ स्वर ४ व्यंजन ५ लक्षण ६ छिन्न ७ और स्वप्न ८ ये आठ महानिमित्त हैं। सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र और तारागणके उदय और अस्तके आधीन भूत भविष्यत् कालका भिन्न भिन्न रूपसे फल प्रदर्शन करना अंतरिक्ष नामका महानिमित्त है। पृथ्वीकी कठोरता कोमलता चिकनाता और रुक्षतादिके निश्चयसे वा पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंमें सूत्र पडते देखकर अमुक चीजकी वृद्धि होगी वा अमुक चीजकी हानि होगी वा अमुकका जय होगा वा अमुकका पराजय होगा इत्यादि बातोंका जान लेना वा जमीनके भीतर गढे हुए सोने चांदी आदि पदार्थोंका जान लेना भौम नामका महा-निमित्त है। अंग और उपांगोंके दर्शन स्पर्शन आदिसे तीनों कालोंमें होनेवाले सुख दुःख आदिका निश्चय कर लेना अंग नामका महानिमित्त है। अक्षरात्मक वा अनक्षरात्मक शुभ अशुभ शब्दोंके सुननेसे इष्ट वा अनिष्ट फलका निश्चय कर लेना स्वर नामका महानिमित्त है। मस्तक मुख ग्रीवा आदि स्थानों पर तिल मसा लहसन आदि चिह्नोंके देखनेसे तीन काल संबंधी हित अहितका जान लेना व्यंजन नामका महानिमित्त है। श्रीवृक्ष स्वस्तिक (सांतियां) भृंगार (झाडी) कलश आदि लक्षणोंके देखनेसे

त्रिकाल संबंधी स्थान मान और ऐश्वर्य आदिका विशेष रूपसे ज्ञान लेना लक्षण नामका महानिमित्त है। वस्त्र शस्त्र छत्र जूता भोजन और शयन आदिकी जगह पर देव मनुष्य राक्षसादिके विभागद्वारा वा शस्त्र द्वारा और मूसटी आदिकर छिदना देखकर त्रिकालसंबंधी लाभ अलाभ सुख और दुःख आदिका समझ लेना छिन्न नामका महानिमित्त है। वात पित्त और कफके दोषसे रहित पुरुषके मुखमें रात्रिके पिछले प्रहरमें चंद्रमा सूर्य पृथिवी पर्वत और समुद्रका प्रविष्ट होना वा समस्त पृथिवी-मंडलका आलिंगन करना आदि शुभ स्वप्न है तथा अपने शरीर पर घृत तैल आदिका लेप, गधा और ऊंट पर चढना और दक्षिण दिशामें गमन करना आदि अशुभ स्वप्न हैं। इन शुभ अशुभरूप स्वप्नोंके द्वारा आगामी कालमें जीवन मरण सुख दुःख आदिका निश्चय कर लेना स्वप्न नामका महानिमित्त है। इन आठ प्रकारके महानिमित्तोंमें कुशलताका होना अष्टांग महानिमित्तज्ञता नामकी ऋद्धि है।

जिसका निरूपण चौदह पूर्वधारीके सिवाय अन्य न कर सके ऐसे किसी सूक्ष्म पदार्थके विचार चलने पर बारह अंग और चौदह पूर्वके नहीं भी पाठी मनुष्यका जो प्रकृष्ट श्रुतावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे जायमान असाधारण प्रज्ञा शक्तिके लाभसे उस सूक्ष्म पदार्थका संदेहरहित निरूपण कर देना है वह प्रज्ञाश्रवणत्व नामकी ऋद्धि है। परके उपदेशके बिना ही अपनी सामर्थ्यकी विशेषतासे ज्ञान और संयमके विधानमें निपुण होना प्रत्येकबुद्धता नामकी ऋद्धि है। यदि इंद्र भी आकर वाद करे तो उसे भी निरुत्तर कर देना और वादीके दोषोंको जान लेना वादित्व नामकी ऋद्धि है।

क्रियाविषयक ऋद्धिके दो भेद हैं—एक चारणत्व दूसरी आकाशगामित्व। उनमें चारणत्व ऋद्धिमें जल जंघा तनु पुष्प पत्र श्रेणि और अग्निशिखा आदिके आधार पर गमन होता है इसलिए वह जल

जंघा आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी है । उनमें बावडी तालाब आदिमें जलकायके जीवोंकी रंचमात्र भी विराधना न कर जो पृथिवीके समान जल पर पैरोंके उठाने और रखनेकी कुशलता रखते हैं वे जलचारण नामकी ऋद्धिके धारक समझे जाते हैं। पृथ्वीसे चार अंगुलप्रमाण ऊपर आकाशमें जो महानुभाव बहुत शीघ्रतासे जंघाओंके उठाने और रखनेमें चतुर एवं सैकड़ों योजनकी दूरीपर बहुत शीघ्रतासे गमन करनेमें प्रवीण हैं वे जंघाचारण नामकी ऋद्धिके धारक हैं इसीप्रकार तंतुचारण पुष्पचारण पत्रचारण श्रेणिचारण और अग्निशिखा चारण आदि ऋद्धियोंके धारक समझ लेने चाहिये ।

पर्यंक (पलौती) आसनसे बैठे बैठे ही वा कायोत्सर्ग मुद्रासे ही पैरोंके उठाने रखनेके विना ही जो मुनिगण आकाशमें निरवच्छिन्न रूपसे गमन करनेवाले हों वे आकाशगामी नामके ऋद्धिधारी हैं ।

आणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व वशित्व अप्रतिघात अन्तर्धान और कामरूपित्व आदिके भेदसे विक्रियर्द्धि अनेकप्रकारकी है उनमें अत्यंत सूक्ष्म परमाणुके समान शरीरका कर लेना अणिमा नामकी विक्रियर्धि है इस अणिमा नाम ऋद्धिका धारक बिस—कमलके तंतुके छिद्रमें प्रविष्ट हो कर चक्रवर्तीके परिवारकी विभूतिकी भी रचना कर सकता है। मेरुपर्वतसे भी महान शरीरके करनेकी सामर्थ्यका होना महिमा नामकी ऋद्धि है । पवनसे भी सूक्ष्म शरीरका बना लेना लघिमा नामकी ऋद्धि है। वज्रसे भी अधिक भारी शरीरका बना लेना गरिमा नामकी ऋद्धि है । पृथिवी पर बैठकर अंगुलीके अग्रभागसे मेरुपर्वतकी शिखर और सूर्य चंद्रमा आदिका स्पर्श करनेकी सामर्थ्य रखना प्राप्ति नामकी ऋद्धि है । जलमें भूमिके समान गमन करना और भूमिमें जलके समान उछलने डूबनेकी सामर्थ्यका होना प्राकाम्य नामकी ऋद्धि है। तीन लोककी प्रभुताको रचनेकी सामर्थ्यका होना

ईशित्व नामकी ऋद्धि है। देव मनुष्य और दानव आदि समस्त जीवोंके वश करनेकी सामर्थ्यका होना वशित्व नामकी ऋद्धि है। पर्वतके मध्यभागमें आकाशके समान चलना ठहरना अप्रतीघात नामकी ऋद्धि है। अदृश्य होनेकी सामर्थ्यका होना अंतर्धान नामकी ऋद्धि है एवं एक साथ अनेक आकाररूप परिणत होनेकी सामर्थ्यका होना कामरूपित्व नामकी ऋद्धि है।

उग्रतप ऋद्धि १ दीप्ततप ऋद्धि २ तप्ततप ऋद्धि ३ महातप ऋद्धि ४ घोरतप ऋद्धि ५ घोरपराक्रमतप ऋद्धि ६ और घोरब्रह्मचर्यतप ऋद्धि ७ ये सात तप ऋद्धियां हैं। एक उपवास दो उपवास तीन उपवास चार उपवास पांच उपवास तथा पक्ष मास आदिका उपवासरूप योगोंमेंसे किसी एक योगके आरंभ कर लेनेपर मरण पर्यंत उस योगसे विचलित न होना अर्थात् उपवास और पारणाओंमें किसी प्रकारकी कमिताईका न होना ऐसी सामर्थ्यके धारक मुनिगण उग्रतप ऋद्धिके धारक माने जाते हैं। महोपवासोंके करनेपर भी जिनके शरीर वचन और मनका बल सदा वृद्धिगत ही रहता है घटता नहीं, मुख दुर्गंधिरहित रहता है, कमलपत्रकासा सुगंधित निश्वास निकलता है और जिनका शरीर सदा कांतिमान रहता है वे दीप्ततप ऋद्धिके धारक कहे जाते हैं। तप्त लोहेकी कढाईमें गिरे हुए जलके कणके समान जिनका खाया हुआ अल्प आहार तत्काल सूख जाता है, मल रुधिर आदि स्वरूप परिणत नहीं होता वे तप्ततप नामक ऋद्धिके धारक हैं। जो मुनिगण सिंह निष्क्रीडित आदि महोपवासके आचरण करनेवाले हैं वे महातप नामकी ऋद्धिके धारक हैं। जिन मुनियोंका शरीर यद्यपि वात पित्त और कफके

१ हरिवंशपुराणमें जहांपर उपवास प्रकरण लिखा गया है वहांपर सिंहनिष्क्रीडित रत्नावली मुक्तावली आदि महोपवासोंका सयंत्रक विस्तारसे वर्णन किया गया है वहां देख लेना चाहिये।

सन्निपातसे उत्पन्न ज्वर खासी दमा नेत्रशूल कोढ प्रमेह आदि भयंकर रोगोंसे संतप्त हैं तथापि वे अनशन और कायक्लेश आदि तपोंसे पराङ्मुख नहीं होते एवं भयानक श्मशान पर्वतोंके शिखर गुफा दरी कंदरा और शून्यग्राम आदि स्थान जहांपर कि अत्यंत दुष्ट यक्ष राक्षस पिशाचों द्वारा किये गये वैताल-रूपोंके विकार हैं, कठोर शृगालोंके शब्द और निरंतर सिंह व्याघ्र चीते हाथी वा सर्प मृगोंके शब्द होते रहते हैं एवं चोर आदि दुष्ट जीव सदा घूमते रहते हैं, ऐसे स्थलोंमें निर्द्वंद्व हो तप तपते निवास करते हैं वे घोरतप ऋद्धिके धारक हैं । अत्यंत भयंकर रोगसे पीडित और महाभयंकर एकांत स्थानमें रहते भी जो मुनिगण स्वीकृत तपों योगोंकी वृद्धिमें ही सदा तत्पर रहते हैं वे घोरपराक्रम ऋद्धिके धारक हैं तथा बहुत कालसे जो अस्खलित ब्रह्मचर्यके धारक हैं और प्रकृष्ट चारित्र मोहनीयकर्मके क्षयोपशमसे जिनके समस्त दुःस्वप्न नष्ट हो गये हैं वे घोरब्रह्मचर्य ऋद्धिके धारक हैं ।

मनोबल वचनबल और कायबलके भेदसे बलर्द्धि तीन प्रकार है । उनमें मनःश्रुतावरण और वीर्यांतराय कर्मोंके क्षयोशमकी प्रकर्षतासे अंतर्मुहूर्तकालमें ही जिनके समस्त श्रुतज्ञानके अर्थकी चिंतवन करनेकी सामर्थ्य हो, वे मनोबल नामक ऋद्धिके धारक हैं । मन और जिह्वाश्रुतावरण एवं वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमकी प्रकर्षता रहनेपर अंतर्मुहूर्त कालमें ही जिनके समस्त श्रुतज्ञानके उच्चारण करनेकी सामर्थ्य प्रकट हो जाय एवं सदा ऊंचे स्वरसे उच्चारण करनेपर भी श्रमरहित और बलवान कण्ठके धारक रहें वे वचनबल नाम ऋद्धिधारी हैं । वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे जायमान असाधारण कायबलके प्रकट होनेपर एक मास चार मास और एक वर्ष आदिके प्रतिमा योगके धारण करनेपर भी जो मुनिगण परिश्रम और क्लेशसे रहित हैं वे कायबल नामक ऋद्धिके धारक हैं ।

असाध्य भी रोगोंकी निवृत्तिकी कारण औषधर्द्धि है और वह आमर्श १ क्ष्वेल २ जल्ल ३ मल ४ विट ५ सर्वौषधि ६ आस्याविष ७ और दृष्टिविष ८ के भेदसे आठ प्रकारकी है। आमर्शका अर्थ स्पर्श है जिनके हाथ पैर आदिका स्पर्श औषधरूप होगया हो अर्थात् जिनके हाथ पैर आदिके स्पर्शसे असाध्य भी रोग तत्काल नष्ट हो जांय वे आमर्शौषधि नामक ऋद्धिके धारक हैं। क्ष्वेलका अर्थ थूंक है। जिन मुनियोंका थूक ही औषधरूप होगया हो वे क्ष्वेलौषधि नामक ऋद्धिके धारक कहे जाते हैं अर्थात् क्ष्वेलौषधि ऋद्धिके धारक मुनियोंके थूंकके स्पर्शमात्रसे रोग शांत हो जाते हैं। पसेवसहित धूलिका समूह जल्ल कहा जाता है। जिन मुनियोंका जल्ल ही औषधरूप परिणत होगया हो अर्थात् उनके जल्ल के स्पर्शमात्रसे रोग दूर हो जाते हों वे जल्लौषधि ऋद्धि प्राप्त मुनि हैं। कान नाक दांत और आंखका मल ही जिनका औषधि बन गया हो अर्थात् उस मलके स्पर्शमात्रसे ही समस्त रोग दूर हो जाते हों वे मलौषधि नामक ऋद्धिके धारी कहे जाते हैं। विटका अर्थ विष्ठा है जिन मुनियोंकी विष्ठा ही औषधस्वरूप परिणत हो गई हो जिसके कि स्पर्शसे कठिनतम भी रोग नष्ट होते हों वे विडौषधि ऋद्धि प्राप्त मुनि कहे जाते हैं। अंग प्रत्यंग नख दंत केश आदि अवयवोंको स्पर्श करनेवाले वायु आदि पदार्थ जिनके औषधिरूप हो गये हों अर्थात् जिन मुनियोंके अंग आदिको स्पर्शनेवाले वायु आदिसे ही रोग समूल नष्ट हो जांय वे मुनि सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त कहे जाते हैं। भयंकर विष मिला हुआ भी आहार जिनके मुखमें जाते ही निर्विष हो जाता है अथवा जिनके मुखसे निकले हुए वचनके सुननेमात्रसे महाविषसे व्याप्त भी मनुष्य निर्विष हो जाते हैं वे आस्याविष नामक ऋद्धिके धारक मुनि कहे जाते हैं। तथा जिन मुनियोंके दर्शनमात्रसे ही अत्यंत भयंकर विषसे दूषित भी तत्काल विषरहित हो जाय वे दृष्टिविष नामक ऋद्धिके धारक मुनि कहे जाते हैं।

आस्यविष १ दृष्टिविष २ क्षीरास्रावी ३ मध्वास्रवी ४ सर्पिरास्रावी ५ और अमृतास्रवी ६ के भेदसे रसर्द्धि प्राप्तार्य छह प्रकारके हैं। जो प्रकृष्टतपके धारक मुनिगण जिसको यह कह देते हैं कि 'तू मरजा' तो वह तत्काल विषपरीत मूर्छित होकर मर जाता है वे मुनिगण आस्यविष नामक ऋद्धिके धारक कहे जाते हैं। जो प्रकृष्ट तपके धारक प्रचण्डक्रोधी हो जिसे आंख उठाकर देखदें तो वह तत्काल महाविषसे व्याप्त होकर मर जाय ऐसी सामर्थ्यके धारक मुनिगण दृष्टिविष नामकी ऋद्धिके धारक कहे जाते हैं। जिनके हाथपर रक्खा हुआ विरस भी भोजन क्षीरके रसके समान स्वादिष्ट हो जाता है अथवा जिनके वचन दीन दरिद्री प्राणियोंको क्षीरके समान संतुष्ट करनेवाले होते हैं वे क्षीरास्रवी नामक ऋद्धिधारी कहे जाते हैं। जिनके हाथपर रक्खा हुआ नीरस भी आहार मधु (शहद) के रसके समान स्वादिष्ट पुष्टि करनेवाला होता है अथवा जिनके मनोहर वचन दुःखसे पीडित श्रोताओंको मधुके समान पुष्टि करनेवाले होते हैं वे मध्वास्रवी नामके ऋद्धिधारी कहे जाते हैं। जिन मुनियोंके हाथमें गया हुआ रूखा भी भोजन घीके रस और घीके बलस्वरूप परिणत हो जाता है अथवा जिनके मनोहर वचन घीके समान प्राणियोंको तृप्त करते हैं वे सर्पिरास्रावी नामके ऋद्धिधारी कहे जाते हैं। तथा जिनके हाथपर रक्खा हुआ भोजन कुछ अमृत सरीखा परिणत हो जाता है अथवा जिनके वचन सुननेवालोंको अमृत सरीखे मीठे लगते हैं वे अमृतास्रवी नामके ऋद्धिधारी कहे जाते हैं।

क्षेत्रर्द्धिप्राप्त आर्य दो प्रकारके हैं एक अक्षीणमहानस और दूसरे अक्षीणमहालय। लाभांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमके धारक मुनियोंको जिस भाजनसे आहार दिया जाता है उस भाजनसे यदि चक्रवर्तीका कटक भी जीम जाय तो उस दिन अन्न कम न हो इसप्रकारकी सामर्थ्यके धारक मुनिगण

अक्षीणमहानस ऋद्धिके धारक कहे जाते हैं । अक्षीणमहालय ऋद्धिप्राप्ति मुनिगण जहां निवास करते हैं वहांपर यदि समस्त संसारके देव मनुष्य और तिर्यंच भी आकर बैठ जांय तो वे भी एक दूसरेको किसी प्रकारका कष्ट विना पहुंचाये सुखसे बैठ सकते हैं ऐसी विचित्र सामर्थ्यके धारक मुनिगण अक्षीण-महालय ऋद्धिके धारक कहे जाते हैं। इस प्रकार ऊपर जो आठ प्रकारके ऋद्धिधारी मुनियोंका उल्लेख किया गया था उनका यहां विस्तारसे वर्णन कर दिया गया ॥

म्लेच्छा द्विविधा अंतरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति ॥ ४ ॥

अंतर्द्वीपज और कर्मभूमिजके भेदसे म्लेच्छ दो प्रकारके हैं। जो म्लेच्छ आगे कहे जानेवाले द्वीपोंमें हों वे अंतर्द्वीपज म्लेच्छ हैं और जो कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले हों वे कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं। लवणोदधि समुद्रकी आठो दिशाओंमें आठ अंतर द्वीप हैं। उनके अंतरालोंमें भी आठ हैं तथा हिम-वान पर्वत शिखरी पर्वत और दोनों विजायाधोंके अंतरमें आठ हैं उनमें जो द्वीप दिशाओंमें हैं वे द्वीपकी वेदिकासे तिर्यक् और पांचसौ योजनके वाद जाकर हैं। विदिशा और अंतरालोंके द्वीप पांचसौ पचास योजन तिर्यक् जानेके वाद हैं। तथा जो द्वीप हिमवान पर्वत शिखरी पर्वत और दोनो विजया-र्धोंके अंतमें हैं वे छहसौ योजन जानेके वाद हैं।

जो द्वीप दिशाओंमें हैं वे सौ सौ योजन प्रमाण विस्तीर्ण हैं। जो विदिशा और अंतरालोंमें हैं वे पचास पचास योजन प्रमाण विस्तीर्ण हैं तथा जो द्वीप उपर्युक्त हिमवान आदि पर्वतोंके अंत भागमें कहे गये हैं वे पचीस पचीस योजन विस्तीर्ण हैं।

जो म्लेच्छ पूर्वदिशामें रहनेवाले हैं वे एक टांगवाले हैं । पाश्चिम दिशामें पूछवाले हैं। उत्तर

दिशामें गूंगे और दक्षिण दिशामें सींगवाले हैं। तथा विदिशाओंमें क्रमसे शशाके कानवाले, शष्कुली (पूली) के कानवाले, जिनके कान ही ओढने विछानेके वस्त्र हैं ऐसे एवं लंबे लंबे कानवाले हैं। दिशाओंके अंतरालोंमें क्रमसे घोडा सरीखे मुखवाले, सिंहसरीखे मुखवाले, कुत्ता सरीखे मुखवाले, भैंसा सरीखे मुखवाले, सूअर सरीखे मुखवाले, बाघ सरीखे मुखवाले, उल्लू सरीखे मुखवाले और बंदर सरीखे मुखवाले हैं। शिखरी पर्वतके दोनों अंतोंमें मेघसरीखे मुखवाले और बिजलीकैसे मुखवाले हैं। हिमवान पर्वतके दोनों अंतोंमें मछलीके मुखवाले और कालके समान मुखवाले हैं। उत्तर विजयार्धके दोनों अंतोंमें हाथीके समान मुखवाले और दर्पणके समान मुखवाले हैं तथा दक्षिण विजयार्धके दोनों अंतोंमें गायके मुखवाले एवं मेषके (मेढा) से मुखवाले हैं।

जो एक टांगवाले म्लेच्छ हैं वे मिट्टीका आहार करते हैं और गुफाओंमें रहते हैं। शेष म्लेच्छ पुष्प और फलोंका आहार करनेवाले और वृक्षोंपर रहने वाले हैं। इन समस्त म्लेच्छोंकी एक पल्यकी आयु है। ऊपर कहे गये चौवीसों द्वीप जलस्वरूप तलभागसे एक योजन प्रमाण ऊंचे हैं। जिसप्रकार ऊपर द्वीप और उनमें रहनेवाले म्लेच्छोंका वर्णन किया गया है उसीप्रकार कालोद समुद्रमें भी अंतर्द्वीप हैं और उनमें म्लेच्छ रहते हैं। ये जो ऊपर कहे गये हैं वे अंतर्द्वीपज म्लेच्छ हैं तथा कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले म्लेच्छ शक यवन, शवर और पुलिंद आदि हैं॥ ३६ ॥

अब सूत्रकार कर्मभूमियां कौन हैं यह प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं अथवा सम्यग्दर्शन आदिके भेदसे मोक्षमार्ग तीन प्रकारका कह आये हैं वहांपर यह प्रश्न उठता है कि उस मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति समस्त क्षेत्रोंमें है अथवा नहीं। उसका समाधान दिया गया है कि कर्मभूमियोंमें ही उसकी प्रवृत्ति

है भोगभूमिमें नहीं। यदि यहांपर भी यह शंका हो कि ऐसा क्यों! उसका समाधान यह है कि भोगभूमिके मनुष्योंमें यद्यपि ज्ञान दर्शन होते हैं परंतु उनके सदा अविरत भोगरूप परिणाम रहते हैं इसलिये उनके चारित्र नहीं होता। यहांपर इस वातकी शंका उठती है कि जहांपर तीन प्रकारके मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति है वे कर्मभूमियां कौन हैं? इसलिये सूत्रकार उन कर्मभूमियोंके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

पांच भरत, पांच ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तरकुरु क्षेत्रको छोडकर पांच विदेह इसप्रकार पंद्रह कर्मभूमियां हैं। शंका—

कर्मभूमय इति विशेषणानुपपत्तिः सर्वत्र कर्मणो व्यापारात् ॥ १ ॥

न वा प्रकृष्टशुभाशुभकर्मोपार्जननिर्जराधिष्ठानोपपत्तेः ॥ २ ॥

ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंका बंध और उसके फलोंका अनुभव समस्त मनुष्यक्षेत्रोंमें साधारण रूपसे है इसलिए भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंकी प्रधानतासे कर्मभूमि विशेषण नहीं दिया जा सकता किंतु सब ही मनुष्यक्षेत्रोंको कर्मभूमि कहना चाहिये? सो ठीक नहीं। सर्वार्थसिद्धिके सुखको प्राप्त करानेवाला और तीर्थंकरपनेकी महान ऋद्धिको प्रदान करनेवाला प्रकृष्ट शुभकर्म कर्मभूमिके भीतर ही उपार्जन किया जाता है एवं कलंकल[1] पृथिवीके अत्यंत क्रूर दुःखको देनेवाला, अप्रतिष्ठान नामक सातवें नरकके पाथडेमें ले जानेवाला अशुभकर्म भी कर्मभूमिमें ही उपार्जन किया जाता है क्योंकि द्रव्य भव

१—कलंकल नरककी सातवीं पृथ्वी का नाम है।

क्षेत्र काल और भाव इनकी अपेक्षाको कर्मबंधमें कारण माना है। तथा संसारका कारण और संसारकी निर्जरा करनेवाला समस्त कर्म भरत आदि कर्मभूमियोंमें ही उत्पन्न होता है इसलिए भरत आदि पंद्रह क्षेत्रोंका ही नाम कर्मभूमि है समस्त मनुष्यक्षेत्र कर्मभूमि नहीं कहे जा सकते। तथा और भी यह बात है कि—

षट्कर्मदर्शनाच्च ॥ ३ ॥

असि कृषि मषि विद्या वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मोंका सद्भाव भरत आदि कर्मभूमियोंके ही भीतर दीख पडता है भोगभूमियोंके भीतर नहीं इसलिए उन कर्मोंके संबंधसे भरत आदिकी कर्मभूमि संज्ञा युक्तियुक्त है।

अन्यत्रशब्दः परिवर्जनार्थः ॥ ४ ॥

सूत्रमें जो अन्यत्र शब्दका उल्लेख किया गया है उसका अर्थ परिवर्जन—छोडना है यथा "न कचित्सर्वदा सर्वविस्रंभगमनं नयः, अन्यत्र धर्मार्थस्य" (कहीं सदा सबको विश्वास न करना चाहिये परंतु धर्मपुरुषार्थसे अन्य जगह) इस वाक्यमें पहिले वाक्यांशसे धर्म अर्थ काम तीनों पुरुषार्थोंमें विश्वास करना चाहिये ऐसा अर्थ प्रतीत होता था परंतु जब 'धर्म पुरुषार्थसे अन्यत्र' कह कर धर्मपुरुषार्थकी व्यावृत्ति कर दी गई तो यह अर्थ स्वयंसिद्ध हो गया कि 'धर्ममें तो विश्वास ही करना चाहिये और शेष दो अर्थ और काम पुरुषार्थमें नहीं' इसीप्रकार "विदेहाः कर्मभूमय इत्युक्ते विदेहाभ्यंतरत्वाद्देवकुरूत्तरकुरूणामपि कर्मभूमित्वप्रसंगे, अन्यत्रवचनाद्देवकुरूत्तरकुरुभ्योन्ये विदेहाः कर्मभूमयः, देवकुरुत्तरकुरवो हैमवतादयश्च भोगभूमय इति" अर्थात् विदेह कर्मभूमि हैं ऐसे कहनेसे विदेहके भीतर रहने वाले देवकुरु और

उत्तर कुरुओंको भी कर्मभूमिपना प्राप्त था परंतु अन्यत्र शब्दके उल्लेखसे देवकुरु और उत्तरकुरुसे अन्य जो विदेह हैं वे कर्मभूमियां हैं और देवकुरु उत्तरकुरु और हैमवत आदि भोगभूमियां हैं यह यहां अर्थ स्वयंसिद्ध हो गया। इसरीतिसे विदेहक्षेत्रके भीतर रहने पर भी अन्यत्र शब्दके बलसे देवकुरु और उत्तरकुरु कर्मभूमि नहीं कहे जा सकते ॥ ३७ ॥

समस्त भूमियोंमें मनुष्योंकी स्थिति ज्ञापन करनेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमांतर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु तीन पल्य और अंतर्मुहूर्त प्रमाण है अर्थात् उत्कृष्टस्थिति तीन पल्यकी है और जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। मध्यकी स्थितिके अनेक भेद हैं। मुहूर्तका प्रमाण दो घडी वा अड़तालीस ४८ मिनटका माना है इतने प्रमाणके भीतरका काल अंतर्मुहूर्त कहा जाता है।

यथासंख्यमभिसंबंधः ॥ १ ॥

उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य प्रमाण है और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त प्रमाण है इसप्रकार त्रिपल्योपम और अंतर्मुहूर्त शब्दका यहां यथासंख्यरूपसे संबंध समझ लेना चाहिये। पल्यका प्रमाण आगे कहा जायगा। जिस स्थितिकी उपमा तीन पल्योंके बराबर है वह त्रिपल्योपमा स्थिति है। मुहूर्तके भीतरका जो समय हो वह अंतर्मुहूर्त कहा जाता है। वार्तिककार अब पल्यका प्रमाण कहते हैं परंतु उस पल्यका ज्ञान प्रमाणके अधीन है इसलिए सबसे पहिले प्रमाणविधिका उल्लेख किया जाता है—

१ असंख्यात समयकी एक आवली कहलाती है। उससे एक समय ऊपर और मुहूर्तसे एक समय कम भिन्नमुहूर्त कहलाता है उससे एक समय कमती अन्तर्मुहूर्त कहलाता है।

प्रमाणं द्विविधं लौकिकलोकोत्तरभेदात् ॥ २ ॥

लौकिकं षोढा मानोन्मानावमानगणनाप्रतिमानतत्प्रमाणभेदात् ॥ ३ ॥

लौकिक और लोकोत्तरके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है उनमें लौकिक मानके छह भेद हैं और मान १ उन्मान २ अवमान ३ गणना ४ प्रतिमान ५ और तत्प्रमाण ६ ये उनके नाम हैं। उनमें लौकिक प्रमाणका जो मान नामका भेद है वह रसमान और बीजमानके भेदसे दो प्रकारका है। घृत आदि पदार्थोंको मापनेवाली जो षोडशिका[1] आदि द्रव्य है वह रसमान कहा जाता है और कुडव आदिका नाम बीजमान[2] है। कुष्ठा तगर आदि द्रव्य ऊंचेको उठाकर जिससे मापी जाय वह उन्मान प्रमाण है और वह तराजू आदि कहा जाता है। रचना आदिके विभागसे भीतर प्रवेशकर क्षेत्र जिसके द्वारा मापा जाय वह अवमान प्रमाण है और वह दण्ड आदि कहा जाता है। एक दो तीन चार पांच छह सात आदि गणितसंबंधी प्रमाणको गणनामान कहते हैं। जिसप्रकार प्रतिमल्ल कहनेसे पहिले (एक) मल्लकी अपेक्षा पडती है उसीप्रकार पूर्व मानकी जिस मानमें अपेक्षा पडे वह प्रतिमान कहा जाता है। चार महाअधिक तृणफल[3] एक श्वेतसर्षपमान कहलाता है। सोलह सर्षपफल मिलकर एक धान्यमाषफल कहा जाता है। दो धान्यमाषफल मिलकर एक गुंजाफल प्रमाण कहा जाता है। दो गुंजाफल मिलकर एक रूप्यमाष कहा जाता है। सोलह रूप्यमाष मिलकर एक धरण नामका प्रमाण कहा जाता है। ढाई धरण मिलकर एक सुवर्ण कहा जाता है और उसीका नाम कंस है। चार कंस एक पल कहा जाता है। सौ पल एक तुला

१—पावसेर, आधासेर, सेर आदि समान हैं। २ जिन काष्ठादिके बने हुए मापसे धान्य तौले जाते हैं वे बीजमान कहे जाते हैं। ३ तृणफल—यह चांवलसे भी हलका माप करनेका पदार्थ होता है। पोस्तके समान समझना चाहिये।

नामका प्रमाण कहा जाता है। इसीको अर्धकंस भी कहते हैं। तीन पलोंका नाम एक कुडव (पोसेरा) है। चार पौसेराओंका नाम एक प्रस्थ (सेर) है चार प्रस्थोंको एक आढक कहते हैं। चार आढकोंको एक द्रोण कहते हैं। सोलह द्रोणोंका नाम एक खारी है। वीस खारियोंका नाम एक वाह है। इत्यादि यह सब नागरिक मान हैं। मणि और जातिमान् घोडा आदि द्रव्यकी दीप्ति और ऊंचाई आदि गुण विशेषोंसे जिसके द्वारा वस्तुका मूल्य समझा जाय वह तत्प्रमाण नामका मान है। जिसतरह—

मणिरत्नकी कांति ऊपरकी ओर जितने क्षेत्रमें व्याप्त हो उतना प्रमाण सोनेका समूह अमुक पदार्थका मूल्य है। अमुक घोडेकी जितनी ऊंचाई है उतनी ऊंचाईके बराबर सोनेका समूह अमुक वस्तुका मूल्य है। रत्नोंके स्वामीको जितने रत्नोंसे संतोष हो सके उतने रत्नोंकी बराबर रत्नोंका समूह अमुक वस्तु-का मूल्य है। इसीप्रकार अन्य द्रव्योंका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये।

लोकोत्तरं चतुर्धा द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् ॥ ४ ॥

द्रव्य क्षेत्र काल और भावके भेदसे लोकोत्तर मान चार प्रकारका है। द्रव्य नामक प्रमाणके जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं। उनमें एक परमाणु प्रमाण जघन्य द्रव्यप्रमाण है और महास्कंध स्वरूप उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण है। क्षेत्रप्रमाणके भी जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद हैं। उनमें एक आकाशप्रदेश जघन्य क्षेत्रप्रमाण है। दो तीन चार आदि आकाशप्रदेश मध्यम क्षेत्रप्रमाण है। और सर्वलोकप्रमाण आकाश उत्कृष्ट क्षेत्रप्रमाण है। कालप्रमाण भी जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। उनमें एक समयस्वरूप जघन्यकाल मान है। दो तीन चार पांच छह सात आदि समय स्वरूप मध्यमकाल मान है और अनंतकालस्वरूप उत्कृष्टकालमान है। भावप्रमाण उपयोग कहा जाता

है। वह साकार और अनाकारके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें जघन्य उपयोग लब्धिअपर्याप्तकसूक्ष्म निगोदियाके लब्ध्यक्षरका अविभाग प्रतिच्छेदप्रमाण होता है। मध्यम उपयोग अन्य जीवोंके और उत्कृष्ट उपयोग केवलियोंके होता है।

तत्र द्रव्यप्रमाणं द्वेधा संख्योपमाभेदात् ॥ ५ ॥

द्रव्यप्रमाणके संख्याप्रमाण और उपमाप्रमाण ये भी दो भेद हैं।

तत्र संख्याप्रमाणं त्रिधा संख्येयासंख्येयानंतभेदात् ॥ ६ ॥

संख्याप्रमाण संख्येय असंख्येय और अनंतके भेदसे तीन प्रकारका है उनमें संख्येयप्रमाणके तीन भेद हैं तथा असंख्यातप्रमाण और अनंतप्रमाणके नौ नौ भेद हैं। अर्थात् परीतासंख्यात युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात ये तीन भेद असंख्यातके हैं। इन तीनोंमें प्रत्येकके जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन तीन भेद हैं इसरीतिसे असंख्यातप्रमाण नौ प्रकारका हो जाता है इसीतरह अनंतके भी परीतानंत युक्तानंत और अनंतानंत ये तीन भेद हैं और इनमें भी प्रत्येक जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारका है इसरीतिसे अनंतके भी नौ भेद हो जाते हैं। इसप्रकार संख्यामान इकीस प्रकारका है। संख्येयप्रमाणके जो तीन भेद कहे हैं उनके जघन्य अजघन्योत्कृष्ट और उत्कृष्ट ये नाम हैं। यहांपर इतना विशेष और समझ लेना चाहिये कि दो संख्याप्रमाण तो जघन्य संख्यात है। तीनको आदि लेकर एक घाटि उत्कृष्टसंख्यात पर्यंत अजघन्योत्कृष्ट संख्यात है एवं एक घाटि जघन्य परीतासंख्यातप्रमाण उत्कृष्टसंख्यात है। उस संख्येयप्रमाणका ज्ञान इसप्रकार है—

१—निगोदिया और केवलीके सिवा बाकी संसारी जीवोंके मध्यम उपयोग होता है।

जंबूद्वीपके समान और एक हजार योजन प्रमाण गहरे शलाका प्रतिशलाका महाशलाका और अनवस्थित नामके चार कुंड करने चाहिये। ये कुंड केवल बुद्धिमें कल्पित कर लेना चाहिये। इनमें आदिके तीन कुंडोंकी अवस्थित संज्ञा और चौथा अनवस्थित है। इस अनवस्थित नामक चौथे कुंडमें दो सरसोंके डालनेपर जघन्य संख्येय प्रमाण माना जाता है। तथा उसी अनवस्थित कुंडको ठसाठस सरसोंसे भर दिया जाय। उस सरसोंसे भरे हुए कुंडको कोई सामर्थ्यवान देव अपने हाथमें लेकर उनमेंसे एक एक सरसों जंबूद्वीप आदि द्वीपोंमें और लवण आदि समुद्रोंमें बराबर क्षेपण करता चला जाय, इस रूपसे उस अनवस्था कुंडको रीता कर दे। जिस समय वह अनवस्था कुंड रीता हो जाय उससमय उसके रीतेपनको प्रगट करनेके लिये अर्थात् एक वार रीता हुआ इसके सूचन करनेके लिये एक सरसों शलाका कुंडमें डाल दे। जहांपर जाकर उस अनवस्था कुंडकी अंतिम सरसों पडे उस द्वीप वा समुद्रकी सूची प्रमाण एक हजार योजन ही गहरे दूसरे अनवस्था कुंडकी कल्पना कर उसे सरसोंसे भरे। फिर पहिले कहे अनुसार उसे ग्रहण कर जिस द्वीप वा समुद्रमें सरसों समाप्त हुई हैं उससे आगेके द्वीप और समुद्रोंमें उनमेंसे एक एक सरसों क्षेपण करता चला जाय, इसरीतिसे उस दूसरे अनवस्था कुंडको भी रीता करदे एवं उसका रीतापन सूचित करनेके लिये एक अन्य सरसों शलाका कुंडमें पटक दे। इसके वाद जिस द्वीप वा समुद्रमें वह दूसरे अनवस्था कुंडकी अंतिम सरसों पडी उसी द्वीप वा समुद्रकी सूची प्रमाण

१—जम्बूद्वीप प्रमाण एक लाख योजनके लम्बे और उतने ही चौडे तथा एक हजार योजन गहरे उस प्रथम अनवस्था कुण्ड को बुद्धिद्वारा—कल्पना करके पूर्ण भरा जाय और उस पर फिर सरसोंकी शिखा चढाई जाय तो उस पहले अनवस्था कुण्डकी समस्त सरसोंका प्रमाण इसप्रकार होगा—

पुनः तीसरे अनवस्थित कुंडकी कल्पना करे और उसे सरसोंसे भरे। फिर पहिले कहे अनुसार उसे ग्रहण कर उन सरसोंमेंसे एक एक सरसों आगेके द्वीप और समुद्रोंमें क्षेपण करता चला जाय इसरूपसे उस तीसरे अनवस्था कुंडको भी रीता करदे और उसका रीतापन सूचित करनेके लिये एक अन्य सरसों शलाका कुंडमें डाल दे। इस रीतिसे एक एक अनवस्थित कुंडकी वृद्धिके अनुसार एक एक सरसोंके

एक लक्ष योजन प्रमाण कुण्डके एक योजन गहरे, एक योजन चौडे उतने ही लम्बे, चौकोर यदि खण्ड किये जांय तो वे सात लाख पचास हजार कोटि खण्ड–७५०००००००००००० होते हैं। एक एक योजनके पांचसौ पांचसौ व्यवहार योजन होते हैं। क्योंकि जम्बूद्वीपका प्रमाण बडे योजनसे है। वह बडा योजन व्यवहार योजनसे पांचसौ गुणित है। तथा व्यवहार योजन चार कोसका होता है। दो हजार २००० धनुषका एक कोस होता है चार हाथका एक धनुष होता है, चौवीस अंगुलका एक हाथ होता है। अठ यव (जौ) का एक अंगुल होता है। तथा आठ चौकोरका सरसों एक यव (जौ) होता है। ये समस्त राशियां घनरूप हैं, इन्हें तीन २ जगह माढ कर परस्पर गुणा करना, उससमय जो क्षेत्र चार कोस लम्बा चार कोस चौड़ा तथा चार कोस ऊंचा हो, उसका एक कोस ऊंचा एक कोस लंबा एक कोस चौड़ा खण्ड करना चाहिये, तथा चारके अक्षरको तीन जगह माढ कर परस्पर गुणा करनेसे चौंसठ खण्ड हो जाते हैं। इसप्रकार तीन तीन जगह माडनेसे और परस्पर गुणा करनेसे, नौ चोकोर सरसोंकी गोल रूपमें सोलह सरसों हो जाती हैं। इसप्रकार उस जम्बूद्वीपके बराबर प्रथम अनवस्था कुण्डमें भरी हुई गोल सरसोंका प्रमाण यह है—

१९७९१२०९२१९९६८००० इतनी संख्या प्रमाण सरसों तो उस कुण्ड के समभाग पर्यंत होती हैं। तथा उस कुंडके ऊपर जो शिखा है वह शिखा कुण्डकी परिधिके प्रमाणसे ग्यारहवें भाग प्रमाण ऊंची जाती है उस शिखासम्बन्धी सरसोंका प्रमाण यह है—

१९९९२००८४४५५१९६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३ $\frac{४}{११}$। अब कुण्डके समभागकी सरसों और शिखाकी सरसों, दोनोंको मिलाकर समस्त कुंडकी सरसोंका प्रमाण इसप्रकार है—

१९९७११२९३८४५१३१९६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६३६ $\frac{४}{११}$।

शलाका कुंडमें डालनेपर जिस समय शलाका कुंड भर जाय उस समय उसका भरना सूचित करनेके लिये एक सरसों प्रतिशलाका कुंडमें क्षेपण करनी चाहिये। इसके वाद उस शलाका कुंडको रीता कर ऊपर कहे अनुसार वरावर अनवस्था कुंडोंकी कल्पनाकर उन्हें सरसोंसे भरता रहना चाहिये और प्रत्येकका भरना सूचित करनेके लिये एक एक सरसों शलाका कुंडमें क्षेपण करता रहना चाहिये इस रूपसे जव दूसरी-वार भी शलाका कुंड भर जाय तव एक सरसों और प्रतिशलाका कुंडमें डाल देनी चाहिये। इसीप्रकार एक एक वार शलाका कुंड रीता रीता कर उसे भरना चाहिये और हर एक वारमें उसका भरना सूचित करनेके लिये एक एक सरसों प्रतिशलाका कुंडमें डालते जाना चाहिये इस रूपसे प्रतिशलाका कुंड भी भर जाय उस समय उसका भरना सूचित करनेके लिये एक सरसों महाशलाका कुंडमें क्षेपण करना चाहिये। पुनः उस प्रतिशलाका कुंडको रीताकर ऊपर कहे अनुसार अनवस्था कुंडोंकी कल्पना कर उन्हें सरसोंसे भरना चाहिये उनके भरने पर पूर्वोक्त रीतिके अनुसार शलाका कुंडोंको भरना चाहिये। उनके भरने पर पूर्व कथित रीतिके अनुसार प्रतिशलाका कुंडोंको भरना चाहिये। जितनी वार प्रति-शलाका कुंड भरे जाय उतनी ही वार एक एक सरसोंके हिसावसे महाशलाका कुंडमें क्षेपण कर उसे भर देना चाहिये इसरीतिसे जिससमय महाशलाका कुंड भर जाय उस समय चारो ही कुंड भर जाते हैं। वहांपर अंतके अनवस्था कुंडमें जितनी प्रमाण सरसों भरी हों वह उत्कृष्ट संख्यातसे एक भाग अधिक होनेके कारण जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण है इस जघन्य परीतासंख्यातमें एक भाग घटा देने पर उत्कृष्ट संख्येयका प्रमाण कहा जाता है। तथा अजघन्योत्कृष्ट संख्येय मध्यम संख्येय कहा जाता है। जहांपर संख्येय शब्दका उल्लेख हो वहांपर अजघन्योत्कृष्ट संख्येय समझ लेना चाहिये।

परीतासंख्येय युक्तासंख्येय और असंख्यासंख्येयके भेदसे असंख्येय तीन प्रकार है । इनमें जघन्य परीतासंख्येय उत्कृष्ट परीतासंख्येय और मध्यम परीतासंख्येयके भेदसे परीतासंख्येय तीन प्रकार है इसी प्रकार युक्तासंख्येय और असंख्यासंख्येयके भी तीन तीन भेद समझ लेना चाहिये । अनंतके भी परीतानंत युक्तानंत और अनंतानंत ये तीन भेद हैं । इनमें परीतानंत, जघन्यपरीतानंत उत्कृष्टपरीतानंत और मध्यम परीतानंतके भेदसे तीन प्रकार है इसीतरह युक्तानंत और अनंतानंतके भी तीन तीन भेद समझ लेने चाहिये । उत्कृष्टपरीतासंख्येयका प्रमाण इस प्रकार है—

जघन्य परीतासंख्येयके जितने भाग हैं उन सबको एक एक कर विरलन—बराबर जुदा जुदा रख कर मुक्तावली—मोतियोंकी पंक्तिके समान पंक्ति बनावै । इस मुक्तावलीमें एक एक मुक्ताके ऊपर देय-राशिस्वरूप जो (जघन्य) परीतासंख्येयरूप वर्गराशि है उसे स्थापनकर पहिली मुक्तावलीकी कुछ भी गणना न कर जो एक एक मुक्ताके ऊपर जघन्य परीतासंख्यात स्थापित किये थे उन सबका आपसमें गुणाकर दूसरी मुक्तावली बनानी चाहिये इसरीतिसे जघन्य परीतासंख्येयके गुणन करनेसे जो राशि निष्पन्न हो वह देय राशि है । एक एक मुक्ताके ऊपर इसप्रकार गुणन की हुई वह राशि उत्कृष्टपरीतासंख्येयके प्रमाणसे एक भाग अधिक हो जानेके कारण उत्कृष्टपरीतासंख्येयको लांघकर जघन्य युक्तासंख्येय प्रमाण हो जाती है । इस जघन्य युक्तासंख्येयके प्रमाणमेंसे एक भाग घट जानेपर उत्कृष्टपरीतासंख्येयका प्रमाण है । अजघन्योत्कृष्ट परीतासंख्येय, मध्यमपरीतासंख्येय कहा जाता है । जहांपर आवलीके द्वारा कार्य हो वहांपर जघन्य युक्तासंख्येयका ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जघन्य युक्तासंख्यात समयोंके समूहको आवली कहा गया है अर्थात् जघन्य युक्तासंख्यातका जो प्रमाण है वही प्रमाण आवलीका है ।

जघन्य युक्तासंख्येयके जितने भाग हैं उन सबका विरलन कर मुक्तावली बनाना चाहिये। उस मुक्तावलीमेंके प्रत्येक मुक्तापर देय राशि स्वरूप जो युक्तासंख्येयरूप वर्गराशि है उसे स्थापना चाहिये पश्चात् उस देयरूप राशिके आपसमें गुणन करनेपर जो महाराशि उत्पन्न हो वह उत्कृष्ट युक्तासंख्येयकी अपेक्षा एक अधिक हो जानेके कारण उत्कृष्ट युक्तासंख्येयका उल्लंघन कर जघन्यासंख्येयासंख्येय प्रमाण हो जाता है। उस जघन्यासंख्येयासंख्येयके प्रमाणमेंसे एक भाग घट जानेपर उत्कृष्टयुक्तासंख्येयका प्रमाण होता है। अजघन्योत्कृष्टासंख्येयका अर्थ मध्यमयुक्तासंख्येय है।

जघन्यासंख्येयासंख्येयके जितने विभाग हैं उन सबका विरलन कर पूर्वोक्तप्रकारसे तीन बार वर्गित संवर्गित अर्थात् गुणितका गुणन करनेपर भी उत्कृष्टासंख्येयासंख्येका प्रमाण नहीं सिद्ध होता इसलिये धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य एक जीवद्रव्य लोकाकाश प्रत्येकशरीरी जीव वादरनिगोदशरीरी जीव इन छहों असंख्यातोंको, स्थितिबंधाध्यवसाय स्थान और अनुभागबंधाध्यवसायस्थाननिको, योगविभागपरिच्छेदोंको एवं असंख्येयलोकके प्रदेशोंकी बराबर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके समयोंको पूर्वराशिमें मिलाकर, तीन बार वर्गित संवर्गित कर जो महाराशि उत्पन्न हो वह उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयसे एक भाग अधिक हो जानेके कारण उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयका उल्लंघन कर जघन्यपरीतानंत प्रमाण होता है। उस जघन्यपरीतानंतमेंसे एक भाग घटनेपर उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयका प्रमाण होता है। अजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येयका अर्थ मध्यमासंख्येयासंख्येय है। जहांपर असंख्येयासंख्येयसे प्रयोजन रक्खा हो वहांपर अजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येय अर्थ समझ लेना चाहिये।

जघन्यपरीतानंतके जितने विभाग हैं उन्हें विरलन कर मुक्तावली बनाना चाहिये। उसे मुक्ता-

वलीमेंके प्रत्येक मुक्तापर देय राशिस्वरूप जो परीतानंतरूप वर्गराशि है उसे स्थापित करना चाहिये। पश्चात् उस देय रूप राशिके आपसमें गुणन करनेपर जो महाराशि उत्पन्न हो वह उत्कृष्टपरीतानंतसे एक भाग अधिक हो जानेके कारण जघन्ययुक्तानंतका प्रमाण हो जाती है। इस जघन्ययुक्तानंतमेंसे एक भाग घट जानेपर जघन्ययुक्तानंतका उल्लंघन कर उत्कृष्टपरीतानंतका प्रमाण हो जाता है। अजघन्योत्कृष्टपरीतानंतका अर्थ मध्यमपरीतानंत समझ लेना चाहिये। मार्गणाओंमें अभव्य राशिका प्रमाण जघन्ययुक्तानंत ग्रहण करना चाहिये।

जघन्ययुक्तानंतके जितने विभाग हैं उन सबको विरलनकर एक मुक्तावलीकी रचना करनी चाहिये। उस मुक्तावलीमेंके प्रत्येक मुक्तापर देयस्वरूप जो जघन्ययुक्तानंत है उसका स्थापन करना चाहिये। पश्चात् उस देयरूप राशिका आपसमें गुणन करनेपर जो महाराशि उत्पन्न हो वह उत्कृष्ट युक्तानंतसे एक आधिक हो जानेके कारण उत्कृष्टयुक्तानंतका उल्लंघन कर जघन्य अनंतानंतका प्रमाण होता है। उस जघन्य अनंतानंतमेंसे एक भाग घटा देनेपर उत्कृष्टयुक्तानंतका प्रमाण होता है। अजघन्योत्कृष्टयुक्तानंतका अर्थ मध्यमयुक्तानंत है।

जघन्य अनंतानंतके जितने विभाग हैं उनका विरलन करना चाहिये। पूर्वोक्त रीतिसे तीनबार गुणन करनेपर भी उत्कृष्ट अनंतानंतका प्रमाण नहीं निकलता इसलिये सिद्धजीव निगोतजीव वनस्पति काय अतीत अनागतकालका समय सर्वपुद्गल सर्व आकाशप्रदेश धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और अगुरुलघु गुण जो कि सब मिलकर अनंत हैं इन्हें उस तीनबार वर्गित संवर्गित महाराशिमें मिलाना चाहिये। सिद्धजीव आदिके मिलनेसे यह एक महान् राशि होगी इस महाराशिका भी पूर्वोक्तप्रकारसे

तीनबार गुणन करनेपर उत्कृष्ट अनंतानंतका प्रमाण नहीं निकलता इसलिए इस महाराशिमें अनंत-स्वरूप केवलज्ञान और केवलदर्शनका मिलान करना चाहिये तब उत्कृष्ट अनंतानंतका प्रमाण निकलता है। इस उत्कृष्ट अनंतानंतमेंसे एक घटा देनेपर अजघन्योत्कृष्ट अनंतानंतका प्रमाण होता है। मार्गणा प्रकरणमें जहांपर अनंतानंत कहा गया है वहांपर अजघन्योत्कृष्टानंतानंत समझना चाहिये।

उपमाप्रमाणमष्टविधं पल्यसागरसूचीप्रतरघनांगुलजगच्छ्रेणीलोकप्रतरलोकभेदात् ॥ ७ ॥

अंत आदि और मध्य रहित अविभागी अतींद्रिय तथा एक रस एक गंध एक वर्ण और दो स्पर्श-स्वरूप परमाणु है। अनंतानंत परमाणुओंके संघातका नाम एक उत्संज्ञासंज्ञा (उत्सन्नासन्ना) है। आठ उत्संज्ञासंज्ञा एक संज्ञासंज्ञा (सन्नासन्ना) है आठ संज्ञासंज्ञा एक त्रुटिरेणु है। आठ त्रुटिरेणुओंके मिले हुए समुदायका नाम त्रसरेणु है। आठ त्रसरेणुओंका समुदाय एक रथरेणु कहा जाता है। आठ रथरेणुओंका समुदाय देवकुरु और उत्तरकुरुके मनुष्यके बालका अग्रभाग है। देवकुरु और उत्तरकुरुके मनुष्योंके बालके आठ अग्रभागोंका समुदाय रम्यक और हरिवर्षक्षेत्रके मनुष्योंके बालके अग्रभाग प्रमाण होता है। रम्यक और हरिवर्ष मनुष्योंके बालके आठ अग्रभाग प्रमाण हैरण्यवत और हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंके बालका अग्रभाग है। हैरण्यवत और हैमवत मनुष्योंके बालके आठ अग्रभागोंके समुदायकी बराबर भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके बालका अग्रभाग है। भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके आठ बालोंके अग्रभागोंकी बराबर एक लीखका प्रमाण है। आठ लीखोंका समुदाय एक यूका (जूआं) कहा जाता है। आठ यूकाओंका प्रमाण एक यवका मध्यभाग कहा जाता

१—इस संख्यामानका विशेष वर्णन श्रीत्रिलोकसारसे जानना चाहिये।

है। आठ यव मध्यभागोंका एक उत्सेधांगुल होता है। इस उत्सेधांगुल द्वारा नारकी तिर्यंच देव मनुष्य अकृत्रिम चैत्यालय और प्रतिमाओंके शरीरोंकी ऊंचाई ली जाती है। पांचसौ गुना वह उत्सेधांगुल प्रमाणांगुल कहा जाता है। तथा यही प्रमाणांगुल अवसर्पिणी कालके प्रथम चक्रवर्तीका आत्मांगुल कहा जाता है। उस समय उस आत्मांगुलसे गांव नगर आदिका प्रमाण गिना जाता है। तथा प्रथम चक्रवर्तीकी उत्पत्तिका जो युग है उस युगके अतिरिक्त जो युग हैं उनमें जिस कालमें जो मनुष्य हों उन मनुष्योंके आत्मांगुल प्रमाणसे ग्राम नगर आदिका प्रमाण लिया जाता है। जो ऊपर प्रमाणांगुलका वर्णन किया गया है उससे द्वीप समुद्र उनकी जगती और वेदी पर्वत विमान नरकोंके प्रस्तार आदि अकृत्रिम चीजोंकी लंबाई चौडाई आदिका प्रमाण किया जाता है। छह अंगुलोंका एक पाद कहा जाता है बारह अंगुलोंकी एक वितस्ति (विलांयद) कही जाती है। दो वितस्तियोंका एक हाथ, दो हाथोंका एक गज, दो गजोंका एक दंड, दो हजार दंडोंका एक कोश और चार कोशोंका एक योजन कहा जाता है।

पल्यं त्रिविधं व्यवहारोद्धाराद्धाविकल्पादन्वर्थात् ॥ ८ ॥

व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य, और अद्धापल्यके भेदसे पल्य तीन प्रकारका है। ये तीनों पल्य सार्थक नामके धारक हैं। इनमें उद्धार और अद्धापल्यके व्यवहारमें कारण होनेसे पहिले पल्यका नाम व्यवहार पल्य है। इस व्यवहारपल्यसे किसी भी चीजका प्रमाण नहीं होता। दूसरे पल्यका नाम उद्धार पल्य है। उससे निकाले हुए रोमच्छेदोंसे द्वीप और समुद्रोंकी संख्याका निर्णय होता है इसलिये उसका उद्धारपल्य यह सार्थक नाम है। तीसरे पल्यका नाम अद्धापल्य है और उसका अर्थ अद्धाकाल है। इससे आयुकी स्थिति कर्मोंकी स्थिति आदि जानी जाती है। इनका खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

पल्यका अर्थ गड्ढा है। प्रकृतमें तीनों पल्योंसे तीन गड्ढे लिये गये हैं और उनका परिमाण उपर्युक्त प्रमाणांगुलसे परिमित एक योजन प्रमाण लम्बाई एक योजन प्रमाण चौडाई और एक योजन प्रमाण गहराई समझना चाहिये। अर्थात् उन तीनों गढोंमें प्रत्येक गढा चार कोश लम्बा चार कोश चौडा और चार कोश गहरा लेना चाहिये। एक दिनसे सात दिन रात्रि तकके मेडके बच्चेके रोमोंके अग्रभागके टुकडे ऐसे काट काटकर भरे जांय जिनके फिर कैंची आदिसे टुकडे न हो सकें, ऐसे रोमोंके टुकडोंसे कूट कूटकर भरे हुए गढेका नाम व्यवहारपल्य है तथा उन टुकडोंमेंसे हर एक टुकडेको सौ सौ वर्षके बाद निकाला जाय तो जितने कालमें वह गढा खाली हो जाय उतने कालका नाम व्यवहारपल्योपम काल है। उन्हीं अविभागी बालोंके टुकडोंमेंसे हर एक टुकडेके जितने असंख्यात करोड वर्षोंके समय होते हैं उतने ही कल्पनासे टुकडे किये जांय और उनसे उतना ही लम्बा चौडा और गहरा गढा भरा जाय; उस भरे हुए गढेका नाम उद्धारपल्य है। और उन टुकडोंमेंसे एक एक समयके बाद एक एक टुकडोंके निकालनेपर जितने समयमें वह गढा खाली हो जाय उस कालको उद्धारपल्योपम काल कहते हैं। दश कोडाकोडी उद्धारपल्योंका एक उद्धारसागरोपम काल होता है और ढाई उद्धारसागरोपमकालके अर्थात् पचीस कोडाकोडी उद्धारपल्योंके जितने बालोंके टुकडे हों उतने ही द्वीप और समुद्र हैं। उद्धारपल्यके बालोंके जितने टुकडे हैं उनमेंसे हर एक टुकडेके सौवर्षोंके जितने समय होते हैं उतने प्रमाण टुकडे किये जांय, उन टुकडोंसे उतना ही लंबा चौडा और गहरा गढा भरा जाय उस भरे हुए गढेका नाम अद्धापल्य है और उनमेंसे एक एक समयके बाद एक एक टुकडा निकालनेपर जितने समयमें वह गढा खाली

१—उस गढेमें भरे हुए रोमोंकी संख्या पैंतालीस अंक प्रमाण है।

हो उतने समयका नाम अद्धापल्योपम काल है। दश कोडाकोडी अद्धापल्योंका एक अद्धासागरोपम काल होता है। दश कोडाकोडी अद्धासागरोपमकालोंका एक अवसर्पिणी काल होता है एवं दश कोडाकोडी अद्धासागरोपम कालोंका ही एक उत्सर्पिणी काल होता है। इस अद्धापल्यसे नारकी तिर्यंच देव और मनुष्योंकी कर्मस्थिति भवस्थिति आयुस्थिति और शरीरकी स्थितिका प्रमाण होता है।

अद्धापल्यके अर्धच्छेदोंका शलाका विरलन कर और प्रत्येक अर्धच्छेदके ऊपर अद्धापल्यरूप देय राशिका स्थापनकर जितने अर्धच्छेद हों उतने प्रमाण आकाश प्रदेशोंकी जो मुक्तावली हो वह सूच्यंगुलका प्रमाण है। इस सूच्यंगुलका दूसरे सूच्यंगुलके साथ गुणा करनेपर प्रतरांगुलका प्रमाण होता है उस प्रतरांगुलको सूच्यंगुलसे गुणा करनेपर घनांगुल होता है। असंख्यात वर्षोंके जितने समय हैं उतने प्रमाण खण्ड अद्धापल्यके करने चाहिये। उनमें असंख्यात खंडोंको छोडकर एक असंख्यातवें भागको बुद्धिसे विरलन कर और उनके ऊपर घनांगुलरूप देयराशिका स्थापन कर, परस्पर गुणन करनेपर जो प्रमाण हो वह जगच्छ्रेणी है। इस जगच्छ्रेणीको दूसरी जगच्छ्रेणीके साथ गुणन करनेपर जगत्प्रतर होता है एवं उस जगत्प्रतरको जगच्छ्रेणिसे गुणन करनेपर जगद्घन होता है। इसीका नाम लोक है। अर्थात् सात राजू लंबे सात राजू चौडे और सात राजू ऊंचे क्षेत्रके प्रदेशोंका नाम लोक है।

क्षेत्रप्रमाणं द्विविधं, अवगाहक्षेत्रं विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चेति ॥ ९ ॥

अवगाह क्षेत्र और विभागनिष्पन्नक्षेत्रके भेदसे क्षेत्र प्रमाण दो प्रकारका है। उनमें एक दो तीन संख्यात असंख्यात और अनंतप्रदेशस्वरूप पुद्गल द्रव्यके अवगाहके स्थान आकाशके एक प्रदेश

सात राजू प्रमाण लम्बी आकाश प्रदेश पंक्तियां जगच्छ्रेणीका प्रमाण है।

दो प्रदेश तीन प्रदेश चार प्रदेश आदि असंख्येय प्रदेशोंके भेदसे अवगाह क्षेत्र अनेक प्रकारका है तथा विभागनिष्पन्न क्षेत्र भी अनेक प्रकार है जिसप्रकार असंख्यातगुणित आकाशकी श्रेणियां, क्षेत्र प्रमाणांगुलका एक असंख्यातवां भाग है। असंख्यात क्षेत्र प्रमणांगुलके असंख्यात भाग, एक क्षेत्र प्रमाणांगुल कहा जाता है। पाद वितस्ति आदि भी विभागनिष्पन्नक्षेत्र स्वरूप हैं और उनका प्रमाण ऊपर कह गया है। इसप्रकार यह क्षेत्रका प्रमाण समाप्त हुआ। अब कालका प्रमाण कहा जाता है—

गमनशील पुद्गलका शुद्ध परमाणु मंदगतिसे जितने कालमें अपनी स्थितिके प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जासके उस कालका नाम एक समय है। वह समय निर्विभाग पदार्थ है—उसका और कोई खंड नहीं हो सकता तथा वह परमनिरुद्ध है—सबसे छोटा कालका खंड है। असंख्यात समयोंकी एक आवली होती है। असंख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास और असंख्यात ही आवलियोंका एक निश्वास होता है। जीवित प्राणीके निरोग उच्छ्वास निश्वासको प्राण कहते हैं। सात प्राणोंका नाम स्तोक है। सात स्तोकोंका नाम लव है। सतहत्तर लवोंका एक मुहूर्त[1] होता है। तीस मुहूर्तोंका एक अहोरात्र[2] होता है। पंद्रह अहोरात्रोंका एक पक्ष होता है। दो पक्षोंका एक मास होता है। दो मासोंकी एक ऋतु होती है। तीन ऋतु अर्थात् छह महीनोंका एक अयन होता है। दो अयनोंका एक वर्ष होता है। चौरासी लाख वर्षोंका एक पूर्वांग होता है। तथा चौरासी लाख पूर्वांगोंका एक पूर्व होता है। इसीप्रकार पूर्वांग पूर्व नयुतांग नयुत कुमुदांग कुमुद पद्मांग पद्म नलिनांग नलिन कमलांग कमल त्रुट्यांग त्रुट्य अटटांग

१—आवलि असंखसमया संखेज्जावलि हवेइ उच्छासा। सत्तुच्छ्वासा थोवो सत्तुत्थोवो लवो भणिओ॥
अठतीसद्धलवा णाली वे णालीया मुहुत्तं तु। इत्यादि। गोम्मटसार॥   २ रातदिन।

अटट अममांग अमम हूहूअंग हूहू लतांग लता महालतांग महालता आदि संज्ञायें समझ लेना चाहिये। खुलासा इसप्रकार है—

गमन शील पुद्गलका परमाणु मंदगतिसे जितने कालमें अपने प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाय और जिसका दूसरा भाग न हो सके उसे समय कहते हैं। असंख्यात समयकी एक आवली होती है असंख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास और उतना ही प्रमाण एक निश्वास होता है। इसी प्रमाणको प्राण कहते हैं। सात प्राणोंका एक स्तोक, सात स्तोकका एक लव, सतहत्तर लवोंका एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तोंका एक अहोरात्र, पंद्रह अहोरात्रोंका एक पक्ष, दो पक्षोंका एक मास, दो मासोंकी एक ऋतु, तीन ऋतुओंका एक अयन, दो अयनोंका एक वर्ष, पांच वर्षोंका एक युग, दो युगोंके दश वर्ष, दशके दश गुने सौ वर्ष, सौके दश गुने हजार वर्ष, हजारके दश गुने दश हजार वर्ष, दश हजारके दश गुने लाख वर्ष, लाखके चौरासी लाख गुने चौरासी लाख वर्ष, चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांगोंका एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्वोंका एक नियुतांग, चौरासी लाख नियुतांगोंका एक नियुत, चौरासी लाख नियुतोंका एक कुमुदांग, चौरासी लाख कुमुदांगोंका एक कुमुद, चौरासी लाख कुमुदोंका एक पद्मांग, चौरासी लाख पद्मांगोंका एक पद्म, चौरासी लाख पद्मोंका एक नलिनांग, चौरासी लाख नलिनांगोंका एक नलिन, चौरासी लाख नलिनोंका एक कमल, चौरासी लाख कमलोंका एक त्रुट्यांग, चौरासी लाख त्रुट्यांगोंका एक त्रुट्य, चौरासी लाख त्रुट्योंका एक अटटांग, चौरासी लाख अटटांगोंका एक अटट, चौरासी लाख अटटोंका एक अममांग, चौरासी लाख अममांगोंका एक अमम, चौरासी लाख अममोंका एक हूहू अंग, चौरासी लाख हूहू अंगोंका एक हूहू, चौरासी लाख हूहूओंका एक लतांग, चौरासी लाख लतांगोंकी एक

, चौरासी लाख लताओंका एक महालतांग, चौरासी लाख महालतांगोंकी एक महालता, चौरासी लाख महालताओंका एक शिरःप्रकंपित चौरासी लाख शिरःप्रकंपितोंकी एक हस्तप्रहेलिका तथा चौरासी लाख हस्तप्रहेलिकाओंका एक चर्चित कहा जाता है। इत्यादि रूपसे आगे भी समझ लेना चाहिये।

(हरिवंशपुराण)

इन सवको संख्यात काल कहा गया है एवं यह संख्येयकाल वर्षोंकी गणनासे जाना जाता है। इस संख्येय कालके वाद असंख्यात काल है और वह पल्य सागरोपम प्रमाण माना गया है। इस असंख्येय कालके वाद अतीत अनागतरूप अनंत प्रमाण काल है और वह केवली भगवान सर्वज्ञके प्रत्यक्ष-गम्य है।

भावप्रमाणं पंचविधं ज्ञानं ॥ ९ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे जो पांचप्रकारका ज्ञान है वही भाव प्रमाण है। इन पांचो प्रकारके ज्ञानोंका वर्णन ऊपर कर दिया गया है ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार यह उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति मनुष्योंकी कही गई है उसी प्रकार तिर्यंचोंकी भी है इस वातके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

तिर्यंचोंकी भी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और जघन्य अंतर्मुहूर्तकी है। 'तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनिः' अर्थात् तिर्यंचोंकी जो योनि है वह तिर्यग्योनि है। वार्तिककार तिर्यग्योनि शब्दका स्पष्टीकरण करते हैं—

तिर्यङ्नामकर्मोदयापादितजन्म तिर्यग्योनिः ॥ १ ॥

तिर्यंचगति नामकर्मके उदयसे जो जन्म प्राप्त हो उसीका नाम तिर्यग्योनि है अर्थात् तिर्यंच जन्मका ही नाम तिर्यग्योनि है। इस तिर्यग्योनिमें जो जीव उत्पन्न हों वे तिर्यग्योनिज अर्थात् तिर्यंच कहे जाते हैं। इन तिर्यंचोंकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्यकी है। जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्तप्रमाण है तथा मध्यमस्थितिके अनेक भेद हैं। इस मध्यमस्थितिके प्रतिपादन करनेकेलिए वार्तिककार कहते हैं—

तिर्यंचस्त्रिविधा एकेंद्रियविकलेंद्रियपंचेंद्रियभेदात् ॥ ५ ॥

एकेंद्रिय विकलेंद्रिय और पंचेंद्रियके भेदसे तिर्यंच तीन प्रकारके हैं। जिनके केवल एक ही इंद्रिय हो वे एकेंद्रिय तिर्यंच हैं। दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय तकके तिर्यंच विकलेंद्रिय कहे जाते हैं एवं जिनके पांचों इंद्रियां हैं वे पंचेंद्रिय तिर्यंच हैं।

द्वाविंशतिसप्तत्रिदशवर्षसहस्राणि एकेंद्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिस्तेजसां त्रीणि रात्रिंदिवानि ॥ ६ ॥

पृथिवीकायिक जलकायिक तेजस्कायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिकके भेदसे एकेंद्रियजीव पांच प्रकारके हैं। उनमें पृथिवीकायिक जीवोंके दो भेद हैं एक शुद्धपृथिवीकायिक दूसरा खरपृथिवीकायिक। इनमें शुद्धपृथिवीकायिकोंकी उत्कृष्टस्थिति बारह हजार वर्षकी है और खर (कठोर) पृथिवीकायिकोंकी बाईस हजार वर्षकी है। वनस्पतिकायिक जीवोंकी दश हजार वर्षकी, जलकायिकोंकी सात हजार वर्षकी, वायुकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्षकी एवं तेजस्कायिक जीवोंकी तीन रातदिनकी है।

विकलेंद्रियाणां द्वादशवर्षा एकान्नपंचाशद्रात्रिंदिवानि षण्मासाश्च ॥ ७ ॥

दोइंद्रिय जीवोंकी उत्कृष्टस्थिति बारह वर्षकी है। तेइंद्रिय जीवोंकी उत्कृष्टस्थिति उनचास रातदिन है। तथा चौइंद्रिय जीवोंकी उत्कृष्टस्थिति छह महीनोंकी है।

९८१

पंचेंद्रियाणां पूर्वकोटिनवपूर्वांगानि द्विचत्वारिंशद्द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि त्रिपल्योपमा च ॥ ५ ॥

पंचेंद्रियोंमें तिर्यंच पंचेंद्रिय जलचर, परिसर्प, उरग, पक्षी और चतुष्पादोंके भेदसे पांच प्रकारके हैं। उनमें मच्छी आदिक जो जलचर हैं उनकी उत्कृष्टस्थिति कोडिपूर्वकी है। गोह नौला आदि परिसर्पोंकी नौ पूर्वांगोंकी है। उरगों (सर्पों) की व्यालीस हजार वर्षकी है। पक्षियोंकी बहत्तर हजार वर्षकी है एवं चौपायोंकी तीन पल्योंकी है। ऊपर जितने भी तिर्यंच कहे गये हैं उन सबकी जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त-प्रमाण है। शंका—'नृस्थिती परावरे' इत्यादि सूत्रसे मनुष्योंकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्यकी और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्तप्रमाण कही गई है। इसीप्रकार तिर्यंचोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति 'तिर्यग्योनि-जानां च' इस सूत्रसे कही गई है। इस रीतिसे मनुष्य और तिर्यंचोंकी स्थिति जब बराबर है तब दोनों सूत्रोंका एक ही सूत्र करना चाहिये था, योगविभाग अर्थात् भिन्न भिन्न दो सूत्र क्यों कहे गये ? उत्तर—

पृथग्योगग्रहणं यथासंख्यनिवृत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

यदि 'नृस्थिती परावरे इत्यादि' और 'तिर्यग्योनिजानां च' इन दोनों सूत्रोंका एक सूत्र कहा जाता तो मनुष्योंकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्यकी है और तिर्यंचोंकी जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त है यह क्रमिक अनिष्ट अर्थ होता इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिकेलिए एवं मनुष्योंकी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है तथा तिर्यंचोंकी भी उत्कृष्टस्थिति तीन पल्य और जघन्यस्थिति अंतर्मुहूर्त है इस रूपसे प्रत्येककी दोनों प्रकारकी स्थितिकी सिद्धिकेलिए दोनों सूत्रोंका भिन्न भिन्न रूपसे उल्लेख किया गया है। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

मनुष्य और तिर्यंचोंकी भवस्थिति और कायस्थिति क्या है? और उन दोनों प्रकारकी स्थितियोंमें

क्या विशेष है ? उसका समाधान यह है कि एक भवसंबंधी स्थितिका नाम भवस्थिति है तथा जलकाय आदि किसी एक कायमें अनेक भवोंका ग्रहण होना कायस्थिति कही जाती है। जिसतरह—

पृथिवीकायिक जलकायिक तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट कायास्थिति असंख्यात लोकप्रमाण है। अर्थात् यदि इन्हीं कायोंमें उपजना हो तो बराबर असंख्यात लोकप्रमाण कालतक उपजना होता रहता है। वनस्पतिकायिक जीवोंकी अनंत कालप्रमाण है जो कि असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाणस्वरूप वा आवलीके असंख्यातभागस्वरूप कही जाती है। दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रियस्वरूप विकलेंद्रियोंकी असंख्यात हजारवर्षप्रमाण है। पंचेंद्रिय तिर्यंच और मनुष्योंकी उत्कृष्ट कायास्थिति पृथक्त्वकोटि पूर्व अधिक तीन पल्यप्रमाण है। इन सबकी जघन्य कायास्थिति अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। तथा देव और नारकियोंकी भवस्थिति ही कायस्थिति है।

विशेष—यद्यपि यहांपर यह शंका हो सकती है कि तिर्यंचोंका तो यहांपर प्रकरण नहीं था फिर यहां तिर्यंचोंकी स्थितिका उल्लेख क्यों किया गया ? उसका समाधान यह है कि ऊपरके सूत्रकी अनुवृत्तिसे संक्षेपमें यहांपर तिर्यंचोंकी स्थितिका कथन हो जाता है यदि अन्यत्र कहा जाता तो अधिक अक्षरोंके उल्लेखसे गौरव होता इसलिये यहांपर लघुतासे तिर्यंचोंकी स्थितिका उल्लेख दोषावह नहीं। यदि कदाचित यह शंका की जाय कि—द्वीप तो असंख्याते हैं उन सबका वर्णन न कर सूत्रकारने ढाई द्वीपका ही वर्णन क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि सूत्रकार भगवान उमास्वामी आचार्यको मनुष्य लोकके वर्णन करनेकी ही विशेष इच्छा थी इसलिये मनुष्योंके रहनेका स्थान ढाई द्वीपका ही उन्होंने वर्णन करना इष्ट समझा किंतु जहांपर मनुष्योंके रहनेका स्थान नहीं ऐसे अन्य द्वीपोंका उल्लेख करना इष्ट नहीं समझा अतः यहांपर ढाई द्वीपका ही वर्णन किया गया है। शंका—

यहांपर जीवतत्त्वके निरूपणका प्रकरण चल रहा था, अप्रकृत द्वीप और समुद्रोंके निरूपणकी यहां क्या आवश्यकता थी ? समाधान—द्वीप और समुद्रोंके निरूपणसे मनुष्योंके आधारका निश्चय होता है इसलिये उनका निरूपण यहां निरर्थक नहीं कहा जासकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जीवोंके आधारस्वरूप द्वीप और समुद्रोंके उल्लेखमें निमित्त कारण क्या है उसका समाधान यह है कि—

जिसप्रकार शरीर आदि पुद्गलोंमें विवेचनाई पुद्गलविपाकी[1] कर्म शरीर नाम आदिक हैं तथा भवविपाकी नारकायु देवायु आदि कर्म हैं और जीवविपाकी साता वेदनीय आदि कर्म हैं। जो मनुष्य वा अन्य जीव शरीर आदि धारण करते हैं वहांपर वे कारण होते हैं उसीप्रकार अनेक क्षेत्रोंमें विवेचनाई अनेक प्रकारके क्षेत्रविपाकी भी कर्म हैं और जो जीव उन क्षेत्रोंमें उत्पन्न होते हैं वे कर्म उनकी उत्पत्तिमें कारण पडते हैं इसलिए उन जीव आदिके आधारस्वरूप द्वीप और समुद्रोंका उल्लेख निरर्थक नहीं।

यदि जीवोंके आधारस्वरूप द्वीप और समुद्रोंका उल्लेख न किया जायगा तो नारकी तिर्यंच और देवोंके आधारोंका भी प्ररूपण आवश्यक न समझा जायगा इसरूपसे जब जीवोंके आधारोंका ही प्ररूपण न होगा तब जीवतत्त्व का भी विशेषरूपसे निरूपण न हो सकेगा। तथा जब जीवके स्वरूपका ही ठीक रूपसे निर्णय न होगा तब तक अखंडरूपसे उसका ज्ञान और श्रद्धान भी नहीं होगा। ज्ञान और श्रद्धानकारणक चारित्र माना है जब ज्ञान और श्रद्धान न होगा तब चारित्रका भी संभव नहीं

१—जिन कर्मोंका फल पुद्गलमें ही-हो वे पुद्गलविपाकी कर्म कहे जाते हैं इसीतरह भवविपाकी और जीवविपाकी शब्दोंका भी अर्थ समझ लेना चाहिये।

तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायको मोक्षमार्ग माना है यदि सम्यग्दर्शन आदिकी ही अखंडरूपसे सिद्धि न होगी तो मोक्षमार्ग भी सिद्ध न हो सकेगा। तथा जीव तत्त्वके अखंडरूपसे निरूपण न होने पर शेष अजीव आदि तत्त्वोंका भी निरूपण न होगा। इसलिये यह आवश्यक है कि मुक्तिमार्गके उपदेशकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको स्वीकार करना चाहिये क्योंकि यदि उनमें एक की भी कमी होगी तो मोक्षमार्गकी अखंड सिद्धि न होसकेगी। जब सम्यग्दर्शन आदि स्वीकार किये जायेंगे तब उनका विषयभूत अजीव आदि पदार्थोंके समान जीव पदार्थ भी स्वीकर करना पडेगा। जब जीव पदार्थ स्वीकार किया जायगा तब उसके आधार आदि भी मानने पडेंगे। मनुष्य आदिके आधारस्वरूप द्वीप समुद्र आदि हैं इसलिये इस तृतीय अध्यायमें द्वीप समुद्र आदिकी रचनाका जो निरूपण किया गया वह सर्वथा युक्तियुक्त है—निरर्थक नहीं। शंका—

विवादाध्यासिता द्वीपादयो बुद्धिमत्कारणकाः सन्निवेश-विशेषत्वात् घटवदिति अर्थात् जिसप्रकार घट पदार्थ विलक्षण रचनाका धारक है इसलिए वह बनानेमें कुशल कुंभारद्वारा बनाया जाता है उसीप्रकार उपर्युक्त द्वीप और समुद्र भी विलक्षण रचनाके धारक हैं। जो पदार्थ विलक्षण रचनाका धारक होता है उसका अवश्य कोई कर्ता होता है वह अकारणक और बिना किसी कर्ताके नहीं हो सकता इसलिए उन द्वीप और समुद्रोंका बनानेवाला कोई न कोई बुद्धिमान कर्ता अवश्य होना चाहिये? सो ठीक नहीं। ईश्वरका शरीर भी विलक्षण रचनाका धारक माना है क्योंकि—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्।

संवाहुभ्यां धमति संपत्त्त्रैर्द्यावाभूमी जनयत् देव एकः ॥ १ ॥

अर्थात् उस ईश्वरका चक्षु (कार्यज्ञान) चारो ओर है। उसका मुख (वचन) चारो ओर है। उस ईश्वरका वाहु (व्यापार) चारो ओर है। उस ईश्वरका पाद (पैर वा व्यापित्व) चारो ओर है तथा वह अपनी दोनों भुजाओंसे वा पाप पुण्यके द्वारा संपत्त्त्रैः—परमाणुओंसे आकाश और पृथ्वीकी रचना करता है और वह एक अद्वितीय देव है। ऐसा ईश्वरके शरीरका पोषक आगमका वचन है परंतु उसे किसी बुद्धिमानके द्वारा बनाया गया नहीं माना इसरीतिसे ईश्वरके शरीरमें सन्निवेशविशेषत्वरूप हेतु तो है परंतु बुद्धिमत्कारणकत्वरूप साध्य नहीं। जहांपर हेतु तो रहे और साध्य न रहे वहां हेतु व्यभिचार दोषग्रस्त माना जाता है इसलिए यहांपर सन्निवेशविशेषत्वरूप हेतु व्यभिचारी है। इसरीतिसे उपर्युक्त अनुमान; मिथ्या अनुमान होनेसे द्वीप समुद्र आदिक किसी बुद्धिमान कर्ताद्वारा बनाए गये हैं यह नहीं सिद्ध कर सकता।

दूसरे मनुष्य जो ईश्वरको सृष्टिका कर्ता मानते हैं उनका यह कहना है कि उपर्युक्त व्यभिचार आनेसे ईश्वरका शरीर नहीं सिद्ध हो सकता परंतु वह विलक्षण विलक्षण रचनाके धारक समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण है। ईश्वरका शरीर नहीं है इस बातमें वे यह आगमप्रमाण भी देते हैं—

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महांतं ॥ १ ॥

अर्थात वह अलौकिक पुरुष ईश्वर यद्यपि हाथ पैर नहीं रखता तथापि बहुत शीघ्र गमन करनेवाला

और पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला है। नेत्रोंका धारक न होकर भी पदार्थोंको देखता है, कान न होनेपर भी शब्दोंको सुनता है। वह समस्त ब्रह्मांडको जानता है परंतु उसका जाननेवाला दूसरा कोई नहीं इसलिए उस पुरुषको परमर्षिगण प्रधान और महान मानते हैं। परंतु उनका माना हुआ भी ईश्वर विलक्षण रचनाके धारक पदार्थोंके उत्पन्न करनेमें निमित्त कारण नहीं हो सकता क्योंकि उन्हींका माना हुआ मुक्तात्मा जिसप्रकार शरीररहित होनेसे किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण नहीं हो सकता उसीप्रकार ईश्वरके भी शरीर नहीं माना गया इसलिए किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमें उसे निमित्त कारण नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

मुक्तात्माको हम अज्ञ—ज्ञानशून्य मानते हैं इसलिए वह जगतकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण नहीं कहा जा सकता, ईश्वर यद्यपि शरीररहित है तथापि वह नित्यज्ञानवान है इसलिए नित्यज्ञानवान होनेसे वह जगतका निमित्तकारण हो सकता है? सो ठीक नहीं। हेतु; अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकारकी व्याप्तियोंसे प्रायः युक्त रहता है तथा केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी भी हेतु होते हैं जो कि अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकारकी व्याप्तियोंमेंसे एक एक व्याप्तिसे ही भूषित रहते हैं। यदि नित्यज्ञानवान होनेसे ईश्वरको जगतका कर्ता माना जायगा तो यहांपर नित्यज्ञानत्वरूप हेतुका अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकारकी व्याप्ति नहीं इसलिए वह ईश्वरमें जगतका कर्तृत्व नहीं सिद्ध कर सकता। शंका—

जहां जहां नित्यज्ञानत्व हो वहां वहां जगत्कर्तृत्व होना चाहिये यह तो अन्वय व्याप्ति है और जहां जहां जगत्कर्तृत्वका अभाव होगा वहां वहां नित्यज्ञानत्वका भी अभाव होगा यह व्यतिरेक व्याप्ति है।

यद्यपि नित्यज्ञानत्व हेतुमें अन्वय व्याप्ति नहीं बन सकती क्योंकि यह नहीं कहा जासकता कि नित्य-ज्ञानवान होकर जगतका कर्ता ईश्वरसे अतिरिक्त अमुक पदार्थ है परंतु यहां व्यतिरेक व्याप्तिका अभाव नहीं क्योंकि हम लोग जगतके कर्ता भी नहीं और नित्यज्ञानवान भी नहीं। इसरीतिसे व्यतिरेक व्याप्तिके बलसे नित्यज्ञानत्व हेतु, ईश्वरको जगतका कर्ता सिद्ध कर सकता है सो ठीक नहीं। जिससमय किसी विशेष ज्ञानकी अपेक्षा न कर ज्ञान संतानकी अपेक्षा की जायगी उससमय हम भी नित्यज्ञानवान हैं क्योंकि हमारे भी कभी सामान्यरूपसे ज्ञानका अभाव नहीं हो सकता। यदि सामान्यरूपसे भी ज्ञानकी नास्ति हो जायगी तो आत्मा पदार्थ ही न सिद्ध हो सकेगा। इसरूपसे जब हमी नित्यज्ञानवान सिद्ध होगये तब नित्यज्ञानत्वरूप हेतुकी व्यतिरेक व्याप्ति न सिद्ध हुई इसलिए वह ईश्वरमें जगत्कर्तृत्व सिद्ध नहीं कर सकता। यदि वहांपर यह कहा जाय कि—

ऊपर जो जगत्कर्तृत्वकी सिद्धिमें नित्यज्ञानत्व हेतु दिया गया है वह विशेष ज्ञानकी अपेक्षा है। विशेष ज्ञान किसीका नित्य हो नहीं सकता इसलिये हम लोगोंमें नित्यज्ञानत्वका अभाव होनेसे नित्यज्ञानत्व हेतुकी विपरीत व्याप्ति सिद्ध हो सकती है, कोई दोष नहीं। सो ठीक नहीं। 'वेधसो बोधो न नित्यः, बोधत्वात् अन्यबोधवत्' अर्थात् जिसप्रकार ईश्वरसे अतिरिक्त अन्य मनुष्योंका ज्ञान नित्य नहीं उसीप्रकार ईश्वरका भी ज्ञान, ज्ञान होनेसे नित्य नहीं हो सकता। इसरूपसे जब ईश्वरका ज्ञान नित्यज्ञान नहीं तब नित्यज्ञानत्व हेतु जगत्कर्तृत्वरूप साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता। शंका—

ईश्वर हम लोगोंकी अपेक्षा एक विशिष्ट व्यक्ति है इसलिए उसका ज्ञान भी विशिष्ट होना चाहिये, इसरीतिसे ईश्वरमें ज्ञान भी सिद्ध हो सकता है और वह ईश्वरज्ञान नित्य भी हो सकता है। यदि ईश्वरके

ज्ञानको नित्य न माना जायगा तो वह सर्वज्ञ भी नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि नित्यज्ञानके अभावमें सर्वज्ञत्वका विरोध है ? सो ठीक नहीं। यदि ईश्वरके ज्ञानको प्रमाण माना जायगा तो उस प्रमाणस्वरूप ज्ञानसे फलस्वरूप ज्ञान अर्थात् प्रमितिको अनित्य कहना पडेगा क्योंकि फलज्ञानको सबोंने अनित्य माना है। यहांपर यह न समझना चाहिये कि केवल प्रमाण ज्ञान ही मान लेना पर्याप्त है। फलज्ञानके मानने-की कोई आवश्यकता नहीं ! क्योंकि फलशून्य प्रमाणपदार्थ सिद्ध ही नहीं हो सकता। इसरीतिसे ईश्वरमें जब फलज्ञानका भी अस्तित्व है तब फलज्ञान कभी नित्य माना नहीं जासकता क्योंकि वह प्रमाणका कार्य है और कार्य पदार्थ अनित्य ही होता है इसलिए ईश्वरका ज्ञान कभी नित्य नहीं हो सकता। तथा जब ईश्वरका ज्ञान नित्य नहीं तब नित्यज्ञानत्व रूप हेतु जगत्कर्तृत्व रूप साध्यके सिद्ध करनेमें असमर्थ है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

हम ईश्वर ज्ञानको प्रमाण और फल दोनोंस्वरूप एक अखंड मानेंगे ? वह भी ठीक नहीं। क्रिया अपनेसे भिन्न पदार्थमें होती है। यदि ज्ञानको प्रमाणात्मक और फलात्मक दोनों स्वरूप माना जायगा तो वह अपना फलस्वरूप स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकता इसलिये फलज्ञानको प्रमाणज्ञानसे भिन्न ही मानना पडेगा। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

ईश्वरका प्रमाणभूत ज्ञान नित्य है और फलस्वरूप अनित्य है इसरूपसे उसमें नित्यस्वरूप और अनित्यस्वरूप दो ज्ञानोंकी कल्पना करेंगे ? सो भी ठीक नहीं। जिस किसी विशेष बातकी कल्पना की जाती है वह किसी खास प्रयोजनके सूचित करनेके लिए होती है। यदि ईश्वरके दो ज्ञान माने जांयगे तो उन दो ज्ञानोंके माननेका प्रयोजन कहना चाहिये। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

शरीररहित ईश्वरमें सदा सर्वज्ञत्वकी सिद्धि ही उन दोनों ज्ञानोंके माननेका प्रयोजन है ? वह भी ठीक नहीं । क्योंकि शंकाकारके मतमें अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि सामग्रीको प्रमाण माना गया है तथा अनित्यस्वरूप सदा समस्त पदर्थोंके ज्ञानको फल माना गया है उसीसे ईश्वरमें सर्वज्ञत्वकी सिद्धिकी व्यवस्था है इसलिये सर्वज्ञत्वकी सिद्धिकी व्यवस्थाकेलिये नित्य और अनित्यस्वरूप दो ज्ञानोंकी ईश्वरमें कल्पना करना निरर्थक है । शंका—

ईश्वरको अशरीर माना है । अशरीरके जिसप्रकार इंद्रियसन्निकर्षका अभाव है उसीप्रकार उसके अंतःकरणके सन्निकर्षका भी अभाव है इसलिये सन्निकर्ष सामग्रीको योग्यता नहीं होनेसे सन्निकर्ष आदि तो प्रमाण कहे नहीं जासकते इसलिये अनादिकालीन समस्त पदर्थोंका विषयकरनेवाला नित्यज्ञान ही प्रमाण मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं । शरीरके अभावमें इंद्रिय संन्निकर्ष वा अंतःकरण संन्निकर्षकी योग्यता न भी हो तथापि आत्मा और पदार्थ संन्निकर्षकी योग्यता है इसलिए अशरीर ईश्वरके भी आत्मा और पदार्थके सन्निकर्षकी योग्यता रहनेके कारण सन्निकर्षको प्रमाण माननेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं हो सकती । तथा—

यह भी बात है कि युगपत् समस्त पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष होनेसे महेश्वरके एक साथ समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है ऐसा भी कोई कोई मानते हैं । इस कथनसे सन्निकर्षको ही प्रमाणता आती है ईश्वरके नित्यज्ञानको प्रमाणता नहीं आती इसलिये 'ईश्वरो न जगन्निमित्तं निर्देहत्वात् मुक्तात्मवत्' अर्थात् जिसतरह मुक्तात्मा देहरहित है इसलिये वह जगतका निमित्त कारण नहीं माना गया उसीप्रकार ईश्वर भी शरीररहित है इसलिये वह भी जगतका निमित्त कारण नहीं बन सकता । यह अनुमान किसी रूपसे किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं । शंका—

काल द्रव्यको समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण माना है। और वह अशरीर पदार्थ है। यदि यह माना जायगा कि जो निर्देह होता है वह जगतका निमित्त कारण नहीं होता तो निर्देह—शरीररहित तो काल द्रव्य भी है, वह भी जगतका कारण न माना जायगा इसलिये 'ईश्वर जगतका कारण नहीं क्योंकि वह निर्देह है इस अनुमानमें जो निर्देहत्वरूप हेतु है वह अलक्ष्यस्वरूप काल द्रव्यमें भी घट जानेसे व्यभिचार दोषग्रस्त है। सो ठीक नहीं। निर्देह शब्दसे इस अनुमानमें विशिष्टपुरुष महेश्वरका ग्रहण है इसलिये निर्देह शब्दका अर्थ यहां शरीररहित विशिष्ट पुरुष लेना चाहिये। समस्त कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त काल द्रव्य यद्यपि शरीररहित है परंतु वह विशिष्ट पुरुष नहीं। दूसरी वात यह है कि काल द्रव्य किसी वस्तुका निर्माता नहीं है किंतु केवल उदासीन कारण है, उदासीन कारणसे सृष्टि आदि किसी पदार्थ की रचना नहीं की जासकती, रचना करनेमें बुद्धिमान् ही समर्थ है। यद्यपि जडपदार्थोंके क्रिया परिणामसे भी कार्य हो जाते हैं परंतु यहां पर कार्य करनेरूप प्रवृत्ति ज्ञानपूर्वक ली जाती है इसलिये उसकी अपेक्षा निर्देहत्वरूप हेतु व्यभिचारित नहीं हो सकता। अतः ईश्वरको जगतके कर्तृत्वका अभाव सिद्ध करनेवाला उपर्युक्त अनुमान अप्रातिहत है किसी भी प्रमाणसे वाधित नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

अनित्यज्ञानवान होकर भी ईश्वर जान कर समस्त जगतका उत्पादक है इसलिये वह जगतकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण है। मुक्तात्मामें ज्ञानका अस्तित्व नहीं इसलिये जान कर वह किसी भी पदार्थ का उत्पादक कारण न होनेसे जगतका निमित्त कारण नहीं हो सकता—ऐसा बहुतसे लोग मानते हैं उनका यह सिद्धान्त भी खंडित है क्योंकि जो वादी इस वातको माननेवाले हैं उनके मतमें शरीररहित

को ज्ञानशून्य माना है इसलिये शरीररहित होनेके कारण जिसप्रकार उनके मतमें मुक्तात्मा ज्ञानशून्य है उसीप्रकार ईश्वर भी ज्ञानशून्य ही है। यदि कदाचित् ईश्वरको ज्ञानका आधार माना जायगा तो मुक्तात्माको भी जबरन ज्ञानका आधार मानना पडेगा। क्योंकि अशरीरत्वरूपसे दोनों समान हैं इत्यादि विशेष वर्णन श्रीश्लोकवार्तिकमें विस्तारसे किया गया है॥ ३९॥

इसप्रकार यह तत्त्वार्थराजवार्तिक व्याख्यानालंकारमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ॥ ३॥

इति तृतीयोध्यायः।

प्रकाशक—

पन्नालाल बाकलीवाल

महामंत्री—भारतीयजैनसिद्धांतप्रकाशिनी संस्था.

६ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता.

मुद्रक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,

जैनसिद्धांतप्रकाशक पवित्र प्रेस

६ विश्वकोष लेन, बाघबाजार, कलकत्ता।

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार।

अथ चतुर्थोध्यायः।

'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां' इत्यादि स्थलोंपर कई बार देव शब्दका उल्लेख किया गया है परंतु यह बात नहीं मालूम हुई कि कौनसे तो वे देव हैं ? और कितने हैं ? इसलिए उन देवोंके निश्चयार्थ सूत्रकार सूत्र कहते हैं अथवा सम्यग्दर्शनके विषयभूत जीव और उनके त्रस स्थावर रूप भेद ऊपर कहे गये हैं उनके निश्चयार्थ जीवके आधारस्वरूप अधोलोक और तिर्यग्लोककी रचना तो कह दी गई। अब इससे भी विशेष प्रतिपादनकेलिए ऊर्ध्वलोकका प्रतिपादन करना चाहिये। ऊर्ध्वलोकमें बहुतसी कहने योग्य बातें हैं उनमें ऊर्ध्वलोकके स्वामियोंके प्रतिपादनपूर्वक उनके आधारोंके विभागका निर्णय होता है इसलिए सूत्रकार सबसे पहिले ऊर्ध्वलोकके स्वामियोंका निरूपण करते हैं—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देव चार प्रकारके हैं अर्थात् देवोंके चार समूह हैं। भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और वैमानिक।

देवगतिनामकर्मोदये सति द्युत्याद्यर्थावरोधाद्देवाः ॥ १ ॥

देवगति नामकर्मका उदयरूप अंतरंग कारणके रहते और द्युति आदि बाह्य कारणोंके रहते जो सदा देदीप्यमान रहें उनका नाम देव है। शंका—

जातिवाचक एकवचनांत भी शब्द बहुत पदार्थोंका प्रतिपादक माना जाता है। 'देवाश्चतुर्णिकायाः' यहांपर भी देव शब्द जातिवाचक है इसलिए 'देवाश्चतुर्णिकायाः' इस बहुवचनांत देव शब्दके स्थानपर

'देवश्चतुर्णिकायः' यह एकवचनांत देव शब्दका प्रयोग ही उपयुक्त है अतः 'देवश्चतुर्णिकायः' ऐसा ही उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं। क्योंकि—

बहुत्वनिर्देशोंऽतर्गतभेदप्रतिपत्त्यर्थः ॥ २ ॥

इंद्र सामानिक त्रायस्त्रिंश आदि और आयु आदिके भेदसे देवोंके बहुतसे भेद हैं उन सबके जनानेकेलिए 'देवाश्चतुर्णिकायाः' यहांपर बहुवचनांत देव शब्दका उल्लेख किया गया है।

स्वधर्मविशेषापादितसामर्थ्यात् निचीयंत इति निकायाः ॥ ३ ॥

देवगतिनाम कर्मके उदयस्वरूप जो निजी विशेष धर्म उसकी सामर्थ्यसे जो समूहस्वरूप हों उनका नाम निकाय है अर्थात् निकाय शब्दका यहां संघात अर्थ है। जिनमें चार निकाय हों वे चतुर्णिकाय कहे जाते हैं। वे चारो निकाय भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और वैमानिक हैं ॥ १ ॥

छह लेश्याओंमेंसे उपर्युक्त भवनवासी आदि निकायोंमें कितनी लेश्यायें होती हैं सूत्रकार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

पहिलेके तीन प्रकारके देवोंमें अर्थात् भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्कोंमें पीत लेश्या तक अर्थात् कृष्ण नील कापोत और पीत ये चार लेश्या हैं।

आदित इति वचनं विपर्यासनिवृत्त्यर्थं ॥ १ ॥

अंत और मध्यके ग्रहणके निषेधार्थ सूत्रमें 'आदितः' शब्दका उल्लेख किया गया है अर्थात् चारो

निकायोंमें आदिके तीन निकायोंमें पीत पर्यंत लेश्या है अंतके तीन निकायोंमें वा मध्यके तीन निकायोंमें नहीं है। 'आदितः' शब्दका अर्थ आदिमें होनेवाला है।

द्व्येकनिवृत्त्यर्थं त्रिग्रहणं ॥ २ ॥

दो वा एक निकायकी निवृत्तिकेलिए सूत्रमें त्रि शब्दका ग्रहण किया गया है अर्थात् दो वा एक निकायमें पीतपर्यंत लेश्या नहीं हैं किंतु आदिके तीनों निकायोंमें हैं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि दो वा एक निकायमें पीतपर्यंत लेश्या नहीं हैं, यही त्रिशब्दके उलेखका फल क्यों, चारो निकायोंमें पीतपर्यंत लेश्या नहीं है यह क्यों नहीं ? इसका समाधान यह है कि सूत्रमें 'आदितः' इस शब्दका भी उल्लेख है उसकी सामर्थ्यसे चारो निकायोंमें पीतपर्यंत लेश्याओंका संभव नहीं। क्योंकि चौथी निकायको आदित्व नहीं प्राप्त हो सकता यदि कदाचित् चारो निकायोंमें पीतपर्यंत लेश्या कहनी होती तब फिर 'आदितः' शब्दका उल्लेख निरर्थक था।

लेश्यावधारणार्थं पीतांतवचनं ॥ ३ ॥

ऊपर छह लेश्यायें कही गई हैं उनमें भवनवासी आदि तीन निकायोंमें चार लेश्याओंके प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रमें पीतांत शब्दका उल्लेख किया गया है। पीतका अर्थ तेज है। जिन लेश्याओंके अंतमें पीत लेश्या हो वे पीतांत कहे जाते हैं तथा जिन देवोंके पीतांत लेश्या हों वे पीतांतलेश्य कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि—आदिके भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क तीनों निकायोंमें देवोंकी कृष्ण नील कापोत और पीत ये चार लेश्या होती हैं ॥ २ ॥

विशेष—यदि "आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः" इसकी जगह लाघवार्थ "त्रिनिकायाः पीतांतलेश्याः"

ऐसा सूत्र बनाया जायगा तो भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क इन तीनों प्रकारके देवोंके पीतपर्यंत लेश्या होती है यह अभीष्ट अर्थ सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि 'त्रिनिकायाः' ऐसे कहनेपर मध्य और अंतकी भी तीन निकायोंका ग्रहण हो सकता है यदि "आद्येषु पीतांतलेश्याः" ऐसा सूत्र बनाया जायगा तब भी अभीष्ट अर्थ न सिद्ध होगा क्योंकि आदिके निकायमें जो देव होनेवाले हों वे आद्य कहे जांयगे इसलिए आद्य पदसे भवनवासी आदि तीन निकाय नहीं लिए जा सकते जैसा सूत्र है वही उपयुक्त है।

भवनवासी आदि निकायोंके अंतर्भेद प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

कल्पवासी पर्यंत इन चारो प्रकारके देवोंके क्रमसे दश आठ पांच और बारह भेद हैं। अर्थात् दश प्रकारके भवनवासी, आठ प्रकारके व्यंतर, पांच प्रकारके ज्योतिष्क और बारह प्रकारके कल्पोपपन्न वा कल्पवासी देव हैं।

चतुर्णां दशादिभिर्यथासंख्यमभिसंबंधः ॥ १ ॥

भवनवासी आदि चारो निकायोंका दश आदि संख्या शब्दोंके साथ यथासंख्य संबंध है। इस यथासंबंधसे दश प्रकारके भवनवासी, आठ प्रकारके व्यंतर, पांच प्रकारके ज्योतिषी और बारह प्रकारके वैमानिक देव हैं यह स्पष्ट अर्थ है। कल्पवासी देव; वैमानिक देव कहे जाते हैं। कल्पवासियोंके बारह भेद कहे गये हैं इसलिये समस्त वैमानिक देवोंका बारह भेदोंमें ही अंतर्भावकी शंका होने पर उस शंकाकी निवृत्तिकेलिये वार्तिककार कहते हैं—

कल्पोपपन्नपर्यंतवचनं ग्रैवेयकादिव्युदासार्थं ॥ २ ॥

ग्रैवेयक आदिका आगे उल्लेख किया जायगा उसका कल्पवासियोंमें अंतर्भाव न समझा जाय इसलिये सूत्रमें 'कल्पोपपन्नपर्यंत' शब्दका उल्लेख किया है। अर्थात् सोलह स्वर्ग पर्यंतके देवोंको कल्पवासी कहा जाता है इसलिये बारह भेद उन्हींके हैं। सोलहवें स्वर्गके ऊपर देव कल्पातीत हैं उनका अंतर्भाव इन बारह भेदोंके भीतर नहीं है। वार्तिककार कल्पशब्दपर विचार करते हैं—

इंद्रादिविकल्पाधीनकरणत्वात्कल्पा रूढिवशात् ॥ ३ ॥

आगेके सूत्रमें इंद्र सामानिक आदि दश भेद कहे जांयगे। जहां पर उन दश भेदोंकी कल्पना हो उन स्थानोंको कल्प कहा जाता है। सौधर्म ऐशान आदि आगे कहे जानेवाले सोलह स्वर्गोंमें इंद्र आदि दश भेदोंकी कल्पना है इसलिये उनकी कल्प संज्ञा है। शंका—

भवनवासी देवोंमें भी इंद्र सामानिक आदि दश भेदोंकी विद्यमानता है अतः यदि यह कहा जायगा कि जहांपर इंद्र आदि दश भेदोंकी कल्पना हो उस स्थानका नाम कल्प है तब भवनवासी देवोंके रहनेके स्थानको भी कल्प कहना होगा इसरीतिसे सोलह स्वर्ग ही कल्प नहीं कहे जासकते किंतु भवनवासियोंके रहनेके स्थान खरभाग आदि भी कल्प कहे जांयगे? सो ठीक नहीं। वार्तिकमें 'रूढिवशात्' इतना विशेष पद और भी दिया है अर्थात् जिस स्थानका कल्प यह नाम रूढ हो वही स्थान कल्प कहा जासकता है अन्य नहीं। सोलह स्वर्गोंका ही कल्प यह नाम रूढिसे है, भवनवासियोंके रहनेके स्थानका नहीं इसलिए सोलह स्वर्ग ही कल्प कहे जासकते हैं, भवनवासियोंके रहनेके स्थान नहीं।

कल्प—स्वर्गोंमें जो उत्पन्न हों उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं और जहांपर कल्पोपपन्न तकके देवोंका ग्रहण हो वे कल्पोपपन्नपर्यंत कहे जाते हैं। 'कल्पेषु उपपन्नाः कल्पोपपन्नाः' यहांपर सप्तमी तत्पुरुष समा-

सका विधान 'साधनं कृता बहुलं १।३।३०' इस सूत्रसे अथवा मयूरव्यंसकादिगणमें पाठ होनेसे 'मयूर-व्यंसकादयश्च १।१।६२। इस सूत्रसे समझ लेना चाहिये ॥ ३ ॥

उपर्युक्त देवोंका ही विशेष प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

भवनवासी आदि चारों प्रकारके देवोंमें इंद्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद आत्मरक्ष लोकपाल अनीक प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्विषिक ये दश दश भेद होते हैं।

परमैश्वर्यादिंद्रव्यपदेशः ॥ १ ॥

अन्य देवोंमें न पाई जाय ऐसी अणिमा महिमा आदि अनेक ऋद्धियोंसे जो परम ऐश्वर्यको प्राप्त हों सो इंद्र हैं।

तत्स्थानार्हत्वात्सामानिकाः ॥ २ ॥

जिनके रहनेके स्थान आयु वीर्य परिवार और भोग उपभोग आदि तो इंद्रके ही समान हों परंतु आज्ञा और ऐश्वर्य इंद्रके समान न हों वे सामानिक देव कहे जाते हैं। समाने भवाः सामानिकाः अर्थात् स्थान आदिसे जो समान हों वे सामानिक कहे जाते हैं समानशब्दसे "समानाच्चदादेश्च" ३।२।

१—साधनं कारकं भांत कृदंतेन सह बहुलं षसो भवति। शब्दार्णवचंद्रिका पृष्ठ संख्या २१। २—मयूरव्यंसकादयः शब्दाः षसंज्ञाः गणपाठादेव निपात्यन्ते। शब्दार्णवचंद्रिका पृष्ठ संख्या २४।

१—समानात् समानादेश्च ठण् स्यात्। 'समाने भवाः सामानिकाः देवाः' शब्दार्णवचंद्रिका पृष्ठ संख्या ९५।

१६९। इस सूत्रसे ठण् प्रत्यय करनेपर सामानिक शब्द सिद्ध हुआ है। ये सामानिक जातिके देव इंद्रके पिता गुरु और उपाध्यायके समान पूज्य होते हैं।

मंत्रिपुरोहितस्थानीयास्त्रायस्त्रिंशाः ॥ ३ ॥

जिसप्रकार राजाओंके मंत्री पुरोहित आदि हितकी शिक्षा देनेवाले होते हैं उसीप्रकार जो देव इंद्रको मंत्री पुरोहितके समान हितकारी शिक्षा देनेवाले हों वे त्रायस्त्रिंश जातिके देव कहे जाते हैं। (इन देवोंका त्रायस्त्रिंश यह नाम सार्थक है क्योंकि ये तेतीस ही होते हैं) 'त्रयस्त्रिंशति जाताः त्राय-स्त्रिंशाः' अर्थात् तेतीसोंमें जो उत्पन्न हों वे त्रायस्त्रिंश देव कहे जाते हैं। यहांपर त्रयस्त्रिंशत् शब्दसे 'तत्र जातः' अर्थमें अण् प्रत्यय किया गया है तथा 'दृष्टे नाम्नि च जाते च अण् डिद्वा विधीयते' अर्थात् 'तत्र दृष्ट' इस अर्थमें, 'नाम' अर्थमें और 'तत्र जात' इस अर्थमें जो अण् प्रत्यय आता है वह डित् विकल्प से होता है, यह भी व्याकरण शास्त्रका वचन है। त्रायस्त्रिंश यहांपर 'तत्र जात' अर्थमें अण् प्रत्ययका विधान है इसलिये त्रयस्त्रिंशत् शब्दसे जो अण् प्रत्यय किया गया है वह डित् है। जो डित् होता है अर्थात् जिसका डकार इत्संज्ञक जाता है उसकी टिका लोप हो जाता है यह भी व्याकरणका सिद्धांत है। त्रय-स्त्रिंशत् शब्दमें टिसंज्ञक 'अत्' है उसका लोप होनेपर और शकार अकारमें मिल जानेपर एवं आदि वृद्धि अर्थात् "त्र" में जो अकार है उसको दीर्घ होनेपर त्रायस्त्रिंश शब्द बना है। शंका—

जहां पर दो पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं वहीं पर वृत्ति होती है। त्रयस्त्रिंशत् और त्रायस्त्रिंश यहांपर तो भेद है नहीं फिर 'त्रयस्त्रिंशति जातास्त्रायस्त्रिंशाः' यह जो वृत्ति मानी गई है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। त्रयस्त्रिंशत् संख्यान—संख्यावाचक शब्द है और त्रायस्त्रिंश यह संख्येय शब्द है। जिस समय

संस्थान और संख्येयकी भेद विवक्षा मानी जायगी उससमय त्रयस्त्रिंशत् रूप संस्थान आधार होगा और त्रायस्त्रिंश आधेय होगा इसरीतिसे आधार और आधेयकी विद्यमानतामें दोनोंमें भेद रहनेसे उपर्युक्त वृत्ति बाधित नहीं। अथवा—

हृतः ३।१।८२। यहांपर 'हृत्' एसा एक वचनांत शब्दका ही उल्लेख उपयुक्त था फिर 'हृतः' यह बहुवचनांत जो उल्लेख किया गया है उसकी सामर्थ्यसे स्वार्थमें भी अण् आदि प्रत्ययोंका विधान माना गया है इसलिये जिसप्रकार 'अंते भवः अंतिमः' यहांपर अंत शब्दसे स्वार्थिक डिमच् प्रत्यय कर अंतिम शब्दकी सिद्धि मानी है उसीप्रकार 'त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशः' यहांपर त्रयस्त्रिंशत् शब्दसे स्वार्थमें अण् प्रत्यय करनेपर त्रायस्त्रिंश शब्द बना है इसलिये कोई दोष नहीं है।

वयस्यपीठमर्दसदृशाः पारिषदाः ॥ ४ ॥

जो देव इंद्रकी सभामें बैठनेवाले हों अर्थात् इंद्रकी जो बाह्य अभ्यंतर और मध्यकी तीनों प्रकारकी सभामें बैठनेवाले हों वे पारिषद देव हैं। ये देवगण मित्रके समान इंद्रकी पिछाडी दाबकर अर्थात् इंद्रको आगे बिठाकर बैठते हैं।

आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमाः ॥ ५ ॥

अंगरक्षकोंके समान जो देव इंद्रकी रक्षा करनेवाले हों वे आत्मरक्ष देव हैं। ये देव सदा मारनेके लिए उद्यत रुद्रपरिणामी वीर वेषके धारक और इंद्रकी पीठ पीछे खडे रहते हैं। शंका—

१ हृत इत्ययमाधिकारो वेदितव्यः, आ इवः। शब्दार्णवचन्द्रिका पृष्ठ संख्या ७८। सिद्धांतकौमुदीमें इस सूत्रकी जगह 'तद्धिताः' ४।१।७६ यह सूत्र है।

इंद्रको अपने नाशकी कुछ भी शंका नहीं रहती और न किसी शत्रुका उसे भय ही रहता है फिर इन आत्मरक्ष देवोंकी उसे आवश्यकता नहीं हो सकती, उनकी कल्पना करना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। ऋद्धिविशेष—ऐश्वर्यका ठाटबाट दिखलानेकेलिए और आत्मरक्ष देवोंकी इंद्रपर घनिष्ठ प्रीति है यह प्रगट करनेकेलिए अथवा इन सब परिकरोंको देखकर इंद्रको विशेष आनंद आता है इसलिए उनकी आवश्यकता है इसलिए उनकी कल्पना निरर्थक नहीं।

आरक्षकार्थचरसमाः लोकपालाः ॥ ६ ॥

लोकको पालन करनेवाले लोकपाल कहे जाते हैं। ये लोकपाल देव धनके उत्पादक कोतवालके समान नगररक्षक हैं।

दंडस्थानीयान्यनीकानि ॥ ७ ॥

पियादा अश्व वृषभ रथ हस्ती गंधर्व और नर्तकी ये सात प्रकारकी इंद्रकी सेनाके देव दंडस्थानीय अनीक कहे जाते हैं।

प्रकीर्णकाः पौरजानपदकल्पाः ॥ ८ ॥

जिसप्रकार राजाओंको पुर और नगरनिवासी जन प्रीतिके कारण होते हैं उसीप्रकार जो देव इंद्रकी प्रीतिके कारण हैं वे प्रकीर्णक देव हैं।

आभियोग्याः दाससमानाः ॥ ९ ॥

जिसप्रकार यहांपर दास—भृत्य वाहन आदि कार्य करते दीख पडते हैं उसीप्रकार जो देव वाहन सवारी आदि बातोंसे इंद्रका उपकार करते हैं वे आभियोग्य देव हैं। जिसप्रकार 'चत्वारश्च ते वर्णाः

चतुर्वर्णाः, चतुर्वर्णं भवाश्चातुर्वर्ण्याः' यहांपर चतुर्वर्ण शब्दसे स्वार्थमें यण् प्रत्ययका विधान है उसीप्रकार आभिमुख्येन योगः, अभियोगः, अभियोगे भवा 'आभियोग्याः' यहांपर भी अभियोग शब्दसे स्वार्थमें यण् प्रत्ययकर आभियोग्य शब्दकी सिद्धि मानी है। अर्थात् जो देव घोडा हाथी बनकर दास हो सदा इंद्रकी सेवा करते हैं वे आभियोग्य देव कहे जाते हैं। अथवा—

अभियोगे साधवः, आभियोग्याः, वा अभियोगमर्हंतीति आभियोग्याः अर्थात् जिन देवोंका स्वभाव सवारी आदि द्वारा दासवृत्ति करनेका हो वा दासवृत्तिरूप जो वाहन आदिका कार्य करनेमें समर्थ हों वे आभियोग्य देव हैं इसप्रकार साधु अर्थ वा योग्य अर्थमें यण् प्रत्यय करनेसे भी आभियोग्य शब्दकी सिद्धि है।

अंत्यवासिस्थानीयाः किल्विषिकाः ॥ १० ॥

किल्विषका अर्थ पाप है जिनके विशिष्ट पापका उदय हो वे किल्विषिक कहे जाते हैं। ये किल्विषिक जातिके देव नगरके अंतमें इस लोकके चांडालोंके समान निवास करते हैं।

एकश इति वीप्सार्थे शस् ॥ ११ ॥

'एकैकस्य निकायस्य इति एकशः' इसप्रकार वीप्सा अर्थमें यहां एक शब्दसे शस् प्रत्यय मानकर 'एकशः' शब्दकी सिद्धि हुई है। अर्थात् एक एक निकायके इंद्र आदि भेद हैं।

विशेष—यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि इंद्र आदि उत्तम और निकृष्टरूपसे देवोंका ऐसा भेद किस तरह हो जाता है? क्योंकि देवगति नाम सामान्य पुण्य कर्मके उदयसे जिसप्रकार जीव देव हो जाते हैं। भवनवासी आदि विशिष्ट देव नामकर्मके उदयसे भवनवासी आदि हो जाते हैं उसीप्रकार

इंद्र सामानिक आदि जैसा उत्तम मध्यम जघन्यस्वरूप नामकर्मका उदय होता है उसके संबंधसे जीव इंद्र आदि हो जाते हैं ॥ ४ ॥

एक एक निकायके इंद्र आदि दश दश भेद हैं ऐसा सामान्यरूपसे कहा गया है इसलिए चारो निकायोंमें दश दश भेदोंका सामान्यरूपसे प्रसंग आनेपर सूत्रकार इस सामान्यस्वरूप कथनका अपवाद-स्वरूप विशेष कथन करते हैं—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

व्यंतरदेव और ज्योतिष्कदेव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देवोंसे रहित हैं अर्थात् व्यंतर और ज्योतिष्क देवोंमें ये दो भेद नहीं हैं।

व्यंतर और ज्योतिष्क निकायोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपालोंको छोडकर बाकीके आठ आठ विकल्प हैं। अर्थात् त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देवोंके होनेमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नामक विशिष्ट नामकर्मका उदय कारण है। वह विशिष्ट नामकर्मका उदय इन दोनों निकायोंमें नहीं है इसलिए इन दोनों निकायोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल इन दो विकल्पोंको छोडकर शेष आठ विकल्प हैं ॥ ५ ॥

उपर्युक्त चारो निकायोंमेंसे प्रत्येक निकायमें एक एक ही इंद्र है अथवा अन्य कुछ विशेष प्रतिनियम है? सूत्रकार इस शंकाका स्पष्टीकरण करते हैं—

पूर्वयोर्द्वींद्राः ॥ ६ ॥

पहिलेके दो निकायोंमें अर्थात् भवनवासी और व्यंतरोंके प्रत्येक भेदमें दो दो इंद्र हैं।

१—श्लोकवार्तिक।

पूर्वयोरिति वचनं प्रथमद्वितीयनिकायप्रतिपत्त्यर्थं ॥ १ ॥

सूत्रमें जो 'पूर्वयोः' यह वचन है वह आदिके दो निकायोंके ग्रहणार्थ है अर्थात् भवनवासी और व्यंतर दोनों निकायोंमें दो दो इंद्र हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

पूर्व शब्द पहिले निकायका तो ग्राहक हो सकता है दूसरा निकाय तो पूर्व हो नहीं सकता इसलिये दूसरे निकायका' पूर्व शब्दसे ग्रहण कैसे होगा ? उसका समाधन यह है कि जिसप्रकार दूसरेकी अपेक्षा पहिला पूर्व कहा जाता है उसीप्रकार तीसरेकी अपेक्षा दूसरा भी पूर्व कहा जा सकता है इसलिये यहां तीसरेकी अपेक्षा दूसरा निकाय पूर्व होनेसे पूर्व शब्दसे दूसरे निकायका ग्रहण अबाधित है। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि—

जिस तरह तीसरेकी अपेक्षा दूसरेको पूर्व मानकर पूर्व शब्दसे दूसरे निकायका ग्रहण कर लिया जाता है- उसीप्रकार चौथेकी अपेक्षा तीसरा भी पूर्व है इसलिये सूत्रमें स्थित पूर्व शब्दसे तीसरे निकायका भी ग्रहण कर लेना चाहिये इसरीतिसे पहिले और दूसरे निकायोंमें ही दो दो इंद्र हैं यह कहना बाधित है ? सो ठीक नहीं। पहिले भवनवासी निकायको तो पूर्व कहना ही पडेगा। उसके समीपमें दूसरे निकायका ही प्रतिपादन है तीसरेका नहीं इसलिये प्रत्यासत्ति संबंधसे पहलेके समीप दूसरा ही पडता है इसी लिये पूर्व शब्दसे दूसरे ही निकायका ग्रहण हो सकता है तीसरेका नहीं। पूर्व शब्द द्विवचन है इसलिये आदिके दोका ही ग्रहण होगा। शंका—

देवोंके समूहका नाम निकाय है। निकाय देवोंसे भिन्न पदार्थ नहीं इसरीतिसे जब निकाय और इंद्रोंमे आपसमें भेद नहीं तब पहिलेके दो निकायोंमें दो दो इंद्र हैं यह भिन्न रूपसे निर्देश नहीं करना चाहिये किंतु अभिन्न रूपसे ही निर्देश युक्त होगा। वार्तिककार इसका उत्तर देते हैं—

समूहसमूहिनोः कथंचिदर्थांतरत्वोपपत्तेर्भेदविवक्षा ॥ १ ॥

नाम स्वरूप और प्रयोजन आदिके भेदसे समूह और समूही अर्थात् जिनका समूह है उन पदार्थोंका लोकमें कथंचित् भेद देखा जाता है जिसप्रकार यह राशि चावलोंकी है । यह वन आम्रवृक्षोंका है। यहांपर यद्यपि राशिमे चावल और वनसे आम्रवृक्ष भिन्न नहीं किंतु राशिस्वरूप ही चावल और वनस्वरूप ही आम्रवृक्ष हैं तथापि नाम आदिके भेदसे उनका आपसमें भेद माना जाता है उसीप्रकार नाम और स्वलक्षण आदिके भेदसे देवोंका भी निकायसे कथंचित् भेद है इसरीतिसे निकाय और देवोंका आपसमें कथंचित अर्थात् नाम स्वलक्षण प्रयोजन आदिसे भेद माननेपर पहिले दो निकायोंमें दो दो इंद्र हैं यह अधिकरण रूपसे अथवा आदिके दोनों निकायसंबंधी दो दो इंद्र हैं यह संबंधी रूपसे निर्देश अयुक्त नहीं।

द्वींद्रा इत्यंतर्नीतवीप्सार्थो निर्देशः ॥ ३ ॥

जिनके दो दो पाद हों वे द्विपदिक कहे जाते हैं एवं जिनके तीन तीन पाद हों वे त्रिपदिक कहे जाते हैं जिसप्रकार यहां पर वीप्सागर्भित निर्देश माना है उसीप्रकार जिनके दो दो इन्द्र हों वे द्वींद्र कहे जाते हैं यहांपर भी 'द्वींद्राः' यह वीप्सागर्भित निर्देश है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

वीप्सा अर्थमें वुन् प्रत्ययका विधान माना है। द्विपदिका त्रिपदिका यहांपर वुन प्रत्ययका विधान है इसलिये यहांपर वीप्सा अर्थ माना जा सकता है। 'द्वींद्राः' यहांपर वुन् प्रत्यय है नहीं इसलिये यहां पर वीप्सा अर्थ नहीं लिया जा सकता? तब इसका समाधान यह है कि—जिसके सात सात पत्ते हों वह सप्तपर्ण और जिसके आठ आठ पैर हों वह अष्टापद कहा जाता है, यहांपर जिसप्रकार वुन् प्रत्ययके

न रहनेपर भी वीप्सा अर्थकी प्रतीति है उसीप्रकार 'द्वींद्राः' यहांपर भी वुन् प्रत्ययके अभावमें वीप्सा अर्थ लिया जासकता है। वीप्सा अर्थके विषयभूत वे दो दो इंद्र कौन माने गये हैं वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

भवनवासियोंके असुरकुमार आदि दश भेद हैं उनमें असुरकुमारोंके चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र हैं। नागकुमारोंके धरण और भूतानंद, विद्युत्कुमारोंके हरिसिंह और हरिकांत, सुपर्णकुमारोंके वेणुदेव और वेणुधारी, अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारोंके वैलंब और प्रभंजन, स्तानितकुमारोंके सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारोंके जलकांत और जलप्रभ, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और वशिष्ट एवं दिक्कुमारोंके अमितगति और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं।

व्यंतरोंके किन्नर और किंपुरुष आदि आठ भेद माने हैं उनमें किन्नरोंके किन्नर और किंपुरुष ये दो इंद्र हैं। किंपुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगोंके अतिकाय और महाकाय, गधर्वोंके गीतरति और गीतयश, यक्षोंके पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, पिशाचोंके काल और महाकाल, भूतोंके प्रतिरूप और अप्रतिरूप ये दो इंद्र हैं ॥ ६ ॥

देवोंका कैसा सुख है ? सूत्रकार उस सुखके ज्ञापनार्थ सूत्र कहते हैं—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

ऐशान स्वर्गपर्यंतके देवोंमें अर्थात् भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्कोंमें तथा सौधर्म ऐशान दो स्वर्गोंके देवोंमें मनुष्य आदिके समान शरीरसे काम सेवन होता है।

मैथुनोपसेवनं प्रवीचारः ॥ १ ॥

स्त्री पुरुषके संयोगसे जायमान सुखरूप कार्यका नाम मैथुन है। उस मैथुनका सेवन करना प्रवीचार कहा जाता है। प्र और वि उपसर्गपूर्वक चर धातुसे संज्ञा अर्थमें घञ् प्रत्यय करनेपर प्रवीचार शब्द सिद्ध हुआ है। 'प्रविचरणं प्रवीचारः' यह उसकी व्युत्पात्ति है। 'मैथुनका—व्यवहार' यह उसका अर्थ है। जिनके काय—शरीरमें प्रवीचार—मैथुनका सेवन हो वे कायप्रवीचार कहे जाते हैं।

आङ्ग्रहणमभिविध्यर्थं ॥ २ ॥

'आ ऐशानात्' यहांपर आङ् अभिविधि अर्थमें है। अर्थात् ऐशान स्वर्गपर्यंत तकके देवोंमें कायसे प्रवीचार है। जिसका स्वामी ईशान इंद्र हो वह ऐशान कहा जाता है। यहांपर ईशान शब्दसे 'तस्येदं' 'उसका यह' इस अर्थमें अण् प्रत्ययका विधान है। 'ऐशान' यह दूसरे स्वर्गका नाम है। आङ् उपसर्गका अर्थ—इस ऐशान स्वर्गसे लेकर नीचेके देव अर्थात् भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क सौधर्म और ऐशान स्वर्गवासी देव संक्लिष्ट कर्मके उदयसे मनुष्योंके समान स्त्रीके विषयसुखका अनुभव करते हैं, यह है। यहांपर यह शंका नहीं करना चाहिये कि 'आ ऐशानात्' की जगह 'प्रागैशानात्' ऐसा उल्लेख क्यों नहीं किया गया? क्योंकि यदि प्राक् शब्दका उल्लेख होता तो ऐशान स्वर्गके पहिलेके देव कायसे मनुष्योंके समान मैथुन सेवन करनेवाले हैं यह अर्थ होता। ऐशान स्वर्गके देवोंमें कायप्रवीचार सिद्ध नहीं होता। आङ् ग्रहण करनेसे ऐशान स्वर्गके देवोंमें भी कायप्रवीचार सिद्ध होता है क्योंकि ऐशान स्वर्गको व्याप्त कर कायप्रवीचारका विधान है इसलिये सूत्रमें आङ् का ही उल्लेख ठीक है।

१ तस्य स्वं । ३ । १०२ । तस्येति तासमर्थात् स्वमिति सम्बन्धिनि द्वितीये यथाविहितं त्यो भवति। इस सूत्रसे ऐशान यहांपर अण् प्रत्यय हुआ है। शब्दार्णवचन्द्रिका। पृष्ठ १०२।

असंहितानिर्देशोऽसंदेहार्थः ॥ ३ ॥

आ ऐशानात यहां संधि हो जानेपर 'ऐशानात्' ऐसा होता है परंतु 'ऐशानात्' ऐसा संधिविशिष्ट उल्लेख न कर जो 'आ ऐशानात्' यह संधिरहित उल्लेख किया गया है वह संदेहके दूर करनेके लिये है। यदि 'ऐशानात्' ऐसा ही उल्लेख होता तो यहांपर यह संदेह हो सकता था कि 'ऐशानात्' यह उल्लेख ऐशान स्वर्गतकके देवोंमें कायप्रवीचार प्रतिपादनकेलिये आङ् गर्भित है अथवा यहांपर पूर्वदिशा वाचक प्राक् वा पूर्व शब्दका अध्याहार है? 'आ ऐशानात्' ऐसा संधिरहित उल्लेख रहनेपर कोई संदेह नहीं होता इसलिये सूत्रमें संधिरहित उल्लेख संदेहके निराकरणार्थ है। अथवा—

यदि यह संशय न भी होता तो भी 'पूर्वयोर्द्वीन्द्राः' इस सूत्रसे यहांपर 'पूर्वयोः' का अधिकार होनेसे उसकी अनुवृत्ति आती और उससे ऐशान स्वर्गसे पूर्वके दो स्थानोंके देवोंमें ही कायप्रवीचार है ऐसे अवधिरूप कथनसे आनिष्ट अर्थ स्वीकार करना पडता क्योंकि भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क सौधर्मस्वर्गवासी और ऐशानस्वर्गवासी देवोंमें कायप्रवीचार माना है। 'पूर्वयोः' इस द्विवचनांत पूर्वशब्दकी अनुवृत्तिसे यह इष्ट अर्थ नहीं सिद्ध होता परन्तु 'आ ऐशानात्' ऐसे संधिरहित उल्लेखसे इष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है इसलिये उपर्युक्त अनिष्ट अर्थकी निवृत्तिके लिये भी 'आ ऐशानात्' यह संधिरहित उल्लेख आवश्यक है ॥ ७ ॥

भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क सौधर्मस्वर्गवासी और ऐशान स्वर्गवासी देवोंके सुखस्वरूपका ज्ञान हो गया परन्तु बाकीके देवोंके क्या और कैसा सुख है? यह नहीं मालूम हुआ इसलिये सूत्रकार अब उस सुखका प्रतिपादन करते हैं—

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

बाकी ऊपरके स्वर्गोंके देव स्पर्श करनेसे, रूप देखनेसे, शब्द सुननेसे और विचारमात्र करनेसे प्रवीचार वा कामसेवन करनेवाले हैं। सूत्रमें जो शेष शब्दका उल्लेख किया गया है वार्तिककार उसका प्रयोजन बतलाते हैं—

उक्तावशिष्टसंग्रहार्थं शेषगृहणं ॥ १ ॥

ऊपर जितने देवोंका उल्लेख किया गया है उनसे बाकीके देवोंके ग्रहणार्थ सूत्रमें शेषग्रहण है। वे देव यहांपर सनत्कुमार माहेंद्र आदि कल्पवासी ही लेना चाहिये। यदि यहांपर शेष ग्रहणसे सामान्यसे समस्त देवोंका ग्रहण होगा तो ग्रैवेयक आदि सर्वार्थसिद्धिपर्यंतके देव भी लिये जांयगे फिर 'परेऽप्रवीचाराः' अर्थात् ग्रैवेयक आदिके देव प्रवीचाररहित हैं यह जो आगेका सूत्र कहा गया है उसका कुछ भी अर्थ निश्चित न होनेसे उसे निरर्थक ही मानना पडेगा इसलिये यहांपर शेषग्रहणसे सनत्कुमार आदि कल्पवासी देवोंका ही ग्रहण है। स्पर्शश्च रूपं च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनांसि, स्पर्शरूपशब्दमनःसु प्रवीचारो येषां त इमे स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः, यह यहांपर द्वंद्वगर्भित बहुव्रीहि समास है। शंका—

विषयविवेकापरिज्ञानादनिर्देशः ॥ २ ॥ द्वयोर्द्वयोरिति वचनात्सिद्धिरिति चेन्नार्षविरोधात् ॥ ३ ॥

इंद्रापेक्षयेति चेन्नानतादिषु दोषात् ॥ ४ ॥

'शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः' ऐसे सूत्रके उल्लेख रहते पर अमुक देव स्पर्शप्रवीचार हैं अमुक रूपप्रवीचार हैं इत्यादि भिन्न भिन्न रूपसे विषयका ज्ञान नहीं होता इसलिये उपर्युक्त सूत्रमें 'द्वयो-

द्वयोः' ऐसा पद और जोड देना चाहिए जिससे दो स्वर्गोंके रहनेवाले देव स्पर्शप्रवीचारवाले हैं। आगेके दो स्वर्गोंमें रहनेवाले रूपप्रवीचारवाले हैं। इत्यादि रूपसे स्पष्ट अर्थ हो जाय सो ठीक नहीं। ऐसा माननेसे आगमविरोध होता है क्योंकि सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गके देव स्पर्शप्रवीचारवाले हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ट स्वर्गनिवासी देव रूपप्रवीचारवाले हैं। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गनिवासी देव शब्दप्रविचार हैं एवं आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गनिवासी देव मनःप्रविचार हैं, ऐसा आगममें कहा गया है। अर्थात् दो दो स्वर्गोंमें रहनेवाले देव 'स्पर्श प्रवीचार-वाले' आदि माने जांयगे तो आगमसे यह कथन विरुद्ध कहना पडेगा क्योंकि आगममें चार चार स्वर्गोंके देव भी रूपप्रवीचार आदि कहे गये हैं। यदि यहां पर यह उत्तर दिया जाय कि—

'द्वयोर्द्वयोः' का अर्थ दो दो इंद्रसंबंधी देवोंमें स्पर्शप्रवीचार आदि हैं ऐसा करेंगे तब तो आगमसे कुछ विरोध नहीं होगा अर्थात् सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंमें दो दो इंद्र हैं और उन स्वर्गोंके रहनेवाले देव स्पर्शप्रवीचारवाले हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गोंमें एक इंद्र और लांतव कापिष्ठमें एक इंद्र इसरीतिसे इन इंद्रोंके स्थान ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ इन चार स्वर्गोंके रहनेवाले देव रूपप्रवीचारवाले हैं। शुक्र महाशुक्रमें एक इंद्र और शतार सहस्रारमें एक इंद्र इसप्रकार इन दोनों इंद्रोंके निवासस्थान शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गवासी देव शब्दप्रवीचारवाले हैं। इस रूपसे इंद्रोंकी अपेक्षा 'द्वयो-र्द्वयोः' का उल्लेख करनेसे कोई दोष नहीं आता ? सो भी ठीक नहीं। आनत प्राणत आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंमें प्रत्येकमें एक एक इंद्र होनेसे चार इंद्र हैं। यहांपर इंद्रोंकी अपेक्षा दो दो इंद्रका संबंध नहीं बैठ सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जैसा सूत्र कहा गया है उससे वास्तविक अर्थका

ज्ञान होता नहीं । 'द्वयोर्द्वयोः' इतना अधिक जोड देनेसे भी इष्ट अर्थकी सिद्धि होती नहीं तो फिर वास्तविक अर्थकी प्रतीतिकेलिये 'यथागमं' उक्त सूत्रमें जोड देना उचित है जिससे 'आगमके अनुसार' संबंध कर लिया जायगा वार्तिककार इसका उत्तर देते हैं कि–

न वा पुनः प्रवीचारग्रहणादिष्टार्थगतेः ॥ ५ ॥

नहीं, सूत्रमें कुछ भी अधिक जोडनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'कायप्रवीचारा आ ऐशानात्' इस सूत्रमें प्रवीचार शब्द कह आए हैं उसकी अनुवृत्ति 'शेषाः स्पर्शेत्यादि' सूत्रमें प्राप्त थी फिर जो इस सूत्रमें पुनः प्रवीचार शब्दका ग्रहण किया गया है उससे अमुक स्वर्ग तकके देव स्पर्शप्रवीचार हैं, अमुक स्वर्गतकके देव रूपप्रवीचार हैं इत्यादि इष्ट–आगमानुकूल अर्थकी सिद्धि हो जाती है । शंका–

'कायप्रवीचाराः' इतना समासांत पद है इसलिए यहांपर प्रवीचार शब्द समासके अंतःपाती होनेसे गौण है । गौणकी अनुवृत्ति होती नहीं किंतु मुख्यकी ही अनुवृत्ति होती है इसलिए इस सूत्रमें प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति नहीं आ सकती ? सो ठीक नहीं । यदि विशेष प्रयोजन हो तो गौणस्वरूप शब्दकी भी अनुवृत्ति कर ली जाती है । यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःसु' इतना मात्र कहने पर 'प्रवीचार' इन पांच अक्षरोंका महान लाघव तो होता परंतु ऊपर 'प्रविचरणं प्रवीचारः' इस भावसाधन व्युत्पत्तिके अधीन भावसाधन अर्थमें 'घञ्' प्रत्ययकर प्रवीचार शब्द सिद्ध कर आए हैं इसलिए जब प्रवीचार शब्द भावसाधन है तब शेष पदके साथ बिना समास किए उसका सामानाधिकरण्य न बन सकता इसलिए पुनः प्रवीचार शब्द ग्रहण किया गया है सो ठीक नहीं, सूत्रमें जो 'शेषाः' ऐसा उल्लेख है उसकी जगहपर 'शेषाणां' ऐसा कह सकते थे और तब ऊपरके सूत्रसे अनुवर्तन किए गये

प्रवीचार शब्दका ठीक समन्वय हो जाता इस रूपसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि ऊपरके सूत्रसे इस सूत्रमें प्रवीचार शब्दकी अनुवृत्ति; बिना किसी बाधाके आ सकती है फिर जो प्रवीचार शब्दका ग्रहण किया गया है उससे आगमके अनुकूल देवोंमें प्रवीचार समझ लेना यही अर्थ द्योतित किया गया है। और वह इसप्रकार है—

सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंकी देवियोंको जिससमय यह ज्ञान हो जाता है कि हमारे स्वामी देव मैथुनजन्य सुखकी अभिलाषासे भोग करनेके इच्छुक हैं बडे आनंदसे वे आपसे आप उनके समीप आ जाती हैं। उन देवांगनाओंके शरीरके स्पर्शनमात्रसे उन देवोंको अत्यंत सुख मिलता है फिर वे भोग करनेकी इच्छासे रहित हो जाते हैं। इसीप्रकार जिससमय देवोंको यह ज्ञान हो जाता है कि हमारी देवियां मैथुनजन्य सुखकी अभिलाषासे विषय भोगकेलिए लालायित हैं तो वे देवियोंके पास आ जाते हैं। उन देवोंके स्पर्शमात्रसे देवांगनाओंको अत्यंत आनंद होता है एवं वे तृप्त हो जाती हैं।

ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गनिवासी देव रूपप्रवीचार हैं वे अपनी देवांगनाओंका स्वभावसे ही प्रिय शृंगार आकार एवं विलासका स्थान मनोहर भेष और रूपके देखनेमात्रसे गाढ विषय-सुखका अनुभव करते हैं। इसीप्रकार देवांगनाएं भी विषयसुखका अनुभव करती हैं। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गनिवासी देव मधुर गान हास्यमिश्रित वचन भूषणोंके शब्दोंका सुननारूप रसायन पीकर सुरतसुखका अनुभव करते हैं देवांगनाओंको भी उससमय अति आनंद प्राप्त होता है। आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गोंके देव अपनी देवांगनाओंका मनमें विचार करते ही सुरत-रससे तृप्त हो जाते हैं। इसीतरह उनकी देवांगनाएं भी अपने स्वामियोंका मनमें विचार करते ही रति-जनित सुखसे तृप्त हो जाती हैं ॥ ८ ॥

सोलह स्वर्गपर्यंतके देवोंमें विषयजनित सुखकी व्यवस्था कह दी गई अब आगेके स्थानोंमें रहने-वाले देवोंके किस प्रकारका सुख है ? सूत्रकार उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

सोलह स्वर्गोंसे आगेके अर्थात् अच्युतस्वर्गसे ऊपर नव ग्रैवेयकोंके ९ विमान, नव अनुदिश विमान और पांच अनुत्तर विमान इन सबमें रहनेवाले देव अप्रवीचार—कामसेवनरहित हैं—इनके कामवासना होती ही नहीं । शंका—'अप्रवीचाराः' इतनेमात्र कहनेसे ही आगेके देवोंका ग्रहण प्राप्त था क्योंकि सोलहवें स्वर्ग तकके देवोंका सुख तो उपर्युक्त सूत्रोंसे कह दिया गया इसलिए उनसे आगेके स्थानोंमें रहनेवाले देव प्रवीचाररहित होते हैं यह ही अर्थ 'अप्रवीचाराः' इतने सूत्रका होता फिर उनके ग्रहण करनेकेलिए 'परे' शब्दका क्यों ग्रहण किया गया ? उत्तर—

परवचनं कल्पातीतसर्वदेवसंग्रहार्थं ॥ १ ॥

सौधर्मसे अच्युतपर्यंत स्वर्गोंका नाम कल्प है । इन स्वर्गोंसे आगेके स्थानोंमें रहनेवाले देव कल्पातीत कहे जाते हैं । उन समस्त कल्पातीत देवोंके संग्रहार्थ 'पर' शब्दका उल्लेख किया गया है । अन्यथा अर्थात् यदि सूत्रमें 'पर' शब्दका ग्रहण नहीं किया जाता तब शेष देव स्पर्शप्रवीचार आदि हैं और अप्रवीचार भी हैं यह भी अनिष्ट अर्थ होता इसलिए इस अनिष्ट अर्थके निराकरणार्थ सूत्रमें पर शब्दका ग्रहण अत्यंत प्रयोजनीय है।

अप्रवीचारग्रहणं प्रकृष्टसुखप्रतिपत्त्यर्थं ॥ २ ॥

प्रवीचार शब्दका अर्थ विषयजन्य वेदनाका प्रतीकार है। सोलहवें स्वर्गसे आगेके स्थानोंमें रहने-वाले देवोंमें प्रवीचार नहीं है इसलिए उस प्रवीचारके अभावमें वे सदा परमसुखका अनुभव करते हैं इस बातके सूचन करनेकेलिए सूत्रमें अप्रवीचार शब्दका ग्रहण है।

विशेष— यदि यहांपर यह शंका की जाय कि 'विवादापन्नाः सुराः कामवेदनाक्रांताः सशरीरत्वात प्रसिद्धकामुकवत्' अर्थात् कल्पातीत देवोंके शरीरका संबंध है इसलिये उन्हें भी कामवेदनासे व्याप्त होना चाहिये क्योंकि जहां जहां शरीरका संबंध रहता है वहां वहां नियमसे कामवेदना रहती है। जैसे प्रसिद्ध कामी पुरुषके शरीरका संबंध है इसलिये उसके कामवेदना भी है। सो ठीक नहीं। कामवेदनाके अभा-वका शरीरके साथ कोई विरोध नहीं है अर्थात् जहांपर शरीर हो वहांपर कामवेदना होनी ही चाहिये यह नियम नहीं क्योंकि इसीलोकमें किन्हीं किन्हीं मनुष्योंके शरीर होनेपर भी कामवेदनाकी मन्दता वा अत्यन्त मंदता (अभाव) दीख पडती है। तथा यह भी व्याप्ति नहीं कि जहांपर कामवेदना की हीनता होगी वहांपर शरीर भी हीन होगा क्योंकि चार घातिया कर्मोंको मूलसे नष्ट करनेवाले केव-लियोंके कामवेदनाका सर्वथा अभाव रहता है परंतु अत्यन्त देदीप्यमान शरीरसे वे विराजमान रहते हैं इसरीतिसे शरीरके विद्यमान रहते भी जब कामवेदनाका अभाव प्रमाणासिद्ध है तब कल्पातीत देवोंके शरीरोंकी विद्यमानतामें कामवेदनाका अभाव होना युक्तिसंगत है। उक्त अनुमानमें जिसप्रकार शरीर-त्व हेतु दिया गया है उसकी जगह बहुतसे मनुष्य 'सत्त्वात्' वा 'प्रमेयत्वात्' आदि हेतु देकर कल्पातीत देवोंके कामवेदनाकी सत्ता सिद्ध करते हैं उनके भी सत्त्व आदि हेतु व्यभिचारदोषग्रस्त होनेसे मिथ्या

१— श्लोकवार्तिक पृष्ठ संख्या ३७४।

हेतु हैं। उनसे कल्पातीत देवोंमें कामवेदनाकी सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती इसलिये उनमें कामवेदनाका अभाव सुनिश्चित और अबाधित है ॥ ९ ॥

सामान्यरूपसे देवोंके कुछस्वरूपका वर्णन कर दिया गया अब विशेष देवोंका स्वरूप वर्णन करना चाहिये। देवोंके चार निकाय ऊपर कहे गये हैं उनमें प्रथम भवनवासी निकाय है। भवनवासियोंके दश भेद हैं। सूत्रकार उन दश प्रकारके भवनवासियोंकी समान्य विशेष संज्ञाओंका प्रदर्शन करते हैं—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

भवनवासी देव, असुरकुमार नागकुमार विद्युत्कुमार सुपर्णकुमार अग्निकुमार वातकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार इसरीतिसे दशप्रकारके हैं।

भवनेषु वसनशीला भवनवासिनः ॥ १ ॥

जिन देवोंका स्वभाव भवनोंमें ही रहनेका हो वे भवनवासी कहे जाते हैं। उक्त चारों निकायोंमें पहिले निकायकी यह सामान्य संज्ञा है।

असुरादयस्तद्विकल्पाः ॥ २ ॥

असुरकुमार नागकुमार विद्युत्कुमार आदि दश भेद उन भवनवासियोंके हैं।

सर्वे नामकर्महेतुकाः ॥ ३ ॥

नामकर्मके उदयसे असुरकुमार आदि भेदोंकी उत्पत्ति है। अर्थात् असुर नामकर्मके उदयसे असुरकुमार, नाग नामकर्मके उदयसे नागकुमार, विद्युत् नामकर्मके उदयसे विद्युत्कुमार, सुपर्ण नाम कर्मके

उदयसे सुपर्णकुमार, अग्नि नामकर्मके उदयसे अग्निकुमार, वात नामकर्मके उदयसे वातकुमार, स्तानित-नामकर्मके उदयसे स्तानितकुमार, उदधि-नामकर्मके उदयसे उदधिकुमार, द्वीप नाम कर्मके उदयसे द्वीप-कुमार एवं दिक् नाम कर्मके उदयसे दिक्कुमार संज्ञा है। शंका—

अस्यंति देवैः सहासुरा इति चेन्नावर्णवादात ॥ ४ ॥

जो युद्धमें देवोंके ऊपर शस्त्र फेंकें अर्थात् शस्त्रोंसे युद्ध करें वे असुर हैं यह असुर शब्दका अर्थ है। सो ठीक नहीं। मिथ्याज्ञानके निमित्तसे देवोंके ऊपर यह अवर्णवाद है—वृथा उनके मत्थे कलंक मढना है क्योंकि—

महाप्रभावत्वात ॥ ५ ॥ वैरकारणाभावात् ॥ ६ ॥

सौधर्म आदि देव महाप्रभाववान हैं उनके प्रभावके माहात्म्यसे निकृष्टबलके धारक दूसरे देव मनमें भी शत्रुता नहीं रख सकते इसलिये सौधर्म आदि देवोंके सामने हीनबल वाले असुरोंका उनके साथ युद्ध कहना सर्वथा मिथ्या है। तथा—

सौधर्म आदि स्वर्गोंके देव विशिष्ट नाम कर्मके उदयसे अनुपम वैभवशाली होते हैं और अर्हंत भगवानकी पूजा करना तथा सदा उत्तमोत्तम भोग भोगना ही उनका कार्य रहता है इसलिये परस्त्रियोंका हरण करना धन मारना आदि कार्योंमें प्रवृत्ति न होनेके कारण उनसे जायमान वैर विरोध उनके नहीं हो सकता इसलिये असुरगण सौधर्मादि देवोंके साथ कभी युद्ध नहीं कर सकते। उनका देवोंके

१—मिथ्याज्ञानी लोग देवोंको युद्ध करनेवाले, मांसाहारी आदि समझते हैं परंतु वास्तवमें देव वैसे नहीं होते, देवोंको दोष लगाना लोगोंकी अज्ञानता है।

साथ युद्ध बतलाना सर्वथा असत्य है। भवनवासी देव, कुमार क्यों कहे जाते हैं? वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

कौमारवयोविशेषविक्रियादियोगात्कुमाराः ॥ ७ ॥

यद्यपि समस्त देवोंकी अवस्था आयु स्वभाव निश्चित है तथापि उनका विक्रिया करनेका स्वभाव कौमाररूप विशेष अवस्था सरीखा होता है। कुमारोंके ही समान उद्धत उनके वेष रहते हैं उन्हींके समान भाषा बोलते हैं। भूषण धारण करना मारना पीटना चलना और सवारी रखना भी उन्हींके समान होता है। तथा कुमारोंके समान रागजनित क्रीडाओंमें आसक्त रहते हैं इसरूपसे कुमारों सरीखी चेष्टाके धारक होनेके संबंधसे भवनवासी देवोंको कुमार कहा जाता है।

प्रत्येकमभिसंबंधः ॥ ८ ॥

सूत्रमें जो कुमार पदका उल्लेख किया गया है उसका असुर नाग आदि प्रत्येकके साथ संबंध है इस लिये असुरकी जगहपर असुरकुमार नागकी जगहपर नागकुमार इत्यादि रूपसे अर्थ समझना चाहिये। भवनवासी देवोंके भवन कहां हैं? वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

अस्याः रत्नप्रभायाः पंकबहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि चतुःषष्टिशतसहस्राणि ॥ ९ ॥

रत्नप्रभा भूमिके पंकबहुलभागमें असुरकुमार देवोंके चौसठ लाख भवन हैं। इस जंबूद्वीपसे तिरछी ओर दक्षिण दिशाके सन्मुख असंख्यात द्वीप समुद्रोंके वाद पंकबहुलभागमें चमर नामका असुर कुमारोंका इंद्र रहता है। वहांपर उसके चौतीस लाख भवन हैं। चौसठ हजार उसके सामानिक देव हैं। तेतीस त्रांयस्त्रिंश देव हैं। तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, चार लोकपाल, पांच पटरानी एवं चार हजार चौसठ

आत्मरक्षक हैं। इसप्रकार दिव्य ऐश्वर्य और परिवारसे विभूषित, दक्षिण दिशाका स्वामी वह चमरेंद्र भांति भांतिके उत्तमोत्तम भोगोंको भोगता हुआ वहांपर निवास करता है।

उत्तर दिशामें असुरकुमारोंका दूसरा इंद्र वैरोचन नामका रहता है। वहांपर उसके तीस लाख भवन हैं। चौसठ हजार सामानिक देव हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश हैं। तीन सभा, सातप्रकारकी सेना, चार लोकपाल, पांच पटरानियां एवं चारहजार चौसठ आत्मरक्षक हैं इसप्रकार दिव्य ऐश्वर्य और परिवारसे विभूषित वह वैरोचन इंद्र वहांपर भांति भांतिके भोगोंको भोगता हुवा सानंद रहता है।

खरपृथ्वीभागे उपर्यधश्चैकैकयोजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषे नवानां कुमाराणां भवनानि भवंति॥ १० ॥

खर पृथ्वी भागमें ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोडकर बाकीके नौ भागोंमें नागकुमार आदि नौ प्रकारके भवनवासी देव निवास करते हैं। भावार्थ—इस जंबूद्वीपसे तिरछी ओर दक्षिण दिशामें असंख्यात द्वीप और समुद्रोंके बाद धरण नामका नागकुमारोंका इंद्र रहता है। वहांपर उसके चवालीस लाख भवन हैं। साठि हजार सामानिक देव हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश, तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, चार लोकपाल, छह पटरानी एवं छह हजार आत्मरक्षक देव हैं। तथा इस जंबूद्वीपसे तिरछी ओर उत्तर दिशाके सन्मुख असंख्याते द्वीप और समुद्रोंको छोडकर नाग कुमारोंके दूसरे इंद्र भूतानंदके चालीस लाख भवन हैं। सामानिक आदि देवोंकी संख्या धरणेंद्रके समान समझ लेनी चाहिये इसरीतिसे नागकुमारोंके कुल भवन चौरासी लाख हैं।

सुपर्णकुमारोंके भवन बहत्तर लाख हैं। उनमें दक्षिणदिशाके स्वामी सुपर्णकुमारोंके इंद्र वेणुदेवके अडतीस लाख भवन हैं। सामानिक आदि देवोंकी व्यवस्था धरणेंद्रके समान समझ लेनी चाहिये।

उत्तरदिशाके स्वामी सुपर्णकुमारोंके स्वामी वेणुधारी इंद्रके चौंतीस लाख भवन हैं सामानिक आदि देवोंका परिवार धरण इंद्रके समान है।

विद्युत्कुमार अग्निकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन छह प्रकारके भवनवासी देवोंके छिहत्तर लाख भवन हैं। दक्षिणदिशाकी ओरके जो हरिसिंह अग्निशिख सुघोष जलकांत पूर्णभद्र और अमितगति ये छह इंद्र हैं उनमें हरएकके चालीस चालीस लाख भवन हैं तथा उत्तर दिशाकी ओरके जो हरिकांत अग्निमाणव महाघोष जलप्रभ वशिष्ट और अमितवाहन ये छह इंद्र हैं उनमें प्रत्येकके छत्तीस छत्तीस लाख भवन हैं।

वातकुमार नामके भवनवासियोंके छियानबे लाख भवन हैं। उनमें दक्षिणदिशाके स्वामी वातकुमारोंके इंद्र वैलंबके पचास लाख भवन हैं और उत्तरदिशाके स्वामी सुपर्णकुमारोंके इंद्र प्रभंजनके छियालीस लाख भवन हैं। विद्युत्कुमार आदि सातो प्रकारके भवनवासियोंका सामानिक देव आदि परिवार कुल धरणेंद्रके समान है। इसप्रकार ये भवनवासियोंके मिलकर कुल भवन सात करोड बहत्तर लाख हैं॥ १०॥

इसप्रकार भवनवासी देवोंका कुछ स्वरूप वर्णन कर दिया गया अब दूसरा निकाय व्यंतर है उसकी सामान्य और विशेष संज्ञाओंके निश्चयार्थ सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

व्यंतराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः॥ ११ ॥

व्यंतरदेव, किन्नर किंपुरुष महोरग गंधर्व यक्ष राक्षस भूत और पिशाच. इसरीतिसे आठप्रकारके हैं।

विविधदेशांतरनिवासित्वाद् व्यंतराः॥ १ ॥

जिनके रहनेके स्थान अनेक भिन्न भिन्न देश हों वे व्यंतर कहे जाते हैं। व्यंतरोंका यह अन्वर्थ नाम है। किन्नर आदि आठ भेदोंकी व्यंतर यह सामान्य संज्ञा है।

किन्नरादयस्तद्विकल्पाः ॥ २ ॥

उस व्यंतर निकायके किन्नर किंपुरुष महोरग आदि आठ भेद हैं।

नामकर्मोदयविशेषतस्तद्विशेषसंज्ञाः ॥ ३ ॥

मूलमें जो देवगति नामकर्म है उसकी उत्तरोत्तर प्रकृतिरूप भेदोंके उदयसे किन्नर आदि विशेष संज्ञा है। अर्थात् किन्नर नामकर्मके उदयसे किन्नरसंज्ञा है। किंपुरुष नामकर्मके उदयसे किंपुरुषसंज्ञा है। महोरग नामकर्मके उदयसे महोरग, गंधर्व नामकर्मके उदयसे गंधर्व, यक्ष नामकर्मके उदयसे यक्ष, राक्षस नामकर्मके उदयसे राक्षस, भूत नामकर्मके उदयसे भूत और पिशाच नामकर्मके उदयसे पिशाचसंज्ञा है। शंका—

क्रियानिमित्ता एवेति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ४ ॥

खोटे नरोंकी जो अभिलाषा करें वे किन्नर हैं। खोटे पुरुषोंको जो चाहें वे किंपुरुष हैं। मांसको जो खावें वे पिशाच हैं इत्यादि क्रियाओंके आधीन किन्नर आदि संज्ञायें हैं नामकर्मनिमित्तक नहीं इसलिए ऊपर जो नामकर्मनिमित्तक किन्नर आदि भेद माने गये हैं वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। इसका उत्तर ऊपर दे दिया गया है कि उपर्युक्त निंदित क्रियानिमित्तक किन्नर आदिको माना जायगा तो उनके ऊपर अवर्णवाद होगा क्योंकि वे पवित्र वैक्रियिक शरीरके धारक हैं। अपवित्र औदारिक शरीरोंके धारक मनुष्योंकी वे कभी भी इच्छा नहीं कर सकते और न वे मांसका ही भोजन कर सकते

हैं इसलिए उपर्युक्त निंदित क्रियानिमित्तक जो किन्नर आदि नामोंको कहा गया है वह सर्वथा मिथ्या है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

लोकमें बहुतसे देवी देवताओंकी मांस मदिरा आदिमें प्रवृत्ति दीख पडती है अर्थात् यह सुना जाता है कि अमुक देवी बकरा आदिका मांस वा शराब आदिकी बलि लेकर कामना पूर्ण करती है इत्यादि? सो ठीक नहीं। वे क्रीडाजन्य सुखके निमित्त वैसा कर सकते हैं उनके केवल मानसिक आहार है मांस शराब आदिका खाना पीना उनके बाधित है इसलिए उन्हें मांसभोजी वा मद्यपायी आदि कहना वा मानना तीव्र अज्ञान है। इन किन्नर आदि व्यंतरोंके रहनेके स्थान कहां हैं? वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

इस जंबूद्वीपसे तिरछी ओर दक्षिणदिशाके सन्मुख असंख्यात द्वीप और समुद्रोंके बाद खरपृथ्वी-भागके ऊपरले हिस्सेमें किन्नर देवोंके स्वामी किन्नरेंद्रका निवासस्थान है। वहांपर उसके असंख्यातलाख नगरोंका वर्णन किया गया है। तथा उसके परिवारस्वरूप चार हजार सामानिक देव, तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, चार पटरानियां और सोलह हजार आत्मरक्षक देव हैं तथा उत्तरदिशामें किंपुरुष नामका किन्नरोंका इंद्र रहता है और उसका वैभव और परिवार पहिलेके ही समान (किन्नरेंद्रके समान) है। सत्पुरुष अतिश(का)य गीतरति पूर्णभद्र स्व(प्रति)रूप और काल इन छह इंद्रोंके भी दक्षिणदिशामें असंख्यात लाख रहनेके नगर हैं तथा महापुरुष महाकाय गीतयश मणिभद्र अप्रतिरूप और महाकाल इन छह इंद्रोंका निवासस्थान उत्तरदिशामें है और उनके रहनेके स्थान नगर असंख्यात लाख हैं।

राक्षसोंके इंद्र भीमके दक्षिण दिशामें पंकबहुलभागमें असंख्यात लाख नगर हैं। उत्तर दिशामें

राक्षसोंके दूसरे इंद्र महाभीमके भी पंकबहुलभागमें असंख्यात लाख नगर हैं। इन सोलहो प्रकारके इंद्रोंके सामानिक त्रायस्त्रिंश आदि परिवार समान हैं। यह तो पातालमें व्यंतरोंके आवासका कथन किया गया है परंतु पृथ्वीतलपर भी द्वीप पर्वत समुद्र देश गांव नगर त्रिक (तिराया) चौराया चबूतरा घर आंगन गली तालाब बगीचा और मंदिर आदि असंख्यात लाख उनके रहनेके स्थान हैं॥११॥

भवनवासी और व्यंतर इन दो निकायोंकी सामान्य विशेष संज्ञाओंका वर्णन कर दिया गया अब तीसरे ज्योतिष्क निकायकी सामान्य विशेष संज्ञाओंका वर्णन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

ज्योतिष्काः सूर्याचंद्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे इसतरह पांच प्रकारके ज्योतिष्क देव हैं

द्योतनस्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः ॥ १ ॥ ज्योतिःशब्दात्स्वार्थे के निष्पत्तिः ॥ २ ॥

द्योतनका अर्थ प्रकाश करना है जिनका प्रकाश करनेका ही स्वभाव हो वे ज्योतिष्क कहे जाते हैं। सूर्य आदि पांचोंकी ज्योतिष्क यह अन्वर्थ और सामान्य संज्ञा है। ज्योतिष्क शब्दकी सिद्धि ज्योतिष् शब्दसे स्वार्थमें कप्रत्यय करनेपर होती है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि ज्योतिष् शब्दसे स्वार्थमें कप्रत्यय किस सूत्रसे होगा ? क्योंकि ज्योतिष् शब्दका यवादि गणमें पाठ है। यवादिगणसे स्वार्थमें कप्रत्ययका विधान है इसलिये यहांपर कप्रत्यय बाधित नहीं। शंका—

प्रकृतिलिंगानुवृत्तिप्रसंग इति चेन्नातिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३ ॥

ज्योतिः शब्द नपुंसक लिंग है। यदि स्वार्थमें उससे 'क' प्रत्यय किया जायगा तो ककारांत ज्योतिष्क शब्दको भी नपुंसक लिंग कहना होगा इसरीतिसे सूत्रमें 'ज्योतिष्काः' यह पुलिंगांत ज्योतिष्क शब्द-

का उल्लेख अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। प्रकृतिका जो लिंग है उसका उल्लंघन—अन्यलिंग होता, भी दीख पडता है जैसे कुटी समी और शुंडी शब्द स्त्रीलिंग हैं और उनसे अल्प अर्थमें 'र' प्रत्यय करनेपर कुटीरा समीरा और शुंडीरा ऐसा स्त्रीलिंग होना चाहिये था परंतु कुटीर समीर और शुंडीर ये पुलिंग ही दीख पडते हैं इसरीतिसे जिसप्रकार यहांपर कुटी आदि प्रकृतियोंके लिंगका उल्लंघन है अर्थात् कुटी आदि स्त्रीलिंगांत शब्दोंसे र प्रत्यय करनेपर कुटीर आदि पुल्लिंगांत माने जाते हैं उसी प्रकार यद्यपि ज्योतिष् शब्द नपुंसक लिंगांत है उससे स्वार्थमें 'क' प्रत्यय करनेपर ज्योतिष्क शब्दको भी नपुंसकलिंगांत होना चाहिये परन्तु यहांपर क प्रत्यय करनेपर नपुंसक लिंगकी जगह पुल्लिंगका परिवर्तन हो गया है इसलिये प्रकृतिके लिंगका अतिक्रमण व्याकरणसिद्ध होनेसे कोई दोष नहीं।

तद्विशेषाः सूर्यादयः ॥ ४ ॥

उन ज्योतिषी देवोंके सूर्य चंद्रमा आदि पांच भेद हैं।

पूर्ववत्तन्निर्वृत्तिः ॥ ५ ॥

सूर्य चंद्रमा आदि विशेष संज्ञाओंकी विशिष्ट देवगति नाम कर्मके उदयसे पहिलेकी तरह रचना समझ लेनी चाहिये अर्थात्—सूर्य नामक विशिष्ट नाम कर्मके उदयसे सूर्यकी, उत्पत्ति होती है। चन्द्र नामके विशिष्ट नामके उदयसे चन्द्रमाकी, ग्रह नामक विशिष्ट नाम कर्मके उदयसे ग्रहकी, नक्षत्र नामक विशिष्ट नाम कर्मके उदयसे नक्षत्रकी और तारक नामक विशिष्ट नाम कर्मके उदयसे ताराओंकी उत्पत्ति है।

सूर्याचंद्रमसाविल्यानङ् देवताद्वंद्वे ॥ ६ ॥

"सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ" यहांपर द्वंद्व समास करनेपर 'देवताद्वंद्वे' इस सूत्रसे पूर्वपदको आनङ् हुआ है अर्थात् पूर्वपदको आनङ् करनेपर सूर्या बना है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

सर्वत्र प्रसंग इति चेन्न पुनर्द्वंद्वग्रहणादिष्टे वृत्तिः ॥ ७ ॥

'देवता द्वंद्वे' इस सूत्रसे द्वंद्वसमासमें देवतावाचक शब्दोंसे पूर्वपदमें आनङ् होता है तो 'ग्रहनक्षत्र-प्रकीर्णकताराः' 'किन्नरकिंपुरुषादयः' 'असुरनागादयः' यहांपर भी पूर्वपदमें आनङ् होना चाहिये क्योंकि ग्रह आदि भी देवतावाचक शब्द हैं और द्वंद्व समास उनका हुआ है? सो ठीक नहीं। 'देवता-द्वंद्वे' इस सूत्रसे पहिलेका सूत्र 'आनङ् द्वंद्वे' यह है इसलिये 'आनङ् द्वंद्वे' इसी सूत्रसे 'देवता द्वंद्वे' में द्वंद्व पदकी अनुवृत्ति सिद्ध थी फिर जो उसमें द्वंद्व पदका उल्लेख किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि समस्त देवतावाचक शब्दोंका द्वंद्व करनेपर आनङ् नहीं होता किंतु सूर्य चंद्रमा आदि कुछ इष्ट—निर्धारित शब्दोंका द्वंद्व करने पर ही आनङ् होता है इसलिए 'सूर्यश्च चंद्रमाश्च' इस द्वंद्वमें तो आनङ् हो जानेसे 'सूर्याचंद्रमसौ' हो गया और 'ग्रहश्च नक्षत्रं च' आदि द्वंद्वमें आनङ् न होनेसे 'ग्रहानक्षत्र' आदि नहीं हुआ।

पृथग्ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थं ॥ ८ ॥

सूर्य चंद्रमा ग्रह आदिका एक ही साथ द्वंद्व समास करना उचित था। एक साथ द्वंद्व समास करनेसे सूर्याचन्द्रमोग्रहेत्यादि लघुसूत्र करना पडता फिर 'सूर्याचंद्रमसौ' इनका एक द्वंद्व समास और ग्रह नक्षत्र आदिका एक द्वंद्व समास इसप्रकार दो बार द्वंद्व समास क्यों कहा गया? उसका समाधान यह

१—इसकी जगहपर सिद्धांतकौमुदीमें 'आनङ् ऋतो द्वंद्वे' ६। ३। २५। यह सूत्र है।

है कि ग्रह आदि सबसे सूर्य और चंद्रमामें प्रधानता बतलानेके लिए 'सूर्याचंद्रमसौ' यह पृथक्रूपसे उल्लेख किया गया है। पांचों प्रकारके ज्योतिषी देवोंमें सूर्य और चंद्रमाका प्रभाव प्रकाश आदि अधिक है इसलिए ये ही प्रधान हैं।

सूर्यस्यादौ ग्रहणमल्पाच्तरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च ॥ ९ ॥

जिसमें थोडे स्वर-अक्षर होते हैं और जो अभ्यर्हित—उत्तम, होता है वह द्वंद्वसमासमें व्याकरण शास्त्रके अनुसार अधिक स्वरवाले और गौण शब्दसे पहले रक्खा जाता है। चन्द्रमाकी अपेक्षा सूर्यमें कम स्वर हैं और वह अपने प्रचण्ड तेजसे चन्द्रमा आदि सबको दबा देनेवाला होनेसे अभ्यर्हित है इसलिये चंद्रमासे पहिले सूर्य शब्द रक्खा गया है।

ग्रहादिषु च ॥ १० ॥

जिसतरह सूर्य चंद्रमामें अल्पाच्तर और अभ्यर्हित हेतुओंके बलसे सूर्य शब्दके पूर्वनिपातकी व्यवस्था कर आये हैं उसीप्रकार ग्रह आदिमें भी समझ लेना चाहिये। नक्षत्रकी अपेक्षा ग्रहपद थोडे स्वरवाला और अभ्यर्हित है इसलिये नक्षत्र पदसे ग्रहपदका पूर्वनिपात किया गया है। तारका शब्दकी अपेक्षा नक्षत्र अभ्यर्हित है इसलिये तारका पदसे पहिले नक्षत्र शब्दका उल्लेख किया है। अब वार्तिककार सूर्य चंद्रमा आदिके रहनेके स्थानका निरूपण करते हैं—

इस भूमिके समतल भागसे सातसौ नब्बे योजनकी ऊंचाईपर समस्त ज्योतिषी देवोंमें सबसे नीचे रहनेवाले तारकाओंका भ्रमण है। उनसे दश योजन की उंचाईपर सूर्योंका संचार है। उनसे अस्सी योजनकी ऊंचाईपर चंद्रमा भ्रमण करते हैं। उनसे तीन योजनकी ऊंचाईपर नक्षत्र, उनसे तीन योज-

नकी ऊंचाईपर बुध, उनसे तीन योजनकी ऊंचाईपर शुक्र, उनसे तीन योजनकी ऊंचाईपर बृहस्पति, उनसे चार योजनकी ऊंचाईपर मंगल एवं उनसे चार योजनकी ऊंचाईपर शनैश्चर नामके ज्योतिषी देव भ्रमण करते हैं। इसप्रकार ज्योतिषी देवोंके परिभ्रमणका आकाशदेश एकसौ दश योजन मोटा और घनोदधि पर्यंत तिरछा असंख्यात द्वीप और समुद्रोंके बराबर है। अर्थात् इस समतल भूमिसे ऊपर ७९० योजन ऊपर चढकर तो ज्योतिषीदेवोंका संचार शुरू होता है और वह क्रमसे १०, ८०, ३, ३, ३, ३, ४, ४, इसप्रकार ११० योजन तक ऊपर चला गया है इसलिये इस मोटाई की अपेक्षा तो ११० योजनमें ज्योतिषीगण हैं लंबाईमें असंख्याते द्वीप समुद्र पर्यंत फैले हुये हैं। इसी विषयकी पुष्ट करनेवाली एक गाथा है। वह इस प्रकार है—

णवदुत्तरसत्तसया दससीदिचदुतिगं च दुगचदुक्कं।
ताराखिससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरारसणी ॥ १ ॥

अर्थात्—चित्रा पृथिवीसे सातसौ नब्बे योजनकी ऊंचाईपर तारागण हैं। उनके ऊपर दश योजनकी ऊंचाईपर सूर्य, अस्सी योजनकी ऊंचाईपर चंद्रमा, तीन योजनकी ऊंचाईपर नक्षत्र, तीन योजनकी ऊंचाईपर बुध, तीन योजनकी ऊंचाईपर शुक्र, तीन योजनकी ऊंचाईपर बृहस्पति, चार योजन प्रमाण ऊंचे मंगल और चार योजन ही ऊंचे शनैश्चर ज्योतिषी देव हैं।

नक्षत्रमंडलमें अभिजित् नामका नक्षत्र सब नक्षत्रोंके मध्यभागमें गमन करनेवाला है। मूलनक्षत्र सबके बाहिर गमन करनेवाला है। भरणी नक्षत्र सबके नीचे और स्वाति सबके ऊपर गमन करनेवाला है। सूर्योंका विशेष वर्णन इसप्रकार है—

तपेहुए सुवर्णके समान प्रभावाले, लोहिताक्षमणिमयी, एक योजनके इकसठ भागोंमें अडतालीस भागप्रमाण लंबे चौडे, तिगुने परिमाणकी परिधिके धारक, योजनके इकसठि भागमेंसे चौबीस भागप्रमाण मोटे, अर्धगोलकके आकार, एवं सोलह हजार देवोंसे चलाए जानेवाले सूर्यके विमान हैं। उन्हें पूर्व दक्षिण उत्तर और पश्चिम भागोंमेंसे प्रत्येक भागमें क्रमसे सिंह हाथी बैल और घोडोंके आकारोंकी विक्रियाके धारक चार चार हजार देव वहन करते हैं अर्थात् पूर्व दिशाकी ओर विमानोंको सिंहके रूपकी विक्रियाके धारक चार हजार देव वहन करते हैं—दक्षिण दिशाकी ओर विमानोंको हाथीके रूपकी विक्रियाके धारक चार हजार देव वहन करते हैं। उत्तरदिशाकी ओर विमानोंको बैलोंके रूपकी विक्रियाके धारक चार हजार देव और पश्चिम दिशाकी ओर विमानोंको घोडोंके रूपकी विक्रियाके धारक चार हजार देव वहन करते हैं। इन विमानोंके ऊपर सूर्य नामके धारक देवोंके निवास हैं। इन देवोंमें प्रत्येक देवकी चार चार पटरानी हैं सूर्यप्रभा सुसीमा अर्चिमालिनी प्रभंकरा ये उन देवियोंके नाम हैं उनमें प्रत्येक पटरानी विक्रियासे चार चार हजार देवियोंका रूप धारण करनेमें समर्थ हैं। इन अत्यंत मनोहारिणी देवियोंके साथ दिव्य सुखको भोगते हुए असंख्यात लाख विमानोंके स्वामी सूर्यदेव मर्यादित आकाशमंडलमें भ्रमण करते रहते हैं।

निर्मल मृणालतंतुके समान सफेद चिह्नोंसे भूषित चंद्रमाके विमान हैं। ये विमान एक योजनके

१ हरिवंशपुराणमें बृहस्पतिसे तीन योजनकी दूरीपर मंगल और मंगलसे चार योजनकी दूरीपर शनिश्चर हैं यह कहा गया है। पृष्ठ संख्या ९१। २ एक योजनके इकसठ भागोंमें अडतालीस भाग प्रमाण वा एक योजनके इकसठ भागोंमें चौबीस भाग प्रमाण, यह अर्थ अर्थप्रकाशिका और हरिवंशपुराणमें किया गया है।

इकसठ भागोंमेंसे छप्पन भागप्रमाण चौडे लंबे, अट्ठाईस भागप्रमाण मोटे, एवं पूर्व आदि दिशाओंमें क्रमसे सिंह हाथी घोडा और बैलोंके रूपोंकी विक्रियाओंके धारक सोलह हजार देवोंसे वेष्टित हैं। इन विमानोंके ऊपर चंद्र नामके देव रहते हैं। प्रत्येककी चार चार पटरानियां हैं। चंद्रप्रभा सुसीमा अर्चि-मालिनी और प्रभंकरा ये उनके नाम हैं। इनमें प्रत्येक पटरानी अपनी विक्रियासे चार चार हजार देवियोंके रूप धारण करनेमें समर्थ हैं। इन मनोहारिणी देवियोंके साथ अनेक उत्तमोत्तम दिव्यसुखोंके भोगनेवाले असंख्यात लाख विमानोंके स्वामी चंद्रदेव निरंतर आकाशमंडलमें घूमा करते हैं।

अंजनके समान काली प्रभाके धारक अरिष्टमणिमयी राहुके विमान हैं ये विमान एक योजन लंबे चौडे और ढाईसौ धनुष मोटे हैं। नवीन मल्लिका (चमेली) पुष्पकी प्रभाके धारक, चांदीके रंगके शुक्रके विमान हैं। ये एक कोश लंबे चौडे हैं। जातिमान मुक्ताफलकी कांतिके समान, अंकमणिमयी बृहस्पतिके विमान हैं। ये विमान कुछ कम एक कोश लंबे चौडे हैं। सुवर्णमयी अर्जुनपुष्पके वर्णके बुधके विमान हैं। सुवर्णमयी और तपेहुए सुवर्णके समान कांतिके धारक शनीचरके विमान हैं। लोहिताक्षमणिमयी तपे सोनेके समान प्रभाके धारक मंगलके विमान हैं। बुध आदिके विमान आधा कोश लंबे चौडे हैं। शुक्र आदिके विमान राहुके विमानोंके समान मोटे हैं। राहु आदि विमानोंमें प्रत्येक विमान चार चार हजार देवोंसे ले जाए जाते हैं। नक्षत्र विमानोंमें प्रत्येक विमानको चार चार हजार देव ले चलनेवाले हैं। तारका आदि विमानोंमें प्रत्येक विमानके दो दो हजार देव वाहक हैं। राहु आदिके आभियोग्य जातिके देवोंकी रूपविक्रिया चंद्रमाके समान है अर्थात् सिंह हाथी बैल और घोडाके रूपोंकी विक्रियासे धारण कर वे विमानोंको वहन करते हैं।

१—प्राचीन भाषाकारने 'बैल और घोडोंके रूपोंकी विक्रियाके धारक' यह उलटफेरकर अर्थ किया है। २ यहां 'आठ' होना चाहिये।

नक्षत्र विमानोंकी उत्कृष्ट चौडाई एक कोशकी है। तारका विमानोंकी जघन्य मुटाई एक कोशका चौथा भाग है। मध्यम मुटाई कुछ अधिक कोशका चौथा भाग है और उत्कृष्ट आधा कोश प्रमाण है। समस्त ज्योतिष्क विमानोंकी सबसे जघन्य मुटाई पांचसौ धनुष प्रमाण है। ज्योतिषी देवोंके इंद्र, सूर्य और चंद्रमा हैं और वे असंख्याते हैं॥ १२ ॥

ज्योतिषी देवोंकी गति कहांपर होती है? सूत्रकार इसविषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

सब ज्योतिषी देव मनुष्यलोक अर्थात् ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए निरंतर गमनशील हैं।

मेरुप्रदक्षिणवचनं गत्यंतरनिवृत्त्यर्थं ॥ १ ॥

सूत्रमें जो मेरुप्रदक्षिण शब्दका उल्लेख किया गया है वह अन्य विपरीत गतिकी निवृत्तिकेलिये है अर्थात् सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिषी देव सदा मेरु पर्वतकी ही परिक्रमा दिया करते हैं अन्यत्र उनकी गति नहीं होती। शंका—

गतेः क्षणे क्षणेऽन्यत्वान्नित्यत्वाभाव इति चेन्नाऽऽभीक्ष्ण्यस्य विवक्षितत्वात् ॥ २ ॥

जो पदार्थ कूटस्थ—हलन चलन क्रियारहित है, जिसप्रकार धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि उन्हींमें नित्य शब्दकी प्रवृत्ति दीख पडती है किंतु जो क्षणविनाशीक पदार्थ हैं उनके लिए नित्य शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। गति क्षण क्षणमें अन्य अन्य रूप होनेवाला पदार्थ है उसका नित्य यह विशेषण उपयुक्त नहीं हो सकता इसलिए सूत्रमें 'नित्यगतयः' ऐसा उल्लेखकर गति शब्दका जो

नित्य विशेषण दिया गया है वह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। यहांपर नित्य शब्दका आभीक्ष्ण्य (सदा होनेवाला) यह अर्थ लिया गया है इसलिये 'नित्यप्रहसितः, नित्यजल्पितः' अर्थात् 'यह सदा हसता रहता है, यह सदा बोलता रहता है' जिसप्रकार यहांपर नित्य शब्दका आभीक्ष्ण्य अर्थ है उसीप्रकार 'नित्यगतयः' अर्थात् नित्यगमन करते रहते हैं यहांपर भी नित्य शब्दका 'अनुपरतगतयः' अर्थात् विना ठहरे गमन करते रहते हैं यह अभीक्ष्ण्य अर्थ है इसलिए कोई दोष नहीं। तथा—

अनेकांताच्च ॥ ३ ॥

जिस प्रकार समस्त पदार्थ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य अविनाशी और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य अविनाशी हैं उसीप्रकार सामान्यरूपसे गति नित्य है क्योंकि उसका विच्छेद नहीं होता और विशेषरूपसे वह अनित्य है क्योंकि क्षण क्षण बदलती रहती है इसलिये अनेकांत सिद्धांतके अनुसार गतिशब्दका नित्य विशेषण बाधित नहीं।

नृलोकग्रहणं विषयार्थं ॥ ४ ॥

ढाई द्वीप और दो समुद्रोंके भीतर रहनेवाले सूर्य और चंद्रमा आदि ज्योतिषी देव मेरुकी परिक्रमा देनेवाले और सदा गमनशील हैं किंतु अन्य द्वीप और समुद्रोंके सूर्य चन्द्रमा वैसे नहीं इसप्रकार उनकी गतिके क्षेत्रके निश्चयार्थ सूत्रमें नृलोक शब्दका ग्रहण किया गया है। ढाई द्वीप पर्यंत क्षेत्रका नाम नृलोक है। शंका—

गतिकारणाभावादयुक्तिरिति चेन्न गतिरताभियोग्यदेववहनात् ॥ ५ ॥

संसारमें जितने पदार्थ हैं उनकी गति सकारणक देखनेमें आती है विना कारणके किसीकी भी

गति नहीं दीख पडती। मनुष्य लोकके भीतर रहनेवाले सूर्य आदि ज्योतिष्क विमानोंको भी गतिमान माना है परंतु उनकी गतिका कारण नहीं बतलाया है इसलिये विना कारण उनकी गति मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। आभियोग्य जातिके देवोंका निरंतर गमन करना स्वभाव है। वे ही उन विमानोंको चलाते हैं यह पाहिले कह आये हैं इसलिये मनुष्य लोकके ज्योतिष्क विमानोंकी गति बाधित नहीं। तथा—

कर्मफलविचित्रभावाच्च ॥ ६ ॥

कर्मोंका विपाक अनेक प्रकारसे माना गया है किसीके बद्धकर्म किसीरूपसे पचते हैं तो किसीके किसीरूपसे पचते हैं। जो आभियोग्य जातिके देव, मनुष्यलोकसंबंधी ज्योतिष्क विमानोंको वहन करते हैं उनके कर्मोंका विपाक निरंतररूपसे होनेवाले गतिपरिणामके ही द्वारा होता है अन्य कोई खास कारण उनके कर्मविपाकका नहीं इसलिये मनुष्यलोकसंबंधी ज्योतिष्क देवोंकी गति अनिवार्य है।

ग्यारहसौ इकीस योजन मेरुको छोडकर ज्योतिषी उस मेरुकी परिक्रमा देते हैं। जम्बूद्वीपमें दो सूर्य और दो चंद्रमा हैं। छप्पन नक्षत्र हैं। एकसौ छिहत्तर ग्रह हैं। एक कोडाकोडि लाख तेतीस कोडाकोडि हजार नौ कोडाकोडिसै पचास कोडाकोडि तारे हैं। लवण समुद्रमें चार सूर्य और चार चंद्रमा हैं। एकसै बारह नक्षत्र हैं। तीनसौ बावन ग्रह हैं। दो कोडाकोडि लाख, सडसठि कोडाकोडि हजार नौ कोडाकोडिसै तारे हैं।

धातकीखण्ड द्वीपमें बारह सूर्य बारह चन्द्रमा हैं। तीनसौ छत्तीस नक्षत्र हैं। एक हजार छप्पन ग्रह हैं। आठ कोडाकोडि लाख सैंतीस कोडाकोडिसौ तारे हैं। कालोद समुद्रमें वियालीस सूर्य और

बियालीस चन्द्रमा हैं। ग्यारहसै छिहत्तर नक्षत्र हैं। छत्तीससै छियानवे ग्रह हैं। अट्ठाईस कोडाकोडि लाख, बारह कोडाकोडि हजार, नौ कोडाकोडिसै पचास कोडाकोडि तारे हैं।

पुष्करार्धमें बहत्तर सूर्य और बहत्तर चन्द्रमा हैं। दो हजार सोलह नक्षत्र हैं। त्रेसठिसै छत्तीस ग्रह हैं। अडतालीस कोडाकोडि लाख बाईस कोडाकोडि हजार दो कोडाकोडिसै तारे हैं। तथा पुष्करार्धके दूसरे भागमें भी ज्योतिषियोंकी इतनी ही संख्या है। पुष्करार्धसे चौगुनी पुष्करवरोद समुद्रमें है, पुष्करवरोद समुद्रसे आगेके द्वीप और समुद्रोंमें ज्योतिषियोंकी दूनी दूनी संख्या समझ लेना चाहिये।

ताराओंका आपसमें जघन्य अंतर एक कोशका सातवां भाग है। मध्यम पचाशकोश प्रमाण और उत्कृष्ट एक हजार योजनका है। सूर्योंका आपसमें जघन्य अंतर निन्नानवे हजार छहसै चालीस योजन का है। उत्कृष्ट अंतर एक लाख छहसौ साठ योजनका है। जिसतरह यह सूर्योंका आपसका अंतर बतलाया है उसी प्रकार चंद्रमाओंका भी आपसका अंतर समझ लेना चाहिये।

जंबूद्वीप आदि द्वीपोंमें एक एक चंद्रमाके परिवारस्वरूप छ्यासठ कोडाकोडि हजार, नौ कोडाकोडिसै पचहत्तर कोडाकोडि तारे हैं। अठाईस महाग्रह हैं और अठाईस नक्षत्र हैं।

सूर्यके मण्डलरूप मार्ग एकसौ चौरासी हैं। इन्हींको एकसौ चौरासी गली कहते हैं, सूर्य इनमें गमन करता है। एकसौ अस्सी योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके मध्यको अवगाहन कर सूर्य प्रकाश करता है। उसके अभ्यन्तर मण्डल पैंसठ हैं। लवण समुद्रमें तीनसौ तीस योजन प्रमाण क्षेत्रको अवगाहन कर प्रकाश करता है। वहां बाह्य मंडल एकसौ उन्नीस हैं। प्रत्येक मंडलका दूसरे दूसरे मंडलसे दो दो योजनका अन्तर है। दो योजन और एक योजनके इकसठि भागोंमें अडतालीस भाग प्रमाण उदयका अन्तर है

अर्थात् एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका उदय इतने फासलासे होता है। मेरु पर्वतसे चवालीस हजार आठसै बीस योजनकी दूरीसे समस्त अभ्यंतर मंडलको सूर्य प्रकाशित करता है। उस अभ्यंतर मंडलकी चौडाई निन्यानवे हजार छहसै चालीस योजन प्रमाण है। उस समय दिनमान अठारह मुहूर्तका होता है। एक मुहूर्तमें सूर्यकी गतिका क्षेत्र पांच हजार दोसै इक्यावन योजन और उनतीस योजनका साठिवां भागप्रमाण है। अर्थात् एक मुहूर्तमें सूर्य इतने प्रमाण क्षेत्रको तय कर लेता है।

जिससमय सूर्य समस्त वाह्यमंडलमें गमन करता है उससमय मेरुपर्वतसे पैंतालीस हजार तीनसौ तीस योजनकी दूरीसे उसे प्रकाशित करता है। उस वाह्यमंडलका विस्तार एक लाख छहसौ साठि योजन प्रमाण है। उससमय दिनमान बारह मुहूर्तका होता है। एक मुहूर्तमें सूर्यकी गतिका क्षेत्र पांच हजार तीनसै पांच योजन और पंद्रह योजनका साठिवां भागप्रमाण है अर्थात् एक मुहूर्तमें सूर्य इतने योजनप्रमाण क्षेत्रको तय करता है। उससमय सर्व अभ्यंतर मंडलमें इकतीस हजार आठसौ साढे बत्तीस योजनप्रमाण क्षेत्रमें विद्यमान सूर्य दीख पडता है। अर्थात् भरतक्षेत्रमें रहनेवाला मनुष्य इकतीस हजार आठसौ साढे बत्तीस ३१८३२ $\frac{1}{2}$ योजनकी दूरीपर सर्व अभ्यंतर मंडलमें सूर्यको देखता है। दर्शनका कितना विषय है यह दूसरे अध्यायमें इंद्रियोंके वर्णनमें कर आए हैं। बीचमें कम बढती दर्शनका विषय आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये।

चंद्रमाके मंडल—गलियां पंद्रह हैं। जिसप्रकार सूर्यका अवगाहन द्वीप और समुद्रमें कह आए हैं उसीप्रकार चंद्रमाका भी समझ लेना चाहिये। द्वीपके भीतर चंद्रमाके पांच मंडल हैं और समुद्रमें दश हैं। जिसप्रकार सूर्यके सर्व वाह्य और सर्व अभ्यंतर मंडलोंकी चौडाई और मेरुसे सूर्यके अंतरका प्रमाण

कह आए हैं उसीप्रकार चंद्रमाकी भी सर्व वाह्य और अभ्यंतर मंडलोंकी चौडाई एवं मेरुसे चंद्रमाके अंतरका प्रमाण समझ लेना चाहिये । चंद्रमाके जो पंद्रह मंडल कह आए हैं उनके चौदह अंतर हैं। उनमेंसे प्रत्येक मंडलका एक दूसरेसे अंतरका प्रमाण पैंतीस योजन और एक योजनके इकसठि भागोंमेंसे तीस भाग एवं इकसठि भागोंमेंसे एक भाग के सातभाग करनेपर चार भागप्रमाण है। समस्त अभ्यंतर मंडलमें पांच हजार तिहत्तर योजन और सात हजार सातसै चवालीसका तेरह हजार सातसै पचीसवां भागप्रमाण ठहरकर चंद्रमा एक मुहूर्तमें अवशिष्ट क्षेत्रोंमें गमन करता है अर्थात् सर्व अभ्यंतर मंडलमें चंद्रमाका गमनक्षेत्र एक मुहूर्तमें पांच हजार तिहत्तर योजन और सात हजार सातसै चवालीसका तेरह हजार सातसै पचीस भागप्रमाण है और सर्व वाह्य मंडलमें पांच हजार एकसौ पचीस योजन और छह हजार नौसै नब्बेका तेरह हजार सातसै पचीसवां भागप्रमाण चंद्रमाका एक मुहूर्तमें गमनक्षेत्र है। जिसप्रकार सूर्यका दर्शनका विषय कह आए हैं उसी प्रकार चंद्रमाका भी समझ लेना चाहिये। घटती बढतीका विधान जैसा आगममें लिखा है वैसा जानलेना चाहिये। सूर्य और चंद्रमाके चार क्षेत्रकी चौडाई पांचसै दश योजनप्रमाण है ॥ १३ ॥

घडी घंटा पल दिन आदि समस्त काल व्यवहार काल है उसकी उत्पत्ति गतिमान सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिषियोंके संबंधसे है, यही बात अब सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

समयका विभाग अर्थात् घडी पल दिन रात्रि आदिका व्यवहार गमनशील सूर्य चंद्रमा आदिके द्वारा सूचित होता है। सूत्रमें जो तत् शब्द है वार्तिककार उसका प्रयोजन बतलाते हैं—

गतिमज्ज्योतिःप्रतिनिर्देशार्थं तद्वचनं ॥ १ ॥

सूत्रमें जो तत् शब्दका उल्लेख किया गया है वह गतिमान ज्योतिषियोंके ग्रहणार्थ है। केवल गति क्रियाके आधीन कालका निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि गतिकी अनुपलब्धि है नेत्रसे नहीं दीख पडती। केवल ज्योतिषियोंसे भी कालका निश्चय नहीं हो सकता क्योंकि गतिक्रियारहित केवल ज्योतिषियोंको परिवर्तन रहित—स्थिर माना जायगा। स्थितिशील ज्योतिषियोंसे कालका निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए कालके निश्चयमें गतिमान ज्योतिषी ही असाधारण कारण हैं। उन्हींसे कालका निर्णय होता है।

व्याहारिक और मुख्यकालके भेदसे काल दो प्रकारका है। व्यवहार कालकी उत्पत्ति गतिमान ज्योतिषियोंके आधीन है। वह समय आवली घडी पल घंटा दिन आदिस्वरूप कहा गया है। तथा वह विशेष क्रियाओंसे जाना जाता है एवं मुख्य कालके ज्ञानका कारण है अर्थात् व्यवहार कालके आधीन ही मुख्य कालकी सिद्धि मानी जाती है। इस व्यवहार कालसे भिन्न दूसरा मुख्य काल है। उसका विशेष आगे पंचम अध्यायमें किया जायगा। शंका—

सूर्य चंद्रमा आदिकी गतिसे भिन्न अन्य कोई मुख्यकाल नामका पदार्थ नहीं किंतु वह सूर्य आदिकी गतिस्वरूप ही है क्योंकि मुख्यकाल कोई पदार्थ है ऐसा सिद्धि करनेवाला कोई भी निर्दोष हेतु नहीं है। तथा कलाओंके समूहका नाम काल है। कला क्रियाओंके अवयव हैं इसरूपसे भी मुख्यकाल क्रिया-स्वरूप ही पडता है, भिन्न पदार्थ नहीं। तथा जहांपर पांच अस्तिकायोंका वर्णन किया गया है वहांपर जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन पांच ही अस्ति-

कायोंका वर्णन किया गया है कालको अस्तिकाय नहीं माना गया इसलिए मुख्यकाल व्यवहारकालसे भिन्न कोई भी विशिष्ट पदार्थ नहीं ? उत्तर—मुख्यकालको सिद्ध करनेवाला कोई निर्दोष हेतु नहीं है यह जो कहा गया है वह अयुक्त है क्योंकि—

क्रियायां काल इति गौणव्यवहारदर्शनान्मुख्यासिद्धिः ॥ २ ॥

क्रियामें काल अर्थात् क्रियानिमित्तककाल है यह गौणरूपसे कालका व्यवहार होता है। गौण मुख्यके बिना हो नहीं सकता इसलिए गौणकालसे मुख्यकालकी सिद्धि निरापद् है अर्थात् सूर्यके गमन आदिमें जो क्रिया होती है वह काल है, यह जो उस क्रियाको रूढिसे व्यवहारकाल माना है वह व्यवहार काल भी मुख्यकालकी रचनापूर्वक है अर्थात् मुख्यकालकी सत्ता माने बिना उस क्रियाको व्यवहारकाल नहीं कहा जा सकता। जिसतरह 'गौर्वाहीकः' अर्थात् यह ग्वाला कोरा बैल है। यहांपर ग्वालामें जो गौणरूपसे बैलका व्यवहार है वह अन्यत्र मुख्यरूपसे बैलके रहते ही है। यदि मुख्यरूपसे बैल पदार्थ संसारमें न होता तो गौणरूपसे ग्वालामें बैलका व्यवहार नहीं हो सकता था इसरीतिसे जब यह बात युक्तियुक्त है कि बिना मुख्यके गौण नहीं हो सकता तब गौणकालके माने जानेपर मुख्यकालकी सत्ता अवश्य माननी होगी। तथा—

अतएव न कलासमूह एव कालः ॥ ३ ॥

उपर्युक्त रीतिसे जब मुख्यकालकी सत्ता निश्चित है तब "कलाओंका समूह ही काल है। कला क्रियाके अवयवरूप है इसलिए क्रियास्वरूप ही काल है" यह जो ऊपर कहा गया था उस रूपसे क्रियाका भी काल नाम नहीं कहा जा सकता किंतु वह विभिन्न ही पदार्थ है। 'कल्यते क्षिप्यते प्रेर्यते येन क्रिया-

वद्द्रव्यं स कालः' अर्थात् जिसके द्वारा क्रियावान् द्रव्य प्रेरित हो, जो उसे परिणमावे वह काल है यह काल शब्दकी व्युत्पत्ति है। इस कालद्रव्यका निर्णय आगे (पांचवें अध्यायमें) विस्तृत रीतिसे किया जायगा। तथा—

प्रदेशप्रचयाभावादस्तिकायेष्वनुपदेशः ॥ ४ ॥

प्रदेशोंका जो पिंडरूप परिणाम है उसका नाम काय है जिनके इसप्रकारका काय विद्यमान हो वे आस्तिकाय कहे जाते हैं। जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश इन पांच द्रव्योंमें वह काय विद्यमान है इसालिये इन पांचोंको आस्तिकाय कहा गया है। कालद्रव्य एक प्रदेश है उसके प्रदेश किसी भी रूपसे पिंडस्वरूप नहीं परिणत हो सकते इसालिये उसका ग्रहण अस्तिकायोंके भीतर नहीं किया गया है। यदि प्रदेशोंके पिंडरूप परिणामके अभावमें जिसप्रकार काल द्रव्यको अस्तिकाय नहीं माना जाता उस प्रकार यदि उसे अस्ति—विद्यमान द्रव्य पदार्थ भी न माना जायगा तब कालके साथ जो छह द्रव्योंका उल्लेख किया गया है वह मिथ्या कहना होगा। आगममें कालको द्रव्य पदार्थ माना है क्योंकि धर्म अधर्म आदि द्रव्योंका जो स्वरूप कहा गया है उस स्वरूपका काल द्रव्यमें अभाव है और काल द्रव्यका जो स्वरूप कहा गया है उसकी काल द्रव्यमें विद्यमानता है इसरीतिसे द्रव्यरूपसे जब मुख्यकाल शास्त्रप्रसिद्ध है तब "पंचास्ति कायोंमें कालद्रव्यका उल्लेख न रहनेसे उसका अभाव है" यह जो ऊपर कहा गया था वह बाधित है। (यदि यहांपर ऊपरसे यह शंका की जाय कि—

जो एक प्रदेशी हो वह आस्तिकाय नहीं कहा जा सकता कालद्रव्य एकप्रदेशी है इसालिये वह

१—प्रदेशप्रचयात्मकत्वं हि कायत्वं। पंचास्तिकायसंस्कृत टीका।

अस्तिकाय नहीं माना गया तब पुद्गलका परमाणु भी आस्तिकाय नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी एकप्रदेशी है। इसलिये सामान्यरूपसे जो पुद्गलको अस्तिकाय माना गया है वह अयुक्त है सो ठीक नहीं। शक्ति और व्यक्ति दोनोंकी अपेक्षा कायपना माना गया है। जो पदार्थ स्वयं पिंडस्वरूप हो वह तो व्यक्तिकी अपेक्षा काय है और जो पदार्थ स्वयं तो पिंडस्वरूप न हो परन्तु उसमें अन्य पदार्थोंके संयोगसे पिंडरूप होनेकी शक्ति विद्यमान हो—जो पिंडरूप हो सके वह शक्तिकी अपेक्षा काय है। यद्यपि पुद्गलका शुद्ध परमाणु स्वयं पिंडस्वरूप नहीं केवल एकप्रदेशी है तथापि उसमें पिंडस्वरूप परिणमनेकी शक्ति विद्यमान है अर्थात् अन्य परमाणुओंका संबंध होते ही वह तत्काल पिंडस्वरूप परिणत हो जाता है। कालद्रव्यरूप असंख्यात अणुद्रव्य रत्नोंकी राशिके[1] समान प्रत्येक आकाशके प्रदेश पर एक एक विद्यमान है। वे स्वयं पिंडस्वरूप नहीं और न उनके भीतर यह शक्ति विद्यमान है कि किसी भी अवस्थामें पुद्गल परमाणुके समान वे पिंडरूप परिणत हो सकें इसलिये शक्ति और व्यक्ति दोनोंकी अपेक्षा काल द्रव्यमें कायपना न होनेसे वह आस्तिकाय नहीं कहा जासकता। इसरीतिसे जब एक प्रदेशी भी पुद्गलके परमाणुमें कायपना सिद्ध है तब परमाणुमें कायपना न घटनेसे सामान्यरूपसे पुद्गल आस्तिकाय नहीं कहा जासकता यह जो आक्षेप किया गया था वह निर्मूल[2] है)॥ १४॥

१—रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि। द्रव्यसंग्रह।

२। एयपदेसोवि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि। बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥ २६ ॥
अर्थात् एक प्रदेशका धारक भी परमाणु अनेक स्कंधरूप बहुत प्रदेशोंसे बहुप्रदेशी होता है इसकारण सर्वज्ञ देव उपचारसे पुद्गल परमाणुको काय कहते हैं। द्रव्यसंग्रह।

ढाईद्वीपके ज्योतिषियोंका वर्णन कर दिया गया अब ढाईद्वीपसे बाहिरके द्वीप और समुद्रोंमें रहनेवाले ज्योतिषियोंकी अवस्थाका सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं—

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

मनुष्यलोकके बाहिर जो सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिष्क देव हैं वे अवस्थित—स्थिर हैं अर्थात् जहांके तहां ही रहते हैं गमन नहीं करते।

ऊपरके 'मेरुप्रदक्षिणाः' इत्यादि सूत्रसे यहांपर नृलोक शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये 'बहिरवस्थिताः' यहांपर मनुष्यलोकसे बाहिरके सूर्य चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देव अवस्थित हैं, यह अर्थ लेना चाहिये। शंका—

'मनुष्य लोकसे बाहिर' ऐसा अर्थ होनेपर 'नृलोकात्' ऐसे पंचम्यंत पदकी अनुवृत्ति प्रयोजनीय है किंतु "मेरुप्रदक्षिणाः" इत्यादि सूत्रमें 'नृलोक' ऐसे सप्तम्यंत पदका उल्लेख किया गया है। सप्तम्यंत नृलोक शब्दका अर्थ यहां आवश्यक नहीं इसलिए यहांपर नृलोक शब्दकी अनुवृत्ति कार्यकारी नहीं। सो ठीक नहीं 'अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः' अर्थात् जहांपर जिस विभक्तिके अनुकूल अर्थ होता है वहांपर उसी अर्थके अनुसार अनुवर्तन किये गये शब्दकी विभक्तिका परिवर्तन कर लिया जाता है। 'बहिरवस्थिताः' यहांपर पंचम्यंत नृलोक शब्दकी अनुवृत्तिका प्रयोजन है इसलिए 'नृलोके' यहांपर की सप्तमी विभक्तिका परिवर्तन कर पंचमी विभक्ति मानली है इस रीतिसे विभक्तिका परिवर्तन मान लेनेपर उपर्युक्त सूत्रका अर्थ अबाधित है। शंका—

नृलोके नित्यगतिवचनादन्यत्रावस्थानसिद्धिरिति चेन्नोभयासिद्धेः ॥ १ ॥

मनुष्य लोकमें ज्योतिषी देव सदा गमन करनेवाले हैं ऐसा ऊपर कहा गया है उससे यह वात सिद्ध है कि मनुष्य लोकके भीतरके सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिषी गमन करनेवाले और उससे वाहिरके द्वीप और समुद्रोंमें रहनेवाले सर्वथा स्थिर हैं। इसरीतिसे मनुष्य लोकसे वाहिरके सूर्य चंद्रमा आदिके जब स्थिरता स्वयंसिद्ध है तब उनकी स्थिरता दिखानेकेलिए 'वहिरवस्थिताः' इस सूत्रका प्रतिपादन निरर्थक है? सो ठीक नहीं। मनुष्य लोकसे बाहिर सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिषियोंकी सत्ता और स्थिरता दोनों ही असिद्ध हैं। कोई भी प्रमाण नहीं जिससे मनुष्य लोकके वाहिर उनकी सत्ता और स्थिरता सिद्ध हो सके। यदि 'वहिरवस्थिताः' यह सूत्र नहीं कहा जायगा तो यही समझा जायगा कि मनुष्य लोकमें ही सूर्य चंद्रमा आदिक हैं और वे सर्वदा गमनशील हैं अन्यत्र नहीं इसलिए मनुष्य लोकसे वाहिर सूर्य चद्रमा आदिकी सत्ता और स्थिरता सिद्ध करनेकेलिए "वहिरवस्थिताः" इस सूत्रका प्रतिपादन निरर्थक नहीं ॥ १५ ॥

भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क इन तीन निकायोंका वर्णन कर दिया गया अब चौथी निकायकी सामान्य और विशेष संज्ञाओंके कहनेकेलिए सूत्र कहते हैं—

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

जो देव विमानोंमें रहें वे वैमानिक कहे जाते हैं। सब विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस हैं और एक एक विमान संख्यात असंख्यात योजनोंके विस्तारवाले हैं।

वैमानिकग्रहणमधिकारार्थं ॥ १ ॥

ज्योतिष्क निकायके ऊपर जिन देवोंका उल्लेख है वे वैमानिक ही समझे जांय अन्य देव न समझे

जांय इस बातको सूचित करनेकेलिए 'वैमानिकाः' इस अधिकारस्वरूप सूत्रका उल्लेख है। अर्थात् ज्योतिष्क देवोंके ऊपर रहनेवाले समस्त देव वैमानिक निकायके देव हैं।

अपने भीतर रहनेवाले देवोंको जो विशेषरूपसे पुण्यवान मनवावें अर्थात् जिनमें रहनेवाले देव वि–विशेष, मान–सम्मानार्ह समझे जांय वे विमान कहे जाते हैं औरउन विमानोंमें रहनेवाले देव वैमानिक हैं। इंद्रक विमान, श्रेणिवद्ध विमान और पुष्पप्रकीर्णक विमानोंके भेदसे वे विमान तीन प्रकारके हैं उनमें इंद्रक विमान तो इंद्रके समान मध्यमें विद्यमान हैं। श्रेणिबद्ध विमान उन इंद्रक विमानोंकी चारो दिशाओंमें आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणिके समान स्थित हैं और पुष्प प्रकीर्णक विमान जुदे जुदे रूपसे फैले हुए पुष्पोंके समान विदिशाओंमें स्थित हैं ॥ १६ ॥

वैमानिक देवोंके भेदोंको जनानेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं–

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

वैमानिक देव कल्पोपन्न और कल्पातीतके भेदसे दो प्रकारके हैं। सौधर्म आदि सोलह स्वर्गोंके विमानोंमें इंद्र आदि दश प्रकारके देवोंकी कल्पना होती है इस कारण उन विमानोंकी कल्प संज्ञा है। उन कल्पोंमें जो उत्पन्न हों वे कल्पोपपन्न कहे जाते हैं। जिन विमानोंमें इंद्र आदि दश भेदोंकी कल्पना नहीं है ऐसे ग्रैवेयक आदिकोंको कल्पातीत कहते हैं। शंका–

ग्रैवेयकादिषु नवादिकल्पनासंभवात्कल्पत्वप्रसंग इति चेन्न उक्तत्वात् ॥ १ ॥

नौ ग्रैवेयक विमान हैं। नौ अनुदिश विमान हैं। पांच अनुत्तर विमान हैं इसप्रकार ग्रैवेयक आदि विमानोंमें भी नव आदिकी कल्पना विद्यमान है इसलिए ग्रैवेयक आदिकोंको भी कल्प कहना न्यायप्राप्त

है ? सो ठीक नहीं। ऊपर यह स्पष्टरूपसे कह दिया गया है कि जहांपर इंद्र सामानिक त्रायस्त्रिंश आदि दशकी कल्पना हो उसका नाम कल्प है। नव ग्रैवेयक आदिमें इंद्र आदिकी कल्पना नहीं वहांपरके सभी देव अहमिंद्र हैं इसलिए उन्हें कल्प नहीं कहा जा सकता ॥ १७ ॥

वैमानिक देव कहां रहते हैं ? सूत्रकार अब उनके रहनेके स्थानका निर्णय करते हैं—

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

कल्पोंके युगल तथा नवग्रैवेयक नव अनुदिश और पांच अनुत्तर ये सब विमान क्रमसे ऊपर ऊपर हैं।

उपर्युपरिवचनमातिर्यगसमस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं ॥ १ ॥

जिस प्रकार ज्योतिषी देवोंकी स्थिति तिरछी ओर है और व्यंतरोंकी समान होकर विषम रूपसे स्थिति है उसप्रकार वैमानिक देवोंकी नहीं किंतु एकके ऊपर दूसरा, दूसरेके ऊपर तीसरा इसप्रकार उनकी ऊपर ऊपर स्थिति है इस बातके प्रतिपादन करनेकेलिए 'उपर्युपरि' यह उल्लेख किया गया है। 'उपर्युपरि' यहांपर सामीप्येऽधोऽध्युपरि। ५। ३। ९। अर्थात् समीप अर्थमें अधः, अधि और उपरि इन तीनों अव्ययोंको द्वित्व होजाता है, इस सूत्रसे द्वित्व हुआ है। यदि यहांपर शंका की जाय कि—

जहांपर समीपता अर्थ रहता है वहीं पर 'सामीप्येऽधोऽध्युपरि' इस सूत्रसे अधः आदिको द्वित्व होता है, दूर अर्थके रहनेपर नहीं। सौधर्म आदि स्वर्गोंको ऊपर ऊपर बतानेकेलिए 'उपर्युपरि' यह कहा गया

१—एषा द्वे स्तः सामीप्येऽर्थे। अधोधो नरकाणि। अध्यधि छत्राणि। उपर्युपरि स्वर्गपटलानि। सामीप्य इति किं उपरि चन्द्रमाः। शब्दार्णवचन्द्रिका पृष्ठ संख्या २०१।

है परंतु सौधर्म आदि स्वर्गोंमें असंख्येय असंख्येय योजनोंका अंतर माना गया है इसलिए सामीप्य रूप अर्थके न रहते 'उपर्युपरि' यहांपर द्वित्व बाधित है ? सो ठीक नहीं। समान जातिके पदार्थसे व्यवधानका न होना सामीप्य पदका अर्थ माना गया है। सौधर्म आदि स्वर्गोंमें यद्यपि असंख्येय योजनोंका फासला है तथापि समान जातीय किसी पदार्थका व्यवधान नहीं इसलिये सामीप्य अर्थकी विद्यमानतामें उपर्युपरि यहांपर द्वित्व बाधित नहीं। शंका—ऊपर ऊपर हैं, ऐसे कहनेपर यह विचार उपस्थित होता है कि देव ऊपर ऊपर हैं कि विमान ऊपर ऊपर हैं वा स्वर्ग ऊपर ऊपर हैं अथवा कामचार है अर्थात् कहीं देवोंका ग्रहण है कहीं विमानका तो कहीं स्वर्गोंका ग्रहण है ? वार्तिककार उत्तर प्रत्युत्तरपूर्वक इस बातका विवेचन करते हैं—

देवा इति चेन्नानिष्टत्वात् ॥ २ ॥

देव ऊपर ऊपर हैं यदि यह कहा जायगा तो वह ठीक नहीं क्योंकि देव ऊपर ऊपर हैं यह बात आगमके विरुद्ध होनेसे अनिष्ट है इसलिये देवोंका ऊपर ऊपर अवस्थान नहीं माना जासकता।

विमानानीति चेन्न श्रेणिप्रकीर्णकानां तिर्यगवस्थानात् ॥ ३ ॥

यदि यह कहा जायगा कि विमान ऊपर ऊपर अवस्थित हैं यह भी ठीक नहीं क्योंकि हर एक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें रहनेवाले श्रेणिबद्ध विमान और विदिशाओंमें रहनेवाले पुष्पप्रकीर्णक विमान तिर्यक् रूपसे अवस्थित हैं इसलिये विमानोंका ऊपर ऊपर मानना विरुद्ध होनेसे इष्ट नहीं।

कल्पा इति चेददोषः ॥ ४ ॥

यदि कहा जायगा कल्प ऊपर ऊपर अवस्थित हैं तब कुछ दोष नहीं। तथा जिस बातके माननेमें

किसीप्रकारका दोष नहीं वही बात मानना ठीक है। स्वर्गोंका ऊपर २ अवस्थान माननेमें कोई दोष नहीं इसरीतिसे देव और विमानोंका ऊपर ऊपर अवस्थान बाधित होनेसे स्वर्गोंका ही ऊपर ऊपर अवस्थान सुनिश्चित है। यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

उपसर्जनत्वादनभिसंबन्ध इति चेन्न दृष्टत्वात्॥ ५॥

'उपर्युपरि' यहांपर कल्पशब्दका संबन्ध इष्ट माना गया है। परन्तु जो पदार्थ गौण होता है उसका संबन्ध नहीं हो सकता। कल्पोपपन्न इतना एक समासांत पद है। यहांपर कल्प शब्द गौण है इसलिये 'उपर्युपरि' इस सूत्रमें कल्प शब्दका संबंध नहीं हो सकता? अर्थात् कल्पोपपन्न यहांपर कल्पोंमें उपपन्न—उत्पन्न होनेवाले देव तो मुख्य हैं और कल्प—पटल गौण हैं इसलिये देवोंका संबन्ध सिद्ध होता है सो ठीक नहीं। बुद्धिसे अपेक्षित गौणरूप पदार्थका भी विशेषणके साथ संबन्ध देखा जाता है जिसतरह यह राजपुरुष किसका है? यहांपर किस राजाका है यह समझा जाता है अर्थात् यहांपर यद्यपि राजपुरुष इतना समासांत एक पद है इसलिये राजन् शब्द गौण है तथापि बुद्धिसे आक्षिप्त और समीप होनेसे उसका संबन्ध 'किसका'के साथ हो जाता है उसीप्रकार 'कल्पोपपन्न' यहांपर भी कल्प शब्द गौण है तो भी बुद्धिसे आक्षिप्त और समीप होनेसे उसका 'उपर्युपरि' यहांपर संबंध हो जाता है इसलिये ऊपर ऊपर कल्प हैं यह अर्थ निर्दोष है।

जहांपर कल्पोपपन्न देवोंके विषयमें कहना हो वहां तो 'उपर्युपरि' यहांपर कल्प शब्दका संबंध कर कल्प (पटल) ऊपर ऊपर हैं यह अर्थ समझ लेना चाहिये और जहांपर कल्पातीत देवोंके विषयमें कहना हो वहांपर विमानका संबंध कर कल्पातीत विमान ऊपर ऊपर हैं यह अर्थ समझ लेना चाहिये।

विशेष—'उपर्युपरि' यहांपर कल्प शब्दका संबन्ध मानना सर्वसम्मत नहीं है क्योंकि 'वैमानिकाः' इस सूत्रको अधिकार सूत्र कह आये हैं इसलिये इससूत्रमें उसीका संबंध मानना ठीक होगा इस रीतिसे जिसप्रकार वैमानिक देव कल्पोपपन्न और कल्पातीत हैं इसप्रकार 'कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च' इस सूत्रमें वैमानिकोंका संबंध है उसीप्रकार वैमानिक देव ऊपर ऊपर हैं, इसरूपसे 'उपर्युपरि' इस सूत्रमें भी वैमानिक देवोंका ही संबंध है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि पहिले देवोंका ऊपर ऊपर अवस्थान अनिष्ट कह आये हैं, यदि 'उपर्युपरि' यहांपर वैमानिक देवोंका संबंध कर उनका ऊपर ऊपर अवस्थान माना जायगा तो अनिष्ट होगा? सो ठीक नहीं। विशेषणरहित केवल देवोंका यदि ऊपर ऊपर अवस्थान माना जाय तब अनिष्ट कहा जासकता है किंतु वहां तो मध्यमें स्थित इंद्रक विमान, तिर्यक् अवस्थित श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक विमानरूप कल्पोपपन्नत्व विशेषणविशिष्ट देवोंका तथा कल्पातीतत्व (नवग्रैवेयकत्व) आदि विशिष्ट देवोंका ग्रहण है। इसप्रकारके विशेषणविशिष्ट देवोंका ऊपर ऊपर रहना शास्त्रसम्मत है अत एव इष्ट है इसलिये कल्पोपपन्न और कल्पातीत दोनोंकी अपेक्षा 'उपर्युपरि' यहांपर वैमानिक शब्दका ही संबंध ठीक है॥ १८॥

कितने कल्पविमानोंमें देवोंकी स्थिति है? सूत्रकार इस बातका उल्लेख करते हैं—

१—श्लोकवार्तिक। यद्यपि यह कथन स्थूल दृष्टिसे पूर्वापर विरुद्धसा मालूम होता है कि राजवार्तिककारने विमानोंको ऊपर ऊपर कहा है और श्लोकवार्तिककारने देवोंको ऊपर २ कहा है, तथापि सूक्ष्मदृष्टिसे दोनों एक रूप ही पडते हैं, श्लोकवार्तिककारने केवल देवोंको ऊपर २ नहीं कहा है किंतु विमानोंसे विशिष्ट देवोंको कहा है, विमानसहित देव कहा जाय या विमान कहा जाय दोनोंका एक ही अर्थ है।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयंतजयंताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

सौधर्म और ऐशान, सानत्कुमार और माहेंद्र, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र, शतार और सहस्रार, आनत और प्राणत, आरण और अच्युत, इन सोलह स्वर्गोंमें तथा नव ग्रैवेयकोंके नव पटलोंमें, नव अनुदिशके एक पटलके विमानोंमें तथा विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि विमानोंमें कल्पोपपन्न और कल्पातीत संज्ञाओंके धारक वैमानिक देवोंका निवासस्थान है। सौधर्म आदिकी कल्पसंज्ञा क्यों है? वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

चातुरर्थिकेनाणा स्वभावतो वा कल्पाभिधानं ॥ १ ॥

व्याकरणके तद्धित प्रकरणमें एक चातुरर्थिक प्रकरण है उसमें अण् आदि प्रत्ययोंका विधान है। सौधर्म आदिकी कल्पसंज्ञा या तो चातुरर्थिक अण् प्रत्ययसे कर लेनी चाहिये या कल्पोंके सौधर्म आदि स्वाभाविक नाम हैं यह समझ लेना चाहिये। इंद्रोंका सौधर्म आदि नाम कैसे पडा? उत्तर—

स्वभावतः साहचर्यादिंद्राभिधानं ॥ २ ॥

स्वभावसे ही वा सौधर्म आदि स्वर्गोंके साहचर्यसे इंद्रोंके सौधर्म आदि नाम हैं। विस्तार इस प्रकार है—

१। देखो शब्दार्णवचंद्रिका पृष्ठ ९० अथवा तीसरे अध्यायके दूसरे पादके ८६वें सूत्रसे आगे।

सुधर्मा नाम सभाका है। जिस स्वर्गमें यह सुधर्मा सभा हो वह सौधर्म स्वर्ग है। यह पहिले स्वर्गका नाम है। सुधर्मा शब्दसे 'वह जिसमें हो' इस अर्थमें अण् प्रत्यय कर सौधर्म शब्द सिद्ध हुआ है। उस सौधर्म स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका भी नाम सौधर्म है। दूसरे स्वर्गके इंद्रका स्वभावसे ही ईशान नाम है। ईशान इंद्रके निवासस्थान स्वर्गका नाम ऐशान है। यहांपर ईशान शब्दसे 'उसका निवास' इस अर्थमें अण् प्रत्यय हुआ है। ऐशान स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी ऐशान है। सनत्कुमार स्वभावसे ही इंद्रका नाम है उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम सानत्कुमार है। सानत्कुमार स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका भी सानत्कुमार नाम है। महेंद्र स्वभावसे ही इंद्रका नाम है। उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम माहेंद्र है। माहेंद्र स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी माहेंद्र है। ब्रह्मा नामका इंद्र है उसका लोक ब्रह्मलोक कहा जाता है है इसीप्रकार ब्रह्मोत्तर समझ लेना चाहिये। ब्रह्म इंद्रके निवासस्थान स्वर्गका नाम ब्रह्म है ब्रह्म स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका भी ब्रह्म नाम है। लांतव नाम इंद्रका है उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम भी लांतव है। लांतव स्वर्गके संबंधसे इंद्रका नाम भी लांतव है। शुक्र इंद्रका नाम है उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम शौक्र है। शौक्र स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी शौक्र है। अथवा शुक्र नाम स्वर्गका है उसके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी शुक्र है। शतार नाम इंद्रका है उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम भी शतार है। शतार स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका भी नाम शतार है। अथवा शतार यह स्वर्गका नाम है उसके साहचर्यसे इंद्रका भी शतार नाम है। आनत नाम इंद्रका है उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम भी आनत है।

१—तदस्मिन्नस्तीति इस जैनेंद्रसूत्रसे अण् प्रत्ययकर सौधर्म नाम स्वर्गका पड़ा है।

२—तस्य निवासः इस जैनेंद्रसूत्रसे अण् प्रत्यय हुआ है।

आनतस्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी आनत है । अथवा आनत नाम स्वर्गका है उसके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी आनत है। प्राणत नाम इंद्रका है। उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम भी प्राणत है। प्राणत स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी प्राणत है। अथवा प्राणत नाम स्वर्गका है उसके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी प्राणत है। आरण नाम इंद्रका है। उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम भी आरण है। आरण स्वर्गके संबंधसे इंद्रका नाम भी आरण है। अथवा आरण नाम स्वर्गका है उसके साहचर्यसे इंद्रका भी आरण नाम है। अच्युत नाम इंद्रका है। उसके निवासस्थान स्वर्गका नाम भी अच्युत है। अच्युत-स्वर्गके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी अच्युत है। अथवा अच्युत नाम स्वर्गका है उसके साहचर्यसे इंद्रका नाम भी अच्युत है।

लोकको पुरुषाकार माना गया है। एवं पुरुषके शरीरके मस्तक आदि अवयवोंके समान लोकके अवयवोंकी कल्पना की गई है। इसलिये लोकरूपी पुरुषकी ग्रीवाके स्थानपर रहनेवाले विमानोंका नाम ग्रैवेयक है। ग्रैवेयक विमानोंके साहचर्यसे इंद्रोंका नाम भी ग्रैवेयक है। कल्याणकारी पदार्थोंके विघ्नोंके कारणोंके विजयसे विजय आदि विमान सार्थक संज्ञाके धारक हैं। समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धि प्रदान करनेके कारण होनेसे सर्वार्थसिद्धि विमानका भी सार्थक नाम है। इसरूपसे विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच विमान हैं इन विमानोंके साहचर्यसे इंद्रोंका भी नाम विजय आदि है। शंका—सर्वार्थसिद्धि शब्दका विजय आदिके साथ द्वंद्व समास न कर जुदा ग्रहण क्यों किया गया? उत्तर—

सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्ग्रहणं स्थित्यादिविशेषप्रातिपत्त्यर्थं ॥ २॥

विजय वैजयंत जयंत और अपराजित इन चारोंमें जघन्य स्थिति कुछ अधिक बाईस सागरप्रमाण है। उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरप्रमाण है परंतु सर्वार्थसिद्धि विमानके रहनेवाले देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारकी स्थिति तेतीस सागरप्रमाण है तथा सर्वार्थसिद्धि विमानवासी एक देवका जितना प्रभाव और प्रताप है उतना समस्त विजय आदि विमानवासी देवोंका भी नहीं है इसप्रकार विजयादिवासी देवोंकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धिवासी देवोंकी स्थिति आदिसे विशेषता प्रतिपादन करनेकेलिए सर्वार्थसिद्धि शब्दका पृथक् उल्लेख किया गया है, तथा सर्वार्थसिद्धिवाला देव एक भवधारण कर मोक्ष चलाजाता है विजयादिकोंमें उत्पन्न होनेवाला देव दो भवधारण कर मोक्ष जाता है।

ग्रैवेयकादीनां पृथग्ग्रहणं कल्पातीतत्वनिर्ज्ञापनार्थं ॥ ४ ॥

सौधर्म स्वर्गसे आदि लेकर अच्युतपर्यंत बारह कल्प (इंद्र आदिकी कल्पना सिर्फ बारह ही स्वर्गोंमें है ब्रह्मोत्तर कापिष्ठ शुक्र और सहस्रार स्वर्ग तो ब्रह्म, लांतव, शुक्र और शतार इंद्रके अधीन क्रमसे हैं) अथवा सोलह स्वर्ग हैं उनके बाद कल्पातीत हैं इस बातके स्पष्ट करनेकेलिए सौधर्म आदिसे ग्रैवेयकोंका जुदा उल्लेख किया गया है।

नवशब्दस्य वृत्त्यकरणमनुदिशसूचनार्थं ॥ ५ ॥

नव शब्दका ग्रैवेयकके साथ समास किया जासकता था फिर जो उसका ग्रैवेयकके साथ समास न कर जुदा उल्लेख किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि नौ ग्रैवेयक विमानोंके समान नव अनुदिश विमान भी हैं इसलिए यहांपर नव शब्दका पृथग्योग नौ अनुदिश विमानोंके संग्रहार्थ है। यदि यहांपर नव शब्दके पृथग्योगसे नव अनुदिशोंका ग्रहण इष्ट न होता तो फिर नव शब्दका ग्रैवेयकके साथ

समास करना ही ठीक होता क्योंकि समाससे 'सु' अक्षर नहीं कहना पडता अतएव महान् लाघव (बचत) होता।

अनुदिशका अर्थ यहां प्रतिदिश है अर्थात् हर एक दिशामें हो वह अनुदिश कहा जाता है शंका—दिश् शब्द हलंत है इसलिए दिशं दिशमनु इति 'अनुदिक्' ऐसा सिद्ध होगा, फिर अनुदिशं ऐसा क्यों प्रयोग किया गया? समाधान—व्याकरणशास्त्रमें 'शरदादेः।४।२।१३६। इस सूत्रसे शरदादि गणमें-पठित शरद आदि शब्दोंसे 'ट' प्रत्यय होता है, ऐसा विधान है। दिश् शब्दका भी शरदादि गणमें पाठ है इसलिए उससे भी 'ट' प्रत्यय करनेपर एवं टकार अनुबंध और दिश् शब्दका शकार अकारमें मिलजानेपर अनुदिश शब्दकी सिद्धि होजाती है। अथवा दिशा अर्थका वाचक आकारांत भी दिशा शब्द माना गया है। आकारांत दिशा शब्दका 'अनु' अव्ययके साथ समास होने पर भी अनुदिश शब्दकी सिद्धि हो सक्ती है।

उपर्युपरीत्यनेन द्वयोर्द्वयोरभिसंबंधः॥ ६॥

पदार्थोंकी व्यवस्था आगमकी अपेक्षासे मानी गई है इसलिए शास्त्रके अनुसार 'उपर्युपरि' इस वचनसे दो दो का संबंध समझ लेना चाहिये। और वह इस प्रकार है—

सबसे पहिले सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंका जोडा है। उसके ऊपर सानत्कुमार माहेंद्र, उनके ऊपर ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर, उनके ऊपर लांतव और कापिष्ठ, उनके ऊपर शुक्र और महाशुक्र, उनके ऊपर

१—शरदादेः। ४। २। १३६। अस्माट्टो भवति हे। शरदः समीपमुपशरदं। प्रतिशरदं। उपमनसं। अनुदिशं। शब्दार्णव-चंद्रिका पृष्ठसंख्या १४२।

शतार और सहस्रार, उनके ऊपर आनत और प्राणत एवं उनके ऊपर आरण और अच्युत ये दो स्वर्ग हैं।

प्रत्येकमिंद्रसंबंधो मध्ये प्रतिद्वयं ॥ ७ ॥

नीचे और ऊपर एक एक स्वर्गके पीछे एक एक इंद्र है और मध्यमें दो दो स्वर्गोंके पीछे एक एक इंद्र हैं। भावार्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें दो इंद्र हैं। सानत्कुमार और माहेंद्रमें दो इंद्र हैं। ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरमें एक ब्रह्म नामका ही इंद्र है। लांतव और कापिष्ठमें एक लांतव नामका इंद्र है। शुक्र और महाशुक्रमें एक शुक्र नामका एवं शतार और सहस्रारमें एक शतार नामका है। आनत और प्राणत इन दो स्वर्गोंमें दो इंद्र हैं तथा आरण और अच्युत इन दो स्वर्गोंमें दो इंद्र हैं।

तथा चोत्तरयोः पृथग्वचनमर्थवत् ॥ ८ ॥

'आनतप्राणतारणाच्युतेषु' ऐसा एक ही द्वंद्व समासांत एक पद उपयुक्त था फिर जो 'आनतप्राणतयोः' और 'आरणाच्युतयोः' दोनों युगलोंका पृथक् पृथक् उल्लेख किया गया है वह विशेष प्रयोजनके लिये है। उस प्रयोजनका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—

मध्यलोककी समतलभूमिसे निन्यानवे हजार चालीस योजनकी ऊंचाईपर सौधर्म और ईशान स्वर्ग हैं। इन दोनों स्वर्गोंमें महलोंके समान ऋतु १ चंद्र २ विमल ३ वल्गु ४ वीर ५ अरुण ६ नंदन ७ नलिन ८ लोहित ९ कांचन १० चंचत् ११ मारुत १२ ऋद्धीश[1] १३ वैडूर्य १४ रुचक १५ रुचिर १६ अंक १७ स्फटिक

१—दूसरी प्रतिमें—'द्धीश' यह नाम रक्खा है परन्तु संशोधित राजवार्तिक और हरिवंशपुराणमें 'ऋद्धीश' नाम है।

१८ तपनीय १९ मेघ २० हारिद्र २१ पद्म २२ लोहिताक्ष[1] २३ वज्र २४ नंद्यावर्त २५ प्रभंकर २६ पिष्टांक २७ गज[2] २८ मस्तक २९ चित्र ३० और प्रभा ३१ ये इकतीस विमानोंके प्रस्तार हैं। इन पटलोंके मध्य भागमें उन्हीं नामोंके धारक इकतीस इंद्रक विमान भी हैं।

मंदरमेरुकी चोटीपर सौधर्म स्वर्गका पहला ऋतु विमान है। चोटी और ऋतु विमानका आपसका फासला बालके अग्रभागकी बराबर है। ऋतु विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं। प्रत्येक श्रेणिके बासठ बासठ विमान हैं अर्थात् ऋतु नामके इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें प्रत्येक दिशामें बासठ बासठके हिसाबसे श्रेणिबद्ध विमान हैं। विदिशाओंमें पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं तथा अंतके प्रभा नामक इंद्रक विमान पर्यंत एक एक श्रेणिवद्ध विमानकी हानि होती चली गई है ऐसा समझ लेना चाहिये। अर्थात् ऋतु नामके इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें प्रत्येक दिशामें बासठ बासठ श्रेणि-वद्ध विमान हैं। चंद्र नामक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें प्रत्येक दिशामें इकसठ इकसठ श्रेणिवद्ध विमान हैं। विमल नामक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें प्रत्येक दिशामें साठ साठ श्रेणिवद्ध विमान हैं इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये। तथा अंतके प्रभा नामक पटलकी चारो दिशाओंमें प्रत्येक दिशामें बत्तीस बत्तीस श्रेणिबद्ध विमान रह जाते हैं।

ये जो ऋतु आदि इकतीस पटल कह आए हैं उनमें प्रत्येकका आपसमें अंतर असंख्यात असंख्यात लाख योजनका है अर्थात् ऋतु पटलके ऊपर असंख्यात लाख योजनके अंतरालके बाद चंद्र पटल है।

१। प्राचीन भाषामें लोहित और अक्ष दो भेद माने हैं परंतु लोहित ऊपर नवमां विमान भी कह आये हैं। २ प्राचीन भाषामें गजमस्तक एक ही भेद रक्खा है हरिवंशपुराणमें गज और मित्र यह पाठ है।

उसके ऊपर असंख्यात लाख योजनोंके अंतरसे तीसरा विमल पटल है इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये।

सौधर्म स्वर्गके इकतीसवें प्रभा नामक पटलकी दक्षिण दिशामें बत्तीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। उनमें अठारहवें विमानका नाम कल्प है। यही सौधर्म स्वर्गके सौधर्म इंद्रका निवासस्थान विमान है। इस विमानके स्वस्तिक वर्धमान और विश्रुत तीन परकोटे हैं वाह्य प्राकारमें सेना और पारिषद देव रहते हैं। मध्यके प्राकारमें त्रायस्त्रिंश देवोंका निवासस्थान है एवं अभ्यंतर प्राकारमें स्वयं सौधर्म इंद्र रहता है।

सौधर्म इंद्रके निवासका जो विमान है उसकी चारो दिशाओंमें कांचन १ अशोकमंदिर २ मस्तार ३ और गल्व ४ ये चार नगर हैं एवं सौधर्म इंद्रके बत्तीस लाख विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। चौरासी हजार आत्मरक्षक देव हैं। तीन सभा हैं। सात सेना हैं। चौरासी हजार सामानिक देव हैं। चार लोकपाल हैं। पद्मा १ शिवा २ सुजाता ३ सुलसा ४ अंजुका ५ कालिंदी ६ श्यामा ७ और भानु ८ ये आठ उस सौधर्म इंद्रकी पट्टदेवियां हैं। और भी चालीस हजार वल्लभिका देवियां हैं। ये समस्त पट्ट-देवियां और वल्लभिका देवियां पांच पांच पल्यकी आयुकी धारक हैं और सोलह सोलह हजार देवियोंसे परिवारित हैं। तथा हरएक पट्टदेवी और वल्लभिका देवी अपनी अपनी विक्रियासे सोलह सोलह हजार देवियोंके रूप धारण करनेमें समर्थ है।

सौधर्म स्वर्गकी अभ्यंतर सभाका नाम समिता है। उस सभाके बारह हजार देव सभासद हैं और उनमें प्रत्येककी पांच पांच पल्यकी आयु है। मध्यम सभाका नाम चन्द्रा है। वह चौदह हजार देवोंकी

१०५३

है और उनमें प्रत्येक देवकी चार चार पल्य प्रमाण आयु है। तथा वाह्य सभाका नाम जातु। इसके सभासद सोलह हजार देव हैं और उनमें प्रत्येक देवकी तीन तीन पल्यकी आयु है।

अभ्यंतर सभाके देवोंमें प्रत्येककी सातसै सातसै देवियां हैं और उनमें प्रत्येककी ढाई ढाई पल्यकी आयु है। मध्यम सभाके देवोंमें प्रत्येक देवकी छहसौ छहसौ देवियां हैं और उनमें प्रत्येक देवीकी दो दो पल्यकी आयु है। वाह्य सभाके देवोंमें प्रत्येक देवकी पांचसौ पांचसौ देवियां हैं और उनमें प्रत्येक देवीकी डेढ डेढ पल्यकी आयु है। ये देवियां अपने विक्रियाबलसे इतनी ही इतनी देवियोंके रूप धारण करनेमें समर्थ हैं अर्थात् अभ्यंतर सभाके देवोंकी प्रत्येक देवी अपनी विक्रियासे सातसै देवियोंका रूप धारण कर सकती है। मध्यम सभाके प्रत्येक देवकी देवी अपनी विक्रियासे छहसौ देवियोंका रूप धारण कर सकती है एवं वाह्य सभाके देवोंकी प्रत्येक देवी अपनी विक्रियासे पांचसै देवियोंका रूप धारण कर सकती है।

ऊपर जो आठ पट्टदेवियां कही गई हैं उन आठो पट्टदेवियोंकी अभ्यंतर सभामें सातसौ देवियां हैं। मध्यम सभामें छहसौ देवियां हैं और वाह्य सभामें पांचसौ देवियां हैं। इन तीनों ही सभाकी रहनेवाली देवियां ढाई ढाई पल्यकी आयुकी धारक हैं।

प्यादे घोडे हाथी बैल रथ नर्तकी और गंधर्व यह सात प्रकारकी सेना है। इस सातों ही प्रकारकी सेनाकी एक एक पल्यकी आयु है। इस सात प्रकारकी सेनामें एक एक महत्तर भी है और प्रत्येककी एक एक पल्यकी आयु है। सेनाके महत्तरोंमें पदाति सेनाका महत्तर वायु है। यह वायु महत्तर, पदाति सेनाकी सात कक्षाओंसे वेष्टित है अर्थात् पदाति सेनाकी सात कक्षायें हैं। पहिली कक्षामें चौरासी लाख

प्यादे हैं। दूसरी कक्षामें इससे दूने, तीसरी कक्षामें उससे दूने इसप्रकार उत्तरोत्तर सातवीं कक्षापर्यंत पदातियोंकी संख्या दूनी दूनी है।

घोडोंकी सेनाके महत्तरका नाम हरि है। हाथियोंकी सेनाके महत्तरका नाम ऐरावत है। बैलोंकी सेनाके महत्तरका नाम दामयस्ति (ष्टि) है। रथोंकी सेनाके महत्तरका मातुलि नाम है। गणिकाओंकी सेनाकी महत्तरिकाका नाम नीलांजना है। एवं गंधर्वोंकी सेनाके महत्तरका नाम अरिष्टयशस्क है। इन छहों प्रकारकी सेनाकी संख्या पदाति सेनाकी संख्याके समान समझ लेनी चाहिये। यह जो ऊपर पदाति आदिके देवोंकी संख्याका वर्णन किया गया है वह विक्रियाजनित है किंतु स्वाभाविक (असली) देव तो एक एक सेनामें छहसौ छहसौ हैं तथा उन स्वाभाविक छहसौ देवोंमें प्रत्येक देवकी छहसौ छहसौ ही देवियां हैं। इन छहसौ देवियोंमें प्रत्येक देवी अपने विक्रियाबलसे छह छह देवियोंका रूप धारण करनेमें समर्थ है एवं प्रत्येक देवीकी आधे आधे पल्यकी आयु है।

वायु हरि ऐरावत आदि जो सात सेनाओंके महत्तर कहे गये हैं उनमें भी प्रत्येककी छहसौ छहसौ देवियां हैं। और उनमें प्रत्येक देवी अपनी विक्रियोंसे छह छह देवियोंके रूप धारण करनेमें समर्थ है और हर एक देवीकी आयु आधे आधे पल्यकी है।

एक पल्यकी आयुके धारक जो ऊपर चौरासी हजार आत्मरक्षक देव कह आये हैं उन देवोंमें प्रत्येक देवकी दो दोसै देवियां हैं। प्रत्येक देवी अपने विक्रियाबलसे छह छह देवियोंके रूप धारण करनेमें समर्थ हैं और हर एककी आयु आधे आधे पल्यकी है।

इंद्रका बालक नामका एक आभियोग्य देव है। वह एक पल्यकी आयुका धारक है और जंबू-

द्वीपकी बराबर वाहन और विमान स्वरूप होनेकी विशिष्ट सामर्थ्य रखता है। इस बालक देवकी छहसौ देवियां है। प्रत्येक देवी अपने विक्रियाबलसे छह छह देवियोंके रूप धारण करनेमें समर्थ है एवं आधे आधे पल्यकी उनकी आयु है।

पूर्व दिशाके स्वयंप्रभ विमानमें सोम नामका लोकपाल रहता है। उसकी आयु ढाई पल्यकी है। ढाई पल्यकी आयुके धारक उसके चार हजार सामानिक देव हैं। एवं ढाई पल्यकी ही आयुकी धारक उसकी चार हजार देवियां हैं। चारो लोकपालोंकी चार पट्ट देवियां हैं और उनमें प्रत्येककी आयु ढाई पल्यकी है।

सोम लोकपालकी अभ्यंतर सभाका नाम ईषा है। वह पचास देवोंकी है और उनमें प्रत्येककी आयु सवा सवा पल्यकी है। मध्यम सभाका नाम हढा है। वह चारसौ देवोंकी है और उसके भी प्रत्येक देवकी आयु सवा पल्यकी है। बाह्य सभाका नाम चतुरंता है वह पांचसौ देवोंकी है एवं उसके देवोंकी भी आयु सवा पल्यकी है। दक्षिण दिशामें एक वरज्येष्ठ नामका विमान है उसका स्वामी यम नामका लोकपाल है उसका कुल वर्णन सोमलोकपालके समान है। पश्चिम दिशाके अंजन नामक विमानमें वरुण नामका लोकपाल है और वह पौने तीन पल्यप्रमाण आयुका धारक है। उसकी अभ्यंतर सभाका नाम ईषा है और वह डेढ पल्यकी आयुके धारक साठ देवोंकी है। मध्यम सभाका नाम हढा है। उसमें रहनेवाले पांचसौ देव हैं और उनकी आयु कुछ कम डेढ पल्यकी है। तथा बाह्य सभाका नाम चतुरंता है। उसमें रहनेवाले छहसौ देव हैं एवं उनकी आयु एक देश अधिक डेढ पल्यकी है। इन तीनों सभाके देवोंकी देवियोंकी आयु अपने अपने स्वामियोंकी आयुके बराबर है। इस वरुण लोकपालका शेष वर्णन सोम लोकपालके समान समझ लेना चाहिये। उत्तर दिशाके वल्गु नामक विमानमें वैश्रवण

नामका लोकपाल रहता है। वह तीन पल्यकी आयुका धारक है। उसकी अभ्यंतर सभा ईशाके सत्तर देव हैं और उनमें प्रत्येककी आयु डेढ पल्यकी है। मध्यम सभा दृढाके छहसौ देव हैं और उनकी आयु कुछ कम डेढ पल्यकी है। तथा बाह्य सभा चतुरंताके सातसौ देव हैं और उनकी आयु सवा पल्यप्रमाण है। इस वैश्रवण लोकपालकी तीनों सभाके देवोंकी देवियां अपने अपने स्वामियोंसे आधी आधी स्थितिवाली हैं और कुल वर्णन सोमलोकपालके समान समझ लेना चाहिये। चारो लोकपालोंमें प्रत्येकके साढे तीन तीन करोड अप्सरा हैं।

सौधर्म स्वर्गके इंद्रक विमान इकतीस हैं। श्रेणिबद्ध विमान चार हजार तीनसौ इकहत्तर हैं तथा पुष्पप्रकीर्णक विमानकी संख्या इकतीस लाख पिचानवे हजार पांचसौ अट्ठानवे है इसप्रकार इन्द्रक श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक ये मिलकर कुल विमान बत्तीस[2] लाख हैं इसप्रकार सौधर्म स्वर्गका वर्णन कर दिया गया। ऐशान स्वर्गका वर्णन इसप्रकार है—

प्रभानामके इकतीसवें इन्द्रक विमानसे उत्तरकी दिशामें जो बत्तीस श्रेणिबद्ध विमान हैं उनमें अठारहवें विमानकी कल्प संज्ञा है उसका कुल परिवार वर्णन पहिले कहे गये सौधर्म इंद्रके विमानके समान समझ लेना चाहिये। इस विमानका स्वामी ऐशान इंद्र है। इस ऐशान इंद्रके अट्ठाईस लाख विमान हैं तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। अस्सी हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा हैं। सात प्रकारकी सेना हैं। अस्सी हजार आत्मरक्षक देव हैं और चार लोकपाल हैं। श्रीमती १ सुसीमा २ सुमित्रा ३ वसुंधरा ४ जया ५ जयसेना ६ अमला ७ और प्रभा ८ ये आठ उसकी देवियां हैं। इनमें प्रत्येककी सात सात

१ प्राचीन भाषामें अठत्तर पाठ है। २ स्थूल दृष्टिसे यह संख्या है।

पल्यकी आयु है । बत्तीस हजार बल्लभिका देवी हैं और उनकी प्रत्येककी आयु सात पल्यप्रमाण है ।

ऐशान इंद्रकी अभ्यन्तर सभाका नाम समिता है । उसमें रहनेवाले दस हजार देव हैं । और हर एककी सात सात पल्यकी आयु है । मध्यम सभाका नाम चंद्रा है । उसमें बारह हजार देव हैं और प्रत्येक छह छह पल्यकी आयुके धारक हैं । तथा वाह्य सभाका नाम जातु है । उसमें चौदह हजार देव हैं और हर एक पांच पांच पल्यकी आयुका धारक है ।

ऐशान इंद्रकी भी सात प्रकारकी सेनाके सात महत्तर हैं उनमें पदाति सेनाका महत्तर लघुपराक्रम है । घोडोंकी सेनाका महत्तर अमितगति है । बैलोंकी सेनाका महत्तर द्रुपकान्त है । रथोंकी सेनाका महत्तर किन्नर, हाथियोंकी सेनाका महत्तर पुष्पदन्त, गंधर्वोंकी सेनाका महत्तर गीतयश और गणिकाओंकी सेनाकी महत्तरा श्वेतानामकी गणिका है । पदाति सेनाका महत्तर सात कक्षाओंसे वेष्टित है । पहिली कक्षामें अस्सी हजार देव हैं । दूसरी कक्षामें उससे दूने हैं । तीसरी कक्षामें उससे भी दूने हैं इसीप्रकार सातवीं कक्षातक दूने दूने देव समझ लेने चाहिये । इसीप्रकार घोडे आदि सेनाके महत्तरोंकी भी विक्रियारूप सेना गिन लेनी चाहिये । ये समस्त सेनाके देव और उनके महत्तर कुछ अधिक एक एक पल्यकी आयुके धारक हैं ।

ऐशान स्वर्गकी दाक्षिण दिशाके सम नामके विमानमें सोम नामका लोकपाल रहता है । वह साढे चार पल्यकी आयुका धारक है । उसकी अभ्यंतर सभामें साठि देव हैं । मध्यम सभामें पांचसै देव हैं और वाह्य सभामें छहसौ सात देव हैं । पश्चिम दिशाके सर्वतोभद्र विमानमें यम नामका लोकपाल है उसकी आयु साढे चार पल्यकी है । इस यम लोकपालका शेष वर्णन सोम लोकपालके समान है । उत्तर

दिशाके सुभद्र नामके विमानमें वरुण नामका लोकपाल है। पांच पल्यकी आयुका धारक है। उसकी अभ्यंतर सभामें अस्सी देव हैं। मध्यम सभामें सातसै देव हैं और वाह्य सभामें आठसै देव हैं। पूर्वदिशाके अमित नामके विमानमें वैश्रवण नामका लोकपाल है। पोने पांच पल्यकी आयुका धारक है। उसकी अभ्यंतर सभामें सत्तर देव हैं। मध्यम सभामें छहसौ देव हैं और वाह्य सभामें सातसौ देव हैं।

ऐशान इंद्रका बालकके समान पुष्पक नामका आभियोग्य देव है वह अपनी विक्रियासे जम्बूद्वीपके समान पुष्पक नामका वाहन वा विमान बनानेमें समर्थ है। ऐशान इंद्रका शेष वर्णन सौधर्म इंद्रके समान समझ लेना चाहिये इसप्रकार उत्तरदिशाके श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णक विमानोंके स्वामी ऐशान इन्द्रका और ऐशान स्वर्गका वर्णन कर दिया गया। अब सानत्कुमार और माहेन्द्रका वर्णन किया जाता है—

सौधर्म स्वर्गके अंतिम प्रभा नामके इंद्रक विमानके ऊपर हजारों योजनोंके वाद सानत्कुमार और माहेंद्र नामके स्वर्ग हैं। उनमें महलोंके समान अंजन १ वनमाल २ नाग ३ गरुड ४ लांगल ५ वलभद्र ६ और चक्र ७ नामके सात विमानोंके पटल हैं। इनमें अंजन विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं अर्थात् श्रेणिबद्ध विमान हैं एवं विदिशाओंमें पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं। अंजन विमानकी चारो दिशाओंकी श्रेणियोंमें प्रत्येकमें इकतीस इकतीस विमान हैं अर्थात् श्रेणिबद्ध विमान प्रत्येक दिशामें इकतीस इकतीस हैं। आगेके चक्र विमान पर्यंत एक एक कम होता चला गया है अर्थात्—

अंजन विमानकी चारो दिशाओंमें इकतीस इकतीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। वनमाल विमानकी चारों दिशाओंमें तीस तीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। नाग विमानकी चारो दिशाओंमें उनतीस उनतीस

श्रेणिबद्ध विमान हैं। गरुड नामक विमानकी चारो दिशाओंमें अट्ठाईस अट्ठाईस श्रेणिबद्ध विमान हैं। लांगल नामक विमानकी चारो दिशाओंमें सत्ताईस सत्ताईस श्रेणिबद्ध विमान हैं। बलभद्र नामक विमानकी चारो दिशाओंमें छब्बीस छब्बीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। एवं चक्र नामक विमानकी चारो दिशाओंमें पचीस पचीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। इन विमानोंका आपसमें अंतर बहुतसे लाख योजनोंका है अर्थात् अंजन नामक इंद्रक विमानसे ऊपर बहुतसे लाख योजनोंके अंतरसे वनमाल नामका विमान है वनमालके ऊपर बहुतसे लाख योजनोंके अंतरसे नाग नामका इंद्रक विमान है इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये।

चक्र नामक अंतिम इंद्रक विमानकी दक्षिण दिशाके पचीस श्रेणिबद्ध विमानोंमेंसे पंद्रहवें श्रेणिबद्ध विमानकी कल्पसंज्ञा है। इसका कुल वर्णन सौधर्म स्वर्गके कल्प विमानके समान समझ लेना चाहिये। उस पंद्रहवें श्रेणिबद्ध विमानका स्वामी सानत्कुमार नामका इंद्र है। उसके बराह लाख विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। बहत्तर हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा हैं। सातप्रकारकी सेना हैं। बहत्तर हजार आत्मरक्षक देव हैं और चार लोकपाल हैं। तथा जिसप्रकार सौधर्म इंद्रकी आठ पट्टदेवियां कह आये हैं उसीप्रकार सानत्कुमार इंद्रकी भी आठ पट्टदेवियां हैं और उनमें प्रत्येक पट्टदेवीकी नौ नौ पल्यकी आयु है। इन आठो पट्टदेवियोंमें प्रत्येक अठारह अठारह हजार देवियोंसे वेष्टित हैं और हर एक अपने विक्रियाबलसे बत्तीस बत्तीस हजार देवियोंके रूप धारण करनेमें समर्थ है। सानत्कुमार इंद्रकी आठ पट्टदेवियोंके सिवाय आठ हजार वल्लभिका देवियां भी हैं तथा उनकी आयु भी नौ नौ पल्यकी है और प्रत्येक बत्तीस हजार देवियोंका अपनी विक्रियासे रूप धारण कर सकती है।

सानत्कुमार इंद्रकी अभ्यंतर सभाका नाम सामिता है उसमें आठ हजार देव हैं और उनकी कुछ अधिक साढे तीन सागरकी आयु है। मध्यम सभाका नाम चंद्रा है। उसमें दश हजार देव हैं और उनकी भी कुछ अधिक साढे तीन सागरकी आयु है। तथा वाह्य सभाका नाम जातु है। उसमें रहनेवाले वारह हजार देव हैं और उनकी साढे तीन सागरकी आयु है।

अभ्यंतर सभाके देवोंमें प्रत्येक देवकी सात सात सौ देवियां हैं और उनकी पांच पांच पल्यकी आयु है। मध्यम सभाके प्रत्येक देवकी छह छह सौ देवियां हैं और उनकी आयु भी पांच पांच पल्यकी है एवं वाह्य सभाके प्रत्येक देवकी पांच पांचसौ देवियां हैं और उनकी आयु भी पांच पांच पल्यकी है। तथा इनमें हर एक देवी अपनी अपनी विक्रियासे उतने ही प्रमाण रूप धारण करनेमें समर्थ है अर्थात् अभ्यंतर सभाके देवोंकी प्रत्येक देवी अपनी विक्रियासे सातसौ २ देवियोंका रूप धारण कर सकती है। मध्यम सभाके देवोंकी प्रत्येक देवी छहसौ छहसौ और वाह्य सभाके देवोंकी प्रत्येक देवी पांचसौ पांचसौ देवियोंके रूप धारण कर सकती है। सानत्कुमार इंद्रकी सेनाके महत्तर सौधर्म इंद्रके महत्तरोंके समान हैं और वे साढे तीन सागर प्रमाण आयुके धारक हैं।

ऊपरके समान यहांपर पदातियोंकी सात कक्षायें हैं। पहिली कक्षामें बहत्तर हजार देव हैं दूसरीमें उससे दूने देव हैं। तीसरीमें उससे दूने इसप्रकार सातवीं कक्षा तक देवोंकी दूनी दूनी संख्या समझ लेनी चाहिये। इसीप्रकार घोडे आदि अन्य सेनाओंकी भी सात सात कक्षा जान लेनी चाहिये।

सेनाके महत्तरोंमें प्रत्येककी तीन तीनसौ देवियां हैं और उनकी पांच पल्यकी आयु है। आत्मरक्ष देवोंमें एक एकके सौ सौ देवियां हैं और उनकी भी पांच पांच पल्यकी आयु है। विमानके नियोगी—

बालक नामक आभियोग्य देवकी आयु साढे तीन सागरप्रमाण है। तीनसै उसकी देवियां हैं और उनकी पांच पांच पल्यकी आयु है।

पूर्व आदि दिशाके स्वयंप्रभ वरज्येष्ठ स्वयंजन और वल्गु इन चार विमानोंमें रहनेवाले सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल हैं। अर्थात् पूर्व दिशामें स्वयंप्रभ विमान है उसमें सोम नामका लोकपाल रहता है। दक्षिण दिशामें वरज्येष्ठ विमान है उसमें यम लोकपाल रहता है। पश्चिम दिशामें स्वयंजन नामका विमान है उसमें वरुण लोकपाल रहता है और उत्तर दिशामें वल्गु नामका विमान है उसमें वैश्रवण नामका देव रहता है। इनमें हरएक लोकपालके एक एक हजार सामानिक देव हैं। एक एक हजार देवियां हैं। चार चार पट्टदेवियां हैं और तीन सभायें हैं। चारो लोकपालोंमें सोम और यम नामके लोकपालोंकी एक सागरप्रमाण स्थिति है। वरुणकी सवा सागर और वैश्रवणकी डेढ सागर प्रमाण स्थिति है।

सोम और यम लोकपालोंकी अभ्यंतर मभामें चालीस देव हैं। मध्यम सभामें तीनसौ देव हैं और वाह्य सभामें चारसौ देव हैं। वरुण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें पचास देव हैं। मध्यम सभामें चारसौ और वाह्य सभामें पांचसौ देव हैं। वैश्रवण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें साठि देव हैं। मध्यम सभामें पांचसौ और वाह्य सभामें छहसौ देव हैं।

चारो लोकपालोंकी चारो अभ्यंतर सभाके देवोंकी आयु तीन सागरकी है और प्रत्येक देवके सौ सौ देवियां हैं। चारो लोकपालोंकी चारो मध्यम सभाके देवोंकी आयु कुछ कम तीन सागरकी है और प्रत्येक देवकी सत्तर सत्तर देवियां हैं तथा चारो लोकपालोंकी चारो वाह्य सभाओंके देवोंकी आयु ढाई

पल्यकी है और प्रत्येक देवकी पचास पचास देवियां हैं। सानत्कुमारका वर्णन कर दिया गया माहेंद्रका वर्णन इसप्रकार है—

सानत्कुमार स्वर्गके अंतिम चक्र नामके इंद्रक विमानकी उत्तर दिशाके पचीस श्रेणिबद्ध विमानोंमें पंद्रहवें श्रेणिबद्ध विमानकी कल्प संज्ञा है। उसका कुल वर्णन ऐशान कल्पके समान समझ लेना चाहिये इस पंद्रहवें श्रेणिबद्ध विमानका स्वामी माहेंद्र नामका इंद्र है इस माहेंद्र इंद्रके आठ लाख विमान हैं। तेंतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। सत्तर हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा हैं। सत्तर हजार आत्मरक्षक देव हैं और चार लोकपाल हैं। ऐशान इंद्रकी पट्टदेवियोंके जो नाम ऊपर कह दिये गए हैं उन्हीं नामोंकी धारक माहेंद्र इंद्रके भी आठ पट्टदेवियां हैं और उनकी ग्यारह पल्यकी आयु है तथा आठ हजार वल्लभिका देवियां हैं और उनकी भी आयु ग्यारह पल्यकी है। इन वल्लभिका देवियोंका शेष वर्णन सानत्कुमार इंद्रकी वल्लभिका देवियोंके समान समझ लेना चाहिये।

माहेंद्र इंद्रकी समिता नामक अभ्यंतर सभामें छह हजार देव हैं। चंद्रा नामकी मध्यम सभामें आठ हजार देव हैं और जातु नामक बाह्य सभामें दश हजार देव हैं। इन तीनों सभामें रहनेवाले देवोंकी आयु सानत्कुमार इंद्रकी सभाओंके देवोंसे कुछ अधिक है। शेष देवियोंका परिमाण उनकी आयु और विक्रियाकी सामर्थ्य आदि सानत्कुमार इंद्रकी सभाओंमें रहनेवाले देवोंके समान समझ लेना चाहिये। ऐशान इंद्रकी सेनाके महत्तरोंके जो नाम कह आए हैं वे ही माहेंद्र इंद्रकी सेनाके महत्तरोंके समझ लेना चाहिये।

माहेंद्र इंद्रकी पदाति सेनाकी सात कक्षा हैं। उनमें पहिली कक्षामें सत्तर हजार देव हैं। दूसरी

कक्षामें उससे दूने देव हैं तीसरी कक्षामें उससे दूने हैं इसप्रकार सातवीं कक्षा तक उत्तरोत्तर दूने दूने देव समझ लेने चाहिये। इसीप्रकार घोडे आदि सेनाओंमें भी कक्षाओंकी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। माहेंद्र देवके सेनाओंके महत्तरोंमें प्रत्येक महत्तरकी तीन तीनसै देवियां हैं। हर एक देवी सात सात पल्यकी आयुकी धारक है। आत्मरक्ष देवोंकी आयु कुछ अधिक साढे तीन सागरप्रमाण है। हर एक आत्मरक्षके सौ सौ देवियां हैं और उनकी सात सात पल्यकी आयु है।

दक्षिण आदि दिशामें सम, सर्वतोभद्र, सुभद्र और समित ये चार विमान हैं और इनमें क्रमसे सोम, यम, वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल रहते हैं। इन चारो लोकपालोंमें प्रत्येक लोकपालके एक एक हजार सामानिक देव, एक एक हजार देवियां, चार चार पट्ट देवियां और तीन तीन सभायें हैं। चारो लोकपालोंमें वरुणकी स्थिति साढे तीन सागर प्रमाण है। उससे कम स्थिति वैश्रवणकी है। उससे भी कम स्थिति सोम और यम लोकपालकी है।

सोम और यम लोकपालोंकी अभ्यन्तर सभामें पचास देव हैं। मध्यम सभामें चारसौ देव हैं। वाह्य सभामें पांचसौ देव हैं। वैश्रवण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें साठि देव हैं, मध्यम सभामें पांचसौ देव हैं और वाह्य सभामें छहसौ देव हैं। वरुण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें सत्तर देव हैं। मध्यम सभामें छहसौ देव हैं और वाह्य सभामें सातसौ देव हैं।

चारो लोकपालोंकी चारो अभ्यंतर सभाओंमें रहनेवाले प्रत्येक देवकी सौ सौ देवियां हैं। चारो मध्यम सभाओंमें रहनेवाले प्रत्येक देवकी सत्तर सत्तर देवियां हैं तथा चारो लोकपालोंकी चारो वाह्य सभाओंमें रहनेवाले देवोंमें प्रत्येक देवकी पचास पचास देवियां हैं। इन देवियोंकी आयु किंचित् अधिक,

समान और किंचित घाटि तीन सागर प्रमाण है अर्थात् अभ्यंतर सभाओंमें रहनेवाले देवोंकी देवियोंकी आयु कुछ अधिक तीन सागर प्रमाण है। मध्यम सभामें रहनेवाले देवोंकी देवियोंकी आयु तीन सागर प्रमाण है और वाह्य सभाओंके देवोंकी देवियोंकी आयु कुछ कम तीन सागर प्रमाण है।

माहेंद्र देवका पुष्पक नामके विमानका रचनेवाला आभियोग्य जातिका पुष्पक नामका देव है। उसकी आयु कुछ अधिक साढ तीन सागर प्रमाण है। इसके अनुयायी सौ देव हैं और वे कुछ अधिक दो सागर प्रमाण आयुके धारक हैं। इसप्रकार यह सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंका वर्णन कर दिया गया अब ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर स्वर्गोंका वर्णन किया जाता है—

सानत्कमार स्वर्गके अंतिम चक्र नामक इंद्रक विमानके ऊपर लाखों योजनके वाद ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर नामक दो स्वर्ग हैं। उनमें महलोंके समान अरिष्ट १ देवसमित २ ब्रह्म ३ और ब्रह्मोत्तर ४ ये चार पटल हैं। अरिष्ट नामक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं। प्रत्येक श्रेणिमें चौवीस चौवीस श्रेणिबद्ध विमान हैं तथा विदिशाओंमें पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं। अरिष्ट नामके इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें जितने जितने श्रेणिबद्ध विमान कहे गये हैं उनसे आगेके ब्रह्मोत्तर इंद्रक विमान पर्यंत विमानोंमें एक एक श्रेणिबद्ध विमानकी कमी होती चली गई है अर्थात्—अरिष्ट नामक विमानकी चारो दिशाओंमें चौवीस चौवीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। देवसमित इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें तेईस तेईस श्रेणिबद्ध विमान हैं। ब्रह्म नामक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें वाईस वाईस श्रेणिबद्ध विमान हैं और ब्रह्मोत्तर नामक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें इकीस इकीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। तथा इन प्रस्तारोंके आपसमें अंतर भी लाखों योजनोंके हैं अर्थात् अरिष्ट नामक

पटलके लाखो योजनोंके अंतरसे देवसमित नामका पटल है। उससे लाखो योजनोंके फासलेसे ब्रह्म पटल है और उससे लाखों योजनोंके फासलेसे ब्रह्मोत्तर पटल है।

ब्रह्मोत्तर नामक इंद्रक विमानकी दक्षिण दिशाके इकीस श्रेणिबद्ध विमानोंमें बारहवें विमानकी कल्प संज्ञा है। उसका कुछ वर्णन पहिलेके समान है। उस बारहवें श्रेणिबद्ध विमानका स्वामी ब्रह्म नामक इंद्र है। कुछ अधिक दो लाख विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। छत्तीस हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, छत्तीस हजार अत्मरक्ष और चार लोकपाल हैं। सौधर्म इंद्रकी जो पद्म आदि पट्टदेवियां कह आये हैं उन्हीं नामोंकी धारक आठ पट्टदेवियां ब्रह्म इंद्रकी भी हैं। उनकी तेरह पल्यकी आयु है और हर एक पट्टदेवी चार चार (चौदह चौदह) हजार देवियोंसे परिवारित है। इस ब्रह्म इंद्रकी दो हजार वल्लभिका देवियां हैं और उनकी तेरह तेरह पल्यकी आयु है तथा हर एक पट्टदेवी और वल्लभिका देवी अपनी विक्रियासे चौसठ चौसठ हजार देवांगनाओंके रूप धारण करनेमें समर्थ है।

ब्रह्म इंद्रकी अभ्यंतर सभाका नाम समिता है। वह चार हजार देवोंकी है और उन देवोंमें प्रत्येक देवकी आयु आठ आठ सागर प्रमाण है। मध्यम सभाका नाम चंद्रा है। उसमें छह हजार देव हैं और वे कुछ घाटि आठ सागर प्रमाण आयुके धारक हैं। वाह्य सभाका नाम जातु है वह आठ हजार देवोंकी है और उन देवोंकी आयु आठ सागरकी है। अभ्यंतर सभाके देवोंमें प्रत्येक देवकी पचास पचास देवियां हैं। मध्यम सभामें रहनेवाले देवोंके चालीस चालीस देवियां हैं और वाह्य सभामें रहनेवाले देवोंके तीस तीस देवियां हैं।

१—यह पाठ प्राचीन भाषामें है वह गलत प्रतीत होता है क्योंकि उत्तरोत्तर कम संख्या है।

ब्रह्म इंद्रकी सेनाओंके महत्तर पूर्वोक्त वायु आदि नामोंके धारक ही देव हैं और उनकी साढे सात सागर प्रमाण आयु है। पदाति नामकी सेनाकी पहिले ही के समान सात कक्षा हैं। उसकी प्रथम कक्षामें छब्बीस हजार देव हैं। दूसरी कक्षामें उससे दूने हैं। तीसरीमें उससे दूने हैं इसप्रकार सातवीं कक्षा तक प्रत्येक कक्षामें देवोंकी संख्या दूनी दूनी है। वायु आदिक जो सात महत्तर कहे गये हैं उनमें प्रत्येक महत्तरकी ढाई ढाईसौ सामान्य देवियां और चार चार पट्ट देवियां हैं। आत्मरक्ष देवोंकी आयु साढे सात सागरकी है और एक एक देवकी पचास पचास देवियां हैं। ब्रह्म इंद्रका भी बालक नामका आभियोग्य देव है। एवं उसकी आयु और देवांगना उतनी ही हैं अर्थात् साढे सात सागरकी आयु और पचास देवियां हैं।

ब्रह्म स्वर्गकी पूर्व आदि दिशाओंमें स्वयंप्रभ वरज्येष्ठ स्वयंजन और वल्गु ये चार विमान हैं और उनमें क्रमसे सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल रहते हैं। इन चारो प्रकारके लोकपालोंमें प्रत्येकके पांच पांचसौ सामानिक देव हैं पांच पांचसौ सामान्य देवियां हैं और चार चार पट्टदेवियां हैं। चारो लोकपालोंमें वैश्रवण लोकपालकी आयु साढे सात सागरकी है। उससे कुछ कम वरुण लोकपालकी है और उससे भी कम सोम और यम नामके लोकपालोंकी है।

सोम और यम लोकपालोंकी अभ्यंतर सभाके तीस देव हैं। मध्यम सभाके दोसौ देव हैं। वाह्य सभाके तीनसौ देव हैं। वरुण लोकपालकी अभ्यंतर सभाके चालीस देव हैं। मध्यसभाके तीनसौ देव हैं और वाह्य सभाके चारसौ देव हैं। वैश्रवण लोकपालकी अभ्यंतर सभाके पचास देव हैं। मध्यसभाके चारसै देव हैं और बाह्य सभाके पांचसै देव हैं। चारों लोकपालोंकी चारो अभ्यंतर सभाओंके देवोंकी

आयु आठ सागर प्रमाण है। चारो मध्य सभाओंके देवोंकी कुछ कम आठ सागरकी है और चारो वाह्य सभाके देवोंके साढे सात सागरकी है। उनकी देवियां क्रमसे पचास पचास, चालीस चालीस और तीस तीस हैं अर्थात् अभ्यंतर सभाओंके देवोंमेंसे प्रत्येक देवकी पचास पचास देवियां हैं। मध्यसभाओंके देवोंमेंसे प्रत्येक देवकी चालीस चालीस और वाह्य सभाओंके देवोंमेंसे प्रत्येक देवकी तीस तीस देवियां हैं।

ब्रह्मोत्तर नामक इंद्रक विमानकी उत्तरादिशाके इकीस श्रेणिबद्ध विमानोंमेंसे बारहवें विमानका नाम कल्प है। इसका कुल वर्णन पहिलेके समान है। इस विमानका स्वामी ब्रह्मोत्तर देव है। इस ब्रह्मो-त्तर इंद्रके कुछ कम दो लाख विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। बत्तीस हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, बत्तीस हजार आत्मरक्ष और चार लोकपाल हैं। जिसप्रकार ऐशान इंद्रकी आठ पट्टदेवी कह आये हैं उन्हीं नामोंकी धारक ब्रह्मोत्तर देवकी भी आठ पट्टदेवियां हैं और वे पंद्रह पल्यकी आयुकी धारक हैं। तथा इन पट्टदेवियोंके सिवाय दो हजार वल्लभिका देवियां हैं और उनकी आयु भी पंद्रह पल्यकी है। इनका अवशिष्ट वर्णन ब्रह्म इन्द्रके समान समझ लेना चाहिये।

ब्रह्मोत्तर इंद्रकी अभ्यंतर सभाका नाम समिता है उसमें दो हजार देव हैं। मध्यम सभाका नाम चंद्रा है वह चार हजार देवोंकी है। वाह्य सभाका नाम जातु है और उसमें छह हजार देव हैं। अन्य सब वर्णन ब्रह्मेंद्रके समान समझ लेना चाहिये। पुष्पक नामका आभियोग्य देव भी ब्रह्म इंद्रके समान है। पदाति नामकी सेनाकी सात कक्षा हैं। पहिली कक्षामें बत्तीस हजार देव हैं आगे आगेकी कक्षाओंमें ब्रह्म इंद्रके समान दूने दूने हैं। आत्मरक्ष देवोंकी संख्या भी ब्रह्म इंद्रके समान है। दक्षिण आदि चारो दिशाओंमें सोम आदिके चार लोकपाल हैं और उनका कुल वर्णन ब्रह्म इंद्रके समान समझ लेना चाहिये।

ब्रह्मोत्तर नामक इंद्रक विमानके ऊपर लाखों योजनोंके बाद लांतव और कापिष्ठ नामके दो स्वर्ग हैं। इनमें ब्रह्महृदय और लांतव नामक दो पटल हैं। लांतव विमानकी दक्षिणश्रेणिके उन्नीस विमानोंमें नववें विमानका नाम कल्प है और उसका स्वामी लांतव नामका इंद्र है। इस लांतव इंद्रके कुछ अधिक पच्चीस हजार विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। चौबीस हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, चौबीस हजार आत्मरक्ष देव और चार लोकपाल हैं। सौधर्म इंद्रकी पट्टदेवियोंके जो नाम कह आए हैं उन्हीं नामोंकी धारक लांतव इंद्रकी भी आठ पट्टदेवियां हैं और उनकी सत्रह पल्यकी आयु है। हर एक पट्टदेवी दो दो हजार देवियोंसे परिवारित है। इन पट्टदेवियोंके सिवाय पांचसौ वल्ल-भिका देवियां हैं और उनकी भी सत्रह सत्रह पल्यकी आयु है। तथा हर एक पट्टदेवी और हर एक वल्लभिका देवी एक लाख अट्ठाईस हजार देवियोंका रूप अपनी विक्रियासे धारण कर सकती है।

लांतव इंद्रकी अभ्यंतर सभाका नाम समिता है और वह एक हजार देवोंकी है। इस अभ्यंतर सभाके प्रत्येक देवकी आयु कुछ अधिक दश सागरप्रमाण है और हर एकके सत्तासी सत्तासी देवियां हैं। मध्य सभाका नाम चंद्रा है। उसमें रहनेवाले दो हजार देव हैं। इस मध्य सभामें रहनेवाले प्रत्येक देवकी आयु कुछ कम दश सागरप्रमाण है और हर एकके पिचहत्तर २ देवियां हैं। वाह्य सभाका नाम जातु है वह चार हजार देवोंकी है। इस वाह्य सभाके रहनेवाले देवोंकी आयु मध्य सभाके रहनेवाले देवोंसे कुछ कम है और प्रत्येकके त्रेसठि त्रेसठि देवियां हैं।

लांतव इंद्रका वालक नामका आभियोग्य देव है। वाह्य सभाके देवोंकी जो आयु कह आए हैं उतनी ही इसकी आयु है और साठि देवियां हैं। सातो प्रकारकी सेना और उसके महत्तरोंकी आयु मध्यम

सभाके देवोंकी जितनी आयु कही गई है उससे कुछ कम है। तथा प्रत्येक सेनाकी सात सात कक्षा हैं। पहिली कक्षामें चौबीस हजार देव हैं। दूसरी कक्षामें उससे दूने हैं। तीसरी कक्षामें उससे दूने हैं इसप्रकार सातवीं कक्षा पर्यंत उत्तरोत्तर देवोंकी दूनी दूनी संख्या समझ लेनी चाहिये। सेनाके प्रत्येक देवकी और महत्तरकी साठि साठि देवियां हैं।

पूर्व आदि दिशाके स्वयंप्रभ वरज्येष्ठ स्वयंजन और वल्गु नामक विमानोंमें रहनेवाले सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल हैं। चारो लोकपालोंमें प्रत्येक लोकपालके चार चारसौ सामानिक देव हैं। ढाई ढाईसौ देवियां हैं। चार चार पट्टदेवियां हैं और तीन सभा हैं। जातु नामक वाह्य सभाके देवोंकी जितनी आयु कह आए हैं उतनी ही आयुका धारक वैश्रवण लोकपाल है। उससे कम आयुका धारक वरुण और उससे भी कम आयुके धारक सोम और यम नामक लोकपाल हैं।

सोम और यम लोकपालोंकी अभ्यंतर सभाओंमें बीस बीस देव हैं। मध्य सभाओंके सौ सौ देव हैं। एवं वाह्य सभाओंमें दो दोसौ देव हैं। वरुण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें तीस देव हैं। मध्य सभामें दोसौ देव हैं एवं वाह्य सभामें तीनसौ देव हैं। वैश्रवण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें चालीस देव हैं। मध्य सभामें तीनसौ देव हैं और वाह्य सभामें चारसौ देव हैं।

चारो लोकपालोंकी चारो अभ्यंतर सभाके देवोंकी आयु ग्यारह सागरप्रमाण है। चारो मध्यम सभाके देवोंकी आयु कुछ कम ग्यारह सागरप्रमाण ही है। तथा चारो वाह्य सभाके देवोंकी आयु मध्यम सभाओंके देवोंकी अपेक्षा कुछ कम है। इनके क्रमसे पचीस, बीस और पंद्रह पंद्रह देवियां हैं। अर्थात् अभ्यंतर सभाओंके देवोंमेंसे प्रत्येक देवकी पचीस, पचीस देवियां हैं। मध्य सभाओंके देवोंमेंसे प्रत्येक देवकी बीस बीस देवियां हैं और वाह्य सभाके देवोंमेंसे प्रत्येक देवकी पंद्रह पंद्रह देवियां हैं।

लांतव नामक इंद्रक विमानके उत्तर दिशाके उन्नीस श्रेणिबद्ध विमानोंमेंसे नवम विमानकी कल्प संज्ञा है। उसका कुल वर्णन पहिलेके ही समान है। इसका स्वामी कापिष्ठ नामका इंद्र है। उसके कुछ कम पच्चीस हजार विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। बाईस हजार सामानिक देव, तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, बाईस हजार आत्मरक्ष देव और चार लोकपाल हैं। श्रीमती १ सुसीमा २ सुमित्रा ३ वसुंधरा ४ जया ५ जयसेना ६ अमला ७ और प्रभा ८ ये आठ पट्टदेवियां हैं। पांचसै वल्लभिका हैं तथा प्रत्येक पट्टदेवी और वल्लभिका देवोंकी आयु उन्नीस उन्नीस पल्यकी है। शेष वर्णन लांतव इंद्रके समान समझ लेना चाहिये तथा तीनों सभायें भी लांतव इंद्रके समान समझ लेना चाहिये। समस्त सेनाओंमें सात सात कक्षा हैं। प्रथम कक्षामें बाईस बाईस हजार देव हैं आगेकी कक्षाओंमें लांतवेंद्रके समान देवोंकी दूनी दूनी संख्या समझ लेना चाहिये। तथा आत्मरक्ष आदिकी व्यवस्था भी लांतवेंद्रके ही समान है विशेष इतना है कि—

लांतवेंद्रकी जातु नामक वाह्य सभाके देवोंकी जो आयु कह आए हैं उतनी आयु वरुण लोकपालकी है। उससे कम आयु वैश्रवण नामक लोकपालकी है तथा इससे भी कम सोम और यम लोकपालकी है।

लांतव नामक इंद्रक विमानके ऊपर लाखो योजनोंके अंतरके वाद महाशुक्र नामका पटल है और शुक्र महाशुक्र नामक विमान हैं। महाशुक्र विमानकी दक्षिण दिशाके अठारह श्रेणिबद्ध विमानोंमें बारहवें विमानका नाम कल्प है। उसका वर्णन पहिलेके समान है। इसका स्वामी शुक्र नामका इंद्र है। इस शुक्र इंद्रके कुछ अधिक वीस हजार विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। चौदह हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, चौदह हजार आत्मरक्ष देव और चार लोकपाल हैं। पद्मा

आदि उपर्युक्त नामोंकी धारक आठ पट्ट देवियां हैं तथा हर एकके दश दश हजार देवियोंका परिवार है तथा ढाईसौ वल्लभिका देवियां हैं और एक एक पट्ट देवी और वल्लभिका देवी इकीस इकीस पल्यकी आयुवाली हैं और हर एक अपनी विक्रियासे दो लाख छप्पन हजार देवियोंका रूप धारण कर सकती है।

शुक्र इंद्रकी अभ्यंतर सभाका नाम समिता है। उसमें पांचसै देव रहते हैं। प्रत्येककी चौदह चौदह सागरकी आयु है और तेतालीस तेतालीस देवियां हैं। मध्य सभाका नाम चंद्रा है। उसमें एक हजार देव हैं। प्रत्येकके कुछ कम चौदह सागरकी आयु है और एक एकके अडतीस अडतीस देवियां हैं। वाह्य सभाका नाम जातु है। उसमें दो हजार देव हैं। मध्यम सभाके देवोंकी जो आयु कही गई है उससे कुछ कम उन देवोंकी आयु एवं हर एकके पैंतीस पैंतीस देवियां हैं। सात प्रकारकी सेना और उनके महत्तरोंकी आयु भी जातु सभाके देवोंके समान है।

प्रत्येक सेनाकी सात कक्षा हैं पहिली कक्षा चौदह हजार देवोंकी है। आगेकी कक्षाओंमें पहिलेके समान दूने दूने देव हैं तथा एक एकके पचास पचास देवियां हैं। बालक नामक आभियोग्य देवकी भी आयु जातु नामक वाह्य सभाके देवोंकी ही बरावर है और उन देवोंकी जितनी देवियां वताई गई हैं उतनी ही इसकी भी देवियां हैं तथा आत्मरक्ष देवोंका भी वर्णन जातु नामक वाह्य सभाके देवोंके ही समान है।

पूर्व आदि दिशाओंमें स्वयंप्रभ वरज्येष्ठ स्वयंजन और वल्गु नामक चार विमान हैं और उनमें क्रमसे सोम यम वरुण और वैश्रवण नामक चार लोकपाल रहते हैं। इन चारो लोकपालोंमें वैश्रवण लोकपालकी जातु सभाके देवोंके समान आयु है। वरुण लोकपालकी उससे भी कम आयु है और सोम

एवं यम लोकपालोंकी उससे भी कम आयु है। और यम लोकपालोंकी अभ्यंतर सभाओंमें आठ आठ देव हैं। मध्य सभाओंमें पचास पचास देव हैं और बाह्य सभाओंमें सौ सौ देव हैं। वरुण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें वीस देव हैं। मध्यसभामें सौ देव हैं और बाह्य सभामें दोसौ देव हैं। वैश्रवण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें वीस देव हैं। मध्य सभामें दोसौ देव हैं और बाह्य सभामें तीनसौ देव हैं।

चारो लोकपालोंकी चारो अभ्यंतर सभामें रहनेवाले देवोंकी आयु पंद्रह सागर प्रमाण है। चारो मध्य सभाओंके रहनेवाले देवोंकी आयु कुछ कम उतनी ही अर्थात् पंद्रह सागर प्रमाण तथा चारो बाह्य सभाके रहनेवाले देवोंकी आयु साढे तेरह सागर प्रमाण है। हर एक सभाओंके देवोंके क्रमसे वीस, पंद्रह और दश दश देवियां हैं अर्थात् अभ्यंतर सभाओंमें रहनेवाले प्रत्येक देवकी वीस वीस देवियां हैं। मध्य सभाओंमें रहनेवाले देवोंमेंसे प्रत्येक देवकी पंद्रह पंद्रह देवियां हैं एवं बाह्य सभाओंके प्रत्येक देव की दश दश देवियां हैं। इस प्रकार शुक्र स्वर्गका वर्णन कर दिया गया अब महाशुक्रका वर्णन इसप्रकार है—

महाशुक्र नामक इंद्रक विमानकी उत्तरदिशाके अठारह श्रेणिबद्ध विमानोंमें बारहवें विमानकी कल्प संज्ञा है। इसका वर्णन पहिले हीके समान है। इसका स्वामी महाशुक्र नामका इंद्र है। उसके कुछ कम वीस हजार विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। बारह हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, बारह हजार आत्मरक्ष देव और चार लोकपाल हैं श्रीमती आदि आठ पट्टदेवियां हैं और ढाईसै वल्लभिका हैं। इनमें प्रत्येक पट्टदेवी और वल्लभिका देवीकी आयु तेईस पल्यकी है। अन्य विशेष शुक्र इंद्रके समान समझ लेना चाहिये। तीन सभाओंका वर्णन भी शुक्र इंद्रके समान है।

सातो प्रकारकी सेनाओंमें सात सात कक्षाओंकी व्यवस्था है तथा प्रथम कक्षा वारह हजार देवोंकी है दूसरी कक्षा उससे दूने देवोंकी है इसीप्रकार आगे भी देवोंकी संख्याका दूनापन शुक्र इंद्रके समान समझ लेना चाहिये। आत्मरक्ष और पुष्पक नामके आभियोग्यका वर्णन भी शुक्र इंद्रके समान ही है।

दक्षिण आदि दिशाओंमें क्रमसे सम सर्वतोभद्र सुभद्र और समित ये चार विमान हैं और उनमें क्रमसे सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल रहते हैं। शुक्र इंद्रकी जातु नामक वाह्य सभाके देवोंकी जो आयु कह आये हैं उतनी ही आयुका धारक वरुण नामका लोकपाल है। उससे कुछ कम आयुका धारक वैश्रवण लोकपाल है तथा उससे भी कम आयुवाले सोम और यम नामके लोकपाल हैं शेष वर्णन शुक्र इंद्रके समान समझ लेना चाहिये। इस प्रकार महाशुक्र स्वर्गका भी वर्णन कर दिया गया। शतार और सहस्रार स्वर्गोंका वर्णन इसप्रकार है—

महाशुक्र नामक इंद्रक विमानके ऊपर लाखों योजनोंके अंतरसे सहस्रार नामका एक विमान पटल है और उसके दक्षिण और उत्तर भागोंमें शतार और सहस्रार ये दोनों स्वर्ग हैं। सहस्रार विमानकी दक्षिण दिशाके सत्रह श्रेणिवद्ध विमानोंमेंसे नववें विमानकी कल्प संज्ञा है। उसका स्वामी शतार नामका इंद्र है। उसके कुछ अधिक तीन हजार विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। चार हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, चार हजार आत्मरक्षक और चार लोकपाल हैं। पद्मा आदि उपर्युक्त नामोंकी धारण करनेवाली आठ पट्टदेवियां हैं। उनकी पच्चीस पल्यकी आयु है तथा प्रत्येक देवीके पांच पांचसै देवियोंका परिवार है और हर एक अपनी विक्रियासे पांच लाख बारह हजार देवियोंका रूप धारण करनेमें समर्थ है। बासठि बल्लभिका देवियां हैं। इनमें भी प्रत्येककी आयु पच्चीस

पच्चीस पल्य प्रमाण है और हर एक अपनी विक्रियासे पांच लाख बारह हजार देवियोंका रूप धारण करनेमें समर्थ है। शतार इंद्रकी अभ्यंतर सभाका नाम समिता है। उसमें ढाईसौ देव हैं। उनकी आयु कुछ अधिक सोलह सागर प्रमाण है और हर एक देवकी इकीस इकीस देवियां हैं। मध्यसभाका नाम चन्द्रा है। उसमें पांचसै देव हैं। उनकी कुछ कम सोलह सागरकी आयु है और हर एककी अठारह अठारह देवियां हैं। वाह्य सभाका नाम जातु है। चंद्रा सभाके देवोंकी अपेक्षा इनकी आयु कम है और प्रत्येककी पंद्रह पंद्रह देवियां है। समस्त सेनाओंके देव और महत्तरोंकी भी आयु जातु सभाके देवोंके समान है। पहिलेके समान पदाति आदिमें सात सात कक्षा यहां भी समझ लेनी चाहिये। पहिली कक्षामें चार हजार देव हैं और प्रत्येक देवके चालीस चालीस देवियां हैं। इसीप्रकार आगेकी कक्षाओंमें देव आदिकी संख्या दूनी दूनी समझ लेना चाहिये।

पूर्व आदि दिशाओंके स्वयंप्रभ आदि विमानोंमें रहनेवाले सोम आदि चार लोकपाल हैं। इन चारो लोकपालोंमें वैश्रवण लोकपालकी आयु जातु सभाके देवोंकी वरावर है। उससे कम वरुण लोकपालकी है। उससे भी कम सोम और यम लोकपालोंकी है। सोम और यम लोकपालोंकी अभ्यंतरसभामें पांच देव हैं। मध्य सभामें पच्चीस देव और वाह्य सभामें पचास देव हैं। वरुण लोकपालकी अभ्यंतर सभामें दश देव हैं। मध्य सभाके पचास और वाह्य सभाके एकसौ देव हैं। वैश्रवण लोकपालकी अभ्यंतर सभाके पंद्रह देव हैं। मध्य सभाके सौ और वाह्य सभाके दोसौ देव हैं।

चारो लोकपालोंकी चारों अभ्यंतर सभाओंके देवोंकी आयु सत्रह सागरप्रमाण है। चारो मध्य सभाओंके देवोंकी कुछ कम उतनी ही अर्थात् कुछ कम सत्रह सागरप्रमाण है और चारो वाह्य सभाओंके

देवोंकी साढे सोलह सागरप्रमाण है। इन देवोंमें क्रमसे पंद्रह, दश और पांच देवियां हैं अर्थात् अभ्यंतर सभाओंमें रहनेवाले देवोंकी पंद्रह पंद्रह देवियां हैं। मध्य सभाओंमें रहनेवाले देवोंकी दश दश देवियां हैं और वाह्य सभाओंमें रहनेवाले देवोंकी पांच पांच देवियां हैं। इसप्रकार शतार स्वर्गका वर्णन कर दिया गया, सहस्रार स्वर्गका वर्णन इसप्रकार है—

सहस्रार नामक इंद्रक विमानकी उत्तर श्रेणिके सत्रह विमानोंमेंसे नववें श्रेणिबद्ध विमानका नाम कल्प है। उसका कुल वर्णन पहिलेके समान है। इस कल्पका स्वामी सहस्रार नामका इंद्र है। इस सहस्रार इंद्रके कुछ कम तीन हजार सामानिक देव हैं। तेंतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। दो हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, दो हजार आत्मरक्ष देव और चार लोकपाल हैं। श्रीमती आदि उपर्युक्त नामवाली आठ पटरानी हैं और उनकी सत्ताईस सागरकी आयु है। शेष वर्णन शतार इंद्रके समान समझ लेना चाहिये। तथा सभा, आत्मरक्ष, सेना और आभियोग्यका वर्णन भी शतार इंद्रके समान समझ लेना चाहिये। विशेष इतना है कि—

पदाति सेनाकी प्रथम दो कक्षाएं दो हजार देवोंकी है। आगेकी कक्षा दूने दूने देवोंकी है। इसीप्रकार आगे सेनाओंमें भी समझ लेनी चाहिये। दक्षिण आदि दिशाके सम सर्वतोभद्र सुभद्र और समित नामके विमानोंमें रहनेवाले सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार लोकपाल हैं। इन चारों लोकपालोंमें प्रत्येक लोकपालके दो दोसौ सामानिक देव, साठि साठि देवियां, चार चार पट्टदेवियां और तीन तीन सभा हैं। शेष वर्णन शतार इंद्रके समान समझ लेना चाहिये। वरुण लोकपालकी आयु शतार इंद्रकी जातु नामक वाह्य सभाके देवोंके समान है। उससे कम आयु वैश्रवण लोकपालकी है और उससे

भी कम आयु सोम और यम लोकपालोंकी है । शेष वर्णन शतार इंद्रके समान समझ लेना चाहिये इसप्रकार सहस्रार स्वर्गका भी वर्णन कर दिया गया । आनत और प्राणत स्वर्गोंका वर्णन इसप्रकार है—

सहस्रार नामक इंद्रक विमानके ऊपर लाखों योजनोंके बाद आनत प्राणत आरण और अच्युत ये चार स्वर्ग हैं इनमें आनत १ प्राणत २ पुष्पक ३ सातक[1] ४ आरण ५ और अच्युत ६ ये छह इंद्रक विमान हैं अर्थात् आनत स्वर्गमें आनत प्राणत और पुष्पक ये तीन विमान हैं और अच्युत स्वर्गमें सातक आरण और अच्युत ये तीन विमान[2] हैं । आनत नामक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं अर्थात् श्रेणिबद्ध विमान हैं और विदिशाओंमें पुष्पकप्रकीर्णक विमान हैं। दिशाओंमें जो चार विमानोंकी श्रेणियां कही गई हैं उनमें प्रत्येक श्रेणिमें सोलह सोलह विमान हैं। इसीप्रकार आगेके पांच इंद्रक विमानोंकी दिशाओंमें भी श्रेणिबद्ध विमान और हर एक इंद्रक विमानकी अपेक्षा एक एक श्रेणिबद्ध विमान कम होता गया है अर्थात्—

आनत नामक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें सोलह सोलह श्रेणिबद्ध विमान हैं। प्राणत विमानकी चारो दिशाओंमें पंद्रह पंद्रह श्रेणिबद्ध विमान हैं। पुष्पक विमानकी चारो दिशाओंमें चौदह चौदह श्रेणिबद्ध विमान हैं। सातकर विमानकी चारो दिशाओंमें तेरह तेरह श्रेणिबद्ध विमान हैं आरण विमानकी चारो दिशाओंमें बारह बारह श्रेणिबद्ध विमान हैं और अच्युत नामक इंद्रक विमानकी चारो दिशाओंमें ग्यारह ग्यारह श्रेणिबद्ध विमान हैं।

(आरण) अच्युत विमानकी दक्षिण श्रेणिके ग्यारह विमानोंमें छठे विमानकी कल्पसंज्ञा है।

१—सातकर नाम भी है। २ हरिवंशपुराण पृष्ठ ९३।

उसका स्वामी आरण नामका इंद्र है। इस आरण इंद्रके कुछ अधिक साढे तीनसौ विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। एक हजार सामानिक देव हैं। तीन सभा हैं। सातप्रकारकी सेना है। एक हजार आत्मरक्ष और चार लोकपाल हैं। पद्मा आदि उपर्युक्त नामोंकी धारक आठ पट्ट देवियां हैं। उनकी अडतालीस पल्यकी आयु है। एक एक पट्टदेवी ढाई ढाईसै देवियोंसे परिवारित हैं और अपनी विक्रियासे दश दश लाख देवियोंके रूप धारण करनेमें समर्थ है। तथा पंद्रह बल्लभिका देवियां हैं। उनकी भी आयु अडतालीस पल्यकी है और हर एक बल्लभिका अपनी विक्रियासे दश दश लाख देवियोंका रूप धारण कर सकती है।

आरण इंद्रकी अभ्यंतर सभाका नाम समिता है। उसमें दो हजार पांचसौ देव हैं। प्रत्येककी कुछ अधिक बीस बीस सागरकी आयु है हर एकके दश दश देवियां हैं। मध्यसभाका नाम चंद्रा है। उसमें ढाईसै देव हैं। उसमें रहनेवाले प्रत्येक देवकी कुछ कम बीस बीस सागरकी आयु है और हर एककी आठ आठ देवियां हैं। वाह्य सभाका नाम जातु है। उसमें पांचसौ देव हैं। प्रत्येक देवकी साढे उन्नीस उन्नीस सागरकी आयु है और छह छह देवियां हैं। सातोप्रकारकी सेनाओंमें प्रत्येक सेनाकी सात सात कक्षा हैं। उनमें पदाति सेनाकी प्रथम कक्षा एक हजार देवोंकी है। सेनाके समस्त देव और समस्त महत्तरोंमें प्रत्येककी तीस तीस देवियां हैं। आत्मरक्ष देवोंमेंसे भी प्रत्येककी तीस तीस देवियां हैं। वाहक नामके अभियोग्य देवकी चन्द्रा सभामें रहनेवाले देवोंकी अपेक्षा कुछ कम आयु है और तीस देवियां हैं।

पूर्व आदि दिशाओंके स्वयंप्रभ आदि विमानोंमें रहनेवाले सोम यम वरुण और वैश्रवण ये चार

लोकपाल हैं। इन चारों लोकपालोंमेंसे प्रत्येक लोकपालके सौ सौ सामानिक देव हैं। बत्तीस बत्तीस देवियां हैं। चार चार पट्टदेवी और तीन तीन सभा हैं। जातु सभाके देवोंकी जो आयु कह आये हैं उतनी आयुका धारक तो वैश्रवण लोकपाल है। उससे कम आयुका धारक वरुण लोकपाल है। उससे कम आयुके धारक सोम और यम लोकपाल हैं। सोम और यम लोकपालोंकी अभ्यंतर सभाओंमें तीन २ देव हैं। मध्यसभाओंमें बारह बारह देव हैं और वाह्य सभाओंमें पच्चीस पच्चीस देव हैं। वरुणकी अभ्यंतर सभामें पांच देव हैं। मध्यसभामें पच्चीस देव हैं और वाह्य सभामें पचास देव हैं वैश्रवणकी अभ्यंतर सभामें छह देव हैं। मध्यसभामें पचास देव हैं और वाह्य सभामें सौ देव हैं। उनकी क्रमसे इकीस सागर, कुछ कम इकीस सागर और साढे वीस सागर प्रमाण आयु है। अर्थात्—अभ्यंतर सभामें रहनेवाले देवोंकी आयु इकीस सागरकी है। मध्यसभामें रहनेवाले देवोंकी कुछ कम इकीस सागरकी है एवं वाह्य सभामें रहनेवाले देवोंकी साढे बीस सागरकी है। तथा क्रमसे सात पांच और तीन देवियां हैं अर्थात् अभ्यंतर सभामें रहनेवाले प्रत्येक देवके सात सात देवियां हैं। मध्यसभामें रहनेवाले प्रत्येक देवके पांच पांच देवियां हैं और वाह्य सभामें रहनेवाले प्रत्येक देवके तीन तीन देवियां हैं।

आरण अच्युत विमानकी उत्तर श्रेणिके ग्यारह विमानोंमेंसे छठे विमानकी कल्प संज्ञा है। उसका कुल वर्णन पहिलेके समान है। इसका स्वामी अच्युत नामका इंद्र है। इस अच्युत नामक इंद्रके कुछ घाटि साढे तीनसै विमान हैं। तेतीस त्रायस्त्रिंश देव हैं। एक हजार सामानिक देव, तीन सभा, सात प्रकारकी सेना, एक हजार आत्मरक्ष देव और चार लोकपाल हैं। श्रीमती आदि उपर्युक्त नामोंकी धारक आठ पट्टदेवियां हैं और उनकी पचपन पल्यकी आयु है। वल्लभिका देवियां पंद्रह हैं और उनकी

भी पचपन पल्यकी आयु है। शेष वर्णन आरण इंद्रके समान समझ लेना चाहिये तथा सभा आदिका विधान भी आरण इंद्रके ही समान है। विशेष इतना है कि—

चारो लोकपालोंमें वरुण लोकपालकी अधिक आयु है। उससे कम आयु वैश्रवण लोकपालकी है। उससे कम आयु सोम और यम लोकपालोंकी है। इसप्रकार लोकानुयोगके उपदेशकी अपेक्षा यहां चौदह इंद्रोंका वर्णन किया गया है वास्तवमें तो बारह ही इंद्र हैं क्योंकि पूर्वोक्त क्रमसे ब्रह्मोत्तर कापिष्ठ महाशुक्र और सहस्रार स्वर्गोंके इंद्र दक्षिण दिशाकी ओरके इंद्रोंके अनुवर्ती हैं और आनत एवं प्राणत स्वर्गोंमें एक एक इंद्र स्वतंत्र है। अर्थात् सौधर्म और ऐशान इस एक युगलमें दो इंद्र, सानत्कुमार और माहेंद्र इस एक युगलमें दो इंद्र, ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ इन दो युगलोंमें दो इंद्र, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार इन दो युगलोंमें दो इंद्र, आनतमें एक इंद्र, प्राणतमें एक इंद्र, आरणमें एक इंद्र और अच्युतमें एक इंद्र इसप्रकार सोलह स्वर्गोंमें बारह इंद्रोंकी व्यवस्था है। इसप्रकार सौधर्म आदि स्वर्गोंका वर्णन कर दिया गया अब उनके विमानोंका निरूपण किया जाता है—

सौधर्म स्वर्गमें बत्तीस लाख विमान हैं यह बात ऊपर कह दी गई है। उनमें कितने श्रेणिबद्ध हैं और कितने पुष्पप्रकीर्णक हैं यह भी बात कह दी गई है। ऐशान स्वर्गमें अट्ठाईस लाख विमान हैं। उनमें चौदह सौ सत्तावन तो श्रेणिबद्ध विमान हैं और सत्ताईस लाख अठानवे हजार पांचसौ तेतालीस पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं। सानत्कुमार स्वर्गमें बारह लाख विमान हैं उनमें पांचसौ पिचानवे तो श्रेणिबद्ध विमान हैं और ग्यारह लाख निन्यानवे हजार चारसौ पांच पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं। माहेंद्र स्वर्गमें आठ लाख विमान हैं उनमें एकसौ छियानवे श्रेणिबद्ध विमान हैं और सात लाख निन्यानवे हजार आठसै चार

प्रकीर्णक विमान हैं। ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर स्वर्गोंमें चार लाख विमान हैं। उनमें तीनसे चौसठ तो श्रेणिबद्ध विमान हैं और तीन लाख निन्यानवे हजार छहसै छत्तीस प्रकीर्णक विमान हैं। लांतव और कापिष्ठ स्वर्गोंमें पचास हजार विमान हैं उनमें एकसौ अट्ठावन श्रेणिबद्ध विमान हैं और उनचास हजार आठसै बियालीस प्रकीर्णक विमान हैं। शुक्र और महाशुक्र स्वर्गोंमें चालीस हजार विमान हैं उनमें श्रेणिबद्ध विमान तिहत्तर हैं और उनतालीस हजार नौसै सत्ताईस प्रकीर्णक विमान हैं। शतार और सहस्रार स्वर्गोंमें छह हजार विमान हैं उनमें श्रेणिबद्ध विमान उनहत्तर हैं और उनसठिसौ इकतीस प्रकीर्णक विमान हैं। आरण और अच्युत स्वर्गोंमें सातसै विमान हैं उनमें तीनसौ तीस श्रेणिबद्ध विमान और तीनसौ सत्तर प्रकीर्णक विमान हैं। इसप्रकार इन चौदह स्वर्गोंमें कुल विमान चौरासी लाख छ्यानवे हजार सातसौ हैं।

आरण और अच्युत स्वर्गोंके ऊपर लाखों योजनोंके बाद अधोग्रैवेयक विमान हैं। उनमें सुदर्शन अमोघ और सुप्रबुद्ध नामके तीन विमानोंके पटल हैं। सुदर्शन विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं। और एक एक विमानश्रेणिमें दश दश विमान हैं। सुदर्शन पटलके ऊपर लाखों योजनोंके बाद अमोघ नामका विमानपटल है। उसकी चारो दिशाओंमें चार विमानश्रेणियां हैं और प्रत्येक श्रेणिमें नौ नौ विमान हैं। अमोघ पटलके ऊपर लाखों योजनोंके बाद सुप्रबुद्ध नामका विमानपटल है। उसकी

१—आनत प्राणत आरण और अच्युत इन चारो स्वर्गोंके विमानोंका एक साथ संकलन है। इसलिये श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक विमानोंका उल्लेख करते समय सोलह स्वर्गोंका उल्लेख न कर चौदह स्वर्गोंका ही उल्लेख किया गया है। आनत और प्राणत स्वर्गोंके श्रेणिबद्ध और प्रकीर्णक विमान आरण और अच्युतके विमानोंमें अन्तर्भूत हैं।

चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं और प्रत्येक श्रेणिमें आठ आठ श्रेणिबद्ध विमान हैं। इन तीनों पटलोंमें प्रकीर्णक विमान नहीं हैं। तीनों पटलोंके मिलकर कुल विमान एकसौ ग्यारह हैं।

सुप्रबुद्ध पटलके ऊपर लाखों योजनोंके बाद मध्यम ग्रैवेयक विमान हैं। इन मध्यम ग्रैवेयक विमानोंमें यशोधर भद्र और विशाल ये तीन पटल हैं। पहिलेके समान यहांपर भी एक एक विमानकी हानिसे पिचहत्तर श्रेणिबद्ध विमान हैं। अर्थात्—"यशोधर विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं एवं प्रत्येक विमानश्रेणिमें सात सात विमान हैं। सुभद्र विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं और प्रत्येक श्रेणिमें छह छह विमान हैं। तथा विशाल विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानश्रेणियां हैं और प्रत्येक श्रेणिमें पांच पांच श्रेणिबद्ध विमान हैं।" इसप्रकार मध्यग्रैवेयकोंमें श्रेणिबद्ध विमान पचहत्तर हैं और बत्तीस पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं, सब मिलकर एकसौ सात विमान हैं।

सुविशाल पटलके ऊपर लाखों योजनोंके बाद उपरिम ग्रैवेयक विमान हैं। उनमें सुमन सौमन और प्रीतिंकर ये तीन पटल हैं। पहिलेके समान यहां भी एक एक विमानकी कमीसे उनतालीस श्रेणिबद्ध विमान हैं अर्थात् सुमन विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानोंकी श्रेणियां हैं और हर एक विमानश्रेणिमें चार चार श्रेणिबद्ध विमान हैं। सौमन विमानकी चारो दिशाओंमें चार विमानश्रेणियां हैं और प्रत्येकमें तीन तीन श्रेणिबद्ध विमान हैं। तथा प्रीतिंकर विमानकी चारो दिशाओंमें विमानोंकी चार श्रेणियां हैं और प्रत्येक श्रेणिमें दो दो विमान हैं इसप्रकार उपरिम ग्रैवेयकोंमें श्रेणिबद्ध विमान उनतालीस हैं और बावन पुष्पप्रकीर्णक विमान हैं सब मिलकर कुल विमान इक्यानवे हैं।

प्रीतिंकर विमानसे, ऊपर लाखों योजनोंके बाद नव अनुदिश विमान हैं। उनमें एक आदित्य

नामका विमान पटल है। उसकी दिशा और विदिशाओंमें चार चार श्रेणिबद्ध विमान हैं। उनमें पूर्व दिशामें अर्चि नामका विमान है। दक्षिण दिशामें अर्चिमाली नामका विमान है। पश्चिममें वैरोचन और उत्तरमें प्रभास नामका विमान हैं तथा सबके बीचमें आदित्य नामका विमान है। विदिशाओंमें चार प्रकीर्णक विमान हैं। उनमें पूर्व दक्षिण कोणमें अर्चिःप्रभ है। दक्षिण और पश्चिम कोणमें अर्चिर्मध्य, पश्चिम और उत्तर कोणमें अर्चिरावर्त और उत्तर पूर्व कोणमें अर्चिर्विशिष्ट है। ये कुल नौ विमान हैं।

आदित्यपटलके ऊपर लाखों योजनोंके बाद अनुत्तर विमान हैं। वहांपर सर्वार्थसिद्धि नामका एक पटल है। पूर्व आदि चारो दिशाओंमें प्रदक्षिणास्वरूप विजय वैजयंत जयंत और अपराजित ये चार विमान हैं और मध्यम सर्वार्थसिद्धि विमान हैं। अनुत्तरोंमें पुष्पप्रकीर्णक विमान नहीं हैं।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके विमानोंकी मूलतलमें मुटाई एकसौ सत्ताईस योजन प्रमाण है और मूलतलसे ऊंचाई पांचसौ योजन प्रमाण है तथा सानत्कुमार माहेंद्र, ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार, आनत प्राणत आरण और अच्युत, नव ग्रैवेयक अनुदिश और अनुत्तर विमानोंकी मुटाई एक एक योजन कम और ऊंचाई सौ सौ योजन अधिक समझ लेनी चाहिये। अर्थात्—सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंकी मुटाई एकसौ छव्वीस योजन और ऊंचाई छहसौ योजन है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ इन स्वर्गोंमें मुटाई एकसौ पचीस योजन और ऊंचाई सातसौ योजन प्रमाण है। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गोंमें मुटाई एकसौ चौवीस योजन और ऊंचाई आठसौ योजन प्रमाण है। आनत प्राणत आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंमें मुटाई

१—हरिवंशपुराणमें यहांपर कथनमें भेद है।

एकसौ तेईस योजन और ऊंचाई नौसौ योजन प्रमाण है । नौ ग्रैवेयकोंमें मुटाई एकसौ वाईस योजन और ऊंचाई एकहजार योजन प्रमाण है। अनुदिशोंमें मुटाई एकसौ इक्कीस योजन और ऊंचाई ग्यारहसौ योजन की है तथा अनुत्तरोंमें मुटाई एकसौ वीस योजन और ऊंचाई बारहसौ योजन प्रमाण है।

ऊपर जो श्रेणिबद्ध इंद्रक और प्रकीर्णक विमान कहे गये हैं उनमें बहुतसे विमान संख्येय योजन विस्तार वाले हैं बहुतसे असंख्यात योजन लंबे विस्तारवाले हैं । जो विमान संख्येय योजन विस्तार-वाले हैं उन्हें संख्यातसौ योजन विस्तारवाले समझ लेना चाहिये और जो विमान असंख्येय योजन विस्तारवाले हैं उन्हे असंख्यातसौ योजन विस्तारवाले समझ लेना चाहिये। विस्तार इस प्रकार है—

संख्यात योजन विस्तारवाले विमान सौधर्म स्वर्गमें छह लाख चालीस हजार हैं। ईशान स्वर्गमें पांच लाख साठ हजार हैं । सानत्कुमार स्वर्गमें दो लाख चालीस हजार, माहेंद्रमें एक लाख साठ हजार, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर दोनों स्वर्गोंमें मिलाकर अस्सी हजार, लांतव और कापिष्ठमें दश हजार, शुक्र स्वर्गमें चार हजार चार, महाशुक्रमें तीन हजार नौसौ छयानवे, शतार और सहस्रार स्वर्गोंमें वारहसौ, आनत और प्राणत स्वर्गोंमें अठासी एवं आरण और अच्युतमें वावन विमान हैं । ये समस्त संख्यात योजन चौडे विमान हैं और असंख्यात योजन चौडे विमान इनसे चौगुने हैं। ग्रैवेयकोंमें इंद्रक विमान तो संख्यात योजन और श्रेणिबद्ध विमान कोई संख्यात और कोई असंख्यात योजन चौडे हैं। समस्त संख्यात योजन विस्तारवाले विमान सोलह लाख निन्यानवे हजार तीनसौ अस्सी हैं और असंख्यात योजन चौडे विमान सडसठ लाख सत्तानवे हजार छहसौ उनचास हैं।

१—हरिवंशपुराण पृष्ठ संख्या ९४। विमानोंकी गहराई चौडाई आदिका विशेष वर्णन हरिवंशपुराणसे समझ लेना चाहिये।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके विमान कृष्ण नील रक्त पीत और श्वेत पंचवर्ण हैं। सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंके विमान कृष्ण वर्णके सिवाय शेष वर्णवाले हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गोंके विमान कृष्ण और नीलके सिवाय लाल पीले और सफेद हैं। शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गोंके विमान पीले और सफेद दो ही वर्णवाले हैं। ग्रैवेयक अनुदिश और अनुत्तर विमान केवल सफेद वर्णके ही हैं। तथा सर्वार्थसिद्धि विमान परम शुक्ल वर्णका है। यहांपर इतना ऊपरसे विशेष और समझ लेना चाहिये—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके विमान घनोदधिके आधार हैं। सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंके विमान घनवात वलयके आधार हैं। ब्रह्म स्वर्गसे बारहवें सहस्रार स्वर्गपर्यंतके विमान घनोदधि और घनवात दोनों वलयोंके आधार हैं और शेष विमान आकाशमें टिके हुये हैं समस्त स्वर्गोंमें अपने अपने श्रेणिबद्ध विमानोंमें इंद्रोंका निवास है। प्रत्येक युगलके आदि स्वर्गोंमें अर्थात् सौधर्म १ सानत्कुमार २ ब्रह्म ३ शुक्र ४ आनत ५ और आरण ६ में रहनेवाले इंद्र दक्षिण दिशामें और ऐशान १ माहेंद्र २ लांतव ३ शतार ४ प्राणत ५ और अच्युत स्वर्गोंमें रहनेवाले इंद्र उत्तर दिशामें रहते हैं ॥ १९ ॥

जिन वैमानिक देवोंका ऊपर उल्लेख किया गया है उनकी आपसमें विशेषता प्रतिपादन करनेके लिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

१—आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गोंके विमानोंको हरिवंशपुराणमें केवल श्वेतवर्ण कहा है। २ हरिवंशपुराण पृष्ठ संख्या ९५।

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोधिकाः ॥ २० ॥

आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धता, इंद्रियविषय और अवधिज्ञानका विषय ये सब बातें ऊपर ऊपरके वैमानिक देवोंमें अधिक अधिक हैं।

स्वोपात्तायुष उदयात् स्थानं स्थितिरिति ॥ १ ॥

अपने द्वारा उपार्जित देवायु कर्मके उदयसे उस देव पर्यायमें ही देवोंका शरीरमें रहनेका नाम स्थिति है।

शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः ॥ २ ॥

अनिष्ट बातका कहना अर्थात् तेरा बुरा हो, तेरा अमुक पदार्थ नष्ट हो जाय, इत्यादि अनिष्ट वचनोंका उच्चारण करना शाप है और इष्ट बातका कहना अर्थात् तुझे उत्तम पुत्रकी प्राप्ति हो, धनसंपत्ति मिले इसप्रकार इष्ट वचनोंका उच्चारण करना अनुग्रह है। शाप और अनुग्रह करनेकी शक्तिका नाम प्रभाव है। प्रवृद्धो भावः प्रभावः अर्थात् जो बढा हुआ भाव हो उसका नाम प्रभाव है।

सद्वेद्योदये सतीष्टविषयानुभवनं सुखं ॥ ३ ॥

सुखके मूलकारणस्वरूप सातावेदनीयके उदयसे इच्छानुसार स्त्री विभूति आदि बाह्य पदार्थोंके प्राप्त हो जानेपर जो उनके विषयका अनुभव—रसास्वादन करना है उसका नाम सुख है।

शरीरवसनाभरणादिदीप्तिर्द्युतिः ॥ ४ ॥

शरीर वस्त्र और भूषण आदि पदार्थोंकी दीप्तिका नाम द्युति है।

लेश्याशब्द उक्तार्थः ॥ ५

कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल ये छह भेद लेश्याओंके ऊपर कह दिये गये हैं। लेश्या शब्दका अर्थ भी कह दिया गया है। लेश्याओंकी जो विशुद्धता हो उसका नाम लेश्याविशुद्धि है।

इंद्रियावधिभ्यां विषयाभिसंबंधः ॥ ६ ॥ इतरथा हि तदाधिक्यप्रसंगः ॥ ७ ॥

सूत्रमें जो विषय शब्द है उसका इंद्रिय और अवधि दोनोंके साथ संबंध है। इंद्रियं च अवधिश्च, इंद्रियावधी तयोर्विषयः, इंद्रियावधिविषयः, यह इंद्रियावधिविषय शब्दकी व्युत्पत्ति है। अर्थात् आगे आगेके देवोंमें इंद्रियां और अवधि ज्ञानका विषय अधिक अधिक है। यदि विषयके साथ इंद्रिय शब्दका संबंध नहीं किया जायगा तो आगे आगे स्वर्गोंके देवोंमें इंद्रियां अधिक अधिक हैं यह अनिष्ट अर्थ होगा जो कि शास्त्रविरुद्ध होनेसे अनिष्ट है इसलिये विषय शब्दके साथ इंद्रिय शब्दका संबंध इष्ट है। विशेष सार—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंकी स्थिति कुछ अधिक दो सागर प्रमाण है। सानत्कुमार और माहेंद्र देवोंकी स्थिति कुछ अधिक सात सागरकी है इस प्रकार पहिले पहिले स्वर्गोंकी अपेक्षा आगे आगेके स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंकी स्थिति अधिक अधिक है। जो पहिले दूसरे स्वर्गोंके देवोंका प्रभाव है उससे अधिक तीसरे चौथे स्वर्गोंके देवोंका है उससे अधिक पांचवे छठे स्वर्गोंके देवोंका है इत्यादि रूपसे प्रभाव भी उत्तरोत्तर देवोंका अधिक है। सुख और कांति भी पहिले पहिले स्वर्गोंके देवोंकी अपेक्षा आगे आगेके स्वर्गोंके देवोंमें अधिक है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंके पीत लेश्या है। सानत्कुमार और माहेंद्र देवोंके पीत और पद्म दोनों लेश्या हैं। ब्रह्म लोक और ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ

१—कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या।

स्वर्गोंके देवोंमें पद्म लेश्या है इत्यादि रूपसे आगे आगेके स्वर्गोंके देवोंमें पहिले पहिलेके स्वर्गोंके देवोंकी अपेक्षा लेश्याकी भी अधिक अधिक विशुद्धता है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंकी इंद्रियां जितने पदार्थोंको विषय करती हैं उससे अधिक पदार्थोंको सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंके देवोंकी इंद्रियां करती हैं उससे अधिक ब्रह्म ब्रह्मोत्तर आदि स्वर्गोंके देवोंकी इंद्रियां करती हैं इत्यादि रूपसे पहिले पहिले स्वर्गोंके देवोंकी अपेक्षा आगे आगेके स्वर्गोंके देवोंकी इंद्रियोंका विषय अधिक अधिक है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें रहनेवाले देव अवधिज्ञानसे नीचे प्रथम नरक तकके ही पदार्थ जान सकते हैं। सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गवासी देवोंके अवधि ज्ञानका विषय दूसरे नरक तक, पांचवें छठे सातवें और आठवें स्वर्गनिवासी देवोंका तीसरे नरक तक, नववें दशवें ग्यारहवें और बारहवें स्वर्गके देवोंका चौथे नरक तक, तेरहवें चौदहवें पंद्रहवें और सोलहवें स्वर्गोंके देवोंके पांचवें नरक तक, नव ग्रैवेयक निवासी देवोंका छटे नरक तक, नव अनुदिश विमानवासी देवोंका सातवें नरक तक और पंचोत्तर विमानवासी देवोंका लोकनाडतिक अवधिज्ञानका विषय है। तथा ऊपरकी ओर यदि देवगण अपने अवधिज्ञानसे पदार्थोंको जानना चाहें तो अपने अपने विमानोंके ध्वजदंड तकके ही पदार्थ जान सकते हैं।

स्थितिग्रहणमादौ तत्पूर्वकत्वादितरेषां ॥ ८ ॥

स्थितिप्रभावेत्यादि सूत्रमें जो स्थिति प्रभाव आदिका उल्लेख किया गया है उनमें प्रभाव आदिकी सत्ता स्थितिके आधीन है अर्थात् जिनकी स्थिति है उन्हीं देवोंके प्रभाव आदि दीख पडते हैं किंतु जिनकी स्थिति नहीं है उनके नहीं दीख पडते इसलिये सबमें प्रधान होनेसे स्थिति शब्दका पहिले उल्लेख किया गया है अर्थात् यदि स्थिति होगी तो प्रभावादिक हो सक्ते हैं अन्यथा नहीं।

तेभ्यस्तैर्वाऽधिका इति तसिः ॥ ९ ॥

उत्तरोत्तर देव; स्थिति आदिसे अधिक हैं यह अर्थ पंचमी विभक्तिके अर्थमें तासि प्रत्यय करनेपर भी होता है और तृतीया विभक्तिके अर्थमें तासि प्रत्यय करनेपर भी होता है। जहांपर पंचमी विभक्तिके अर्थमें तासि प्रत्यय किया जायगा उस समय तो 'अपादानेऽहीयरुहोः' ४। २। ६२। अर्थात् हीय और रुह धातुको छोडकर अन्य धातु संबंधी अपादान अर्थमें जो पंचमी विभक्ति हो तो उस पंचम्यंत पदसे तासि प्रत्यय होता है, इससूत्रसे तासि प्रत्ययका विधान मान 'विषयतः' यह सिद्ध हुआ है तथा जहां-पर तृतीया अर्थमें तासि प्रत्यय किया जायगा उस समय विषय शब्दका आद्यादि गणमें पाठ मानकर 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानं' इस सूत्रसे तासि प्रत्यय कर 'विषयतः' यह सिद्ध हुआ है।

'उपर्युपरि' और 'वैमानिकाः' इन दो शब्दोंकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति है इसलिये ऊपर ऊपरके वैमानिक देव हर एक कल्पमें और हर एक पटलमें स्थिति आदिसे अधिक हैं यह इस सूत्रका निष्कर्ष अर्थ है। स्थिति उत्कृष्ट और जघन्यके भेदसे दो प्रकारकी है। दोनों ही प्रकारकी स्थितिका वर्णन आगे किया जायगा। यहांपर इससूत्रमें जो स्थिति शब्दका उल्लेख किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि जिनकी स्थिति समान है उनमें भले ही स्थितिकी अधिकता न हो परंतु गुणोंकी अधिकता है। निग्रह अनुग्रह विक्रिया पराभियोग अर्थात् अपकारकी इच्छासे दूसरेको दवाना आदि कार्योंमें जो प्रभाव

१—हीयरुहर्वाजतस्य धोः सम्बधिन्यपादाने या का विहिता तदंतात्तसिर्वा भवति। ग्रामादागच्छति ग्रामतः। उपाध्यायादधीते, उपाध्यायतोऽधीते। अहीयरुहोरिति किं ? सार्थाद्धीनः पर्वतादवरोहति। शब्दार्णवचंद्रिका पृष्ठ १३८। २ शब्दार्णवचंद्रिकामें इस सूत्रको जगह 'आद्यादिभ्यस्तसिः' ४। २। ६०। यह सूत्र है। ३ प्राचीन भाषामें "पराभियोग्य कहिये उत्कृष्ट धर्म कार्य आदिके विषे" यह अर्थ किया गया है।

सौधर्म स्वर्गके देवोंका है उससे ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंमें अनंतगुणा है परंतु उनके अभिमानकी मंदता है और किसीसे किसी प्रकारका उनके परिणामोंमें संक्लेश भी नहीं होता इसलिए वे किसीका निग्रह आदि नहीं करते। सुख आदिकी भी ऊपर ऊपर अधिकता है। लेश्याकी विशुद्धिका वर्णन आगे किया गया है। यहांपर जो लेश्या शब्दका उल्लेख किया गया है उसका खास तात्पर्य यह है कि जहांपर लेश्याओंकी समानता है वहांपर भी कर्मोंकी विशुद्धि अधिकाधिक है ॥ २० ॥

पहिले पहिले स्वर्गोंके देवोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके स्वर्गोंके देव जिसप्रकार स्थिति आदिसे अधिक अधिक हैं उसीप्रकार क्या गति शरीर आदिसे भी अधिक अधिक हैं? सूत्रकार इस शंकाका समाधान देते हैं—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

गमन, शरीरकी ऊंचाई, परिग्रह और अभिमान इन विषयोंमें ऊपर ऊपरके देव हीन हैं।

देशांतरप्राप्तिहेतुर्गतिः ॥ १ ॥

वाह्य और अंतरंग दोनों प्रकारके कारणोंसे जो शरीरके भीतर हलन चलनका उत्पन्न होना है इसीका नाम गति है।

शरीरमुक्तलक्षणं ॥ २ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण इन पांच शरीरोंका पीछे जो वर्णन किया गया है वहांपर शरीर शब्दकी व्याख्या कर दी गई है।

लोभकषायोदयान्मूर्छा परिग्रहः ॥ ३ ॥

लोभ कषाय नामक कषायवेदनीय कर्मके उदयसे 'यह मेरा है' इसप्रकारका जो मूर्छारूप संकल्प है उसका नाम परिग्रह है।

मानकषायोदयापादितोऽभिमानः ॥ ४ ॥

मानकषायरूप कषायवेदनीय कर्मके उदयसे जो 'मैं भी हूं' इत्यादि स्वरूप अहंकारका उत्पन्न होना है वह अभिमान है। गतिश्च शरीरं च परिग्रहश्च अभिमानश्च गतिशरीरपरिग्रहाभिमानाः, तैः, गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः। यह सूत्रस्थ "गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः" इस शब्दकी व्युत्पत्ति है। इसका आद्यादिगणमें पाठ होनेसे 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानं' इससे तसि प्रत्यय हुआ है। यदि यहांपर गतिशरीरपरिग्रहाभिमानेभ्यः, इति गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः, यह अपादानकी विवक्षा की जायगी तो तसि प्रत्यय न होगा क्योंकि 'अपादानेऽहीयरुहोः' इस सूत्रसे हीय और रुह धातुओंके संबंध न रहनेपर अपादान अर्थमें तसि प्रत्ययका विधान माना है। सूत्रमें 'हीनाः' पदका उल्लेख रहनेसे यहां हीय धातुका योग है इसलिए 'अभिमानतः' यहांपर अपादान अर्थमें तसि प्रत्ययकी योग्यता नहीं हो सकती।

गतिगृहेणमादौ लक्षणद्वययोगात ॥ ५ ॥

व्याकरण शास्त्रमें सु और घि संज्ञा मानी है जो शब्द सु और घि संज्ञक होते हैं द्वंद्व समासमें उनका 'द्वंद्वे सुघिसः' इस सूत्रसे पूर्व निपात होता है। तथा जिन शब्दोंमें थोडे स्वर रहते हैं उनका भी अल्पा-

१—शब्दार्णवचंद्रिकामें 'द्वंद्वेसुघिसः' इस सूत्रकी जगह द्वंद्वे घिस्वेकं १। ३। ११२। द्वंद्वे घिसंज्ञं सुसंज्ञं चैकं पूर्वं प्रयोक्तव्यं। २ द्वंद्वे सेऽल्पाच्तरमेकं पूर्वं प्रयुज्यते। धवखदिरौ। वाग्वायू। प्लक्षन्यग्रोधं।

न्तरं १।२।११४। इस सूत्रसे पूर्वनिपात होता है। गति शब्द अग्नि आदि शब्दोंके समान इकारांत है। एवं सूत्रमें शरीर आदि जितने शब्द हैं उनकी अपेक्षा थोडे स्वरवाला भी है इसलिए घिसंज्ञक और अल्पान्तर इन दो व्याकरणके नियमोंके भीतर प्रविष्ट होनेसे गतिशरीरपरिग्रहेत्यादि सूत्रमें सबसे पहिले गति शब्दका उल्लेख किया गया है।

ततः शरीरगृहणं तस्मिन् सति परिगृहोपपत्तेः॥ ६॥

सूत्रमें गतिके बाद शरीर शब्दका उल्लेख किया है क्योंकि शरीरकी विद्यमानतामें ही परिग्रहका संभव है अर्थात् शरीरके रहते ही यह मेरा है ऐसी बुद्धिका प्रादुर्भाव होता है। इसलिए परिग्रहसे पहिले शरीर शब्दका उल्लेख सार्थक है। शंका—

तद्वत्त्वेऽपि केवलिनः परिग्रहेच्छाभाव इति चेन्न देवाधिकारात्॥ ७॥

शरीरके रहते ही परिग्रह—यह मेरा है ऐसा संकल्प होता है और शरीरके अभावमें नहीं होता है ऐसा ऊपर कहा गया है परंतु वह अयुक्त है क्योंकि केवली भगवानके शरीर विद्यमान है परंतु यह मेरा है ऐसा उनके संकल्प नहीं होता है इसलिए 'यहां परिग्रह है क्योंकि यहां शरीर है' इस अनुमानमें जो शरीरत्व हेतु परिग्रहकी सत्ता सिद्ध करनेकेलिए दिया गया है वह व्यभिचार दोषग्रस्त है? सो ठीक नहीं। यहांपर राग और द्वेषके धारक देवोंका अधिकार है उनके शरीर रहते परिग्रहकी अभिलाषा अवश्य है इसलिए रागादिवान देवोंको पक्ष माननेपर शरीरवत्त्वहेतु व्यभिचरित नहीं कहा जा सकता।

तन्मूलत्वात्तदनंतरमभिमानग्रहणं॥ ८॥

संसारमें यह बात स्पष्टरूपसे दीख पडती है कि जिस मनुष्यके पास जितना परिग्रह रहता है उसे

उतना ही अधिक अभिमान होता है। शतपतिकी अपेक्षा हजारपतिको अधिक अभिमान होगा। हजारपतिकी अपेक्षा लखपति और लखपतिकी अपेक्षा करोडपति आदिको होगा इसलिए अभिमानकी उत्पत्तिमें परिग्रह कारण होनेसे परिग्रहके बाद सूत्रमें अभिमान शब्दका उल्लेख किया गया है। इस सूत्रमें भी उपर्युपरि और वैमानिक शब्दकी अनुवृत्ति है इसलिए ऊपर ऊपरके देवोंमें गति आदि कम कम होते चले गये हैं यह यहां तात्पर्य है। खुलासा इसप्रकार है—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंको नवीन नवीन पदार्थोंके देखनेका विशेष कुतूहल रहता है अथवा बार बार अधिक दूर जानेमें उन्हें अधिक आनंद मिलता है इसलिए क्रीडाकी अभिलाषासे उनकी गति अधिक लंबे क्षेत्र तक होती है। आगे आगेके स्वर्गोंके देवोंके विषयोंके ग्रहण करनेकी अभिलाषाकी उत्कटता रहती नहीं एवं गतिमें वह उत्कटता ही कारण है इसलिए उत्तरोत्तर उनकी गति हीन होती चली जाती है। देवोंके शरीरका परिमाण इसप्रकार है—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंका शरीर सात अरत्नि[1] (हाथ) प्रमाण है। सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंके देवोंका छह हाथ प्रमाण, ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गोंके देवोंका पांच हाथ प्रमाण, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गोंके देवोंका चार हाथ प्रमाण, आनत प्राणत स्वर्गोंके देवोंका साढे तीन हाथ प्रमाण, आरण और अच्युत स्वर्गोंका तीन हाथ प्रमाण, अधो ग्रैवेयकके देवोंका ढाई हाथ प्रमाण, मध्यग्रैवेयक देवोंका दो हाथ प्रमाण, उपरिम ग्रैवेयक और अनुदिश विमानोंमें रहनेवाले देवोंका डेढ हाथ प्रमाण और अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देवोंका शरीर एक हाथ प्रमाण

१—एक इञ्च कम एक हाथको अरत्नि कहते हैं।

है। विमान परिवार आदि स्वरूप परिग्रह भी नीचे नीचेके स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंके कम है यह बात पहिले कही जा चुकी है। परिग्रह और अभिमानकी ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंमें क्यों हीनता है ? वार्तिककार इसविषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशावधिविशुद्धितत्त्वावलोकनसंवेगपरिणामानामुत्तरोत्तराधिक्यादभिमानहानिः ॥ ९॥

कषायोंकी अत्यंत मंदतासे थोडा संक्लेश होता है संक्लेशकी अल्पतासे अवधिज्ञानमें विशुद्धता होती है तथा संक्लेशसे अवधि ज्ञानमें हीनता होती है यह बात ऊपर कह दी गई है। अवधिकी विशुद्धतासे शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे व्याप्त नारकी तिर्यंच और मनुष्योंको ऊपर ऊपरके देव प्रकृष्टतासे देखते हैं। दूसरोंके कष्ट देखनेसे संसारसे घबडाहट और भय उत्पन्न होता है यह स्वानुभव प्रसिद्ध है इसलिए नारकी आदिके दुःखोंके देखनेसे संसारसे उद्वेग और भय उत्पन्न होता है। उस उद्वेग और भय रूप परिणामसे दुःखके कारण और परिणाममें महादुःखदायी—परिग्रहोंमें अभिमान कम होता चला जाता है। इसरीतिसे ऊपर ऊपरके देवोंमें परिग्रह और अभिमानका कम होना स्वाभाविक है। और भी यह बात है कि—

विशुद्धपरिणामप्रकर्षनिमित्तत्वाच्च उपर्युपर्युपपत्तेः ॥ १० ॥

कारण जैसा होता है कार्य भी उसका वैसा ही होता है। विशिष्ट पुण्यबंधमें कारण विशिष्ट विशुद्ध परिणाम है और उस विशिष्ट पुण्य कर्मसे ही देवोंमें उत्पन्न होना होता है इसरीतिसे देवोंकी उत्पत्तिमें जब विशुद्ध परिणामनिमित्तक पुण्यबंध कारण है तब उनमें अशुभ परिणाम स्वरूप अभिमानकी उत्कृष्टता नहीं हो सकती—हीनता ही रहेगी। खुलासा इसप्रकार है—

असैनी पर्याप्त पंचेंद्रिय और संख्यातवर्षवाले तिर्यंच थोडे शुभ परिणामोंसे पुण्यकर्मका बंध कर भवनवासी और व्यंतरोंमें उत्पन्न होते हैं। संज्ञी मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच सहस्रार स्वर्गपर्यंत उत्पन्न होते हैं तथा सम्यग्दृष्टि तिर्यंच सौधर्म स्वर्गको आदि लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यंत उत्पन्न होते हैं। असंख्यात वर्षोंकी आयुवाले भोगभूमियां, मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच एवं मनुष्य, ज्योतिष्क पर्यंत उत्पन्न होते हैं अर्थात् भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क निकायोंमें उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट तापसी भी भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क इन तीनों निकायोंमें उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि भोगभूमियां तिर्यंच और मनुष्य सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें जन्म धारण करते हैं। संख्यात वर्षकी आयुके धारक मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि मनुष्य भवनवासी आदि उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत उत्पन्न होते हैं अर्थात् भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और वैमानिकोंमें उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत उनकी उत्पत्ति है। जो परिव्राजक सन्यासी हैं उनका ब्रह्मलोक पर्यंतके देवोंमें उपपाद—जन्म है। आजीवक संप्रदायके अनुयायी साधुओंका सहस्रार स्वर्गपर्यंत जन्म है। इससे आगेके विमानोंमें निर्ग्रंथ लिंगके सिवा अन्यलिंगोंके धारण करनेवाले जीवोंकी उत्पत्ति नहीं किंतु निर्ग्रंथ लिंग धारण करनेवाले ही वहां उत्पन्न होते हैं।

उत्कृष्ट तपके करनेसे जिन्होंने पुण्यकर्मका संचय किया है ऐसे निर्ग्रंथ लिंगके धारक भी मिथ्यादृष्टि उपरिम ग्रैवेयकके अंत तक ही जाते हैं उससे आगे नहीं। उपरिम ग्रैवेयकके ऊपरके विमानोंमें जिनका सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रशस्त और प्रकृष्ट है वे ही जन्म धारण करते हैं अन्य नहीं। जो श्रावक हैं उनका सौधर्म स्वर्गको आदि लेकर अच्युत स्वर्गपर्यंत ही जन्म है। न उससे

ऊपर है और न नीचे है। इस प्रकार परिणामोंकी विशुद्धिकी प्रकर्षतासे ही उत्तम स्वर्गके स्थानोंमें जन्म है अतः निकृष्ट परिणाम स्वरूप अभिमान वहां तीव्रतासे नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क इन तीन निकायोंमें तो लेश्याओंका विधान पहिले वर्णन कर दिया गया है अब सूत्रकर वैमानिक देवोंमें लेश्याओंके विधानकी व्यवस्था करते हैं—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

दो युगलोंमें तथा तीन युगलोंमें और शेषके समस्त विमानोंमें क्रमसे पीत पद्म और शुक्ल लेश्या होती हैं। शंका—भवनवासी आदि देवोंमें ऊपर लेश्याओंका विधान किया गया है वहींपर वैमानिक देवोंकी लेश्याओंका भी वर्णन कर देना था फिर यहांपर पृथक् क्यों लेश्याओंका विधान किया है ? उत्तर—

पृथग्लेश्यावधीनं लघ्वर्थं ॥ १ ॥

यहांपर पीतपद्मेत्यादि सूत्रसे जो पृथक् रूपसे वैमानिक देवोंमें लेश्याओंका विधान किया गया है वह अक्षरकृत लाघवके लिए है। यदि जहांपर भवनवासी आदि देवोंमें लेश्याका विधान किया गया है वहांपर वैमानिक देवोंमें लेश्याका भी विधान किया जाता तो लेश्याओंके स्वामी वैमानिक देवोंका भी वहां भिन्न भिन्न रूपसे उल्लेख करना पडता जिससे भिन्न सूत्र बनाने वा एक ही सूत्रमें समावेश करनेसे बडा भारी गौरव होता इसलिये जैसा उलेख किया गया है वैसा ही उपयुक्त है। 'पीतपद्मशुक्ल-लेश्याः' इस निर्देश पर वार्तिककार विचार करते हैं—

पीता च पद्मा च शुक्ला च पीतपद्मशुक्लाः पीतपद्मशुक्ला लेश्याः येषां ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः। यह

यहांपर द्वंद्व गर्भित बहुव्रीहि समास है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—'पीतपद्मशुक्ललेश्याः' यहांपर द्वंद्व समास किया जायगा तो द्वंद्वमें पुंवद्भाव तो होगा नहीं इसलिए 'पीतपद्मशुक्ललेश्या' यह जो पुंवद्भावविशिष्ट निर्देश किया गया है अर्थात् आकारका अकार कर दिया गया है वह अयुक्त है किन्तु यहांपर 'पीतापद्माशुक्ललेश्या' ऐसा निर्देश करना चाहिये? सो ठीक नहीं। यहां पुंवद्भाव नहीं हुआ है किंतु उत्तर पद रहनेसे पूर्वपदको ह्रस्व हुआ है जैसे "द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलंबितयोरुपसंख्यानं" इस व्याकरणशास्त्रकी वार्तिकमें 'मध्यमा च विलंबिता च मध्यमाविलंबिता. तयोः' इस द्वंद्वसमासयुक्त पदमें 'विलंबिता' उत्तर पद रहनेसे 'मध्यमा' शब्दको ह्रस्व कर निर्देश किया गया है उसीप्रकार 'पीतपद्मशुक्ललेश्याः' यहांपर भी 'शुक्ला' उत्तरपदके रहते पीता और पद्मा इन दोनों पदोंमें ह्रस्व निर्देश न्याय्य है अथवा जहां पर जैसी व्यवस्था होती है वहां पर उसीके अनुसार विपरिणमन हो जाता है। पीतपद्मेत्यादि स्थलपर ह्रस्व आवश्यक है इसलिए यहां पुंवद्भाव न समझकर औत्तरपदिक ह्रस्व ही समझना चाहिए। किन किन देवोंके कौन कौन लेश्यायें होती हैं वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

सौधर्मैशानीयाः पीतलेश्याः ॥ २ ॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंके पीत लेश्या है।

सानत्कुमारमाहेंद्रीया देवाः पीतपद्मलेश्याः ॥ ३ ॥

सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गनिवासी देवोंके पीत और पद्म दो लेश्यायें हैं।

१—पीतपद्मशुक्लानां द्वंद्वे पीतपद्मयोरुत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं, द्रुतायां त(पात ?)रकरणान्मध्यमविलंबितयोरुपसंख्यानमित्याचार्यवचनदर्शनात्, मध्यमाशब्दस्य विलंबितोत्तरपदे द्वंद्वेऽपि ह्रस्वत्वसिद्धेः। श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३८४।

ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठेषु पद्मलेश्याः ॥ ४ ॥

ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंके पद्मलेश्या है।

शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः ॥ ५ ॥

शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंके पद्म और शुक्ल दो लेश्या हैं।

आनतादिषु शेषेषु देवाः शुक्ललेश्याः ॥ ६ ॥

आनत आदि बाकीके विमानोंके देवोंके शुक्ललेश्या है। उनमें भी जो देव नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले हैं उनके परम शुक्ललेश्या है। शंका—

शुद्धमिश्रलेश्याविकल्पानुपपत्तिः सूत्रेऽनभिधानादिति चेन्न, मिश्रयोरन्यतरगृहणात् यथा लोके ॥ ७ ॥

ऊपर जो सौधर्म आदि विमानोंमें लेश्याओंका विधान किया गया है वह शुद्ध और मिश्र दोनों प्रकारकी लेश्याओंका है अर्थात् कहींपर पीत, पद्म और शुक्ल एक एक शुद्ध लेश्या कही गई है और कहीं कहीं पर पीत पद्म, और पद्म शुक्ल इन मिश्र रूप लेश्याओंका भी विधान है परंतु सूत्रमें शुद्ध लेश्याओंका ही उल्लेख किया गया है मिश्र लेश्याओंका नहीं इसलिये पीतपद्मेत्यादि सूत्रसे सौधर्म आदि स्वर्गोंमें शुद्ध और मिश्र दोनों प्रकारकी लेश्याओंका विधान नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। जिस-प्रकार किसी सडकपर छत्री और वेछत्रीवाले दोनों प्रकारके मनुष्य जाते हों। उनमें छत्रीवाले अधिक हों तो वहांपर 'छत्रिणो गच्छंति' अर्थात् छत्रीवाले जारहे हैं ऐसा व्यवहार होता है और वहांपर 'छत्रीवाले' कहनेसे छत्री और वेछत्रीवाले दोनों प्रकारके पुरुषोंका ग्रहण होता है उसी प्रकार मिश्र और शुद्ध इन दोनोंमें एकका ग्रहण करनेसे दूसरेका ग्रहण हो जाता है। सूत्रमें यद्यपि मिश्रोंका ग्रहण नहीं है

तथापि शुद्धोंका ग्रहण है। इसलिये उनके ग्रहणसे मिश्रोंका भी ग्रहण कर लिया जाता है अर्थात् पीत पद्म और पद्मशुक्ल ये दो मिश्र हैं इनके शुद्ध पीत और पद्म हैं इसलिये पीतके उल्लेखसे पीतपद्म इस मिश्र का, पद्मके उल्लेखसे पद्म शुक्ल इस मिश्रका ग्रहण अबाधित है। इसीरीतिसे पीत पद्म यहांपर दोनोंमें किसी एकके ग्रहणसे मिश्रका ग्रहण हो सकता है तथा पद्म शुक्ल यहांपर भी दोनों में किसी एकके ग्रहण करनेसे मिश्रका ग्रहण हो सकता है। कोई दोष नहीं। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

द्वित्रिशेषग्रहणमिति चेन्नेच्छातः संबंधोपपत्तेः ॥ ८ ॥

सूत्रमें 'द्वित्रिशेषेषु' ऐसा पाठ है और उसका यही अर्थ होता है कि दो स्वर्गोंमें पीत लेश्या है, तीनमें पद्मलेश्या है और शेष स्वर्गोंमें शुक्ललेश्या है इस व्यवस्थामें मिश्रका भान नहीं होता इसलिये पीत आदिके कहनेसे जो पीत पद्म आदि मिश्ररूप लेश्याओंका ग्रहण किया गया है वह ठीक नहीं तथा 'दो स्वर्गोंमें पीत लेश्या है' इत्यादि पाठके अनुसार जो अर्थ किया गया है वह भी आगमबाधित होनेसे अनिष्ट ही है अतः 'द्वित्रिशेषेषु' सूत्रमें ऐसे शब्दका उल्लेख रहनेसे अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती? सो भी ठीक नहीं। जहांपर जो संबंध किया जाता है वह इच्छासे होता है। यहांपर भी जो स्वर्गोंमें लेश्याओंका संबंध किया गया है वह इच्छासे है और उसकी व्यवस्था इसप्रकार है—

सौधर्म ऐशान और सानत्कुमार माहेंद्र इन दो कल्पोंके युगलोंमें पीत लेश्या है। यद्यपि सानत्कुमार माहेंद्र नामक दूसरे जोडेमें पद्मलेश्या है परंतु उसकी विवक्षा नहीं है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्ठ और शुक्र महाशुक्र इन तीन युगलोंमें पद्मलेश्या है। यद्यपि शुक्र महाशुक्र नामक युगलमें शुक्ललेश्या भी है परंतु उसकी विवक्षा नहीं है। तथा शेषके शतार आदि विमानोंमें शुक्ललेश्या है। यद्यपि यहांपर पद्मलेश्याका

भी संभव है परंतु उसकी अविवक्षा है। खुलासा भाव यह है कि जिसकी बहुलता है उसीका नाम लिया गया है जिसप्रकार पीत आदि शुद्ध लेश्याओंकी स्वर्गोंमें बहुलता है उतनी पीतपद्म आदि मिश्र लेश्याओंकी नहीं इसलिए सूत्रमें उनका अनुल्लेख है इसप्रकार आगमविरोध न होनेसे सूत्रका उपर्युक्त अर्थ अबाधित है। अथवा—

पाठांतराश्रयाद्वा ॥ ९ ॥

'पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु' इसकी जगह 'पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुःशेषेषु' ऐसा दूसरा पाठ भी अभिमत है इसका अर्थ यह है कि दो स्वर्गोंमें पीतलेश्या है दो स्वर्गोंमें मिश्रलेश्या है। चार स्वर्गोंमें पद्मलेश्या है। चार स्वर्गोंमें मिश्र लेश्या है और अवशिष्ट स्वर्गोंमें शुक्ल लेश्या है। यही अर्थ ऊपर कहा गया है इसलिए शास्त्रविरोध न होनेसे कोई विरोध नहीं है।

निर्देशवर्णपरिणामसंक्रमकर्मलक्षणगतिस्वामित्वसाधनसंख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतर-
भावाल्पबहुत्वैश्च साध्या लेश्याः ॥ १० ॥

निर्देश १ वर्ण २ परिणाम ३ संक्रम ४ कर्म ५ लक्षण ६ गति ७ स्वामित्व ८ साधन ९ संख्या १० क्षेत्र ११ स्पर्शन १२ काल १३ अंतर १४ भाव १५ और अल्पबहुत्व १६ इन सोलह बातोंसे लेश्याओंकी सिद्धि है। खुलासा इसप्रकार है—

कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या यह तो लेश्याओंका निर्देश—नाममात्र कथन है। भौंरेके समान काला, मोरके कंठके समान नीला, कबूतरके रंगका, सोनेके समान पीला, कमलके रंगका और शंखके समान सफेद ये कृष्ण आदि लेश्याओंके क्रमसे वर्ण हैं अर्थात्

कृष्णलेश्याका रंग भौंरेके समान काला है। नीललेश्याका मोरके कंठके समान वर्ण है। कपोतलेश्याका कबूतरके समान वर्ण है। पीतलेश्याका तपे सोनेके समान वर्ण है। पद्मलेश्याका कमलके समान वर्ण है और शुक्ललेश्याका शंखके समान सफेद वर्ण है। यह तो मुख्य रूपसे वर्णोंका उल्लेख है परंतु प्रति समय होनेवाले दूसरे दूसरे वर्णोंकी अपेक्षा लेश्याओंके वर्णोंके अनंत भेद हैं। एक दो तीन चार संख्याते असंख्याते और अनंते प्रकारके कृष्ण गुणोंके संबंधसे कृष्णलेश्याके अनंते भेद हैं इसीप्रकार नील आदि लेश्याओंके अनंते अनंते भेद हैं। परिणामकी अपेक्षा लेश्याओंकी सिद्धि इसप्रकार है—

असंख्याते लोकप्रदेशोंकी बराबर असंख्यातगुणे जो कषायोदय स्थान हैं उनमें जो उत्कृष्ट मध्यम और जघन्यरूप अंश हैं उनमें उत्तरोत्तर संक्लेशकी हानिसे परिणामस्वरूप आत्माके क्रमसे कृष्ण नील और कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंका परिणाम होता है अर्थात् कषायोदय स्थानोंके उत्कृष्ट अंशोंमें तीव्र संक्लेश रहता है इसलिए उससमय आत्मामें कृष्णलेश्याका परिणमन होता है, मध्यम अंशोंमें संक्लेशकी हीनता रहती है इसलिए उससमय आत्मामें नील लेश्याका परिणमन होता है एवं जघन्य अंशोंमें और भी अधिक संक्लेशकी हीनता रहती है इसलिए उससमय कापोत लेश्याका परिणमन होता है। तथा कषायोदय स्थानोंके जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट अंशोंमें विशुद्धिकी बढवारीसे पीत, पद्म और शुक्लरूप शुभ लेश्याओंका परिणमन होता है। तथा उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंशोंमें विशुद्धिकी उत्तरोत्तर कमी होनेसे शुक्ल पद्म और पीत इन शुभरूप तीनों लेश्याओंका परिणमन होता है एवं कषायोदय स्थानोंके जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट अंशोंमें संक्लेशकी उत्तरोत्तर बढवारी होनेपर कापोत नील कृष्ण इन तीन अशुभ लेश्याओंका परिणमन होता है। कृष्णादि लेश्याओंमेंसे प्रत्येक लेश्या लोकके

असंख्यात प्रदेशोंकी बराबर जो परिणामोंके अध्यवसाय स्थान हैं उतने प्रमाण हैं । संक्रमकी व्यवस्था इसप्रकार है—

एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जानेका नाम संक्रम है। जो पुरुष कृष्णलेश्यासे संक्लिष्ट है उसका अन्य लेश्यामें संक्रमण नहीं होता किंतु षट्स्थानपतित संक्रमणरूपसे कृष्णलेश्यामें ही उसका संक्रम होता रहता है खुलासा इसप्रकार है—

कृष्णलेश्याका जो पहिला संक्लेश स्थान है उस स्थानसे कृष्णलेश्यामें ही अनंतभाग अधिक वा असंख्यात भाग अधिक, वा संख्यात भाग अधिक, वा संख्यातगुण अधिक, वा असंख्यातगुण अधिक वा अनंतगुण अधिक वृद्धि होती है । तथा जिससमय कृष्णलेश्याकी हीनता होती है उस समय भी दूसरी लेश्याका संक्रमण नहीं होता किंतु कृष्णलेश्या ही षट्स्थानपतित संक्रमसे कम कम होती चली जाती है और वह इसप्रकार है—कृष्णलेश्याका जो उत्कृष्ट संक्लेश स्थान है उससे कृष्णलेश्यामें ही अनंतभाग वा असंख्यात भाग वा संख्यातभाग वा संख्यातगुणी वा असंख्यातगुणी वा अनंतगुणी हानि होती जाती है। जिससमय कृष्ण लेश्या अनंतगुणी हानिसे एकदम कम हो जाती है उस समय वह नील लेश्याके उत्कृष्ट स्थानरूप संक्रमित हो जाती है और उसीसमय जो मनुष्य कृष्णलेश्यासे संक्लिष्ट है उसका कृष्णलेश्याकी वृद्धिके समय स्वस्थानसंक्रमरूप विकल्प अर्थात् अपने स्वरूपमें कृष्णलेश्यामें ही परिवर्तन होता रहता है और हानिके समय स्वस्थान संक्रम और परस्थान संक्रम दोनों विकल्प होते हैं, अर्थात् हानिके समय कृष्ण लेश्या जब अपने कृष्णलेश्यास्वरूपमें ही अनंतभाग हानि आदिसे हीन होती रहती है उस समय स्वस्थानसंक्रम और जिससमय अनंतगुणी हानिसे सर्वथा हीन हो जाती है उससमय नीललेश्या

उत्कृष्ट स्थानरूप संक्रमित होनेसे परस्थान संक्रम नामका विकल्प होता है अर्थात् कृष्णलेश्या यदि अधिक तीव्रता धारण करेगी तब तो वह अपने—कृष्ण लेश्याके ही उत्कृष्ट स्थान तक पहुंचेगी, क्योंकि कृष्ण लेश्यासे आगे बढकर कोई लेश्या ही नहीं है, इसलिये वृद्धिमें तो वह स्वस्थान परिणाम ही धारण करेगी। परन्तु हानिमें घटते घटते अपने रूप भी रहेगी तथा नील लेश्याके उत्कृष्ट स्थान तक पहुंच जायगी इसलिये हानिमें स्वस्थान और परस्थान दोनों संक्रम होंगे। यह कृष्ण लेश्याकी अपेक्षा कथन किया गया है इसप्रकार अन्य लेश्याओंमें भी संक्रम भेदोंका विधान समझ लेना चाहिये। विशेष इतना है कि—

जिस समय शुक्ललेश्याकी विशुद्धिकी वृद्धि होगी उस समय शुक्ललेश्याका दूसरी लेश्यारूप संक्रमण नहीं होगा क्योंकि उसके आगे और कोई लेश्याका भेद नहीं किंतु अपने स्वरूप शुक्ललेश्यामें ही अनंतभाग आदि स्वरूप संक्रमण होगा इसलिये वृद्धिकी अपेक्षा शुक्ललेश्यामें स्वस्थान संक्रमणरूप ही विकल्प होगा और जिस समय संक्लेशकी वृद्धि और विशुद्धिकी हानि होगी उस समय स्वस्थान संक्रम और परस्थानसंक्रम दोनों भेद होंगे अर्थात् विशुद्धिकी हीनता होनेपर संख्यातभाग वृद्धिरूप आदि परिणत होनेसे स्वस्थान संक्रम होगा और अनंत गुणी हानि होते होते जिससमय पद्म लेश्याका परिणमन होगा उस समय परस्थानसंक्रम भी होगा इसरीतिसे शुक्ललेश्यामें वृद्धिकी अपेक्षा केवल स्वस्थान संक्रम भेद और हानिकी अपेक्षा स्वस्थानसंक्रम और परस्थान संक्रम ये दोनों भेद हैं किन्तु नीचकी जो चार लेश्याएं हैं उनमें वृद्धि हानि दोनोंकी अपेक्षा स्वस्थान संक्रम और परस्थान संक्रम दोनों भेद हैं अर्थात् अनंतगुण वृद्धि होते होते भी दूसरी लेश्यारूप संक्रमण हो सकता है और अनंत गुण हानि होते होते भी दूसरी लेश्यारूप संक्रमण हो सकता है।

अनंत भाग वृद्धिका अर्थ सर्व जीवराशि रूप अनंतभाग वृद्धि है। असंख्येय भाग वृद्धिका अर्थ असंख्येय लोकभाग वृद्धि है। संख्येय भाग वृद्धिका अर्थ उत्कृष्ट संख्येय भाग वृद्धि है। संख्येयगुण वृद्धिका अर्थ उत्कृष्ट संख्येय गुण वृद्धि है। असंख्येय गुण वृद्धिका अर्थ असंख्येय लोकगुणवृद्धि है। अनंतगुणवृद्धिका अर्थ सर्व जीवराशि प्रमाण रूप अनंतगुणवृद्धि है। कृष्ण आदि लेश्याओंके कार्यकी व्यवस्था इसप्रकार है—

जंबूफल (जमुनी) खानेका लक्ष्य कर जहांपर स्कंध (पीड नीचेकी जड) विटप (गुद्दे) शाखा (बडी) अनुशाखा (डालियां) और पिंडिका (गुच्छा) को काटकर फल खानेकी वा अपने आप ही पडे हुऐ फल खानेकी इच्छा करते हैं वहांपर कृष्ण आदि लेश्याओंकी प्रवृत्ति है अर्थात्—

कृष्ण आदि छह लेश्याओंके धारक छह मनुष्य किसी जमुनीके वृक्षके नीचे गये। वृक्षपर जमुनीके फल पके हुऐ थे इस लिये जो मनुष्य कृष्ण लेश्याका धारक था उसका तो यह परिणाम हुआ कि इस वृक्षको जडसे काटकर जमुनी फल खाने चाहिये तदनुसार वह कुल्हाडी लेकर उसका स्कंध काटनेके लिए उद्यत होगया जो मनुष्य नील लेश्याका धारक था उसका यह परिणाम हुआ कि स्कंधके काटनेकी कोई आवश्यकता नहीं बडे बडे गुद्दे काटकर उन्हें जमीनपर डालकर जमुनी फल खाने चाहिये तदनुसार वह बडे बडे गुद्दोंके काटनेका प्रयत्न करने लगा। जो मनुष्य कापोत लेश्याका धारक था उसका परिणाम ऐसा हुआ कि स्कंध और बडे बडे गुद्दोंके काटनेकी कोई आवश्यकता नहीं

१—अनंत अनेक प्रकार है, यहां पर जिस अनंतका भाग देकर वृद्धि और हानि एवं गुणा रूपसे अनंतकी वृद्धि हानि ली गई है वह अनंत, सर्व जीवराशि प्रमाण अनंत लेना चाहिये। इसीप्रकार असंख्यातका परिणाम—असंख्यात लोक प्रमाण है।

वडी वडी डालियां काट लेनेपर अच्छीतरह फल खाए जासकते हैं इस लिए वह स्कंध और वडे वडे गुद्दोंका काटना व्यर्थ समझ केवल वडी वडी डालियां काटने लगा। जो मनुष्य पीत लेश्याका धारक था, कापोत लेश्यावालेके परिणामोंकी अपेक्षा उसके परिणामोंमे विशेष विशुद्धि होनेसे वह यह सोचने लगा कि छोटी छोटी पलगैयां काटने पर भी सुलभतासे फल खाये जा सकते हैं, स्कंध आदिके काटनेकी कोई आवश्यकता नहीं इस लिए वह स्कंध आदि न काटकर छोटी छोटी डालियोंके काटनेका प्रबंध करने लगा। जो मनुष्य पद्म लेश्याका धारक था पीत लेश्यावाले मनुष्यकी अपेक्षा उसके परिणामोंमें विशेष विशुद्धता रहनेसे वह यह सोचने लगा कि फलोंके गुच्छे काटनेसे ही अच्छी तरह फल खाये जासकते हैं स्कंध गुद्दे आदि काटना निरर्थक है इसलिए गुच्छोंके काटनेकेलिए प्रयत्न करने लगा। जो पुरुष शुक्ल लेश्याका धारक था अन्य समस्त लेश्याओंकी अपेक्षा उसके परिणामोंमें विशेष विशुद्धि रहनेसे उसके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि गुच्छोंके काटनेकी भी क्या आवश्यकता है नीचे जो पके फल पडे हैं वे ही खाये जासकते हैं उनके खानेके लिए स्कंध आदि काटने निरर्थक हैं इसलिए वह स्कंध आदिको नहीं काट कर जो फल नीचे पडे थे उन्हींके खानेके लिए प्रयत्न करने लगा। इसप्रकार कृष्ण आदि लेश्याओंके धारकोंकी उत्तरोत्तर परिणामोंकी विशुद्धिका यह दृष्टांत है। अब लेश्याओंका लक्षण कहा जाता है—

प्रमाण और नयोंके द्वारा भलेप्रकार निश्चित तत्त्वको न मानना, आगमके उपदेशका ग्रहण न करना वैर विरोधका न छोडना, अत्यंत कुपित रहना, मुखका आकार सदा भयंकर रहना, हृदयमें जरा भी दयाका लेश न होना, क्लेश करना, मारना और संतोष आदिका न रखना कृष्णलेश्याका लक्षण है।

आलस्यका होना, हृदयमें भेदविज्ञानका अभाव रहना, जिस कार्यको आरंभ कर दिया है उसकी परिपूर्णताका न होना, भयभीत रहना, इंद्रियोंके विषयोंमें अत्यंत लालसा रखना, मायाचारी करना, अत्यंत तृष्णा रखना, अत्यंत अहंकार करना, दूसरेको ठगना, झूठ बोलना, चंचलताका होना और अत्यंत लुब्धता रखना नीललेश्याका लक्षण है । दूसरेके साथ मत्सरता रखना, चुगली करना, दूसरेको तिरस्कार करनेकी अभिलाषा रखना, अपनी प्रशंसा और परकी निंदा करना, वृद्धि हानिकी गणना न करना, अपने जीवनकी आशाका न रखना, प्रशंसा करनेसे धनदान, युद्धमरण और उद्योगमें प्रवृत्तिका होना कापोतलेश्याका लक्षण है । दृढरूपसे मित्रताका करना, सदा अपनेको उपलंभित करना, सत्य बोलना, दान और शीलमें प्रवृत्ति रखना, अपने कार्यके संपादनमें प्रवीणताका होना, भेद विज्ञान और ध्यानमें प्रवृत्त रहना, समस्त धर्मोंसे समभाव रखना, तेजोलेश्याका लक्षण है । सत्यवाणी बोलना, क्षमा रखना, पांडित्य और सात्विक भावोंका होना, दान देनेमें अग्रणी होना, हरएक बातमें चतुरता और सरलताका होना, गुरु और देवकी पूजा करनेमें निरंतर प्रवृत्तिका होना पद्मलेश्याका लक्षण है । राग द्वेष मोहका न होना, शत्रुके दोषोंका ग्रहण न करना, निदानका न करना, हिंसाजनक समस्त कार्योंके आरंभ करनेमें उदासीनता रखना एवं मोक्षके मार्ग सम्यग्दर्शन आदिका अनुष्ठान भक्ति आदि करना शुक्ललेश्याके लक्षण हैं । अर्थात् जिस जिस लेश्याके जो लक्षण बतलाए गये हैं वे लक्षण जिस व्यक्तिमें दीख पड़ें उस व्यक्तिको उसी लेश्याका धारक समझ लेना चाहिये । अब लेश्याओंकी गति पर विचार किया जाता है—

कपोत लेश्यासे परिणत आत्मा किस गतिको प्राप्त होता है इसका उत्तर यह है कि लेश्याके

अंशोंके जो छब्बीस भेद हैं उनमें आयुके ग्रहणके हेतु मध्यम आठ अंश हैं। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि इस बातके माननेमें क्या प्रमाण है क्योंकि 'अष्टाभिरपकर्षैर्मध्यमेन परिणामेनायुर्बध्नाति' अर्थात् आठ अपकर्ष-अंश रूप मध्यम परिणामोंसे आयुका बंध होता है, ऐसा शास्त्रका वचन है। तथा आठ अंशोंके सिवाय शेष जो लेश्याओंके अठारह अंश रह जाते हैं वे विशेषरूपसे पुण्य और पापके संचयमें कारण होनेसे विशिष्ट गतिके निमित्त हैं। उनकी अपेक्षा रखनेवाला मध्यम परिणाम उन उन गतियोंके योग्य आयुके बंधमें कारण होता है इसप्रकार आयु और नाम कर्मके उदयके अधीन विशिष्ट गतिकी सत्ता लेश्याके द्वारा समझ लेनी चाहिए। विशेष खुलासा इस प्रकार है—

उत्कृष्ट शुक्ल लेश्याके अंशरूप परिणामसे जीव मरणके वाद सर्वार्थसिद्धि जाते हैं। जघन्य शुक्ल लेश्याके अंशरूप परिणामसे शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गोंमें जाते हैं। मध्यम शुक्ललेश्याके अंशरूप परिणामसे आनतको आदि देकर सर्वार्थसिद्धि विमानसे पहिलेके विमानोंमें उत्पन्न होते हैं अर्थात् आनत स्वर्गसे लेकर अपराजित विमान तक उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट पद्म लेश्याके अंशरूप परिणामसे सहस्रार स्वर्गमें जाते हैं। जघन्य पद्म लेश्याके अंशरूप परिणामसे सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। मध्यम पद्म लेश्याके अंशरूप परिणामसे ब्रह्म लोकको आदि लेकर शतार से पहिले पहिले जाकर उत्पन्न होते हैं अर्थात् ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग पर्यंत उनका जन्म है। उत्कृष्ट तेजो लेश्याके अंशरूप परिणामसे सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गका जो अंतिम चक्र नामक विमान है उसमें तथा उसके श्रेणिबद्ध विमानोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। जघन्य तेजोलेश्याके अंशरूप परिणामसे सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंका जो पहिला इंद्रक विमान है उसमें और

श्रेणिबद्ध विमानोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। मध्यम तेजो लेश्याके अंशरूप परिणामसे सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके दूसरे चंद्र नामक इंद्रक विमान और उसके श्रेणिबद्ध विमानोंको आदि लेकर सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गके वलभद्र नामक छठे इंद्रक विमान और उसके श्रेणिबद्ध विमान पर्यंतके विमानोंमें गमन करते हैं।

उत्कृष्ट कृष्णलेश्याके अंशरूप परिणामसे जीव सातवें नरकके अप्रतिष्ठान पाथडेतक जाते हैं। जघन्य कृष्णलेश्याके अंशरूप परिणामसे पांचवें नरकके तमिश्र नामकके इंद्रक विलमें जाते हैं। मध्यम कृष्णलेश्याके अंशरूप परिणामसे छठे नरकके हिम पाथडेको आदि लेकर महारौरव पाथडेतक जाते हैं। उत्कृष्ट नील लेश्याके अंशरूप परिणामसे पांचवे नरकके मध्य इंद्रकमें जाकर उत्पन्न होते हैं। जघन्य नील लेश्याके अंशरूप परिणामसे बालुका नामकी तीसरी पृथ्वीके तप्त नामक इंद्रकोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। मध्यम नील लेश्याके अंशरूप परिणामसे बालुका पृथिवीके त्रस्त इंद्रकको आदि लेकर झष पर्यंतके इंद्रकोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्ट कपोत लेश्याके अंशरूप परिणामसे बालुका प्रभाके संप्रज्वलित नामक इंद्रक विलेमें उत्पन्न होते हैं। जघन्य कपोतलेश्याके अंशरूप परिणामसे रत्नप्रभा नरकके सीमंतक विलेमें जाकर उत्पन्न होते हैं। मध्यम कपोतलेश्याके अंशरूप परिणामसे पहिले नरकके तीसरे रौरुक विलको आदि लेकर तीसरे नरकके संप्रज्वलित नामक अंतिम विलेतक जाकर उत्पन्न होते हैं। मध्यम कृष्ण नील कापोत और तेज लेश्याओंके अंशरूप परिणामसे भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी पृथ्वी काय जलकाय और वनस्पति कायोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। मध्यम कृष्ण नील कपोत लेश्याके अंशरूप परिणामसे अग्निकायिक और वायुकायिकोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा देव और नारकी अपनी अपनी

लेश्याओंसे तिर्यंच और मनुष्य गतिमें जाकर जन्म धारण करते हैं। किस किस लेश्याका कौन कौन स्वामी है, यह निरूपण किया जाता है—

रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा दोनों भूमियोंमें रहनेवाले नारकी कपोत लेश्याके धारक हैं। बालुकाप्रभा नामक नरकभूमिके रहनेवाले नारकी नील और कपोत लेश्याके धारक हैं। पंकप्रभा नामक नरकभूमिके रहनेवाले नारकी नील लेश्याके धारक हैं। धूमप्रभा नामक नरकभूमिके रहनेवाले नारकी कृष्ण और नील लेश्याके धारक हैं। तमःप्रभा नामक नरकभूमिके रहनेवाले नारकी कृष्ण लेश्याके धारक और महतमःप्रभाभूमिमें रहनेवाले नारकी परम कृष्ण लेश्याके धारक हैं।

भवनवासी व्यंतर और ज्योतिषी देव कृष्ण नील कपोत और तेज लेश्याओंके धारक हैं। एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय और चौइंद्रिय जातिके जीव संक्लिष्ट तीन लेश्या अर्थात् कृष्ण नील कपोत इन तीन लेश्याओंके धारक हैं। असैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच संक्लेशस्वरूप चार लेश्या अर्थात् कृष्ण नील कापोत और पीत इन चार लेश्याओंके धारक हैं। सैनी पंचेंद्रिय तिर्यंच मनुष्य, मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यगमिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि कृष्ण नील आदि छहो लेश्याओंके धारक हैं। संयतासंयत प्रमत्तसंयत अप्रमत्तसंयत ये तीन शुभ लेश्याओंके धारक हैं। अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानको आदि लेकर सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान तकके जीवोंके एक केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। तथा अयोगकेवली भगवान अलेश्य हैं—कृष्ण आदि छहों लेश्याओंमेंसे उनके कोई भी लेश्या नहीं होती।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंके तेज (पीत) लेश्या होती है। सानत्कुमार और माहेंद्र

११०९

स्वर्गोंमें रहनेवाले देवोंके तेज और पद्म दो मिश्ररूप लेश्या होती हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गोंमें रहनेवाले देव पद्म लेश्याके धारक हैं। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गनिवासी देव मिश्ररूप पद्म और शुक्ल लेश्याके धारक हैं। आनत स्वर्गको आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यंतके देवोंके शुक्ललेश्या होती है उनमें भी सर्वार्थसिद्धि विमानके निवासी देव परम शुक्ललेश्याके धारक हैं। लेश्याओंके निमित्त कारणोंकी व्यवस्था इसप्रकार है—

द्रव्य और भावके भेदसे लेश्या दो प्रकारकी है यह बात ऊपर कही जाचुकी है उनमें द्रव्यलेश्यामें नाम कर्मोदय कारण है अर्थात् नाम कर्मके उदयसे द्रव्यलेश्याकी उत्पत्ति होती है तथा भाव लेश्याकी उत्पत्ति कषायोंके उदय, क्षयोपशम, उपशम और क्षयके आधीन है। लेश्याओंकी संख्याकी व्यवस्था इसप्रकार है—

कृष्ण नील और कापोत तीनों लेश्याओंमें प्रत्येक लेश्या द्रव्य प्रमाणसे अनंतानंत है अनंतानंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल व्यतीत हो जांय तो भी उनका विनाश नहीं होता इसलिये कालसे भी अनंतानंत है तथा क्षेत्र प्रमाणकरि अनंतानंत लोक प्रमाण है। तेजोलेश्या द्रव्यप्रमाणसे ज्योतिष्क देवोंके परिमाणसे कुछ अधिक परिमाणवाली है। पद्म लेश्या द्रव्यप्रमाणसे संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंचोंके प्रमाणसे संख्यातभाग प्रमाण है। तथा शुक्ल लेश्या पल्यके असंख्यातभाग प्रमाण है। क्षेत्रकी अपेक्षा लेश्याओंकी व्यवस्था इसप्रकार है—

कृष्ण नील और कापोत लेश्याओंके धारक जीवोंमें प्रत्येक जीवका निवास स्वस्थान समुद्घात उपपादों द्वारा सर्व लोकमें हैं। तेज और पद्म लेश्यावालोंमेंसे प्रत्येक जीवका निवास स्वस्थान समुद्घात

उपपादसे लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागमें है। शुक्ललेश्यावाले जीव स्वस्थान और उपपाद द्वारा लोकके (अ) संख्येयभागमें, समुद्घातके द्वारा लोकके असंख्येयभाग वा सर्व लोकमें निवास करते हैं लेश्याओंके स्पर्शन (सर्वदा निवास) की व्यवस्था इसप्रकार है—

कृष्ण नील और कापोत लेश्याओंके धारक जीव स्वस्थान समुद्घात उपपादोंके द्वारा सर्व लोकका स्पर्श करते हैं। तेजोलेश्यावाले जीव स्वस्थानके द्वारा लोकके असंख्येय भागको अथवा चौदह भागोंमेंसे कुछ घाटि आठ भागोंको स्पर्श करते हैं । समुद्घातके द्वारा लोकके असंख्यात भाग अथवा चौदह भागोंमेंसे कुछ घाट आठ या नौ भागोंको स्पर्श करते हैं । उपपादके द्वारा लोकके असंख्यात भाग अथवा चौदह भागोंमें कुछ कम अर्धभाग अर्थात् साडे सात भागोंको स्पर्शते हैं । पद्म लेश्याके धारक स्वस्थान और समुद्घातके द्वारा लोकके असंख्यात भाग अथवा चौदह भागोंमें कुछ कम आठ भागोंको स्पर्शते हैं । उपपादके द्वारा लोकके असंख्यात भाग वा चौदह भागोंमें कुछ कम पांच भागोंको स्पर्शते हैं। शुक्ललेश्यावाले स्वस्थान और उपपादके द्वारा लोकके असंख्यातवें भाग अथवा चौदह भागोंमें कुछ कम छह भागोंको स्पर्शते हैं। समुद्घातके द्वारा लोकके असंख्यातवें भागको वा चौदह भागोंमें कुछ कम छह भागोंको वा असंख्येय भागोंको अथवा सर्व लोकको स्पर्शते हैं । लेश्याओंकी कालकृत व्यवस्था इसप्रकार है—

कृष्ण नील और कापोत तीनों लेश्याओंमें प्रत्येक लेश्याका जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक तेतीस सागरोपम, कुछ अधिक सत्रह सागर प्रमाण और कुछ अधिक सात सागर प्रमाण है अर्थात् कृष्ण लेश्याका उत्कृष्टकाल कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है । नील लेश्याका कुछ

अधिक सत्रह सागर प्रमाण काल है और कपोत लेश्याका कुछ अधिक सात सागर प्रमाणकाल है। तेज, पद्म और शुक्ललेश्याओंमें प्रत्येकका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागर प्रमाण, कुछ अधिक अठारह सागर प्रमाण और कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है। अर्थात् तेज लेश्याका उत्कृष्टकाल कुछ अधिक दो सागर प्रमाण है। पद्म लेश्याका कुछ अधिक अठारह सागर प्रमाण है और शुक्ललेश्याका कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है लेश्याओंके अंतरालकी व्यवस्था इस प्रकार है—

कृष्ण नील और कापोत तीनों लेश्याओंमें प्रत्येकका जघन्य अंतराल अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है। तेज पद्म और शुक्ललेश्याओंमें प्रत्येकका अंतराल जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उत्कृष्ट अनन्तकाल है जो कि असंख्यात पुद्गल परावर्तन स्वरूप है। लेश्याओंके भावकी व्यवस्था इसप्रकार है—

शरीर नाम कर्म और मोहनीय कर्मके उदयसे जायमान होनेके कारण कृष्ण आदि छहो लेश्या औदयिक भावस्वरूप हैं अर्थात् शरीर नामकर्मके उदयसे तो द्रव्यलेश्याकी उत्पत्ति होती है और मोहनीय कर्मके उदयसे भावलेश्याकी उत्पत्ति होती है। इसलिये दोनो प्रकारकी लेश्या औदयिक भाव स्वरूप है। तथा लेश्याओंका अल्पबहुत्व इसप्रकार है—

सबसे थोडे शुक्ललेश्याके धारक जीव हैं। उनसे असंख्यातगुणे पद्मलेश्याके धारक हैं। उनसे असंख्यातगुणे तेजोलेश्याके धारक हैं। उनसे अनंतगुणे अलेश्य—लेश्यारहित जीव हैं। उनसे अनंतगुणे कपोतलेश्यावाले जीव हैं उनसे कुछ अधिक अनंतगुणे नील लेश्यावाले हैं और उनसे कुछ अधिक अनंतगुणे कृष्ण लेश्यावाले हैं॥ २२॥

वैमानिक देव कल्पोपपन्न और कल्पातीतके भेदसे दो प्रकारके हैं यह बात 'कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च' इस सूत्रसे कही गई है वहांपर यह ज्ञान न हो सका कि कल्प किसको कहते हैं ? इसलिए सूत्रकार कल्प शब्दका खुलासा करते हैं—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

ग्रैवेयकोंसे पहिले पहिलेके १६ स्वर्ग कल्प संज्ञावाले हैं। इनसे आगेके नव ग्रैवेयकादिक कल्पातीत विमान हैं। इनमें रहनेवाले अहमिंद्र कहे जाते हैं अर्थात् वहांका प्रत्येक देव इंद्रके समान सुख भोगनेवाला होता है।

कहांसे लेकर स्वर्गोंकी कल्प संज्ञा है यह बात जानी नहीं जाती इस लिए 'प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः' इत्यादि सूत्रमें अनुवृत्तिसे सौधर्म आदिका ग्रहण है। इसरीतिसे यहांपर यह समझ लेना चाहिए कि सौधर्मसे लेकर अच्युत स्वर्गपर्यंत जितने विमान हैं उन सबकी कल्प संज्ञा है। शंका—यदि यहांपर सौधर्मैशानेत्यादि सूत्रसे सौधर्म आदिकी अनुवृत्ति इष्ट है तब सौधर्मैशानेत्यादि सूत्रके बाद ही 'प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः' इत्यादि सूत्र कहना था यहां उसका उल्लेख ठीक नहीं जान पडता ? उत्तर—

सौधर्मादनंतरं कल्पाभिधाने व्यवधानप्रसंगः ॥ १ ॥

यदि सौधर्मैशानेत्यादि सूत्रके अनंतर 'प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः' इत्यादि सूत्रका उल्लेख किया जायगा और उसके बाद स्थितिप्रभावेत्यादि गतिशरीरेत्यादि और पीतपद्मेत्यादि इन सूत्रोंका उल्लेख किया जायगा तो बीचमें 'प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः' इस सूत्रका व्यवधान पड जानेसे सौधर्म आदि सूत्रमें पठित सर्वार्थ-

सिद्धि पर्यंत समस्त वैमानिकोंकी स्थितिप्रभावेत्यादि सूत्रमें अनुवृत्ति नहीं आवेगी किंतु कल्प अर्थात् ग्रैवेयकसे पहिले अच्युत पर्यंत स्वर्गोंकी ही अनुवृत्ति आवेगी और तब स्थितिप्रभावेत्यादि उपर्युक्त तीन सूत्रोंका जो अर्थ है वह सोलह स्वर्गोंमें ही संघटित होगा नवग्रैवेयक अनुत्तर आदि विमानोंमें संघटित न होगा परंतु जिस जगह 'प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः' इत्यादि सूत्र पढा है वह वहींपर पढा जायगा तब तो नव ग्रैवेयकादिका भी स्थितिप्रभावेत्यादि तीनों सूत्रमें संबंध होगा फिर उनका जो अर्थ कहा गया है वह नवग्रैवेयक आदिमें भी निरवच्छिन्नरूपसे सिद्ध होगा इसलिए नवग्रैवेयक आदिमें स्थिति आदि अर्थकी सिद्धिके लिए 'प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः' इत्यादि सूत्र जहां पढा गया है वहीं उपयुक्त है। अब वार्तिककार कल्पातीत शब्दका विवेचन करते हैं—

कल्पातीतसिद्धिः परिशेषात् ॥ २ ॥

जब ग्रैवेयक विमानोंसे पहिले पहिलेके विमानोंकी कल्प संज्ञा निर्धारित हो चुकी तब शेषके नवग्रैवेयक आदिकी कल्पातीत संज्ञा सुतरां सिद्ध हो गई इसलिए नवग्रैवेयकको आदि लेकर अनुत्तर पर्यंत विमानोंकी यहां कल्पातीत संज्ञा समझ लेनी चाहिए। शंका—

भवनवास्याद्यतिप्रसंग इति चेत् उपर्युपरीत्याभिसंबंधात् ॥ ३ ॥

यदि कल्पसंज्ञक विमानोंसे बाकीके बचे सब विमानोंको कल्पातीत माना जायगा तो भवनवासी

१—पारिशेषन्यायसे यह समझ लिया जाता है, जैसे—देवदत्त मोटा तो हो रहा है परन्तु दिनमें भोजन नहीं करता है, इससे यह बात सुतरां सिद्ध है कि वह रात्रिमें भोजन कर लेता है अन्यथा मोटा नहीं रह सका। इसीप्रकार यहां समझना चाहिये।

आदि देवोंको भी वैमानिक मानना पडेगा क्योंकि क्योंकि नवग्रैवेयक आदिके समान भवनवासी आदि देवोंके रहनेका स्थान भी कल्पोंसे भिन्न होनेके कारण कल्पातीत सिद्ध होगा ? सो ठीक नहीं। इस सूत्रमें ''उपर्युपरि''का सम्बन्ध है इसलिये ऊपर ऊपरके ही देव वैमानिक हो सकते हैं नीचेके नहीं। भवनवासी आदि देवोंके रहनेके स्थान नीचे हैं इसलिए इनकी कल्पातीत संज्ञा सिद्ध न होनेके कारण भवनवासी आदिको वैमानिक देव नहीं कहा जा सकता इसलिए यह बात सिद्ध हो चुकी कि अहमिंद्र देव ही कल्पातीत हैं भवनवासी आदि देव कल्पातीत नहीं कहे जा सकते।

यहांपर यह शंका न करना चाहिए कि कल्पातीत विमानवासी देवकी अहमिंद्र संज्ञा क्यों है ? क्योंकि भवनवासी आदि चारों निकायोंमेंसे प्रत्येक निकायमें इंद्र सामानिक आदि जो दश दश भेद कह आये हैं उन दश भेदोंमेंसे कल्पातीत विमानवासी देवोंमें केवल इंद्र भेद ही है, सामानिक आदि भेद नहीं इसलिए कल्पातीत विमानोंके अधिवासी देवोंमें 'अहमिंद्रः, अहमिंद्रः,' ऐसी सदा भावना उदित होती रहनेके कारण वे अहमिंद्र कहे जाते हैं। उनके सिवाय अन्यत्र निकायोंके देवोंमें इंद्रादि दशों भेद हैं इसलिए उन निकायोंके सब देव अहमिंद्र नहीं होते। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

चतुर्णिकायोपदशानुपपत्तिः षट्सप्तसंभवादिति चेन्न तत्रैवांतर्भावात् लौकांतिकवत् ॥ ४ ॥

भवनवासी आदि चार निकाय हैं यह जो ऊपर कहा गया है वह ठीक नहीं क्योंकि भवन १ पाताल २ व्यंतर ३ ज्योतिष्क ४ कल्पोपपन्न ५ और वैमानिक ६ के भेदसे छह निकायोंका भी संभव हो सकता है। उनमें भवनवासी दश प्रकारके हैं वे कह दिये गये। पाताल वासी लवणोदादि समुद्रोंमें रहनेवाले

सुस्थित प्रभास आदि हैं। व्यंतर अनावृत प्रियदर्शन आदि जम्बूद्वीपके स्वामी हैं। ज्योतिषी देव पांच प्रकारके हैं उनका व्याख्यान ऊपर कर दिया गया। कल्पोपपन्न बारह प्रकारके हैं। नवग्रैवेयक आदि विमानोंका वर्णन पहिले कर दिया जाचुका है। अथवा सात प्रकारके भी देव निकाय हो सकते हैं उनमें छह प्रकारके तो भवनवासी पातालवासी आदि और सातवां प्रकार आकाशोपपन्न है। तथा पांशुतापि १ लवणतापि २ तपनतापि ३ भवनतापि ४ सोमकायिक ५ यमकायिक ६ वरुणकायिक ७ वैश्रवणकायिक ८ पितृकायिक ९ अनलकायिक १० रिष्टकसम्भव ११ और अरिष्टकसंभव १२ के भेदसे आकाशोपपन्न बारह प्रकारके हैं। इसरीतिसे जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि देवोंके निकाय छह वा सात हो सकते हैं तब ऊपर चार माने गये हैं वह निरर्थक है? सो ठीक नहीं। लौकांतिक देवोंका कल्पवासी—वैमानिक देवोंमें अंतर्भाव होनेसे जिसप्रकार उन्हें वैमानिक ही कहा जाता है अन्य कोई पांचवी उनकी निकाय नहीं मानी उसीप्रकार पातालवासी और आकाशोपपन्न देवोंका व्यंतरोंमें अंतर्भाव है और कल्पवासियोंका वैमानिकोंमें अंतर्भाव है इसलिए व्यंतर और वैमानिक निकायोंमें ही अंतर्भाव होनेसे उनका भिन्न निकाय स्वीकार करना असंगत है इसरीतिसे ऊपर जो चार निकाय माने हैं उनकी हानि नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

"जिसप्रकार लौकांतिक देवोंका कल्पवासियोंमें अंतर्भाव है" यहांपर जो दृष्टांत रूपसे लौकांतिक देवोंका उल्लेख किया गया है वे लौकांतिक देव कौन स्वर्गमें रहते हैं? सूत्रकार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

ब्रह्मलोकालया लौकांतिकाः ॥ २४ ॥

जिनका ब्रह्मलोक आलय है अर्थात जो पांचवें स्वर्गके अंतमें रहते हैं वे लौकांतिक देव हैं।

एत्य तस्मिल्लीयते इत्यालयः ॥ १ ॥

जहांपर जीव आकर रहैं उसका नाम आलय है। उसको भी निवास कहते हैं। जिनका निवास स्थान ब्रह्मलोक हो वे ब्रह्मलोकालय कहे जाते हैं।

सर्वब्रह्मलोकदेवानां लौकांतिकत्वप्रसंग इति चेन्न लोकांतोपश्लेषात ॥ २ ॥

ब्रह्मलोकके अंतमें रहनेवाले लौकांतिक देव माने गये हैं परन्तु 'ब्रह्मलोकालयाः' इस पदसे तो सामान्यरूपसे ब्रह्मस्वर्गनिवासी समस्त देवोंको लौकांतिकपना प्राप्त होता है जोकि विरुद्ध है? सो ठीक नहीं। ब्रह्मलोकालय इस शब्दके साथ लौकांतिक शब्दका संबन्ध है। ब्रह्मलोकके अंतका नाम लोकांत है और वहांपर रहनेवाले लौकांतिक कहे जाते हैं। इसरीतिसे ब्रह्मलोकके अंतमें रहनेवाले ही देव लौकांतिक हो सकते हैं समस्त ब्रह्मलोकनिवासी नहीं। अथवा—

जन्म जरा और मरणसे व्याप्त स्थानका नाम लोक है। उसका अंत लोकांत है जिन्हें उस लोकांतका प्रयोजन हो वे लौकांतिक कहे जाते हैं। ये लौकांतिक देव परीतसंसार हैं। ब्रह्मलोकसे च्युत होकर, एक गर्भवास अर्थात् नरभव पाकर नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥ २४ ॥

सामान्यरूपसे लौकांतिक देवोंका उल्लेख कर दिया गया अब उनके भेदोंके दिखानेके लिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

१११७

सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

सारस्वत आदित्य वह्नि अरुण गर्दतोय तुषित अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकारके लौकांतिक देव होते हैं। प्रश्न—सारस्वत आदि देवोंका निवास स्थान कहां है ? उत्तर—

पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रमं सारस्वतादयः ॥ १ ॥

पूर्वोत्तर (ईशान) आदि आठों दिशाओंमें क्रमसे सारस्वत आदि देवोंका निवास है । खुलासा इसप्रकार है—

अरुण समुद्रसे उत्पन्न, मूलभागमें संख्यात योजन चौडा एक तमोमयी स्कन्ध है । वह समुद्रके समान गोलाकार है, गाढ अन्धकारसे आच्छन्न है । वह क्रमसे ऊपरकी ओर बढता हुआ मध्य और अन्तभागमें संख्यात योजनका मोटा है । अरिष्ट नामक इन्द्रक विमानके अधोभागमें जाकर मिला है। मुर्गेके समान वक्ररूपसे व्यवस्थित है । उस स्कन्धके ऊपर आठ अन्धकारकी श्रेणियां हैं । वे अरिष्ट नामक इन्द्रक विमानके समीप हैं । अंतरालमें चारो दिशाओंमें एकमएक हैं और तिर्यक् लोकके अंत पर्यंत विस्तृत हैं। उनके मध्यमें सारस्वत आदि देवोंकी स्थिति है।

पूर्वोत्तर अर्थात् 'ईशान' कोणमें सारस्वत विमान हैं। पूर्वदिशामें आदित्य विमान हैं । पूर्व और दक्षिणके मध्य अग्नि कोणमें वह्नि विमान है। दक्षिण दिशामें अरुण विमान है। दक्षिण पश्चिम कोणमें गर्दतोय विमान है । पश्चिम दिशामें तुषित विमान है । पश्चिमोत्तर अर्थात् वायव्यकोणमें अव्याबाध विमान है और उत्तरादिशामें अरिष्ट विमान है।

चशब्दसमुच्चिताः तदंतरालवर्तिनः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो चशब्दका उल्लेख किया गया है उसका अर्थ समुच्चय है । उस समुच्चयार्थक चशब्दकी सामर्थ्यसे सारस्वत आदि विमानोंके अन्तरालोंसे आपसमें एक दूसरेसे मिलनेवाले अन्य देवगण भी निवास करते हैं । खुलासा इसप्रकार है—

अग्न्याभसूर्याभचंद्राभसत्याभश्रेयस्करक्षेमंकरवृषभेष्टकामचरनिर्माणरजोदिगंतरक्षितात्मरक्षितसर्वरक्षि-
तमरुद्वस्वश्वविश्वाख्याः ॥ ३ ॥

अग्न्याभ आदि सोलह देवगण लौकांतिक देवोंके ही भेद स्वरूप हैं अर्थात्—

सारस्वत और आदित्य विमानोंके अन्तरालमें अग्न्याभ और सूर्याभ विमान हैं । आदित्य और वह्निके अंतरालमें चंद्राभ और सत्याभ नामक विमान हैं । वह्नि और अरुण विमानोंके अन्तरालमें श्रेयस्कर और क्षेमंकर नामके विमान हैं । अरुण और गर्दतोयके अंतरालमें वृषभेष्ट और काम व(च)र नामके विमान हैं । गर्दतोय और तुषित विमानोंके मध्यभागमें निर्वाणरज और दिगंतराक्षित नामक विमान हैं । तुषित और अव्याबाध विमानोंके मध्यभागमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित नामक विमान हैं । अव्याबाध और अरिष्ट विमानोंके मध्यभागमें मरुत् और वसु नामके विमान हैं । अरिष्ट और सारस्वत विमानोंके मध्यभागमें अश्व और विश्व नामके विमान हैं । इन विमानोंके सम्बन्धसे इनमें रहनेवाले देव भी इन्हीं नामोंके धारक हैं ।

उपर्युक्त विमानोंमें सारस्वत विमान सातसौ सात हैं । आदित्य विमान भी सातसौ सात है । वह्नि नामके विमान सात अधिक सात हजार हैं अरुण विमान भी सात अधिक सात हजार हैं । गर्दतोय विमान नौ हजार नव हैं । तुषित विमान भी नौ अधिक नौ हजार हैं । अव्याबाध विमान ग्यारह अधिक

ग्यारह हैं । अरिष्ट भी ग्यारह अधिक ग्यारह हजार हैं । इस प्रकार सारस्वत आदि विमानोंकी संख्याका उल्लेख कर दिया गया । चशब्दसे समुचित अग्न्याभ आदि विमानोंकी संख्याका उल्लेख इस प्रकार है—

अग्न्याभ विमानमें सात अधिक सात हजार देव हैं। सूर्याभ विमानमें नौ हजार देव हैं । चंद्राभ विमानमें ग्यारह अधिक ग्यारह हजार देव हैं। सत्याभ विमानमें तेरह अधिक तेरह हजार देव हैं। श्रेयस्करमें पंद्रह अधिक पंद्रह हजार देव हैं। क्षेमंकर विमानमें सत्रह हजार सत्तरह देव हैं। वृषभेष्ट विमानमें उन्नीस अधिक उन्नीस देव हैं। कामवर विमानमें इकीस अधिक इकीस हजार देव हैं। निर्माणरज विमानमें तेईस अधिक तेईस हजार देव हैं। दिगंतरक्षित विमानमें पचीस अधिक पचीस हजार देव हैं। आत्मरक्षित विमानमें सत्ताईस अधिक सत्ताईस हजार देव हैं। सर्वरक्षित विमानमें उन्तीस अधिक उन्तीस हजार देव हैं। मरुत् विमानमें इकतीस अधिक इकतीस हजार देव हैं । वसु विमानमें तेतीस अधिक तेतीस हजार देव हैं। अश्व विमानमें पैंतीस अधिक पैंतीस हजार देव हैं। विश्व विमानमें सैंतीस अधिक सैंतीस हजार देव हैं । ये चौवीसो लौकांतिक देव मिलकर चार लाख सात हजार आठसौ छह ४०७८०६ हैं। ये समस्त लौकांतिक देव स्वतंत्र हैं क्योंकि इनमें छोटा बडापन नहीं है । इनमें विषयसंबंधी रतिका अभाव है इसलिए ये देवर्षि कहे जाते हैं। अन्य समस्त देवों द्वारा पूजनीय हैं अर्थात् समस्त देव इन्हें बडी आदर दृष्टिसे देखते हैं । चौदह पूर्वके धारक हैं । सदा इनका मन ज्ञानकी भावनामें संलग्न बना रहता है। संसारसे सदा उदासीन रहते हैं । अनित्य अशरण संसार आदि बारह भावनाओंका सदा मनमें विचार करते रहते हैं। अत्यंत विशुद्ध सम्यग्दर्शनके धारक हैं । जिस समय भगवान तीर्थं-

करको संसारसे वैराग्य होता है और वे वनको जानेके उद्यमी होते हैं उस समय ये लौकांतिक देव उन्हें और भी दृढ वैराग्यके लिए प्रतिबुद्ध करते हैं।

नामकर्मकी उत्तरोत्तर असंख्याती प्रकृतियां मानी हैं इसलिये संसारी जीवोंकी शुभ और अशुभ कर्मोंसे जायमान अनेक संज्ञा समझ लेनी चाहिये। इसप्रकार कार्माण शरीर द्वारा आस्रवके अपेक्षा अर्थात् नाना प्रकारके कर्मोंके आस्रवसे सुख और दुःखोंके स्थान तथा भव्य और अभव्यके भेदसे दो भेदवाले संसारी जीवोंकी अपेक्षा यह संसार अनादि अनंत है। मोहनीय कर्मके उपशम तथा नाश करनेकेलिये उद्यमी और पाया हुवा सम्यग्दर्शन जिनका छूटता नहीं ऐसे जीवोंके लिये संसार परिमित है वे ज्यादहसे ज्यादह सात आठ भव धार कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और कमसे कम दो तीन भवोंके बाद ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं किंतु जिनका सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट जाता है उनके लिये मोक्षकी प्राप्ति भाज्य है अर्थात् उनके लिये यह कोई नियम नहीं कि वे कितने दिनोंमें मोक्ष प्राप्त करें–उचित देश काल सामग्रीके प्राप्त होने पर वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् अर्धपुद्गल परिवर्तन कालमें वे भी नियमसे मोक्ष चले जाते हैं॥ २२ ॥

प्राप्त होकर जिनका सम्यक्त्व छूटता नहीं उन सबोंमें समानता है कि कुछ विशेषता है अर्थात् अप्रातिपाती सम्यक्त्ववाले जीव सात आठ भवावतारी ही होते हैं अथवा दो आदि भवावतारी भी होते हैं। सूत्रकार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं–

१–आह उक्ता लौकांतिकास्ततश्च्युत्वा एकं गर्भवासमवाप्य निर्वास्यन्तीत्युक्ताः किमन्येष्वपि निर्वाणप्राप्तिकालो विद्यते ? इत्यत आह–अर्थात् लौकांतिक देव ब्रह्मस्वर्गसे चयकर एक भव धारण कर ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, यह बात कह दी गई। क्या

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजय आदि चार विमानोंके देव द्विचरम होते हैं अर्थात् मनुष्यके दो जन्म लेकर मोक्ष चले जाते हैं। विजयादिषु यहां पर जो आदि शब्द है वार्तिककार उसका खुलासा अर्थ बतलाते हैं—

आदिशब्दः प्रकारार्थः ॥ १ ॥

'विजयादिषु' यहांपर जो आदि शब्द है उसका अर्थ प्रकार है इसलिये यहांपर आदि शब्दसे विजय वैजयंत जयंत अपराजित और अनुदिश विमानोंका अभीष्ट रूपसे ग्रहण है। अर्थात् विजय वैजयंत जयंत अपराजित और अनुदिश विमावासी देव दो मनुष्य भव धारण कर मोक्ष चले जाते हैं। यहांपर प्रकार अर्थात् सदृशका अर्थ यह है जो वैमानक देव अहमिंद्र और सम्यग्दृष्टि होते हैं वे ही दो मनुष्य भव धारण कर मोक्ष जाते हैं अन्य नहीं इस लिये खुलासा तात्पर्य यहां यह और समझ लेना चाहिये कि नव ग्रैवेयकोंमें जो अहमिंद्र मिथ्यग्दृष्टि हैं वे दो मनुष्य भव धारण कर मोक्ष नहीं जाते क्योंकि नव ग्रैवेयकोंमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकारके अहमिंद्र हैं। अर्थात् जो अहमिंद्र सम्यग्दृष्टि हैं वे ही दो मनुष्य भव धारण कर मोक्ष जाते हैं। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

अहमिंद्र और सम्यग्दृष्टि तो सर्वार्थसिद्धि विमानवासी भी देव हैं। यदि यहांपर प्रकारका अर्थ यह किया जायगा कि जो वैमानिक देव अहमिंद्र और सम्यग्दृष्टि हों वे द्विचरम अर्थात् दो भव

लौकांतिक देवोंके सिवाय दूसरोंमें भी निर्वाण प्राप्तिका नियत काल है या नहीं सूत्रकार 'है' ऐसा स्वीकार कर स्पष्ट करते हैं—यह उत्थानिका सर्वार्थसिद्धिकी है। एक भव धारण कर मोक्ष प्राप्त करनेवाले तो लौकांतिक देव कह दिये गये, दो भव धारण करनेवाले कौन हैं सूत्रकार इस बातका स्पष्टीकरण करते हैं—विजयादिष्विति।

धारण कर मोक्ष जाते हैं तब तो सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवोंकी भी दो मनुष्य भव धारणके बाद मोक्ष माननी पडेगी क्योंकि अहमिंद्र और सम्यग्दृष्टि वे भी हैं परन्तु उन्हें शास्त्रमें एकचरम अर्थात् एक भव धारण कर मोक्ष जानेवाला माना है इसलिये प्रकार शब्दका जो अहमिंद्र और सम्यग्दृष्टि अर्थ माना है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देव परमोत्कृष्ट हैं। जहांपर सर्व प्रयोजनोंकी सिद्धि हो वह सर्वार्थसिद्धि है यह सर्वार्थसिद्धि शब्दका अन्वर्थरूपसे अभिप्राय है। सर्वार्थसिद्धि विमानवासी देवोंके किसी प्रयोजनीय कार्यका संपादन करनेवाला कर्म बाकी नहीं रहता जिससे वे दो मनुष्य भव धारण कर मोक्ष जांय इसलिये मोक्षार्थ वे एक ही मनुष्य भव धारण करते हैं और वहांसे मोक्ष चले जाते हैं अतः उनके एक चरमपना ही है द्विचरमपना नहीं।

द्विचरमत्वं मनुष्यदेहद्वयापेक्षं ॥ २ ॥

चरम शब्दका अर्थ पहिले अर्थात् औपपादिकचरमेत्यादि सूत्रमें कह दिया गया है। जिनके दो चरम देह हों वे द्विचरम कहे जाते हैं और द्विचरमत्वका अर्थ द्विचरमपना है। यह द्विचरमपना यहांपर मनुष्यभवके दो शरीरोंकी अपेक्षा है अर्थात् जिसका सम्यक्त्व अप्रतिपाती है अर्थात् जो क्षायिक सम्यक्त्वी है वह विजय आदि विमानोंसे च्युत होकर मनुष्य होता है। मनुष्य भवमें संयमका आराधन कर पुनः विजयादि विमानोंमें उत्पन्न होता है। वहांसे च्युत होकर पुनः मनुष्य होता है और वहांसे फिर मोक्ष चला जाता है किंतु भव सामान्यकी अपेक्षा यहांपर द्विचरमपना नहीं है अन्यथा दो मनुष्य भव और एक देवभव इसप्रकार तीन चरमदेहपना सिद्ध होगा दोचरमदेहपना सिद्ध न हो सकेगा। शंका—मनुष्यदेहको ही चरमपना क्यों? देवदेहको क्यों चरमपना नहीं माना गया? उत्तर—

मनुष्यदेहस्य चरमत्वं तेनैव मुक्तिपरिणामोपपत्तेः ॥ ३ ॥

मनुष्यपर्यायको प्राप्तकर ही देव नारकी और तिर्यंच मोक्षलाभ करते हैं, देव नारकी और तिर्यंच पर्यायोंसे मोक्षलाभ नहीं होता इसलिये मनुष्यदेहको ही चरमपना सिद्ध है अन्य किसी पर्यायवर्ती देहको नहीं। शंका—

एकस्य चरमत्वमिति चेन्नौपचारिकत्वात् ॥ ४ ॥

जिस मनुष्यसे साक्षात् मोक्ष हो उसीको चरम मानना ठीक है किंतु मनुष्य भवकी दो देहोंको चरम मानना ठीक नहीं इसलिये मनुष्य भवकी दो देहोंको जो चरम माना है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। जिस देहसे साक्षात् मोक्ष प्राप्त हो वह मुख्य चरम है और प्रत्यासत्ति संबंधसे उस चरम देहके समीप रहनेवाला पहिला मनुष्य देह उपचारसे चरम है इसरीतिसे एक मनुष्य देह मुख्यरूपसे और एक उपचारसे चरम होनेके कारण दोनों मनुष्य देहोंको चरम माननेमें कोई आपत्ति नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

पहिले मनुष्य देहसे संयमके द्वारा विजयादि अनुत्तर विमानोंमें जन्म लेना पडता है उसके बाद मनुष्य देह धारण करनेके बाद मोक्ष प्राप्त होती है इसरीतिसे देवगतिके व्यवधान पडजानेपर मनुष्य देह प्रत्यासन्न नहीं हो सकता सो ठीक नहीं। 'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि वचनप्रामाण्यात्' अर्थात् जिस पदार्थका अवश्य व्यवधान है उसके व्यवधान रहते भी वचन प्रामाण्यसे कार्य हो जाता है, यद्यपि यहांपर देवगतिका व्यवधान है तथापि दोनों मनुष्य देहोंको आगममें चरम कहा गया है इसलिये आगम वचनके प्रमाणसे दोनों मनुष्य देहोंको चरम मानना निरापद है। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

आर्षविरोध इति चेन्न प्रश्नविशेषापेक्षत्वात् ॥ ५ ॥

विजय आदिमें जो द्विचरमपना माना है वह ठीक नहीं क्योंकि वहांपर त्रिचरमपना अर्थात् तीन बार मनुष्यभव धारणकर पीछे मोक्ष जाना होता है ऐसा आगममें कहा है। जहांपर आगममें अंतरका प्रकरण है वहांपर यह उलेख भी है—

अनुदिश अनुत्तर विजय वैजयंत जयंत अपराजित विमानवासी देवोंका जघन्य अंतर वर्षपृथक्त्व प्रमाण है और उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक दो सागर प्रमाण है इसका खुलासा तात्पर्य यह है—कोई कोई जीव अनुदिश अनुत्तर आदि विमानोंसे चयकर, मनुष्यपर्याय पाकर और आठ वर्षप्रमाण संयम धारण कर अंतर्मुहूर्तमें ही विजय आदि विमानोंमें उत्पन्न होते हैं इसरीतिसे जघन्य अंतर तो वर्षपृथक्त्वप्रमाण है तथा कोई कोई जीव अनुदिश आदिसे चयकर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं, वहांपर संयमको आराधन कर सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं वहांसे चयकर मनुष्यपर्याय पाकर पुनः विजय आदिमें उत्पन्न होते हैं इसरीतिसे उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक दो सागरप्रमाण है। यहांपर मोक्षके पहिले पहिले तीनबार मनुष्य भव धारण करनेके कारण द्विचरमपना जो कहा है वह अयुक्त है क्योंकि आगमसे त्रिचरमपना सिद्ध है और यहांपर द्विचरमपना माना है इसलिए आगम विरोध है ? सो ठीक नहीं। जहां जैसा प्रश्न होता है वहां वैसा ही उत्तर दिया जाता है यदि विशेष प्रश्न होगा तो विशेष उत्तर और यदि साधारण प्रश्न होगा तो साधारण उत्तर दिया जाता है प्रश्न विशेषकी अपेक्षा आगममें द्विचरमपनेका ही उलेख है और वह इसप्रकार है—

१—अर्थ सप्रमाण पहिले लिखा जाचुका है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति दंडकोंमें इस प्रकार लिखा है कि विजयादिनिवासी देव मनुष्य भवको प्राप्त होते हुए कितनी गति आगति (जाना आना) विजय आदि विमानोंमें करते हैं इस गौतम गणधरके प्रश्न करनेपर भगवान महावीर जिनेंद्रने यह उत्तर दिया था कि जघन्य रूपसे तो आगमनकी अपेक्षा एक मनुष्य भव धारण करना पडता है और उत्कृष्ट रूपसे गमन आगमनकी अपेक्षा दो मनुष्य भव धारणं करने पडते हैं किंतु जो देव सर्वार्थसिद्धि विमाननिवासी हैं वे वहांसे चयकर उसी भवसे मोक्ष चले जाते हैं इसलिये जिसप्रकार लौकांतिक देव एक ही भव धारण कर मोक्ष चले जाते हैं वैसा विजय आदि अनुत्तर विमानवासी देवोंकेलिये नियम नहीं किंतु विजय आदि चार अनुत्तर विमानवासी देव दो मनुष्य भव धारण कर मोक्ष जाते हैं इस रीतिसे यहांपर जो प्रश्न था वह दूसरे दूसरे स्वर्गोंमें होनेवाली उत्पत्तिकी अपेक्षारहित था इसलिये विजय आदिमें द्विचरमपना आगमविरोधी नहीं हो सकता अतः विजय आदि विमानवासी देव दो मनुष्यभव धारण कर मोक्ष जाते हैं यह बात अबाधित रूपसे सिद्ध हो चुकी ॥ २६ ॥

ऊपर जहांपर जीवके औदयिक भाव कहे गये हैं वहांपर यह उल्लेख किया गया है कि तिर्यंच गति; औदयिक भाव है। तथा जहांपर नारकी आदिकी स्थितिका वर्णन किया गया है वहां 'तिर्यग्योनिजानां च' इस सूत्रमें तिर्यंच शब्दका उल्लेख किया गया है। तथा आगे छठे अध्यायमें जहां पर आस्रवका प्रकरण लिखा गया है वहांपर 'माया तैर्यग्योनस्य' अर्थात् मायाचारी—छल कपट करना तिर्यंच गतिके आस्रवका कारण है परंतु तिर्यंच कौन हैं? यह बात अभी तक नहीं कही गई इसलिये वे तिर्यंच कैसे और कौन हैं? सूत्रकार इसबातका खुलासा करते हैं—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

उपपाद शय्यासे उत्पन्न होनेवाले देव और नारकी तथा मनुष्य इनसे भिन्न—अवशिष्ट सब जीव तिर्यंच हैं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

'औपपादिकमनुष्येभ्यः' यह जो निर्देश किया गया है वह ठीक नहीं क्योंकि यह नियम है जिसमें थोडे स्वर होते हैं उसका द्वंद्वसमासमें निपात वा प्रयोग पहिले होता है । औपपादिक और मनुष्य इन दोनों शब्दोंमें मनुष्य शब्दमें थोडे स्वर हैं और औपपादिक शब्दमें अधिक हैं इसलिये 'औपपादिकमनुष्येभ्यः' यहांपर मनुष्य शब्दका पहिले प्रयोग होना आवश्यक है ? सो ठीक नहीं । थोडे स्वरवालेकी अपेक्षा जो अभ्यर्हित (उत्कृष्ट) होता है वह प्रधान माना जाता है यहांपर मनुष्यकी अपेक्षा औपपादिक अभ्यर्हित है इसलिये सूत्रमें औपपादिक शब्दका ही उल्लेख किया गया है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिए कि औपपादिक क्यों अभ्यर्हित हैं ? क्योंकि औपपादिकोंमें देवोंका अंतर्भाव है तथा मनुष्योंकी अपेक्षा स्थिति प्रभाव आदिके द्वारा देव अभ्यर्हित—उत्कृष्ट हैं यह ऊपर विस्तारसे वर्णन किया जा चुका है इसलिये औपपादिक शब्दका मनुष्य शब्दसे पहिले प्रयोग अबाधित है ।

उक्तेभ्य औपपादिकमनुष्येभ्योऽन्ये शेषाः ॥ १ ॥

उपपाद शय्यासे उत्पन्न होनेवाले देव और नारकी पहिले कह दिये गये । 'प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः' इस सूत्रसे मनुष्योंका भी व्याख्यान कर दिया गया । इन देव नारकी और मनुष्योंसे भिन्न तिर्यंच हैं। शंका—

सिद्धप्रसंग इति चेन्न सांसारिकप्रकरणात् ॥ २ ॥

यदि देव नारकी और मनुष्योंसे भिन्न जीवोंको तिर्यंच माना जायगा तो सिद्धोंको भी तिर्यंच कहना चाहिये क्योंकि देव नारकी और मनुष्योंसे भिन्न सिद्ध भी हैं? सो ठीक नहीं। यहांपर संसारी जीवोंका प्रकरण चल रहा है इसलिये यहां पर यह अर्थ समझ लेना चाहिये कि देव नारकी और मनुष्योंसे भिन्न जो संसारी जीव हैं वे तिर्यंच हैं इसरीतिसे सिद्धोंका ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि वे संसारी नहीं। वार्तिककार तिर्यग्योनि शब्दका स्पष्टार्थ करते हैं—

तिरोभावात्तैर्यग्योनिः ॥ ३ ॥

तिरोभावका दूसरा पर्याय न्यग्भाव और उपवाह्य है और उसका अर्थ बोझ बहन करना वा पास में आकर सेवा करना है। इसरीतिसे तिर्यंच नाम कर्मके उदयसे जो न्यग्भाव वा उपवाह्यत्व स्वरूप प्राप्त हो उसका नाम तिर्यग्योनि वा तिर्यंच है। योनिका अर्थ जन्म है। तिर्यंचोंमें जिनका जन्म हो वे तिर्यग्योनि कहे जाते हैं। उनके त्रस स्थावर आदि भेद हैं और वे ऊपर कह दिये जाचुके हैं। शंका—

देवादिवत्तदाधारानिर्देश इति चेन्न सर्वलोकव्यापित्वात् ॥ ४ ॥

जिस तरह देवोंके रहनेका स्थान ऊर्ध्वलोक वतलाया है। मनुष्योंका तिर्यग्लोक और नारकियोंका अधोलोक कहा गया है उसीप्रकार तिर्यंचोंके रहनेका भी कोई खास आधार कहना चाहिये। उसका समाधान यह है कि तिर्यंचोंमें एकेंद्रियसे लेकर पांचों इंद्रियां होती हैं। वे एकेंद्रियादि तिर्यंच समस्त लोकमें रहते हैं इसलिये उनके रहनेका विशेष आधार न होनेसे निर्देश नहीं किया गया। तिर्यंच सर्वलोकमें किसप्रकार फैले हैं वार्तिककार इस विषयका स्पष्टीकरण करते हैं—

सूक्ष्मवादरभेदात् ॥ ५ ॥

सूक्ष्म और वादरके भेदसे तिर्यंच दो प्रकारके होते हैं। जिनकी उत्पत्ति सूक्ष्म नाम कर्मके उदयसे हो वे सूक्ष्म हैं। वे पृथ्वी जल तेज वायु और वनस्पतिके भेदसे पांचप्रकारके हैं और समस्त लोकमें सर्वत्र फैले हुये हैं तथा पृथ्वी जल तेज वायु वनस्पति विकलेंद्रिय अर्थात् दो इंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय एवं पंचेंद्रिय जो कहीं कहीं पर रहते हैं सर्वत्र नहीं वे सब वादर हैं। शंका—

द्वितीयेऽध्याये तन्निर्देश इति चेन्न कृत्स्नलोकभावात् ॥ ६ ॥ शेषसंप्रतिपत्तेश्च ॥ ७ ॥

दूसरे अध्यायमें जहां पर इंद्रियोंका वर्णन किया गया है वहींपर तिर्यंचोंका वर्णन कर देना योग्य था यहां उनका वर्णन क्यों किया गया सो ठीक नहीं। तिर्यंचोंके रहनेका स्थान सर्वलोक है। सर्वलोकके वर्णनके वाद ही उनके आधारका उल्लेख करना सुगम हो सकता है। यहांतक सर्वलोकका वर्णन किया जा चुका है इसलिए सुगमतासे तिर्यंचोंके आधारके बतलानेकेलिए यहां उनके आधारका उल्लेख किया है। तथा और भी यह वात है कि—

नारकी देव और मनुष्योंके वर्णनके बाद उनसे अन्य जो अवशिष्ट संसारी जीव हैं वे तिर्यंच हैं इसप्रकार शेषोंका लाभ स्पष्टरूपसे होता है इसलिये नारक आदिके वर्णनके बाद शेषोंको तिर्यंच बतानेके लिए यहांपर ही तिर्यंचोंका उल्लेख किया गया है ॥ २७ ॥

अब स्थितिका वर्णन करना चाहिये उनमें नारकी तिर्यंच और मनुष्योंकी स्थितिका वर्णन तो कर दिया गया अब देवोंकी स्थितिका वर्णन करना आवश्यक है इसलिए देवोंकी स्थितिका वर्णन किया जाता है। उनमें भी चारो निकायोंमें भवनवासी निकायका सबसे पहिले उल्लेख किया गया है इसलिये सबसे पहिले सूत्रकार भवनवासी देवोंकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनामिता ॥ २८ ॥

असुरकुमार नागकुमार सुपर्णकुमार द्वीपकुमार और शेष छह कुमारोंकी आयु क्रमसे एकसागर, तीन पल्य, ढाई पल्य, दो पल्य और डेढ पल्यकी है।

असुरादीनां सागरोपमादिभिरभिसंबंधो यथाक्रमं ॥ १ ॥

असुर आदि शब्दोंका सागरोपम आदि शब्दोंके साथ क्रमसे संबंध है। यहांपर जो यह स्थिति बतलाई गई है वह उत्कृष्ट स्थिति है जघन्य स्थिति भवनवासी देवोंकी आगे कही जायगी। असुरकुमार आदि देवोंमें विभक्तरूपसे स्थितिका वर्णन इसप्रकार है—

असुरकुमार देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरप्रमाण है। नागकुमारोंकी तीन पल्य, सुपर्णकुमारोंकी ढाई पल्य, द्वीपकुमारोंकी दो पल्य बाकीके छह कुमारोंमें प्रत्येककी डेढ डेढ पल्यकी है ॥ २८ ॥

आदि देवनिकाय अर्थात भवनवासी देवोंके स्थितिके प्रतिपादन कर देनेके बाद व्यंतर और ज्योतिषी देवोंकी स्थिति क्रमप्राप्त है परंतु वह न कहकर पहिले वैमानिक देवोंकी स्थितिका वर्णन किया जाता है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि व्यंतर और ज्योतिषी देवोंकी स्थितिका उल्लंघन कर वैमानिक देवोंकी पहिले स्थिति क्यों कही जाती है? उसका समाधान यह है कि—व्यंतर और ज्योतिषी देवोंकी यहां स्थिति कहनेमें सूत्रमें अधिक अक्षर कहनेसे गौरव होगा और आगे कहनेमें अक्षरोंका लाघव होगा इसलिये इनकी आगे ही स्थिति कहना लाभदायक है। इस तरह वैमानिक देवोंमें सबसे पहिले कहे गये सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके निवासी देवोंकी स्थितिका सूत्रकार वर्णन करते हैं—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है।

द्विवचननिर्देशाद् द्वित्वमिति ॥ १ ॥

'सागरोपमे' यह प्रथमा विभक्तिका द्विवचनांत निर्देश है इसलिये उसका 'दो सागर' यह अर्थ समझ लेना चाहिये।

अधिके इत्याधिकार आसहस्रारात् ॥ २ ॥

सूत्रमें 'अधिके' यह अधिकार है और यह अधिकार सहस्रार स्वर्गपर्यंत लिया गया है इसलिये यहांपर सूत्रका सौधर्म और ऐशान स्वर्गवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक दो सागर प्रमाण है, यह अर्थ समझ लेना चाहिये ॥ २९ ॥

सूत्रकार अब सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गनिवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका उल्लेख करते हैं—

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमार और माहेंद्र इन दोनों स्वर्गोंके देवोंकी आयु कुछ अधिक सात सागरका है।

अधिकारात्सागराधिकसंप्रत्ययः ॥ १ ॥

सौधर्मैशानयोरित्यादि सूत्रसे इस सूत्रमें सागर और अधिक शब्दकी अनुवृत्ति आती है इसलिये सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गनिवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागर प्रमाण है, सूत्रका यह स्पष्ट अर्थ है ॥ ३० ॥

ब्रह्म स्वर्गको आदि लेकर अच्युत स्वर्गपर्यंतके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति प्रतिपादन करनेके लिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशाभिराधिकानि तु ॥ ३१ ॥

सात सागरसे तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पंद्रह सागर अधिक बाकीके छह स्वर्गोंके युगलोंमें रहनेवाले देवोंकी उत्कृष्ट आयु है । अर्थात् ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गनिवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयु दश सागरसे कुछ अधिक है। लांतव कापिष्ठ स्वर्गनिवासी देवोंकी कुछ अधिक चौदह सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है इसीप्रकार आगे भी समझ लेनी चाहिये ।

सप्तग्रहणस्य त्र्यादिभिराभिसम्बंधः ॥ १ ॥

दो दो युगलोंमें सात सात सागरकी आयु है यह यहांपर प्रकरण आ रहा है उस सप्तके साथ यहां त्रि आदिका सम्बंध कर लेना चाहिये अर्थात् तीन अधिक सात, तेरह अधिक सात, पंद्रह अधिक सात, यह सूत्रका अर्थ है ।

तुशब्दो विशेषणार्थः ॥ २ ॥

तुशब्द यहांपर विशेषणार्थक है और वह 'अनुवृत्तिके द्वारा आया हुआ अधिक शब्द ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, शतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोंके युगलोंके साथ ही सम्बद्ध होता है आगेके स्वर्गोंके युगलोंके साथ नहीं यह विशिष्ट अर्थ द्योतन करता है इससे यहांपर यह अर्थ समझ लेना चाहिये कि—ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तर युगलमें कुछ अधिक दश सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। लांतव कापिष्ठ युगलमें कुछ अधिक चौदह सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। शुक्र महाशुक्र युगलमें कुछ अधिक सोलह

सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। शतार और सहस्रार युगलमें कुछ अधिक अठारह सागरप्रमाण स्थिति है। आनत प्राणत युगलमें वीस सागर प्रमाण और आरण अच्युत युगलमें बाईस सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। शंका—

'अधिक' इस अधिकारका सम्बंध सहस्रारस्वर्ग पर्यंत है यह ऊपर कहा जाचुका है। विशेषणार्थ 'तु'शब्द भी यही बात द्योतन करता है। इसरीतिसे जो बात ऊपर कह दी गई है उसी बातको तुशब्दसे द्योतित करना पिष्टपेषण होनेसे अयुक्त है अतएव सूत्रमें जो 'तु' शब्द है वह निरर्थक है ? सो ठीक नहीं। ऊपर जो यह बात कही गई है कि अधिक शब्दका अधिकार सहस्रार पर्यंत ही समझना चाहिये वह इसी तुशब्दके उल्लेखसे सिद्ध होनेके कारण लिखी गई है। यदि तुशब्दका उल्लेख नहीं रहता तो वह बात सिद्ध नहीं हो सकती थी इसलिये सूत्रमें जो तुशब्दका प्रयोग है वह निरर्थक नहीं ॥ ३१ ॥

सोलह स्वर्गपर्यंतके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन कर दिया गया अब उनके ऊपरके कल्पातीत विमानवासी देवोंकी स्थितिका सूत्रकार वर्णन करते हैं—

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

आरण और अच्युत युगलसे ऊपर ग्रैवेयकोंमें, नव अनुदिशोंमें, विजय आदिक चार विमानोंमें और सर्वार्थसिद्धि विमानमें एक एक सागर बढती आयु है अर्थात् प्रथम ग्रैवेयकमें तेईस सागर, दूसरेमें चौवीस सागर, इत्यादि रूपसे आगे भी समझ लेनी चाहिये।

अधिकारादाधिकसंबंधः ॥ १ ॥

सौधर्मैशानयोरित्यादि सूत्रमें जो अधिक शब्दका उल्लेख है उसका बराबर अधिकार चला रहा

है इस सूत्रमें अधिक शब्दकी अनुवृत्ति आती है और उसका एकैक शब्दके साथ संबंध कर एक एक सागर अधिक है यह यहांपर अर्थ है। शंका—'नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु' इसरूपसे जुदा जुदा उल्लेख क्यों किया गया 'नवग्रैवेयकविजयादिषु' ऐसा समासांत एक पद ही मानना चाहिये था। ऐसे माननेमें अक्षरोंका लाघव भी होता? उत्तर—

ग्रैवेयकेभ्यो विजयादीनां पृथग्गृहणमनुदिशसंगृहार्थं ॥ २ ॥

ग्रैवेयकोंसे विजय आदि विमानोंका जो पृथक्रूपसे ग्रहण किया गया है वह नौ अनुदिश विमानोंके संग्रहकेलिये है यदि 'ग्रैवेयकविजयादिषु' ऐसा कहा जाता तो नव अनुदिश विमानोंका ग्रहण नहीं होता इसलिये ग्रैवेयकोंसे विजय आदिका पृथग् ग्रहण सार्थक है, निरर्थक नहीं। तथा—

प्रत्येकमेकैकवृद्ध्याभिसंबंधार्थं नवगृहणं ॥ ३ ॥

यदि सूत्रमें नवशब्द न कह कर केवल ग्रैवेयक शब्द ही कहा जाता तो जिसप्रकार विजय आदि सब विमानोंमें एक ही सागर आधिक स्थिति कही गई है उसीप्रकार सब ग्रैवेयकोंमें भी एक ही सागरकी समानरूपसे स्थिति माननी पडती परन्तु सूत्रमें नव शब्दके उल्लेखसे हर एक ग्रैवेयकमें एक एक सागर अधिक स्थिति है, यह अर्थ होता है इसरीतिसे हर एक ग्रैवेयकमें एक एक सागरप्रमाण आधिक स्थिति है, यह प्रगट करनेके लिये सूत्रमें नव शब्दका उल्लेख किया गया है। विशेष—प्रत्येक ग्रैवेयकमें एक एक सागर आधिक स्थिति लीजाय इसलिये नव शब्दका प्रयोग तो सार्थक है परन्तु 'नवसु' यह जुदा विभक्त्यंत पद क्यों किया? क्योंकि जब ग्रैवेयकोंको नौ बतलाना है तब 'नवग्रैवेयकेषु' ऐसा ही उल्लेख ठीक था इसमें दो अक्षरोंका लाघव भी था? उसका समाधान यह है कि जिस तरह ग्रैवेयक नौ हैं उस तरह

अनुदिश भी नौ हैं यह बात प्रगट करनेके लिये 'नवसु' यह जुदा विभक्त्यंत पद कहा गया है इसलिये कोई दोष नहीं। प्रश्न—ग्रैवेयकोंसे विजय आदि विमानोंके पृथग्ग्रहणका फल जान लिया परन्तु सर्वार्थसिद्धि विमानका पृथग्ग्रहण क्यों किया गया? उत्तर—

सर्वार्थसिद्धिपृथग्ग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थं ॥ ४ ॥

जिसप्रकार नीचेके विमानोंमें जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारकी स्थितिके भेद हैं इसप्रकार सर्वार्थसिद्धि विमानमें जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं यह बतलानेके लिये सूत्रमें सर्वार्थसिद्धि विमानका पृथग्ग्रहण है इसरीतिसे यहांपर यह अर्थ समझ लेना चाहिये—

अधो ग्रैवेयकके तीन भागोंमेंसे प्रथम भागमें उत्कृष्ट स्थिति तेईस सागर प्रमाण हैं। दूसरे भागमें चौवीस सागर और तीसरे भागमें पच्चीस सागर प्रमाण है। मध्य ग्रैवेयकके प्रथम भागमें छव्वीस सागर प्रमाण, दूसरेमें सत्ताईस सागर प्रमाण और तीसरेमें अट्ठाईस सागर प्रमाण है। उपरि ग्रैवेयकके प्रथम भागमें उनतीस सागर प्रमाण, दूसरे भागमें तीस सागर प्रमाण और तीसरे भागमें इकतीस सागर प्रमाण है। नव अनुदिश विमानोंमें उत्कृष्ट स्थिति बत्तीस सागर प्रमाण है। विजय वैजयंत जयंत और अपराजित इन चार अनुत्तर विमानोंमें उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर प्रमाण है। सर्वार्थसिद्धि विमानमें भी तेतीस सागर प्रमाण है। भेद इतना ही है कि सर्वार्थसिद्धि विमानमें तेतीस सागरसे कम अधिक स्थिति नहीं है अर्थात् जघन्य उत्कृष्ट ऐसे दो भेद सर्वार्थसिद्धिमें नहीं हैं किंतु केवल तेंतीस सागर प्रमाण ही स्थिति है ॥ ३२ ॥

मनुष्य और तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति पहिले कह दी गई है परंतु देवोंकी उत्कृष्टस्थिति

ही कही गई है इसलिये क्या उनकी उत्कृष्ट ही स्थिति होती है जघन्य नहीं होती ? इस शंकाके उत्तरमें सूत्रकार उनकी जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं–

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ–जघन्य अर्थात् कमसे कम आयु सौधर्म ऐशान स्वर्गमें एक पल्यसे कुछ अधिक है।

सूत्रमें जो अपरा शब्द है उसका अर्थ जघन्य है स्थिति शब्दकी ऊपरके सूत्रसे अनुवृत्ति आरही है। पल्योपमका प्रमाण पहिले कहा जा चुका है। यह यहांपर जघन्य स्थिति देवोंकी है उनमें भी सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंकी समझनी चाहिये। शंका–सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंकी यह जघन्य स्थिति है इस बातके जाननमें क्या प्रमाण है ? उत्तर–

पारिशेष्यात्सौधर्मैशानयोरपरा स्थितिः ॥ १ ॥

भवनवासी देवोंकी जघन्य स्थितिका उल्लेख आगे किया जायगा। परतः परतः पूर्वापूर्वा इत्यादि सूत्रसे सानत्कुमार माहेंद्र आदिकी स्थितिका वर्णन किया गया है। सौधर्म और ऐशान स्वर्गकी स्थितिका वर्णन कहीं नहीं दीख पडता इस लिये पारिशेष्य बलसे अपरा पल्योपममित्यादि सूत्रसे सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंकी स्थितिका ही विधान है। इसरीतिसे सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंके देवोंकी जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है यह बात सिद्ध हो चुकी ॥ ३२ ॥

सानत्कुमार माहेंद्र आदि स्वर्गनिवासी देवोंकी जघन्य स्थितिका अब सूत्रकार वर्णन करते हैं–

परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ३३ ॥

पहिले पहिले युगलकी उत्कृष्ट आयु व्यवधानरहित अगले अगले युगलमें जघन्य है। अर्थात्

सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें जो कुछ अधिक दो सागरकी उत्कृष्ट आयु है वही सानत्कुमार और माहेंद्रमें जघन्य आयु है। इसीतरह आगे भी समझ लेना चाहिये।

जो पर अर्थात् अगले देशमें रहै उसका नाम परतः है 'परतः परतः' यहां पर वीप्सा अर्थमें द्वित्व है। पूर्व पूर्व यहां पर भी वीप्सा अर्थमें द्वित्व है। खुलासा तात्पर्य यह है कि—पहिले पहिले देवोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति है वह आगे आगेके देवोंकी जघन्य है। शंका—पहिले पहिले स्वर्गोंके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति जो आगे आगे स्वर्गोंके देवोंकी जघन्य मानी गई है वह सामान्य रूपसे उतनी ही मानी गई है अथवा साधिक है वार्तिककार इस विषयका खुलासा करते हैं—

अधिकग्रहणानुवृत्तेः सातिरेकसंप्रत्ययः ॥ १ ॥

'अपरा पल्योपममधिकं' इस सूत्रमें अधिक शब्दका उल्लेख किया गया है उसकी अनुवृत्ति इस सूत्र में है इसलिये अधिकविशिष्ट स्थितिका यहां ग्रहण है। खुलासा इस प्रकार है—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गोंमें जो कुछ अधिक दो सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं वह साधिक अर्थात् कुछ अधिकसे और अधिक दो सागर प्रमाण सानत्कुमार माहेंद्र स्वर्गोंमें देवोंकी जघन्य स्थिति है। सानत्कुमार माहेंद्र स्वर्गोंमें जो कुछ अधिक सात सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं वही कुछ अधिक अर्थात् कुछ अधिकसे अधिक सात सागर प्रमाण ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गोंमें जघन्य स्थिति है। ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तरस्वर्गोंमें जो कुछ अधिक दश सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कह आये हैं वही कुछ अधिकसे अधिक दश सागर प्रमाण लांतव कापिष्ठ स्वर्गोंमें जघन्य स्थिति है इसी प्रकार आगे आगे भी समझ लेनी चाहिये। शंका—यह साधिकका अधिकार कहां तक है ? उत्तर—

आविजयादिभ्योऽधिकारः ॥ २ ॥

आरणाच्युता इत्यादि सूत्रमें सर्वार्थसिद्धि विमानका पृथक् उल्लेख किया गया है इसलिये उसकी सामर्थ्यसे यह विजय आदि अनुत्तरपर्यंत अधिकार है अर्थात् विमानोंमें जो साधिक स्थितिका विधान माना है वह विजय वैजयंत जयंत और अपराजित पर्यंत समझ लेना चाहिये । यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

अनंतरेत्यवचनं पूर्वोक्तेरिति चेन्न व्यवहिते पूर्वशब्दप्रयोगात् ॥ ३ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वा इत्यादि सूत्रमें पूर्व शब्दका उल्लेख किया गया है उसीसे आनंतर्य—व्यवधान-राहितपना अर्थ निकल आता है अर्थात् पहिले पहिले स्वर्गोंकी उत्कृष्ट स्थिति आगे आगेके स्वर्गोंमें जघन्य स्थिति हो जाती है, यह स्पष्ट अर्थ हो जाता है आनंतर्य शब्दके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। सो ठीक नहीं। यदि अव्यवहित अर्थमें ही पूर्व शब्दका प्रयोग होता तब तो 'अनंतरा' शब्दके उल्लेखकी सूत्रमें कोई आवश्यकता नहीं थी किंतु उसका प्रयोग तो व्यवहित अर्थात् जहांपर पदार्थोंका व्यवधान होता है वहांपर भी दीख पडता है जिस तरह 'पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रं' मथुरासे पटना पहिले है यहांपर मथुरासे पाटलिपुत्र अव्यवहित पूर्व नहीं किंतु वीचमें अनेक गांव नदी पहाड आदिका व्यव-धान है इसलिए अव्यवहित अर्थकी सिद्धिके लिये सूत्रमें अनंतर शब्दका उल्लेख करना अत्यावश्यक है। इसरीतिसे सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वह सानत्कुमार माहेंद्र स्वर्गमें ही जघन्य मानी जा सकती है किंतु ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तरमें वह जघन्य नहीं मानी जा सकती यदि सूत्रमें अनंतर शब्दका उल्लेख नहीं होता तो ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तरसे पूर्व सौधर्म और ऐशान स्वर्ग

है इसलिये इनकी उत्कृष्ट स्थिति ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें भी जघन्य मानी जाती जो कि आगम-विरुद्ध थी परंतु अनंतर शब्दके कहनेसे यह आगम विरुद्ध आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर स्वर्गसे यद्यपि सौधर्म और ऐशान स्वर्ग पूर्व हैं किंतु माहेंद्र आदिका वीचमें व्यवधान पडा हुआ है इस लिये व्यवधानरहित पूर्व नहीं हैं इस प्रकार सौधर्म ऐशान स्वर्गकी उत्कृष्ट स्थिति सानत्कुमार माहेंद्रमें ही जघन्य मानी जाय ब्रह्मलोक ब्रह्मोत्तरमें न मानी जाय इस व्यवधानरहित कार्यकी सिद्धिके लिये सूत्रमें अनंतर शब्दका प्रयोग युक्तियुक्त और अबाधित है ॥ ३३ ॥

नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पहिले कह दी गई। जघन्य स्थिति यद्यपि सूत्रमें कही नहीं गई इसलिये प्रकरणविरुद्ध भी है तथापि यदि यहां उसका उल्लेख किया जायगा तो लघु उपायसे उसका प्रतिपादन हो जायगा विशेष आडम्बर न करना पडेगा ऐसी इच्छासे सूत्रकार यहां नारकियोंकी जघन्य स्थितिके प्रतिपादनार्थ सूत्र कहते हैं—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

जिसप्रकार वैमानिक देवोंकी जघन्य स्थिति कही गई है उसीप्रकार दूसरे तीसरे आदि नरकोंमें नारकियोंकी भी जघन्य स्थिति समझ लेनी चाहिये। अर्थात् रत्नप्रभा पृथिवीमें नारकियोंकी जो उत्कृष्ट आयु है शर्करा पृथिवीमें वह आयु जघन्य है। उसी तरह आगे भी समझ लेनी चाहिये। वार्तिककार सूत्रमें जो 'च' शब्द है उसका फल बतलाते हैं—

चशब्दः प्रकृतसमुच्चार्थः ॥ १ ॥

'परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा, अपरा स्थितिः' अर्थात् पहिले पहिले स्वर्गोंकी उत्कृष्ट स्थिति

व्यवधानरहित आगे आगेके स्वर्गोंमें जघन्य है, यह यहांपर प्रकरण चलरहा है। च शब्दसे इस प्रकरण-प्राप्त अर्थका इस सूत्रमें संबन्ध है इसलिये यहांपर यह अर्थ समझ लेना चाहिए कि रत्नप्रभामें नारकियोंकी जो एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है वह शर्कराप्रभामें नारकियोंकी जघन्य है । शर्कराप्रभामें नारकियोंकी जो तीन सागरप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है वह बालुका प्रभामें जघन्य है बालुका प्रभामें जो नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरप्रमाण कह आये हैं वह पंकप्रभामें नारकियोंकी जघन्य है इसी तरह आगे भी समझ लेनी चाहिये। इसका विस्तारसे वर्णन तीसरे अध्यायमें कर दिया गया है॥ ३५ ॥

शर्कराप्रभा आदि नरकोंकी जघन्य स्थिति जान ली गई परंतु पहिले नरकमें नारकियोंकी जघन्य स्थिति क्या है ? यह बात नहीं जानी इसलिए सूत्रकार अब पहिले रत्नप्रभा नरककी जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं–

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां ॥ ३६ ॥

प्रथम नरकमें सीमंतक नामक पहिले पाथडेमें नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है। ऊपरके सूत्रसे इससूत्रमें 'अपरा स्थिति' शब्दकी अनुवृत्ति है इसीलिए यह दश हजार वर्षकी जघन्य स्थिति कही है ॥ ३६ ॥

अब सूत्रकार भवनवासियोंकी जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं–

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

भवनवासियोंमें भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है।

सूत्रमें जो चशब्द है उसका अर्थ समुच्चय है इसलिए चशब्दसे इससूत्रमें दश हजार वर्षकी जघन्य

स्थिति है यह संबंध है इसरीतिसे भवनवासी देवोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है यह इस सूत्रका अर्थ है ॥ ३७ ॥

सूत्रकार अब व्यंतर देवोंकी जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं—

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

व्यंतर देवोंकी भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है ।

यहां पर भी च शब्दका अर्थ समुच्चय है और "जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है" इस अर्थका वह समुच्चय करता है । इसलिए व्यंतरोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है, यह सूत्रका स्पष्ट तात्पर्य है । शंका—

परा व्यंतराणां प्रागभिधातव्या इति चेन्न, लाघवार्थत्वात् ॥ १ ॥

जिसप्रकार अन्य अन्य देवोंकी पाहिले उत्कृष्ट स्थिति और पीछे जघन्य स्थिति कही है इसीप्रकार व्यंतरोंकी भी पाहिले उत्कृष्ट और पीछे जघन्य कहनी चाहिये, इसलिए उत्कृष्ट स्थिति न कहकर पाहिले जघन्य स्थिति कहना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं । पाहिले जघन्य स्थितिके कहनेमें 'दशवर्षसहस्राणि, परा स्थितिः' इन अक्षरोंका लाघव है । क्योंकि बराबर उनकी अनुवृत्ति ऊपरसे आरही है । यदि पाहिले उत्कृष्ट स्थिति और पीछे जघन्य स्थिति कही जाती तो उत्कृष्ट स्थिति कहनेवाले सूत्रके वीचमें व्यवधान पडजानेके कारण दशवर्षसहस्राणि आदि शब्दोंकी अनुवृत्ति आती नहीं इसलिए यहां 'व्यंतराणामपरा दशवर्षसहस्राणि' इतना बडा सूत्र बनाना पडता जिससे अनेक अधिक अक्षरोंके कहनेसे महा

गौरव होता इसलिए लाघवार्थ पहिले जघन्य स्थिति और पीछे उत्कृष्ट स्थिति जो यहां कही गई है वह ठीक है ॥ ३८ ॥

सूत्रकार व्यंतर देवोंकी उत्कृष्टस्थितिका प्रतिपादन करते हैं—

परा पल्योपममधिकं ॥ ३९ ॥

व्यंतरोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

स्थित्यभिसंबंधात् स्त्रीलिंगनिर्देशः ॥ १ ॥

ऊपरके सूत्रोंसे इस सूत्रमें स्थितिकी अनुवृत्ति है। स्थिति शब्द स्त्रीलिंग है इसलिए 'परा' यहां स्त्रीलिंगका निर्देश किया गया है ॥ ३९ ॥

अब ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्टस्थितिका सूत्रकार वर्णन करते हैं—

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

सूत्रमें जो च शब्द है उसका अर्थ समुच्चय है इसलिए 'परा पल्योपममधिकं' इस समस्त सूत्रका 'ज्योतिष्काणां च' यहांपर समुच्चय है। इसतरह व्यंतरोंके समान ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्टस्थिति एक पल्य कुछ अधिककी है यह अर्थ है ॥ ४० ॥

ज्योतिष्क देवोंकी जघन्यस्थिति कितनी है? सूत्रकार इस बातका प्रदर्शन करते हैं—

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

ज्योतिष्क देवोंकी जघन्य आयु एक पल्यके आठ भागोंमें एक भागप्रमाण है ॥ ४१ ॥

ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्टस्थिति कुछ अधिक एक पल्यप्रमाण है यह कथन सामान्यरूपसे है परंतु चंद्र आदि पांचों प्रकारके ज्योतिषियोंकी भिन्न भिन्न स्थिति क्या है ? यह नहीं जान पडता इसलिए वार्तिककार उसका स्पष्टीकरण करते हैं–

चंद्राणां वर्षशतसहस्राधिकं ॥ १ ॥ सूर्याणां वर्षसहस्राधिकं ॥ २ ॥ शुक्राणां शताधिकं ॥ ३ ॥ बृहस्पतीनां पूर्णं ॥ ४ ॥ शेषाणामर्धं ॥ ५ ॥ नक्षत्राणां च ॥ ६ ॥ तारकाणां चतुर्भागः ॥ ७ ॥

चंद्रोंकी उत्कृष्टस्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्यप्रमाण है । सूर्योंकी एक हजार वर्ष अधिक एक पल्यप्रमाण है । शुक्रोंकी सौ वर्ष अधिक एक पल्यप्रमाण है । बृहस्पतियोंकी उत्कृष्टस्थिति एक पल्य प्रमाण है । बाकीके बुध आदि ग्रहोंकी आधा पल्यप्रमाण है । नक्षत्रोंकी उत्कृष्टस्थिति आधा पल्यप्रमाण है तथा तारकाओंकी उत्कृष्ट स्थिति पल्यके चौथे भागप्रमाण है ।

तदष्टभागो जघन्योभयेषां ॥ ८ ॥ शेषाणां चतुर्भागः ॥ ९ ॥

तारा और नक्षत्रोंकी जघन्यस्थिति पल्यके आठ भागोंमेंसे एक भागप्रमाण है तथा बाकीके सूर्य चंद्रमा शुक्र आदिकी जघन्यस्थिति एक पल्यके चार भागोंमेंसे एक भागप्रमाण है ।

सूत्रकार अब लौकांतिक देवोंकी स्थितिका प्रतिपादन करते हैं–

लौकांतिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषां ॥ ४२ ॥

ब्रह्मलोकके अंतमें रहनेवाले समस्त लौकांतिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु आठ सागरकी है

अष्टसागरोपमस्थितयो लौकांतिकाः ॥ १ ॥

लौकांतिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकारकी स्थिति आठ सागरप्रमाण ही है। ये समस्त लौकांतिक देव शुक्ललेश्यावाले और पांच हाथप्रमाण ऊंचे शरीरके धारक हैं।

व्याख्यातो जीवः ॥ २ ॥

सम्यग्दर्शनके विषयप्रदर्शनकेलिये कहे गये जीव आदि पदार्थोंमें सबसे पहिले निर्दिष्ट जीव पदार्थका व्याख्यान कर दिया गया।

स च एकोऽनेकात्मकः ॥ ३ ॥

जिस जीवका वर्णन किया गया है वह जीव एकस्वरूप अनेकस्वरूप दोनों प्रकार है। शंका—जो पदार्थ एक होगा वह एकही स्वरूप होगा, अनेक स्वरूप कैसे हो सकता है? उत्तर—

अभावविलक्षणत्वात् ॥ ४ ॥

जो पदार्थ नहीं है उसका अभाव है वह अभाव एकस्वरूप है क्योंकि अभावस्वरूपसे अभावका भेद नहीं, अभाव स्वरूपसे वह एक ही है। उस अभावसे भिन्न भाव है और वह अनेक स्वरूप है। यदि अभावसे भावको विलक्षण न माना जायगा तो वे दोनों एक ही होंगे, दोनोंमें भेद न होसकेगा।

स तु षोढा भिद्यते—जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षयते विनश्यतीति ॥ ५ ॥

वह भाव जायते आदि क्रियाओंके संबंधसे छह प्रकारका है। वाह्य और अंतरंग कारणोंके द्वारा जो पदार्थ अपने स्वरूपको प्राप्त हो अर्थात् उत्पन्न हो वह 'जायते' क्रियापदका विषय है जिसतरह मनुष्य गति नाम कर्मके उदयसे आत्मा मनुष्य आदि कहा जाता है। आयु आदि कारणोंसे किसी भी पर्यायमें ठहरना आस्तित्व कहा जाता है। जो पदार्थ जिसरूपसे विद्यमान है उसका समूल नाश न

होकर उसीमें पर्यायोंका पलटना विपरिणाम कहा जाता है। पहिले स्वभावका नाश तो हो नहीं किंतु किसी स्वरूपांतरसे उसकी बढवारी हो जाय उसका नाम वृद्धि है। पूर्व भावका क्रमसे एक देशका नष्ट हो जाना अपक्षय है। सामान्य रूपसे उस पर्यायका सर्वथा नष्ट हो जाना विनाश कहा जाता है। इस प्रकार प्रवृत्तियोंके भेदसे क्षण क्षणमें बदलते रहनेसे पदार्थ अनंतरूप धारण करते हैं इसरूपसे प्रवृत्तिके भेदसे एक पदार्थ अनेक स्वरूप युक्तिसिद्ध है। अथवा आत्मा पदार्थ सत्स्वरूप है, ज्ञानका विषय होनेसे ज्ञेय, द्रव्य, रूपादिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक, अत्यंतसूक्ष्म, अवगाहयुक्त, असंख्यातप्रदेशी, अनादिनिधन और चेतन है इसलिये सत्त्व ज्ञेयत्व द्रव्यत्व अमूर्तत्व अतिसूक्ष्मत्व अवगाहनत्व असंख्येय प्रदेशत्व अनादिनिधनत्व और चेतनत्वादि धर्मोंके भेदसे वह अनेक धर्मस्वरूप है। इसप्रकार एक भी पदार्थ पर्यायोंके भेदसे अनेक धर्मस्वरूप है। और भी यह बात है—

अनेकवाग्विज्ञानविषयत्वात् ॥ ६ ॥

लोकमें एक अर्थ भी अनेक शब्दवाच्य दीख पडता है अर्थात् अर्थ एक ही होता है किंतु उसके कहनेवाले शब्द बहुतसे होते हैं क्योंकि एक ही पदार्थ अनेक वाच्यरूप परिणामको धारण करता है इसीलिये उस अर्थको प्रतिपादन करनेकेलिये अनेक शब्दोंका प्रयोग दीख पडता है यहांपर प्रयोगका अर्थ प्रतिपादन करनेकी क्रिया है। उस क्रियाके साधक शब्द और अर्थ दोनों हैं। उनमें शब्द व्यंजक रूपसे उस क्रियाका प्रतिपादक है और अर्थ व्यंग्यरूपसे उस क्रियाका प्रतिपादक है। अर्थात् शब्द अर्थका वाचक है और अर्थ वाच्य है अर्थात् शब्दके द्वारा पदार्थ कहा जाता है इसलिये शब्द उस पदार्थका प्रगट करनेवाला होनेसे व्यंजक कहा जाता है और पदार्थ उस शब्द द्वारा प्रगट होता है इसलिये

वह व्यंग्य है। तथा जो पदार्थ कर्म है वह उसी समय कर्ता भी बन जाता है क्योंकि कर्ताके होते ही क्रियाकी प्रवृत्ति है जिस तरह 'तंडुलोंका पाक करता है' यहांपर तंडुल कर्म है परंतु वे ही उस समय 'पकते रहते हैं' ऐसी प्रतीतिके बलसे कर्ता भी कहे जाते हैं इसरीतिसे एक ही तंडुलरूप अर्थ कर्म कर्ता आदि अनेक शब्दोंका वाच्य है। दूसरा खुलासा दृष्टांत इसप्रकार है—जिस प्रकार एक ही घट पृथिवी-का विकार होनेसे पार्थिव, मिट्टीका विकार होनेसे मार्तिक, ज्ञानका विषय होनेसे संज्ञेय, नूतन होनेसे नव और बडा होनेसे महान् कहा जाता है। तथा पार्थिव आदि स्वरूपोंसे ही विज्ञानोंका भी विषय होता है। यदि पार्थिव आदि घटके स्वरूप न माने जांयगे तो घट पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेगा उसका अभाव ही हो जायगा क्योंकि जिसका कोई स्वरूप नहीं वह पदार्थ असत् है उसीप्रकार आत्मा भी अनेक वचन और विज्ञानोंका आश्रय है इसलिये एक आत्माका अनेक स्वरूप कहना उचित है, बाधित नहीं। तथा—

अनेकशक्तिप्राचितत्वात् ॥ ७ ॥

जिस प्रकार घी पदार्थोंको चिकनाता है खानेवालोंको तृप्त करता है और पुष्ट करता है इत्यादि अनेक शक्तियोंका धारक है तथा जिसप्रकार घट जल धारण करना जल लेजाना आदि अनेक शक्तिविशिष्ट है उसीप्रकार आत्मा भी द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप कारणोंके द्वारा अनेक प्रकारकी भिन्न भिन्न शक्तियोंकी प्राप्ति करता है इसलिये अनेक शक्तिस्वरूप होनेसे वह अनेक स्वरूप है और भी यह बात है कि—

वस्त्वंतरसंबंधाविर्भूतानेकसंबंधिरूपत्वात् ॥ ८ ॥

एक ही घट किसी पदार्थसे पहिले होनेके कारण पूर्व, पर होनेसे पर, समीप होनेसे आसन्न, नूतन होनेसे नवीन, पुराना होनेसे प्राचीन, जल आदिके धारणमें समर्थ होनेसे समर्थ, मुद्गर आदिकी चोट खानेमें असमर्थ होनेसे असमर्थ, देवदत्त द्वारा बना हुवा होनेके कारण देवदत्तकृत, चैत्र नामक पुरुष का होनेसे चैत्रस्वामिक, संख्याका धारक होनेसे एक आदि संख्यात्मक, परिमाणका धारक होनेसे छोटा बडा आदि परिमाणस्वरूप, अन्य पदार्थोंसे पृथक् रहनेके कारण पृथक्त्वस्वरूप, दूसरे पदार्थोंसे मिला हुवा होनेसे संयोगस्वरूप और विभक्त होनेके कारण विभागस्वरूप इसरीतिसे जिस प्रकार पूर्व पर आदि अनेक नामस्वरूप है क्योंकि संबंधी पदार्थ अनंते माने हैं तथा भिन्न भिन्न संबंधी पदार्थकी अपेक्षा भिन्न भिन्न पर्यायवाला होता है उसीप्रकार संबंधीकी अपेक्षा एक भी आत्मा अनेक पर्यायस्वरूप परिणत होनेके कारण अनेकस्वरूप है इसरीतिसे दूसरी अनेक वस्तुओंके संबंधसे संबंधीका अनेक स्वरूप होना बाधित नहीं। अथवा—

पुद्गलानामानंत्यात्तत्तत्पुद्गलद्रव्यमपेक्ष्य एकपुद्गलस्थस्य तस्यैकस्यैव पर्यायस्यान्यत्वभावात् ॥ ९ ॥

(प्रदेशिनीका अर्थ तर्जनी—अंगूठाके पासकी उंगली है। मध्यमाका अर्थ तर्जनीके पासकी बीचकी अंगुली है और अनामिकाका अर्थ बीचके पासवाली अथवा कनिष्ठा जो सबसे छोटी अंगुली उससे बडीका नाम है।) प्रदेशिनी अंगुलीका मध्यमा अंगुलीके भेदसे जो भेद है वह अनामिकाके भेदसे नहीं है। तथा मध्यमा और अनामिकाकी भी आपसमें समानता नहीं किन्तु भेद है क्योंकि प्रदेशिनी और मध्यमाके भेदका जो कारण कहा गया है वह मध्यमा और अनामिकाके भेद करानेमें भी समान है परंतु विचार यहांपर यह करना है कि यह जो प्रदेशिनीका मध्यमाके भेदसे अर्थान्तर अर्थात् भेद है

वह सर्वथा परके निमित्तसे अर्थात् मध्यमाके भेदसे ही जायमान नहीं है यदि मध्यमाकी सामर्थ्यसे ही प्रदेशिनीको छोटा माना जायगा तो उसकी सामर्थ्यसे छोटापन शशाके सींग और इंद्रकी मुट्ठीमें भी मानना पडेगा क्योंकि स्वतः छोटापन तो किसी भी अंशमें माना नहीं गया सर्वथा परानिमित्तक ही माना है। मध्यमासे सर्वथा पर जिसप्रकार प्रदेशिनी है उसप्रकार शशविषाण और इंद्रमुष्टि भी है इसलिए मध्यमाकी अपेक्षा जिसप्रकार प्रदेशिनीमें ह्स्वता है उसीप्रकार शशाके सींग और इंद्रकी मुट्ठीमें भी हो सकती है। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि मध्यमाकी अपेक्षा प्रदेशिनीमें जो ह्रस्वता है वह स्वतः कारणक है परानिमित्तक नहीं सो भी अयुक्त है क्योंकि जिस किसी पदार्थकी अभिव्यक्ति होती है वह परकी अपेक्षासे होती है स्वतः किसीकी भी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्रदेशिनीमें जो छोटापन है उसकी अभिव्यक्ति मध्यमाकी अपेक्षा है इसलिये स्वयं भी किसी पदार्थकी उत्पत्ति वा अभिव्यक्ति नहीं सिद्ध हो सकती किंतु यह द्रव्य अनंतपर्याय स्वरूप है। जैसे सहकारी कारण मिलते जाते हैं उनके अनुसार वैसे ही वैसे स्वरूपोंको यह धारण करता चला जाता है इसलिए यही निश्चित बात है कि पदार्थकी प्रकटता न तो स्वयंकारणक है और न परनिमित्तक है किंतु कथंचित् स्वतः और कथंचित् परतः है। इसरीतिसे जिसप्रकार एक भी पुद्गल द्रव्य भिन्न भिन्न सहकारी कारणोंकी अपेक्षा अनंतपर्यायस्वरूप हो जाता है उसीप्रकार एक भी आत्मा कर्म और नोकर्मके विषयभूत पदार्थोंके भिन्न संबंधोंसे जायमान जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणास्थान रूप अपने भेदोंसे अनंत पर्यायस्वरूप है और भी यह बात है—

अन्यापेक्षाभिव्यंग्यानेकरूपोत्कर्षापकर्षपरिणतगुणसंबंधित्वात् ॥ १० ॥

जिस प्रकार एक ही घट एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात अंनत अवस्था स्वरूप कभी अधिक तो कभी हीन ऐसे रूप रस आदि परिणामोंका धारक जो विपक्षी द्रव्य उसकी अपेक्षारूप सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले नील नीलतर (उससे अधिक नील) नीलतम (उससे भी अधिक नील) आदि निजी अनंत परिणामस्वरूप है उसीप्रकार एक भी जीव परद्रव्योंके संबंधसे जायमान, तीव्र, तीव्रतर आदि विशेष अवस्थास्वरूप क्रोध मान आदि कषायोंके अनंत अविभाग प्रतिछेदस्वरूप परिणत होनेके कारण अनेकस्वरूप है। और भी यह बात है—

अतीतानागतवर्तमानकालसंबंधित्वात् ॥ ११ ॥

कोई एक पदार्थ नष्ट होगया है और उसकी उत्पत्ति होनेवाली है वहांपर समुदाय वा अवयवके नाशको विषय करनेवाला भूतकाल है क्योंकि पदार्थका नाश भूतकालमें हुआ है। उत्पत्ति और उसे जाननेकी संभावनाको विषय करनेवाला भविष्यत् काल है और उस कार्यकी उत्पत्तिकेलिये जो अवि-राम रूपसे प्रयत्न चल रहा है वह विषय वर्तमान कालका है इसरीतिसे जिसप्रकार मिट्टी आदि द्रव्य भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनो कालोंमें भिन्न भिन्न स्वरूप होनेसे भेद स्वरूप दीख पडती है। यदि यहांपर भूत भविष्यत् कालको न मानकर केवल वर्तमान काल ही माना जायगा तो जिसप्रकार वांझके पुत्रकी युवावस्था बाधित है क्योंकि जब पुत्र ही नहीं तब उसकी युवावस्था संभावित नहीं हो सकती उसी प्रकार वर्तमान कालका भी अभाव मानना होगा क्योंकि भूत और भविष्यत् कालके अभावमें वर्तमान कालकी अवधिका भी सद्भाव नहीं हो सकता इसलिये भूत भविष्यत् कालके अभावमें वर्तमान कालकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती उसीप्रकार जीव भी अनादि भूत कालके संबंधसे जायमान, भविष्यत्

अनंत कालके संबंधसे जायमान और वर्तमान कालके संबंधसे जायमान तथा जिनका भेद अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायके भेदसे दो प्रकारका माना गया है ऐसी अनंत पर्यायोंके संबंधसे अनंत स्वरूप है इसरीतिसे सहकारिकारण पर्यायोंकी अपेक्षा एक भी पदार्थ अनेक वा अनंत स्वरूप हो सकता है कोई दोष नहीं। और भी यह बात है—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात् ॥ १२ ॥

अनंत काल वा एककालमें उत्पाद आदि अनंत हैं। जिस तरह द्रव्यकी अपेक्षा घट एक कालमें पृथिवी रूपसे उत्पन्न होता है जलरूपसे नहीं। देश (क्षेत्र) की अपेक्षा इस देशमें उत्पन्न होता है पाटलिपुत्र पटनाके प्रदेशमें नहीं। कालकी अपेक्षा वर्तमानकालमें उत्पन्न होता है भूत और भविष्यत् कालमें नहीं। भावकी अपेक्षा महान् रूपसे उत्पन्न होता है अल्परूपसे नहीं। ये जो द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा उत्पाद कहे गये हैं उनमें प्रत्येक उत्पादका अन्य उत्पादोंसे भेद है जैसे समानजातीय एक घटकी मिट्टीसे भिन्न मिट्टीसे बने अन्य अनेक घटोंके उत्पादोंसे तथा मिट्टीकी अपेक्षा किंचित् विजातीय सुवर्णमयी अन्य अनेक घटोंके उत्पादोंसे तथा अत्यंत विजातीय पट आदि अनंत मूर्तिक अमूर्तिक दूसरे दूसरे द्रव्योंमें प्राप्त उत्पादोंसे भेद किया जाय तो उस उत्पादके उतने ही अर्थात् अनंत भेद होजाते हैं भावार्थ—सजातीय घट जितने होंगे और द्रव्य आदिकी अपेक्षा जितने उनके उत्पाद होंगे सब लिये जांयगे इसीप्रकार कुछ विजातीय सोने आदिके घट और सर्वथा विजातीय पट आदि पदार्थोंके उत्पादोंकी भी अवस्था

१-प्रदेशवत्त्व गुणके सिवाय अन्य समस्त गुणोंके विकारको अर्थपर्याय कहते हैं। प्रदेशवत्त्व गुणके विकारको व्यंजन पर्याय कहते हैं।

समझ लेनी चाहिये इस रीतिसे एक भी उत्पाद द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा अनंतरूप हो जाता है। यदि इन उत्पादोंको भिन्न भिन्न न माना जायगा तो सब एक हो जांयगे इस रीतिसे घटका उत्पाद और पटका उत्पाद दोनोंको एक कहना होगा। तथा—

उससमय तक जो उत्पन्न नहीं हुवा है ऐसे द्रव्यके उत्पादमें जो ऊर्ध्व अधः तिरछापन अंतरित (ढका हुवा) अनंतरित (खुला हुवा) एकांतर आदि (एक आदिसे ढका हुवा) पूर्व दिशा पश्चिम दिशा उत्तर दिशा दक्खिन दिशा, महत्त्व अल्पत्व आदि, गुणोंके भेद रूप आदि गुणोंके अधिक हीन स्वरूप अनंत भेद, तीन लोक तीन काल विषय संबंधी भेद सहकारी कारण पडते हैं वे अनेक हैं एवं उनकी अपेक्षा उत्पाद भी अनेक हैं। तथा—

अनेक अवयवस्वरूप जो स्कंध और प्रदेशोंके भेद उनकी समानता और विषमतासे अनेक उत्पाद होते हैं इसलिए द्रव्य आदिकी अपेक्षा एक भी उत्पाद अनेकस्वरूप है। तथा जल आदिका धारण करना लाना देना रखना भय हर्ष शोक परिताप और भेदका उत्पन्न करना इत्यादि अपनी कार्यकी सिद्धिकेलिए अनेक उत्पाद होते हैं इसलिए द्रव्य आदिकी अपेक्षा एक भी उत्पाद अनेकस्वरूप है। तथा—

जिस कालमें उत्पाद हो रहा है उसी कालमें जितने उत्पाद हैं उतने ही उनके प्रतिपक्षस्वरूप विनाश हैं अर्थात् जब उपपाद अनेकस्वरूप हैं तब उनके विनाश भी अनेकस्वरूप हैं क्योंकि यह नियम है कि जिसका पहिले नाश नहीं हुआ है उसकी आगे उत्पत्ति नहीं हो सकती किंतु जिसका विनाश है उसीकी उत्पत्ति है इसलिए उपपादोंकी जितनी संख्या होगी विनाशोंकी भी उतनी ही संख्या होगी। तथा उपपाद और विनाशोंकी प्रतिपक्षी स्थिति भी उतनी ही है अर्थात् जिसप्रकार उपपाद और विनाश अनेक

हैं उसप्रकार स्थिति भी अनेक प्रकारकी है क्योंकि स्थिति जिसको कि ध्रौव्य कहते हैं उपपाद और विनाशकी आधार है। यदि स्थितिको कोई पदार्थ न माना जायगा तो जिसप्रकार बांझके पुत्रका होना संसारमें असंभव है उसीप्रकार स्थितिके अभावमें उत्पाद और व्ययका होना भी असंभव है एवं स्थितिके अभावमें उपपाद और व्ययके अभाव होनेपर समस्त पदार्थोंका ही अभाव हो जायगा कोई भी पदार्थ सिद्ध न हो सकेगा। तथा—

यदि स्थिति पदार्थ नहीं माना जायगा तो 'घट उत्पद्यते' घट उत्पन्न होता है जिससमय यही वर्तमान कालका प्रयोग है उससमय घट तयार नहीं है तथा यहांपर पहिले वा पीछे तयार होने योग्य भावका कथन किया गया है इसलिए घटका अभाव ही कहना पडेगा अर्थात् 'घट उत्पन्न होता है' जिस समय यह कहा जाता है उससमय घट तो विद्यमान है नहीं, यदि स्थिति पदार्थ माना ही न जायगा तो घटका अभाव ही हो जायगा। तथा यदि उत्पत्तिके अनंतर विनाश माना जायगा अर्थात् 'जो उत्पत्ति है वही विनाश है' इस सिद्धांतके अनुसार उत्पत्ति और विनाशका एक काल नहीं माना जायगा तो सत्स्वरूप अवस्थाका कहनेवाला कोई शब्द तो होगा नहीं क्योंकि उत्पादमें भी अभाव कहा जायगा और विनाशमें भी अभाव कहा जायगा इसरीतिसे भाव पदार्थ ही न बन सकेगा क्योंकि पदार्थको उत्पाद व्यय और ध्रौव्यस्वरूप माना है एवं जब पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेगा तब पदार्थोंके आधीन जो संसारका व्यवहार है वह भी रुक जायगा तथा और भी यह बात है कि—

१—स्थिति भी उत्पाद व्ययके समान एक पर्याय है वह पर्याय उत्पाद व्ययके साथ ही होता है तीनो पर्यायें सत्गुणकी हैं इसलिये जब उत्पाद और व्ययमें भेद है स्थितिमें भी अवश्य मानना पडेगा।

बीज—कारणके अभावमें उसके आश्रय रहनेवाला कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। उत्पाद और व्यय की कारण स्थिति है जब स्थितिका ही अभाव हो जायगा तब उत्पाद और व्यय भी न सिद्ध हो सकेंगे इसरीतिसे स्थितिके अभावमें उत्पाद और व्यय दोनोंका भी अभाव हो जायगा क्योंकि इनका वाचक कोई शब्द ही न होगा इसलिए उत्पाद और विनाशकी रक्षाकेलिए स्थिति पदार्थ मानना अत्यावश्यक है इसरीतिसे उत्पद्यमानता (उत्पाद) उत्पन्नता (स्थिति) और विनाश ये तीनों ही अवस्था स्वीकार करनी होंगी इसतरह जिसप्रकार एक ही उत्पाद सजातीय विजातीय उत्पादोंकी अपेक्षा अनंत स्वरूप है उसीप्रकार एक भी आत्मा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके विषयभूत सामान्य विशेषरूप अनंत शक्तिकी अपेक्षासे अर्पित स्थिति उत्पाद और विनाशरूप अनंत शक्तिस्वरूप होनेसे अनेकरूप है। तथा और भी यह बात है—

अन्वयव्यतिरेकात्मकत्वाच्च ॥ १३ ॥

जिसप्रकार एक ही घट सत्त्व अचेतनत्वरूप अन्वय और नवीनत्व प्राचीनत्वरूप व्यतिरेक इस-प्रकार अन्वय व्यतिरेकरूप स्वरूपकी अपेक्षा अनेक है अर्थात् एक ही घट सत् अचेतन नवीन और प्राचीन आदि अनेकस्वरूप कहा जाता है उसीप्रकार एक भी आत्मा अन्वय और व्यतिरेकस्वरूपकी अपेक्षा अनेक प्रकारकी है। कौन धर्म अन्वयस्वरूप कहे जाते हैं और कौन धर्म व्यतिरेकस्वरूप कहे जाते हैं? इसका खुलासा इसप्रकार है—

बुद्धि (ज्ञान) अभिधान (शब्द) और अनुकूल प्रवृत्तिरूप लिंगोंसे जिनका अनुमान होता है अर्थात् जिनका ज्ञान होता है जिनकी संज्ञा है और जिनमें ठीक ठीक प्रवृत्ति होती है तथा जिनका

कभी भी विनाश नहीं होता ऐसे स्वात्मस्वरूप आस्तित्व आत्मत्व ज्ञातृत्व दृष्ट्रत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व अमूर्तत्व असंख्यातप्रदेशत्व अवगाहनत्व आतिसूक्ष्मत्व अगुरुलघुत्व अहेतुकत्व अनादिसंबंधित्व ऊर्ध्वगतिस्वभाव आदिक अन्वयी गुण हैं। तथा जो ज्ञान वचन और भेदरूप अनुमानसे जाने जाते हैं जो परस्पर भिन्न हैं एवं उत्पत्ति स्थिति विपरिणाम वृद्धि ह्रास और विनाशरूप धर्मस्वरूप हैं ऐसे गति इंद्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या और सम्यक्त्व आदि व्यतिरेकी गुण हैं। *

तस्य शब्देनाभिधानं क्रमयौगपद्याभ्यां ॥ १४ ॥

उस अनेक स्वरूप एक जीवकी प्रतीति करानेवाला शब्दप्रयोग दो प्रकारका है एक क्रम दूसरा यौगपद्य अर्थात् उस आत्माकी प्रतीति या तो समुदायस्वरूप वाच्यको कहनेवाले शब्द प्रयोगसे होती है या क्रम क्रमसे एक एक धर्मके प्रतिपादन करनेरूप शब्द प्रयोगसे होती है। किंतु उस अनेक स्वरूप जीवको प्रतिपादन करनेवाला तीसरा शब्द नहीं है।

ते च कालादिभिर्भेदाभेदार्पणात् ॥ १५ ॥

वे दोनों क्रम और यौगपद्य काल आत्मरूप आदिके साथ भेद और अभेद विवक्षासे होते हैं। खुलासा तात्पर्य यह है कि—आगे कहे जानेवाले काल आत्मरूप आदिसे जिस समय वस्तुके आस्तित्व आदि धर्मोंकी भेद विवक्षा है वहांपर किसी एक शब्दमें अनेक अर्थोंके प्रतिपादन करनेकी शक्ति न होनेके कारण क्रम माना है अर्थात् भेदविवक्षा रहनेपर वहांपर वस्तुके अनेक धर्मोंका ज्ञान क्रमसे ही

* जो गुण सदा नित्यरूपसे आत्माके साथ रहते हैं उन्हें अन्वयी गुण कहते हैं। तथा जो कालांतरमें नष्ट हो जाते हैं ऐसे जो पर्याय धर्म हैं उन्हें व्यतिरेकी धर्म कहते हैं। इन धर्मोंकी विवक्षासे आत्मामें अनेकपना आता है।

होता है किंतु जिस समय काल आदिसे अभेद विवक्षा है वे सब धर्म एक वस्तु स्वरूप ही माने जाते हैं उस समय अनेक धर्मोंका एक स्वरूप हो जानेके कारण एक कोई स्वरूप वाचक शब्द उस अनेक धर्मात्मक वस्तुका प्रतिपादन कर सकता है इसलिए वहांपर यौगपद्य है अर्थात् किसी एकस्वरूपवाचक शब्द द्वारा तादात्म्यसंबंध होनेसे एक समयमें ही उस अनेक धर्मस्वरूप वस्तुका प्रतिपादन हो जाता है।

तत्र यदा यौगपद्यं तदा सकलादेशः ॥ १६ ॥

जिससमय अनेक धर्म स्वरूप वस्तुका प्रतिपादन करते समय यौगपद्य है अर्थात् अनेक धर्मस्वरूप वस्तुका एक समयमें एक साथ प्रतिपादन किया जाता है उस समय सकलादेश कहा जाता है और वही प्रमाणका विषय है । क्योंकि 'सकलादेशः प्रमाणाधीनः' अर्थात् सकलादेश प्रमाण ज्ञानका विषय कहा जाता है, ऐसा आगमवचन है। तथा—

यदा तु क्रमस्तदा विकलादेशः ॥ १७ ॥

जिससमय क्रम रहता है अर्थात् अनेक धर्मस्वरूप वस्तुके धर्मोंका क्रमसे प्रतिपादन रहता है वहां विकलादेश कहा जाता है एवं यही विकलादेश नयका विषय है। क्योंकि 'विकलादेशो नयाधीनः' अर्थात् विकलादेश नयज्ञानका विषय कहा जाता है, ऐसा आगमका वचन है।

विशेष—सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः, यह जो सकलादेश और विकलादेश के पारिभाषिक अर्थ किए गये हैं उनका यदि यहांपर कोई ऐसा अर्थ करे कि—'अनेकधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं' अर्थात् आस्तित्व आदि अनेक धर्मस्वरूप वस्तुका जनानेवाला वाक्य सकलादेश है, तथा 'एकधर्मात्मकविषयबोधजनकवाक्यत्वं विकलादेशत्वं' अर्थात् एक धर्मस्वरूप वस्तुको

जनानेवाला वाक्य विकलादेश है, तो वह ठीक न होगा क्योंकि 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि सात प्रमाण वाक्य और सात नय वाक्य माने हैं यदि अस्तित्व आदि अनेक धर्मस्वरूप वस्तुको जनानेवाला सकलादेश माना जायगा तो स्यादस्ति नास्ति च जीवः, स्यादस्तिचावक्तव्यश्च, स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च और स्यादस्तिनास्तिचावक्तव्यश्च इसप्रकार ये तीसरी, पांचवीं, छठी और सातवीं चार भंगी ही प्रमाण वाक्य कही जासकेंगी क्योंकि तीसरी भंगी अस्तित्व नास्तित्वात्मक, पांचवीं भंगी अस्तित्व अवक्तव्यात्मक, छठी भंगी नास्तित्व अवक्तव्यात्मक एवं सातवीं भंगी अस्तित्व नास्तित्व और अवक्तव्यात्मक होनेसे अनेक धर्मात्मक हैं किंतु स्यादस्त्येव जीवः, स्यान्नास्त्येव जीवः, स्यादवक्तव्यश्च, ये तीन भंगा अर्थात् पाहिली दूसरी और चौथी भंगी प्रमाण वाक्य नहीं कही जासकेगी क्योंकि पाहिली भंगी केवल अस्तित्वात्मक, दूसरी नास्तित्वात्मक और तीसरी अवक्तव्यात्मक है। तीनोंमेंसे कोई भी अनेक धर्मस्वरूप नहीं इसरीतिसे सातों भंगोंको जो आगममें प्रमाणवाक्य कहा गया है, वह मिथ्या ठहरेगा तथा यदि एक धर्मस्वरूप वस्तुको जनानेवाला वाक्य विकलादेश माना जायगा तो स्यादस्त्येव जीवः, स्यान्नास्त्येव जीवः, स्यादवक्तव्यश्च इन तीन् ही भंगोंको नयवाक्य कहा जायगा क्योंकि ये तीनों भंग एक एक धर्मस्वरूप हैं किंतु स्यादस्तिनास्ति च इत्यादि जो तीसरी, पांचवीं, छठी, सातवीं, भंगी कही हैं वे नयभंगी न कही जांयगी क्योंकि ये अनेक धर्मोंको विषय करनेवाली भंगी हैं परंतु आगममें सातों भंगोंको नयवाक्य माना है इसलिये वह मिथ्या ठहरेगी। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

'धर्माविषयक धर्मिविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशत्वं' अर्थात् विशेषणभूत धर्मको छोडकर केवल धर्मी वस्तुको जाननेवाला वाक्य सकलादेश है और धर्मीको विषय न कर केवल धर्म—विशेषणको

विषय करनेवाला वाक्य विकलादेश है, यह हम सकलादेश विकलादेशका लक्षण मानेंगे ? वह भी ठीक नहीं, क्योंकि अस्तित्व आदि किसी भी धर्मके विना धर्मीका ज्ञान नहीं होता अर्थात् किसी न किसी धर्मसहित ही धर्मीका शाब्दबोधमें भान होता है, धर्मरहित धर्मीमात्रका नहीं, इसलिये धर्मोंके बिना केवल धर्मीको विषय करनेवाला वाक्य कभी सकलादेश नहीं कहा जा सकता तथा अस्तित्व आदि धर्मोंके आधार स्वरूप धर्मीका बिना उल्लेख किये केवल धर्मका ज्ञान होना बाधित है अर्थात् अपने आधार स्वरूप धर्मीके साथ साथही धर्मोंका ज्ञान हो सकता है । इस लिये सकलादेश और विकलादेशके जो ये लक्षण किये गये हैं वे भी ठीक नहीं । यदि यहांपर शंका की जाय कि—

'स्याज्जीव एव' अर्थात् कथंचित् जीव है, इस वाक्यमें किसी भी अस्तित्व आदि धर्मका उल्लेख न कर केवल जीव रूप धर्मीका ही उल्लेख किया है इस लिये यह केवल धर्मीको विषय करनेवाला वाक्य है तथा 'स्यादस्त्येव' अर्थात् कथंचित् है, यहांपर किसी भी धर्मीको न कहकर केवल अस्तित्व अर्थका ही उल्लेख किया गया है इसलिये यह केवल अस्तित्व धर्मका कहनेवाला वाक्य है इसरीतिसे जब केवल धर्मीको विषयकरनेवाले और धर्मको विषय करनेवाले वाक्यका असंभव नहीं तब ऊपर जो सकलादेश और विकलादेशके लक्षण कहे गये हैं वे यथार्थ हैं ? सो ठीक नहीं । 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य केवल जीवरूप धर्मीका बोधक नहीं किंतु जीवत्वरूप धर्मविशिष्ट जीवरूप धर्मीका बोधक है तथा स्यादस्त्येव यह वाक्य भी केवल अस्तित्वरूप धर्मका बोधक नहीं किंतु किसी धर्मीको अपना आधार मानकर उस सहित अस्तित्व धर्मका बोधक है इसरीतिसे जब केवल धर्मिबोधक वा केवल धर्मबोधक वाक्योंका होना ही असंभव है तब उपर्युक्त सकलादेश और विकलादेशके लक्षण यथार्थ नहीं हो सकते । यदि यहां फिर यह शंका की जाय कि—

जब यह नियम है कि जहांपर धर्मीका ज्ञान होगा वहां धर्मविशिष्ट धर्मीहीका ज्ञान होगा और जहांपर धर्मका ज्ञान होगा वहांपर धर्मीविशिष्ट ही धर्मका ज्ञान होगा किंतु केवल धर्मी और केवल धर्मका तो ज्ञान होगा नहीं फिर द्रव्य और भाव अर्थात् धर्मको जो भिन्न भिन्न माना जाता है अब उनका विभाग न हो सकेगा। सो ठीक नहीं जहांपर मुख्यरूपसे द्रव्यको कहनेवाला शब्द होगा वहां द्रव्य शब्द कहा जायगा। जिसतरह जीव शब्द, क्योंकि जीव शब्द जीव रूप द्रव्यको मुख्य रूपसे कहता है और जीवत्व रूप धर्मको गौणरूपसे कहता है तथा जहांपर मुख्यरूपसे धर्मका कहनेवाला शब्द हो वह भाव शब्द है जिस तरह अस्ति आदि शब्द, क्योंकि अस्तिशब्द अस्तित्वरूप धर्मको मुख्यरूपसे कहता है और अस्तित्वके आधार धर्मीको गौणरूपसे कहता है। इस रीतिसे मुख्य और गौण अपेक्षा द्रव्य और भावका विभाग असंभव नहीं।

कोई कोई महानुभाव 'पाचकोऽयं' यह पुरुष रसोइया है, इसे द्रव्यवाचक शब्द कहते हैं और 'पाचकत्वमस्य' इसका पाचकपना, इसे भाववाचक शब्द मानते हैं, इसरीतिसे द्रव्य और भावकी भिन्नता कहते हैं परंतु वह ठीक नहीं। जहांपर पाचक शब्दका प्रयोग है वहांपर पाचकत्वविशिष्ट ही पाचक पुरुषका ग्रहण है तथा जहांपर पाचकत्व शब्दका उल्लेख है वहांपर भी पाचकत्वके आधार विशिष्ट अर्थात् पाचकसहित ही पाचकत्वका ग्रहण है इसरीतिसे जब यह नियम है कि जहांपर पाचक शब्दका प्रयोग होगा वहां पाचकत्वविशिष्ट ही पाचक शब्दका प्रयोग होगा तथा जहांपर पाचकत्वका प्रयोग होगा वहांपर पाचकविशिष्ट ही पाचकत्वका प्रयोग होगा तब केवल पाचक शब्दका द्रव्य शब्द और केवल पाचकत्वको भाव शब्द मानकर द्रव्य और भावका विभाग मानना व्यर्थ है।

किन्हीं किन्हीं मनुष्योंका कहना है कि 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि जो सात भंग हैं उनमें प्रत्येक भंग विकलादेश है और जिससमय सातो भंग समुदित हो जाते हैं उससमय वे सकलादेश कहे जाते हैं परंतु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि वहांपर यह शंका होती है कि 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि हरएक वाक्य विकलादेश क्यों है? यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि वह हरएक वाक्य समस्त अर्थका प्रतिपादन नहीं करता किंतु मिले हुए सातो ही वाक्य समस्त अर्थका प्रतिपादन करते हैं इसलिए प्रत्येक वाक्यको विकलादेश कहा जाता है? सो ठीक नहीं। 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि सातो वाक्य भी यदि मिल जांय तो भी समस्त अर्थका प्रतिपादन नहीं हो सकता क्योंकि 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि सातो वाक्य अस्तित्व विशिष्ट जीवका ही प्रतिपादन कर सकते हैं समस्त धर्मविशिष्ट समस्त पदार्थोंका नहीं किंतु समस्त श्रुतज्ञानमें ही समस्त अर्थ प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य है इसलिए सातो वाक्योंमें प्रत्येक वाक्य विकलादेश है और मिलकर सातो वाक्य सकलादेश है यह भी सकलादेश विकलादेशका अर्थ अयुक्त है। तथा—

इसीप्रकार बहुतसे लोग जो यह कहते हैं कि सकल अर्थका प्रतिपादन करनेके कारण मिलेहुए सातो वाक्य सकलादेश हैं, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि मिलेहुए सातो वाक्य समस्त अर्थके प्रतिपादक नहीं हो सकते। जिससमय आस्तित्व धर्मकी सप्तभंगी चलाई जायगी उससमय उससे आस्तित्वविशिष्ट पदार्थका ही प्रतिपादन होगा एकत्व अनेकत्व नित्यत्व आनित्यत्व आदि अर्थोंका प्रतिपादन नहीं हो सकता इसलिए समस्त अर्थके प्रतिपादक होनेके कारण सातो वाक्य सकलादेश है यह भी सकलादेशका अर्थ ठीक नहीं। इसरीतिसे ऊपर जो सकलादेश विकलादेशके अर्थ कहे गये हैं वे सब ठीक नहीं। अब वार्तिककार सकलादेशका स्पष्टीकरण करते हैं—

१ सप्तभंगीतरंगिणी।

एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात्सकलादेशः ॥ १८ ॥

वस्तुके किसी एक गुणद्वारा उस वस्तुके समस्त स्वरूपका ग्रहण कर लेना सकलादेश कहा जाता है। इसका खुलासा अर्थ यह है—

बिना किसी गुणस्वरूपके उल्लेख किए गुणी पदार्थका ज्ञान नहीं होता, यह नियम है इसलिए जहां पर जिससमय कोई अभिन्न वस्तु किसी एक गुणरूपसे कही जाती है वहांपर सकलादेश होता है जिस तरह एक जीव पदार्थ अस्तित्व आदि अनंते गुणोंका पिंड है। वह जहांपर अस्तित्व आदि गुणोंमेंसे किसी एक गुणके द्वारा अभेदसंबंध वा अभेद उपचासे निरंश समस्त कहा जाता है और जीव और गुणोंमें विभाग करनेवाले अन्य किसी गुणकी विवक्षा नहीं रहती वहांपर वह जीव सकलादेश—प्रमाणका विषय होता है यदि यहांपर यह कहा जाय कि अभेद संबंध और अभेद उपचारकी व्यवस्था किसप्रकार है? उसका समाधान यह है कि—

जहांपर द्रव्यार्थिक नयका आश्रय लिया जाता है वहांपर अभेदवृत्ति है क्योंकि अस्तित्व आदि गुण जीव आदि द्रव्यसे भिन्न नहीं तथा जहांपर पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है वहांपर यद्यपि पर्यायार्थिक नयसे गुण गुणीका आपसमें भेद है परन्तु उन दोनोंको 'एक' ऐसा उपचारसे माना जाता है इसलिये वहांपर अभेदोपचार है।

तत्रादेशवशात्सप्तभंगी प्रतिपदं ॥ १९ ॥

ऊपर जो सकलादेश प्रमाण कहा गया है उसके रहनेपर आदेश अर्थात् जैसा जैसा प्रश्न होता है

१ एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशत्वं (सप्तभंगीतरंगिणी पृष्ठ १९)

उसके अनुसार प्रतिपदार्थ प्रति सप्त भंगीका विधान माना है। वे सात भंग ये हैं—स्यादस्त्येव जीवः १ स्यान्नास्त्येव जीवः २ स्यादवक्तव्य एव जीवः ३ स्यादस्ति च नास्ति च ४ स्यादस्ति चावक्तव्यश्च ५ स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च ६ स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च ७ अर्थात् कथंचित् जीव है १ कथंचित् जीव नहीं है २ कथंचित् जीव अवक्तव्य अर्थात् नहीं कहने योग्य है ३ कथंचित् जीव है भी और नहीं भी है ४ कथंचित् जीव है भी है और अवक्तव्य भी है ५ कथंचित् जीव नहीं भी है और अवक्तव्य भी है ६ एवं कथंचित् जीव है भी नहीं भी और अवक्तव्य भी है ७। दूसरी जगह आगममें कहा भी है—

पुच्छावसेण भंगा सत्तेव दु संभवंति जस्स जधा। वत्थूदितं पउच्चादि सामण्णाणं सदा णियदं ॥ १ ॥

पृच्छावशेन भंगाः सप्तैव तु संभवंति यस्य यथा। वस्तूदितं प्रयुनक्ति सामान्यानां सदा नियतं ॥ १ ॥

प्रश्नके द्वारा सात ही भंग होते हैं. सामान्यतः जैसा आचार्योंने आगममें वस्तुका स्वरूप कहा है वैसा ही वह निश्चित है।

ऊपर जो सात भंग कहे हैं उनमें पहिला भंग 'स्यादस्त्येव जीवः' यह है। यहांपर जीव शब्द विशेष्य है इसलिये वह द्रव्यको कहता है तथा अस्ति विशेषण है और वह गुणको कहता है। उन दोनोंका सामान्यरूपसे विशेषण विशेष्यभाव संबंध जतलानेवाला 'एव' शब्द है। एव शब्दके प्रयोगसे अस्तित्व गुणका आधार ही जीव सिद्ध होगा अन्य गुणोंका उसमें अभाव जान पडेगा इसलिये अन्य गुणोंकी भी उसमें सत्ता बतलानेके लिए स्यात् शब्दका प्रयोग किया है। 'स्यात्' यह तिङ् प्रत्ययांत सरीखा जान पड़नेवाला निपात है अर्थात् अस धातुसे लिङ् प्रत्यय करनेपर भी 'स्यात्' रूप सिद्ध होता है परंतु यहांपर वह क्रियारूप नहीं किंतु उसीके समान अव्यय है। इस स्यात् शब्दके अनेकांत विधि विचार

आदि अनेक अर्थ हैं परंतु यहां अनेकांत अर्थकी विवक्षा है इसलिये यहांपर स्यात् शब्दका अनेकांत अर्थ ही लिया गया हैं। शंका—

यदि स्यात् शब्दका अर्थ अनेकांत माना जायगा तो उसीसे सर्वधर्मात्मक पदार्थका ज्ञान हो जायगा फिर स्यादस्तीत्यादि वाक्योंमें अस्ति आदि पदोंका जो प्रयोग किया है वह व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। जिस तरह वृक्ष शब्दके उच्चारणसे सामान्यरूपसे वृक्षोंका ज्ञान हो जाता है तथापि यह धववृक्ष है यह खादिरवृक्ष है यह आम्र वृक्ष है इसप्रकार विशेषरूपसे वृक्षोंके ज्ञानकेलिये धव आदि विशेष वृक्षोंका प्रतिपादन निरर्थक नहीं उसीप्रकार अनेकांतवाचक स्यात् शब्दसे भले ही अनंतधर्मात्मक समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जाय तथापि यह विद्यवान है, यह अविद्यवान है, यह नित्य है, यह अनित्य है इत्यादि विशेष रूपसे पदार्थोंके जाननेके लिये विशेषरूपसे अस्तित्व आदि पदोंका उल्लेख निरर्थक नहीं। अथवा—

निपात संज्ञक शब्दोंको द्योतक (प्रकट करनेवाला) और वाचक (कहनेवाला) दोनों प्रकारका माना है। 'स्यात्' यह भी निपात शब्द है इसलिये यह अनेकांत अर्थका द्योतक है तथा यह नियम है कि वाचक शब्दोंका विना उलेख किये द्योतक शब्द अभीष्ट अर्थका द्योतन करनेवाला नहीं हो सकता इसलिये द्योतक शब्दसे जिन धर्मोंका द्योतन किया जाय उन धर्मोंके कहनेकेलिये दूसरे दूसरे वाचक शब्दोंका प्रयोग करना ही पडता है। यहांपर 'स्यात्' शब्दको द्योतक माना है इसलिये अस्तित्व आदि धर्मोंके द्योतन करनेके लिये अस्तित्व आदि अर्थोंके वाचक अस्तित्व आदि अन्य शब्दोंका प्रयोग करना ही पडेगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

जब 'स्यात्' निपातको द्योतक माना जायगा तो किस शब्दसे कहे हुए अनेकांत अर्थको स्यात्

शब्द द्योतन करेगा? उसका समाधान यह है कि अभेद संबंध वा अभेद उपचारसे जिन शब्दोंका प्रयोग किया गया है उन्हीं शब्दोंके दूसरे धर्म वाच्य वन जाते हैं अर्थात् जहांपर अभेदसंबंध वा अभेद उपचारसे आस्तित्व शब्दका उल्लेख किया गया है उस आस्तित्व शब्दका वाच्य जैसा आस्तित्वरूप अर्थ है उसीप्रकार नास्तित्व नित्यत्व आनित्यत्व आदि धर्म भी उसके वाच्य हैं इसरीतिसे अभेदसंबंध वा अभेदोपचारसे जिन शब्दोंका प्रयोग किया गया है वे ही शब्द स्यात् शब्दसे द्योतन किये गये अनेकांत अर्थके वाचक हैं। यह यहांपर 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यको मुख्यकर कथन किया गया है इसीप्रकार 'स्यान्नित्य एव जीवः' स्यादेक एव जीवः' इत्यादि वाक्योंमें भी अर्थकी कल्पना कर लेनी चाहिये। शंका—

एक धर्मके द्वारा समस्तवस्तुके स्वरूपका ग्रहण करना सकलादेश है, यदि सकलादेशका यह लक्षण किया जायगा तो 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि जो सात वाक्य हैं उनसे 'स्यादस्त्येव जीवः' इसवाक्यके कहनेसे ही सकलादेश प्रमाणके द्वारा जीवमें रहनेवाले नास्तित्व आदि समस्त धर्मोंका ग्रहण हो जायगा फिर 'स्यान्नास्त्येव जीवः, स्यादवक्तव्य एव जीवः' इत्यादि उत्तरके छहों भंगोंका भी ग्रहण हो जानेपर उनका प्रतिपादन करना व्यर्थ है अर्थात् 'स्यादस्त्येव जीवः' यही एक भंग कहना चाहिये, सकलादेश प्रमाणसे जीवगत समस्त धर्मोंका ज्ञान हो जायगा अवशिष्ट भंगोंके कहनेकी कोई आवश्यता नहीं ? यह भी ठीक नहीं। क्योंकि गौण और मुख्यरूपसे विशेषरूप अर्थके प्रतिपादन करनेके लिए समस्त भंगोंका प्रयोग करना ही आवश्यक है इसलिए समस्त भंगोंका प्रयोग अनर्थक नहीं सार्थक ही है। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता और पर्यायार्थिकनयकी अप्रधानता रहनेपर 'स्यादस्त्येव जीवः' यह प्रथम भंग होता है। पर्यायार्थिकनयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिकनयकी अप्रधानतामें 'स्यान्नास्त्येव जीवः' यह दूसरा भंग है। जिस बातका शब्दके द्वारा उल्लेख किया गया है वह बात प्रधान मानी जाती है यह यहांपर प्रधानता ली गई है तथा जो बात शब्दसे नहीं कही गई है किंतु अर्थात् जानी जाती है वह अप्रधान है यह यहांपर अप्रधानता है। 'स्यादस्त्येव जीवः' इस प्रथम भंगमें अस्तित्वकी प्रधानता है क्योंकि यहांपर अस्तित्वरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला अस्ति शब्द है। 'स्यान्नास्त्येव जीवः' इस द्वितीय भंगमें भी नास्तित्वकी प्रधानता है क्योंकि नास्तित्वरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला यहां नास्ति शब्द है। तीसरे अर्थात् 'स्यादवक्तव्यो जीवः' इस भंगमें एक साथ अस्तित्व नास्तित्वरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला एक शब्द नहीं है इसलिए वहांपर दोनोंकी अप्रधानता है। चौथे भंगमें अर्थात् 'स्यादस्ति नास्ति च जीवः' इस भंगमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंकी प्रधानता है क्योंकि अस्ति शब्दसे अस्तित्व रूप अर्थ और नास्ति शब्दसे नास्तित्वरूप अर्थ कहा गया है। उसीप्रकार आगेके भंगोंमें भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् स्यादस्ति चावक्तव्यश्च अर्थात् कथंचित् जीव है और कथंचित् अवक्तव्य है यह पांचवां भंग है यहांपर अस्ति शब्दका उल्लेख है इसलिए इसकी प्रधानता है और अवक्तव्य शब्दकी अप्रधानता है क्योंकि अस्तित्व नास्तित्वरूप दोनों अर्थोंका प्रतिपादन करनेवाला कोई एक शब्द नहीं स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च अर्थात् कथंचित् जीव नहीं है और कथंचित् अवक्तव्य है यहांपर नास्ति शब्दका उल्लेख है इसलिए उसकी प्रधानता है और अवक्तव्य शब्दकी अप्रधानता है। स्यादस्ति नास्तिचावक्तव्यश्च अर्थात् कथंचित् जीव है भी, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है यहां अस्ति और नास्ति शब्दका उल्लेख

है इसलिए ये दोनों प्रधान हैं और अवक्तव्य अप्रधान है। अब यहांपर जो अस्तित्वैकांतवादी है अर्थात् केवल अस्तित्व पदार्थको ही एकांतरूपसे माननेवाला है उसका कहना है कि—

'जीव एव अस्ति' अर्थात जीव ही है, यदि ऐसा अवधारण (नियम वा निश्चय) किया जायगा तो अजीवकी नास्ति सिद्ध होगी जो कि अस्तित्वैकांतसिद्धांतमें अनिष्ट मानी है इसलिये अजीवके नास्तित्वकी सिद्धिका प्रसंग न हो इस भयसे इष्ट अवधारणकी सिद्धिके लिये 'अस्त्येव जीवः' (जीव है ही) ऐसा प्रयोग ही युक्त है। सो ठीक नहीं, क्योंकि अभिप्रायके अनुकूल शब्दमें प्राप्त कराये गये अवधारणकी सामर्थ्यसे जायमान 'अस्त्येव जीवः' इस नियमसे जीवका सर्वथा अस्तित्व ही सिद्ध होगा और जीवको सर्वथा अस्तित्वरूपसे व्याप्त माने जाने पर पुद्गल आदि द्रव्योंका जो अस्तित्व है उससे व्याप्त भी माना जायगा, क्योंकि 'अस्त्येव जीवः' इस शब्दसे ऐसा ही अर्थ उपलब्ध होता है तथा अर्थके ज्ञान होनेमें हम शब्दको ही प्रमाण माननेवाले हैं अर्थात शब्दसे जैसा अर्थ निकलता है उसे ही हम सब जान सकते हैं इसलिए अस्तित्वैकांतवादियों द्वारा बतलाये गये 'जीव एव अस्ति' के अवधारणार्थक एव शब्दसे जब जीव और पुद्गलका एक ही अस्तित्व सिद्ध होगा तब दोनों एक माने जांयगे जो कि महान अनिष्ट होगा इसलिये अस्तित्वैकांत नहीं माना जा सकता। यदि अस्तित्वैकांतवादी यहां पर यह कहे कि—

जिसतरह 'अनित्यमेव कृतकं' इस स्थानपर अनित्यत्वके अभावमें नियमसे कृतकत्वका अभाव होता है ऐसा निश्चय होनेसे जो जो कृतक है वह वह अनित्य है। यहांपर सर्व प्रकार अर्थात् सामान्य और विशेष स्वरूप दोनों प्रकारके अनित्यत्वसे सर्व प्रकार अर्थात् सामान्य विशेष दोनों स्वरूप कृतकत्व व्याप्त

११६५

नहीं माना किंतु घट पट रथ आदिमें रहनेवाले विशेष स्वरूप अनित्यत्वसे व्याप्त न मानकर अनित्यत्व सामान्यसे कृतकत्व व्याप्त माना है उसीतरह 'अस्त्येव जीवः' यहांपर जीवके साथ अस्तित्व सामान्यकी व्याप्ति है घट पट आदिमें रहनेवाले विशेष स्वरूप अस्तित्वकी नहीं इसरीतिसे जब अस्तित्व सामान्यसे ही जीवकी व्याप्ति है, पुद्गलादिगत अस्तित्वविशेषसे नहीं तब पुद्गलका अस्तित्व जीवका अस्तित्व नहीं माना जासकता इसलिये ऊपर जो दोष दिया गया है वह ठीक नहीं ? इसका समाधान यह है कि जब अस्तित्वैकांतवादीने सामान्य अनित्यरूपसे ही अनित्यत्व माना, विशेष अनित्यरूपसे नहीं तब 'अनित्यमेव कृतकं' यहांपर जो एव शब्दका प्रयोग अवधारणार्थक किया गया है वह निरर्थक है क्यों कि विशेष अनित्यत्व रूपसे अनित्यत्वकी निवृत्तिकेलिये एवकारका प्रयोग है सो विशेष अनित्यत्व रूपसे अनित्यत्वको अस्तित्वैकांतवादी स्वीकार ही नहीं करता फिर उसका प्रयोग व्यर्थ ही है यदि यहांपर अस्तित्वैकांतवादी यह कहे कि—

हम सर्वथा विशेषरूपसे अनित्यत्वका नषेध नहीं करते किंतु स्वगत अर्थात् अपने स्वरूपकी अपेक्षा अनित्य है ही ऐसा मानते हैं ? सो भी ठीक नहीं। यदि स्वगतरूपसे जो कृतक है वह अनित्य माना जायगा तो परगतरूपसे अर्थात् परपदार्थकी अपेक्षा 'अनित्य नहीं है' यह भी मानना पडेगा फिर 'अनित्यमेव' यहांपर अवधारणार्थक एव शब्दका प्रयोग निरर्थक ही है अर्थात् विशेषरूपसे अनित्यत्वके निषेधके लिये एवकारका प्रयोग था सो परपदार्थकी अपेक्षा अनित्यत्वका निषेध स्वीकार करने पर वह सिद्ध ही हो गया फिर एवकारका प्रयोग व्यर्थ ही है। तथा जब अवधारणार्थक एव शब्दका प्रयोग नहीं किया जायगा तब 'अनित्यं कृतकं' ऐसे ही वाक्यका प्रयोग होगा। यहांपर अनित्यत्वका

नियम वा निर्धारण तो होगा नहीं इसलिए पक्षमें नित्यत्वका प्रसंग रहनेसे नित्यत्व भी मानना पडेगा इसीप्रकार यदि आस्तित्व सामान्यसे ही जीव माना जायगा और पुद्गल आदिमें रहनेवाले आस्तित्व विशेषसे न माना जायगा तब 'पुद्गल आदिके आस्तित्वसे जीवका आस्तित्व नहीं' इसप्रकार कहनेवाले वादीने ही यह बात स्वीकार कर ली कि सामान्य और विशेष दोनों प्रकारसे आस्तित्व सिद्ध है। दोनो प्रकारके आस्तित्व सिद्ध होने आस्तित्व सामान्यसे जीव है। आस्तित्व विशेषसे जीव नहीं है यह अर्थ हो जाता है और सवथा आस्तित्वकी सिद्धिके लिये जो 'स्यादस्त्येव जीवः' यहांपर अवधारणार्थक एव शब्दका प्रयोग है वह निरर्थक ठहर जाता है क्योंकि आस्तित्वैकांतवादीके मतकी अपेक्षा सर्वथा आस्तित्वके स्वीकार कर लेनेपर यदि नास्तित्वका निरोध हो जाय तब तो अवधारण सफल माना जाय परंतु यहां पर तो नास्तित्व सिद्ध हो चुका इसलिये अवधारणार्थक एवकार व्यर्थ ही है। तथा यदि एवकारका प्रयोग न किया जायगा तब अन्यके आस्तित्वकी तो जीवमें निवृत्ति होगी नहीं इसलिये पुद्गल आदि के आस्तित्वसे भी जीवका आस्तित्व कहा जायगा अतः एकांतवादीको अवधारण अवश्य मानना पडेगा। इसप्रकार जब अवधारणार्थक एवकार मानलिया जायगा तब ऊपर जो दोष दिया गया है वह फिर लागू हो जायगा अर्थात् समस्त आस्तित्वसे यदि जीवकी व्याप्ति मानी जायगी तो पुद्गल आदिके आस्तित्वसे भी उसकी व्याप्ति होगी इसलिए आस्तित्वैकांतवादीके अनुसार सर्वथा आस्तित्व पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

जो आस्तित्व है वह स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा होता है परद्रव्य परक्षेत्र पर-काल और परभावकी अपेक्षा नहीं क्योंकि परद्रव्य क्षेत्र आदि वहां अप्रस्तुत हैं विवक्षित नहीं। जिस

तरह घट स्वद्रव्यकी अपेक्षा पृथिवी स्वरूपसे है। क्षेत्रकी अपेक्षा इसस्थानपर है। कालकी अपेक्षा वर्तमान कालमें है और भावकी अपेक्षा रक्त आदि स्वरूपसे है। किंतु परद्रव्य सुवर्ण परक्षेत्र अन्यस्थान आदिकी अपेक्षा नहीं है क्योंकि परद्रव्य आदि यहां अप्रस्तुत हैं उनकी विवक्षा नहीं है। इसरीतिसे जब परद्रव्य परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षा नास्तित्व सिद्ध है तब स्यादस्ति स्यान्नास्ति ये दोनों ही भंग सिद्ध हो गये किंतु केवल आस्तित्व ही संसारमें सिद्ध नहीं। यदि स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षा घट है पर-द्रव्य आदिकी अपेक्षा नहीं है, यह नियम न स्वीकार किया जायगा तो घट पदार्थ ही सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि सामान्यरूपसे आस्तित्वके स्वीकार करनेपर स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा तो घट पदार्थ हो न सकेगा क्योंकि यह अपेक्षा विशेषरूपसे मानी गई है इसलिये जिसतरह शशाके सींगका होना असंभव है उसीप्रकार घटका होना भी असंभव होगा तथा घटके आस्तित्वमें नियत द्रव्य आदि स्वरूपको कारण न माननेसे घट पदार्थ तो सिद्ध होगा नहीं सामान्य ही पदार्थ सिद्ध होगा इस-रीतिसे जिसप्रकार अनियत द्रव्य आदि स्वरूप होनेसे महासामान्य घट नहीं माना जासकता क्योंकि अन्य सिद्धांतमें सामान्य पदार्थ भिन्न और द्रव्य (घटघटादि) पदार्थ भिन्न माने हैं, उसीप्रकार सामान्य पदार्थ भी घट नहीं हो सकता। खुलासा इसप्रकार है—

जिसतरह द्रव्यकी अपेक्षा घट पृथिवीस्वरूप माना जाता है उसीतरह यदि वह जल आदिस्वरूप भी माना जायगा तो जिसप्रकार पृथिवी जल अग्नि पवन आदिमें रहनेके कारण द्रव्यत्व सामान्य धर्म घट नहीं कहा जा सकता उसीप्रकार जल आदिस्वरूप भी घट नहीं कहा जा सकेगा तथा इस स्थानकी अपेक्षा जिसप्रकार घट है उसप्रकार यदि वह विरुद्ध दिशाके अंतमें रहनेवाले अनियत स्थानकी अपेक्षा

भी माना जायगा तो जैसे विरुद्ध दिशाके अंतके अनियत स्थानका आकाश घट नहीं कहा जाता वैसे वह भी घट नहीं कहा जायगा तथा जैसे वर्तमानकालकी अपेक्षा घट है वैसे यदि अतीतकालमें रहनेवाली शिवक आदि घटकी पर्याय और भविष्यत्कालमें होनेवाली कपाल आदि पर्यायकी अपेक्षा भी घट माना जायगा तो जिसप्रकार सर्वकालमें रहनेवाली मिट्टी घट नहीं कही जा सकती उसीप्रकार त्रिकाल-वर्ती भी घट नहीं कहा जा सकता तथा जिसतरह इस देश और इस कालके संबंधसे घटका हमें प्रत्यक्ष हो रहा है उसतरह अतीत अनागत काल और अन्य देशके संबंधसे भी घटका प्रत्यक्ष माना जायगा तो उस अतीत अनागत काल और अन्य देशमें रहनेवाले घटका भी हमें प्रत्यक्ष होना चाहिये। तथा जिसप्रकार इस देश और इस काल संबंधी घटमें जल आदिका धारण, ले आना और ले जाना आदि होता है उसप्रकार अतीत अनागतकाल और अन्य देशवर्ती घटसे भी होना चाहिये परंतु वैसा होता नहीं इसलिए अतीत अनागतकाल और अन्य देशवर्ती; घट पदार्थ नहीं कहा जा सकता। तथा जिस तरह घट नूतनरूपसे है उसतरह यदि पुरातनरूप एवं समस्त रूप समस्त गंध समस्त स्पर्श समस्त संख्या और समस्त आकार आदि रूपसे भी उसे माना जायगा तो जिसप्रकार सर्वथा आगामी कालमें होने-वाला भवन घट नहीं कहा जाता उसीप्रकार पुरातन आदि स्वरूप भी घट नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार भवन; रूप रस गंध स्पर्श स्वरूप तथा पृथु (विशाल) महान (बडा) छोटा भराहुआ और रीताहुआ स्वरूप है तथा वह भवन किसी भी वस्तु वा वस्तुके किसी धर्मसे जुदा नहीं इसलिए वह भवन पदार्थ; घटस्वरूप नहीं होता उसीप्रकार पुराण एवं समस्त रस गंध आदि स्वरूप पदार्थ भी घट नहीं हो सकता। तथा इसीप्रकार—

जिस जीवने मनुष्यपर्याय प्राप्त कर रक्खी है वह निजद्रव्य निजक्षेत्र निजकाल और निजभावकी अपेक्षा ही है इतरथा अर्थात् परद्रव्य-परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षा नहीं है यदि मनुष्यजीवका अस्तित्व परद्रव्य आदिकी अपेक्षा भी माना जायगा तो मनुष्य ही नहीं हो सकता क्योंकि नियमित द्रव्य क्षेत्र काल और भावके द्वारा तो मनुष्यका अस्तित्व माना नहीं जाता इसलिये गधेके सींगके समान उसका होना असंभव है। यदि अनियमित द्रव्य आदिसे उसका अस्तित्व माना जायगा तो मनुष्यके सर्वथा न होनेपर सामान्य पदार्थ ही उत्पन्न होगा इसलिये जिसप्रकार अनियमित द्रव्य आदि रूपसे होनेसे महासामान्य पदार्थ; मनुष्य नहीं कहा जाता उसीप्रकार सामान्य पदार्थ भी मनुष्य नहीं कहा जासकेगा। खुलासा इसप्रकार है—

जिसतरह मनुष्य; जीव द्रव्यकी अपेक्षा माना जाता है उसतरह यदि वह पुद्गल आदि द्रव्यकी अपेक्षा भी माना जायगा तो जिसप्रकार पुद्गल आदि समस्त द्रव्योंमें रहनेवाला द्रव्यत्व धर्म मनुष्य नहीं कहा जा सकता उसीप्रकार पुद्गल आदि द्रव्यकी अपेक्षा मनुष्यपना भी नहीं कहा जा सकता। तथा— जिसतरह इस स्थानकी अपेक्षा मनुष्यका होना माना जाता है उसतरह विरुद्ध दिशाके अंतके किसी अनियत स्थानकी अपेक्षा भी उसका होना माना जायगा तो जिसप्रकार विरुद्ध दिशाओंके अंतके अनियत स्थानमें रहनेके कारण आकाश पदार्थ मनुष्य नहीं माना जाता उसीप्रकार विरुद्ध अनियत स्थानमें रहनेवाला भी पदार्थ मनुष्य नहीं कहा जा सकता। तथा—जिसतरह वर्तमानकालकी अपेक्षा मनुष्यका अस्तित्व है उसतरह यदि अतीत और अनागतकालकी अपेक्षा भी उसका अस्तित्व माना जायगा तो जिसप्रकार भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंमें रहनेवाला जीवत्व सामान्य मनुष्य नहीं कहा जाता

उसीप्रकार तीनों कालोंमें हमेशा रहनेवाला पदार्थ; मनुष्य नहीं कहा जा सकता। तथा—त्रिकालवर्ती पदार्थको मनुष्य माना जायगा तो जिसतरह इस देश और इस कालके संबंधकी अपेक्षा मनुष्य पदार्थ प्रत्यक्षरूपसे दीख पडता है उसतरह अन्य देश और भूत भविष्यत्कालकी अपेक्षा भी मनुष्य पदार्थ दीख पडना चाहिये परंतु ऐसा दीख नहीं पडता इसलिए जिसप्रकार इस देश और वर्तमानकालकी अपेक्षा मनुष्यका आस्तित्व है उसप्रकार अन्य देश एवं भूत और भविष्यत्कालकी अपेक्षा मनुष्यका अस्तित्व नहीं। तथा—जिसतरह यौवन पर्यायकी अपेक्षा मनुष्यका अस्तित्व है उसतरह यदि वृद्धत्व पर्याय वा अन्य द्रव्यमें रहनेवाले रूप रस आदिकी अपेक्षा भी मनुष्यका अस्तित्व माना जायगा तो जिसप्रकार सर्वथा भविष्यत्कालमें होनेके कारण उपर्युक्त भवन पदार्थ मनुष्य नहीं कहा जा सकता उसप्रकार वह भी मनुष्य नहीं हो सकेगा इसरीतिसे स्वसत्ताकी अपेक्षा जीव स्यादस्ति और परसत्ताकी अपेक्षा स्यान्नास्ति ही कहना पडेगा इसतरह स्यादस्ति और स्यान्नास्ति ये दो भंग स्वयंसिद्ध हैं। तथा यह भी बात है कि—

यदि जीव अपनेमें परसत्ताके अभावकी अपेक्षा न करेगा तो वह जीव ही न हो सकेगा अथवा सन्मात्र ही सिद्ध होगा और वह जिसप्रकार विशेषरूपसे अनिश्चित होनेके कारण सामान्य पदार्थ जीव नहीं होता उसीप्रकार वह सन्मात्र पदार्थ भी जीव नहीं हो सकता। तथा जब जीवत्वकी सिद्धिमें स्वसत्ताका होना और परसत्ताके अभावकी अपेक्षा मानी गई है तब यदि उसमें स्वसत्ताका परिणाम न माना जायगा तो जीव पदार्थ ही सिद्ध न होगा अथवा जीवका जीवत्व भी सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि स्वसत्तारूप परिणत न होनेपर केवल परका अभावस्वरूप होनेसे आकाशके फूलके समान उसकी नास्ति ही माननी पडेगी इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जिसप्रकार आस्तित्वकी स्वात्मा आस्तित्वस्वरूपसे है और

नास्तित्वकी स्वात्मा नास्तित्वस्वरूपसे है उसीप्रकार परका अभाव भी स्वसत्ता परिणतिकी अपेक्षा ही है किंतु स्वसत्ता परिणतिकी अपेक्षाके न होनेपर परका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता इसरीतिसे स्यादस्ति और स्यान्नास्ति ये दोनों भंग स्वतः सिद्ध हैं। यदि स्यादस्ति और स्यान्नास्ति दोनों भंग न माने जांयगे तो वस्तुका अभाव ही हो जायगा क्योंकि यह नियम है कि यदि अभावको भावनिरपेक्ष माना जायगा तो उससे भिन्न अन्वय अर्थात् भावकी उपलब्धि तो होगी नहीं फिर वह अभाव अत्यन्त शून्य वस्तुका ही प्रतिपादन करेगा तथा यदि भावको भी अभावनिरपेक्ष माना जायगा तो उससे भिन्न व्यतिरेक अर्थात् अभाव पदार्थकी उपलब्धि तो होगी नहीं फिर वह भाव समस्त वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन करेगा। तथा सर्वथा सत्तारूपसे वा सर्वाभावरूपसे कोई भी वस्तु नहीं हो सकती एवं सर्वस्वरूप वा सर्वाभावस्वरूप कोई भी वस्तु नहीं दीख पडती। यदि सर्वात्मक वस्तुको माना जायगा तो वह वस्तु ही नहीं हो सकती क्योंकि उस प्रकारकी वस्तुका होना असंभव है। यदि सर्वाभावस्वरूप मानी जायगी तो वह आकाशके फूलके समान असंभवित कही जायगी।

परंतु हां! यदि वस्तुत्वको सर्वात्मक माना जायगा तो जिसप्रकार श्रावणत्वधर्म शब्दमात्रमें रहनेके कारण असाधारण है इसलिए कहा जा सकता है उसीप्रकार वस्तुत्वधर्म भी वस्तुमात्रमें रहनेके कारण असाधारण है इसलिए वह भी कहा जा सकता है इसरीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि न सर्वथा सत्तात्मक पदार्थ है और न सर्वथा अभावात्मक पदार्थ है किंतु कथंचित् अस्तित्वस्वरूप और कथंचित् नास्तित्वस्वरूप है इसलिए स्यादस्ति और स्यान्नास्ति ये दोनों भंग निर्बाध रूपसे सिद्ध हैं। और भी यह बात है कि—

अभावपना भावस्वरूपसे विलक्षण है और उसमें किसी भी क्रिया और गुणका नामोच्चारण नहीं होता एवं भावपना अभाव स्वरूपसे विलक्षण है और उसमें क्रिया और गुणका नामोच्चारण होता है इस प्रकार यद्यपि भाव और अभावमें आपसमें एकको दूसरेकी अपेक्षा है तो भी अभावको अपनी सिद्धिमें अपने सद्भाव और भावाभावकी अपेक्षा है इसीप्रकार भाव भी स्वसद्भाव और अभावाभावकी अपेक्षा सिद्ध होता है। यदि कदाचित् एकांतसे अभावका अस्तित्व माना जायगा तो सर्वात्मरूपसे अस्तित्वकी सिद्धि होनेसे निजरूप सद्भावकी अपेक्षा भी अस्तित्व माना जायगा क्योंकि अभावरूपसे नास्तित्व होना चाहिये, यदि अभावरूपसे भी अस्तित्व माना जायगा तो सब तरहसे अस्तित्व ही सिद्ध होगा नास्तित्व नहीं सिद्ध होगा इस रीतिसे जब भाव और अभाव दोनों रूपसे अस्तित्व सिद्ध होगा तब अस्तित्वका सांकर्य होनेसे अनिश्चितपना होनेसे भाव और अभाव दोनोंमें एककी भी सिद्धि न होनेसे अस्तित्वका अभाव ही सिद्ध होगा। यदि कदाचित् अस्तित्वके माननेमें दोष दीख पडनेके कारण एकांत रूपसे अस्तित्वको न मानकर नास्तित्व माना जायगा तो उससे जिसप्रकार अभाव; भावस्वरूपसे नहीं है उसप्रकार अभावस्वरूपसे भी नहीं है यह कहा जायगा तब फिर अभावका अभावस्वरूप तत्त्व सिद्ध होनेसे तथा भावका विरोधी कोई भी अभाव पदार्थ न सिद्ध होनेसे केवल भावस्वरूप भी पदार्थ सिद्ध न होगा तथा जिसप्रकार घटके अभावका अभाव घटस्वरूप कहा जाता है उसप्रकार आकाशके फूल आदिके अभावका अभाव भी भावस्वरूप ही सिद्ध होगा इसलिये आकाशके फूल आदि पदार्थोंको भावस्वरूप ही मानना पडेगा इसरीतिसे जब एकांतसे अभावकी नास्ति मानी जायगी तब समस्त संसार अभावस्वरूप ही सिद्ध होगा। इसीप्रकार यदि भावका एकांत रूपसे अस्तित्व माना जायगा तो उसमें भी एकांत रूपसे

अभावके अस्तित्व माननेमें जो दोष कह आये हैं वे समझ लेने चाहिये । अर्थात्—'एकांतस्वरूपसे भाव अस्तित्वस्वरूप है' यदि यह माना जायगा तो सर्वात्मना अस्तित्व स्वीकार करनेपर जिसप्रकार वह स्वस्वरूपसे अस्तित्वस्वरूप माना जायगा उसप्रकार अभावस्वरूपसे भी अस्तित्वस्वरूप मानना पडेगा इसरीतिसे भाव और अभाव दोनोंके अस्तित्वका सांकर्य होनेसे अस्थिरताके कारण दोनोंका ही अभाव हो जायगा अथवा भावका एकांतसे यदि नास्तित्व माना जायगा तो जिसप्रकार वह स्वस्वरूप अपने भावस्वरूपसे नहीं है उसप्रकार अभावस्वरूपसे भी उसकी नास्ति कही जायगी इसरीतिसे भावके अभावसे एवं अभावके विरोधी भावके न रहनेसे अभावमात्र ही तत्त्व सिद्ध न होगा इसरीतिसे भाव और अभावके अभाव होनेपर सर्वथा अभाव ही सिद्ध होनेसे घट पट आदि भाव और घटाभाव पटाभाव आदि अभाव कोई भी पदार्थ सिद्ध न होगा । इसलिये स्यादस्तिभावः, स्यान्नास्तिभावः, स्यादस्त्यभावः, स्यान्नास्त्यभावः, स्यादस्ति जीवः, स्यान्नास्ति जीवः, इसतरह कथंचित् अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप ही तत्त्व मानना उचित है । अब यहांपर वादीके अभिप्रायको आश्रयकर यह कहना है कि—

इसप्रकार उपर्युक्त रीतिसे जब आत्मा और घट पट आदि पदार्थोंकी सिद्धिमें भाव और अभाव दोनोंकी आपसमें अपेक्षा सिद्ध है अर्थात् बिना दोनोंकी आपसमें अपेक्षा किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती तब अर्थसे और प्रकरणसे घटमें नहीं रहनेवाली जो पटकी सत्ता है उसका निषेध घटमें करना व्यर्थ है क्योंकि बिना उस भावकी अपेक्षा किये घट पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता । अर्थात् घटमें पटकी सत्ताका निषेध नहीं करने पर भी सुतरां सिद्ध हो जायगा फिर जो निषेध किया जाता है वह व्यर्थ है । सो ठीक नहीं । यदि घटमें पटादिकी सत्ताका निषेध न किया जायगा तो सामान्यरूपसे

जिसप्रकार घट पदार्थ है उसीप्रकार पट आदि भी पदार्थ है इसलिये पट आदिके अस्तित्वकी घटमें प्राप्ति अनिवार्य होगी इसलिये उसकी निवृत्तिके लिये घटमें विशिष्ट पदार्थपना माना गया है अतः पदार्थ सामान्यकी सामर्थ्यसे प्राप्त पट आदिकी सत्तारूप जो अर्थस्वरूप है उसके निषेध करनेसे घटका वास्तविक स्वरूप लब्ध होता है, यदि घटको विशिष्ट पदार्थ न माना जायगा और पट आदिकी सत्ताका निषेध न किया जायगा तो वह घटरूप अर्थ ही नहीं कहा जायगा अथवा उसकी पट आदि पदार्थोंके स्वरूपसे तो जुदाई होगी नहीं फिर पट आदि विपरीत पदार्थ स्वरूप ही कहा जायगा इसलिये पट आदि पदार्थोंकी सत्ताके निषेधके लिये घटको विशिष्ट पदार्थ मानना ही अत्यावश्यक है। अर्थात् जैसे घटमें पदार्थत्व और सत्त्व है उसीप्रकार वे धर्म पटमें भी हैं इसलिये विना पटके धर्मोंका निषेध किये घट पटस्वरूप ही ठहरेगा। तथा—

जो पट आदि स्वरूपसे घटका अभाव कहा गया है वह अभाव भी घटका ही धर्म है क्योंकि जिस-प्रकार घटके स्वरूपके आधीन घटकी सिद्धि निश्चित है उसीप्रकार पटादिस्वरूपसे जो अभाव कहा गया है उसके आधीन भी घटकी सिद्धि निश्चित है उसकी अपेक्षा विना किये घटकी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये वह पट आदि स्वरूपसे अभाव भी घट हीकी पर्याय है किंतु उसको जो परपर्याय कहा जाता है वह उपचारमात्र है क्योंकि वह परपदार्थ पटादि विशेषणोंकी अपेक्षा कहा गया है इसलिए परनिमित्तक होनेसे वह परपर्याय कह दिया जाता है तथा यह नियम है कि "स्वपरविशेषणायत्तं हि वस्तुस्वरूप-प्रकाशनं" वस्तुके स्वरूपकी जो प्रकटता है वह स्व और पर[1]स्वरूप विशेषणोंके आधीन है। पटाभाव भी

१—परके निमित्तसे होनेवाला किंतु स्वस्वरूप।

घटके स्वरूपकी प्रकटतामें कारण है इसलिए वह घटकी ही पर्याय है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

'स्यादस्त्येव जीवः' यहांपर अस्ति शब्दका वाच्य जो अर्थ है उससे जीव शब्दका वाच्य अर्थ भिन्न स्वभाव है कि अभिन्न स्वभाव है ? यदि कहा जायगा कि अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे जीव शब्दका वाच्य अर्थ अभिन्न है तो जो सत् शब्दके वाच्य अर्थका स्वरूप है वही जीव शब्दके वाच्य अर्थका भी स्वरूप होगा अन्य किसी भी विशेष धर्मका वहां समावेश न हो सकेगा इसलिए सत् और जीव पदार्थमें कोई विशेष न होगा दोनों एक ही कहे जांयगे तथा यह नियम है जो पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं उन्हींका आपसमें समानाधिकरण संबंध होता है एवं जिनका आपसमें समानाधिकरण संबंध होता है उन्हींका विशेषण विशेष्यभाव भी होता है जब जीव और अस्तित्वका वाच्य अर्थ एक ही माना जायगा तब न तो उन दोनोंका आपसमें सामानाधिकरण्य संबंध बनेगा और न आपसमें वे विशेषण विशेष्यभाव कहे जांयगे इस रीतिसे जो ऊपर अस्तित्वको विशेषण और जीवको विशेष्य कहा गया है वह कहना मिथ्या होगा । तथा जिसप्रकार घट और कुट शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं इसलिए जहां घटरूप अर्थके जनानेकी आवश्यकता पडती है वहांपर घट कुट दोनों शब्दोंमें किसी एक शब्दका ही प्रयोग किया जाता है उसीसे अर्थ संपन्न हो जाता है दोनों शब्दोंका प्रयोग नहीं करना पडता । यदि अस्तित्व और जीव शब्दोंको एकार्थवाचक माना जायगा तो 'स्यादस्त्येव जीवः' यहांपर अस्तित्व और जीव इन दोनों शब्दोंमें एक ही शब्दका प्रयोग करना होगा । तथा और यह बात है—

अस्तित्वके विषय समस्त द्रव्य और पर्याय हैं अर्थात् समस्त द्रव्य और पर्याय अस्तित्वस्वरूप माने गये हैं उस अस्तित्वसे जीव पदार्थ अभिन्न है इसलिए जिसप्रकार अस्तित्वका समस्त द्रव्य और पर्यायोंके

साथ तादात्म्यसंबंध है उसीप्रकार जीवका भी उसके साथ तादात्म्यसंबंध होगा इस रीतिसे जितने भी संसारके भीतर पदार्थ हैं सामान्यरूपसे सबको जीव कहना होगा इसलिए फिर समस्त संसार जीवरूप ही कहा जायगा। तथा यदि जीवको सत्स्वरूप ही माना जायगा तो जीवस्वरूप जो चैतन्य है उसके भेद ज्ञान आदि क्रोध आदि नरकत्व आदि जितने भर भी विशेषण हैं उनका विभिन्नरूपसे ज्ञान होगा नहीं इसलिए उनका अभाव ही कहना होगा तथा आत्मामें जो अस्तित्व धर्म है उसे जीवत्व धर्मके समान जीवका ही स्वभाव माना जायगा तो जिसप्रकार पुद्गल धर्म अधर्म आदि द्रव्योंमें जीवत्वधर्मकी नास्ति है उसीप्रकार उनमें अस्तित्वकी भी नास्ति होगी इस रीतिसे पुद्गल आदिकी सत्स्वरूपसे प्रतीति न होगी क्योंकि सत् रूपसे प्रतीतिमें कारण अस्तित्वकी विद्यमानता है सो अस्तित्व जीवका स्वभाव माननेपर पुद्गल आदिमें रह नहीं सकता। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि—

जीव और अस्तित्वका अभेदसंबंध मानने पर उपर्युक्त दोष आते हैं सो नहीं आवें इसलिये अस्ति शब्दका वाच्य जो अर्थ है उससे जीव शब्दके वाच्य अर्थको भिन्न मानेंगे ? सो भी ठीक नहीं। यदि जीवसे अस्तित्वको भिन्न माना जायगा तो जीवको असत् कहना पडेगा क्योंकि अस्तित्वकी विद्यमानतामें ही पदार्थकी सत् रूपसे प्रतीति होती है यहांपर जीवसे अस्तित्वको भिन्न माना है इसलिये उसकी सतरूपसे प्रतीति नहीं हो सकती इस रीतिसे—"नास्ति जीवोऽस्तिशब्दवाच्यार्थविविक्तत्वात् खरविषाणवत्" अर्थात् जीव कोई पदार्थ नहीं क्योंकि अस्ति शब्दका वाच्य जो अर्थ है उससे वह भिन्न है जिस तरह गधेका सींग, अर्थात्—जिसप्रकार अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे भिन्न होनेके कारण संसारमें गधेका सींग कोई पदार्थ नहीं माना जाता उसीप्रकार जीव भी अस्तित्वसे रहित है इसलिये वह भी कोई पदार्थ

नहीं हो सकता। अथवा अस्तित्वसे जीवको भिन्न मानने पर विपरीत पदार्थ सिद्ध होगा अर्थात्–'अयं आस्तिशब्दवाच्यार्थभिन्नः, जीवत्वात् मनुष्यवत्' यह अस्ति शब्दका वाच्य जो अर्थ है उससे भिन्न है क्योंकि यह जीव है जिसतरह मनुष्य, सारार्थ–मनुष्य; जीव पर्याय है इसलिये उसमें जीवत्व तो है परंतु जीवत्वसे अस्ति शब्दवाच्य अर्थ भिन्न है इसलिये मनुष्य भी आस्तिशब्दवाच्य अर्थसे भिन्न है। यह विपरीत बात सिद्ध होगी तथा जब जीव पदार्थ ही संसारमें प्रसिद्ध न होगा तो उसके आधीन जो मोक्ष स्वर्ग आदिक व्यवहारकी व्यवस्था मानी है उसका भी लोप हो जायगा। और भी यह बात है कि—

जिसप्रकार आस्तित्व धर्म जीव पदार्थसे भिन्न है उसीप्रकार वह अन्य पदार्थोंसे भी भिन्न माना जायगा इसरीतिसे उसका कोई भी आश्रय निश्चित न होने पर उसका अभाव ही होगा क्योंकि जितने भर धर्म वा गुण हैं विना धर्मी वा गुणीके नहीं रह सकते आस्तित्व भी धर्म है इसलिये वह भी धर्मी वा गुणीका आश्रय किये विना नहीं रह सकता इसप्रकार जब आस्तित्वका अभाव ही हो जायगा तो उसके आधीन जितना भी लोकमें व्यवहार है सबका लोप हो जायगा तथा और भी यह बात है कि—

जब जीवका स्वभाव अस्तित्वसे भिन्न माना जायगा तब यह बतलाना चाहिये कि आत्माका स्वभाव क्या है? यदि उत्तरमें उसका कोई भी स्वभाव कहा जायगा तो उन सबमें कोई भी उसका स्वभाव निश्चित न हो सकेगा क्योंकि जब जीवपदार्थका आस्तित्व ही सिद्ध नहीं तब उसका और भी कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये आस्तित्वके विना जिसप्रकार आकाशके फूलका अभाव है उसीप्रकार सत्स्वरूपके अभावमें भी अभाव कहना होगा इसरीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि अस्ति शब्दके वाच्य अर्थसे जीव शब्दके वाच्य अर्थका न तो सर्वथा अभेद है और न सर्वथा भेद है किंतु

कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद है क्योंकि पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा होना और जीना ये दोनों पर्याय परस्पर भिन्न भिन्न हैं। अस्तित्व पर्यायके उल्लेखसे जीवका ग्रहण नहीं होता और जीव पर्यायके उल्लेखसे अस्तित्वका ग्रहण नहीं होता इसलिये अस्तित्व और जीवका आपसमें कथंचित् भेद है। तथा द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा होना और जीना दोनों पर्यायें द्रव्यस्वरूप हैं। दोनोंके द्रव्यस्वरूप होनेसे अस्तित्वके ग्रहण करनेसे जीवका ग्रहण और जीवके ग्रहण करनेसे अस्तित्वका ग्रहण होता है इसलिये अस्तित्व और जीव आपसमें कथंचित् अभेदस्वरूप हैं। इसरीतिसे स्यादस्ति और स्यान्नास्ति ये दोनों भंग निर्बाधरूपसे सिद्ध है। तथा अर्थ अभिधान और प्रत्यय अर्थात् पदार्थ शब्द और ज्ञान इन तीनोंकी प्रसिद्धि स्यादस्ति और स्यान्नास्ति इन दोनोंके आधीन है इसलिये पदार्थ आदिकी प्रसिद्धि होनेसे स्यादस्ति और स्यान्नास्ति इन दोनों भंगोंका होना भी अत्यावश्यक है। खलासा इसप्रकार है—

जीव पदार्थ, जीव संज्ञा और जीव ज्ञान ये तीनों बातें लोकमें विचारसिद्ध हैं ऐसा कोई मानता है, उसका यह कहना भी है कि जो पुरुष वर्णाश्रम धर्मके माननेवाले हैं वे जीवका अस्तित्व मानकर ही इस लोक परलोकसंबंधी क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं इसलिए जीव पदार्थ है ही। इस सिद्धांतका प्रतिवाद-स्वरूप दूसरेका कहना है कि—

जीवपदार्थ, जीवशब्द और जीवज्ञान ये तीनों ही पदार्थ संसारमें नहीं हैं उनमें जीवपदार्थ उपलब्ध होता नहीं इसलिए वह तो है ही नहीं किंतु उस रूपसे परिणमित होनेवाला विज्ञान पदार्थ ही उसकी स्वप्नके समान कल्पना करता है अर्थात् जिसप्रकार स्वप्नमें अनेक पदार्थ दीख पडते हैं परंतु आंख खुलते ही उनमेंसे एकका भी पता नहीं चलता इसलिए वे सब मिथ्या माने जाते हैं उसीप्रकार जीव भी

कोई पदार्थ नहीं, विज्ञान ही पदार्थ है परंतु वह स्वप्नमें देखे पदार्थके समान जीवरूपसे दीख पडता है। तथा प्रत्यय जीव भी कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि विज्ञान ज्ञेयस्वरूपसे किसी पदार्थका प्रतिपादन नहीं कर सकता अर्थात् यदि प्रत्यय जीव पदार्थ माना जायगा तो वह विज्ञानका ज्ञेयरूपसे विषय पडेगा परंतु विज्ञान ज्ञेयरूपसे किसी भी पदार्थका प्रतिपादन कर नहीं सकता इसलिए विज्ञानका विषय न होनेके कारण प्रत्ययजीव कोई पदार्थ नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि विज्ञान हीको जीव मान लेना चाहिये सो भी ठीक नहीं है क्योंकि विज्ञान पदार्थ स्वयं न तो जीव है और न अजीव है किन्तु वह एक प्रकाशस्वरूप पदार्थ है, किसी भी शब्दसे उसका निरूपण नहीं हो सकता। यदि कदाचित् यहांपर कहा जाय कि शब्द द्वारा निरूपण करनेपर उसका जीव आदि स्वरूप कुछ आकार तो प्रकट अनुभवमें आता है। उसका समाधान यह है कि—जिस आकारसे उसका निरूपण होता है वह स्वप्नज्ञानके समान उसका असत् आकार है अर्थात् स्वप्नज्ञानमें जिससमय हाथी घोडे नगर आदि दीख पडते हैं उससमय साथमें स्फुटरूपसे उनका आकार भी दीख पडता है परंतु निद्राभंग हो जानेपर उस आकारका पता भी नहीं लगता इसलिये स्वप्न अवस्थामें देखे हुए पदार्थोंके आकार जिसप्रकार असत् आकार माने जाते हैं उसीप्रकार जिस किसी भी आकारसे विज्ञानका निरूपण माना जाता है वह आकार सब असत् आकार है इसलिये 'नास्ति ज्ञानं, अतदाकारत्वात् खराविषाणवत्, अर्थात् जीव विषयक ज्ञान नहीं है क्योंकि जीवस्वरूप जो भी विज्ञानका आकार कहा जाता है वह असत् आकार है जिसप्रकार गधेके सींग। अर्थात् गधेके सींगका सत्स्वरूप कोई भी आकार न रहनेके कारण जिसप्रकार उसकी नास्ति है उसीप्रकार जीवस्वरूप ज्ञान पदार्थ भी कोई भी न रहनेके कारण उसकी भी नास्ति है

इसलिये विज्ञान एक निराकार पदार्थ है, जीव आदिस्वरूप उसका कोई भी सत् आकार नहीं। तथा—

जीव शब्द भी कोई पदार्थ नहीं क्योंकि शब्द या तो पदरूप हो सकता है या वाक्यरूप हो सकता है सो वह दोनों ही स्वरूप नहीं हो सकता अथवा दोनों ही एक कालके अवयव स्वरूप नहीं हो सकते अर्थात् शुद्ध एक समयमें पदस्वरूप वा वाक्यस्वरूप शब्दका उच्चारण नहीं हो सकता इसलिये भी उन दोनोंकी नास्ति है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जब जीव शब्दका अभाव मान लिया जायगा तब जीव शब्दका जो संसारमें ग्रहण होता है वह न होना चाहिये। उसका समाधान यह है कि—जिन अन्य सिद्धांतकारोंने वर्णोंकी विभागकल्पना कर रक्खी है उन वर्णोंके विभागोंसे अनुक्रमसे प्राप्त की हुई शक्तिकी धारक बुद्धिओंमें, शक्तिकी परिपूर्णता होनेपर जिसमें समस्त वर्णोंका विभाग अस्त है ऐसे विज्ञानको ही जीवशब्द मान लिया गया है किन्तु विज्ञानसे भिन्न कोई भी जीवशब्द नामका पदार्थ नहीं। तथा यह भी बात है कि—

अन्य सिद्धांतकारोंकी अपेक्षा जीवशब्दको जो विज्ञानस्वरूप कहा गया है वह भी ठीक नहीं क्योंकि विज्ञानको क्षणविनाशीक प्रत्यर्थवशवर्ती अर्थात् हर एक पदार्थको क्रम क्रमसे विषय करनेवाला माना है। उससे पूर्वापर पदार्थोंके प्रतिभासन करनेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती। पूर्वापर पदार्थस्वरूप जीवशब्दको विज्ञान एक क्षणमें विषय नहीं कर सकता इसलिये वास्तवमें जीवशब्द विज्ञानस्वरूप हो ही नहीं सकता? जैनाचार्य इस विस्तृत प्रश्नका समाधान देते हैं—

१—यह सिद्धांत बौद्ध विशेषका है। उसके मतमें काल भी एक प्रकारकी उपाधि मानी गई है। जो कार्य एक क्षणके अन्दर निष्पन्न होनेवाला हो उसे तो वह वस्तुभूत मानता है किंतु जिसकी निष्पत्ति क्षणसे अधिक कालमें हो उसे वह अवस्तुभूत अर्थात् वह कोई पदार्थ है ही नहीं ऐसा मानता है। पदरूप वा वाक्यरूप शब्द एक क्षणमें निष्पन्न नहीं होसकता इसलिये वह अवस्तुभूत अर्थात् हो ही नहीं सकता है।

११८१

यदि उपर्युक्त जीवरूप पदार्थ, जीवज्ञान और जीवशब्दका अभाव माना जायगा अर्थात् सिवाय विज्ञानके कोई भी पदार्थ न माना जायगा तो संसारमें एक पदार्थ वाच्य है और दूसरा वाचक है यह जो वाच्यवाचकसंबंध रूढिसे प्राप्त है उसका अभाव हो जायगा क्योंकि विज्ञानमात्र पदार्थके माननेमें कोई भी अन्य पदार्थ सिद्ध न होनेके कारण वाच्यवाचक संबंधका संभव नहीं हो सकता इसरीतिसे लोकविरोध होगा तथा जीवपदार्थके न माने जानेपर किसी पदार्थकी परीक्षा करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह भी निष्फल जायगा क्योंकि जीवपदार्थके आधीन ही परीक्षाका प्रयत्न है, जब जीवपदार्थ ही नहीं सिद्ध होगा तब परीक्षाका प्रयत्न भी निष्फल ही है। इसलिये जीवकी सर्वथा नास्ति न मानकर 'जीवः स्यादस्ति स्यान्नास्ति' अर्थात् कथंचित् जीव है कथंचित् जीव नहीं है, ये स्यादस्ति और स्यान्नास्ति ये दोनों भंग द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा हैं क्योंकि द्रव्यार्थिकका व्यापार पर्यायार्थिकको अंतःप्रविष्ट कर होता है और पर्यायार्थिकका व्यापार द्रव्यार्थिकको अंतःप्रविष्ट कर होता है एवं ये दोनों नय सकलादेशस्वरूप हैं। यहांपर प्रथम द्वितीय दोनों भंगोंमें एक कालमें समस्त पदार्थका एक गुण रूपसे कथन है तथा तीसरा भंग अवक्तव्य है क्योंकि वहांपर दो गुणोंसे अभिन्न एक ही द्रव्यको अभेदरूपसे एकसाथ कहनेकी इच्छा है। खुलासा इसप्रकार है—

पहली और दूसरी भंगोंमें एक कालमें एक शब्दसे एक समस्त पदार्थका एक गुण मुखसे प्रतिपादन क्रमसे है एवं जिससमय जब धारणस्वरूपका प्रतियोगी गुणोंके द्वारा एक साथ एक कालमें अभेदरूपसे एक समस्त पदार्थकी कहनेकी इच्छा हो वहांपर अवक्तव्य नामका तीसरा भंग है क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप दोनों गुणोंका कहनेवाला कोई एक शब्द नहीं है, यहांपर युगपद्भावका अर्थ काल आदिके

द्वारा अभेदरूपसे विवक्षित गुणोंका रहना है। अवक्तव्यभंगमें वह अभेद हो नहीं सकता इसलिये दोनों प्रतियोगी गुणोंका एक साथ कहनेवाला कोई शब्द न रहनेसे उस भंगका अवक्तव्य नाम है। जिन काल आदिके द्वारा अभेद संबंधका उल्लेख किया गया है वार्तिककार उन काल आदिका वर्णन करते हैं—

काल आत्मरूपमर्थः संबंध उपकारो गुणिदेशः संसर्गः शब्दः ॥ २० ॥

काल आत्मरूप अर्थ संबंध उपकार गुणिदेश संसर्ग और शब्द ये आठ पदार्थ अभेद बतलानेवाले हैं। जो गुण जिसकारणसे आपसमें विरुद्ध हैं उनका एक कालमें किसी भी पदार्थमें रहना नहीं दीख पडता इसलिये अभेदरूपसे किसी एक पदार्थमें न रहनेके कारण उनको कहनेवाला कोई एक शब्द नहीं हो सकता। इसरीतिसे आपसमें जुदे जुदे, असंसर्गस्वरूप और अनेकांतस्वरूप अस्तित्व नास्तित्व एक आत्मामें नहीं रह सकते जिससे एक कालमें आत्मा अस्तित्व नास्तित्व दोनों स्वरूप कहा जाय इसप्रकार यह कालकृत अभेदका निषेध है। एकांत पक्षमें समस्त गुणोंका आपसमें स्वरूप भिन्न भिन्न है इसलिये वे आपसमें एकमएक नहीं हो सकते तथा जब वे आपसमें एकमएक नहीं हो सकते तब वे एक आत्मामें एक साथ अभेदरूपसे कहे भी नहीं जा सकते सार यह है कि यदि गुण आपसमें एकमएक रूपसे परिणमन करें तब वे किसी जगहमें अभेदरूपसे कहे जा सकते हैं परंतु वैसा तो है नहीं इसलिये उनका अभेद नहीं कहा जा सकता। यह आत्मरूपकृत अभेदका निषेध है। एकांत पक्षमें अस्तित्व नास्तित्व धर्मोंका आपसमें विरोध है इसलिये वे एकसाथ एक द्रव्यको आधार बनाकर नहीं रह सकते तथा जब उनका आधार अभिन्न नहीं है तब उनका आपसमें अभेदसंबंध और एकसाथ रहना भी नहीं हो सकता एवं अस्तित्व नास्तित्वका आपसमें अभेद न रहनेपर उनको एकसाथ कहनेवाला कोई शब्द

भी नहीं हो सकता। इसप्रकार यह अर्थकृत अभेदका निषेध है, संबंधके द्वारा भी गुणोंका आपसमें अभेद नहीं हो सकता क्योंकि जिसप्रकार छत्र और देवदत्त एवं दंड और देवदत्तका संबंध आपसमें जुदा जुदा है क्योंकि छत्र और देवदत्त एवं दंड और देवदत्त रूपसंबंधी जुदे जुदे हैं उसीप्रकार अस्तित्व नास्तित्वका संबंध भी आत्माके साथ जुदा जुदा है क्योंकि यहांपर भी अस्तित्व आत्मा और नास्तित्व आत्मारूप संबंधी जुदे जुदे हैं इसरीतिसे आपसमें संबंधके भेदसे अस्तित्व नास्तित्वका भेद होनेसे उन दोनोंका अभेद नहीं हो सकता एवं संबंधके भेदसे जब उन दोनोंका भेद है तब उन दोनोंका प्रतिपादन करनेवाला कोई एक शब्द भी नहीं हो सकता। शंका—

छत्र देवदत्त वा दंड देवदत्तका जो उदाहरण दिया गया है वह संयोगविषयक संबंधका है परन्तु अस्तित्व नास्तित्वका जो आत्माके साथ संबंध है वह समवाय है और वह नित्य एवं एक माना है किंतु संयोगसंबंध अनेक और अनित्य है इसलिये संयोगसंबंध भिन्न भिन्न माना जा सकता है समवाय संबंध भिन्न भिन्न नहीं हो सकता। तथा अस्तित्व नास्तित्वका आत्माके साथ समवायसंबंध मानने और उसके एक होनेसे अस्तित्व नास्तित्वका अभेद संबंध हो सकता है कोई दोष नहीं। सो ठीक नहीं। जिसप्रकार संयोगसंबंधका अभिधान और प्रतीति भिन्न २ है इसलिये उसको अनेकप्रकारका माना गया है उसीप्रकार समवायसंबंधका अभिधान और प्रतीति भिन्न भिन्न है इसलिये वह भी अनेकप्रकारका है इसरीतिसे जुदे रूपसे अभिधान और प्रतीतिका कारण होनेसे जब समवाय पदार्थ भी अनेक है तब संबंधके भेदसे अस्तित्व नास्तित्वका अभेद नहीं हो सकता। इसरीतिसे यह संबंधकृत अस्तित्व नास्तित्वके अभेदका निषेध है तथा—

१—संयोग भी संबन्ध है और समवाय भी संबन्ध है दोनोंके नाम-एकसे हैं।

उपकारके द्वारा भी गुणोंका अभेद नहीं क्योंकि नीले वा लाल आदि रंगोंसे रंग जाना यही गुणोंका द्रव्यके ऊपर उपकार है। वे नील लाल आदि रंग आपसमें अपने अपने स्वरूपके भेदसे भिन्न भिन्न हैं। जबतक उन नील आदिमें नीलत्व रक्तत्व आदि रूप है एवं जबतक उनकी नील नीलतर नीलतम आदि अवस्थाऐं है तबतक ही वे द्रव्यको रंजायमान करते रहते हैं इसलिये जब नील आदिकी नील नीलतर आदि अवस्था भिन्न भिन्न हैं तब उनके द्वारा होनेवाला द्रव्यके ऊपर उपकार भी भिन्न २ है इसरीतिसे गुणोंसे जायमान उपकारके भिन्न भिन्न होनेसे अस्तित्व और नास्तित्वका भी भेद होगा तब जो पदार्थ अस्तित्वसे रंजायमान होगा वह सत् कहा जायगा और जो नास्तित्वमे रंजायमान होगा वह असत् कहा जायगा। एवं जब उपकारके भेदसे अस्तित्व नास्तित्वका अभेद न सिद्ध होगा तब उन दोनोंका वाचक कोई एक शब्द नहीं हो सकता। यह उपकारकृत अभेदका निषेध है। तथा—यदि गुणीके एकदेशमें गुणोंके द्वारा उपकार होता हो तब तो एकदेशमें अस्तित्वके द्वारा उपकार और एकदेशमें नास्तित्वके द्वारा उपकार इसतरह भिन्न भिन्न देशकी अपेक्षा एक ही गुणीमें दोनोंका रहना निश्चित होनेपर अस्तित्व नास्तित्वका एक ही पदार्थमें सहभाव अर्थात् साथरहना कहा जा सकता है परंतु नील आदि समस्त गुण साकल्येन द्रव्यके उपकारक हैं और पट आदि द्रव्य साकल्येन उनसे रंजायमान होती हैं एकदेश रूपसे नहीं क्योंकि 'गुण उपकारको गुणी उपकार्यः' गुण साकल्येन द्रव्यका उपकारक होता है, और गुणी साकल्येन द्रव्यका उपकार्य होता है, ऐसा माना गया है, तथा गुण और गुणीका एकदेश हो भी नहीं सकता जिससे गुणको साकल्येन उपकारक माननेमें वा गुणीको साकल्येन उपकार्य माननेमें किसीप्रकारकी बाधा हो सके इसरीतिसे जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि गुणीका एकदेश सिद्ध नहीं तब उसके एकदेशमें अस्तित्वका उपकार और

दुसरे देशमें नास्तित्वका उपकार इसतरह एकही गुणीमें अस्तित्व और नास्तित्वका सहभाव नहीं हो सकता। सहभावके न होनेपर उन दोनोंका अभेद भी नहीं हो सकता और जब उन दोनोंका अभेद नहीं तब उनको एकसाथ कहनेवाला कोई एक शब्द भी नहीं हो सकता। यह गुणिदेशकी अपेक्षा अस्तित्व नास्तित्वके अभेदका निषेध है। तथा—जिसप्रकार शुक्ल और कृष्ण गुण कर्बुर (चितकबरा) रंगसे भिन्न और आपसमें भी अपने स्वरूपसे जुदे जुदे हैं। असंसृष्ट—आपसमें मिले हुए भी नहीं हैं एवं शुक्लत्व रूपसे शुक्लका और कृष्णत्वरूपसे कृष्णका इसप्रकार दोनोंका स्वरूप जुदा जुदा निश्चित है इसलिये वे एक पदार्थमें एक साथ रहनेके लिये समर्थ नहीं उसीप्रकार अस्तित्व नास्तित्व गुण भी आपसमें जुदे जुदे हैं एवं अस्तित्वस्वरूपसे अस्तित्वका और नास्तित्वस्वरूपसे नास्तित्वका इत्यादिरूपसे अस्तित्व आदिका स्वरूप भी भिन्न भिन्न रूपसे निश्चित है इसलिये एकांतपक्षमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रत्येकका स्वरूप निश्चित होनेसे उनका मिला हुआ अखण्ड अनेकस्वरूप नहीं है इसरीतिसे अस्तित्व नास्तित्वके साथ संसर्गका भेद रहनेसे दोनोंका एकसाथ प्रतिपादन नहीं हो सकता क्योंकि पदार्थमें वैसे होनेकी सामर्थ्य नहीं अर्थात् जिनके संसर्गोंका भेद हो ऐसे पदार्थोंका एकसाथ प्रतिपादन होना असंभव है तथा जिसका एकरूपमे प्रतिपादन होता हो उसके दो संबंधोंका होना भी असंभव है इसलिये जब अस्तित्व नास्तित्वके संसर्गोंका भेद है तब उनका भी आपसमें अभेद नहीं हो सकता एवं जब उनका आपसमें अभेद निश्चित नहीं तब एक कालमें एकशब्द उन दोनोंको प्रतिपादन नहीं कर सकता इसप्रकार यह संसर्गकृत अस्तित्व नास्तित्वके अभेदका निषेध है।

विशेष—यहांपर संबंध और संसर्ग दोनोंके द्वारा जायमान अभेदका निषेध कहा गया है परंतु

संबंध और संसर्गका अर्थ एक ही है इसलिए यहां दोनोंमेंसे एकका प्रयोग करना चाहिये ? सो ठीक नहीं। कथंचित् तादात्म्यस्वरूप संबंधके माननेपर अभेदकी प्रधानता और भेदका गौणपना रहता है इसलिए जहांपर अभेद प्रधान और भेद गौण होगा वहांपर संबंध समझना चाहिये और संसर्गमें भेद प्रधान और अभेद गौण है इसलिए जहांपर भेद प्रधान और अभेद गौण हो वहांपर संबंध समझ लेना चाहिये।

तथा—दो गुणोंका एक कालमें एक साथ कहनेवाला कोई एक शब्द नहीं है। यदि यह कहा जायगा कि एक कालमें एक साथ दो गुणोंका प्रतिपादन करनेवाला एक शब्द है तब सत् शब्द जिसप्रकार स्वार्थ अपने अस्तित्वरूप अर्थका प्रतिपादन करता है उसप्रकार वह स्वार्थसे विरुद्ध असत्‌रूप अर्थका भी प्रतिपादन करेगा परंतु सत् शब्द अस्तित्व नास्तित्व दोनोंका एक साथ प्रतिपादन करता हो ऐसी लोकमें प्रतीति नहीं है क्योंकि दोनों ही शब्द एकांत पक्षमें विशेष शब्द माने गये हैं। इसरीतिसे अस्तित्व और नास्तित्वका वाचक कोई एक शब्द न होनेके कारण उन दोनोंका अभेद नहीं कहा जा सकता इसप्रकार यह शब्दकृत अभेदका निषेध है। इसप्रकार ऊपर कहे गये काल आदिकी अपेक्षा अस्तित्व और नास्तित्वका एक जगह एक साथ रहना नहीं हो सकता तथा उन दोनोंके स्वरूपका एक कालमें एक साथ कहनेवाला एक शब्द भी उपलब्ध नहीं इसलिए अस्तित्व नास्तित्वकी युगपत् विवक्षा होनेपर और एक साथ उन दोनोंको कहनेवाला कोई एक शब्द न होनेपर आत्मा अवक्तव्य है। अथवा—

जहांपर एक ही वस्तुमें मुख्यरूपसे समान शक्तिके धारक दो धर्मोंका कहना हो वहांपर आपसमें एक दूसरेका प्रतिबंधक होनेसे दोनोंमेंसे एकका भी उल्लेख होगा नहीं उस समय प्रत्यक्षविरोध और

१—सप्तभंगीतरंगिणी पृष्ठ संख्या ३३।

वस्तुको निर्गुणपना प्राप्त होगा इस रीतिसे जहांपर आस्तित्व नास्तित्व दोनों गुणोंकी मुख्यरूपसे विवक्षा हो और एक साथ एक कालमें उनका प्रतिपादन न हो सके वहांपर अवक्तव्य भंग कहना पडता है इस-प्रकार जहांपर आत्मामें अस्तित्व नास्तित्व गुणोंकी मुख्यरूपसे विवक्षा है परंतु एक शब्दसे दोनों स्वरूप आत्माका प्रतिपादन नहीं हो सकता वहांपर आत्मा अवक्तव्य कहा जाता है ।

विशेष—सप्तभंगीतरंगिणीमें काल आदिके द्वारा अभेद और भेदका निरूपण इसप्रकार किया गया है । वहांपर अभेदका प्रतिपादन इसप्रकार है—

काल आत्मरूप अर्थ संबंध उपकार गुणिदेश संसर्ग और शब्द ये आठ अभेद और भेदके नियामक हैं । अभेदपक्षमें 'स्यादस्त्येव घटः' यहांपर जिस कालमें घटमें अस्तित्व है उसी कालमें और भी अनंते धर्म हैं इस रीतिसे अस्तित्व और धर्मोंका एक ही कालमें एक ही अधिकरणमें रहनेके कारण कालसे अभेद है । घटका गुणपना जो अस्तित्वका स्वरूप है वही शेष अनंत धर्मोंका भी है इस रीतिसे अस्तित्व आदि धर्मोंका समान स्वरूप होनेसे आत्मस्वरूपसे अभेद है । जो घटरूप पदार्थ अस्तित्वका आधार है वही अन्य अनंते धर्मोंका भी आधार है इस रीतिसे अनेक धर्मोंका एक ही आधार होनेसे अर्थसे अभेदवृत्ति है । जो ही कथंचित्तादात्म्यस्वरूप संबंध अस्तित्वका है वही अन्य अनंत धर्मोंका भी है इस रीतिसे अस्तित्व आदि धर्मोंका समान संबंध होनेसे संबंधसे अभेदवृत्ति है । उपकारका अर्थ अपने स्वरूप परिणमावना है अर्थात् अपनेसे विशिष्टता उत्पन्न कर देना है । जिसतरह घटको नीला वा लाल आदि बना देना अथवा नील आदि विशिष्ट कह देना, यह नील रक्त आदि गुणोंका घटके ऊपर उपकार है । वास्तवमें जहांपर धर्मका विशेषणरूपसे भान हो और धर्मीका विशेष्यरूपसे ज्ञान हो

वही उपकार शब्दका अर्थ है। अस्तित्वका घटके ऊपर उपकार; अस्तित्वविशिष्ट घटका जना देना है तो जिस रूपसे घटपर अस्तित्वका उपकार है उसी रूपसे अन्य भी अनंत गुणोंका घटके ऊपर उपकार है इसरीतिसे उपकारकी समानतासे घटमें अस्तित्व नास्तित्वादि धर्मोंका उपकारसे अभेद है। जिस जगहपर घटमें अस्तित्व धर्म रहता है उसी जगहपर नास्तित्व धर्म भी रहता है, यह बात नहीं कि घटके कंठभागमें तो अस्तित्व रहे और पृष्ठभागमें नास्तित्व रहे इसप्रकार घटमें एकही जगहपर अस्तित्व नास्तित्वके रहनेपर गुणिदेशकी अपेक्षा अभेद है। जिसप्रकार एक वस्तुस्वरूपसे घटके साथ अस्तित्वका संसर्ग है उसी एक वस्तुस्वरूपसे अन्य भी अनंते धर्मोंका संसर्ग समान होनेसे संसर्गकी अपेक्षा अभेद है। जो अस्तिशब्द अस्तित्वस्वरूपका कहनेवाला है वही अन्य अनंत धर्मोंका भी कहनेवाला है इसप्रकार अस्तित्व नास्तित्व रूप धर्मोंका कहनेवाला एक ही शब्द होनेपर शब्दकी अपेक्षा अभेद है। इसप्रकार यह द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता रहनेपर और पर्यायार्थिक नयके गौण रहनेपर काल आदिके द्वारा गुणोंकी अभेदव्यवस्था है। अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मोंकी भेदव्यवस्था इसप्रकार है—

जहांपर द्रव्यार्थिक नयकी गौणता और पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता रहती है वहांपर गुणोंकी अभेदव्यवस्था नहीं होती किंतु भेदव्यवस्था होती है। जिसतरह—पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्म आपसमें विरुद्ध हैं एक कालमें उनका एकजगह रहना नहीं हो सकता यदि उनका एकजगह संभव माना जाय तो जितने गुणोंका वह द्रव्य आश्रय होगा उतने ही प्रकारके भेद उस द्रव्य वा पदार्थके हो जांयगे क्योंकि प्रतिक्षणमें पदार्थोंका भेद माना है इसलिए पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कालसे अस्तित्व नास्तित्वादि धर्मोंका अभेद नहीं हो सकता। अस्तित्व नास्तित्व आदि समस्त गुणोंका स्वरूप

आपसमें भिन्न भिन्न है यदि उन सब गुणोंका स्वरूप एक माना जायगा तो आपसमें उनका भेद न बन सकेगा। इसलिये आत्मरूपकी अपेक्षा भी गुणोंका आपसमें अभेद नहीं बन सकता। तथा अस्तित्व गुणका आश्रय भिन्न है। नास्तित्व आदि गुणोंका आश्रय भिन्न है। इसरीतिसे गुणोंके आश्रय नाना होनेसे गुण भी नाना होंगे, यदि उनको नाना न माना जायगा तो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जो उन्हें एक कह आये हैं वह विरुद्ध हो जायगा इसलिए गुण नाना सिद्ध होनेसे अर्थके द्वारा भी उनकी अभेदवृत्ति नहीं बन सकती। संबंधियोंके भेदसे संबंधका भी भेद दीख पडता है। जिसतरह—दंड देवदत्तके संबंधसे छत्र देवदत्तका संबंध भिन्न है इसीप्रकार अस्तित्व आत्माके संबंधसे नास्तित्व आत्माका संबंध भी भिन्न होगा इसरीतिसे संबंधके भेदसे भी गुणोंका अभेद नहीं बन सकता। तथा—अस्तित्व नास्तित्व आदि गुणोंका उपकारकी अपेक्षा भी अभेद नहीं बन सकता क्योंकि जो उपकार अनेक गुणोंसे किया गया है वह भिन्न भिन्न स्वरूप होनेसे अनेक है। जिस उपकारको अनेक उपकारी करें वह उपकार कभी एक नहीं हो सकता इसरीतिसे उपकारकी अपेक्षा भी आस्तित्व नास्तित्वका अभेद नहीं तथा गुणिदेश भी प्रत्येक गुणकी अपेक्षा भिन्न भिन्न माना है यदि गुणिदेशकी अपेक्षा गुणोंको अभिन्न माना जायगा तो भिन्न पदार्थोंके गुणोंका भी गुणिदेशके साथ अभेद मानना पडेगा इसलिए गुणिदेशकी अपेक्षा भी आस्तित्व नास्तित्वका अभेद नहीं बन सकता तथा—संसर्गी पदार्थोंके भेदोंसे संसर्गोंका भी भेद है यदि संसर्गोंका अभेद माना जायगा तो संसर्गियोंका भी भेद न बन सकेगा इसलिए संसर्गियोंकी अभेदकी आपत्तिके भयसे संसर्गोंका भेद मानना ही होगा इसरीतिसे संसर्गोंके भेदसे भी आस्तित्व नास्तित्व आदिका भेद नहीं बन सकता। तथा—शब्दकी अपेक्षा भी अस्तित्व

नास्तित्व आदिका अभेद नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि अर्थके भेदमे शब्दोंका भेद माना गया है यदि समस्त गुणोंका वाचक एक शब्द माना जायगा तो समस्त पदार्थोंका वाचक भी एक शब्द मानना होगा फिर अन्य अन्य जो भी शब्द मान गये हैं उनका मानना निरर्थक है इसरीतिसे शब्दकी अपेक्षा भी अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मोंका अभेदसंबंध नहीं सिद्ध हो सकता । इसप्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा काल आदिके द्वारा भेद व्यवस्था है ।

यह अवक्तव्य भंग भी सकलादेश भंग है क्योंकि यहांपर जिनका आपसमें भिन्नरूपसे अनेक स्वरूप निश्चित है और जो गुणोंके विशेषणरूपसे प्राप्त हैं ऐसे गुणोंके द्वारा जिसके अंशभेदोंकी कल्पना विवक्षित नहीं है ऐसी समस्त धर्मात्मक वस्तुका अभेद संबंध वा अभेद उपचारसे कहनेका प्रयोजन है अर्थात् 'अवक्तव्य आत्मा' यहांपर केवल अवक्तव्यत्व धर्मके द्वारा आस्तित्व आदि अनेक धर्मात्मक वस्तुके कहनेकी इच्छा है । यह जो अवक्तव्य भंगी मानी है उसे स्यादास्ति आदि भंगोंके समान स्याद-वक्तव्य अर्थात् कथंचित् अवक्तव्य समझना चाहिये क्योंकि यद्यपि आस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मोंको एक साथ न कह सकनेके कारण वह भंग अवक्तव्य है तथापि अवक्तव्य शब्दसे एवं अन्य छह भंगोंसे वह कही जा सकती है इसलिए उस अपेक्षासे वह वक्तव्य भी है । यदि कदाचित् स्यादवक्तव्य न मानकर उसे सर्वथा अवक्तव्य माना जायगा तो सप्त भंगोंद्वारा जो बंध मोक्ष आदिकी प्रक्रियाका प्ररूपण किया गया है वह न हो सकेगा इसलिए उसे अन्य भंगोंके समान स्यादवक्तव्य ही मानना युक्त है । इसप्रकार यह तीसरी भंगीका उल्लेख है । तथा—

जिस समय आस्तित्व नास्तित्वकी क्रमसे विवक्षा होगी उस समय स्यादस्ति नास्ति चात्मा अर्थात्

कथंचित् आत्मा अस्तित्व नास्तित्व दोनों स्वरूप है यह चतुर्थ भंग है। यह भंग भी स्यादस्ति आदि भंगोंके समान सकलादेश है क्योंकि स्यादस्ति आदि भंगोंमें अस्तित्व आदि किसी एक धर्मके बोधनमे जिस प्रकार अनंत धर्मात्मक समस्त वस्तुका ज्ञान होता है इसलिए उन्हें सकलादेश माना गया है उसी प्रकार यहांपर भी क्रमसे विवक्षित अस्तित्व नास्तित्व धर्मोंके द्वारा अनंतधर्मात्मक समस्त वस्तुका ज्ञान हो जाता है इसलिए 'स्यादस्तिनास्ति चात्मा' यह भंग भी सकलादेश है। तथा जिस प्रकार अस्ति, नास्तिको स्यादस्ति, स्यान्नास्ति कह आए उसीप्रकार चतुर्थभंगको भी स्यादस्तिनास्ति मानना चाहिये। यदि सर्वथा अस्तित्व नास्तित्वस्वरूप इस भंगको माना जायगा तो आपसमें एक दूसरेका विरोध होगा अर्थात् दोनोंके समान होनेसे जहांपर अस्तित्व रहेगा वहांपर नास्तित्व नहीं रह सकता और जहांपर नास्तित्व रहेगा वहांपर अस्तित्व नहीं रह सकता तथा समानशक्तिक होनेसे जब ये दोनों पदार्थ वस्तुमें न रह सकेंगे तो प्रत्यक्ष विरोध होगा तथा अस्तित्व नास्तित्वके अभावमें और भी गुण पदार्थमें न हो सकेंगे इसलिए उसे निर्गुणताका भी प्रसंग होगा इसलिए स्यादवक्तव्य आदि भंगोंके समान चतुर्थभंगको भी 'स्यादस्तिनास्ति' मानना चाहिये। इस प्रकार यहांतक चार भंगोंका निरूपण कर दिया गया। अब इन भंगोंका निरूपण कैसे होता है वार्तिककार इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

उक्त भंगोंका निरूपण सर्वसामान्य, तदभाव १ विशिष्टसामान्य, तदभाव २ विशिष्टसामान्य, तदभावसामान्य ३ विशिष्टसामान्य, तद्विशेष ४ सामान्य, विशिष्टसामान्य ५ द्रव्यसामान्य, गुणसामान्य ६ धर्मसमुदाय तद्व्यतिरेक ७ धर्मसामान्यसंबंध तदभाव ८ तथा धर्मविशेषसंबंध तदभाव ९ के द्वारा है। खुलासा इसप्रकार है—

सर्वसामान्य और उसके अभावसे जिस पदार्थका निरूपण होता है वह पदार्थ दो प्रकारका है एक श्रुतिगम्य और दूसरा अर्थाधिगम्य। जो अनपेक्षितरूपसे प्रवृत्तिमें कारण हो अर्थात जहांपर प्रवृत्तिकी कोई अपेक्षा न हो और सुननेमात्रसे जिसका ज्ञान हो वह अर्थ श्रुतिगम्य है तथा जिस अर्थका ज्ञान अर्थ–प्रयोजनसे, प्रकरणसे, संभवसे और अभिप्राय आदि रीतिसे कल्पित हो वह अर्थाधिगम्य है। अर्थात जहांपर घटके लिए प्रवृत्तिकी अपेक्षा न हो किंतु घट शब्दके सुननेमात्रसे घट अर्थका ज्ञान हो जाय वह श्रुतिगम्य अर्थ है एवं 'सैंधवमानय' सैंधव ले आओ यहां पर प्रकरणसे सैंधवका लवण अर्थ जान लेना अर्थात् रोटी खाते समय सैंधव मगानेपर नमक ही लाना, घोडा न ले आना, क्योंकि सैंधव शब्दके नमक और घोडा दोनों अर्थ होते हैं, यह अर्थाधिगम्य अर्थ है। 'आत्मा आस्ति' अर्थात् आत्मा है यहांपर अन्य किसी भी भेदका आश्रय न कर इच्छानुसार कल्पित वस्तुस्वरूप सर्वसामान्यसे आत्माका अस्तित्व कहा गया है इसप्रकार वस्तुस्वरूप सर्वसामान्यकी अपेक्षा 'स्यादस्त्येवात्मा' यह प्रथम भंग है। उस सर्वसामान्यके विरोधी अवस्तुत्वरूप अभाव सामान्यकी अपेक्षा 'नास्त्यात्मा' अर्थात् वस्तुस्वरूपसे आत्मा नहीं है यह दूसरी भंग है। वस्तुत्व और अवस्तुत्वकी अपेक्षा होनेवाले अस्तित्व नास्तित्वकी जहांपर अभेद विवक्षा है वहांपर एक साथ उन दोनोंका वाचक शब्द न होनेसे 'स्यादवक्तव्य आत्मा' यह तीसरी भंग है एवं जहांपर आस्तित्व नास्तित्वकी क्रमसे विवक्षा है, अस्तित्व नास्तित्वस्वरूप वस्तु कही जाती है वहांपर स्यादस्ति नास्ति चात्मा, यह चतुर्थ भंग है।

विशिष्ट सामान्य और उसका अभाव, अर्थात् आत्मत्व और अनात्मत्व जिस रूपसे सुना जाता है उसी रूपसे इसका ज्ञान होनेसे श्रुतिगम्य पदार्थ है और इसका संबंध आत्मामें ही है इसलिए आत्मत्व-

रूप विशिष्ट सामान्यकी अपेक्षा आत्मा है इसप्रकार विशिष्ट सामान्यकी अपेक्षा 'स्यादस्त्येवात्मा' यह प्रथम भंग है। उसके अभाव रहने पर अर्थात् यथाश्रुतसे विपरीत अनात्मत्वरूपसे आत्मा नहीं है इस प्रकार विशिष्ट सामान्याभावकी अपेक्षा 'स्यान्नास्त्येवात्मा' यह द्वितीय भंग है। एक साथ आत्मत्वकी सत्ता और अनात्मत्वकी असत्ताका प्रतिपादक एक शब्द नहीं इसलिये दोनोंकी एक साथ विवक्षा करने पर 'स्यादवक्तव्य आत्मा' यह तीसरा भंग है। तथा जिससमय दोनोंके सत्त्व असत्त्वकी क्रमसे विवक्षा की जायगी उससमय स्यादस्ति नास्ति आत्मा, यह चतुर्थ भंग है ॥ २ ॥ तथा—

विशिष्ट सामान्य और तदभाव सामान्यमें जहां जैसा श्रवण होगा वहां उसकी अपेक्षा स्यादस्ति इत्यादि भंगी होंगी। 'स्यादस्त्येवात्मा' यहांपर विशिष्ट सामान्य आत्मत्व पदार्थ है इसलिये उसकी अपेक्षा आत्मत्वरूपसे आत्मा है यह प्रथम भंग है। एवं यह जो विशिष्ट सामान्यकी अपेक्षा प्रथम भंग स्वीकार किया गया है उसमें किसी प्रकारका विरोध न पडे; इस भयसे सामान्यरूपसे उस आत्मत्वके अभावस्वरूप एवं दूसरे पदार्थस्वरूप पृथिवी जल अग्नि घट पट कर्म आदि रूपसे आत्माका अभाव माननेसे स्यान्नास्त्येवात्मा अर्थात् पृथिवी आदि स्वरूपसे आत्मा नहीं है यह दूसरा भंग है। जिससमय विशिष्ट सामान्यस्वरूप आत्मत्वकी अपेक्षा आत्माकी सत्ता एवं तदभाव सामान्यस्वरूप घट आदिकी अपेक्षा आत्माकी असत्ताकी एक साथ विवक्षा की जायगी उससमय स्यादवक्तव्य यह तीसरा भंग है। एवं जिस समय विशिष्ट सामान्य और तदभाव सामान्य अर्थात् आत्मत्व अनात्मत्वकी क्रमसे विवक्षा की जायगी उससमय स्यादस्ति नास्तिचात्मा यह चतुर्थ भंग होगा ॥ ३ ॥ तथा—

विशिष्ट सामान्य और उसके विशेषमें जहां जैसा श्रवण होगा वहां उसकी अपेक्षा भी 'स्यादस्ति'

आदि चार भंग होंगे । स्यादस्त्येवात्मा यहां पर विशिष्ट सामान्य आत्मत्व है इसलिये उसकी अपेक्षा आत्मत्वरूपसे आत्मा है यह प्रथम भंग है। आत्मत्वरूप विशिष्ट सामान्यका विशेष मनुष्यत्व है इसलिए जिससमय मनुष्यत्वकी अपेक्षा की जायगी उससमय मनुष्यत्वरूपसे आत्मा नहीं है इसलिए मनुष्यत्वकी अपेक्षा स्यान्नास्त्येवात्मा यह दूसरा भंग है। जिससमय आत्मत्वकी अपेक्षा आत्माकी सत्ता और मनुष्यत्वकी अपेक्षा आत्माकी असत्ताकी एक साथ विवक्षा की जायगी उससमय स्यादवक्तव्य यह तीसरा भंग होगा एवं जिससमय आत्मत्वकी अपेक्षा आत्माकी सत्ताकी और अनात्मत्वकी अपेक्षा आत्माकी असत्ताकी क्रमसे विवक्षा की जायगी उससमय स्यादस्ति नास्तिचात्मा यह चतुर्थ भंग होगा ।४। तथा—

सामान्य और विशिष्ट सामान्यके प्रतियोगी (विरोधी) में जहां जिस रूपसे श्रवण होगा वहांपर भी उसकी अपेक्षा स्यादस्ति इत्यादि भंग हैं। जहां पर 'द्रव्यत्वरूपसे आत्मा है' यह कहना है वहां पर सामान्य पदार्थ द्रव्यत्व है इसलिये द्रव्यत्वरूप सामान्यकी अपेक्षा स्यादस्त्येवात्मा यह प्रथम भंग है। विशिष्ट सामान्यका विरोधी अर्थात् आत्मत्वका विरोधी अनात्मत्व है इसलिये जहांपर विशिष्ट सामान्यका विरोधी स्वरूप अनात्मत्वकी विवक्षा मानी जायगी उससमय उसकी अपेक्षा 'स्यान्नास्त्येवात्मा' यह दूसरा भंग है। जिससमय द्रव्यत्वरूपसे आत्माकी सत्ता और अनात्मत्वरूपसे आत्माकी असत्ताकी एक साथ विवक्षा की जायगी उससमय स्यादवक्तव्य यह तीसरा भंग होगा। एवं जहां पर द्रव्यत्वरूपसे आत्माकी सत्ता और अनात्मत्वरूपसे आत्माकी असत्ताकी क्रमसे विवक्षा होगी उससमय स्यादस्तिनास्तिचात्मा यह चतुर्थ भंग सिद्ध होगा ॥५॥ तथा—

द्रव्यसामान्य वा गुणसामान्यमें जहां जिस जिस रूपसे वस्तुका होना संभव होगा वहां उस उस

रूपकी विवक्षा माननेपर भी स्यादस्ति आदि भंग होते हैं। जहांपर 'द्रव्यत्वरूपसे आत्मा है' यह कहना है वहांपर अविशेषरूपसे द्रव्यसामान्य—द्रव्यत्वकी विवक्षा होनेसे उसकी अपेक्षा 'स्यादस्त्येवात्मा' यह प्रथम भंग है। जहांपर द्रव्यसामान्यके विरोधी विशेषरूपसे गुणत्वकी विवक्षा हो वहांपर 'स्यान्नास्त्येवात्मा' यह दूसरा भंग होगा क्योंकि गुणत्वकी अपेक्षा गुण पदार्थ ही सिद्ध हो सकता है आत्मा नहीं। तथा जहांपर द्रव्यत्वरूपसे आत्माकी सत्ता और गुणत्वरूपसे आत्माकी असत्ताकी युगपत् विवक्षा होगी वहांपर स्यादवक्तव्य यह तीसरा भंग होगा एवं जिस समय द्रव्यत्वकी अपेक्षा आत्माकी सत्ता और गुणत्वकी अपेक्षा आत्माकी असत्ताकी क्रमसे विवक्षा होगी वहांपर 'स्यादस्ति नास्ति चात्मा' यह चतुर्थ भंग होगा ॥ ६ ॥ तथा—

धर्मसमुदाय और तद्व्यतिरेकमें जहां जिसका जैसा श्रवण होगा उसकी अपेक्षा भी स्यादस्ति आदि भंग हैं। जिसतरह भूत भविष्यत् और वर्तमान काल सम्बन्धी अनेक शक्तियां और ज्ञान आदि धर्मोंके समुदायस्वरूपसे आत्मा है इसप्रकार धर्मसमुदायकी अपेक्षा 'स्यादस्त्येवात्मा' यह प्रथम भंग है। ज्ञान आदि धर्मके विना आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती इसलिये तद्व्यतिरेककी अपेक्षा 'स्यान्नास्त्येवात्मा' यह दूसरा भंग है। जिससमय धर्मसमुदायकी अपेक्षा आत्माकी सत्ता और तद्व्यतिरेककी अपेक्षा आत्माकी असत्ताकी एकसाथ विवक्षा की जायगी उससमय स्यादवक्तव्य यह तीसरा भंग होगा। एवं दोनोंकी क्रमसे विवक्षा की जायगी उससमय स्यादस्तिनास्तिचात्मा यह चतुर्थ भंग सिद्ध होगा। तथा—

'धर्मसामान्य संबंध और तदभावमें जहां जैसा श्रवण होगा उसकी अपेक्षा भी स्यादस्ति आदिक भंग हैं जिसतरह गुणगत सामान्य रूपसे सम्बन्धकी विवक्षा रहनेपर किसी एक धर्मके आश्रयकी

अपेक्षा आत्मा है क्योंकि किसी न किसी धर्मका आश्रय आत्मा है। यह बात नहीं कि वह किसी भी धर्मका आश्रय न हो। इसलिए किसी धर्मकी विवक्षासे स्यादस्ति आत्मा यह प्रथम भंग हुआ। एवं सामान्यरूपसे समस्त धर्मोंका अनाश्रय रूपसे आत्मा नहीं है इस रीतिसे धर्मसामान्य सम्बन्धकी अपेक्षा 'स्यान्नास्त्ये-वात्मा' यह दूसरा भंग है। तथा धर्मसामान्य संबंधकी अपेक्षा आत्माकी सत्ता और उसके अभावकी अपेक्षा असत्ताकी एक साथ विवक्षा रहनेपर स्यादवक्तव्य यह तीसरा भंग है एवं जिससमय उन दोनोंकी क्रमसे विवक्षा होगी उससमय स्यादस्तिनास्ति यह चौथा भंग होगा ॥ ८ ॥ तथा—

धर्मविशेष संबंध और उसके अभावमें जहां जैसा श्रवण होगा उसकी अपेक्षा भी स्यादस्ति आदि भंग हैं। जिसतरह—अनेक धर्मात्मक वस्तुमें किसी एक धर्मके संबंध रहनेपर और उसके प्रतिपक्षी किसी धर्मकी विवक्षा न रहनेपर आत्मा है इसप्रकार धर्मविशेषसंबंधकी अपेक्षा 'स्यादस्त्येवात्मा' यह प्रथम भंग है एवं जहां धर्मविशेषके संबंधके अभावकी विवक्षा है वहांपर अपने विरोधी अनित्यत्व आदि धर्मोंके साथ रहनेवाले नित्यत्व निरवयवत्व चेतनत्वरूपसे आत्मा नहीं है इसप्रकार धर्मविशेषके संबंधके अभावकी अपेक्षा स्यान्नास्त्येवात्मा दूसरा यह भंग है। जिससमय धर्मविशेष संबंध और उसके अभावकी विवक्षा एक साथ की जायगी उससमय स्यादवक्तव्य यह तीसरा भंग सिद्ध होगा और जिस समय इन दोनों धर्मोंकी क्रमसे विवक्षा होगी उससमय 'स्यादस्तिनास्ति चात्मा' यह चौथा भंग सिद्ध होगा। इस-प्रकार धर्मसामान्य और उसका अभाव इत्यादि दोनों धर्मोंकी अपेक्षा स्यादस्त्येवात्मा इत्यादि चार भंगोंका निरूपण कर दिया गया। अब पांचवें भंगका प्रतिपादन किया जाता है—

पंचम भंगका नाम स्यादस्तिचावक्तव्य है। यहांपर तीन स्वरूपोंसे दो अंशोंका निर्माण है अर्थात्

एक तो अस्तिस्वरूप अंश है और वह एक स्वरूप है दूसरा अवक्तव्यरूप अंश है और वह अस्तित्व नास्तित्वस्वरूप दो अंशस्वरूप है । अनेक द्रव्यस्वरूप वा अनेक पर्यायस्वरूप कुछ द्रव्यार्थ और कुछ पर्यायार्थका अवलम्बन कर अस्ति अंश है । एकस्वरूप द्रव्य है और उससे अन्यस्वरूप पर्याय है, जहांपर इन दोनोंकी एक साथ विवक्षा मानी गई है कोई विभाग नहीं माना गया वहां दोनों एक साथ वचनके विषय न होनेके कारण अवक्तव्य अंश है । स्पष्ट तात्पर्य इसप्रकार है—

'स्यादस्त्यात्मा' अर्थात् आत्मा है यहांपर द्रव्यस्वरूप सामान्य वा द्रव्यविशेष वा जीवत्व सामान्य वा मनुष्यत्व आदिकी अपेक्षा आत्माका अस्तित्व है तथा द्रव्यसामान्यकी अपेक्षा जहां वस्तुत्वस्वरूपसे वस्तुकी सत्ता और पर्यायसामान्यकी अपेक्षा अवस्तुत्वरूपसे जहांपर वस्तुकी असत्ताकी एक साथ अभेद विवक्षा है वहांपर एक कालमें वस्तुत्व अवस्तुत्वरूपमे अस्तित्व नास्तित्वका निरूपण नहीं हो सकनेके कारण अवक्तव्य अंश है । यह यहांपर वस्तुत्व अवस्तुत्वकी अपेक्षा अवक्तव्यत्व कहा गया है किंतु जहां पर जीवत्व मनुष्यत्व आदि दो दो विशेषोंकी अपेक्षा अस्तित्व नास्तित्वका एक कालमें एक साथ प्रतिपादन नहीं किया जाय वहां भी अवक्तव्य अंश ही कहा जाता है । ये सब वस्तुत्व अवस्तुत्व जीवत्व मनुष्यत्व आदि एक ही आत्माके भीतर रहनेवाले धर्म हैं इस रीतिसे 'स्यादस्ति चावक्तव्यश्च जीवः' अर्थात् जीव अस्तित्व और अवक्तव्यत्व दोनों स्वरूप है यह पांचवां भंग निर्बाधरूपसे सिद्ध है । यह

प्रश्न—जब जीव एक स्वरूप है तब वह अनेक स्वरूप तो हो नहीं सकता फिर जीवको अनेक द्रव्यस्वरूप जो कहा गया है वह अयुक्त है ? उत्तर—जीवका लक्षण उपयोग माना है वह उपयोग ज्ञानदर्शन स्वरूप है । ज्ञानका परिणमन ज्ञेयस्वरूप होता है, वह ज्ञेय अनेक द्रव्यस्वरूप है इस रीतिसे जीवको अनेक द्रव्यस्वरूप कहा गया है ।

पांचवां भंग भी सकलादेश है क्योंकि पहिले भंगोंके समान यहांपर भी जीवमें जितने अंश-धर्म हैं उनकी अभेद विवक्षा मानकर अस्तित्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व धर्मद्वारा ही जीवगत समस्त धर्मोंका संग्रह है। छठे भंगकी व्यवस्था इसप्रकार है—

छठे भंगका नाम 'स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च जीवः' अर्थात् जीव नहीं और अवक्तव्य है। इस भंगमें भी तीन स्वरूपोंसे दो अंशोंका निर्माण है अर्थात् इस भंगमें एक तो नास्तित्वरूप अंश है वह एक स्वरूप है और दूसरा अवक्तव्यरूप अंश है एवं वह अस्तित्व नास्तित्वका मिला हुआ स्वरूप होनेके कारण दो स्वरूप है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि अवक्तव्यत्वमें नास्तित्व धर्म विद्यमान है ही, फिर भिन्नरूपसे नास्तित्वके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वस्तुमें रहनेवाला और अवक्तव्यत्व धर्मके अंतरंगमें प्रविष्ट जो नास्तित्व धर्म है वह जब तक अपनेको भिन्नरूपसे न प्रकट करेगा अर्थात् भिन्नरूपसे उसका उल्लेख नहीं किया जायगा तब तक उसकी कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि वस्तुकी व्यवस्था इसीप्रकार मानी है। इसलिये अवक्तव्यत्व धर्मके अंतरंगमें प्रविष्ट रहनेपर भी नास्तित्व धर्मका पृथक् रूपसे जो पंचम भंगमें उल्लेख किया गया है वह युक्त है। यहांपर नास्तित्व धर्म पर्यायके आश्रय है। वह पर्याय दो प्रकारकी मानी है एक युगपद्वृत्त अर्थात् जो एक साथ द्रव्यमें रहे इसीका दूसरा नाम सहवृत्त भी है और दूसरी क्रमवृत्त अर्थात् यह द्रव्यमें क्रमसे रहनेवाली है। यहांपर यह न समझ लेना चाहिये कि अनेक पर्याय एक द्रव्यमें किस तरह रह सकती हैं। क्योंकि जिन पर्यायोंका एक साथ रहना माना गया है आपसमें उनका अविरोध है—एक दूसरी पर्यायसे विरोध नहीं रखती इसलिये अविरोध रूपसे उनका रहना बाधित नहीं। गति इंद्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान और संयम आदि

पर्याय सहवृत्ति हैं क्योंकि जीवमें इनका एक साथ रहना विनिश्चित है तथा क्रोध मान माया आदि देव मनुष्य नारकी आदि और बालकपन युवापन आदि क्रमवर्ती पर्याय हैं क्योंकि जीवमें इनका क्रमसे रहना है अर्थात् एक पर्यायके नष्ट होनेपर दूसरी पर्यायका उदय होता है।

यहांपर गति आदि सहवृत्त पर्यायोंसे भिन्न एवं निरंतर पलटनेवाली क्रोध आदि क्रमवर्ती पर्यायोंसे भी भिन्न, एक निश्चल द्रव्यस्वरूप कोई जीव पदार्थ नहीं है किंतु वे गति आदि वा क्रोध आदि धर्म ही एक विलक्षणरूपसे सन्निविष्ट होकर जीव कहे जाते हैं, जहांपर ऐसी कल्पना है वहांपर उसकी अपेक्षा जीवमें नास्तित्व धर्मका सद्भाव है। अर्थात् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जीव है पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा नहीं है इसप्रकार इस छठी भंगमें पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा नास्तित्व रूप अंश है तथा वस्तुत्वरूपसे 'सत्' यह द्रव्यार्थांश है और उस वस्तुत्वके विरोधी अवस्तुत्व रूपसे 'असत्' यह पर्यायांश है जिससमय यहांपर वस्तुत्व अवस्तुत्वकी अपेक्षा सत्त्व असत्त्वकी एकसाथ अभेदरूपसे विवक्षा की जायगी उससमय अवक्तव्य अंश है। इसप्रकार स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च यह छठाभंग स्पष्टरूपसे सिद्ध है। यह भंग भी सकलादेश है क्योंकि नास्तित्वविशिष्ट अवक्तव्यत्वरूप स्वरूपके सिवाय जितना भी वचनका विषयभूत जीवका स्वरूप है उसके साथ नास्तित्वविशिष्ट अवक्तव्यत्वका अविनाभावसम्बन्ध है इसलिये नास्तित्व-विशिष्ट अवक्तव्यत्वके उल्लेखसे उन सबका यहां ग्रहण है तथा जीवमें अंतर्भूत जितने भी धर्म हैं उनका स्यात् शब्द द्योतन करता है। सातवें भंगकी व्यवस्था इसप्रकार है—

सातवां भंग 'स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्चात्मा' अर्थात् आत्मा कथंचित् अस्तित्व नास्तित्व और अवक्तव्य स्वरूप है। यहांपर चार स्वरूपोंसे तीन अंशोंका निर्माण है अर्थात् इस भंगमें एक अस्तित्व-

स्वरूप अंश है वह एक रूप है। दूसरा नास्तित्वरूप अंश है वह भी एक स्वरूप है तीसरा अवक्तव्य रूप अंश है वह अस्तित्व नास्तित्वका मिलापरूप दो स्वरूप है। यहांपर किसी द्रव्यार्थकी अपेक्षा अस्तित्व है। पर्यायविशेषकी अपेक्षा नास्तित्व है। ये दोनों धर्म आपसमें जुदे जुदे किंतु समुच्चितस्वरूप हैं क्योंकि यहां अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्मोंकी प्रधानतासे विवक्षा है तथा जहांपर विशेष रूपसे द्रव्य और पर्यायकी अथवा सामान्य रूपसे द्रव्य और पर्यायकी अभेदरूपसे एक साथ विवक्षा है वहांपर अवक्तव्यस्वरूप तीसरा अंश है इसप्रकार 'स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यश्चात्मा' यह सातवां भंग निर्बाधरूपसे सिद्ध है। यह भंग भी सकलादेश है क्योंकि यहांपर समस्त द्रव्यार्थोंको अभेदरूपसे द्रव्य मानकर एक द्रव्यार्थ माना जाता है एवं समस्त पर्यायोंको अभेद रूपसे एक पर्याय मानकर पर्यायार्थ कहा जाता है इसरीतिसे जहांपर जिस वस्तुकी विवक्षा की गई हो वहांपर समानजातीय मानकर अभेद सम्बन्धसे समस्त वस्तुको एक द्रव्यार्थसे अभिन्न एक वा अभेदोपचारसे एक पर्यायसे अभिन्न एक मानकर विवक्षित वस्तुस्वरूपसे अन्य वस्तुस्वरूपका संग्रह किया गया है अर्थात् इस सप्तमभंगमें अस्तित्व नास्तित्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व स्वरूपसे जीवके अन्य समस्त स्वरूपोंका भी अभेद सम्बन्ध वा अभेदोपचारसे ग्रहण है इसलिये अन्य भंगोंके समान यह भंग भी सकलादेश है। अब वार्तिककार विकलादेशका स्पष्टीकरण करते हैं—

निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः ॥ २१ ॥

स्वस्वरूपकी अपेक्षा जिसमें किसीप्रकारका विभाग नहीं अर्थात् स्वस्वरूपकी अपेक्षा जो एक है ऐसी वस्तुमें अंशोंकी कल्पना कर और भिन्न भिन्न रूपसे कल्पित गुण रूप अंशोंका स्वस्वरूप अर्थात्

वस्तुके स्वरूपका रंजायमान करनेवाला मानकर जहांपर नरसिंह सिंहत्वके समान अनेक स्वरूप एकत्व (भिन्न भिन्न गुणस्वरूप द्रव्य) की व्यवस्था है अर्थात् जिसप्रकार नरसिंह और सिंह अनेकरूप सिंहत्व कहा जाता है उसीप्रकार अस्तित्व नास्तित्व आदि स्वरूप अनेक प्रकार वस्तु कही जाती है जहां ऐसी व्यवस्था है एवं काल आत्मरूप आदि जो ऊपर कारण बतला आये हैं उनके द्वारा जहां एक अंशके विषयका दूसरे अंशमें आपसमें प्रवेश नहीं है ऐसे समुदायस्वरूप एक पदार्थका नाम विकलादेश है। किंतु केवल सिंहमें सिंहत्वके समान अखंड वस्तुके वस्तुत्वका स्वीकार विकलादेश नहीं क्योंकि यहां पर एक स्वरूप एकत्वका ग्रहण है अर्थात् यहांपर एक स्वरूप—केवल सिंहमें, एकत्वस्वरूप—सिंहत्वके समान एक स्वरूप—अखंडवस्तुमें, एकत्वस्वरूप वस्तुत्वका ग्रहण है। अथवा—

पानक (शरवत) खांड अनार कपूर आदि अनेक प्रकारके रसस्वरूप होता है उस पानकको चख-कर और उसकी अनेक रसस्वरूपताका निश्चय कर फिर अपनी शक्तिकी विशेषतासे इसमें यह चीज पड़ी है, यह चीज पड़ी है इसप्रकार पदार्थोंका विशेषरूपसे निरूपण करना विकलादेश है अर्थात् अनेक रसस्वरूप पानकमें किसी एक रसके जान लेनेसे उसके अविनाभावी समस्त रसोंका जान लेना सकला-देश है और उसके रसोंको भिन्न भिन्नरूपसे जानना विकलादेश है। अथवा—

जो मनुष्य नैरात्म्य वस्तुको स्वीकार कर विशेष विशेष हेतुओंकी सामर्थ्यसे जो विशेष विशेष साध्योंका निश्चय करता है वह विकलादेश है अर्थात् किसी अखंडवस्तुके विशेष विशेष धर्मोंका उल्लेख कर उनका निश्चय करना विकलादेश है। सारार्थ यह है कि—जहांपर अभेदसंबंध वा अभेद उपचारकी विवक्षा नहीं वहांपर एक धर्मस्वरूप वस्तुका जनानेवाला वाक्य विकलादेश है जिसप्रकार 'स्यादस्त्येव

घटः' यहांपर अस्तित्व पदके उल्लेखसे केवल अस्तित्वका ही ज्ञान होना विकलादेश है। शंका—

जो पदार्थ अभिन्न है अर्थात् जिसका कोई विभाग नहीं उसका भेद करनेवाला गुण कैसे हो सकता है ? उत्तर—अभिन्न पदार्थका भी भेद गुणके द्वारा दीख पडता है इसका शास्त्रनिर्दिष्ट प्रसिद्ध उदाहरण इस प्रकार है—'पठन् भवान् पटुरासीत् पटुतर एष मे' पढते हुए आप चतुर थे परंतु मेरा यह शिष्य अधिक चतुर था। यह इस उदाहरणका अक्षरार्थ है। यहांपर जिसको लक्ष्यकर भवान् (आप) और एष (यह) शब्दका प्रयोग किया गया है उस व्यक्तिसे 'पटु' (चतुराई) गुण कुछ पृथक् नहीं है तो भी भेद बतलाया गया है और इसीलिये 'भेद करने' अर्थमें होनेवाला 'तर' प्रत्यय पटु शब्दसे व्याकरण शास्त्रानुसार हुआ है। इस रीतिसे जिसप्रकार यहां अभिन्न व्यक्तिमें भी गुणके द्वारा भेद बतलाया गया है उसी प्रकार एक भी अखंडद्रव्य गुणोंके भेदसे भिन्नरूप हो सकता है कोई दोष नहीं क्योंकि गुणोंसे भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ नहीं और जिस जिस रूपसे गुणोंका भेद है उस उस रूपसे गुणियोंका भेद भी सुनिश्चित है।

तत्रापि तथा सप्तभंगी ॥ २२ ॥

जो अंश—गुण, गुणीका भेद करनेवाले हैं उनमें क्रम, यौगपद्य वा क्रमयौगपद्यसे विवक्षा रहनेपर विकलादेश होते हैं तथा जिसप्रकार सकलादेशमें सप्तभंगीका विधान कह आये हैं उसीप्रकार विकलादेशमें भी सप्तभंगीका विधान समझ लेना चाहिए। इस विकलादेशकी सातों भंगोंमेंसे प्रथम भंग और द्वितीय भंगमें जुदे जुदे रूपसे क्रमका विधान है अर्थात् 'स्यादस्त्येवात्मा' यहांपर नास्तित्वसे जुदा अस्तित्वके क्रमका विधान है एवं 'स्यान्नास्त्येवात्मा' यहांपर अस्तित्वसे जुदा नास्तित्वके क्रमका

१ अभेदवृत्त्यभेदोपचारयोरनाश्रयणे एकधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यं विकलादेशः। सप्तभंगीतरंगिणी पृष्ठसंख्या २०।

विधान है इसलिये दोनों भंग अप्राचितक्रम हैं अर्थात् इन दोनों भंगोंमें अस्तित्व नास्तित्वका मिलकर विधान नहीं। 'स्यादवक्तव्य आत्मा' यहांपर अस्तित्व नास्तित्वका एक साथ विधान है। 'स्यादस्ति नास्ति चात्मा' इस चतुर्थ भंगमें अस्तित्व नास्तित्वका प्रचितक्रम है अर्थात् मिलकर दोनोंका विधान है। पांचवी और छठी भंगोंमेंसे प्रत्येक भंगमें अप्राचितक्रम और यौगपद्य दोनोंका विधान है अर्थात् 'स्यादस्ति चावक्तव्य आत्मा' इस पांचवें भंगमें अप्राचितक्रमकी अपेक्षा अस्तित्वका और यौगपद्यकी अपेक्षा अवक्तव्यत्वका विधान है। 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्चात्मा' इस छठे भंगमें अप्रचितक्रमकी अपेक्षा नास्तित्वका और यौगपद्यकी अपेक्षा अवक्तव्यका विधान है तथा 'स्यादस्ति नास्तिचावक्तव्यश्चात्मा' इस सातवें भंगमें प्रचितक्रमकी अपेक्षा अस्तित्व नास्तित्वका विधान है अर्थात् अस्तित्व नास्तित्वका यहां मिलकर विधान है और यौगपद्यकी अपेक्षा अवक्तव्यत्वका विधान है। खुलासा इसप्रकार है—

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सामान्य आदिमें किसी एक धर्मकी उपलब्धिसे 'स्यादस्त्येवात्मा' अर्थात् कथंचित् आत्मा है. यह विकलादेश प्रथम भंग है। यहांपर उपर्युक्त काल आदिकी भेदविवक्षा है इसलिए आत्मारूप वस्तुमें अन्य अनेक धर्मोंके विद्यमान रहते भी अस्तित्व शब्दका जो वाच्य अर्थ है उसमें उनका अंतर्भाव नहीं हो सकता तथा उनका अभाव भी नहीं कहा जा सकता अतः इस प्रथम भंगमें न उनका निषेध है और न विधान है। इसीप्रकार और भंगोंमें भी विकलादेशकी कल्पना समझ लेना चाहिये। वहांपर जिन अंश—धर्मोंकी विवक्षा होगी उन्हींका प्ररूपण होगा शेष धर्म उदासीन रूपसे रहेंगे अर्थात् न उनका अभाव माना जायगा और न उनका अस्तित्व प्ररूपण किया जा सकेगा। शंका—

'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि भंगोंमें सामान्य रूपसे विशेषण विशेष्य भावसम्बन्धके बतलानेके लिये एवकारका प्रयोग किया गया है वह अवधारणात्मक है. जिस धर्मके अंतमें एवकारका प्रयोग होगा धर्मीमें उसीकी सत्ता समझी जायगी, अन्य धर्मोंका निषेध माना जायगा। स्यादस्त्येवात्मा यहांपर अस्तित्व धर्मके अंतमें एवकार है और यहांपर अस्तित्व विशेषण एवं आत्मा विशेष्य है यह वह द्योतन करता है इसलिये यहांपर अस्तित्वका ही आश्रय आत्मा हो सकता है और धर्मोंका उसमें निषेध कहना होगा ? सो ठीक नहीं, ऐसा ही दोष सकलादेशके अंदर भी उपस्थित था उसके दूर करनेके लिये वहांपर 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया गया था उसीप्रकार यहांपर भी उस दोषके दूर करनेके लिए स्यात शब्द का प्रयोग है इसलिये इस विकलादेशमें भी 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्यादि रूपसे ही भंगोंका स्वरूप समझ लेना चाहिये । 'स्यात्' शब्दका अर्थ इसप्रकार है—

एवकारके प्रयोग करनेपर जिसधर्मके अंतमें एवकारका प्रयोग किया गया है उसे छोडकर शेष धर्मोंका अभाव सिद्ध होगा इसलिये इतर धर्मोंके अभावसे वस्तुके स्वरूपके अभाव होनेपर उसके समस्त स्वस्वरूपका नाश न हो इसलिये स्यात् शब्द वस्तुमें जो धर्मस्वरूप जिस स्वरूपसे निश्चित है उसी रूपसे उसे बतलाता है । जैसा कि वचन भी है-स्याच्छब्दे विवक्षितार्थवागंगमिति । अर्थात् जिस अर्थकी विवक्षा की गई है इस अर्थका वाचक जो वचन है वह वस्तुका अंग है अर्थात् जिसधर्मका प्रधानरूपसे उल्लेख किया गया है वह धर्म तो उस वस्तुमें है ही परन्तु शेष धर्म भी उसके अन्दर मौजूद हैं, उनका अभाव नहीं, यह बात स्यात् शब्द बतलाता है ।

इसप्रकार सकलादेश और विकलादेश दोनों स्थलोंपर विवक्षाके वशसे 'स्यादस्त्येवात्मा' इत्यादि

सात ही प्रकार हैं अन्य कोई प्रकार नहीं हो सकता क्योंकि जिसप्रकार 'स्यादस्त्येवात्मा' इत्यादि सातों भंगोंकी प्रवृत्तिका कारण भिन्न भिन्न सिद्ध है उसप्रकार सातसे अतिरिक्त भंगोंकी प्रवृत्तिका कारण सिद्ध नहीं तथा यह जो सकलादेश विकलादेशरूप मार्ग है वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके आधीन है अर्थात् सकलादेश द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा है और विकलादेश पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा है। तथा वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक संग्रह[1] आदि नय स्वरूप हैं एवं वे संग्रह व्यवहार आदि नय अर्थनय और शब्दनयके भेदसे दोप्रकारके माने हैं। उनमें संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र ये तीन अर्थनय[2] हैं और बाकीके अर्थात् शब्द समभिरूढ और एवंभूत ये तीन शब्दनय हैं। यहांपर संग्रह नय सत्त्वको

१—इनका स्वरूप पहिले अध्यायमें नैगम संग्रह आदि सूत्रमें विस्तृतरूपसे वर्णन कर आये हैं।

२—जहांपर अर्थनय और शब्दनयके भेदसे नयोंका निरूपण किया गया है वहांपर नैगम संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चार नयोंको अर्थनय माना है और शेष तीन नयोंको शब्दनय माना है। भगवान अमृतचन्द्रसूरिने तत्त्वार्थसारमें कहा है—

चत्वारोऽर्थनया आद्यास्त्रयः शब्दनयाः परे। उत्तरोत्तरमत्रैषां सूक्ष्मगोचरता मता॥ ४३॥

अर्थ—पहिले तीन द्रव्यार्थिकनय व एक ऋजुसूत्र पर्यायार्थिकनय ये चार नय समस्त गुणविशिष्ट वस्तुओंको ग्रहण करते हैं इसलिये इन्हें अर्थनय कहते हैं। यहां अर्थशब्दका अर्थ गुण है, आगेके तीन पर्यायार्थिकनय शब्द द्वारा अर्थको दिखाते हैं इसलिये वे शब्दनय हैं। मिल कर ये सर्व नय सात हैं। पर्यायार्थिक नयोंकी तरह सातोंमें उत्तरोत्तर विषयकी मर्यादा घटती हुई है। अ० १ पृष्ठसंख्या ३७। भगवान विद्यानंदने भी श्लोकवार्तिकमें लिखा है—

तत्रर्जुसूत्रपर्यंताश्चत्वारोऽर्थनया मताः। त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचराः॥ ८१॥ पृष्ठ २७४।

अर्थ—ऋजुसूत्र पर्यंत अर्थात् नैगम संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थनय हैं तथा शेष तीन नय अर्थात् शब्द समभिरूढ और एवंभूत ये तीन नय शब्दके द्वारा प्रतिपादित अर्थको विषय करते हैं इसलिये शब्दनय हैं।

विषय करनेवाला है क्योंकि यह नय समस्त वस्तुओंके स्वरूपोंको सत्में अंतर्भाव कर संग्रह करता है—अर्थात् इस संग्रह नयके द्वारा सत् शब्दके कहनेसे ही समस्त वस्तुओंका संग्रह हो जाता है तथा व्यवहार नय असत् पदार्थको विषय करता है क्योंकि भिन्न भिन्न रूपसे सत्त्वका परिग्रह नहीं हो सकता तथा सत्त्व स्वस्वरूपकी अपेक्षा ही हो सकता है, परस्वरूपकी अपेक्षा नहीं। व्यवहार नयमें अन्य पदार्थकी अपेक्षा रहती है इसलिये अन्यकी अपेक्षा सत्त्व न होनेके कारण व्यवहारनय असत्त्वको ही विषय करता है। ऋजुसूत्र नयका विषय वर्तमान काल है क्योंकि जो पदार्थ भूतकालीन था वह नष्ट हो चुका है उसका व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये वह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं हो सकता और जो पदार्थ आगे जाकर उत्पन्न होनेवाला भविष्यत्कालीन है वह अभी अनुत्पन्न है इसलिये उसका भी व्यवहार न हो सकनेके कारण वह भी ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं हो सकता।

ये तीनों अर्थनय अर्थात् संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र एक एक स्वरूप हैं एवं आपसमें मिलकर सप्तभंगी वाक्योंको उत्पन्न करते हैं। उनमें—आदिका भंग संग्रहस्वरूप एक है। दूसरा व्यवहार-स्वरूप एक है। तीसरा भंग भेदस्वरूप क्रमसे संग्रह व्यवहारनयस्वरूप है। चौथा मिला हुआ संग्रह व्यवहारनयस्वरूप है। पांचवां भंग संग्रहस्वरूप और अभेदस्वरूप संग्रह व्यवहारस्वरूप है। छठा भंग व्यवहारस्वरूप और अभेदात्मक संग्रह व्यवहारस्वरूप है एवं सातवां भंग संग्रहस्वरूप व्यवहारस्वरूप एवं अभेदात्मक संग्रह व्यवहारस्वरूप है। इसीप्रकार ऋजुसूत्रके अंदर भी योजना कर लेनी चाहिये। अर्थात् पहिला भंग संग्रह स्वरूप है। दूसरा ऋजुसूत्रस्वरूप है। तीसरा आपसमें भेदात्मक क्रमसे प्राप्त संग्रह ऋजुसूत्रस्वरूप है। चौथा मिला हुआ संग्रह ऋजुसूत्रस्वरूप है। पांचवां संग्रहस्वरूप और अभि-

न्नात्मक संग्रह ऋजुसूत्रस्वरूप है । छठा ऋजुसूत्रस्वरूप और अभिन्नात्मक संग्रह ऋजुसूत्रस्वरूप है एवं सातवां संग्रह स्वरूप, ऋजुसूत्रस्वरूप और अभिन्नात्मक संग्रह ऋजुसूत्रस्वरूप है ।

ऊपर जो अर्थनय कही गई हैं उनसे अवशिष्ट नय अर्थात् शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन शब्द नय हैं । ये तीनों नय पर्यायोंको विषय करती हैं इसलिए ये पर्यायार्थिक हैं तथा इन सबका विषय व्यंजन पर्याय हैं । इन शब्दनयोंके द्वारा दो प्रकारके वचनोंकी कल्पना है—एक अभेदरूपसे कथन करना और दूसरा भेदरूपसे कथन करना । शब्दनयके अंदर एक ही अर्थके वाचक अनेक शब्द माने हैं इसलिए अनेक पर्याय शब्दोंके रहनेपर भी एक ही अर्थका प्रतिपादन होनेसे अभेदरूपसे कथन है । समभिरूढ नयमें चाहें घट प्रवृत्तिका कारण हो चाहें प्रवृत्तिका कारण न हो तो भी सामान्यरूपसे उसका अभिन्न रूपसे ही अभिधान है अर्थात इस नयमें भिन्न भिन्नरूपसे अर्थोंका ग्रहण नहीं होता इसलिए यहां भी अभेदरूपसे कथन है तथा एवंभूत नयमें प्रवृत्तिमें कारणभूत भेदस्वरूप एक ही अर्थका कथन है अर्थात् इंद्र आदि शब्दोंकी जिस जिस कालमें जैसी जैसी प्रवृत्ति होती है उसीके अनुकूल अर्थ लिया जाता है इसलिए यहांपर भेदरूपसे कथन है । अथवा—

एक ही अर्थमें अनेक शब्दोंकी प्रवृत्तिका होना १ और प्रत्येक अर्थके लिए भिन्न भिन्न शब्दोंकी रचना करना २ इस रूपसे भी वचनोंकी दो तरहकी कल्पना हो सकती है । शब्दनयमें अर्थ एक ही रहता है और उसके वाचक पर्यायस्वरूप शब्द अनेक माने हैं । समभिरूढनयमें शब्दको प्रवृत्तिका कारण नहीं

१—प्रदेशवत्त्व गुणके विकारको व्यंजनपर्याय कहते हैं यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है । अर्थात् द्रव्यकी पर्यायको व्यञ्जनपर्याय और गुणकी पर्यायको अर्थपर्याय कहते हैं ।

माना जाता और वहांपर एक शब्दका वाच्य अर्थ एक ही लिया जाता है तथा एवंभूतनयमें वर्तमान-कालसंबंधी प्रवृत्तिका कारण एक शब्दका एक ही अर्थ लिया जाता है। शंका—जो पदार्थ आपसमें विरोधी होते हैं वे एक जगह नहीं रह सकते। अस्तित्व नास्तित्व धर्म भी आपसमें विरोधी हैं इसलिए एक पदार्थमें एक जगह वे अविरोधरूपसे नहीं रह सकते इसलिए ऊपर जो उनका एक जगह अविरोधरूपसे रहना बताया गया है वह अयुक्त है? उत्तर—

विरोधाभावस्तल्लक्षणाभावात् ॥ २३ ॥

अस्तित्व नास्तित्व आदिका आगमके अनुसार एक वस्तुमें उल्लेख अपेक्षासे किया गया है इसलिए विरोध दोषका जो लक्षण माना गया है वह लक्षण यहांपर नहीं घटता इसलिए अस्तित्व नास्तित्वके विरोधकी कल्पना वृथा है। इस विरोध दोषके तीन भेद माने हैं—पहिला बध्यघातकभाव १ दूसरा सहानवस्थान-लक्षण २ और तीसरा प्रतिबध्यप्रतिबंधकभाव ३। जहांपर एकके द्वारा दूसरा नष्ट किया जाता है वहां बध्यघातकविरोध होता है तथा इसके उदाहरण सर्प नौला एवं अग्नि और जल आदिक हैं क्योंकि सर्प और नौला जहांपर मिले कि उसीसमय नौला सांपका बध कर डालता है इसीप्रकार जलती हुई अग्निपर पानी पडा कि वह उसीसमय अग्निको बुझा देता है। यह बध्यघातकभावरूप विरोध एक कालमें विद्य-मान दो विरोधी पदार्थोंके आपसमें संयोग होनेपर होता है क्योंकि जिसप्रकार द्वित्वधर्म दो पदार्थोंमें रहनेके कारण अनेकाश्रय है उसीप्रकार संयोगरूप गुण भी अनेक पदार्थोंके संबंधसे होता है इसलिए वह भी अनेकाश्रय है। यहांपर यह न समझ लेना चाहिये कि विना आपसमें मिले भी एक विरोधी पदार्थ दूसरेका घात कर सकता है? क्योंकि अग्निके साथ संयोग विना किए जल अग्नि नहीं बुझाता यदि

विना जलके सम्बन्धसे भी अग्निका नाश माना जायगा तब सब जगहकी अग्निका सर्वथा अभाव ही हो जायगा फिर अग्निका नाम ही संसारसे उठ जायगा। इसी तरह सर्पके साथ नकुलका संयोग होनेपर ही नकुल सर्पका घात करता है यदि विना संयोगके भी सर्पोंका घात माना जायगा तो फिर संसारके समस्त सर्पोंका अभाव हो जायगा इसरीतिसे संसारको सर्पशून्य कहना होगा इसलिये मानना पडेगा कि एक कालमें दो पदार्थोंका आपसमें संयोग रहनेपर बलवान निर्बलका उत्तर कालमें घात करता है और जहां पर ऐसी व्यवस्था रहती है वहींपर बध्यघातक विरोध माना जाता है। विरोधकी शंका करनेवालेके मतमें एक क्षणके लिए भी अस्तित्व नास्तित्वकी एक जगह सत्ता नहीं स्वीकार की गई है इसलिए जब उनका एक जगह एक कालमें क्षणमात्रके लिये भी संयोग नहीं माना जाता तब उनमें बध्यघातक विरोधकी संभावना नहीं हो सकती। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—हम उनकी एक जगह स्थिति मानेंगे तो तब भी दोनोंके उत्पादक कारण; समान शक्तिके धारक हैं इसलिये दोनों ही गुण समान शक्तिशाले होनेके कारण एक बलवान और दूसरा निर्बल तो होगा नहीं फिर उनमें बध्यघातक विरोध कभी संभव नहीं हो सकता इस रीतिसे सर्प और नौला एवं अग्नि और जलादि उदाहरणोंके समान जब अस्तित्व नास्तित्वमें बध्यघातक विरोधका उपर्युक्त लक्षण नहीं जाता तब यहां उस विरोधकी कल्पना निरर्थक है।

अस्तित्व नास्तित्वमें सहानवस्थान लक्षण विरोध भी नहीं हो सकता क्योंकि जहांपर दो विरोधी पदार्थोंका एक साथ रहना न हो सके वहांपर सहानवस्थान लक्षण विरोध माना जाता है। यह विरोध एक जगह एक साथ न रहकर पूर्वकाल और उत्तरकालमें रहनेवाले पदार्थोंमें माना गया है। इसका

उदाहरण एक-ही फलमें रहनेवाला कालापन और पीलापन है क्योंकि पहिले ही पहिले आममें कालापन रहता है फिर पकते समय जिससमय उसमें पीलापन होता है वह उस कालेपनको सर्वथा नष्टकर ही उत्पन्न होता है। कालापन और पीलापन दोनों एक साथ एक जगह नहीं रह सकते। परंतु जिसप्रकार कालापन और पीलापनका पूर्वकाल और उत्तरकालमें रहना प्रत्यक्ष सिद्ध है एवं पूर्वकालमें रहनेवाले कालेपनको नष्ट कर ही जिसप्रकार पीलापन उत्पन्न होता है उसप्रकार अस्तित्व नास्तित्वमें एक पूर्वकालमें रहनेवाला हो और दूसरा उत्तरकालमें रहनेवाला हो यह बात नहीं तथा अस्तित्व, नास्तित्वको मिटाकर उत्पन्न हो और नास्तित्व; अस्तित्वको मिटाकर उत्पन्न हो यह भी बात नहीं है किंतु वे दोनों एक जगह एक साथ रहनेवाले धर्म हैं। यदि कदाचित् यहांपर यह माना जायगा कि—अस्तित्व और नास्तित्व धर्म पूर्व और उत्तरकालभावी ही हैं तब जिससमय पदार्थमें अस्तित्व रहेगा उससमय नास्तित्व नहीं रह सकता इसलिये 'स्यादस्त्येव जीवः' यहांपर जीवकी सत्तामात्र ही समस्त संसार सिद्ध होगा तथा जिस समय नास्तित्व रहेगा उससमय अस्तित्व तो रहेगा नहीं फिर अस्तित्वके आधीन जो बंध मोक्ष आदिकी व्यवस्था है वह भी सब नष्ट हो जायगी तथा यह भी बात है कि—जो पदार्थ सर्वथा असत् होगा उसका कोई स्वरूप न सिद्ध होगा एवं जो पदार्थ सर्वथा सत होगा उसका अभाव भी न हो सकेगा क्योंकि "नैवासतो जन्म सतो न नाशः" अर्थात् जो पदार्थ सर्वथा असत् है उसका जन्म नहीं और जो पदार्थ सर्वथा सत् है उसका नाश नहीं ऐसा आर्षवचन है[1]। यदि जीवको सर्वथा असत् माना जायगा तो देव आदि रूपसे उसका स्वरूपलाभ न होगा और यदि उसे सर्वथा सत्स्वरूप माना जायगा तो उसका पर्याय

१—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' ऐसा भी वचन है।

रूपसे विनाश भी न होगा इसलिए एक आम्रफलमें रहनेवाले कालेपन पीलेपनके समान एक पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्वका सहानवस्थानलक्षण विरोध संभव नहीं हो सकता। इस रीतिसे अस्तित्व नास्तित्वमें इस विरोधकी कल्पना भी निरर्थक है। तथा—

अस्तित्व नास्तित्वमें प्रतिबंध्यप्रतिबंधकरूप विरोध भी नहीं हो सकता क्योंकि जहांपर एक कार्य प्रतिबंध्य और दूसरा उसे न होने देनेवाला प्रतिबंधक हो वहांपर यह विरोध माना जाता है। इसका उदाहरण है—फल और डंठल। संयोगकी विद्यमानतामें भारीपनके प्रतिबंधक संयोगके रहनेपर फलका नीचे न गिरना है क्योंकि जबतक फल और डंठलका संयोग रहता है तबतक नीचे गिरनेमें कारण भारीपनका प्रतिबंधक वह संयोग माना जाता है इसलिए वहांपर पतन कर्म अर्थात् आमका नीचे गिरना नहीं होता क्योंकि वहां भारीपनका प्रतिबंधक संयोग विद्यमान है किंतु जहांपर भारीपनका प्रतिबंधक वह फल और डंठलका संयोग नहीं होता वहां फल गिरता प्रत्यक्ष दीख पडता है। ऐसा वचन भी है 'संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनमिति' अर्थात् जिससमय संयोग नहीं रहता उस समय भारी होनेके कारण फल नीचे गिर पडता है परंतु जिसप्रकार यहांपर भारीपनका प्रतिबंधक संयोग पतनकार्यको नहीं होने देता अतएव संयोगकी विद्यमानतामें पतनरूप कार्य नहीं दीख पडता उस प्रकार अस्तित्व, नास्तित्वके प्रयोजनका प्रतिबंध नहीं करता क्योंकि जिस कालमें वस्तुमें स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व विद्यमान है उससमय परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्वकी भी वहांपर उपलब्धि है इसलिये अस्तित्वकी अनुपलब्धि अर्थात् नास्तित्व भी वहांपर मोजूद है इसलिए अस्तित्वकी मौजूदगीमें नास्तित्वका अभाव नहीं। तथा नास्तित्व भी अस्तित्वके प्रयोजनका प्रतिबंध नहीं करता क्योंकि जिस

समय परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा वस्तुमें नास्तित्व है उसीसमय स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा उसमें अस्तित्व भी है इसलिए नास्तित्वके रहनेपर अस्तित्वका अभाव नहीं इसलिए यहांपर प्रतिबंध्यप्रतिबंधक भावविरोधकी भी संभावना नहीं। (इस प्रतिबंध्य प्रतिबंधक विरोधका प्रसिद्ध उदाहरण चंद्रकांतमणिके द्वारा अग्निका दाह न होना भी है। यहांपर चंद्रकांत मणि प्रतिबंधक और अग्निका दाह प्रतिबध्य है। जलती हुई अग्निके आगे जिससमय चंद्रकांतमणि आ जाती है उससमय उसका जलना बंद हो जाता है परंतु ऐसा प्रतिबध्यप्रतिबंधकभाव अस्तित्व नास्तित्वमें नहीं क्योंकि जिससमय अपने स्वरूपसे वस्तुमें अस्तित्व रहता है उसीसमय परस्वरूपसे नास्तित्व भी रहता है यह बात नहीं कि अस्तित्वकी मौजूदगीमें नास्तित्वका प्रयोजन बंद हो जाय और नास्तित्वकी मौजूदगीमें अस्तित्वका प्रयोजन बंद हो जाय। इसलिए अस्तित्व नास्तित्वमें प्रतिबध्यप्रतिबंधक भावरूप विरोधका भी संभव नहीं हो सकता।) इस-रूपसे अस्तित्व नास्तित्वके अंदर किसी भी विरोधका लक्षण न घटनेपर इनमें विरोध बतलाना केवल वचनमात्र ही है इसलिये विवक्षाके भेदसे अनेकधर्मात्मक जीवपदार्थ अविरुद्धरूपसे व्यवस्थित है।

विशेष—उपर्युक्तरूपसे अनेकांतवादमें विरोध दोषका परिहार करदिया गया परंतु कोई कोई महा-शय इस अनेकांतवादको छलवाद कहते हैं, उनका कहना इसप्रकार है—

यह एकांतवाद छलस्वरूप है क्योंकि जिस पदार्थको अस्ति कहा जाता है उसीको नास्ति कहा जाता है जो पदार्थ नित्य कहा जाता है वही अनित्य भी कह दिया जाता है इसी रूपसे अनेकांतवादका प्ररूपण माना है। सो ठीक नहीं। अनेकांतवादमें छलके लक्षणकी संभावना हो ही नहीं सकती क्योंकि "अभिप्रायांतरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थांतरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलमिति" अर्थात् किसी दूसरे अभि-

प्रायसे प्रयोग किये गये शब्दका अपनी कल्पनासे दूसरा अर्थ कर दूषणका कथन करदेना छल कहलाता है, यह सामान्यरूपसे छलका लक्षण है। जिसतरह नव शब्दको नूतन अर्थके अभिप्रायसे किसीने कहा 'नवकंबलोऽयं देवदत्तः' अर्थात् इस देवदत्तके पास नवीन कंबल है, वहीं पासमें खडे किसी अन्य पुरुषने नव शब्दका नवीन अर्थ न कर नौ संख्या अर्थ मानकर एवं उपर्युक्त अर्थको दूषित कर यह कहा—अरे भाई! यह देवदत्त अत्यन्त गरीब है इसके नौ कंबल नहीं, इसके तो दो भी कंबल नहीं, नौ कहांसे आये! परंतु अनेकांतवादमें इसप्रकारके छलके लक्षणका प्रसंग नहीं क्योंकि वहांपर अन्य अभिप्रायसे प्रयोग किये गये शब्दके दूसरे अर्थकी कल्पना नहीं है। किंतु अस्तित्व आदि जिस रूपसे प्रतिपादन किये गये हैं उनका उसी रूपसे प्रतिपादन है इसलिये अनेकांतवादमें छल दोषका संभव नहीं हो सकता। बहुतसे मनुष्य अनेकांतवादको संशयका कारण बतलाते हैं उनका कहना इसप्रकार है—

एक ही वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्व आदि विरुद्ध नाना धर्मोंका संभव होनेसे अनेकांतवाद संशयका कारण है क्योंकि—"एकवस्तुविशेष्यकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं हि संशयः" अर्थात् विशेष स्वरूप किसी एक वस्तुमें विरुद्ध स्वरूप अनेक धर्मोंका विशेषणरूपसे भान होना संशय कहा जाता है जिस-तरह—संध्यासमय कुछ अंधकार हो जानेके कारण किसी स्थाणु (सूखा पेड) को देखकर 'यह स्थाणु है अथवा नहीं है?' इसप्रकारके ज्ञानको संशय कह दिया जाता है क्योंकि यहांपर धर्मीस्वरूप एकही स्थाणुमें स्थाणुत्व और उसके अभावस्वरूप, दोनोंप्रकारके धर्मोंका विशेषण रूपसे भान है उसीतरह विशेष्य स्वरूप घट आदि किसी पदार्थमें विरुद्ध स्वरूप अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक धर्मोंका विशेषण रूपसे भान है इसलिये एकही घट आदि किसी धर्मीमें अस्तित्व नास्तित्व आदि विरुद्ध धर्मोंका विशेषण रूपसे

भान करानेके कारण अनेकांतवाद संशयका कारण है ? सो ठीक नहीं । सामान्य पदार्थके प्रत्यक्षसे विशेष पदार्थोंके अप्रत्यक्षसे किंतु विशेष पदार्थोंके स्मरणसे संशय होता है जिसतरह किसी प्रदेशमें एक सूखा वृक्ष है जिसे देखकर स्थाणु और पुरुष दोनोंकी संभावना हो सकती है उस प्रदेशमें कुछ अंधकार हो जाने पर केवल स्थाणु और पुरुष दोनोंमें रहनेवाले ऊर्ध्वतासामान्यको देखनेवाले, स्थाणुमें रहनेवाले टेडापन खोलार घोंसलादि विशेष एवं पुरुषमें रहनेवाले वस्त्र धारना, शिर खुजाना, चोटीका खुजलाना आदि विशेषोंको न देखनेवाले किंतु उन्हें स्मरण करनेवाले पुरुषको 'यह स्थाणु है वा पुरुष है ?' ऐसा संशय होता है परंतु अनेकांतवादमें इसप्रकारके संशयकी संभावना नहीं क्योंकि वहांपर स्वरूप आदि विशेषों की अपेक्षा अस्तित्व नित्यत्व आदि और पररूपादि विशेषोंकी अपेक्षा नास्तित्व अनित्यत्व आदि विशेषोंकी निर्बाधरूपसे उपलब्धि है इस रूपसे अनेकांतवादमें विशेष धर्मोंकी उपलब्धि होनेके कारण संशयका लक्षण न घटनेसे वह संशयका कारण नहीं हो सकता । यदि यहांपर यह शंका उठाई जाय कि—

घट आदि पदार्थोंमें अस्तित्व आदि धर्मोंको सिद्ध करनेवाले जो कारण बतलाये गये हैं वे प्रतिनियत-रूप हैं कि अप्रतिनियतरूप हैं । यदि कहा जायगा कि प्रतिनियतरूप नहीं है तो जो पुरुष एक जगह आस्तित्व नास्तित्वकी सत्तामें विचार करनेवाला है उसके सामने अस्तित्व नास्तित्वके स्वरूपका प्रति-पादन नहीं हो सकता क्योंकि जब उनके उत्पादक कारणोंका कोई भी नियम नहीं है तब वादी उनकी सिद्धिके लिये जिन कारणोंका उल्लेख करेगा प्रतिवादी उनसे भिन्न कारणोंका उल्लेख करेगा । यदि कहा जायगा उनके उत्पादक कारण प्रतिनियत ही हैं तब एक ही वस्तुमें आपसमें विरुद्ध अस्तित्व नास्तित्वको सिद्ध करनेवाले कारणोंके विद्यमान रहनेपर संशयका लक्षण घट जानेपर संशयका होना रुक नहीं सक्ता

इसलिये अनेकांतवाद नियमसे संशयका कारण है ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार एक ही पुरुषको अपने पुत्रकी अपेक्षा पितापना है और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्रपना है, ये दोनों आपसमें विरोधी नहीं माने जाते क्योंकि विवक्षाके भेदसे पिता और पुत्रका भेद है अर्थात् एक ही पुरुष विवक्षाके भेदसे पुत्र भी कह दिया जाता है और पिता भी कह दिया जाता है तथा अन्वयव्यतिरेकी धूम आदि हेतुओंमें महानस (रसोई खाना) आदि सपक्षकी अपेक्षा सत्त्व और तालाव आदि विपक्षकी अपेक्षा असत्त्व माना जाता है इसलिये जिसप्रकार यहांपर एक ही धूम आदि हेतुमें अस्तित्व नास्तित्वका आपसमें विरोध नहीं अर्थात् विवक्षाके भेदसे एक ही धूम आदि हेतु सत् और असत् दोनोंप्रकारका माना जाता है उसीप्रकार जीवमें भी स्वस्वरूपकी अपेक्षा अस्तित्व है और परस्वरूपकी अपेक्षा नास्तित्व है इसप्रकार अवच्छेदके भेदसे एक पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्वकी अर्पणा होनेसे दोनोंका एक जगहपर रहना विरोधोत्पादक नहीं। इस रूपसे अस्तित्व नास्तित्वादि स्वरूप अनेकांतवादमें संशयकी संभावना करना निर्मूल है। बहुतसे लोग यह कहते हैं कि अनेकांतवादमें विरोध आदि आठ दोषोंकी संभावना है उनका कहना इसप्रकार है—

जिसप्रकार शीत और उष्ण पदार्थ आपसमें विरोधी हैं इसलिये वे एक जगह नहीं रह सकते उसी प्रकार विधि और निषेधस्वरूप वा भाव अभावस्वरूप अस्तित्व नास्तित्वधर्म भी एक जगह नहीं रह सकते। यहांपर अस्तित्व पदार्थ भावस्वरूप है क्योंकि उसकी विधिरूपसे प्रतीति होती है और नास्तित्व अभावस्वरूप है क्योंकि निषेधवाचक नञ् अव्ययसे उल्लिखित उसकी प्रतीति है । जहांपर अस्तित्व रहेगा वहांपर उसका विरोधी नास्तित्वगुण नहीं रह सकता एवं जहां नास्तित्व रहेगा वहां उसका विरोधी

है। उसका लक्षण 'परस्पराविषयगमनं व्यतिकरः' अर्थात् परस्पर विषयके गमनको व्यतिकर कहते हैं। ऊपर जिस रूपसे सत्त्व कह आये हैं उस रूपसे असत्त्व ही होता है सत्त्व नहीं एवं जिसरूपसे असत्त्व कह आये हैं उस रूपसे सत्त्व ही होता है असत्त्व नहीं इसप्रकारके सत्त्वके विषयको असत्त्व कहनेसे और असत्वके विषयको सत्व कहनेसे अनेकांतवाद व्यतिकर दोषोंका भी स्थान है। तथा सत्त्व-स्वरूप वस्तु सत्त्वस्वरूप ही है एवं असत्त्वरूप वस्तु असत्त्व स्वरूप ही है इसप्रकार निश्चय रूपसे न कह सकनेके कारण अनेकांतवाद संशयका भी स्थान है तथा जब संशय स्थान अनेकांतवाद होगा तब उसमें निश्चय रूपसे किसी पदार्थकी प्रतिपत्ति भी नहीं होगी इसलिये अनेकांतवादमें अप्रतिपत्ति दोष भी होगा तथा प्रतिपत्ति न होनेसे अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप वस्तुका अभाव ही हो जायगा। इसप्रकार विरोध १ वैयधिकरण २ अनवस्था ३ संकर ४ व्यतिकर ५ संशय ६ अप्रतिपत्ति ७ और अभाव ८ ये आठ दोष अनेकांतवादमें हैं। सबका समाधान इसप्रकार है—

किसी अपेक्षासे प्रतीयमान वस्तुमें स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा सत्त्व और पररूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षा असत्त्वकी प्रतीति होती है इसलिये उन दोनोंमें विरोध नहीं हो सकता क्योंकि एककी मौजूदगी में दूसरेका न रहना विरोध कहा जाता है। स्वरूप आदिकी अपेक्षा जिससमय वस्तुमें अस्तित्व रहता है उससमय पररूपादिकी अपेक्षा होनेवाले नास्तित्वका तो उसमें अभाव है ही नहीं किंतु स्वरूप आदिकी अपेक्षा जिसप्रकार वस्तुमें अस्तित्वकी निर्बाध रूपसे प्रतीति होती है उसीतरह पररूप आदिकी अपेक्षा नास्तित्वकी प्रतीति भी उसमें निर्बाध है तथा यह भी बात है—यदि वस्तुका स्वरूप भाव—सत्तामात्र ही हो तब नास्तित्वकी प्रतीति न हो सके अथवा अभाव—असत्तामात्र ही स्वरूप हो तब अस्तित्वकी प्रतीति

इसलिये अनेकांतवाद नियमसे संशयका कारण है ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार एक ही पुरुष अपने पुत्रकी अपेक्षा पितापना है और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्रपना है, ये दोनों आपसमें विरोधी नहीं माने जाते क्योंकि विवक्षाके भेदसे पिता और पुत्रका भेद है अर्थात् एक ही पुरुष विवक्षाके भेदसे पुत्र भी कह दिया जाता है और पिता भी कह दिया जाता है तथा अन्वयव्यतिरेकी धूम आदि हेतुओंमें महानस (रसोई खाना) आदि सपक्षकी अपेक्षा सत्त्व और तालाब आदि विपक्षकी अपेक्षा असत्त्व माना जाता है इसलिये जिसप्रकार वहांपर एक ही धूम आदि हेतुमें अस्तित्व नास्तित्वका आपसमें विरोध नहीं अर्थात् विवक्षाके भेदसे एक ही धूम आदि हेतु सत् और असत् दोनोंरूपका माना जाता है उसीप्रकार जीवमें भी स्वस्वरूपकी अपेक्षा अस्तित्व है और पररूपकी अपेक्षा नास्तित्व है इसप्रकार अवच्छेदके भेदसे एक पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्वकी अपेक्षा होनेसे दोनोंका एक जगह रहना विरोधोत्पादक नहीं। इस रूपसे अस्तित्व नास्तित्वादि स्वरूप अनेकांतवादमें संशयकी संभावना करना निर्मूल है। बहुतसे लोग यह कहते हैं कि अनेकांतवादमें विरोध आदि आठ दोषोंकी संभावना है उनका कहना इसप्रकार है—

जिसप्रकार शीत और उष्ण पदार्थ आपसमें विरोधी हैं इसलिये वे एक जगह नहीं रह सकते उसी प्रकार विधि और निषेधस्वरूप वा भाव अभावस्वरूप अस्तित्व नास्तित्व धर्म भी एक जगह नहीं रह सकते। यहांपर अस्तित्व पदार्थ भावस्वरूप है क्योंकि उसकी विधिरूपसे प्रतीति होती है और नास्तित्व अभावस्वरूप है क्योंकि निषेधवाचक नञ् शब्दसे उल्लिखित उसकी प्रतीति है। जहांपर अस्तित्व रहेगा वहांपर उसका विरोधी नास्तित्वगुण नहीं रह सकता एवं जहां नास्तित्व रहेगा वहां उसका विरोधी

न हो सके परंतु वस्तुका केवल भाव ही तो स्वरूप है नहीं, क्योंकि यदि सर्वथा भाव ही स्वरूप माना जायगा तो जिसप्रकार स्वस्वरूपकी अपेक्षा भावकी प्रतीति होती है उसप्रकार पररूप आदिकी अपेक्षा भी भावकी प्रतीति होनी चाहिये एवं यदि केवल अभाव ही वस्तुका स्वरूप समझा जायगा तो जिसप्रकार पररूपादिकी अपेक्षा अभावकी प्रतीति होती है उसीप्रकार स्वरूप आदिकी अपेक्षा भी अभावकी प्रतीति होनी चाहिये परंतु ऐसी प्रतीति होती नहीं इसलिये अस्तित्व नास्तित्वकी एक जगह प्रतीति बाधित नहीं एवं जब दोनों एक स्थान पर अविरोध रूपसे रह सकते हैं तब अनेकांतवादमें विरोध दोषको स्थान नहीं मिल सकता। यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

पररूपसे जो असत्त्व माना गया है वह पररूपका ही असत्त्व है स्वस्वरूपका नहीं क्योंकि जिसप्रकार भूतलमें घटके न रहनेपर 'भूतलमें घट नहीं है' ऐसा ही प्रयोग होता है उसीप्रकार घटमें पटस्वरूपके अभावमें पट नहीं है, ऐसा ही प्रयोग होना चाहिये, 'घट नहीं है' ऐसा प्रयोग नहीं होना चाहिये परंतु घटमें पटस्वरूपके अभावकी विवक्षा रहनेपर 'घट नहीं है' प्रयोग यही होता है इसलिये यह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। विचार करने पर यह बात सिद्ध हो नहीं सकती, वह विचार इसप्रकार है—

घट आदि वस्तुओंमें पट आदिके पररूपकी जो असत्ता है उसे पट आदिका धर्म माना जायगा वा घटका धर्म माना जायगा। यदि कहा जायगा कि पट आदि पररूपका असत्त्व पटका धर्म है, तो चौपट ही हो जायगा क्योंकि पटका स्वरूप पटमें नहीं है ऐसा कहा जानेपर संसारसे पटकी सर्वथा नास्ति ही हो जायगी। ऐसी बात ही नहीं हो सकती कि अपना स्वरूप वा धर्म अपनेमें न रहे क्योंकि यदि ऐसा माना जायगा तो वह अपना धर्म ही नहीं कहा जा सकेगा तथा और भी यह बात है कि—जो

पटका धर्म होगा वह कभी घटमें नहीं रह सकता यदि पटरूपासत्त्वको पटका धर्म मानकर उसकी घटमें सत्ता मानी जायगी तो पटके अंदर फैलना बुना जाना आदि अनेक आकार हैं वे भी घटके अंदर होने चाहिये परंतु वे घटमें दीख नहीं पडते इसलिए पटरूपासत्व कभी पट आदिका धर्म नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् यह द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जायगा कि पररूपासत्व (पटरूपासत्त्व) घट हीका धर्म है पटका नहीं तब तो अभिप्रेतकी सिद्धि होनेसे विवादकी ही समाप्ति हो जाती है क्योंकि भावधर्मके संबंधसे जिसप्रकार भावपना पाया जाता है उसीप्रकार अभावधर्मके संबंधसे अभाव भी स्वीकार करना चाहिये किंतु यह न मानना चाहिये कि वस्तुमें भावपना तो स्वधर्म है और अभावपना परधर्म है इस रीतिसे जब यह बात सिद्ध हो गई कि जिसप्रकार स्वस्वरूपकी अपेक्षा होनेवाला अस्तित्व धर्म घटका निजधर्म है उसीप्रकार पटरूपादिकी अपेक्षा होनेवाला नास्तित्व भी घट हीका धर्म है, पटका धर्म नहीं इसलिए 'घटो नास्तीति' अर्थात् घट नहीं है, यह प्रयोग निर्बाध है। यदि कदाचित् अभावधर्मके संबंधसे घटको असत् न माना जायगा तो भावधर्मके संबंधसे भी उसे 'सत्' न कहना होगा क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व समानरूपसे घटके स्वरूप हैं। यदि नास्तित्वको घटका स्वरूप न माना जायगा तो अस्तित्व भी घटका स्वरूप न हो सकेगा इसलिए स्वरूप आदिकी अपेक्षा होनेवाले अस्तित्वके समान पररूप आदिकी अपेक्षा होनेवाला नास्तित्व भी घटका ही स्वरूप है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जिसतरह भूतलमें घट नहीं है यहांपर भूतलमें रहनेवाले घटाभावकी प्रतियोगिता ही भूतलमें नास्तित्व माना गया है अर्थात् भूतलमें रहनेवाला जो घटका अभाव उसका प्रतियोगी घट है और वह प्रतियोगिता घटका ही धर्म माना जाता है, भूतलका नहीं, उसीप्रकार घटमें पटरूपका न रहना इसका

अस्तित्व गुण नहीं रह सकता इसरीतिसे अनेकांतवादमें विरोध दोष होता है तथा अस्तित्वका अधिकरण भिन्न होता है और नास्तित्वका अधिकरण भिन्न रहता है एक अधिकरण उन दोनोंका हो ही नहीं सकता परंतु अनेकांतवादमें उन दोनोंका अधिकरण एक माना है इसलिये यहांपर वैयाधिकरण्य दोष भी है। वैयाधिकरण्यका लक्षण 'विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वं' अर्थात् भिन्न भिन्न अधिकरणमें रहना है। तथा इस अनेकांतवादमें अनवस्था दोषकी भी संभावना है। उसका लक्षण—"अप्रामाणिकपदार्थपरंपरापरिकल्पनाविश्रांत्यभावश्चानवस्था" अर्थात् अप्रमाणीक अनंते पदार्थोंकी कल्पना करते चले जाना, कहीं भी विश्राम न लेना अनवस्था है। ऊपर जिसरूपसे आस्तित्व और जिसरूपसे नास्तित्व कहा गया है उन रूपोंको भी अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप कहना चाहिये वह अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप पररूपकी अपेक्षा कहा जायगा। उस स्वरूप पररूपको भी अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप मानना चाहिये वह भी स्वरूप पररूपकी अपेक्षा माना जायगा। उसे भी फिर अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप कहना चाहिये वह भी स्वरूप पररूपकी अपेक्षा होगा इसप्रकार अनंती कल्पना करते चले जाओ कहीं भी विश्राम नहीं हो सकता इस रीतिसे यह अनेकांतवाद अनवस्थादोषपरिपूर्ण है। तथा इस अनेकांतवादमें संकर दोषकी भी संभावना है। इसका लक्षण 'सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः' अर्थात् सब धर्मोंकी एक साथ प्राप्ति होना संकर दोष कहा जाता है। ऊपर जो आस्तित्व नास्तित्व कहे गये हैं उनसे जिसरूपसे अस्तित्व कहा गया है उस रूपसे नास्तित्व भी कहा जा सकता है तथा जिस रूपसे नास्तित्व कहा गया है उस रूपसे आस्तित्व भी कहा जाता है इसप्रकार अस्तित्व नास्तित्वकी एक वस्तुमें एक साथ प्राप्तिकी संभावना होनेके कारण अनेकांतवाद संकर दोषका भी स्थान है, तथा अनेकांतवादमें व्यतिकर दोषकी भी संभावना

है । उसका लक्षण 'परस्परविषयगमनं व्यतिकरः' अर्थात् परस्पर विषयके गमनको व्यतिकर कहते हैं । ऊपर जिस रूपसे सत्त्व कह आये हैं उस रूपसे असत्त्व ही होता है सत्त्व नहीं एवं जिसरूपसे असत्त्व कह आये हैं उस रूपसे सत्त्व ही होता है असत्त्व नहीं इसप्रकारके सत्त्वके विषयको असत्त्व कहनेसे और असत्त्वके विषयको सत्त्व कहनेसे अनेकांतवाद व्यतिकर दोषोंका भी स्थान है । तथा सत्त्व-स्वरूप वस्तु सत्त्वस्वरूप ही है एवं असत्त्वरूप वस्तु असत्त्व स्वरूप ही है इसप्रकार निश्चय रूपसे न कह सकनेके कारण अनेकांतवाद संशयका भी स्थान है तथा जब संशय स्थान अनेकांतवाद होगा तब उसमें निश्चय रूपसे किसी पदार्थकी प्रतिपत्ति भी नहीं होगी इसलिये अनेकांतवादमें अप्रतिपत्ति दोष भी होगा तथा प्रतिपत्ति न होनेसे अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप वस्तुका अभाव ही हो जायगा । इसप्रकार विरोध १ वैयधिकरण २ अनवस्था ३ संकर ४ व्यतिकर ५ संशय ६ अप्रतिपत्ति ७ और अभाव ८ ये आठ दोष अनेकांतवादमें हैं । सबका समाधान इसप्रकार है—

किसी अपेक्षासे प्रतीयमान वस्तुमें स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा सत्त्व और पररूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षा असत्त्वकी प्रतीति होती है इसलिये उन दोनोंमें विरोध नहीं हो सकता क्योंकि एककी मौजूदगी में दूसरेका न रहना विरोध कहा जाता है । स्वरूप आदिकी अपेक्षा जिससमय वस्तुमें अस्तित्व रहता है उससमय पररूपादिकी अपेक्षा होनेवाले नास्तित्वका तो उसमें अभाव है ही नहीं किंतु स्वरूप आदिकी अपेक्षा जिसप्रकार वस्तुमें अस्तित्वकी निर्बाध रूपसे प्रतीति होती है उसीतरह पररूप आदिकी अपेक्षा नास्तित्वकी प्रतीति भी उसमें निर्बाध है तथा यह भी बात है—यदि वस्तुका स्वरूप भाव—सत्तामात्र ही हो तब नास्तित्वकी प्रतीति न हो सके अथवा अभाव—असत्तामात्र ही स्वरूप हो तब अस्तित्वकी प्रतीति

अर्थ घटमें रहनेवाला जो अभाव उसकी प्रतियोगिता है अर्थात् घटमें रहनेवाले पटके अभावका प्रतियोगी पट है और वह प्रतियोगिता पटका धर्म है इस रूपसे जब पटकी नास्तित। घटमें नहीं है तब घट पटकी अपेक्षा नास्तित्वस्वरूप नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं । जिसप्रकार घटका अभाव भूतलस्वरूप माना जाता है इसलिए वह भूतलका ही धर्म है उसीप्रकार पटरूपका अभाव भी घटस्वरूप है इसलिए वह पटरूपाभाव घटका ही धर्म है । इस रूपसे जब पटाभाव घटका ही नास्तित्वधर्म सिद्ध हो चुका तब घट भी अस्तित्वनास्तित्वस्वरूप सिद्ध हो गया । यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि धर्मपदार्थ धर्मीसे जुदा रहता है, अस्तित्व नास्तित्वको घटका स्वरूप ही माना है तब वे धर्म कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि यहांपर कथंचित् तादात्म्यलक्षण संबंधसे संबंधी अस्तित्व नास्तित्व आदिको ही धर्म माना है इसलिए अभेद रहनेपर भी अस्तित्व नास्तित्व आदिको धर्म कहनेमें कोई आपत्ति नहीं । यदि यहांपर फिर यह शंका उठाई जाय कि—

जिसप्रकार 'भूतलमें घट नहीं है' यह वाक्य घटके अभावका प्रतिपादन करनेवाला है इसलिए यहां पर 'भूतले घटो नास्ति' अर्थात् 'भूतलमें घट नहीं है' ऐसा ही प्रयोग होता है किंतु 'भूतल नहीं है' ऐसा प्रयोग नहीं होता उसीप्रकार घटमें पटाभावके प्रतिपादन करनेपर यद्यपि पटाभाव घटस्वरूप ही है तथापि 'स्यान्नास्त्येव घटः' इस वाक्यके स्थानपर 'पटो नास्ति' अर्थात् पट नहीं है इसी वाक्यका प्रयोग होगा क्योंकि यह नियम है जो वाक्य अभावको जनानेवाला है उसमें प्रतियोगीकी प्रधानता रहती है अर्थात् जिस पदार्थका अभाव किया जाता है उसी पदार्थकी प्रधानता होती है, घटमें पटका अभाव किया जाता है इसलिए उस पटाभावके प्रतियोगी पट हीकी प्रधानता रहेगी, घटकी नहीं । जिसप्रकार—यद्यपि घटका

प्रागभाव कपालस्वरूप है तो भी जिससमय कपाल बन चुका है उससमय 'घट होगा' यही प्रागभावको कहनेवाला प्रयोग दीख पडता है, कपाल होगा ऐसा प्रयोग कभी नहीं दीख पडता अथवा घटके नाशके उत्तरकालमें उसके अवयवस्वरूप कपालोंके देखनेपर 'घट नष्ट हुआ' यही प्रयोग होता है, कपाल नष्ट हुआ यह प्रयोग नहीं होता। इसप्रकार घटमें पटके अभाव कहनेपर प्रतियोगी पटकी ही प्रधानता रहने पर 'पटो नास्ति' यही प्रयोग होगा । इस रीतिसे अस्तित्व नास्तित्व दोनों स्वरूप घटके सिद्ध रहनेपर भी 'स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्त्येव घटः' इन प्रयोगोंकी जगहपर 'घटोऽस्ति पटो नास्ति' ऐसे ही प्रयोग होंगे अर्थात् यहांपर दूसरे प्रयोगोंमें घटके अभावकी जगहपर पटका अभाव ही कहा जायगा क्योंकि जो वाक्य पटके अभावका प्रतिपादन करनेवाला है उसकी प्रवृत्तिका यही प्रकार है ? इसका समाधान इसप्रकार है—

अस्तित्व नास्तित्व दोनों स्वरूप घटके माननेपर हमारी (जैनोंकी) इष्टसिद्धि हो चुकी इसलिए 'अस्तित्व नास्तित्व दोनों स्वरूप है वा नहीं है' इत्यादि जो विवाद था उसकी भी इतिश्री हो गई, अब रही शब्दप्रयोगकी बात अर्थात् घटो नास्ति इसकी जगह पटो नास्ति होना चाहिये, यह बात, सो उसकी व्यवस्था पूर्व पूर्व प्रयोगके अनुसार मानी है । अर्थात् जिस रूपसे प्रयोग प्रचलित है उसे उसीप्रकारसे मानना पडता है। खुलासा इसप्रकार है—

'देवदत्तः पचति' अर्थात् देवदत्त पाक करता है ऐसा प्रचालित प्रयोग है । यहांपर देवदत्त पदका अर्थ उसका शरीर लिया जायगा वा आत्मा अथवा शरीरविशिष्ट आत्मा लिया जायगा ? यदि प्रथम पक्ष देवदत्तका शरीर लिया जायगा तो देवदत्तका शरीर पाक करता है, यह अयुक्त प्रयोग मानना

पडेगा क्योंकि देवदत्तके शरीरके द्वारा पाक होना असंभव है अथवा देवदत्तके मृतशरीरसे भी पाक होना चाहिये। यदि दूसरा कल्प देवदत्तका आत्मा लिया जायगा तो देवदत्तका आत्मा पाक करता है यह प्रयोग स्वीकार करना पडेगा जो कि बाधित है क्योंकि यदि केवल आत्मा पाक करनेवाला माना जायगा तो सिद्धोंकी आत्मासे भी पाकका संभव प्राप्त होगा। यदि तीसरा कल्प शरीरविशिष्ट आत्मा लिया जायगा तो वह है तो ठीक परंतु संसारमें प्रयोग होता नहीं इसलिये क्या देवदत्तका शरीर पाक करता है वा आत्मा वा शरीरविशिष्ट आत्मा ये जो प्रयोग कहे गये हैं उनमें एक भी प्रयोग उत्पन्न न होनेपर 'देवदत्त पाक करता है' यह जो पूर्व परिपाटीसे प्रयोग प्रचलित है वही शरण और युक्त है इस-रीतिसे इसप्रकार शब्दोंके प्रयोगकी प्रवृत्ति जब पहिले प्रयोगोंके अनुकूल है तब शब्दोंके प्रयोगविषयक किसीप्रकारकी आपत्ति प्रकट करना अस्वाभाविक है। इसरीतिसे घटमें पटके अभाव रहनेपर भी 'स्यान्नास्त्येव घटः' यही प्रयोग होगा 'स्यान्नास्त्येव पटः' वा 'पटो नास्ति' यह प्रयोग नहीं हो सकता और भी यह बात है कि—

घट आदिमें रहनेवाला जो पट आदि परपदार्थोंका अभाव है वह घटसे भिन्न है कि अभिन्न है? यदि कहा जायगा कि वह पररूपका अभाव भिन्न है तब उस पररूपाभावको भी पर मानकर उसके अभावकी भी कल्पना करनी पडेगी यदि ऐसा न माना जायगा अर्थात् उस परत्वाभावको पर न माना जायगा तो अनेकांतवादमें उसकी अपेक्षा जो घट आदिको कथंचित् असत् माना है वह न बन सकेगा तथा वह जो परत्वाभावको पर मानकर उसका अभाव माना गया है उस अभावको पर मानकर उसका भी अभाव कल्पना करना पडेगा तथा उसे भी पर मानकर उसका भी अभाव कल्पना करना पडेगा इस

रूपसे पररूपाभावको घटमें भिन्न माननेपर अनवस्था दोष लागू होगा तथा एक बात यह और भी है कि—जहांपर दो नकार रहते हैं वहांपर प्रकृत रूपकी सिद्धि होती है जिसतरह घटके अभावका अभाव घटस्वरूप होता है यदि यहांपर भी अभावके अभावकी कल्पना की जायगी तो घट आदिमें आतानवितान (पटादिकी रचना) स्वरूप पररूपके अभावका अभाव आतानवितानरूप होगा उसे भी घटादिस्वरूप कहना होगा अर्थात् अभावके अभावकी कल्पना रहनेपर घट भी पट हो जायगा। यदि कदाचित् यह कहा जायगा कि वह पररूपाभाव घटसे अभिन्न है तब यह बात सिद्ध ही हो चुकी कि जिसप्रकार स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षा आस्तित्व धर्म घट आदिसे अभिन्न है उसीप्रकार परद्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी घट आदिसे अभिन्न ही है इसलिये घटको अस्तित्व नास्तित्वस्वरूप मानना निरापद है। यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

जिसे स्वस्वरूपसे अस्तित्वस्वरूप माना है उसे ही परस्वरूपसे नास्तित्वस्वरूप माना है तथा जिसे परस्वरूपसे नास्तित्वस्वरूप माना है उसे ही स्वस्वरूपकी अपेक्षा अस्तित्वस्वरूप माना है इस रूपसे जब एक वस्तुमें रहनेवाले भाव और अभावका भेद नहीं है तब ऊपर जो अस्तित्व नास्तित्व दोनों स्वरूप जीव आदि पदार्थोंको माना गया है वह मिथ्या है ? सो ठीक नहीं। भावकी प्रतीतिमें स्वद्रव्य आदि निमित्तकारण हैं और अभावकी प्रतीतिमें परद्रव्य आदि निमित्तकारण हैं इसप्रकार भाव और अभावकी उत्पत्तिमें जो निमित्तकारण हैं उनके भेदसे एकत्व द्वित्व आदि संख्याके समान भाव और अभावका आपसमें भेद है क्योंकि एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यकी अपेक्षासे होनेवाली दो आदि संख्या, केवल अपने स्वरूपकी अपेक्षा विद्यमान जो एक संख्या है उससे भिन्न नहीं है अर्थात् स्वस्वरूपकी अपेक्षा रहनेवाली वह एकत्व संख्या; परद्रव्यकी अपेक्षा होनेवाली दो आदि संख्या स्वरूप ही है तथा वह एकत्व और

द्वित्व आदि संख्या भी संख्यावान पदार्थसे भिन्न नहीं है। यदि एकत्व आदि संख्याको संख्यावान द्रव्य पदार्थसे भिन्न माना जायगा तो वह द्रव्य असंख्येय (जिसकी कोई संख्या न हो) कहा जायगा जो कि बाधित है। यदि कदाचित् यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि—

यद्यपि संख्येयवान द्रव्यपदार्थसे संख्या भिन्न है तथापि उसमें संख्याका समवाय संबंध है इसलिये समवाय सम्बन्धसे संख्याका आधार रहनेसे द्रव्य संख्येय कहा जा सकता है? सो ठीक नहीं। क्योंकि कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धसे भिन्न समवाय पदार्थ ही असम्भव है किंतु वह कथंचित् तादात्म्य स्वरूप ही है। कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध रहने पर संख्यास्वरूप ही द्रव्य माना जायगा, संख्यासे भिन्न नहीं माना जा सकता। इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि एकत्व द्वित्व आदि संख्याके समान निमित्तोंके भेदसे सत्त्व और असत्त्वका आपसमें भेद है तथा एक वस्तुमें भिन्न भिन्न रूपसे जब उनकी प्रतीति मौजूद है तब उनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं कहा जा सकता। यदि कदाचित् यहांपर फिर शंका उठाई जाय कि—

अस्तित्व और नास्तित्वकी जो एक वस्तुमें प्रतीति मानी गई है वह प्रतीति मिथ्या है? सो ठीक नहीं। इस प्रतीतिका कोई भी बाधक प्रमाण नहीं इसलिये इस प्रतीतिको मिथ्या नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्म विरोधी होनेसे एक जगह नहीं रह सकते इसलिये उनके एक वस्तुमें रहनेमें विरोध ही बाधक है? सो ठीक नहीं। विरोधको बाधक कहने पर अन्योन्याश्रय[1] दोष लागू होगा क्योंकि विरोधके सिद्ध रहनेपर अस्तित्व नास्तित्वकी एक जगह प्रतीतिका

१—'स्वापेक्षापेक्षकत्वं ह्यन्योन्याश्रयत्वं' अर्थात् जहांपर उसको उसकी और उसको उसकी अपेक्षा होगी वहांपर अन्योन्याश्रय दोष होता है यहांपर विरोध मिथ्यात्वप्रतीतिके आधीन है और मिथ्यात्वप्रतीति विरोधके आधीन है इसलिये आपसमें एकको दूसरेकी अपेक्षा रहने पर अन्योन्याश्रय दोष है।

उससे बाध होनेपर उस प्रतीतिका मिथ्यापना सिद्ध होगा और उस मिथ्यापनकी सिद्धिसे अस्तित्व नास्तित्वका आपसमें विरोध सिद्ध होगा इस रीतिसे एक वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्वका एक साथ रहना अबाधित है। विरोध दोष—वध्यघातक; सहानवस्थान और प्रतिबध्यप्रतिबन्धक भावके भेदसे तीन प्रकारका है उसका खुलासा ऊपर ग्रन्थमें ही कर दिया गया है। तथा—

ऊपर जो यह कहा गया है कि—शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श जिसप्रकार आपसमें विरोधी होनेसे एक साथ नहीं रह सकते उसीप्रकार अस्तित्व नास्तित्व भी आपसमें विरोधी धर्म हैं इसलिये वे भी एक वस्तुमें नहीं रह सकते ? वह भी ठीक नहीं क्योंकि एक ही धूप खेनेके घडेमें मध्यभागमें उष्णता और किनारे पर शीतता दीख पडती है इसलिये अवच्छेदक भदेसे शीत और उष्णका एक जगह रहना सुनिश्चित होनेसे उनमें भी विरोधकी सम्भावना नहीं हो सकती तथा और भी यह बात है कि—

जिसप्रकार एक ही वृक्ष आदिमें चलपना और अचलपना दीख पडता है, एक ही घट आदिमें लालपना और कालापना दीख पडता एवं एक ही शरीर आदिमें कुछ ढकापन और कुछ उघडापन दीख पडता है कोई विरोध नहीं उसीप्रकार एक ही वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्वका सद्भाव रह सकता है कोई विरोध नहीं। सार अर्थ यह है कि—चलना और न चलना दोनों विरोधी धर्म हैं तथा शाखावच्छेदेन वृक्ष चलता दीख पडता है और स्कंधावच्छेदेन अर्थात मूलकी ओर अचल रहता है इसलिये एक ही वृक्षमें अवच्छेदकके भेदसे जिसप्रकार चलना और न चलना अविरोधरूपसे रहते हैं। तथा एक ही घट एक जगह लाल दीख पडता है और दूसरी जगह काला दीख पडता है इसलिये एक ही घटमें अवच्छेदक—स्थान भेदसे जिसप्रकार लालपना और कालापना दीख पडता है तथा एक ही शरीर एक

जगह कपडा आदिसे ढका हुआ और एक जगह खुला हुआ दीख पडता है इसलिये एक ही शरीरमें ढकना खुलनारूप विरोधी धर्म भी जिसप्रकार अविरोधरूपसे दीख पडते हैं उसीप्रकार एक ही जीव आदि वस्तुमें स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्तित्व और परद्रव्य आदिकी अपेक्षा नास्तित्व भी अविरोधरूपसे रह सकते हैं, कोई दोष नहीं। तथा—

ऊपर एक जगह अस्तित्व नास्तित्व धर्मोंके रहनेमें जो वैयधिकरण्य दोष दिया था वह भी ठीक नहीं क्योंकि एक जगह अस्तित्व और नास्तित्वकी प्रतीति निर्बाधरूपसे सिद्ध है। ऊपर जो अनवस्था दोष दिया गया था वह भी अनेकांतवादमें ठीक नहीं क्योंकि उसमें अनंतधर्मात्मक वस्तुको प्रमाणरूपसे ही स्वीकार किया गया है इसलिये अप्रमाणीक पदार्थपरंपराकी वहां कल्पना नहीं हो सकती। संकर व्यतिकर दोष भी नहीं हो सकते क्योंकि अस्तित्व नास्तित्व आदिकी एक वस्तुमें प्रतीति अबाधरूपसे सिद्ध है क्योंकि जो पदार्थ अप्रातीतिक होता है वही दोषोंका स्थान रहता है किंतु जो पदार्थ प्रतीति-सिद्ध है उसमें दोष स्थान नहीं पासकते। अस्तित्व नास्तित्व आदिकी प्रतीति अबाधरूपसे सिद्ध है इस-लिये यहांपर कोई दोष नहीं लग सकता। संशयका निराकरण पहिले किया जा चुका है। अप्रतिपत्ति और अभाव दोष भी यहां स्थान नहीं पा सकते क्योंकि अस्तित्व नास्तित्वकी एक आधारमें निर्बाध रूपसे प्रतीति है। इसप्रकार यह अनेकांतवाद समस्त दोषोंसे रहित निर्दोष और प्रामाणिक है। यह विवेचन श्रीसप्तभंगीतरंगिणी ग्रंथके आधारसे लिखा गया है और भी स्यात्, एव आदि शब्दोंका विशेष व्याख्यान श्रीअष्टसहस्री आदि ग्रंथसे जानना चाहिये ॥ ४२ ॥

इसप्रकार तत्त्वार्थराजवार्तिकके व्याख्यानालंकारमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार

भाषा वचनिकामें

पूर्वार्ध समाप्त

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार

(चतुर्थखंड समाप्त)